प्राचीन विश्व की सभ्यताएँ

डॉ. आर. एन. पाण्डेय

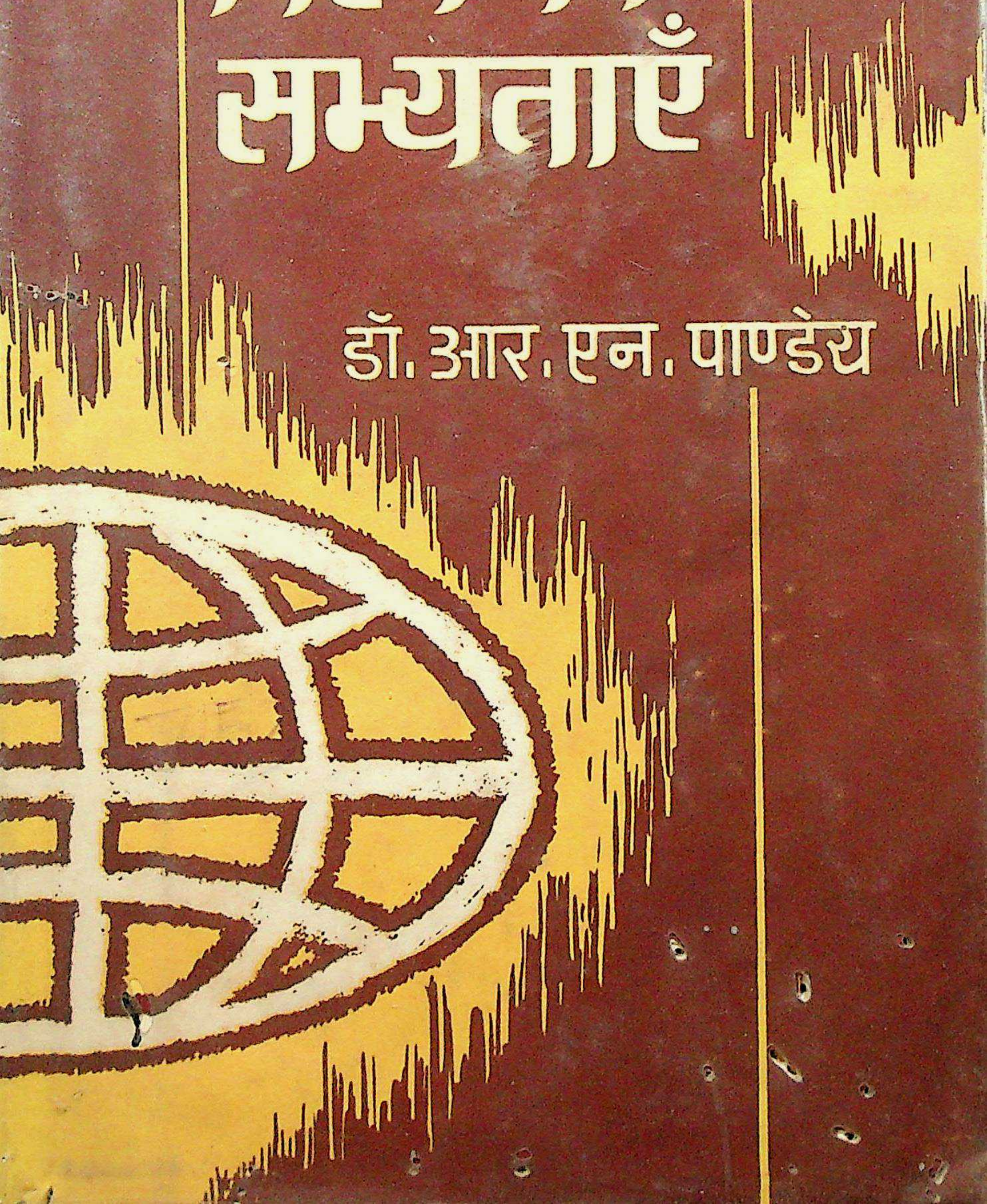

मूल्य : २२.०० विद्यार्थी संस्करण
३०.०० पुस्तकालय संस्करण

7153

State Museum Library Lucknow 7153

१- पुस्तक का नाम - प्राचीन विश्व की सभ्यताएँ

२- लेखक का नाम - डॉ० राम निहोर पाण्डेय

३- पुस्तक का विषय - इतिहास

४- प्रकाशक का नाम व - विद्या प्रकाशन,
पता - युनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद

५- लेखक का प्रमाण पत्र -

मैं प्रमाणित करता हूं कि मेरे द्वारा रचित 'प्राचीन विश्व की सभ्यताएँ' का प्रथम बार प्रकाशन वर्ष १९७८ में हुआ है।

लेखक का हस्ताक्षर - रामनिहोर पाण्डेय

[illegible] कर्ता - डॉ० राम निहोर पाण्डेय
प्रवक्ता, इलाहाबाद डिग्री
कालेज, इलाहाबाद।

डाक का पता - डॉ० राम निहोर पाण्डेय,
इलाहाबाद डिग्री कालेज,
इलाहाबाद।

दिनांक - २९-१-८०

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय
प्रो० बी०एन० पुरी संग्रह
लखनऊ

प्राचीन विश्व की सभ्यताएँ

प्राचीन विश्व की सभ्यताएँ

[प्रागैतिहासिक युग से 323 ई० पू० तक]

State Museum Library
7153
Lucknow

लेखक

डॉ० राम निहोर पाण्डेय

प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
इलाहाबाद डिग्री कालेज
इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद

भूमिका

डॉ० उदय नारायण राय

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय
प्रो० बी० एन० पुरी
संग्रह
लखनऊ

वितरक
विद्या सागर
11, युनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद

विद्या प्रकाशन
युनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद
द्वारा प्रकाशित

●

प्रथमावृत्ति
सम्वत् 2035

●

© डॉ० राम निहोर पाण्डेय

●

मिलन प्रिंटिंग प्रेस
२३३, नया ममफोर्डगंज
इलाहाबाद-२, द्वारा मुद्रित

पूज्य पिता स्व० पं० भवानी प्रसाद पाण्डेय
के दिव्य चरणों में
सादर समर्पित

●

भूमिका

आज से लगभग दो सहस्रसंवत्सर पूर्व 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' के रूप में विश्व-बन्धुत्व की भावना के समुन्नयन का प्राचीनतम नारा उदात्त भारतीय मनीषा ने ही लगाया था। भारतीय ज्ञान-राशि के मनस्वी प्रसारक कुमारजीव, संघभूति, परमार्थ एवं जिनगुप्त-सदृश विद्वान् पर्यटक 'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः' के ज्वलन्त ऐतिहासिक उदाहरण थे। युग-युगान्तर से युद्ध-स्वभावजन्य-पीड़ा से सतत् कराहता मानव संकीर्णताओं एवं अवाञ्छनीय अवरोधों के बहिष्कार तथा विश्व-बन्धुत्व की उपादेयता एवं सक्रिय कार्यान्विति की अनुभूति उत्तरोत्तर करने लगा है। विभिन्न संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन तथा नाना देशीय विचारों का पारस्परिक सम्पर्क एवं फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय परिधान में उद्भूत सभ्यताओं की सुरुचिपूर्ण गाथा का चिन्तन-मनन विश्वजनीन अवधारणा के कारक एवं प्रेरक हैं। विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में विश्व-सभ्यताओं के इतिहास के समुचित स्थान का निर्धारण तथा तत्सम्बन्धी ज्ञान का अभिमत प्रोत्साहन इस दिशा में क्रियात्मक प्रयास के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

डॉ० राम निहोर पाण्डेय द्वारा 'प्राचीन विश्व की सभ्यताएँ' शीर्षक ग्रंथ के निर्माण का उद्देश्य हिन्दी भाषा में विवेचनात्मक शैली में एक अभिनव उपादेय रचना का प्रणयन है। परिश्रमी लेखक ने अपेक्षित सामग्री का संकलन कर तथा विश्वविद्यालय-स्तरीय कक्षाओं में अपने कई वर्षों के अध्यापन के अनुभव के आधार पर अध्यवसाय-पूर्वक परिमार्जित भाषा में इस विषय को विद्यार्थियों को बोधगम्य कराने का श्लाघनीय प्रयास अभीष्ट आकरों से किया है। इस उपयोगी प्रबन्ध की रचना के लिए डॉ० पाण्डेय बरबस हमारे साधुवाद के पात्र हो जाते हैं। आशा एवं विश्वास है कि उच्च कक्षाओं के विश्व-इतिहास के छात्रों को यह ग्रंथ अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होगा तथा साथ ही विद्वज्जनों को भी इसमें यत्किञ्चित् परितोष उपलब्ध होगा।

उदय नारायण राय
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं
पुरातत्त्व विभाग
इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद

दीपमालिका
सम्वत् 2035

पूर्वपीठिका

अतीत, वर्तमान तथा भविष्यत् परस्पर अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध हैं। अतीत की उपेक्षा कर न तो हम वर्तमान को भली-भाँति समझ सकते हैं, न भविष्य की सार्थक कल्पना कर सकते हैं। बहुत समय तक हमारा अतीत अज्ञानांधकार में प्रछन्न था। किन्तु जैसे-जैसे विभिन्न ऐतिहासिक साधनों के माध्यम से अतीत की सांस्कृतिक परम्पराएँ आलोकित होती गईं उसका महत्त्व बढ़ता गया और हम यह अनुभव करने लगे कि भावी समुन्नति एवं समृद्धि के लिए उसका ज्ञान नितान्त आवश्यक है। विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का अध्ययन इसी उद्देश्य से किया जा रहा है।

अब तक इस विषय पर अनेक पुस्तकें लिखी गयी हैं। इनमें कुछ अत्यन्त विस्तृत एवं क्लिष्ट हैं अतएव सामान्य पाठकों के लिए सुबोधगम्य नहीं हैं, जबकि कुछ अपने संक्षिप्त स्वभाव के कारण सीमित एवं अपूर्ण ज्ञान प्रदान करती हैं। इतना ही नहीं, अपितु निरन्तर अनुसंधान के फलस्वरूप अनेक नवीन आधार-स्रोत प्रकाश में आए हैं जिससे अनेक स्वीकृत तथ्यों में परिवर्तन हुआ है। किन्तु अधिकांश में उनका समाहार नहीं किया जा सका है। अपनी निश्चित सीमाओं के बावजूद मैंने प्रस्तुत कृति में अपेक्षित स्थलों को विस्तृत एवं विशद् करते हुए विषय को विविध शीर्षकों एवं उपशीर्षकों में विभक्त कर प्रस्तुतीकरण को सन्तुलित, सरल एवं सुग्राह्य बनाने तथा आधुनिकतम शोध-परिणामों के परिप्रेक्ष्य में परम्परित विचारों एवं मान्यताओं को परिवर्तित एवं परिष्कृत करने का यथेष्ट यत्न किया है। विभिन्न देशों की भाषाओं के यथोचित उच्चारण तथा उनके लेखन की कठिनाइयों से सुविज्ञ पाठक परिचित हैं। उदाहरणार्थ कुछ लोग डुंगी लिखते हैं तो कुछ दुंगी। कुछ विद्वान् सारगोन लिखते हैं तो अन्य सारगन। इसी प्रकार निनिव एवं निनेवेह, गीजे तथा गिजेह, थ्युसीडीडिज तथा थ्युसीडाइड्स दोनों लिखा जाता है। अतः विविधताओं से बचने के लिए तथा समस्या के उचित समाधान न होने के कारण केवल कुछ सुप्रचलित शब्दों को छोड़ कर शेष के लिए अंग्रेजी भाषा के उच्चारण का ही अनुसरण किया गया है। इसके लिए डेनियल जोन्स की 'इंगलिश प्रोनाउन्सिग डिक्शनरी' का अव-

लम्बन लिया गया है। वैसे प्रत्येक कृति का अपना गुण-दोष होता है। मुझे इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना है। पुस्तक कैसी है इसका निर्णय सुधी पाठकों पर छोड़ देता हूँ।

प्रस्तुत कृति के प्रणयन एवं प्रकाशन में मेरे आदरणीय गुरुजनों के स्नेह, प्रेरणा एवं आशीष तथा सहयोगी मित्रों के साहाय्य एवं सौहार्द का अविस्मरणीय योगदान रहा है अतः उनके प्रति आभार व्यक्त करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ। आचार्यप्रवर गुरुवर्य प्रो० गोवर्द्धन राय शर्मा का मैं आजीवन आभारी हूँ जिनकी नैसर्गिक अनुकम्पा से जीवन-सम्बल मिला है। प्रो० गोविन्द चन्द्र पाण्डे, प्रो० जसवन्त सिंह नेगी तथा प्रो० बृज नाथ सिंह यादव के अगाध स्नेह के अभाव में इसकी रचना असम्भव थी। मैं आप सबका हृदय से आभार मानता हूँ।

गुरुवर डॉ० उदय नारायण राय ने इसकी पाण्डुलिपि देखकर इसे अपने बहुमूल्य सुझाओं से परिष्कृत ही नहीं किया प्रत्युत इसकी भूमिका लिखकर इसे गौरवान्वित भी किया है। यह आपका सहज स्नेह ही है। मैं आपका हृदय से आभारी हूँ। इसकी रचना वस्तुतः गुरुवर डॉ० सिद्धेश्वरी नारायण राय की प्रेरणा एवं उत्साहवर्द्धन के कारण प्रारम्भ हुई थी और आपके ही पाण्डित्यपूर्ण पथ-प्रदर्शन एवं आशीष के फल-स्वरूप पूर्ण हुई। मैं आपकी इस महती अनुकम्पा से कभी ऋणमुक्त नहीं हो सकता। डॉ० शिवेश चन्द्र भट्टाचार्य, श्री विद्या धर मिश्र, डॉ० राधा कान्त वर्मा, श्री राम कृष्ण द्विवेदी तथा श्री जय नारायण पाण्डेय से भी समय-समय पर जो अमूल्य सहायता मिली है उसके निमित्त मैं आपका अत्यधिक आभारी हूँ। प्रो० संगम लाल पाण्डेय (दर्शन विभाग) तथा डॉ० महावीर प्रसाद लखेड़ा (संस्कृत विभाग) मेरा सतत् मार्ग-दर्शन करते रहते हैं। मैं आप सबका हृदय से आभार मानता हूँ। आदरणीय पं० गिरिजा शंकर त्रिपाठी निरन्तर मुझे ऐतिहासिक एवं साहित्यिक रचनाओं के लिए उत्प्रेरित करते रहते हैं एतदर्थ मैं आपके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

इलाहाबाद डिग्री कालेज के भूतपूर्व प्राचार्य स्व० प्रभाकर ठाकुर के प्रति मैं किन शब्दों में आभार व्यक्त करूँ जो जीवन के अंतिम क्षण तक अध्ययन-अध्यापन एवं लेखन के लिए उत्प्रेरित करते रहे। भाई डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र, श्री हरि नारायण दुबे, श्री गंगा सागर तिवारी, डॉ० राम किशोर शर्मा, डॉ० श्याम नारायण शुक्ल, श्री अव्यक्त राम मिश्र, श्री देवेन्द्र कुमार राय, श्री भरत लाल राय, श्री आदित्य प्रसाद ओझा तथा श्री माता फेर पाठक ने लेखन से प्रकाशन तक आद्योपान्त विविध प्रकार से मेरी अनल्प सहायता की है। मैं आप लोगों का अतीव कृतज्ञ हूँ। मैं 'सहायक-ग्रंथ' के अन्तर्गत उल्लिखित उन सुकृती विद्वानों के प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना परम दायित्व समझता हूँ जिनके विचार, कथन, उद्धरण इत्यादि प्रस्तुत कृति की संरचना में उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

कई वर्षों से इसके प्रकाशन की योजना थी किन्तु कतिपय आकस्मिक बाधाओं के कारण सफलता नहीं मिल पाती थी। मेरे अनेक शुभेच्छु एवं मित्र जब

इस विषय में पूछते थे तो मैं निरुत्तर हो जाता था। प्रकाशन का उत्तरदायित्व श्री विश्वनाथ प्रमानिक ने संभाला एतदर्थ उन्हें जितना धन्यवाद दिया जाय कम होगा। अनेक व्यस्तताओं के बावजूद भी श्री शिव चन्द्र ओझा ने प्रूफ-संशोधन में मेरी यथेष्ट सहायता की है मैं आपका भी अनुगृहीत हूँ। शीघ्रता से मुद्रण कार्य सम्पन्न करने के लिए श्री पन्नालाल जायसवाल को साधुवाद। अन्त में; अत्यन्त सावधानी के बावजूद भी प्रूफ-सम्बन्धी कतिपय अशुद्धियाँ रह गयी हैं। अतः सुधी पाठकों से निवेदन है कि उसे सुधार कर पढ़ लेंगे तथा इसके लिए मुझे क्षमा करेंगे।

प्रबोधिनी एकादशी
सम्वत् 2035

राम निहोर पाण्डेय

विषयानुक्रम

अध्याय पृष्ठ

1. प्रागैतिहासिक युग 1–33

जीवों का उद्भव एवं विकास, आद्य-जीव युग, प्रजीव युग, पुरा-जीव युग, मध्य-जीव युग, नूतन-जीव युग; **पुरा पाषाण काल**––मानव प्रजातियाँ, उपकरण, जीवन-पद्धति, कला, ज्ञान-विज्ञान; **मध्य पाषाण काल**––उपकरण, जीवन-पद्धति; **नव पाषाण काल**––उपकरण, कृषि-कर्म, पशु-पालन, मृद्भाण्ड-निर्माण, वस्त्र-निर्माण, सामाजिक जीवन, धर्म, ज्ञान-विज्ञान।

2. धातु युग एवं ऐतिहासिक सभ्यताओं का जन्म 34–38

कृषि-कर्म सम्बन्धी नवीन आविष्कार, यातायात के साधनों का विकास, मृद्भाण्ड-निर्माण कला का विकास, काँस्यकालीन नागरिक क्रान्ति।

3. सुमेरियन सभ्यता 39–76

भौगोलिक स्थिति, ऐतिहासिक स्रोत, सुमेरियन जाति, प्रमुख नगर-राज्य; **राजनीतिक इतिहास**––सारगोन प्रथम, शुल्गी; **राजनीतिक संगठन**––विधि-संहिता, न्याय एवं दण्ड-विधान, सैन्य-संगठन; **सामाजिक संगठन**, **आर्थिक संगठन**––कृषि-कर्म, पशु-पालन, उद्योग-धंधे, व्यापार एवं वाणिज्य; **धर्म**––बहुदेववाद, देवताओं में मानवीकरण की प्रवृत्ति, द्वैतवाद का अभाव, देवताओं के द्विविध स्वरूप का परिकल्पन, नैतिकता एवं आध्यात्मिकता का अभाव, लौकिक धर्म, आख्यान प्राचुर्य; **कला**––वास्तुकला, मूर्तिकला, अन्य कलाएं; **बौद्धिक उपलब्धियाँ**—लिपि, भाषा एवं साहित्य, धार्मिक साहित्य, लौकिक साहित्य, विज्ञान; सुमेरियन सभ्यता की महत्ता एवं देन।

अध्याय — पृष्ठ

4. **बैबिलोनियन सभ्यता** 77–114

राजनीतिक इतिहास—हम्मूराबी, हम्मूराबी का चारित्रिक विश्लेषण, हम्मूराबी के उत्तराधिकारी; **राजनीतिक संगठन**—शासक, हम्मूरावी की विधि-संहिता; **सामाजिक संगठन**—पारिवारिक संगठन एवं स्त्रियों की स्थिति, आहार-विहार एवं वस्त्राभरण; **आर्थिक संगठन**——कृषि-कर्म एवं पशु-पालन, उद्योग-धंधे, व्यापार; **धर्म**——देव-मण्डल, अभिचार एवं अन्धविश्वास, परलोकवाद; **कला**——वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला एवं अन्य गौण कलाएँ; **बौद्धिक उपलब्धियाँ**——लिपि, साहित्य, दर्शन, विज्ञान, गणित, ज्योतिष, खगोल-शास्त्र, मानचित्र-निर्माण, औषधि-शास्त्र; **बैबिलोनियन सभ्यता की महत्ता एवं देन।**

5. **असीरियन सभ्यता** 115–151

ऐतिहासिक स्रोत; **राजनीतिक इतिहास**—तिग्लैथपिलीज़र प्रथम, अशुरनज़िरपाल द्वितीय, शालमनेसर तृतीय, तिग्लैथपिलीज़र तृतीय, सारगोन द्वितीय, सेनैकरिब, एसरहद्दोन, अशुरबनिपाल, अशुरबनिपाल के उत्तराधिकारी एवं असीरिया-साम्राज्य का पराभव; असीरिया-साम्राज्य के पतन के कारण, असीरियन क्रूर विजेता थे पर संस्कृति के प्रति उदासीन नहीं थे; **राजनीतिक संगठन**—केन्द्रीय शासन, प्रान्तीय शासन, कर-व्यवस्था, विधि-संहिता एवं दण्ड-विधान, सैन्य-संगठन; **सामाजिक संगठन**—प्रमुख वर्ग, पारिवारिक गठन एवं स्त्रियों की स्थिति, **आर्थिक संगठन**—कृषि-कर्म, उद्योग-धंधे, व्यापार एवं वाणिज्य; **धर्म**—देव-मण्डल, अन्धविश्वास, परलोकवाद; **कला**—वास्तुकला, मूर्तिकला, उद्भृतकला, चित्रकला एवं अन्य गौण कलाएँ; **बौद्धिक उपलब्धियाँ**—लिपि एवं साहित्य, विज्ञान, **असीरियन सभ्यता की महत्ता एवं देन।**

6. **कैल्डियन सभ्यता** 152–160

राजनीतिक इतिहास—नेबुकद्रेज्जर द्वितीय, नेबुकद्रेज्जर द्वितीय के उत्तराधिकारी; **धर्म एवं दर्शन, कला, विज्ञान, कैल्डियन सभ्यता की महत्ता एवं देन।**

7. **मिस्र की सभ्यता** 161–223

भौगोलिक स्थिति; मिस्र : नील का वरदान——ऐतिहासिक स्रोत, **राजनीतिक इतिहास—प्राग्वंशीय युग, प्राचीन राज्य युग, सामन्त-**

अध्याय पृष्ठ

वादी युग, मध्य राज्य युग; सामन्तीय संघर्ष एवं हिक्सॉस आधिपत्य का युग, **साम्राज्य युग, राजनीतिक संगठन, सामाजिक संगठन**--पारिवारिक गठन एवं स्त्रियों की स्थिति, शिक्षा, वस्त्र एवं अलंकरण, मनोरंजन; **आर्थिक संगठन**---कृषि-कर्म, पशु-पालन, उद्योग-धंधे, व्यापार एवं वाणिज्य, आर्थिक संगठन के दोष; **धर्म**—प्राग्वंशीय युग, प्राचीन राज्य युग--आमोन रे, ओसाइरिस, आइसिस, कर्मकाण्ड, परलोकवाद, मध्य राज्य युग, आमोन रे एवं ओसाइरिस की प्रतिष्ठा में वृद्धि, परलोकवाद; **साम्राज्य युग एवं इख्नाटन**--इख्नाटन का मूल्यांकन; **कला**—-वास्तुकला, पिरामिड, मंदिर, मूर्तिकला, उद्भृत-कला, चित्रकला, गौण कलाएँ; **बौद्धिक उपलब्धियाँ**—-लिपिकला एवं लेखन सामग्री, साहित्य, धार्मिक साहित्य, लौकिक साहित्य, दर्शन, विज्ञान, गणित, खगोल शास्त्र, औषधि शास्त्र; **मिस्री सभ्यता की महत्ता एवं देन**।

8. **हिब्रू सभ्यता** 224–256

ऐतिहासिक स्रोत, प्रजाति एवं नामकरण; **राजनीतिक इतिहास**—मूसा का आविर्भाव एवं मिस्र से प्रत्यावर्तन, साल, डेविड, सालमन; **राजनीतिक संगठन**, **सामाजिक संगठन**, **आर्थिक संगठन**, **धर्म**--प्राक्मूसा युग, राष्ट्रीय एकदेवपूजा का युग, सुधार का युग, बैबिलोनियन बंदी युग, उत्तर बंदी युग या पारसीक प्रभाव का युग, **कला**; **बौद्धिक उपलब्धियाँ**—साहित्य, काव्य, आख्यान साहित्य, इतिहास साहित्य, दर्शन; **हिब्रू सभ्यता की महत्ता एवं देन**।

9. **हित्ती सभ्यता** 257–280

ऐतिहासिक स्रोत; **राजनीतिक इतिहास**--पुराहित्ती राज्य युग, साम्राज्य युग, नव हित्ती राज्य; **राजनीतिक संगठन**--केन्द्रीय प्रशासन प्रान्तीय प्रशासन, विधि-संहिता एवं दण्ड-विधान, सैन्य-संगठन; **सामाजिक संगठन**; **आर्थिक संगठन**; **धर्म**--देव-मण्डल, उपासना विधि, पारलौकिक मान्यता; **कला**--वास्तुकला, उद्भृत कला, मुद्राएँ; **बौद्धिक उपलब्धियाँ**--लिपि एवं भाषा, साहित्य, **महत्त्व एवं देन**।

10. **ईजियन सभ्यता** 281–299

ऐतिहासिक स्रोत, जाति, प्राचीन युग, मध्य युग, परवर्ती युग, राजनीतिक संगठन, सामाजिक संगठन, आर्थिक संगठन; **धर्म**--देव-

अध्याय पृष्ठ

मण्डल, कर्मकाण्ड, परलोकवाद; **कला**--वास्तुकला, मूर्तिकला, उद्भूतकला, चित्रकला, मृद्भाण्ड कला; **बौद्धिक उपलब्धियाँ, महत्ता एवं देन** ।

11 **यूनानी सभ्यता** 300–382

भौगोलिक स्थिति एवं उसका प्रभाव, मूल स्थान, शाखाएँ एवं महाप्रवजन, **होमर काल**--राजनीतिक संगठन, सामाजिक संगठन, आर्थिक संगठन, धर्म, होमर काल का महत्त्व; **औपनिवेशिक प्रसार एवं नगर राज्यों का उत्कर्ष**—औपनिवेशिक प्रसार के कारण, उपनिवेशों की प्रकृति एवं उसका प्रभाव, यूनानी नगर-राज्यों का स्वरूप एवं उसका विकास, नगर-राज्यों का राजनीतिक विकास; **स्पार्टा**--लाइकर्गस का संविधान, राजनीतिक पक्ष, सामाजिक पक्ष, आर्थिक पक्ष, स्पार्टा-संविधान की आलोचना; **एथेंस**--सोलन के संवैधानिक सुधार, सोलन के सुधारों का महत्त्व, पिसिस्ट्रेटस एवं उसके उत्तराधिकारी, क्लीस्थनीज के संवैधानिक सुधार, यूनानी-पारसीक युद्ध, यूनानियों की सफलता के कारण, यूनानी-पारसीक युद्ध का परिणाम, डेलोस संघ की स्थापना, थिमिस्टोक्लीज, साइमन; **पेरिक्लीज**--पेरिक्लीज के संवैधानिक सुधार, संवैधानिक सुधार के दोष, राजनीतिक उपलब्धियाँ, केलियस संधि, तीस वर्षीय संधि, पेलोपोनेशियन युद्ध; **धर्म**; **कला**—वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला; **साहित्य**--विषाद गीत, गीति-काव्य, नाटक-ईस्किलस, सॉफोक्लीज, युरिपिडीज, एरिस्टोफेनीज, इतिहास-शास्त्र; **हेरोडोटस, थ्युसिडिडीज,** जेनफन; भाषण कला; **दर्शन**—मिलिशियन सम्प्रदाय, पाइथागोरियन सम्प्रदाय, एलियाटिक सम्प्रदाय एवं नित्यवाद, हेराक्लाइटस एवं अनित्यवाद, परमाणुवादी सम्प्रदाय; **सॉफिस्ट सम्प्रदाय**--प्रोटेगोरस, गॉर्जियस, थ्रेसीमेकस; **सुकरात, प्लेटो, अरस्तू; विज्ञान**--गणित, ज्योतिष, जीव विज्ञान, औषधिशास्त्र; **यूनानी सभ्यता की महत्ता एवं देन** ।

12. **पारसीक सभ्यता** 383–437

ऐतिहासिक स्रोत, प्रजातियाँ; **राजनीतिक इतिहास**--प्राक्हखामनीशिय युग, पौराणिक काल, मीडों का उत्कर्ष : डिओसीज, फ्रवर्तिश, उवखशत्र, इश्तुवेग एवं मीडों का अन्त, हखामनीशिय युग, कुरुश् द्वितीय, मीडिया-अधिग्रहण, लीडिया-अधिग्रहण, एशिया माइनर के तटीय यूनानी उपनिवेशों का अधिग्रहण, बैबिलोन तथा पश्चिमी प्रान्तों का अधिग्रहण, कुरुश् द्वितीय का मूल्यांकन, कम्बुजिय द्वितीय;

अध्याय पृष्ठ

दारयवउश् प्रथम––राज्य-ग्रहण एवं अन्य प्रारम्भिक सफलताएँ, यूनान पर आक्रमण करने का संकल्प, यूनान पर आक्रमण, दारयवउश् प्रथम का मूल्यांकन, खशयार्श, अर्तखशयार्श प्रथम, दारयवउश् द्वितीय, अर्तखशयार्श द्वितीय नेमन, दारयवउश् तृतीय, **पारसीक साम्राज्य के अधःपतन के कारण**, साम्राज्य की विशालता, सांस्कृतिक पृथक्ता एवं सैन्य संगठन के दोष, प्रशासनिक दोष, उत्तराधिकार सम्वन्धी नियम का अभाव, अयोग्य उत्तराधिकारी, यूनान का अभ्युदय एवं सिकन्दर का आविर्भाव; **राजनीतिक संगठन**—प्रान्तीय शासन, विधि-संहिता एवं दण्ड-विधान, सैन्य-संगठन; **सामाजिक संगठन, आर्थिक संगठन; धर्म**—जरथुश्त्र : अभिधान, समय एवं जन्मस्थान, आविर्भाव एवं आरम्भिक जीवन, जरथुश्त्र धर्म, एकेश्वरवाद, द्वैतवाद, कर्मकाण्ड एवं मागी, नैतिक आदर्श, परलोकवाद, जरथुश्त्र धर्म का महत्त्व एवं अन्त; **कला; बौद्धिक उपलब्धियाँ**––साहित्य : अवेस्ता, विज्ञान, **पारसीक सभ्यता की महत्ता एवं देन।**

13. **चीन की सभ्यता** 438–460

ऐतिहासिक स्रोत; **शांग युगीन सभ्यता**––राजनीतिक संगठन, सामाजिक एवं आर्थिक संगठन, धर्म, बौद्धिक उपलब्धियाँ; **चाऊ युग**—राजनीतिक संगठन, सामाजिक संगठन, आर्थिक संगठन; **धर्म**—कला, बौद्धिक उपलब्धियाँ, शू-चिंग, शी-चिंग, चुन-चिन, बैम्बू एनाल्स, त्सो-चुआन, ई-चिंग, कुओ-यु, चान-कुओत्से, लि-शाओ; **दर्शन–कन्फ्यूशियस का जीवन चरित्र**—कन्फ्यूशियस के सिद्धान्त मेंसियस, सुन-त्जू; **ताओवाद**––लाओत्से, चुआंग-त्जू, **अन्य सम्प्रदाय**, मो-त्ती, यांग-चू; **प्रकृतिवाद**—विधिवाद।

14. **सिंधुघाटी की सभ्यता** 461–481

विस्तार, निर्माता, प्राचीनता, शासनतंत्र, सामाजिक जीवन, आर्थिक संगठन; **धर्म**––मातृशक्ति की उपासना, पशुपति उपासना, चक्र एवं शिश्नोपासना, पशु-पूजा, नागोपासना, वृक्षोपासना, उपासना विधियाँ, अभिचार परलोकवाद, परवर्ती हिन्दू धर्म पर प्रभाव, **कला**––वास्तु-कला ; सामान्य विशेषताएँ, कतिपय महत्त्वपूर्ण भवन; मूर्तिकला-धातुमूर्तियाँ, मृण्मूर्तियाँ, मुद्राएँ एवं ताम्रपट्ट, मृदभाण्ड कला, अन्य उपकरण, बौद्धिक उपलब्धियाँ, अन्त, महत्ता एवं देन।

सहायक-ग्रन्थ 483–493

1

प्रागैतिहासिक युग

अरण्यों एवं कन्दराओं में नग्न विचरण करने वाला मूक एवं बर्बर मानव, जिसका जीवन पूर्णतया अरण्य-पशुओं एवं फल-फूलों पर आश्रित था, वही काल-क्रम से अल्तमीरा की गुफा का चित्रकार, मिस्री स्थापत्य-विशारद, बैबीलोनियन ज्योतिर्विद्, भारतीय दार्शनिक, हिब्रू-सन्त, पारसीक प्रशासक एवं यूनानी कवि और कलाविद् बना। मानव सभ्यता का यह विकास आकस्मिक अथवा त्वरित नहीं, अपितु क्रमिक एवं मंद गति से सम्पन्न हुआ। साधनों की अल्पता एवं विकास-पथ की जटिलता के कारण इसमें लाखों वर्ष लग गये। सभ्यता को अंधकार से प्रकाश तक पहुँचने में कई मंजिलें तय करनी पड़ीं। कई बार इसका उत्थान हुआ और कई बार अधःपतन। मानव सभ्यता के इस उत्थान तथा अधःपतन के इतिहास को अध्ययन की सुविधा के निमित्त सामान्यतः प्रागैतिहासिक (Prehistoric) एवं ऐतिहासिक (Historic) दो युगों में विभाजित किया गया है। प्रथम का प्रारंभ अत्यन्त प्रारंभिक काल में मनुष्य के पशु-योनि से मानव-योनि में पदार्पण एवं अन्त लेखन कला के प्रथम परिचय के साथ हुआ। कहने का अभिप्राय यह है कि इस युग में मनुष्य लिपि कला से परिचित नहीं था। दूसरे शब्दों में प्रागैतिहासिक सभ्यता प्राक्साक्षर सभ्यता है। लिपि कला के ज्ञान के साथ-साथ साक्षर सभ्यता का अविर्भाव हुआ। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डे के शब्दों में साक्षरता ही प्रागितिहास एवं इतिहास के बीच विभाजक रेखा है। अतएव, प्रागैतिहासिक क्षेत्र में मनुष्य का वाङ्मय और मनोमय जगत् अधिकांशतः अज्ञात रह जाता है, यद्यपि लिपि के अतिरिक्त अन्य प्रतीकों से उसका किंचित् आभास होता है।[1] बर्न्स मानव सभ्यता के इतिहास को प्राक्साक्षर और साक्षर दो युगों में विभाजित करते हैं।[2] प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता एच० डी० संकालिया[3] के अनुसार भारतीय इतिहास

---

1. श्रीराम गोयल, प्रागैतिहासिक मानव एवं संस्कृतियाँ, भूमिका, पृ०, 16
2. E. M. Burns, Western Civilizations, vol. I., p. 6
3. H. D. Sankalia, Indian Archaeology Today, p. 26

के सम्बंध में यह विभाजन यौक्तिक नहीं है। क्योंकि इस विभाजन के आधार पर छठवीं शती ई० पू० के पहले का समग्र भारतीय इतिहास, जिसमें प्रारंभ से, जब मनुष्य अशिक्षित, बर्बर एवं वन्य था, लेकर सिंधु घाटी की सभ्यता एवं समस्त वैदिक सभ्यता तक का काल अन्तर्निहित है; प्रागैतिहासिक युग के अन्तर्गत रखा जायगा, पर यह उचित नहीं है क्योंकि विशद् वैदिक संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् साहित्य को अशिक्षित जनों की कृतियाँ स्वीकार करना न्यायसंगत नहीं है। यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठाया जा सकता है, क्या वैदिक युग में लिपि कला का आविर्भाव हो गया था? वर्तमान समय में इस प्रश्न का समुचित उत्तर नहीं दिया जा सकता क्योंकि एक ओर इस युग के साहित्यिक साक्ष्य लिपि कला के अस्तित्व की पुष्टि तो करते हैं, लेकिन पुरातात्त्विक साक्ष्यों से उसका कोई समर्थन नहीं मिलता। इसी प्रकार सिंधु सभ्यता की लिपि से सम्बंधित पुरातात्त्विक साक्ष्य तो मिलते हैं लेकिन दुर्भाग्य से अभी तक उसका पाठ संभव नहीं हो सका है। यद्यपि अभी हाल में इस दिशा में अनेक प्रयास किये गये पर सफलता नहीं मिली। ऐसी स्थिति में इन युगों में लिपि कला के अस्तित्व को न तो सर्वथा स्वीकार ही किया जा सकता है न अस्वीकार ही। विवाद की इस स्थिति में इन युगों को प्रागैतिहसिक अथवा ऐतिहासिक किसी युग में नहीं रखा जा सकता है। अतः इसके लिये आद्यैतिहासिक युग (Proto-historic Age) नाम देना अधिक उचित जान पड़ता है। आद्यैतिहासिक युग की एक विशिष्टता है कि एक ओर यह प्रागैतिहासिक युग से सम्बद्ध रहता है तो दूसरी ओर ऐतिहासिक युग से। जैसे-जैसे अनुसंधान होते जा रहे हैं आद्यैतिहासिक अंश ऐतिहासिक अंश में मिलते जा रहे हैं। वास्तव में आद्य इतिहास, इतिहास के बहुत निकट होता है। इसी लिए ब्रॉड्रिक महोदय प्रस्तावित करते हैं कि आद्य इतिहास इतिहास की तुलना में कम निश्चयार्थक है तथा लिपि कला के अनस्तित्व के कारण ही उससे भिन्न है। उसकी शेष जीवन-विधा इतिहास-काल के प्रारंभ से सारतः भिन्न नहीं है।[1]

मानव सभ्यता के इतिहास के उक्त विभाजन विशेषतः लिपि कला को ध्यान में रखकर प्रस्तावित किए गये हैं। मनुष्य ने सर्वप्रथम अपने भोजन-प्राप्ति एवं जीवन-रक्षा के लिये प्रस्तरोपकरणों को सहायक बनाया। बहुत दिनों तक वह इन्हीं को परिष्कृत एवं परिवर्द्धित कर प्रयुक्त करता रहा। समयान्तर से वह धात्विक उपकरणों का प्रयोग करने लगा। धात्विक उपकरणों में भी वह प्रथमतः ताम्र, तदनन्तर कांस्य एवं अन्त में लौह से परिचित हुआ। अतः उपकरणों में प्रयुक्त पदार्थों के आलोक में मानव सभ्यता के इतिहास को (i) पाषाण काल (Stone Age) एवं (ii) धातु काल (Age of Metals) दो युगों में विभाजित किया जाता है। अंतिम को (i) ताम्र काल (Copper Age), (ii) कांस्य काल (Bronze Age) तथा (iii) लौह काल (Iron Age) तीन उपयुगों में विभाजित किया गया है। सी० थामसेन मानव सभ्यता के इतिहास के स्थूलतः

---

[1] A. H. Brodrick, Pre-historic Painting, p. 3

(i) पाषाण काल, (ii) ताम्र काल एवं (iii) लौह काल तीन विभाजन करते हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार ट्वायनबी इसमें यंत्र युग नामक एक और युग जोड़ने के पक्ष में हैं जिसमें रहने का सौभाग्य हमें मिला है।[1]

मानव सभ्यता के इतिहास में उपरोक्त विभिन्न कालों की अवधि विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न है। इनकी कालगत संगति बैठाना कठिन है। मिस्र, सुमेर, भारत, यूनान, चीन तथा रोम में इन युगों का न तो एक साथ प्रारंभ हुआ न अन्त। प्रागैतिहासिक युगों में तो और अधिक कालगत विभिन्नता है। भारत तथा यूरोप के कुछ देशों में प्रागैतिहासिक सीमाएँ एक-सी नहीं हैं। ऐतिहासिक काल के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। मिस्र तथा सुमेर में ऐतिहासिक काल की सीमा तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० के आस-पास रखी जाती है, जबकि भारत में सामान्यतः छठीं शती ई० पू०, पर न्यायतः तृतीय शती ई० पू० तक। जो भी हो, हम इतना जानते हैं कि सम्पूर्ण मानव सभ्यता के इतिहास का नब्बे प्रतिशत भाग प्रागैतिहासिक तथा शेष दश प्रतिशत ऐतिहासिक युग से सम्बद्ध रहा है। दूसरे शब्दों में मानव सभ्यता अपने चौबीस घंटे के जीवन में तेईस घंटे पैंतालीस मिनट तक प्रागैतिहासिक तथा शेष पन्द्रह मिनट ही ऐतिहासिक रही है।

जीवों का उद्भव एवं विकास

प्राचीन काल से मनुष्य यह मानता चला आ रहा है कि उसने अपना विकास अन्य जीवों से सर्वथा पृथक् किया तथा इतने दिन बाद भी उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसी आधार पर विभिन्न देशवासियों ने अपने-अपने परिवेश के अनुकूल मानवीय सृष्टि की दैवी मान्यता स्थापित की। भारतीय ऋषियों द्वारा स्थापित सृष्टि की उत्पत्ति सम्बंधित मान्यताएँ अस्थिर एवं परिवर्त्तनशील हैं, किन्तु सामान्यतः मानव जाति को आदि पुरुष से उत्पन्न बताया गया है। इस आदि पुरुष को या तो विवस्वत् का पुत्र 'मनु' या 'यम वैवस्वत' माना गया है, जिसने यमज भगिनी 'यमी' के साथ मानव जाति की सृष्टि की। अन्यत्र विभिन्न अन्य मानवीय परिवारों को पृथक् और स्वतंत्र रूप से अत्रि, कण्व आदि अन्य पूर्वजों के माध्यम देवों से अवतरित बताया गया है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में विराट् पुरुष से विभिन्न वर्णों एवं पशुओं की उत्पत्ति आख्यात है। मेसोपोटामिया में भी सृष्टि सम्बन्धित आख्यानां का अभाव नहीं है। बाइबिल में इसका श्रेय उस देवता को दिया गया है जिसने स्वर्ग, पृथ्वी, आकाश, जल तथा अन्त में मनुष्य की सृष्टि की। मुस्लिम मान्यता के अनुसार ईश्वर ने सबसे पहले एक मिट्टी का मनुष्य बनाया। उसके बाद तरल पदार्थों की एक बूँद के माध्यम से उसके बच्चों को पैदा किया। तत्पश्चात् उसे साँचे में ढाला और उसमें अपनी जीवात्मा फूँकी। वर्तमान समय में यह कहना कठिन है कि ये कथाएँ कितनी वैज्ञानिक हैं, लेकिन इतना हम जानते हैं कि

---

[1] A. J. Toyanbee, A Study of History, vol. I (Hindi Translation), p. 162

पिछले हजारों वर्षों से जन-मानस के रोम-रोम में भरी पड़ी इन मान्यताओं को सहसा निकालना यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

मानवोत्पत्ति की उपरोक्त धार्मिक व्याख्याएँ प्रतिष्ठित होते हुए भी धीरे-धीरे कुछ विचारकों के मानस-पटल से हटने लगीं। लुकरीटियस (Lucretius, 95-51 B.C.) ने सर्वप्रथम मनुष्य की उत्पत्ति प्राकृतिक कारणों से बतायी। उसके अनुसार मनुष्य के बच्चे सीधे पृथ्वी से उत्पन्न हुए। इसमें संदेह नहीं है कि लुकरीटियस की मान्यता तर्क-संगत नहीं थी लेकिन इसकी महत्ता इस दृष्टि से अधिक है कि इसी ने सर्वप्रथम मानवोत्पत्ति की दैवी मान्यता को चुनौती दी। शनैः-शनैः चिन्तकों में मानवोत्पत्ति की भौतिकवादी विचारधारा का जन्म हुआ। सोलहवीं शती ई० में एण्ड्रियाज विसालियस तथा विलियम हार्वे के शोधों के फलस्वरूप भौतिकवादी विचारधारा और अधिक प्रतिष्ठित हुई। यद्यपि इन्हें ईसाइयों का घोर विरोध मिला लेकिन ये अपने निश्चय से तनिक भी न हटे। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि इसी सिद्धान्त के प्रतिपादन में लूसीलियो वेनिनी नामक एक विचारक को फाँसी की सजा दी गई। अपने सिद्धान्त-प्रतिपादन के लिए यूनान में सुकरात तथा प्लेटो को भी मृत्युदण्ड मिला था जिसमें अन्तिम ने किसी प्रकार भाग कर अपनी जान बचा ली थी। क्या इतिहास कभी इन अमानवीय कार्यों को विस्मृत कर सकता है? लेकिन चिन्तनशील पुरुष जन्म एवं मृत्यु जैसी शाश्वत घटनाओं की परवाह किये बिना प्रगति-पथ पर बढ़ता जाता है। समस्त कठिनाइयों एवं विरोधों के बावजूद भी मानवोत्पत्ति की भौतिकवादी विचारधारा प्रतिष्ठित होती ही गई। धीरे-धीरे मानव के विकास में उसके वातावरण के महत्त्व को भी स्वीकार किया जाने लगा। इस तरह विकासवाद के सिद्धान्त की जड़ें जमने लगीं। इस दृष्टि से कार्ल लिनायस (Carl Linnaeus), जेम्स मोनबोड्डो (James Monboddo), जार्जेज बुफन (Georges Buffon), उन्नीसवीं शती ई० के क्रान्तिकारी जनवादी एन० जी० चर्नीशेव्स्की (N. G. Chernyshevsky) तथा लेमार्क (Lamarck) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। लेकिन विकासवाद के सिद्धान्त के वास्तविक जन्मदाता महान् प्रकृतिविज्ञ चार्ल्स डार्विन (Charles Darwin, 1809-82 A. D.) थे। विकासवाद के सिद्धान्त को मान्यता मिलने के बाद यह मान लिया गया कि प्रारंभ में सभी प्राणियों में प्राण-शक्ति एक ही समय प्रवाहित हुई। प्रारंभ में इसका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म था लेकिन जलवायविक परिवर्तनों के फलस्वरूप उनकी शारीरिक रचना दिन-दिन जटिलतर होती गई। मनुष्य इस क्रमिक विकास की अंतिम परिणति है। लेकिन विकास की अवधि बहुत लम्बी थी। जीव-विकास की इस सम्पूर्ण अवधि को पृथ्वी की संरचना एवं जलवायविक परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में पाँच युगों में विभाजित किया गया है। लेकिन इस सम्बंध में ध्यान-योग्य है कि न तो इन पाँचों युगों की अवधि बराबर है न किसी ऐसी विधि का ही आविष्कार किया गया है जिससे इनके भूतात्त्विक कालानुक्रम का युक्ति-युक्त निर्धारण किया जा सके। यद्यपि अब कुछ ऐसी विधियाँ अपनाई जा रही हैं। स्तरीय आधार पर पृथ्वी की सम्पूर्ण

अवधि तथा तत्सम्बंधित जीव-विकास के इतिहास के पाँच भूतात्त्विक युग तथा उनके उपविभाग इस प्रकार हैं :—

1. आद्य-जीव युग (Archaeozoic Age)
2. प्रजीव युग (Proterozoic Age)
3. पुरा-जीव युग (Palaeozoic Age)
4. मध्य-जीव युग (Mesozoic Age)
5. नूतन-जीव युग (Cainozoic Age)

आद्य-जीव युग—जीवोद्भव एवं विकास की दृष्टि से यह प्राचीनतम युग है। विद्वानों की धारणा है कि इस युग में पृथ्वी पर जीवों का अस्तित्व नहीं था, अतएव इसे अजीव युग कहना अधिक उचित है। इसके विपरीत दूसरे विद्वानों की राय है कि इस युग में अत्यन्त सूक्ष्म प्राणियों का आविर्भाव हुआ था यद्यपि इसे प्रमाणित करना कठिन है। आद्य-जीव युग की अवधि दो सौ करोड़ वर्ष पूर्व से एक सौ बीस करोड़ वर्ष पूर्व तक स्वीकार की गई है।

प्रजीव युग—जीव-विकास के इतिहास में यह द्वितीय युग है। इस युग से सम्बन्धित प्राणियों के अस्तित्व के साक्ष्य मिले हैं। इनका स्वरूप लसलसी झिल्ली के समान था। इनका उद्भव छिछले जल में हुआ था। अभी तक अस्थि, चर्म आदि नहीं विकसित थे। काई के रूप में वनस्पतियों की उत्पत्ति इसी युग में हुई। इसकी अवधि एक सौ बीस करोड़ वर्ष पूर्व से पचपन करोड़ वर्ष पूर्व तक स्वीकार की गई है।

पुरा-जीव युग—इसका उत्तरार्द्ध प्राथमिक युग (Primary Period) भी कहा जाता है। इस युग में आविर्भूत प्राणी ने सर्वप्रथम सूर्य की किरणों से बचने के लिए एक प्रकार का आवरण धारण किया। इस श्रेणी के जीवों में मछलियों, रेंगने वाले प्राणियों, जल-बिच्छुओं तथा केकड़ों का उल्लेख किया जा सकता है। इस युग के जल-बिच्छू की लम्बाई 2.743 मीटर थी। यह इस युग के प्रारंभ का सबसे अधिक लम्बा प्राणो था। समय-प्रवाह के साथ मछलियों के स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ। इनके आँख, दाँत इत्यादि अंग विकसित हो गये और इनकी संख्या भी बढ़ गई। मेरुदण्डी ये प्राचीनतम प्राणी हैं। इनको लम्बाई .609 मीटर से 6.094 मीटर तक पायी गई है। इनकी प्रचुरता के कारण इसे मत्स्य-युग (Age of Fishes) भी कहा जाता है।

मत्स्य-युग के अन्त तक भौतिक परिवर्तनों के फलस्वरूप पृथ्वी प्राणियों के रहने योग्य बन गई। वनस्पतियाँ भी अब जल में ही केन्द्रित न होकर दलदली भागों की ओर बढीं। इसी के साथ बहुत से प्राणी जैसे जल-बिच्छू, केकड़े, मेढक तथा अन्य रेंगने वाले प्राणी जिन्हें सरीसृप (Reptiles) कहा गया है तथा मक्खियाँ (Dragon-Fly) आदि भी दलदल की ओर आकर बसने लगीं। अभी तक ये प्राणी अर्द्धजल एवं अर्द्धस्थल चर थे। जल में उत्पन्न होने के कारण अभी ये उससे पूर्णतया अलग होकर नहीं रह सकते थे। पुराजीव युग पचपन करोड़ वर्ष पूर्व से बीस करोड़ वर्ष पूर्व तक विद्यमान रहा।

मध्य-जीव युग—इसे द्वितीयक युग (Secondary Period) भी कहा गया है। जलवायविक परिवर्तनों के फलस्वरूप इस युग में पुरा-जीव युग के वनस्पति एवं प्राणि-जगत् का एक अधिक भाग विनष्ट हो गया। लेकिन यह विनाश विकास का कारण बना। पुनः जब जलवायविक स्थिति स्थिर हुई पृथ्वी पर सर्वथा अभिनव प्राणी प्रकट हुए। इस प्रकार के अभिनव प्राणियों को अण्डज की श्रेणी में रखा जा सकता है। अब प्राणियों के अण्डे एवं पौधों के बीज की सहायता से सृष्टि होने लगी। अब प्रजनन के लिये जल नितान्त आवश्यक नहीं रह गया। प्रकट होते ही ये प्राणी वायु में साँस ले सकते थे और जीवित रह सकते थे। इस प्रकार के प्राणियों में विशाल सर्प, अजगर, मगर-मच्छ, कच्छप आदि प्रमुख थे। वास्तव में ये भी एक प्रकार के सरीसृप प्राणी ही थे। इनका अस्तित्व आज भी है। लेकिन मध्य-जीव युग में ये भारी-भरकम तथा प्रचुर संख्या में थे। इनमें से कुछ की लम्बाई 21.335 से 24.383 मीटर तक आँकी गई है। कभी-कभी यह लम्बाई 30.479 मीटर तक भी पहुँच जाती थी। मध्य-जीव युग की अवधि बीस करोड़ वर्ष पूर्व से छः करोड़ वर्ष पूर्व तक स्वीकार की गई है।

नूतन-जीव युग—मध्य-जीव युग के विशालकाय सरीसृपों ने तत्कालीन वातावरण से अपना ऐसा तादात्म्य स्थापित कर लिया था कि मध्य-जीव युग की समाप्ति के साथ-साथ उत्पन्न जलवायविक, परिवर्तनों के फलस्वरूप उनकी भी समाप्ति हो गई। जीवों तथा वातावरण में परस्पर संघर्ष प्रारंभ हो गया। इस संघर्ष में सफल प्राणी ही बच पाये। वनस्पतियाँ भी दलदली भाग से स्थलीय भागों की ओर बढ़ीं। सर्वत्र हरे-भरे घास के मैदान छा गये। प्राणियों में पक्षी तथा स्तनपायी जीव प्रकट हुए। प्राणियों की उत्पत्ति अण्डे के साथ-साथ गर्भ से भी होने लगी। स्तनपायी प्राणियों को कई श्रेणियों में विभाजित किया गया है। इनमें नर-वानर (Primate) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एप (Ape), बन्दर, लंगूर तथा मानव इसी श्रेणी में आते हैं। ऐसा माना जाता है कि आज से लगभग चार करोड़ वर्ष पहले इन्हीं नर-वानर परिवारों से वानरसम प्राणी प्रकट हुए। विकास-क्रम में इन्हीं से मानवसम तथा पूर्ण मानव प्राणियों का आविर्भाव हुआ।

अध्ययन की सुविधा के लिए नूतन-जीव युग को, जिसकी अवधि छः करोड़ वर्ष पूर्व से वर्तमान काल तक मानी गई है, मानव-विज्ञानी तृतीयक (Tertiary) एवं चतुर्थक (Quarternary) दो उपयुगों में विभाजित करते हैं। काल-क्रम एवं विकास की दृष्टि से तृतीयक युग के निम्न विभाग किये गये हैं :—

(i) आदि नूतन काल (Eocene Period)
(ii) अल्प नूतन काल (Oligocene Period)
(iii) मध्य नूतन काल (Miocene Period)
(iv) अति नूतन काल (Pliocene Period)

प्रथम की अवधि छः करोड़ वर्ष पूर्व से साढ़े तीन करोड़ वर्ष पूर्व तक स्वीकार की गई है। इस काल में पृथ्वी की जलवायु अति उष्ण थी। स्तनपायी प्राणियों के

विकास का काल यही है। द्वितीय काल की अवधि साढ़े तीन करोड़ वर्ष पूर्व से दो करोड़ वर्ष पूर्व तक मानी जाती है। मानवाकृति के छोटे-छोटे बंदर संभवतः इसी काल में प्रकट हुए थे। सामान्यतः इस काल में भी स्तनपायी प्राणियों का बाहुल्य रहा। तृतीय काल की अवधि दो करोड़ वर्ष पूर्व से सत्तर लाख वर्ष पूर्व तक स्वीकार की गयी है। हिमालय तथा आल्प पर्वत श्रेणियाँ संभवतः इसी काल में उठी थीं। स्तनपायी प्राणियों के विकास का यह चरम काल है। यद्यपि अभी तक मनुष्यों का आविर्भाव नहीं हुआ था। अति नूतन काल की अवधि सत्तर लाख वर्ष से दश लाख वर्ष पूर्व तक स्वीकार की गई है। संभावना व्यक्त की गई है कि इसी काल में मनुष्य मानव-वानर रूप में प्रकट हुए।

चतुर्थक काल को भूतत्त्व-विज्ञानी दो भागों में विभाजित करते हैं :—

(i) अत्यन्त नूतन काल (Pleistocene Period)

(ii) सर्व नूतन काल (Holocene Period)

अत्यन्त नूतन काल की अवधि दश लाख वर्ष पूर्व से बारह हजार वर्ष पूर्व तक स्वीकार की जाती है। यह काल जलवायविक परिवर्तनों के लिये विशेष प्रसिद्ध है। इस काल में उत्तरी क्षेत्रों में चार बार हिमपात (glacial) हुए, इसीलिए इसे हिम युग (Ice Age) भी कहा जाता है। भूवैज्ञानिक दो हिमावर्तनों के मध्य एक उष्ण हिम प्रत्यावर्तन (interglacial) की उपस्थिति स्वीकार करते हैं। 1909 ई० में पेंक एवं ब्रकनर (Penk & Bruckner) नामक विद्वानों में अपने शोधों के आधार पर अत्यन्त नूतन काल में एलपाइन प्रदेश में चार हिमावर्तनों तथा उनके मध्य तीन हिमप्रत्यावर्तनों के अस्तित्व के स्तरीय साक्ष्य प्राप्त किए थे। दोनों विद्वानों ने आल्प के उत्तर में प्रवाहित चार छोटी-छोटी नदियों के आधार पर इन हिमावर्तनों को क्रमशः गुंज (Gunj), मिण्डेल (Mindel), रिस (Riss), तथा वुर्म (Wurm) तथा इनके मध्य होने वाले हिमप्रत्यावर्तनों को क्रमशः गुंज-मिण्डेल, मिण्डेल-रिस तथा रिस-वुर्म नाम प्रदान किया था। यह भी पता लगा लिया गया था कि सभी हिमप्रत्यावर्तनों की अवधियाँ बराबर नहीं थीं। अनुमान है कि गुंज-मिण्डेल और रिस-वुर्म दोनों हिमप्रत्यावर्तनों को अलग-अलग अवधियाँ 60,000 वर्ष थीं। मिण्डेल-रिस की अवधि 2,40,000 अथवा 1,90,000 वर्ष स्वीकार की गई है। जो भी हो, इतना निश्चित है कि द्वितीय हिमप्रत्यावर्तन प्रथम एवं तृतीय की तुलना में तीन-चार गुना लम्बा था। इसी लिये इसे महाहिमप्रत्यावर्तन भी कहा गया है। कालगत विभिन्नता के साथ-साथ इन हिमप्रत्यावर्तनों में परस्पर जलवायविक विषमता भी थी। अनुमान है कि द्वितीय हिमप्रत्यावर्तन प्रथम एवं तृतीय की अपेक्षा अधिक उष्ण था।

अत्यन्त नूतन काल में जो महान् विश्वव्यापी जलवायुगत परिवर्तन हुए उनका प्रभाव सार्वदेशिक था। लेकिन यह प्रभाव भिन्न-भिन्न जलवायु मण्डलों तथा विभिन्न भौगोलिक कटिबंधों में एक समान नहीं हुआ। समशीतोष्ण कटिबन्धों में हिमावर्तन एवं हिमप्रत्यावर्तन की घटनाएँ घटित हुईं। दूसरी ओर उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में वृष्ट्या-

वर्तन (pluvial) तथा वृष्टिप्रत्यावर्तन (Inter-pluvial) की घटनाएँ हुईं। जहाँ तक हिमावर्तनों एवं हिमप्रत्यावर्तनों तथा वृष्ट्यावर्तनों एवं वृष्टिप्रत्यावर्तनों की समकालीनता का प्रश्न है, भूतत्त्व-विज्ञानी एक मत नहीं हैं। प्रसिद्ध भूकालक्रमिकी विशेषज्ञ एफ० ई० ज्वाएनर (F. E. Zeuner) इनकी समकालीनता निराधार बताते हैं, जबकि एल० एस० बी० लीकी (L. S. B. Leakey) दोनों में कालगत समता के समर्थक हैं। इन जलवायविक परिवर्तनों का प्रभाव जीवों के उद्भव एवं विकास पर पड़ा। इसी काल में सर्वप्रथम मानवसम प्राणियों का आविर्भाव हुआ। जिनसे आगे चलकर पूर्ण मानव प्राणी आविर्भूत हुए।

जीवों के विकास का अंतिम युग सर्व नूतन काल है। इसका आविर्भाव बारह हजार वर्ष पूर्व हुआ था और वर्तमान काल तक विद्यमान है। मानव एवं उसकी सभ्यता के विकास का चूडान्त इसी काल में देखा जा सकता है।

मानव सभ्यता की आद्यशिला पाषाण काल में रखी गई। इसी काल में सर्वप्रथम मनुष्य ने प्रकृति से संघर्ष करते हुए अपनी जीविका एवं रक्षा के लिए सापेक्षिक रूप से शाश्वत होने के कारण प्रस्तरोपकरणों को सहायक बनाया। यद्यपि प्रस्तर के अतिरिक्त काष्ठ एवं अस्थि खण्ड भी उसके सहायक बने लेकिन प्राचुर्य के कारण सर्वाधिक उपयोग प्रस्तरोपकरणों का ही किया गया। इसी लिये इसे पाषाण काल नाम दिया गया। पाषाण काल के स्थूलतः तीन विभाग किये गये हैं :—

1. पुरा पाषाण काल (Palaeolithic or Early Stone Age)
2. मध्य पाषाण काल (Mesolithic or Middle Stone Age)
3. नव पाषाण काल (Neolithic or New Stone Age)

पुरा पाषाण काल

मानव सभ्यता के इतिहास में काल की दृष्टि से जो महत्त्व पाषाण काल का है वही पाषाण काल में पुरा पाषाण काल का भी। समग्र पाषाण काल में पुरा पाषाण काल की अवधि सबसे अधिक है। इतना ही नहीं, अपितु प्रारम्भ से लेकर अन्त तक इसके भी कम से कम तीन पृथक् स्तर दिखलाई पड़ते हैं। इसे ध्यान में रखते हुए पुरा पाषाण काल के भी (i) निम्न-पुरा पाषाण काल (Lower Palaeolithic), (ii) मध्य-पुरा पाषाण काल (Middle Palaeolithic) तथा (iii) उच्च-पुरा पाषाण काल (Upper Palaeolithic) तीन उप विभाग किये गये हैं। जैसे पाषाण काल में पुरा पाषाण काल की अवधि सर्वाधिक है वैसे ही पुरा पाषाण काल में निम्न-पुरा पाषाण काल की अवधि सर्वाधिक है।

मानव प्रजातियाँ

पृथ्वी पर मानव प्राणियों का आविर्भाव सर्वप्रथम निम्न-पुरा पाषाण काल में हुआ। लेकिन ये पूर्ण मानव न होकर मानवसम प्राणी थे। इनकी कम से कम चार

प्रजातियों के विषय में साक्ष्य मिले हैं। इनमें प्राचीनतम मानवाभ वानर के एक अतिप्राचीन शिशु (3-5 वर्ष) के कपाल का अवशेष 1924 ई० में दक्षिण अफ्रीका में टाउंग के निकट से प्राप्त हुआ था। इसकी उपलब्धि रेमण्ड डार्ट (Raymond Dart) को हुई थी और उन्होंने इसका विवरण प्रस्तुत किया था। यह किसी ऐसे प्राणी का अवशेष था जो एप था लेकिन मानव से मिलता-जुलता था। इसे अफ्रीकी मानव (Australo-Pithecus africanus) नाम प्रदान किया गया। 1935 ई० में और उसके बाद इस वर्ग के अन्य बहुत से अवशेष मिले। 1955 ई० में डार्ट को इन अवशेषों के समीप कुछ प्रस्तरोपकरण मिले जिनका सम्बन्ध अफ्रीकी मानव से बताया गया। कीथ की धारणा है कि मानव के आदि पूर्वज का आकार-प्रकार इस मानवसम प्राणी से मिलता-जुलता था। लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि आदि मानव के पूर्वज यही थे। संभवतः ये आदि मानव से सम्बन्धित थे। 1960-64 ई० में लीकी महोदय को पूर्वी अफ्रीका के तांजिया से प्राचीनतम मानवाभ वानर के अवशेष मिले। लीकी ने इसे होमो हैबिलिस (Homo-habilis) या मानववत् (Man having ability) नाम प्रदान किया। इसका समय आज से 18·5 लाख वर्ष पहले का माना गया है। इसके समीप से प्रस्तर के भद्दे औजार भी मिले हैं। संभवतः यह प्राणी चल सकता था और सीधे खड़ा हो सकता था। माना जाता है कि यह 'मानववत्' प्राणी उच्च विकसित आस्ट्रेलोपिथिकसों में एक था। अल्जीरिया में तेर्नीफ़िन से 1954-1955 ई० के बीच अति प्राचीन मानवसम प्राणियों के कपाल की पार्श्विकास्थि (Parietal Bone) का एक टुकड़ा और तीन निचले जबड़े, जिनमें दो अपूर्ण थे, मिले थे। ये खोजें एटलस पर्वत के समीप हुई थीं इसी लिए इन अति प्राचीन मानव प्राणियों को एटलेंथ्रोपस (Atlanthropus) नाम दिया गया।

एशिया में निम्न-पुरा पाषाणकालीन मानवसम प्राणियों के प्रस्तरित अवशेष जावा एवं चीन से उपलब्ध हुए हैं। जावा से प्राप्त मानव को जावा-मानव या पिथिकेंथ्रोपस (Pithecanthropus) नाम दिया गया है। इसके कपालतोरण डच वैज्ञानिक एजेन दुबुआ को जावा में बेनगावां नदी के तट पर त्रिनिल नामक गाँव से 1891 ई० में मिले थे। यह अवशेष लगभग पाँच लाख वर्ष पूर्व बने निक्षेपों में पन्द्रह मीटर की गहराई से उपलब्ध हुआ था। 1892 ई० में दुबुआ को उसी स्थान से एक और जंघास्थि अवशेष मिला जो आकृति एवं बनावट में आधुनिक मानव से अधिक भिन्न नहीं प्रतीत होता। दुबुआ महोदय ने इन मानव प्राणियों को पिथिकेंथ्रोपस इरैक्टस (Pithecanthropus erectus) या कपिमानव नाम प्रदान किया। दुबुआ के अनुसार ये प्राणी कपि एवं मानव के बीच के एक अन्तवर्ती प्रकार थे। चीनी मानव को साइनेंथ्रोपस पेकिनेंसिस (Sinanthropus pekinensis) नाम दिया गया है। इस प्राणी के कपाल चीन में पेकिंग से 54 किलोमीटर दक्षिण-पश्चिम चूकूतिएन (Chou-kou-Tien) की एक कंदरा से 1929 ई० में प्राप्त किए गये थे। इसका श्रेय चीनी मानव-विज्ञानी पेई पेन चुंग को है। चीनी जीवाश्म वैज्ञानिकों ने बाद में उसी कन्दरा से कई अन्य साइनेंथ्रोपस खोपड़ियाँ प्राप्त कीं। मस्तिष्क विकास की दृष्टि से साइनेंथ्रोपस अपने पूर्वजों मानवाभ वानरों

से, पिथिकेंथ्रोपस की तुलना में, अधिक दूर था। साइनेंथ्रोपस के अवशेषों के समीप पशुओं की अस्थियाँ एवं अग्नि की साक्षियाँ भी मिली थीं जिससे प्रतीत होता है कि वे अग्नि का प्रयोग करना जान गये थे।

1911 ई० में चार्ल्स डासन को इंग्लैंड के ससेक्स प्रदेश के पिल्टडाउन (Piltdown) नामक स्थान से प्राचीन मानव प्राणियों के कुछ अस्थि अवशेष मिले थे। ब्रिटेन के मानव वैज्ञानिकों ने सगर्व इन्हें विश्व का प्राचीनतम मानव प्राणी घोषित किया। लेकिन 1953 ई० में हुये वैज्ञानिक परीक्षणों से उनका दम्भ चकनाचूर हो गया। इससे सिद्ध हो गया कि पिल्टडाउन मानव प्राचीनतम मानव प्राणी नहीं था। वास्तव में ब्रिटेन के नृवंशतत्त्ववेत्ताओं ने यूरोप को मानव के उद्भव का आदि स्थल बताने के लिये इस प्रकार की तथाकथित जालसाजी की थी। यूरोप से प्राचीन मानव प्राणी के अवशेष जर्मनी के हाइडेलबर्ग (Heidelberg) नामक स्थान से प्रो० शूटन सैक को 1907 ई० में प्राप्त हुये। इसका समय लगभग चार लाख वर्ष पहले का है। यद्यपि यह मानवाभ वानर से बहुत मिलता-जुलता है लेकिन इसमें कुछ मानव लक्षण भी सुव्यक्त हैं। दुर्भाग्य से हाइडेलबर्ग मानव का कोई अन्य अवशेष नहीं मिला है। हाइडेलबर्ग के बाद यूरोप के निम्न-पुरा पाषाणकालीन मानव प्राणियों में उनका उल्लेख किया जा सकता है जिनके अस्थि अवशेष स्वान्सकोम्बे (Swanscombe), स्टीनहीम (Steinheim) एवं फोंतेशेवाद (Fontechevade) से प्राप्त हुये हैं। इन मानवों के विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये मध्य-पुरा पाषाणकालीन निएण्डरथलों से प्राचीन होते हुये भी उच्च-पुरा पाषाणकालीन पूर्ण मानवों के अधिक निकट थे। अतः इन्हें प्रारंभिक पूर्ण मानव प्राणी माना जा सकता है।

मध्य-पुरा पाषाण काल, जिसकी अवधि 83,000-60,000 ई० पू० से 30,000 ई० पू० तक स्वीकार की गई है, में यूरोप पर निएण्डरथल नामक मानव प्रजाति का आधिपत्य स्थापित हो जाता है। इन्हें यह अभिधान जर्मनी की निएण्डरथल (Neanderthal) घाटी से मिला था जहाँ से 1856 ई० में इस मानव के कंकाल अवशेष प्राप्त हुए थे। इसके बाद बेल्जियम, स्पेन, इटली, युगोस्लाविया, रूस एवं पेलेस्टाइन से बहुत से अस्थि अवशेष प्रकाशित हुए। निएण्डरथलों के विशिष्ट लक्षणों में अंडाकार कपाल नेत्रों के ऊपर भारी भ्रू-कटक, ढलवा माथ और नीचा कपाल-तोरण का उल्लेख किया जा सकता है। इनका विशाल निचला जबड़ा लगभग पूर्णतः चिबुक-कटकविहीन है। निएण्डरथल आधुनिक मानवों के सदृश लम्बे नहीं थे। इनकी औसत ऊँचाई 1.52-1.62 मीटर तक थी। लेकिन कपाल का औसत आयतन लगभग 1,400 घन सेंटीमीटर था जो आधुनिक मानव के बराबर ही था। इनकी शारीरिक संरचना से प्रकट होता है कि यह बहुत फुरतीला नहीं था अर्थात् न सीधे खड़ा हो सकता था न तेज चल ही सकता था। बोल लेता था पर शायद भाषा का विकास नहीं किया गया था। निएण्डरथल मानवों का प्रसार यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका के विस्तृत प्रदेशों पर दिखलाई पड़ता है। इनकी अनेक प्रजातियाँ ज्ञात हैं। पहले निएण्डरथलों को पूर्ण मानव प्रजाति न

मान कर अर्द्ध-मानव प्रजाति ही माना जाता था, जिसे पराजित कर ही उच्च-पुरा पाषाण काल में यूरोप पर वहाँ की पूर्ण मानव जातियों ने अपना अधिकार स्थापित किया था। लेकिन यह मत उचित नहीं प्रतीत होता। यूरोप में अब निम्न-पुरा पाषाणकालीन स्तरों से प्रारंभिक पूर्ण मानव प्रजातियों की कुछ साक्षियाँ मिली हैं। अतः नियण्डरथलों को पूर्ण मानव प्रजातियों की ही एक शाखा माना जा सकता है। मध्य-पुरा पाषाण काल में चतुर्थ हिमावर्तन के समय पूर्ण मानव के पूर्वजों से पृथक् होने के कारण इनकी शारीरिक रचना में कुछ परिवर्तन हो गये। अतः कहा जा सकता है कि आधुनिक मानव प्रजातियाँ सीधे निएण्डरथलों से प्रकट हुईं। यद्यपि सोवियत मानव-विज्ञानी इससे सहमत नहीं हैं।

उच्च-पुरा पाषाण काल के प्रारम्भ तक निएण्डरथलों का अकस्मात अवसान हो जाता है। वे कहाँ चले गये तथा उनका अन्त क्यों हो गया ऐसे प्रश्न हैं जिनका समुचित उत्तर अभी नहीं मिल सका है। हम केवल इतना जानते हैं कि उनके स्थान पर हमें विभिन्न प्रकार के ऐसे अस्थि अवशेष मिलने लगते हैं जिनका निएण्डरथलों से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका है। इनकी शारीरिक रचना आधुनिक मानव प्रजातियों से मिलती-जुलती है। इसी लिए इन्हें पूर्ण मानव प्राणी (Homo sapiens) नाम दिया गया है। पुरा पाषाण काल के मध्य मानव के प्रकार का इस प्रकार परिवर्तन मानवता के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। क्योंकि उस काल में उप-मानव मानव के रूप में बदल रहा था और उप-मानव के मानव रूप में बदलने से आज तक इतना समय (लगभग 35,000-40,000 वर्ष) व्यतीत हो गया फिर भी मानव अतिमानव (Super Man) नहीं बन सका। उच्च-पुरा पाषाणकालीन पूर्ण मानव प्रजातियों का प्रसार यूरोप, उत्तरी एवं पूर्वी अफ्रीका तथा एशिया के विभिन्न भागों में एक साथ दिखाई पड़ता है। ऐसी स्थिति में यह कहना पर्याप्त साहस की अपेक्षा रखता है कि इनका आविर्भाव सर्वप्रथम कहाँ हुआ। निएण्डरथलों के बाद जिस समय इन्होंने यूरोप पर आधिपत्य स्थापित किया ये कम से कम निम्न चार शाखाओं में बँटे थे :—

(i) क्रो-मैग्नन (Cro-Magnon)
(ii) ग्रिमाल्डी (Grimaldi)
(iii) कोम्ब-कोपेल (Combe-Coppelle)
(iv) चांसलेड (Chancelade)

क्रो-मैग्नन मानव के अस्थि अवशेष दक्षिण फ्रांस के **क्रो-मैग्नन** ग्राम के निकट की एक गुफा से 1886 ई० में प्राप्त हुए। इनकी लम्बाई 1.77 से 1.92 मीटर तक आँकी गई है। इनका कपाल उन्नत, मुखाकृति चौड़ी एवं ठोड़ी तथा नासा नुकीली थी। ग्रिमाल्डी मानव के अस्थि अवशेष फ्रांस में ग्रिमाल्डी नामक गुफाओं से प्राप्त हुए हैं। इनके कपाल, ठोड़ी तथा दाँत की समता आधुनिक नीग्रो प्रजाति से प्रस्तावित की गई है। कोम्ब-कोपेल मानव के अवशेष 1909 ई० में फ्रांस के डार्डोन (Dardogne) से मिले थे। इनका सिर गोल, नाक चौड़ी, जबड़ा छोटा तथा

ठोड़ी विकसित थी । लेकिन इनकी लम्बाई क्रो-मैग्नन से छोटी थी । इनकी कुल लम्बाई लगभग 1.58 मीटर थी । चांसलेड मानव के अस्थि अवशेष फ्रांस में चांसलेड से 1888 ई० में संग्रहीत किए गये थे । इनकी लम्बाई सबसे कम थी । कहीं भी ये 1.52 मीटर से अधिक नहीं मिलते । लेकिन कद में छोटे होते हुए भी ये शरीर के भारी तथा बड़े सिर वाले थे । इनकी समता आधुनिक एस्किमों प्रजाति से प्रस्तावित की गई है । पूर्ण मानव प्राणियों के उपरोक्त प्रकार के अस्थि अवशेष यूरोप के अन्य स्थानों, तथा अफ्रीका, एशिया एवं आस्ट्रेलिया में भी मिले हैं । क्रो-मैग्नन कंकालों से मिलते-जुलते अस्थि अवशेष 1936 ई० में मुर्ज़ाक-कोबा गुफाओं से तथा 1927 ई० में फात्माकोबा गुफाओं से प्राप्त किये गये थे । 1952 ई० में वोरोनेज नगर (सोवियत संघ) के 45 किलोमीटर दक्षिण में स्थित कोस्त्योन्की ग्राम में कई कंकाल मिले थे । 1951 ई० में ईरान से एक मानव कपाल मिला था जिसे प्राप्ति-स्थल के आधार पर हूतू मानव नाम दिया गया है । जावा से अत्यन्त नूतन काल के अंतिम स्तरों से दो महत्त्वपूर्ण मानव अस्थि अवशेष मिले हैं । इन्हें प्राप्ति-स्थल के आधार पर वादजाक मानव (Wadjak Man) तथा सोलो मानव (Solo Man) नाम दिया गया है । इनकी शारीरिक संरचना में कुछ निएण्डरथल तत्त्वों का सन्निवेश भी माना जाता है । अफ्रीका के रोडेशिया के ब्रोकेन हिल (Broken Hill) की एक कंदरा से प्राप्त मानव अवशेषों को रोडेशियन मानव नाम प्रदान किया गया है । इनकी समता क्रो-मैग्नन से प्रस्तावित की गई है, यद्यपि इनकी तिथि ठीक-ठीक नहीं ज्ञात हो सकी है । इस प्रकार हम देखते हैं कि पुरा पाषाण काल में मनुष्यों का आविर्भाव मानवाभ वानरों के रूप में हुआ । धीरे-धीरे विकास प्रक्रिया में उनका स्थान पूर्ण मानव प्रजातियों ने ग्रहण कर लिया ।

उपकरण

निम्न-पुरा पाषाण काल में मनुष्य के मुख्य सहायक प्रस्तरोपकरण थे । इनसे एक ओर शिकार कर वह अपनी क्षुधा शान्त करता था, दूसरी ओर वन्य भयानक पशुओं से अपनी रक्षा करता था । यद्यपि उपकरण निर्माण में वह प्रस्तर खण्डों के अतिरिक्त अस्थि एवं काष्ठ खण्डों का उपयोग भी करता था लेकिन प्रचुरता प्रस्तरोपकरणों की ही थी क्योंकि वे सापेक्षिक रूप से शाश्वत एवं सरलतापूर्वक उपलब्ध थे । निम्न-पुरा पाषाणकालीन मानव प्राणियों ने उपकरणों के निर्माण में जिन प्रस्तर खण्डों का उपयोग किया वे विविध प्रकार के थे । इन्हें दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—(i) समरूप (homogenous) तथा (ii) विषमरूप (heterogeneous) । प्रथम के अन्तर्गत चकमक (Flint), चर्ट (chert) आदि तथा द्वितीय के अन्तर्गत स्फटिक (Quartz) एवं ग्रेनाइट (Granite) का उल्लेख किया जा सकता है । निम्न-पुरा पाषाणकालीन उपकरण निर्माण प्रविधियाँ दो थीं —(i) क्रोड प्रणाली (core) तथा (ii) शल्क प्रणाली (Flaking) । इन प्रविधियों पर विमर्श करने के पूर्व इनका शाब्दिक अर्थ जानना आवश्यक है । किसी प्रस्तर खण्ड से आघात द्वारा निकाला गया भाग शल्क (Flake) तथा

उसका आन्तरिक भाग क्रोड कहा जाता है। इन दोनों भागों से उपकरण बनाये जाते थे। इन्हें क्रमशः शल्क उपकरण एवं क्रोड उपकरण कहा गया है। किसी प्रस्तर खण्ड से शल्क पृथक् करने के लिए एक अस्त्र-बल की सहायता से आघात प्रदान किया जाता था। इसकी मुख्यतः दो विधियाँ थीं। एक में प्रस्तर खण्ड स्थिर रहता था और आघातक को हवा में प्रकम्पित कर आघात पहुँचाया जाता था। दूसरी विधि में आघातक स्वतः स्थिर रहता था और प्रस्तर खण्ड को ही घुमा कर उससे सम्पर्क स्थापित कराया जाता था। इससे शल्क निकल जाते थे। यूरोप की क्रोड एवं शल्क औद्योगिक संस्कृतियों के कई प्रकार मिले हैं।

यूरोप की क्रोड संस्कृतियों को एब्बेवीली या शैले (Abbevillian or chellean) तथा एश्यूली (Acheulian) नाम प्रदान किये गये हैं। निम्न-पुरा पाषाणकालीन एक असंदिग्ध मानव निर्मित प्राक्शैले (Pre-chellean) उपकरण इंग्लैण्ड के नार्फाक (Norfolk) के क्रोमर (Cromer) के तटवर्ती स्थान में पाये गये हैं। यद्यपि ये शल्क उपकरण हैं लेकिन इस उद्योग में भी एकाध क्रोड उपकरण मिल जाते हैं।

एब्बेवीली उद्योग का नामकरण उत्तरी फ्रांस के एब्बेवील (Abbeville) के आधार पर रखा गया है। पहले इसे फ्रांस के शेलस (Chelles) के आधार पर शैले नाम भी प्रदान किया गया था। इस उद्योग का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस औद्योगिक परम्परा में निर्मित हैण्डैक्स न केवल प्राचीनतम हैं, बल्कि अत्यन्त रूखे भी हैं। इनका निर्माण दोनों किनारों से गहरे रूप से निकाले गये शल्कों के बाद किया जाता था। जहाँ से शल्क निकाले गये हैं वह स्थान स्पष्टतः दिखालाई पड़ता है। क्रोड-परम्परा में निर्मित हैण्डैक्सों का चरमोत्कर्ष निम्न-पुरा पाषाणकालीन एश्यूली उद्योग में दिखाई पड़ता है। ये एब्बेवीली परम्परा के उपकरणों से अधिक सुधरे मिलते हैं। इस प्रकार के उपकरण थेम्स (Thames) एवं सोम (Some) दोनों घाटियों से मिले हैं। सेण्ट एश्यूल (St. Acheul) नामक स्थान, जो इस उद्योग के नामकरण का आधार है, फ्रांस की सोम घाटी में स्थित है। यूरोप के अतिरिक्त इस प्रकार के उपकरण ग्रीनलैण्ड, कैनाडा, मेक्सिको, पश्चिमी एशिया, चीन एवं भारत में मिले हैं। यूरोप की शल्क संस्कृतियों को क्लैक्टोनी (Clactonian) तथा लेवलायेजी (Levallosian) दो नाम प्रदान किये गये हैं। क्लैक्टोनी शल्क उपकरण इंग्लैण्ड की एसेक्स काउंटी (Essex county) के क्लैक्टोन आन सी (Clacton-on-Sea) नामक स्थान से प्राप्त किये गये हैं। यद्यपि क्लैक्टोनी उद्योग के कतिपय विकसित अंशों को एश्यूली उद्योगों से पृथक् करना कठिन-सा हो जाता है लेकिन दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं था। हैण्डैक्स के अतिरिक्त कभी-कभी पूर्णतया गढ़े हुए क्लैक्टोनी क्रोड उपकरण भी मिले हैं। लेवलायेजी परम्परा के उपकरण पेरिस के एक उपनगर लेवलायेज (Levallois) से प्राप्त हुए हैं। स्मरणीय है कि जिस समय यूरोप में प्राक्शैले शल्क उपकरणों का बाहुल्य था उसी समय अफ्रीका, दक्षिण-पूर्व एशिया तथा उत्तरी-पश्चिमी भारत में पेबुल उपकरण प्रचलित थे। इनका निर्माण गोल प्रस्तर खण्डों को तोड़ कर किया जाता था। इनमें

एक ही ओर धार बनायी जाती थी। उत्तर-पश्चिम भारत की सोअन घाटी, बर्मा, जावा, मलाया तथा चीन से इस प्रकार के उपकरण मिले हैं। हाल में बेलन घाटी[1] से निम्न-पुरा पाषाणकालीन पेबुल उपकरण उपलब्ध हुए हैं।

मध्य-पुरा पाषाणकालीन निएण्डरथलों के उपकरण दक्षिणी-पश्चिमी फ्रांस में डार्डोन (Dardogne) की ल माउस्टियर (Le mousteer) नामक गुफा से उपलब्ध हुए हैं इसी लिए इन्हें मोस्तारी उपकरण (Mousteerian) नाम प्रदान किया गया है। फ्रांस के अतिरिक्त यूरोप के अन्य देशों, पश्चिमी एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका से प्राप्त हुए हैं। अभी हाल में प्रो० शर्मा के निर्देशन में सम्पन्न उत्तर प्रदेश की बेलन घाटी के उत्खनन में मध्य-पुरा पाषाणकालीन उपकरणों की उपलब्धि हुई है। मध्य पुरा-पाषाण-कालीन उपकरणों में शल्क उपकरणों की प्रधानता है। प्रमुख उपकरणों में स्क्रेपर (Scraper), बोरर (Borer), प्वाइन्ट्स (Points), ब्लेड (Blade) आदि उल्लेखनीय हैं।

निम्न एवं मध्य दोनों पुरा पाषाण कालों की अपेक्षा उच्च-पुरा पाषाण काल के उपकरण अधिक परिष्कृत एवं उपादेय हैं। इनके आकार-प्रकार विविध मिलते हैं। अभी तक उपकरण निर्माण में प्रस्तर एवं अस्थि खण्डों का ही प्रयोग अधिक किया जाता था, अन्य पदार्थों का स्थान गौण था। लेकिन उच्च-पुरा पाषाण काल में इनके साथ-साथ अन्य पदार्थों को भी विशेष महत्ता मिली। इस दृष्टि से सींग का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है। यह बात स्पष्ट है कि उच्च-पुरा पाषाण काल में प्रस्तरोपकरण-निर्माण कौशल का स्थान गौण था क्योंकि अन्य क्षेत्रों में अधिक प्रगति की गई थी। मछली पकड़ने के अंकुश का निर्माण अस्थि द्वारा किया गया। उच्च-पुरा पाषाण कालीन उपकरणों में ब्लेड (Blade) एवं ब्यूरिन (Burin) अथवा ग्रेवर (Graver) की प्रधानता थी। इनका उपयोग गृहकार्यों के अतिरिक्त उत्कीर्णन (engraving) में भी किया जाता था। पुरातत्त्वविदों ने यूरोप की उच्च-पुरा पाषाणकालीन औद्योगिक संस्कृतियों को (i) ऑरिग्नेशी (Aurignacian), (ii) सोल्यूत्री (Solutrean) तथा (iii) मैग्दलेनी (Magdalenian) नाम प्रदान किये हैं। उच्च-पुरा पाषाणकालीन संस्कृति के प्रथम चरण का निर्माण करने वाली संस्कृति ऑरिग्नेशी है। इसका नामकरण फ्रांस के ऑरिग्नाक (Aurignac) नामक शिला-शरण-स्थल (Rock-Shelter) के आधार पर किया गया है। इसके निम्न-ऑरिग्नेशी, मध्य-ऑरिग्नेशी तथा उच्च-ऑरिग्नेशी तीन विभाग किए गये हैं। प्रथम और द्वितीय को क्रमशः शैटेल्पेरानी (Chatelperronian) तथा ऑरिग्नेशी नाम भी प्रदान किया जाता है। उच्च-ऑरिग्नेशी को ग्रैवेती प्रक्रम (Gravettian Stage) एवं फण्ट राबर्ट प्रक्रम (Font Robert stage) दो भागों में विभाजित किया गया है। निम्न-ऑरिग्नेशी उद्योगों के मुख्य उपकरण ब्यूरिन, ब्लेड-फ्लेक तथा अन्तस्क्रेपर आदि हैं। इनके विशिष्ट उपकरण बैक्ड ब्लेड हैं। इसमें हैण्डैक्स बहुत कम मिले हैं। मध्य-ऑरिग्नेशी में भी ब्लेड, ब्यूरिन तथा स्क्रेपर की प्रधानता मिलती है। इसके विशिष्ट प्रस्तरोपकरणों में कील्ड स्क्रेपर (Keeled Scraper)

---

[1] इलाहाबाद-मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश)

तथा बीक्ड ग्रेवर (Beaked Graver) का उल्लेख किया जा सकता है। उच्च-ऑरिग्नेशी परम्परा के मुख्य उपकरणों में ग्रैवेत नाइफ ब्लेड, अनेक प्रकार के ब्यूरिनों, डब्ल शोल्डर्ड, प्वाइण्ट्स तथा नोवैली (Noailles) का उल्लेख किया जा सकता है। संभवत: ऑरिग्नेशी संस्कृति का आदिस्थल पश्चिम एशिया में था जिनका शनैः-शनैः प्रसार पूर्व एवं मध्य यूरोप, इटली, दक्षिणी फ्रांस, उत्तरी स्पेन तथा इंगलैण्ड में हो गया। इस परम्परा के उपकरण पेलेस्टाइन, पूर्वी अफ्रीका, साइबेरिया, उत्तरी चीन तथा दक्षिणी भारत में बम्बई के निकट खाण्डिवली एवं उत्तर प्रदेश में बेलन के किनारे से मिले हैं। इनमें ब्लेड एवं ब्यूरिन की प्रधानता है। सोल्यूत्री संस्कृति का नामकरण सोल्यूत्रे (Solutre) नामक स्थान के आधार पर किया गया है। प्रभाव एवं समय दोनों दृष्टियों से सोल्यूत्री संस्कृति अल्पकालिक कही जा सकती है। इनके प्रमुख उपकरणों में अन्तस्क्रेपर, बोरर, प्वाइण्ट्स तथा ब्यूरिन आदि ब्लेड उपकरणों का उल्लेख किया जा सकता है। मैग्दलेनी परम्परा के उपकरण डार्डोन की एक सहायक नदी वेजेरे (Vezere) के दक्षिण तट पर ल मदेलीन (La Madeleine) के शिला-शरण-स्थल से प्राप्त किये गये थे। इसका विकास ऑरिग्नेशी के आधार पर किया गया था। मैग्दलेनी परम्परा के साधारण ब्लेड उपकरणों एवं पूर्ववर्ती उच्च-पुरा पाषाणकालीन ब्लेड उपकरणों में कोई अन्तर नहीं है, लेकिन इनके बीक्ड ग्रेवर, स्क्रेपर बोरर तथा डब्ल इण्डेड स्क्रेपर जैसे मिश्रित उपकरण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस परम्परा में बने अस्थि, हाथी-दाँत और बारहसिंघा के सींग के उपकरण विशेष आकर्षक हैं। इस दृष्टि से मत्स्य-अंकुश (Fish-hook), द्वयंकुश (Barb), स्पियर थ्रोवर (Spear thrower) आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

जीवन-पद्धति

इसमें संदेह नहीं है कि निम्न-पुरा पाषाणकालीन प्रस्तरोपकरण दुनिया के विभिन्न भागों से पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हुये हैं, लेकिन इनके आधार पर इनके निर्माताओं के रहन-सहन के विषय में बहुत कम जानकारी हो पाती है। संभवत: इस काल में मनुष्य का जीवन पूर्णतया प्रकृति पर अवलम्बित था। क्षुधा-शान्ति निमित्त आखेटक पशुओं की खोज में वह इतस्ततः भ्रमण करता रहता था। कभी-कभी तो वह स्वयं आखेट बन जाता था। मांस के अतिरिक्त जगंली फल-फूल भी उसके भोजन के साधन थे। बड़े पशुओं का शिकार वे उसे गड्ढे में गिराकर करते थे। स्पेन तथा इटली से प्राप्त निम्न-पुरा पाषाणकालीन पशु-अस्थि अवशेषों में वृषभ, अश्व एवं हाथी की अस्थियाँ अधिक हैं। इससे प्रतीत होता है कि वे इनका विशेष शिकार करते थे। अभी हाल में प्रो० शर्मा के निर्देशन में बेलन घाटी में जो पुरातात्त्विक उपलब्धियाँ हुई हैं उनमें निम्न-पुरा पाषाणकालीन पशु अस्थियों में वृषभ, अश्व, भैंसे, हाथी एवं बारहसिंघे की प्रधानता है। निम्न-पुरा पाषाणकालीन मनुष्य का आवास उन्मुक्त आकाश था। केवल पेकिंग मानव को छोड़ कर अन्य किसी को न तो गुफाओं की जानकारी थी न अग्नि का ही।

मध्य-पुरा पाषाणकालीन निएण्डरथलों का जीवन निम्न-पुरा पाषाणकालीन मनुष्यों से अधिक सुविधाजनक था। यद्यपि अभी भी ये खुले आकाश में रह रहे थे, लेकिन चतुर्थ हिमावर्तन से उत्पन्न शीत से बचने के लिये इन्होंने गुफाओं का प्रयोग किया। गुफाओं का प्रयोग निम्न-पुरा पाषाणकालीन मनुष्यों द्वारा भी किया गया था लेकिन यह पेकिंग मानव तक ही सीमित था। शीत से बचने के लिये बहुत से बड़े जंगली पशु जैसे मैमथ, भालू एवं गैडें भी इन गुफाओं की ओर बढ़े। निएण्डरथल मानवों ने इनसे बचने के लिये अग्नि का प्रयोग किया। अग्नि का प्रयोग निम्न-पुरा पाषाण काल में ही प्रारम्भ हो गया था, लेकिन गुफाओं के प्रयोग की भाँति वह भी पेकिंग मानव तक ही सीमित था। गुफाओं के समीप निरन्तर अग्नि प्रज्वलित रहने से पशु उस ओर नहीं जा पाते थे। निएण्डरथल स्वतः अग्नि प्रज्वलित करना जानते थे अथवा नही, निश्चित ज्ञात नहीं है। अनुमान लगाया गया है कि शायद वे इसे किसी चकमक पत्थर से पैदा करते थे। अग्नि पर नियंत्रण मध्य-पुरा पाषाण काल की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इससे न केवल उनकी हिंसक वन्य पशुओं से रक्षा हुई, अपितु शीत से बचाव हुआ और उनका भोजन स्वादिष्ट बना। निएण्डरथल मानव भी पूर्णतया प्रकृतिजीवी था। शिकार जीविका का मुख्य साधन था। बड़े पशुओं का शिकार अकेले सम्भव नहीं था। अतः उनकी प्राप्ति के लिए सामूहिक प्रयास किया गया। सामूहिक जीवनयापन की दिशा में उनका यह एक लघु प्रयास था।[1] इनकी गुफाओं के निकट से जो पशु अस्थियाँ मिली हैं उनमें छोटी अस्थियों की संख्या अधिक है। रीढ़ तथा पसली जैसी बड़ी हड्डियाँ उनमें नहीं मिलतीं। इससे यह पता चलता है कि जिन पशुओं का शिकार वे करते थे, उन्हें टुकड़ों में बाँट कर ही अपनी गुफाओं तक लाते थे। पशुचर्म का उपयोग वे वस्त्र रूप में करते थे। निएण्डरथलों के सामाजिक संगठन के स्वरूप के बारे में कोई जानकारी नहीं है, यद्यपि इसकी संभावना को सर्वथा अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इनके मृतक-संस्कार के विषय में हमें कुछ जानकारी है। वे मृतकों को विशिष्ट प्रकार की समाधियों में दफनाते थे और उन्हें मिट्टी से बचाने के लिये कभी-कभी पाषाणखण्ड भी रख दिये जाते थे। समाधियों का निर्माण गुफाओं में अथवा अग्निवेदिकाओं के समीप किया जाता था। उनका विश्वास था कि अग्नि के सान्निध्य से मृतक पुनर्जीवित हो जायगा। मृतक विशेष मुद्रा में दफनाये जाते थे। प्रायशः दोहरा किया जाता था। एक समाधि में कपाल धड़ से पृथक् मिला है। मृतकों के साथ खाने के लिये मांस तथा उपयोग के लिये औजार भी रख दिये जाते थे जैसा बाद में भी किया जाता रहा। परवर्ती मनुष्यों की भाँति निएण्डरथल भी यह मानते थे कि मृत्यु के बाद शरीर का नाश होता है आत्मा का नहीं। इसी लिये मृतक के लिये वे सभी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं जिनकी आवश्यकता का अनुभव वह जीवन काल में करता है। इस प्रकार निएण्डरथलों ने सर्वप्रथम इस मान्यता को जन्म दिया जो थोड़े बहुत परिष्कार एवं परिवर्द्धन के साथ पिछले साठ--

---

[1] V. G. Childe, What Happend in History, p. 34

सत्तर हजार वर्षों से अविच्छिन्न चली आ रही है। कुछ आल्पीय गुफाओं से कतिपय अस्थियों एवं कपालों के अम्बार (विशेषकर रीछों के) प्राप्त हुये हैं। ऐसा लगता है कि इनका कोई विशिष्ट संस्कार किया गया था। संभवत: इनका सम्बन्ध किसी प्रकार के आखेट अभिचार से था। इससे यह स्पष्टत: ज्ञात हो जाता है कि निएण्डरथल वैचारिक दृष्टि से भी विकसित थे। लेकिन उसका स्वरूप क्या था अभी तक अज्ञात है। प्रस्तुत विवरण के आधार पर हम निएण्डरथलों के बारे में बहुत कुछ जान गये। निम्न-पुरा पाषणकालीन मानवसम प्राणियों के सदृश ये भी अधिक दिन तक न विद्यमान रह सके। अंतिम हिमावर्तन के प्रथम स्तर के अवसान के साथ-साथ निएण्डरथल एवं उनकी औद्योगिक परम्पराएँ अकस्मात विनष्ट हो गईं। यह घटना 35,000 ई० पू० के आस-पास की है।

उच्च-पुरा पाषाणकालीन पूर्ण मानवों का जीवन पूर्ववर्ती दोनों कालों के मानवों की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक था। इस काल में यूरोप की जलवायु पहले की अपेक्षा अधिक गर्म थी जिससे मनुष्यों को खुले आकाश में रहने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती थी। लेकिन अभी चतुर्थ हिमावर्तन का प्रभाव था, इसलिये वे शीत से बचने के उपायों का पूर्णतया परित्याग नहीं कर सकते थे। यही कारण है कि उच्च-पुरा पाषाणकालीन स्तरों से न केवल गुफाओं, अपितु पशुचर्मों के प्रयोग के साक्ष्य भी मिले हैं। शायद वे झोपड़ियाँ भी बनाते थे। गुफाओं एवं तम्बुओं को गर्म रखने के लिये लकड़ी के स्थान पर हड्डी जलाते थे। यद्यपि अभी तक वस्त्र-निर्माण की साक्षियाँ नहीं मिल पायी हैं, लेकिन उच्च-पुरा पाषाणकालीन स्तरों से प्राप्त सुइयों (Needles) के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि वे चमड़े को सीकर उसका वस्त्र के रूप में उपयोग करते थे। पहले की भाँति इनका जीवन भी पूर्णतया आखेट एवं वन्य फल-फूलों पर आश्रित था। लेकिन कुछ विशेष प्रकार के यन्त्रों के आविष्कार द्वारा इनका संग्रह अवश्य सरल हो गया था। उपकरणों के साथ-साथ आखेट में आभिचारिक क्रियाओं का सहारा लिया जाता था। इसके साथ-साथ उन्हें यह भी ज्ञात हो गया था कि कौन पशु कब कहाँ रहता है। वे अच्छी तरह जान गये थे कि ग्रीष्म के अन्त में मैमथ, रैण्डियर, भैंसे तथा जंगली घोड़े जाड़ा बिताने के लिये रूस एवं साइबेरिया के चरागाहों से डैन्यूब की घाटी की ओर जाते हैं। पशुओं के इस मौसमी स्थानान्तरण को ध्यान में रखते हुये ही वे अपने पड़ाव डालते थे। अग्नि का प्रचलन मध्य-पुरा पाषाण काल में ही हो गया था, लेकिन उच्च-पुरा पाषाण काल में इसे और उपयोगी बनाया गया। इस काल की बहुत-सी अग्निवेदिकाओं के अवशेष मिले हैं। सोल्यूट्र से एक अग्निवेदिका के समीप जलकर कोयला बनी हुई अस्थियों का एक अम्बार मिला है। अनुमान लगाया गया है कि इसमें एक लाख से अधिक पशुओं की अस्थियाँ रही होंगी।

उच्च-पुरा पाषाणकालीन मनुष्यों में सामाजिक चेतना के लक्षण भी दिखाई पड़ते हैं। यह चेतना संगठनात्मक एवं समूहात्मक प्रवृत्ति तक ही सीमित थी। विशाल-

काय पशुओं का शिकार अकेले संभव नहीं था। इसके लिए उनका समूहबद्ध होना आवश्यक था। वे समूहों में आवद्ध हुए भी। प्रत्येक समूह की पृथक् सत्ता थी। और वह अपनी आवश्यकता की प्रायः सभी वस्तुएँ स्वयं प्राप्त करता था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रत्येक समूह चाहे छोटा हो या बड़ा, प्रायः आत्म-निर्भर था। लेकिन कभी-कभी पारस्परिक आदान-प्रदान कर लिया जाता था। उच्च-पुरा पाषाणकालीन मनुष्यों के हाथों जिस प्रकार के उपकरणों का निर्माण किया गया तथा जिस प्रकार की प्रसिद्ध चित्र कला का अंकन हुआ, श्रम-विभाजन के अभाव में संभव नहीं प्रतीत होता। अतः स्पष्टतः कहा जा सकता है कि इस काल में दक्ष एव व्यावसायिक शिल्पियों का आविर्भाव हो गया था। इस प्रकार की दक्षता उन्हें अनायास नहीं, अपितु दीर्घकालिक प्रशिक्षण के बाद प्राप्त होती थी। इतिहास में अभिजाततंत्र की 'छाया का यह प्राचीनतम उदाहरण है। उच्च-पुरा पाषाणकालीन मनुष्य अदृश्य शक्तियों के प्रति पूर्ववर्ती मनुष्यों की अपेक्षा अधिक श्रद्धा एवं विश्वास रखता था। मृतकों के साथ उचित मात्रा में खाद्य-सामग्री, उपकरण, आभूषण इत्यादि रख कर दफनाया जाता था। इस काल की मानव अस्थियाँ गैरिक (Ochre) रंग में रँगी मिली हैं। मृत्यु के बाद शोक-संतप्त परिवार के सदस्य शव को रक्तिम चूर्ण से आवृत कर देते थे। उनका विश्वास था कि ऐसा करने से मृतक पुनर्जीवित हो जायगा क्योंकि वे रक्तवर्ण को जीवन का प्रतीक मानते थे।

कला

उच्च-पुरा पाषाणकालीन उपलब्धियों में कला का स्थान सर्वोपरि है। मौलिकता एवं दीप्तिमत्ता के कारण इसकी गणना विश्व के सात आश्चर्यों में करणीय है। यही एक ऐसी उपलब्धि है जो इस काल को पूर्ववर्त्ती युगों से विशेष रूप से पृथक् करती है। मूर्तिकला, उत्कीर्ण-कला तथा चित्रकला तीनों का विकास इसमें देखा जा सकता है। लेकिन अंतिम सर्वाधिक आकर्षक है। एक ओर इन्होंने हाथी-दाँत से बने उपकरणों पर नाना प्रकार की आकृतियाँ उत्कीर्ण की तो दूसरी ओर हाथी-दाँत एवं मिट्टी का सहायता से अनेक प्रकार की मूर्तियाँ बनाईं। उच्च-पुरा पाषाणकालीन उपकरणों के हत्थों पर पशु आकृतियाँ मिलती हैं। कभी-कभी अस्थियों के समतल खण्डों को काटकर पशु आकृतियों में बदल देते थे। प्रस्तर खण्डों पर निम्न रिलीफ (Low Relief) में आकृतियाँ उत्कीर्ण मिलती हैं। ऑरिग्नेशी परम्परा में हाथी-दाँत, प्रस्तर, मृत्तिका एवं अस्थि के मिश्रित चूर्ण से छोटी-छोटी मूर्तियाँ बनाई गईं। ऑरिग्नेशी युग की कुछ नारी मूर्तियों का उल्लेख किया जा सकता है। इन्हें रति (Venus) की मूर्तियाँ माना जाता है। इन मूर्तियों में शारीरिक अनुपात का सर्वथा अभाव परिलक्षित होता है। इनके सिर बहुत छोटे दिखाये गये हैं, जबकि अन्य अवयव जैसे उदर, नितम्ब, उरोज इत्यादि अपेक्षाकृत बड़े हैं। इनके प्रथम दर्शन से यही प्रतीत होता है जैसे ये गर्भधारण किये हैं। केश के स्थान पर केवल कुछ पंक्तियाँ बनी हैं। बर्किट इनकी संगति

उर्वरता की देवी (Fertility Cult) से बैठाते हैं। रति मूर्तियों में मध्य यूरोप में विलेनडार्फ (willendorf) से प्राप्त 10·28 सेंटीमीटर ऊँची एक मूर्ति विशेष प्रसिद्ध है। इसे 'Venus of willendorf' नाम प्रदान किया गया है।

उच्च-पुरा पाषाणकालीन चित्रकलावशेषों के माध्यम से हम तद्युगीन कलाकारों की प्रतिभा की उत्कृष्टता से परिचित होते हैं। इसके माध्यम से हम यह सहज में अनुमान लगा सकते हैं कि वह प्रकृति-चित्रण, समूह-प्रदर्शन एवं रंगों के प्रयोग में कितना निष्णात था। पशुओं की विविध मुद्राओं का अंकन वह बड़ी सफलतापूर्वक कर लेता था। दौड़ते हुए, उछलते हुए, चरते हुए, जुगाली करते हुए तथा शिकार के लिये पीछा किए गये पशुओं के चित्रण अत्यन्त मनोरम एवं आकर्षक हैं। गतिमान पशुओं के चित्रण के समय उसका ध्यान इस पर अधिक रहता था कि उस पशु के सिर तथा पैर कहाँ होने चाहिए। आखेट करते हुए मनुष्य के चित्र अत्यन्त मार्मिक हैं। उच्च-पुरा पाषाणकालीन चित्रों के सम्बन्ध में एक बात अवश्य कही जा सकती है कि इनका स्वरूप सदा एक-सा नहीं रहा। इनके प्रारम्भिक चित्र अच्छे नहीं कहे जा सकते क्योंकि देखने में वे आज-कल के बालचित्रों से प्रतीत होते हैं। पशुओं के केवल दो, एक अगले तथा एक पिछले, पैर ही प्रदर्शित किये गये हैं। लगता है जैसे पशुओं की आकृतियों को संकुचित कर उन्हें रेखाओं में बाँध दिया गया है। सत्यता तो यह है कि उस युग में धरातल पर पशुओं के चित्राङ्कन के समय उनकी लम्बाई और ऊँचाई तो प्रदर्शित कर दी जाती थी लेकिन मोटाई के प्रदर्शन में अत्यन्त कठिनाई होती थी। फिर भी प्रगति-पथ की ओर बढ़ते हुए अन्ततः उन्होंने उसमें सफलता प्राप्त कर ली जो मैग्दलेनी परम्परा तक चूडान्त पर पहुँच गई।

मैग्दलेनी परम्परा के अन्तर्गत बने चित्र शैली एवं सौन्दर्य दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। इस काल की चित्रकला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण उत्तरी स्पेन में अलतमीरा (Altamira) की गुफाओं की छतों एवं दीवारों पर उपलब्ध हुए हैं। इनका पता 1879 ई० में सौतुओला (M. Sautuola) और उनकी पाँच वर्ष की पुत्री ने लगाया था। भवन-निर्माण के लिये प्रचुर मात्रा में प्रस्तर खण्डों के निमित्त सौतुओला महोदय ने जब उक्त गुफा की तुड़ाई प्रारम्भ की, उन्हें इन चित्रों के सम्पर्क में आने का सुयोग मिला। उनको कुछ चित्रकारी का पता लगा। एक दिन उनकी छोटी लड़की भी गुफा में साथ चली गई जो छोटी होने के कारण खड़ी होकर सीधे गुफा का निरीक्षण कर सकती थी। मोमबत्ती की सहायता से गुफा की छत पर उसे बाइसन (Bison) के कुछ चित्र दिखलाई पड़े जिन्हें देखकर वह टोरोस-टोरोस (Toros-Toros) चिल्लायी। सौतुओला का ध्यान उस ओर गया और सर्वप्रथम प्रागैतिहासिक चित्रकारी का पता लगा। 1880 ई० में पुरातत्त्वप्रेमी सौतुओला महोदय ने एक लेख प्रकाशित किया, लेकिन किसी ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया। कुछ ने तो इसे केवल प्रवंचना कह कर टाल दिया। लेकिन जब 1895 ई० में प्रागैतिहासिक चित्रकारी के अन्य उदाहरण मिले तो सौतुओला महोदय की बात को समर्थन मिला।

अल्तमीरा में बाइसन, घोड़े, हरिणी, मृग एवं वाराह आदि के चित्र हैं जिनमें सर्वश्रेष्ठ चित्र बाइसन का है। इसका निर्माण चार रंगों की सहायता से किया गया था। प्रागैतिहासिक चित्रों में कुछ संकेत चित्र भी मिले हैं। उदाहरणार्थ, एक चित्र में रैण्डियरों के समूह के अङ्कन का प्रयास किया गया है जिसमें आगे तीन तथा पीछे एक रैण्डियर का चित्र बना है। शेष को केवल रेखाओं द्वारा दिखाया गया है। पूर्वी स्पेन से कुछ आखेट के चित्र मिले हैं। इनमें स्वाभाविक रंगों का प्रयोग किया गया है। इन रंगों में श्याम, रक्तिम, श्वेत तथा पीत वर्णों की प्रचुरता है। रंगों के चूर्ण में चर्बी का मिश्रण कर दिया जाता था। वे रंग आज भी ज्यों के त्यों मिलते हैं।

यहाँ एक गम्भीर प्रश्न उठता है कि इन चित्रों का निर्माण किस प्रेरणा के फलस्वरूप किया गया था। यद्यपि इस प्रश्न के समाधान के लिये बहुत प्रयत्न किये गये, लेकिन अभी कोई निर्विवाद उत्तर नहीं मिल सका। इस सम्बन्ध में विद्वानों की राय भिन्न-भिन्न है। कुछ विद्वानों के अनुसार इन चित्रों का निर्माण मनुष्य की सहज कलात्मक प्रवृत्ति के कारण किया गया था अर्थात् कलाकार अपने आस-पास के संचरणशील पशुओं के चित्राङ्कन निमित्त आन्तरिक प्रेरणा से विवश था। दूसरे विद्वानों की धारणा है कि इन चित्रों के निर्माण के पीछे 'कला कला के लिये' का सिद्धान्त क्रियाशील था। कहने का अभिप्राय यह है कि वह अपनी गुफाओं और उपकरणों के अलंकरण के लिए ऐसा चाहता था। तीसरे मतानुसार इन चित्रों का निर्माण मृगया के विजयस्मरणोत्सव के रूप में किया जाता था। एक अन्य मतानुसार इनके उद्भव एवं उजृंभण के पीछे उपयोगिता का सिद्धान्त कार्यरत था। इसके अन्तर्गत उनकी वह सहानुभूतिक आभिचारिक प्रवृति प्रच्छन्न रूप से निहित थी जिसे वे मृगया में सहायक मानते थे और जिससे खाद्य-समस्या का समाधान होता था। लेकिन गम्भीरतापूर्वक विमर्श करने पर यह ज्ञात हो जाता है कि प्रागैतिहासिक चित्रकला के सृजन में अंशतः इन कारणों को भले ही जिम्मेदार स्वीकार कर लिया जाय, लेकिन इनमें से किसी एक को इनके निर्माण का वास्तविक कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि इस सम्बंध में कुछ गम्भीर आपत्तियाँ हैं। यह बात उस समय और प्रमाणित हो जाती है जब चित्रों को स्थिति एवं उनके स्वरूप के परिप्रेक्ष्य में हम इसे देखने की चेष्टा करते हैं। कलात्मक प्रदर्शन एवं अलंकरण के सिद्धान्त का प्रश्न चित्रों में प्रयुक्त अध्यारोहण की प्रवृत्ति से निर्मूल हो जाता है। भित्तिचित्रों के देखने से पता लगता है कि पर्याप्त स्थान के होते हुए भी पुरातन चित्रों पर नवीन चित्र मढ़ दिये गये हैं। डार्डोन में तेयजात (Teyzat) के चित्रों में एक पशु के ऊपर दूसरे पशु के चित्र बनाये गये हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि दोनों में प्रकृति एवं समय का कोई अन्तर नहीं है। एक ही पशु के चित्र का एक ही स्थान पर एक ही या थोड़े समय के अन्तर से बार-बार कलात्मक प्रदर्शन के लिए बनाया जाना अस्वाभाविक-सा लगता है। यही बात चित्रों की प्रकृति एवं स्थिति के विषय में भी कही जा सकती है। प्रागैतिहासिक चित्रों में कुछ, ऐसे स्थलों पर बने मिले हैं, जहाँ घोर अंधकार वर्तमान रहता है और निश्चित ही पहले भी विद्यमान रहा

होगा। प्रकाश के अभाव में उनके दर्शन असंभव हो जाते हैं। प्रकाश के अभाव में इनका निर्माण भी सम्भव नहीं प्रतीत होता। ऐसी स्थिति में यह अजीब-सा लगता है कि उस काल में जब रोटी के लाले पड़े थे प्रागैतिहासिक मानव ने इतना कष्ट उठाया होगा और इनका निर्माण अँधेरी गुफाओं में किया होगा। यदि वे ऐसा चाहते ही थे तो सुप्रकाशित स्थान कुछ कम थोड़ी थे। इन चित्रों के निर्माण करने एवं निर्माण-स्थल तक पहुँचने के लिए उन्हें जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था उसके आलोक में भी इनके निर्माण के कलात्मक प्रदर्शन के कारण को नहीं स्वीकार किया जा सकता। कुछ चित्र ऐसे स्थलों पर बनाये गये हैं जहाँ पहुँचना कठिन हो जाता है। कुछ चित्र ऐसे हैं जिनका निर्माण किसी सीढ़ी या उसके अभाव में किसी व्यक्ति के कन्धे की सहायता से किया गया था। कुछ चित्र, जैसे कैस्टिलो (Castillo) की गुफाओं के, तो ऐसे स्थलों पर निर्मित हैं जिन्हें केवल लेट कर परिसर्पण गति के द्वारा ही पहुँच कर देखा जा सकता है। इनका निर्माण भी इसी विधि द्वारा सम्भव हुआ होगा। क्या प्रागैतिहासिक मनुष्यों के पास इतना समय नष्ट करने एवं परिश्रम करके आनन्दित होने का अवसर था? संभवतः नहीं।

मृगया में प्राप्त विजय-स्मरणोत्सव के सिद्धान्त के विरुद्ध भी चित्रों की प्रकृति एवं स्थिति का उल्लेख किया जा सकता है। आखेट से सम्बन्धित चित्र गुफा के अत्यन्त अल्पदृश्य एवं निभृत् स्थलों पर अंकित हैं। यदि वे विजय के स्मरणोत्सव थे तो क्यों नहीं उन्हें पूर्ण दृश्य एवं सुगम्य स्थलों पर बनाया गया? कहीं-कहीं चित्रों में पूर्ण दृश्यों का अभाव दिखाई पड़ता है। दृश्य सापेक्ष चित्र बहुत कम हैं। अपवादस्वरूप इस स्थल पर 'Font de Gaume' से प्राप्त एक चित्र का उल्लेख आवश्यक है। इसमें रैण्डियर के एक जोड़े में मादा सिर नीचे किये घुटनों के बल बैठी है तथा नर प्रतीयमानतः उसके मुख-स्पर्श की उपक्रमात्मक मुद्रा में अवनमित चित्रित है। पशु-जीवन के चित्रों में इसे प्रशस्त माना जा सकता है। लेकिन इस तरह के कुछ अपवादों को छोड़कर शेष अधिकांश चित्रों में न केवल पशुओं के चित्रों का अभाव है, बल्कि मानवीय दृश्य भी नहीं मिलते। जहाँ कहीं मिलते भी हैं उन्हें बहुत सावधानी से नहीं दिखाया गया है। यदि चित्राङ्कन मात्र मृगया में प्राप्त विजय-स्मरणोत्सव मानने के लिए ही किया गया था तो पशुओं के साथ मानवीय चित्रों को क्यों छोड़ा गया है?

सहानुभूतिक अभिचार एवं प्रच्छन्न रूप से खाद्य-समस्या के समाधान में सहायक एवं धर्म से सम्बन्धित होने की बात फ्रेजर, बर्किट, चाइल्ड, बर्न्स आदि प्रस्तावित करते हैं। चित्रों के प्रथम दर्शन से यह स्पष्टतः प्रकट हो जाता है कि इनमें अधिकांश चित्र उपयोगी पशुओं के हैं। इस संदर्भ में भालू, भैंसे, घोड़े, मैमथ, मत्स्य इत्यादि का उल्लेख किया जा सकता है। इन पशुओं की प्राप्ति से सम्बंधित सहानुभूतिक अभिचार कई प्रकार से उनके चित्रों में व्यक्त किया गया था। उनका विश्वास था कि आखेट के पूर्व अभीष्ट पशु के चित्राङ्कन से उसकी आत्मा बँध जाती है जिससे उसे सरलतापूर्वक ग्रहण किया जा सकता है। बड़े-बड़े पशुओं के चित्र बना कर शिकार के पूर्व वे उससे

भली-भाँति परिचित हो जाते थे। कभी-कभी दिन भर पीछा करने के बाद मनुष्य आखेट-पशु को वेध नहीं पाता था। कभी-कभी तो एकाध आघात लगने के बाद ही संध्या हो जाती थी और शिकारी उस आहत पशु को भी नहीं पकड़ पाता था। प्रातः वह आहत पशु मिल जाय इसके लिए उसकी आत्मा बाँधना आवश्यक समझा जाता था। इसे चित्रांकन की सहायता से किया जाता था। आभिचारिक मान्यता के कारण यह कार्य गुह्य स्थानों में ही सम्पन्न किये जाते थे। कभी-कभी किसी पत्थर या हड्डी के टुकड़े पर ऐसा चित्र बनाकर वे अपने पास रखते थे। प्रागैतिहासिक चित्रों में विद्यमान अध्यारोहण की प्रवृत्ति की व्याख्या भी इस आधार पर सरलतापूर्वक की जा सकती है। किसी विशेष स्थल पर यदि चित्रांकन से उन्हें सफलता मिल गई तो उस स्थान को भी आभिचारिक मान्यता मिल गई और बार-बार वहीं चित्र बनाये गये। इस तरह हम कह सकते हैं कि प्रागैतिहासिक चित्र खाद्य-समस्या के समाधान के लिए बनाये गये थे और इनके स्थल एक प्रकार के मंदिर थे। इस कार्य में लगे व्यक्ति अत्यन्त सम्मान प्राप्त करते थे। लेकिन इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि जिस प्रकार पूर्व विवेचित सौंदर्य प्रदर्शन एवं मृगया-स्मरणोत्सव से सम्बंधित सिद्धान्त पूर्णतः प्रागैतिहासिक चित्रों के निर्माण के लिए जिम्मेदार नहीं है उसी प्रकार सहानुभूतिक अभिचार एवं खाद्य-समस्या के समाधान से सम्बंधित सिद्धान्त को पूर्णतया जिम्मेदार नहीं माना जा सकता क्योंकि इस स्थिति में आखेटेतर चित्रों की व्याख्या करना कठिन हो जायगा। ऐसी स्थिति में सुरक्षात्मक ढंग से यही कहा जा सकता है कि प्रागैतिहासिक चित्रों का अंकन अनेक ज्ञात एवं अज्ञात कारणों से किया गया था। इसके लिए कोई एक कारण जिम्मेदार नहीं माना जा सकता।

ज्ञान-विज्ञान

कला के अतिरिक्त ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भी उच्च-पुरा पाषाणकालीन मनुष्यों की उपलब्धियाँ सराहनीय मानी जा सकती हैं। शिकार के बाद पशुओं के शरीर को खण्डों में विभक्त करने से उनकी शारीरिक रचना का इन्हें पूर्णतया ज्ञान हो जाता था। इस जानकारी का अनुमान हाथी के एक चित्र से लगाया जा सकता है जिसमें हृदय को उपयुक्त स्थान पर रखा गया है। मछली की कुछ जातियों का उन्हें ज्ञान था। खाद्याखाद्य का ज्ञान भी उन्हें हो गया था। इसके साथ-साथ उन्हें यह भी जानकारी हो गई थी कि कौन पशु कब और कहाँ मिल सकता है। इसी आधार पर वे अपने पड़ाव डालते थे।

मध्य पाषाण काल

किसी समय पाषाण काल के पुरा पाषाण काल एवं नव पाषाण काल दो ही विभाग किए गये थे। प्रागैतिहासिक अनुसंधानों द्वारा इन दोनों कालों के विषय में बहुत

कुछ जान लिया गया था, लेकिन दोनों को मिलाने वाली कड़ी के विषय में बहुत दिन तक कुछ न जाना जा सका। इसी लिये दोनों के बीच एक रिक्ति (Hiatus) की कल्पना बहुत दिनों तक विद्यमान रही। लेकिन शनैः-शनैः इस रिक्ति से सम्बद्ध बहुत-सी बातें प्रकाश में आने लगीं। पुरा पाषाण काल एवं नव पाषाण काल के निकट से सम्बंधित होने के कारण इसके लिए अपि-पुरा पाषाण (Epi-palaeolithic) तथा आद्य-नव पाषाण (Proto-neolithic) नाम प्रस्तावित किये गये। धीरे-धीरे इस रिक्ति को मध्य पाषाण काल नाम दिया गया। दस हजार ई० पू० के आस-पास हिम चादर (Ice-sheet) के उत्तर की ओर अपसरण के कारण दक्षिण यूरोप में अधिक गर्मी पड़ने लगी। पश्चिमी एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका के हरे-भरे मैदान धीरे-धीरे मरुभूमि में परिवर्तित होने लगे। जलवायु-परिवर्तन के फलस्वरूप पशु-समूह या तो स्थान परिवर्तित कर दिये या फिर नष्ट हो गये। पशुओं के साथ-साथ आखेट-पद्धति भी बदल गई। अब द्रुतगामी पशुओं का वध भाले जैसे औजार से नहीं, वरन् धनुष-बाण द्वारा ही किया जा सकता था। इनके तीर की नोक ज्यामिति के आकार के लघु पाषाणों द्वारा निर्मित की जाती थी। इसी लिये मध्य पाषाणकालीन संस्कृति को लघुपाषाणोपकरण संस्कृति (Microlithic Culture) भी कहा जाता है। स्थानीय स्वरूप के कारण मध्य पाषाणकालीन विभिन्न संस्कृतियों को किसी काल-क्रम-शृङ्खला में नहीं रखा जा सकता। पश्चिमी और उत्तरी यूरोप की मध्य पाषाणकालीन संस्कृतियों को पृथक्-पृथक् नाम दिया गया है। प्रथम में एजीली (Azilian), तार्दे-वाय (Tardenoisian), एस्तूरी (Aturian), कैम्पिग्नी (Campignian) और लार्ने (Larnenian) हैं। ये नाम उपकरणों के प्राप्ति-स्थल के नामों के आधार पर दिये गये हैं। उत्तरी यूरोप की मध्य पाषाणकालीन संस्कृतियों को प्रो० ग्रैहम क्लार्क (J. G. D. Clark) ने तीन कालों में विभाजित किया है। उनका कहना है कि तीनों कालों में (प्रथम काल—8,300-6,800 ई० पू०, द्वितीय काल—6,800-5,000 ई० पू० तथा तृतीय काल—5,000—2,500 ई० पू०) एक साथ ही तीन विभिन्न औद्योगिक संस्कृतियाँ—पुच्छल अस्त्राग्र संस्कृतियाँ (Tanged Point Cultures), कुठार संस्कृतियाँ (Axe Cultures) तथा लघुपाषाण संस्कृतियाँ (Microlithic Cultures) विद्यमान थीं। भारत में मध्य पाषाणकालीन संस्कृति के प्रसार के प्रचुर प्रमाण मिले हैं। उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त में पेशावर जिले के जमालगढ़ी से, दक्षिण भारत में तिन्नेवली तथा सिंध में करांची से, बिहार में सरायकेला तक इसके अस्तित्व मिले हैं। प्रो० शर्मा के निर्देशन में सिंगरौली, बाँदा, विंध्यक्षेत्र की कैमूर तथा लेखैय्या से इसके अस्तित्व मिले हैं। अभी हाल में बेलन घाटी (मिर्जापुर—इलाहाबाद) तथा सराय नाहर राय (प्रतापगढ़) से भी मध्य पाषाणकालीन संस्कृतियों के अवशेष मिले हैं। अन्तिम का महत्त्व इस दृष्टि से विशेष है कि भारत में मध्य पाषाणकालीन बस्ती के प्राचीनतम नमूने यहीं मिले हैं जिसकी रेडियो कार्बन तिथि 8395 B ± 110 B. C. मानी गयी है।[1]

---

[1] V. D. Misra. Some Aspects of Indian Archaeology, p. 101

उपकरण

उपकरणों को छोटा करने की प्रवृत्ति हमें पुरा पाषाण काल में ही दिखायी पड़ने लगती है। लेकिन मध्य पाषाण काल में यह प्रवृत्ति हावी हो जाती है। मध्य पाषाणकालीन उपकरण पर्याप्त छोटे थे। इन उपकरणों में ब्लेड, प्वाइण्टस, स्क्रेपर, इनग्रेवर, त्रिभुज, अर्द्धचन्द्र तथा समलम्ब चतुर्भुज, हार्पून, एवं ट्रांसवर्स एरोहेड (Transverse arrow-head) प्रमुख थे। इनका निर्माण स्फटिक (quartz), सिक्थ स्फटिक (Chalcedony) फ्लिन्ट (Flint), चर्ट (Chirt) आदि पत्थरों द्वारा किया जाता था। मध्य पाषाणकालीन उपकरणों का उपयोग संग्रंथित उपकरण (Composit Tool) के रूप में किया जाता था अर्थात् इन उपकरणों का प्रयोग अकेले नहीं, अपितु मिला कर करते थे। इन उपकरणों को छेदे हुए किसी बारहसिंघे की सींग या हड्डी के टुकड़े में फ़िट कर दिया जाता था। ऐसा करने से इनकी उपादेयता बढ़ जाती थी। क्योंकि यदि किसी उपकरण की धार खराब हो जाती थी या टूट जाती थी तो पूरा का पूरा उपकरण नहीं फेंकना पड़ता था। केवल टूटे हुए अंश को ही बदल दिया जाता था।

जीवन-पद्धति

मध्य पाषाणकालीन मनुष्यों का जीवन भी पुरा पाषाणकालीन मनुष्यों की भाँति वन्य पशुओं और फल-फूलों पर अवलम्बित था। जलवायविक परिवर्तनों का जीवन-विधा पर बड़ा प्रभाव पड़ा। पुरा पाषाणकालीन मनुष्यों की भाँति इन्हें भी इन परिवर्तनों के साथ अपने आवास-स्थल बदलने पड़े। गर्मियों में अस्थायी एवं नश्वर तम्बुओं से उनका काम चल जाता था। सर्दी से बचने के लिए वे गुफाओं, शिलाशरण-स्थलों एवं संभवतः मिट्टी के बने घरों का उपयोग करते थे। लेकिन कहीं-कहीं सर्दी भी उन्हीं तम्बुओं में बीत जाती थी। मध्य पाषाणकालीन संस्कृति ग्राम्य संस्कृति नहीं थी। लेकिन चार-पाँच झोपड़ियों के एक समूह में वे अवश्य रहते थे। इसी प्रकार मध्य पाषाणकालीन अर्थ-व्यवस्था भी खाद्योत्पादक (Food-Producing) अर्थ-व्यवस्था नहीं थी। लेकिन इनके लिये उपयुक्त परिस्थितियाँ मध्य पाषाणकालीन संस्कृति की पृष्ठभूमि में ही पैदा हुई थीं। संभवतः नव पाषाणकालीन खाद्योत्पादक ग्राम्यता की नींव आलोचित संस्कृति के उत्तरार्द्ध में पड़ गयी थी। क्योंकि यदि मध्य पाषाणकालीन अर्थ-व्यवस्था खाद्योत्पादक नहीं थी तो भी खाद्य-संग्रह का इसमें विशेष महत्त्व था। फल-फूल एकत्रण की प्रवृत्ति का जन्म इसी काल में दिखायी पड़ता है। पेलेस्टाइन के नतूफियनों (Natufians) से सम्बंधित एक हँसिया (Sickel) मिला है। जिसका उपयोग संभवतः घास काटने में किया जाता था। बदली परिस्थिति में बड़े पशुओं की संख्या का ह्रास हो रहा था और छोटे पशु बढ़ रहे थे। इनका शिकार छोटे-छोटे समूहों द्वारा हो जाता था। इसी लिये इनका जीवन संचरणशील एवं छोटे-छोटे समूहों तक सीमित रहा। इनका समूह चार-पाँच तम्बुओं एवं झोपड़ियों तक ही सीमित था। मध्य पाषाण काल में हमें सर्वप्रथम पशु-पालन प्रवृत्ति के लक्षण मिलते हैं। सर्वप्रथम इन्होंने ही कुत्ते को पालतू

बनाया । कुत्ता मानव जाति का प्राचीनतम उपयोगी साथी है ।[1] 8,000 ई० पू० तक की प्राचीन कुत्ते की हड्डियाँ मिली हैं। कुत्ता मध्य पाषाणकालीन मनुष्यों की शिकार में सहायता करता था तथा बदले में उसे शिकार का सड़ा-गला मांस मिल जाता था। पशुओं के शिकार के अतिरिक्त मध्य पाषाणकालीन मनुष्यों ने समुद्र-तटों, झीलों तथा नदियों के किनारे मछलियाँ भी खूब पकड़ीं क्योंकि इन क्षेत्रों से प्रचुर मात्रा में खाद्यावशिष्ट अम्बार (Kitchen Middens) मिले हैं। मध्य पाषाण काल के अन्त तक स्यात् वे कृषि-कर्म एवं भाण्ड-निर्माण कला से भी परिचित हो गये थे। उच्च-पुरा पाषाणकालीन चित्रकला के उदाहरण इस काल में नहीं मिलते। संभवतः वे इस क्षेत्र में कोई रुचि नहीं रखते थे। गुफाओं की दीवारों तथा छतों को तनिक भी नहीं अलंकृत किया गया था। इनके चित्रों के उदाहरण केवल कुछ पाषाण खण्डों पर, वह भी सरल रूप में, मिले हैं।

नव पाषाण काल

पुरा पाषाण एवं मध्य पाषाणकालीन संस्कृति अपनी वन्यता के लिये प्रसिद्ध हैं। आगामी क्रान्ति वन्यता से ग्राम्यता की ओर बढ़ने से सम्बंधित है। पुरा पाषाण काल एवं मध्य पाषाणकालीन वन्यता से मुक्ति का तात्पर्य था उस आर्थिक एवं वैज्ञानिक क्रान्ति का प्रादुर्भाव जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य प्रकृति के पूर्णतया अधीन न रहकर उसका साझेदार बना। परिवर्तन का यही काल नव पाषाणकाल के नाम से प्रसिद्ध है। इसी काल में आगे चल कर मानव-सभ्यता की नींव रखी गई। सर जान लुबाक द्वारा पाषाण काल के पुरा पाषाण काल एवं नव पाषाण काल दो ही विभाग प्रस्तावित किये गये थे। जान लुबाक का विभाजन उपकरण-निर्माण-वैशिष्ट्य पर अवलम्बित तथा उनके अनुसार प्रथम में उपकरण बनाने की शल्कन (Flaking) विधि प्रचलित थी, जबकि नव पाषाण काल में इसके लिये शल्कन विधि के अतिरिक्त खुद-खुदा करने (Pecking), रगड़ने (Rubbing), घिसने (Grinding) और पालिश करने की विधियाँ अपनायी गयीं। विभाजन का एक और सबल आधार यह था कि जहाँ पुरा पाषाणकालीन अवशेष अत्यन्त नूतन काल (Pleistocene Period) से सम्बंधित थे वहीं पर नव पाषाणकालीन अवशेष सर्व नूतन काल (Holocene Period) से सम्बंधित थे। बर्किट नव पाषाण काल के लक्षणों में कृषि-कर्म, पशु-पालन, मृद्भाण्ड-निर्माण, तथा उपकरण-निर्माण में रगड़ने एवं पालिश करने की विधियों को स्वीकार करते हैं। गार्डन चाइल्ड नव पाषाण काल को पुरा पाषाण काल से पृथक् करने के लिए भूतात्त्विक (Geological), उपकरण-निर्माण-वैशिष्ट्य सम्बंधी (Technological), तथा आर्थिक तीन आधार प्रस्तुत करते हैं। प्रथम के सम्बंध में कहा गया है कि पुरा पाषाण काल का सम्बंध अत्यन्त नूतन काल से था, जबकि नवपाषाण काल में सर्व नूतन काल से सम्बंधित आधुनिक प्रकार की वनस्पतियों एवं पशुओं का अस्तित्व था। द्वितीय

---

1. Will Durant, Story of Civilization, Vol. I, Hindi Translation, p. 97

के सम्बंध में चाइल्ड का कहना है कि पुरा पाषाण काल में उपकरण बनाने की शल्कन विधि प्रचलित थी, जबकि नव पाषाण काल में रगड़ कर तथा पालिश कर उपकरण बनाये जाते थे। आर्थिक आधार के विषय में कहा गया है कि नव पाषाण काल में पशु-पालन एवं पौधों के उगाने की साक्षियाँ मिली हैं, जबकि पुरापाषाण काल में इनका अभाव था। आर्थिक आधार पर बल देते हुए आप नव पाषाण काल को आत्म-सम्पूर्ण-खाद्योत्पादक अर्थ-व्यवस्था (A Self sufficing food producing economy) स्वीकार करते हैं। प्रो० ई० सी० वोर्मन (E. C. Worman) कृषि-कर्म अथवा पशु-पालन या दोनों के सम्मिलित रूप में सज्ञान-खाद्योत्पादन को ही नव पाषाण काल के प्रधान लक्षण और परिष्कृत प्रस्तर-सेल्टों तथा मृद्भाण्डों की उपस्थिति को गौण लक्षण स्वीकार करते हैं। क्रोबर के अनुसार नव पाषाण काल में मनुष्य पशु तथा पौधों पर विजय पा गया था। वह केवल धातु विज्ञान से अपरिचित था। क्रोबर की परिभाषा अधूरी है। अगर यह कहा जाय कि धातु के साथ-साथ लिपि कला का भी उसे ज्ञान नहीं था तो शायद ज्यादा उपयुक्त होगा।

उपर्युक्त लक्षणों को देखते हुए नव पाषाण काल को मानव-सभ्यता के इतिहास में एक क्रान्ति काल के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यह वह प्रथम क्रान्ति थी जिसमें आगे आने वाली सभ्यताओं की प्रथम आधार शिला रखी गई थी। लेकिन इस क्रान्ति का आगमन सहसा नहीं हुआ था। इस क्रान्ति के स्वरूप-निर्माण में सर्वाधिक योगदान जलवायविक परिवर्तनों का माना जा सकता है। अत्यन्त नूतन काल के अन्त तक उत्तरी हिम-चादर के पिघलने से एक ओर यूरोप की भूमि वनों से आच्छादित हो रही थी तो दूसरी ओर उत्तरी अफ्रीका, ईरान तथा पश्चिमी एशिया में इसके विपरीत भौगोलिक परिवर्तन हो रहे थे। अब तक हरे-भरे घास के मैदानों से परिपूर्ण प्रदेश उष्णता के प्रभाव में आकर शाद्वलों से व्यवहित मरुभूमि में बदल रहे थे। जलवायविक परिवर्तनों का प्रभाव विशेषरूप से आर्थिक जीवन पर पड़ा। पुरुष तो अभी भी शिकार में लगे रहे, लेकिन स्त्रियाँ जंगली बीजों को इकट्ठा कर उसका उपयोग करने लगीं। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि यदि इन बीजों को गीली मिट्टी में दबा दिया जाय तो कुछ दिनों बाद उग कर वे अधिक मात्रा में बीज दे सकते हैं। कृषि-कर्म के आविर्भाव का यह प्रथम चरण था। नव पाषाणकालीन ग्राम्यता की यह प्रथम क्रान्ति थी। आगे चलकर पशु-पालन, मृद्भाण्ड-निर्माण, गृह-निर्माण इत्यादि कलाओं को भी इस क्रान्ति में सम्मिलित कर लिया गया।

मानव सभ्यता के इतिहास में इस प्रथम क्रान्तिकारी सभ्यता का प्रचार-प्रसार पर्याप्त था। इसके अवशेष पश्चिमी यूरोप में फ्रांस, इंग्लैण्ड, आयरलैण्ड, स्विटजरलैण्ड, इटली इत्यादि से प्राप्त हुए हैं। अफ्रीका में मिस्र में नील नदी के पश्चिमी किनारे पर फायूम (Fayum) से 4,300 ई० पू० के अवशेष मिले हैं। इसके अतिरिक्त मेरिम्द (Merimde) अल अमरी (Al omri), तासा (Tasa), बदरी (Badari) इत्यादि से भी नव पाषाणकालीन अवशेष मिले हैं। एशिया में जोर्डन राज्य में जेरिको, पेलेस्टाइन

में कार्मेल पर्वत की गुफाओं के निकट, ईरान में स्यालक ग्राम तथा मध्य एशिया में अस्तराबाद के समीप अनो (Anau) से इनकी उपलब्धि हुई है। भारतीय नवपाषाण-कालीन अवशेषों के विषय में 19वीं शती ई० से जानकारी बढ़ी। 1860 ई० में 'Mesurier' महोदय को उत्तर प्रदेश में टोंस नदी की घाटी में इसके अवशेष मिले थे। इसके बाद लगभग आठ दशक तक भारतीय नव पाषाणकालीन प्रतिमान उपलब्ध होते रहे। 1913 में डीटेरा को काश्मीर से इसके अवशेष मिले। मार्टीमर ह्वीलर को ब्रह्मगिरि एवं चन्द्रावलि से इसकी साक्षियाँ मिलीं। अन्य नव पाषाणकालीन स्थलों में नासिक, प्रकाश, बहाल, त्रिपुरी, जार्वे, नेवासा तथा महेश्वर का उल्लेख किया जा सकता है। अभी हाल में प्रो० शर्मा के निर्देशन में उत्तर प्रदेश की बेलन घाटी में जो अनुसंधान हुए हैं उससे भारतीय नव पाषाणकालीन सभ्यता पर प्रचुर प्रकाश पड़ा है।

उपकरण

पुरा पाषाणकालीन उपकरणों की अपेक्षा आलोचित काल के उपकरण अधिक परिष्कृत, आकर्षक तथा उपादेय थे। इनका निर्माण खुद-खुदा कर, रगड़ कर तथा पालिश करके किया जाता था। पुरा पाषाणकालीन शल्कन विधि अब प्रायः अप्रचलित थी। इसी लिये ये उपकरण अधिक सुन्दर एवं साफ-सुथरे दिखाई पड़ते हैं। इनके उपकरणों में पालिशदार कुठार (Polished Axe) का विशेष महत्त्व था। इसके निर्माण के लिए पहले पत्थर को एक सिरे पर घिसकर तेज बना लिया जाता था। इसके बाद दूसरे सिरे पर लकड़ी या सींग की मुठिया लगा दी जाती थी। इस प्रकार के उपकरण लकड़ी काटने में अधिक उपयोगी सिद्ध हुए। पालिशदार कुठार के अतिरिक्त नव पाषाणकालीन उपकरणों में चिसेल (Chisel), पिक (Pick), एज (Adze), स्लिग स्टोन (Sling stone), पालिशिंग स्टोन (Polishing Stone), फेब्रिकेटर (Fabricator), मुलर (Muller) आदि का उल्लेख किया जा सकता सकता है।

कृषि-कर्म

नव पाषाण काल की प्रथम एवं प्रधान क्रान्ति के रूप में कृषि-कर्म का उल्लेख किया जा सकता है। इसी पर आगे चल कर आर्थिक गठन की अन्य भित्तियाँ आधृत हुईं। प्रायः सभी नव पाषाणकालीन स्तरों से कृषि-कर्म के प्रमाण मिले हैं, लेकिन यह कहना कठिन है कि इसका सर्वप्रथम आविर्भाव कहाँ हुआ? कभी इसका श्रेय नीलघाटी को दिया जाता है तो कभी अफगानिस्तान एवं उत्तरी-पश्चिमी चीन को। वर्तमान समय में पेलेस्टाइन के नतूफियनों को यह श्रेय दिया जा रहा है। हाल में प्रो० शर्मा के निर्देशन में कोलडिहवा (देवघाट) में जो पुरातात्त्विक अनुसंधान हुए हैं वहाँ से भी अत्यन्त प्राचीन काल के कृषि-कर्म के प्रमाण मिले हैं। दुनिया में चावल की कृषि के प्राचीनतम साक्ष्य यहीं से उपलब्ध हुए हैं। संभव है कृषि-कर्म का प्रारम्भ

भारत-भूमि में ही हुआ हो। प्रकृति की गोद में कुछ ऐसी वनस्पतियाँ थी जिनके बीजों का संग्रह कर मनुष्य अपनी जीविका चला सकता था। इनमें गेहूँ, चावल, जौ, ज्वार, मक्का इत्यादि का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें प्रथम दो की महत्ता से हम परिचित हैं। नव पाषाणकालीन मनुष्यों ने भी सर्वप्रथम इन्हीं का उपयोग करना प्रारम्भ किया। इनका उत्पादन एवं संग्रह सरल था। प्रारम्भ में इनका रूप जंगली था, पर बाद में संकर-उत्पत्ति द्वारा इन्हें वर्तमान रूप दिया गया।

कृषि-कर्म का आविर्भाव किस रूप में हुआ और मनुष्य को सर्वप्रथम इसका ज्ञान कैसे हुआ कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिसका उत्तर शायद हमें कभी नहीं मिल सकेगा। इस प्रकार की कुछ शुरुआतें इतिहास के उन रहस्यों में से हैं जिनके विषय में हम केवल अनुमान लगा कर ही सन्तोष कर सकते हैं। ऐसा लगता है कि मनुष्य जब बीजों का संग्रह कर अपने पड़ाव की ओर जाने लगा तो कुछ बीज जमीन में पड़ गये और मौसम के अनुसार उग आये। बाद में उनमें दाने पड़े। नव पाषाणकालीन मनुष्यों को अब दाने उसके पड़ाव के पास बिना परिश्रम के ही मिलने लगे। उसे बीजों की उत्पादन शक्ति का पता लग गया। फिर तो वह स्वयं उनका संग्रह कर उन्हें पैदा करने लगा। पहले शायद बीज जमीन में वैसे ही छीट दिये जाते थे, लेकिन बाद में उन्हें किसी डंडे की सहायता से छेद कर जमीन के अन्दर किया जाने लगा। इसके बाद दूसरी अवस्था आयी जब इसके लिए हो (Hoe) नामक एक उपकरण का आविष्कार किया गया। फसलों की कटायी हँसिये से की जाती थी। इसका निर्माण लघुपाषाणोपकरणों को किसी लकड़ी या हड्डी में लगा कर किया जाता था। फसलें ऋतु के अनुसार ही मिलती थीं, इसलिए अगली फसल के लिये बीज सुरक्षित रखना पड़ता था। इसे अन्नागारों में रखा जाता था। नव पाषाणकालीन अन्नागार सम्बंधित स्तरों उदाहरणार्थ, मेरिम्द, फयूम तथा कोन लिण्डेण्थल (Coln-lindenthal) से प्राप्त हुए हैं। गेहूँ एवं जौ के छिलके निष्तुषीकरण (threshing) तथा प्रस्फोटन (winnowing) विधियों द्वारा अलग किये जाते थे। इसके बाद इसका चूर्ण बनाया जाता था। चूर्ण बनाने की सरल विधि खरल में डालने की थी, लेकिन उत्तम विधि चक्की में पीसने की थी। इसका निर्माण दो पत्थरों की सहायता से किया जाता था। एक तश्तरीनुमे पत्थर के ऊपर एक अन्य पत्थर को रख कर धान्य को रगड़ते थे जिससे वह चूर्ण में परिवर्तित हो जाता था। इसके लिए कठोर से कठोर पत्थर प्रयोग में लाये जाते थे अन्यथा चूर्ण में पत्थर के कण भी आ जाते थे। जलवायविक विभिन्नताओं के कारण सब जगह कृषि-सम्बंधित सुविधाएँ एक-सी नहीं थी। उदाहरणार्थ, मेसोपोटामिया और ईरान में कृषि वर्षा पर आश्रित नहीं हो सकती थी, जबकि यूरोप में पर्याप्त वृष्टि के कारण ऐसा संभव था। इसी कारण मेसोपोटामिया तथा ईरान में सिंचाई के साधनों का विकास पहले किया गया। लेकिन भूमि उपजाऊ नहीं थी, अतः दो-तीन फसल लेने के बाद उन्हें उसे छोड देना पड़ता था। जब समस्या इससे भी हल न हुई तो कृत्रिम रूप से उसे उर्वर बनाना पड़ा। कहीं पर जंगली घास-फूस को जला कर भूमि को उर्वर बनाया गया तो कहीं पर पशुओं के

मलमूत्र का उपयोग किया गया। इस प्रकार सर्वप्रथम कृषि में पशुओं का उपयोग किया गया। खाद के विषय में उन्हें जानकारी कैसे बढ़ी इसका ठीक-ठीक पता लगाना कठिन है। लगता है कि उन्होंने उन स्थलों पर, जहाँ पशु बैठा करते थे, अच्छी फसलों को पाकर इस प्रकार की जानकारी प्राप्त की होगी।

पशु-पालन

मध्य पाषाण काल तक मनुष्य कुत्ते को सहायक बना चुका था। नव पाषाण काल में यह प्रवृति और विकसित हुई तथा अन्य पशुओं को पालतू बनाया गया। इसके आविर्भाव में जलवायविक परिवर्तनों का पूरा-पूरा हाथ था। इसके फलस्वरूप जब हरे-भरे घास के मैदान मरुस्थलों में परिवर्तित होने लगे तो मनुष्यों के ही समान पशुओं को भी शाद्वलों का आश्रय लेना पड़ा क्योंकि वहाँ उन्हें खाने के लिए चारा मिल जाता था। मनुष्य पहले से ही उनकी उपयोगिता से परिचित था, इसलिये वह उनके उस कार्य में सहायता भी करने लगा। धीरे-धीरे यह प्रवृति पशु-पालन में परिवर्तित हो गई। पशु-पालन का प्रथम प्रादुर्भाव कैसे हुआ ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है। अनुमान लगाया गया है कि शिकार में मारे गये पशुओं के बच्चों को शिकारी अपने पड़ाव में अपने बच्चों के खेलने के लिये ले गये। वे बच्चे वहीं पोषित हुए तथा बढ़े। धीरे-धीरे मनुष्य उनकी उपयोगिता से परिचित होता गया। उसके मांस के अतिरिक्त दूध, गोबर, चमड़ा इत्यादि का उपयोग किया गया। धीरे-धीरे वह मनुष्य का मित्र बन गया तथा गृहस्थी के काम में उसकी सहायता करने लगा। इस युग में मनुष्य जिन पशुओं के सम्पर्क में आया उनमें गाय, बैल, भैंस, मेष, अजा, सूकर इत्यादि प्रमुख थे।

यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है। सर्वप्रथम पशु-पालन का आविर्भाव हुआ अथवा कृषि-कर्म का? इस सम्बन्ध में तीन संभावनाएँ हैं। एक के अनुसार कृषि-कर्म तथा पशु-पालन का आविर्भाव साथ-साथ हुआ। दूसरी के अनुसार कृषि-कर्म का आविर्भाव पशु-पालन के बाद अथवा तीसरी के अनुसार पहले हुआ। इसमें अंतिम न्यायसंगत प्रतीत होती है। क्योंकि नव पाषाण काल में प्रारम्भ में कृषि-कर्म में पशुओं की सहायता नहीं ली जाती थी। कृषि-कर्म में पशु मुख्यतः दो दृष्टियों से उपयोगी थे। एक वे जुताई में सहायता करते थे दूसरे उनसे उर्वरक मिलता था। जहाँ तक प्रथम का सम्बंध है हल-बैल द्वारा जुताई की कला का विकास ताम्र काल में किया गया। उर्वरक के उपयोग से मनुष्य नव पाषाणकाल में परिचित अवश्य हुआ था लेकिन बाद में। अतः नवपाषाणकालीन प्रारम्भिक कृषि के विकास के लिए पशु-पालन आवश्यक नहीं था। दूसरी ओर कृषि-कर्म के अभाव में चारे की समस्या हल नहीं हो पाती थी। अतः यही मानना पड़ेगा कि पशु-पालन की प्रवृति कृषि-कर्म के बाद विकसित हुई।

पशु-पालन के विकास से नव पाषाणकालीन अर्थ-व्यवस्था सुदृढ़ हो गई। अब उन्हें खाने के लिये पर्याप्त मांस बिना किसी परिश्रम के मिलने लगा। एक प्रकार से

उन्हें खुरों पर खड़ा जीवित मांस मिल गया। जिसे वे लम्बे समय तक बिना सड़े रख सकते थे। अब इसके लिये उन्हें अधिक भटकना नहीं पड़ता था। मांस के अतिरिक्त इनके मलमूत्र का उपयोग उर्वरक के रूप में किया गया। इनके चमड़े से तम्बू, वस्त्र तथा बर्तन बनाये जाने लगे। धीरे-धीरे वह उनके दूध का उपयोग भी करने लगा। आगे चल कर कृषि-कर्म तथा पशु-पालन एक दूसरे के पूरक बन गये। दोनों के आविष्कार से उनके खाने-पीने की बहुत सी समस्याएँ हल हो गयीं।

मृद्भाण्ड-निर्माण

कृषि-कर्म एवं पशु-पालन के आविष्कार से नव पाषाणकालीन मनुष्यों की खाद्य-समस्या तो बहुत कुछ हल हो गयी, लेकिन कुछ नवीन समस्याएँ उत्पन्न हो गयीं जिनका समाधान आवश्यक हो गया। कृषि-उत्पादनों तथा पशुओं से प्राप्त दूध जैसे तरल पदार्थों के संग्रह के लिए भाण्ड आवश्यक हो गये। मांस को तो वे किसी प्रकार भून लेते थे, लेकिन अन्न, दूध इत्यादि को पकाने के लिए कच्ची मिट्टी, लकड़ी आदि के बर्तन अनुपयोगी सिद्ध हुये। इन कठिनाइयों पर विजय पाने के लिए उन्होंने मृद्भाण्डों का आविष्कार किया। मृद्भाण्ड कला का आविर्भाव कैसे हुआ यह भी एक रहस्य है। ऐसा लगता है कि लकड़ी के जिन बर्तनों का उपयोग वे डलियों के रूप में करते थे उस पर मिट्टी पोत दी जाती थी। यही मिट्टी डलियों को जलने से बचाती थी, लेकिन बाद में यही बर्तनों के रूप में बदल जाती थी। यह भी सम्भव है कि धूप में सूखे मिट्टी के ढेले को देखकर उन्होंने बर्तन बनाने की कला विकसित की थी। बाद में धूप का स्थान अग्नि ने ले लिया। नवपाषाणकाल में चाक (Potter's wheel) का आविष्कार नहीं किया गया था। अतः बर्तन बनाने में उन्हें बहुत कठिनाई होती थी। वे इसे छल्ले (Ring) की सहायता से बनाते थे। आज भी मिट्टी के कुछ बड़े बर्तन जिन्हें 'कोठ' कहा जाता है अनाज रखने के लिए गाँवों में बनाये जाते हैं, इन्हें कच्चा ही रखा जाता है। बर्तनों को पकाते समय पूरी-पूरी सावधानी बरती जाती थी। पश्चिमी एशिया में आग की लव के कालेपन से बचने के लिए भट्ठी (Oven) का निर्माण किया जाता था।

वस्त्र-निर्माण

मिस्र एवं पश्चिमी एशिया के नव पाषाणकालीन अवशेषों से वस्त्र के प्रमाण भी मिले हैं। इसके पहले मनुष्य चमड़े को वस्त्र के रूप में प्रयुक्त अवश्य करता था, लेकिन सूत, पटसन तथा ऊन द्वारा वस्त्र-निर्माण कला का आविष्कार नव पाषाण काल की देन है। सूत कातने के लिए चर्खे तथा बुनने के लिए करघे प्रयुक्त किये जाते थे। इनके खण्डित अवशेष प्रकाश में आये हैं। जनसंख्या में वृद्धि तथा स्थायी जीवन का प्रारम्भ नव पाषाण काल की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। उपर्युक्त औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप जनसंख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। जनसंखया वृद्धि के फलस्वरूप नव पाषाणकालीन संस्कृति

का और प्रसार होने लगा। इस काल में मनुष्य वहाँ भी रहने लगा जहाँ वह पूर्ववर्ती युगों में नहीं रहता था। इसके साथ ही अब मनुष्य यायावर जीवन का परित्याग कर स्थायी जीवन व्यतीत करने लगा। स्विटजरलैण्ड में झीलों में बने घर इस प्रसंग में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनका निर्माण लकड़ी के लट्ठों को पानी में गाड़ कर किया जाता था। ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बनाई जाती थीं। दीवारें टट्टर पर मिट्टी के प्लास्टर द्वारा तथा छतें भूसे, छाल, तथा नरकुल से बनाई जाती थीं। कच्ची ईंटें भी प्रयुक्त की जाती थीं।

सामाजिक जीवन

नव पाषाणकालीन मनुष्य छोटे-छोटे समूहों में रहता था। ये समूह एक प्रकार के छोटे गाँव थे। इनका विस्तार 0·607 हेक्टेयर से 2·632 हेक्टेयर तक होता था। आर्कनी (Orkney) में स्कारा-ब्रे (Skara-Brae) के एक समुदाय में आठ परिवार ही थे। मध्य यूरोप और दक्षिणी रूस में पच्चीस से पैंतीस कुटुम्ब रहते थे। इनके घर प्रायः गलियों से जुड़े रहते थे। इनका निर्माण लट्ठों (एल्पाइन क्षेत्र में) तथा मिट्टी की सहायता से किया जाता था। गाँव को चहारदीवारी से घेर दिया जाता था। इसका निर्माण सामूहिक रूप से सम्पन्न किया जाता था। विभिन्न उद्योगों में किसी को विशिष्टता नहीं प्राप्त थी, लेकिन स्त्री तथा पुरुषों के बीच श्रम-विभाजन की क्रियाएँ कार्यशील थीं। स्त्रियाँ विशेष कर गृहस्थी के कार्यों में भाग लेती थीं। खेत की जुताई, अन्न की पिसाई तथा भोजन, वस्त्र, भाण्ड, आभूषण इत्यादि के निर्माण की जिम्मेदारी स्त्रियों की थी। पुरुष खेतों की सफाई करते थे, झोपड़ी बनाते थे, शिकार करते थे तथा उपकरणों का निर्माण करते थे। प्रत्येक कुटुम्ब अपनी-अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ स्वयं उत्पन्न करता था। अतः प्रत्येक ग्राम समूह आत्मनिर्भर था। लेकिन आत्मनिर्भर होने पर भी वे एक दूसरे के सम्पर्क में आ गये थे। नव पाषाणकालीन संस्कृतियों में विद्यमान पारस्परिक एकरूपता तथा भूमध्य सागर की कौड़ियों की मध्य यूरोप में उपस्थिति नव पाषाणकालीन संस्कृतियों के पारस्परिक सम्पर्क को ध्वनित करती है। पर मार्ग की कठिनाइयों के कारण सम्पर्क की क्रिया अत्यन्त मन्द बनी रही। नव पाषाणकालीन सामाजिक जीवन का क्या स्वरूप था ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है। यद्यपि इसके अस्तित्व को सर्वथा अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। लगता है इनका सामाजिक संगठन कबीले के रूप में था। प्रत्येक कबीले का एक प्रतीक रहा होगा। कुछ लोग नव पाषाणकालीन समाज में राजा की उपस्थिति भी स्वीकार करते हैं क्योंकि इस काल के भवन समूहों के मध्य एक विशाल भवन के अस्तित्व प्रकाश में आये हैं। लेकिन इस सम्बंध में अन्य प्रमाणों के अभाव में निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता।

ट्वायनबी ने ठीक ही कहा है कि तकनीकी उन्नति और सभ्यता की प्रगति का सह सम्बंध नहीं रहा है। उच्च-पुरा पाषाणकालीन मनुष्यों को अनगढ़ यंत्रों एवं उपकरणों से परितोष था, किन्तु उन्हें कलात्मक आत्मबोध था जिसकी अभिव्यक्ति उनके

चित्रों में मिलती है । पुरा पाषाणकालीन कंदराओं में उत्कीर्ण चित्र अपने ढंग के अद्वितीय हैं । नव पाषाणकालीन मनुष्यों ने अपने उपकरणों को ठोक, पीट और घिस कर आकर्षक एवं उपयोगी बनाया जिससे पुरा पाषाणकालीन मनुष्यों पर विजय प्राप्त कर ली, लेकिन उच्च-पुरा पाषाणकालीन कला लुप्त हो गई । खाद्योत्पादक उपकरणों, मृद्भाण्डों एवं अन्य उपकरणों के अतिरिक्त नव पाषाणकालीन मनुष्यों ने अन्य क्षेत्रों में कोई विशेष प्रगति न की । कला के क्षेत्र में केवल कुछ पाषाण एवं अस्थि-निर्मित नारी-मूर्तियों का उल्लेख करके ही हम सन्तोष कर लेंगे । सम्भवत: इनका सम्बंन्ध मातृदेवी से था ।

धर्म

कला की अपेक्षा इनके धर्म के विषय में हम अधिक जानते हैं । यह हमें अधिक मिश्रित रूप में मिलता है । ऋतुओं के अनवरत आगमन, वर्षण तथा वनस्पतियों एवं पशुओं के उद्भव आदि को वे नियमित मानते थे । नव पाषाणकालीन मनुष्य यह भी मानता था कि यदि वह यज्ञ या संस्कार नहीं करेगा तो प्रकृति की ये घटनाएँ रुक जायेंगी । इसी लिए वृष्टि के लिए वृष्टि-संस्कार किया गया । आज भी ग्राम्य संस्कृति में कहीं-कहीं इसके अवशेष मिलते हैं । इनके धर्म में भय तत्त्व को विशेष स्थान प्राप्त था । इसका सम्बंध रोग, मृत्यु, क्षुधा, सूखा, तूफान, मृतात्माओं तथा मृतपशुओं से था । प्रत्येक दु:ख, आपत्ति तथा असफलता का वे कोई न कोई कारण मानते थे । इससे बचने के लिए वे अनेक प्रकार के उपाय करते थे । आदिम धर्म के बहुत से अंग इन्हीं बुराइयों को दूर करने के लिए विकसित हुए थे । इसमें सन्देह नहीं है कि आलोचित काल के मनुष्यों में धार्मिक मान्यताएँ एवं पौराणिक कथाएँ विकसित हो चुकी थीं, लेकिन साक्ष्यों के अभाव में उसके स्वरूप के विषय में ठीक-ठीक अन्दाज लगाना कठिन हो जाता है । लेकिन कम से कम दो मान्यताओं के विषय में हम कुछ जानते हैं । एक का सम्बंध उत्पादन शक्ति के प्रति श्रद्धा तथा दूसरे का मरणोत्तर जीवन सम्बंधी मान्यता से था । प्रथम की पुष्टि एक गौण साक्ष्य द्वारा होती है । नव पाषाण काल के बाद वाली संस्कृतियों में प्राय: एक नाटक खेले जाने का संकेत मिलता है । इसे कृषि-नाटक (Fertility Drama) नाम दिया गया है । इसमें एक राजा एवं रानी का प्रतीकात्मक विवाह सम्पन्न किया जाता था और उनके औपचारिक सहवास को प्रकृति की उर्वरता तथा अन्न की उत्पत्ति का प्रतीक माना जाता था । कुछ लोग कृषि-नाटक का विकास बीज-वपन के समय दी गई नरबलि प्रथा से मानते हैं । इनकी मरणोत्तर सम्बन्धी विचारधारा का आभास इनके मृतक संस्कार-विधि तथा वृहत्पाषाण (Megaliths) की उपस्थिति से मिलता है । वे मृतकों को श्मशानों या घरों में आवश्यक उपकरणों के साथ दफना देते थे । मृतकों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए समाधियों के ऊपर बड़े-बड़े पत्थर रख दिये जाते थे । इन्हें वृहत्पाषाण (Megaliths) कहा गया है । चाइल्ड के अनुसार वृहत्पाषाण किसी अंध-विश्वास सम्बन्धी आनुष्ठानिक अथवा धार्मिक उद्देश्य से बनाये जाते थे । लेकिन इन वृहत्पाषाणों के सम्बन्ध में एक तथ्य उल्लेखनीय

है कि इनका समय सब जगह एक-सा नहीं है। उत्तर-पश्चिम यूरोप के वृहत्पाषाण नव-पाषाणयुगीन हैं, जबकि भारतीय वृहत्पाषाण अवशेषों में लौह उपकरण तथा लौहयुग के चाक निर्मित मृद्भाण्ड मिलते हैं।

ज्ञान-विज्ञान

कला के क्षेत्र में नव पाषाणकालीन मनुष्य भले ही पुरा पाषाण काल से पीछे रहा हो लेकिन ज्ञान-विज्ञान में उनसे आगे था। प्रकृति से लगातार संघर्ष करते हुए उन्होंने कुछ नवीन आविष्कार कर लिया था। भाण्ड-निर्माण से सम्बन्धित रासायनिक क्रियाओं, पाक-विज्ञान तथा मद्य-निर्माण का ज्ञान उन्होंने प्राप्त कर लिया था। कृषि तथा वनस्पति विज्ञान की भी कुछ नवीन जानकारी उन्हें हो गई थी। नव पाषाणकालीन अस्थि अवशेषों में कहीं-कहीं जोड़ के चिह्न स्पष्ट हैं। ऐसा लगता है टूटने के बाद उन्हें जोड़ दिया गया था। इससे उनके शरीर-विज्ञान की जानकारी का अन्दाज लगाया जा सकता है।

2

धातु युग एवं ऐतिहासिक सभ्यताओं का जन्म

लिपि कला, धातु, तथा राज्य की मान्यताएँ जैसे कुछ महत्त्वपूर्ण आविष्कारों को छोड़कर, नव पाषाणकालीन मनुष्य प्रायः अधिकांश धातुयुगीन कलाओं से परिचित हो गया था। इसी पर आगे चल कर ऐतिहासिक सभ्यता के पैर मजबूती से जम सके। निस्संदेह नव पाषाणकालीन आविष्कार महत्त्वपूर्ण थे लेकिन वर्द्धमान जनसंख्या की आवश्यकता की पूर्ति वे न कर पाये। कृषि एवं पशु-पालन के उत्तम साधन विकसित नहीं थे, अतः अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये उन्हें अपने मूल स्थान का परित्याग कर अन्यत्र शरण लेनी पड़ती थी। पर यह कोई स्थायी समाधान नहीं था क्योंकि इससे कृष्य भूमि का प्रतिदिन अभाव होता जा रहा था। कृष्य भूमि के साथ-साथ चरागाह भी कम होते जा रहे थे। नव पाषाणकालीन आत्म-निर्भरता भी एक दोष के रूप में उभर कर सामने आ गई। स्वावलम्बन एवं आत्मतुष्टि के सिद्धान्त पर आधृत नव पाषाणकालीन अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत मनुष्य एक दूसरे की आवश्यकता से परिचित नहीं हो पाता था, अतः उनकी कोई सहायता नहीं करता था। सामान्य स्थिति में तो इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता था, लेकिन अनावृष्टि, अतिवृष्टि, भूकम्प इत्यादि असामान्य स्थितियों में इसका विशेष प्रभाव पड़ता था क्योंकि उस स्थिति में बिना बाह्य सहायता के उनका कार्य नहीं चल पाता था। लेकिन, चूँकि वे एक दूसरे की सहायता नहीं कर पाते थे, अतः कभी-कभी उक्त प्रकोप के अधिक दिन तक बने रहने पर उनका अस्तित्व संकट में पड़ जाता था।

इस संकट से मुक्ति का उपाय केवल नियत एवं अल्प कृषि-योग्य भूमि में साधनों द्वारा अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन प्राप्त करना तथा पारस्परिक सहयोग एवं सम्पर्क के माध्यम से एक दूसरे की संकट के समय सहायता करना था। नव पाषाण काल के बाद इस दिशा में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रयास किया गया। सर्वप्रथम मनुष्य ने धातु विज्ञान की जानकारी प्राप्त की। अब प्रस्तर का स्थान धातु ने ग्रहण कर लिया। इसी लिए इसे धातुयुग भी कहा जाता है। धातुओं में सर्वप्रथम ताम्र, उसके बाद कांस्य तदनन्तर लौह का प्रयोग

किया गया । ताम्र काल का समय सामान्यत: 5,000 ई० पू० से 3,000 ई० पू० तक माना जाता है । स्मरणीय है कि ताम्र के अत्यधिक प्रचलित होने के बावजूद भी अभी पत्थरों का पूरा-पूरा परित्याग नहीं हो सका था, इसी लिए इस युग को ताम्र-प्रस्तर काल (Calcolithic Age) एक अन्य नाम से भी सम्बोधित किया जाता है । ताम्रकालीन संस्कृति का प्रसार पश्चिम में सहारा एवं भूमध्य सागर से लेकर पूर्व में थार रेगिस्तान और हिमालय तक तथा उत्तर में यूरेशियायी पर्वत मेरुदण्ड-बाल्कन, काकेसस, एलबुर्ज, हिन्दुकुश—से दक्षिण में कर्क रेखा तक था । इस भू-भाग के भूतात्त्विक, भू-आकृतिक तथा जलवायविक परिवेश द्वारा क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिए उपयुक्त अवसर मिला । आलोचित भू-क्षेत्र शुष्क है तथा यहाँ वर्षा का अभाव है । हालाँकि, प्रागैतिहासिक काल में यहाँ पर्याप्त वर्षा होती थी । यहाँ का अधिक भाग पर्वतीय तथा रेगिस्तानी है, लेकिन बीच-बीच में नदी-घाटियों एवं शाद्वलों की उपस्थिति से यह भू-भाग मानव के आकर्षण का प्रमुख केन्द्र बना । इसी कारण इस भू-भाग में ताम्रकालीन सभ्यताओं का उद्भव एवं उजृंभण हुआ । इस दृष्टि से विशेषकर मिस्र, ईरान, पश्चिमी एशिया तथा उत्तरी पश्चिमी और दक्षिणी भारत की ताम्रकालीन संस्कृतियों का उल्लेख किया जा सकता है । ईरान तथा पश्चिमी एशिया के ताम्रकालीन स्थलों में सियाल्क (Sialk), तेल-हलफ (Tell-halaf), अल-उबैद (Al-ubaid), तेप गावरा (Tepe Gawara) तथा जमदेत-नस्त्र (Jemdet-nasr); मिस्र में बदरियन (Badarian), अम्रतिएन (Amratian) और गर्जियन (Gerzean), भारत में मैसूर में ब्रह्मगिरि, हैदराबाद में केलूर तथा महाराष्ट्र में नासिक एवं जार्वे विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं ।

ताम्रकालीन संस्कृति की सर्वप्रमुख विशेषता के रूप में ताम्र के प्रयोग का उल्लेख किया जा सकता है । मनुष्य ने ताम्र को उसके गुणों से प्रभावित होकर ग्रहण किया था । यह आघात द्वारा बढ़ाया जा सकता था, गलाया जा सकता था और सरलतया सुलभ था । यह एक ऐसी धातु थी जिसे अपनी इच्छानुसार आकार दिया जा सकता था । ताम्रोपकरणों का निर्माण पीट कर या मोड़ कर ही नहीं, अपितु गला कर भी किया जा सकता था । अत: टूटे हुये उपकरणों को व्यर्थ न फेंक कर उन्हें गला कर साँचे में ढाल कर नया रूप दे दिया जाता था । न केवल टूटे-फूटे उपकरणों को गला कर नया उपकरण बनाया जाता था, बल्कि कभी-कभी पुराने उपकरणों को भी गलाकर नया रूप दे दिया जाता था । जहाँ अच्छी किस्म की धातु नहीं मिलती थी वहाँ विभिन्न प्रकार की कच्ची धातुओं जैसे ऑक्साइड (Oxides), कार्बोनेट (Carbonates), सिलिकेट (Silicates) तथा सल्फाइड (Sulphides) को चारकोल (Charcoal) के साथ पिघला कर ताँबा बनाया जाता था । इस प्रकार की विधि सियाल्क तृतीय और अल-उबैद स्तरों में प्रचलित थी ।

कृषि-कर्म सम्बन्धी नवीन आविष्कार

नव पाषाण काल में भूमि की जुताई 'हो' नामक यंत्र से की जाती थी । इसमें बहुत असुविधाएँ थीं । मानव सभ्यता के इतिहास में सर्वप्रथम भूमि की जुताई में हल

एवं बैल का आविष्कार ताम्रकाल में किया गया। हल का सर्वप्रथम आविष्कार कब और कहाँ हुआ ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है। मेसोपोटामिया तथा मिस्र में इसका प्रयोग 3,000 ई० पू० के आस-पास किया जाता था। भारत में भी इसका आविष्कार इस तिथि के बहुत बाद का नहीं है। हल के आविष्कार से स्त्रियों को कर्षण-कार्य से मुक्ति मिल गई। अब यह कार्य पुरुषों के कंधों पर आ गया। सुमेरिया तथा मिस्र से प्राचीनतम जो साक्ष्य मिले हैं उनसे पता लगता है कि इस कार्य को पुरुष ही करते थे। कृषि-कार्य में हल बैल की सहायता के फलस्वरूप कृषि-कर्म एवं पशु-पालन एक दूसरे के पूरक बन गये।

यातायात के साधनों का विकास

पशुओं से मैत्री स्थापित कर उनके निकट सम्पर्क में आने का उन्हें एक और लाभ यातायात की दृष्टि से मिला। अब वे उनका उपयोग यातायात के साधनों के रूप में भी करने लगे। इस कार्य में सर्वप्रथम नियोजित किया जाने वाला पशु बैल था। भारवाहक रूप में घोड़े का उपयोग बाद का आविष्कार है। ताम्रकालीन मनुष्यों ने अनुभव किया कि यदि बैल जुए की सहायता से हल खींच सकते हैं तो भार से लदी गाड़ियाँ भी खींच सकते हैं। अतः पहिये का आविष्कार कर उन्होंने गाड़ियाँ बनायीं। तृतीय सहस्त्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ तक दो पहिये एवं चार पहिये वाली गाड़ियों का निर्माण कर लिया गया था। सुमेरियन कलावशेषों में गाड़ी के आकार-प्रकार मिलते हैं। पहियेदार गाड़ी के आविष्कार से यातायात सरल हो गया। प्रारम्भ में भारवाहन का कार्य मनुष्य स्वयं करता था लेकिन गाड़ियों के आविष्कार से उसको मुक्ति मिल गई। गाड़ी के अतिरिक्त पालदार नावों का आविष्कार भी अपने में एक महत्त्वपूर्ण कदम था। पालदार नावों के प्राचीनतम साक्ष्य अल-उबैद स्तर तथा मिस्र से मिले हैं। पालदार नावों का आविष्कार उन प्राचीन आविष्कारों में से एक है जिसमें मनुष्य ने निर्जीव को यातायात का साधन बनाया।

मृद्भाण्ड-निर्माण कला का विकास

अधिक अन्नोत्पादन, पशु-पालन तथा यातायात के साधनों के आविष्कार के कारण भाण्ड-निर्माण उद्योग भी प्रभावित हुआ। नव पाषाण काल तक हाथ से ही बर्तन बनाये जाते थे लेकिन ताम्र काल में जब आवश्यकता की पूर्ति न हो सकी तो इसमें चाक की सहायता ली गई तथा चाक से बर्तन बनाने की कला विकसित हुई। इसका अनुभव उन्हें स्यात् यातायात के लिये निर्मित गाड़ी के पहिये से हुआ। नव पाषण-काल में भाण्ड बनाने का कार्य स्त्रियाँ करती थी लेकिन चाक के आविष्कार से अब इसमें पुरुष भाग लेने लगे तथा स्त्रियों को मुक्ति मिल गई। इस प्रकार भाण्ड-निर्माण एक उद्योग के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। सहायक पदार्थों की सुलभता तथा भाण्ड की महती आवश्यकता के कारण भाण्ड-निर्माता शिल्पी गाँव-गाँव भ्रमण करने लगे। द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारंभ में क्रीट तथा ईजाइना में इस प्रकार के भ्रमण-शील शिल्पी रहते थे। कुंभकार-चाक का आविष्कार असीरिया के ताम्रकालीन स्तर

तृतीय, ईरान में सियाल्क तृतीय तथा भारत में 2,500 ई० पू० तक हो चुका था। मिस्र में इसका प्रचलन सम्भवतः कुछ बाद में हुआ।

उपर्युक्त ताम्रकालीन आविष्कारों का सामाजिक और आर्थिक गठन पर गंभीर प्रभाव पड़ा। जुताई, भाण्ड-निर्माण इत्यादि से स्त्रियों को मुक्ति मिल गई तथा उनका अधिक समय गृहस्थी के कार्यों में व्यतीत होने लगा। लेकिन इसका एक अन्य प्रभाव भी पड़ा। अब पुरुषों की महत्ता बढ़ गई तथा मातृसत्तात्मक पारिवारिक व्यवस्था का स्थान पितृसत्तात्मक पारिवारिक व्यवस्था ने ग्रहण कर लिया। परिवार का प्रधान पुरुष हो गया तथा सम्पत्ति पर उसी का अधिकार हो गया। इस प्रकार मातृसत्तात्मक संगठन में जो पुरुष अस्थायी चुनाव द्वारा युद्ध नायक की हैसियत से प्रतिष्ठित था अब आर्थिक कारणों से प्रतिष्ठा का भागीदार बना। सम्पत्ति पिता से पुत्र को प्राप्त हो जाती थी। इस प्रकार उत्तराधिकार आनुवंशिक रूप से हस्तांतरित होने लगा। व्यवहारतः नायक और प्रधान का पद भी वंशानुगत मान लिया गया। कृषि की उन्नति तथा उद्योग-धंधों के विकास के कारण विविध व्यावसायिक वर्ग जैसे धातुकार, कुम्भकार इत्यादि अस्तित्व में आ गये। ये वर्ग अन्य वर्गों से पृथक् अस्तित्व बनाने लगे। धीरे-धीरे ये अपने व्यवसाय पर आश्रित हो गये। दूसरी ओर कृषकों को इन वस्तुओं की प्राप्ति के लिये अधिक अन्न उत्पन्न करना पड़ा। इससे नव पाषाणकालीन आत्म-निर्भरता पर आघात पहुँचा।

इन आर्थिक एवं तकनीकी विकासों के फलस्वरूप बहुत से ऐसे धार्मिक संस्कार जिनका सम्बन्ध उर्वरता एवं अन्य कार्यों से था, अस्तित्व में आ गये। नव पाषाण काल में भी इस प्रकार के कुछ संस्कार अस्तित्व में थे लेकिन उनका सम्पादन सर्वसाधारण करते थे। ताम्रकालीन धार्मिक संस्कारों का सम्पादन एक वर्ग विशेष के सदस्यों द्वारा किया जाने लगा। मूलतः इनका सम्बन्ध आखेटक, मत्स्यजीवी, पशुपालक एवं कृषक समुदायों से ही था लेकिन जब उन्होंने संस्कार-विशेषज्ञ होकर अपना मूल व्यवसाय त्याग दिया तो उन्हें ही व्यावसायिक पुरोहित मान लिया गया। सीरिया से ताम्रयुगीन पुरोहितों के साक्ष्य मिले हैं। तावीज़ के रूप में मुद्राएँ (Seals) प्रचलित की गईं जिनका उद्देश्य अधिकार या शक्ति-प्रदर्शन के साथ-साथ आभिचारिक भी था।

कांस्य-कालीन नागरिक क्रान्ति

ताँबे का प्रयोग करते-करते मनुष्य ने अनुभव किया कि यदि इसके साथ ऐनटिमनि (Antimony), आर्सनिक (Arsenic), शीशा (Lead) अथवा टिन (Tin) मिला दिया जाय तो इसकी उपयोगिता बढ़ सकती है। इनमें अंतिम मिश्रण (ताम्र तथा टिन) अधिक उपादेय सिद्ध हुआ। इसी मिश्रित धातु को कांस्य (Bronze) कहा गया। तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० तक भारत, मेसोपोटामिया, एशिया माइनर तथा यूनान में इस मिश्रित धातु के विषय में लोगों को जानकारी हो चुकी थी। कांस्य के आविर्भाव का मानव सभ्यता के विकास के इतिहास में अत्यधिक महत्त्व है। यह वही काल

है जिसमें नागरीय सभ्यता की वह आधार शिला रखी गई थी, जिस पर आगे आने वाली सभ्यता के भव्य भवन खड़े किये गये। ताम्रकालीन आर्थिक एवं तकनीकी विकासों के फलस्वरूप नवीन जीवन-विधा निश्चित हो रही थी। संयोग से नदी-घाटियों ने इस कार्य में और सहयोग दिया। उनकी उर्वर घाटी में जो सुविधाएँ मिलीं उससे मनुष्य उस ओर स्वभावतः आकृष्ट हुआ। धीरे-धीरे ताम्रकालीन गाँव नदी-घाटियों में स्थित नगरों में परिवर्तित होने लगे। इस दृष्टि से अफ्रीका में नील, पश्चिमी एशिया में दज़ला-फ़रात तथा भारत में सिंधु नदी की घाटियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अफ्रीका महाद्वीप की विशाल मरुस्थली की सिकता राशि को अपनी अनन्त जलधाराओं से अभिसिंचित कर नील ने मिस्र देश एवं सभ्यता का सृजन किया। दज़ला-फ़रात द्वारा निर्मित भू-भाग में सुमेरिया, बैबिलोनिया, असीरिया तथा कैल्डिया की समृद्ध सभ्यताएँ पल्लवित एवं पुष्पित हुईं। इसी प्रकार भारत भूमि मे सिंधु नदी की घाटी में सभ्यता के उद्भव एवं उन्नयन के लिए उपयुक्त अवसर मिला।

अपनी उर्वरता के कारण ही ये भू-भाग कांस्यकाल में मानवीय आकर्षण के केन्द्र बने। कृषि एवं पशु-पालन के साथ-साथ अनेक प्रकार के व्यवसाय एवं उद्योग-धन्धे विकसित हुए। व्यवस्था के समुचित संचालन के लिए केन्द्रीय शक्ति की आवश्यकता पड़ी। धीरे-धीरे केन्द्रीय शक्ति का इन पर पूर्ण नियंत्रण हो गया। आवश्यकताओं की वृद्धि के साथ-साथ आत्म-निर्भरता घटने लगी। अब आवश्यकता की वस्तुएँ बाहर से मँगानी पड़ती थीं। इससे एक समूह दूसरे के सम्पर्क में आने लगा तथा परस्पर आदान-प्रदान होने लगा। इस प्रकार व्यापारी अस्तित्व में आ गये। धीरे-धीरे इनके व्यापारिक केन्द्र स्थापित होने लगे और इनकी सुरक्षा के लिए कर्मचारी नियुक्त किये जाने लगे। आगे चलकर इसके लिये नियम एवं कानून बनाये गये। इस प्रकार विधि संहिताएँ अस्तित्व में आ गईं। सुख-शान्ति के वातावरण में धार्मिक मान्यताएँ भी बढ़ने लगीं। पुजारीवर्ग अस्तित्व में आ गये। शासकीय कार्यों के सम्यक् सम्पादन के लिए लिपि कला, गणित इत्यादि का विकास किया गया। व्यापार को सुगम बनाने के लिए मुद्रा-प्रणाली विकसित की गई।

3

सुमेरियन सभ्यता

मानव-सभ्यता की विकास-परम्परा में पाषाणकालीन सभ्यता के अनन्तर क्रमश: ताम्र एवं कांस्यकालीन सभ्यताओं का आविर्भाव हुआ था। इनके पल्लवन् एवं पुष्पवन् में नदी घाटियों का विशेष योगदान रहा है। नदी घाटियों के क्रोड में पल्लवित एवं पुष्पित ये सभ्यताएँ मिस्र एवं पूर्वी भूमध्यसागरीय प्रदेश से लेकर भारत में सिंधु-उपत्यका तक फैली थीं। इसमें मुख्य रूप से नील, दज़ला-फ़रात तथा सिंधु नदी घाटियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। इसके फलस्वरूप चतुर्थ सहस्राब्दी ई० पू० में इन नदियों की उपत्यकाओं में मानव-सभ्यता के इतिहास के द्वितीय चरण की आधार शिला रखी गयी जिसने शनैः-शनैः विश्व सभ्यता के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। इसमें संदेह नहीं है कि सभ्यता के सृजन के लिए नदियों द्वारा लगभग एक ही साथ सुविधाएँ प्राप्त हुईं लेकिन मनुष्य इनका उपयोग एक साथ न कर सका। अभी तक यह निश्चित नहीं हो पाया है कि सर्वप्रथम सभ्यता का उद्भव एवं विकास किस नदी की घाटी में हुआ। किसी समय प्रो० वुलि, हाल, गार्डन चाइल्ड, मार्शल आदि विद्वान् सैंधव-सभ्यता को प्राचीनतम मानते थे लेकिन समर्थन में प्रस्तुत साक्ष्य यौक्तिक नहीं थे। आज तक उपलब्ध साक्ष्य यही प्रमाणित करते हैं कि सैंधव-सभ्यता नील एवं दज़ला-फ़रात घाटी की सभ्यताओं से प्राचीन नहीं है। प्रश्न है कि नील तथा दज़ला-फ़रात घाटी की सभ्यताओं में कौन प्राचीनतर है। अधिकतर विद्वान् जैसे विल ड्युरैण्ट, एच० फ्रेंकफर्ट (H. Frankfort), जी० मास्पेरो (G. Maspero) आदि दज़ला-फ़रात के क्रोड में विकसित मेसोपोटामिया की प्रथम सभ्यता सुमेरिया को नील-घाटी की सभ्यता से प्राचीन मानते हैं। इसके समर्थन में निम्न तर्कों का अवलम्बन लिया जाता है।

मिस्र में एक ओर जब सभ्यता का प्रारम्भ हो रहा था उसी समय दूसरी

ओर मेसोपोटामिया के सुमेरियन कलाकार ऐसी मूर्तियाँ बना रहे थे जिसे अनेक वर्षों के अनुभव का ही परिणाम माना जा सकता है। यह सत्य है कि नील घाटी की सभ्यता का राजनीतिक इतिहास चतुर्थ सहस्राब्दी ई० पू० की अंतिम सदियों से प्रारंभ हो गया था लेकिन यहाँ यह नहीं भूलना चाहिये कि सुमेरिया-सभ्यता के प्राचीनतम लेख तथा विधि संहिताएँ मिस्र के अभिलेखों से प्राचीन हैं। ताम्र अवशेषों के प्राचीनतम उदाहरण एरिडु (Eridu) से प्राप्त हुए हैं। इससे यह निष्कर्ष सरलतापूर्वक निकाला जा सकता है कि ताँबे का प्रयोग सुमेर में मिस्र से पहले किया गया। अतः इस सभ्यता का अविर्भाव भी पहले हुआ था। ताम्र के ही सदृश रथ, पहिये एवं कुंभकार-चाक के विषय में भी यही माना जाता है कि इनका आविष्कार सुमेर में मिस्र से पहले किया गया था। ऐसे साक्ष्य प्राप्त हुए हैं जिनसे प्रतीत होता है कि मिस्र प्रारंभिक राजवंशीय काल में ही सुमेरियन संस्कृति के प्रभाव में आ गया था। सुमेरिया की बेलनाकार मुहरें मिस्र के प्राचीनतम युग में मिलती हैं लेकिन आगे चल कर अकस्मात् लुप्त हो जाती हैं। ऐसा लगता है कि पहले मिस्रवासियों ने इन्हें अपनाया लेकिन बाद में जब उन्हें इनके विदेशीपन का आभास हुआ तो उन्होंने इसे त्याग दिया। मास्पेरो प्रस्तावित करते हैं कि प्राग्वंशीय मिस्री लिपि पर सुमेरियन लिपि का प्रभाव पड़ा था।

इन तर्कों के आलोक में दजला-फ़रात घाटी की सुमेरिया-सभ्यता नील-घाटी की सभ्यता से प्राचीन मानी जा सकती है। प्रसिद्ध इतिहासकार विल ड्युरैण्ट प्रस्तावित करते हैं कि सुमेरिया सभ्यता की ज्ञान-वृद्धि के साथ-साथ इसकी प्राचीनता भी प्रमाणित होती जा रही है। इस मान्यता के विपरीत जे० एच० ब्रेस्टेड (J. H. Breasted) तथा इलियट स्मिथ (Elliot Smith) आदि विद्वान् सुमेरिया की अपेक्षा नील घाटी की सभ्यता को ही प्राचीन मानने के पक्ष में हैं। इनकी धारणा है कि नील घाटी की सभ्यता के राजनीतिक गगन-मण्डल में प्रारंभ से ही हम संयुक्त राज्य प्राप्त करते हैं, जबकि सुमेर ऐतिहासिक युग के प्रारंभ में अनेक नगर राज्यों में विभाजित था। वर्तमान समय में इन दोनों मतों में किसी को भी विवादमुक्त नहीं माना जा सकता, लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सुमेरिया-सभ्यता की प्राचीनता के समर्थन में दिये गये तर्क नील घाटी की सभ्यता की प्राचीनता के समर्थक तर्कों से अधिक यौक्तिक हैं।

भौगोलिक स्थिति

मेसोपोटामिया (आधुनिक ईराक[1]) स्थूलतः दक्षिण-पश्चिम एशिया का वह

---

[1] यह नाम 1918 ई० में दिया गया। द्रष्टव्य H. E. Burns, A Survey of Western Civilization, p. 59

भू-भाग है जो दज़ला-फ़रात तथा उनकी सहायक नदियों द्वारा सिंचित है। इसके उत्तर-पश्चिम टर्की, पश्चिम सीरिया तथा जोर्डन, दक्षिण अरब, दक्षिण-पूर्व फ़ारस की खाड़ी तथा पूर्व में ईरान स्थित हैं। वर्तमान समय में इसका कुल क्षेत्रफल 4,34,924 वर्ग कि० मी० है। दक्षिण-पश्चिम एशिया के अन्य देशों की भाँति यह पठार नहीं है। वास्तव में यह एक निचला प्रदेश है जिसका ढाल उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व है।

दज़ला-फ़रात दोनों नदियाँ अर्मीनिया पर्वत-प्रान्तर से निकलती हैं। इनका प्रवाह उद्‌गम-स्थल से दक्षिण की ओर है। दोनों नदियाँ एक बड़े भू-भाग को अपनी जलधारा से प्रच्छालित करती हुई अन्ततः फारस की खाड़ी में विश्राम लेती हैं। प्राचीन काल में ये दोनों इस खाड़ी में अलग-अलग गिरती थीं पर आज दोनों मिल कर गिरती हैं। इन नदियों द्वारा निर्मित मैदान प्रतिवर्ष बाढ़ द्वारा आच्छादित हो जाता है और यहाँ उर्वर मिट्टी का ढेर-सा जमा हो जाता है। बाढ़ के कारण यह भू-भाग कुछ दिनों के लिये अनुपयोगी हो जाता है। लेकिन मनुष्य जब अपने बुद्धि-कौशल के बल पर प्रकृति को सहायक बनाने लगा, यह भू-भाग उनके लिये वरदान सिद्ध हुआ और उनका समस्त आर्थिक गठन इसी पर अवलम्बित हुआ। उर्वरता एवं स्थिति के कारण ही इस भू-भाग को उर्वर अर्द्धचन्द्र (Fertile Crescent) के अंग होने का सुअवसर मिला। यह नाम ब्रेस्टेड महोदय ने किसी समय प्रस्तावित किया था। इसमें दज़ला-फ़रात के भू-भाग के अतिरिक्त फीनिशिया, सीरिया, तथा फिलीस्तीन भी सम्मिलित माने जाते हैं। आकार में अर्द्धचन्द्र सदृश यह सुविस्तृत क्षेत्र कृषि एवं उद्योग-धंधों के लिये अतीव उपादेय है। इसके पूर्वी भाग में फारस की खाड़ी, उत्तर-पश्चिम में एशिया-माइनर तथा दक्षिण-पश्चिम नील-नदी की घाटी का दक्षिणी किनारा सम्मिलित है। मानव सभ्यता के उद्‌भव एवं विकास के लिये इस भू-क्षेत्र ने उपयुक्त सुविधाएँ प्रदान की जिसके फलस्वरूप मनुष्य ने भ्रमणशील जीवन छोड़ कर शान्तिप्रिय एवं स्थायी जीवन प्रारम्भ किया। उर्वर अर्द्धचन्द्र के लगभग पड़ोस में ही 'डेजर्ट बे' (Desert Bay) वाला भू-क्षेत्र था। आकार में यह भी अर्द्धवृत्त की भाँति है। शुष्क होने के कारण यह भू-भाग कृषि योग्य न बन सका इसी कारण यह भू-क्षेत्र सदा भ्रमणशील जातियों के ही आवास-स्थल होने का श्रेय प्राप्त कर सका। प्रकृति की प्रतिकूलता के कारण इन जातियों (जिनमें सेमिटिक तत्त्वों की बहुलता थी) ने जीविका के लिये न किसी निश्चित आधार का अवलम्बन लिया, न ये किसी प्रकार के सांस्कृतिक तत्त्वों के संश्लेष एवं समुत्कर्ष के लिए सचेत ही हुए। जो कुछ कुशलता इन्होंने अर्जित की वह लूट-पाट तक ही सीमित रही। इसके शिकार सदा उर्वर अर्द्धचन्द्र के निवासी बनते थे। यद्यपि दोनों संस्कृतियों में सेमिटिक तत्त्व विद्यमान थे लेकिन एक की जीवन-पद्धति निश्चित, जबकि दूसरे की अनिश्चित थी। इस तरह हम कह सकते हैं कि जीवन-पद्धति के निर्धारण तथा सांस्कृतिक उन्नयन में दज़ला-फ़रात-घाटी का योगदान महत्त्वपूर्ण था।

दज़ला-फ़रात-घाटी के चर्चित भू-क्षेत्र के लिये प्रस्तावित मेसोपोटामिया संज्ञा पर भी प्रसङ्गतः विमर्श आवश्यक है। इस शब्द पर दो दृष्टियों से विमर्श किया जा

सकता है : प्रथमतः वास्तविकता की दृष्टि से द्वितीयतः व्यावहारिक दृष्टि से। जहाँ तक प्रथम का सम्बन्ध है, मेसोपोटामिया शब्द यूनानी 'Mesos' एवं 'Potamos' शब्दों से निष्पन्न है जिनका क्रमशः अर्थ मध्य एवं नदी है। इस तरह मेसोपोटामिया से तात्पर्य नदियों के बीच के भू-भाग (The land between the rivers) से है।[1] दूसरे शब्दों में यह शब्द दोआब का द्योतक है। लेकिन कुछ विद्वानों ने आलोच्य संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में मेसोपोटामिया शब्द के वास्तविक अर्थ-प्रयोग पर सन्देह व्यक्त किया है क्योंकि इस भू-क्षेत्र के इतिहास में ऐसे भी स्तर हैं जब संस्कृति का प्रसार अन्तर्वेदी में न होकर किसी एक भू-क्षेत्र में हुआ। कभी इसका विकास-स्थल उत्तरी भाग रहा तो कभी दक्षिणी। ऐसी स्थिति में इस शब्द को वास्तविक अर्थ में उतना उपयुक्त नहीं मान सकते जितना अपेक्षित है। मेसोपोटामिया शब्द की सार्थकता तो व्यावहारिक प्रयोग की दृष्टि से ही सिद्ध हो पाती है। एक विद्वान् तो मेसोपोटामिया शब्द की सार्थकता संदिग्ध मानते हुए इसके लिये बैबिलोनिया तथा असीरिया संज्ञाओं को अधिक समीचीन मानते है।[2] लेकिन इस सम्बंध में स्मरणीय है कि दजला-फ़रात-घाटी की सभ्यता की स्थापना न तो बैबिलोनियनों न असीरियनों, अपितु एक अन्य प्रारम्भिक जाति, जिसे सुमेरियन कहा गया है, द्वारा की गयी थी। अतएव बैबिलोनिया तथा असीरिया नाम इसके लिये सर्वथा अनुपयुक्त है। इस स्थिति में कुछ अपवादों को छोड़ कर इस सभ्यता के लिये मेसोपोटामिया शब्द ही कुछ उचित जान पड़ता है। यद्यपि उक्त भौगोलिक परिवेश ने उपर्युक्त नामों की यथाथिता संदिग्ध अवश्य बना दी लेकिन इस संस्कृति के समुद्भव एवं समुन्नयन का मार्ग उसी ने प्रशस्त किया। लेकिन जहाँ एक ओर प्रकृति ने नव-नूतन संस्कृति के उद्भव एवं विकास के निमित्त उपयुक्त शान्तिपरक वातावरण उपस्थित किया उसी ने क्रूर एवं हिंसक जातियों को भी विकसित होने का सुअवसर प्रदान किया। यही कारण है कि दजला-फ़रात-घाटी में पनपने वाली चारों सभ्यताओं—सुमेरिया, बैबिलोनिया, असीरिया एवं कैल्डिया—में से जहाँ एक ओर सुमेरिया, बैबिलोनिया एवं कैल्डिया ने शान्तिपरक संस्कृति का कलेवर निर्मित किया वहीं असीरिया संस्कृति के निर्माताओं ने सैनिक तत्त्वों को अधिक विकसित किया और इसी सैनिक तत्त्वों की प्रधानता के फलस्वरूप ही मेसोपोटामिया संस्कृति की पूर्ण रक्षा हो सकी। यदि असीरिया संस्कृति में सैनिक तत्त्वों की प्रधानता न होती तो निश्चित ही दजला-फ़रात-घाटी की सुसम्पन्न सभ्यता बर्बरों के एक ही आघात में नष्ट हो गयी होती।[3] इसी कारण यहाँ के शासकों को एक ओर अपनी सुरक्षा का ध्यान रखना पड़ता था तो दूसरी ओर आन्तरिक एवं बाह्य दोनों दृष्टियों से शासन को सुदृढ़ रखने के लिये सचेत रहना पड़ता था। कहने का तात्पर्य यह कि दजला-फ़रात की घाटी की

---

1. Georges Roux, Ancient Iraq, p. 18
2. H. W. F. Saggs, The Greatness That Was Babylon, p. 3
3. C. E. Van Sickle, A Political and Cultural History of the Ancient World, p. 135

सभ्यता में सुरक्षात्मक सक्रियता एवं गतिशीलता दोनों प्रारम्भ से ही जागृत थी । इन परिस्थितियों में इस घाटी में जो चार इतिहास प्रसिद्ध सभ्यताएँ विकसित हुईं उनमें कालक्रम की दृष्टि से सुमेरिया सभ्यता प्रथम है ।

इस सभ्यता के नामकरण का आधार सुमेर (Sumer) नामक नगर है । इसकी स्थिति दज़ला-फ़रात घाटी के दक्षिण है । चार हजार ई० पू० के आस-पास एक भ्रमणशील जाति ने इसे अकस्मात् अपना आवास-स्थल चुन लिया । इस चुनाव के लिये बाह्य नहीं, अपितु इस भू-स्थल की आन्तरिक परिस्थितियाँ ही उत्तरदायी थीं । उपयुक्त वातावरण के कारण जिनकी चर्चा हम गत पृष्ठों में कर चुके हैं, यहाँ जीवन-क्रम निश्चित हो सकता था एतदर्थ आने वाले संचरणशील समूहों के लिए स्थिर जीवन-यापन करने और एक समुन्नत तथा सुसंस्कृत सभ्यता के निर्माण के लिए पूर्ण अवसर मिला । इस प्रयास में उन्होंने महत्त्वपूर्ण सफलताएँ अर्जित कीं । सत्यता तो यह है कि उक्त दोनों नदियों की उपत्यका में पल्लवित-पुष्पित सभ्यता मूलतः सुमेरियनों की ही देन थी । दज़ला-फ़रात दोनों नदियों की घाटियों में पनपने वाली संस्कृतियों की शृङ्खला में सुमेरिया-सभ्यता ही वह प्रथम कड़ी है जिसने संस्कृतियों के विकास के लिये जिस शिलाखण्ड का निर्माण किया उसी पर आगे आने वाली सभ्यताएँ अपने चरण मजबूती से जमा कर स्थिरता प्राप्त कर सकीं । बैबिलोनियन सभ्यता की पुष्ट भुजाओं को बल देने का श्रेय केवल सुमेरिया-सभ्यता को ही दिया जा सकता है । मेसोपोटामिया-सभ्यता के अन्तर्गत सामाजिक एवं आर्थिक संगठन, कानून, धर्म एवं लिपि कला इत्यादि के विकास का प्रथम श्रेय सुमेरियनों को ही है । केवल शासन-संगठन, उसमें भी विशेषकर सैनिक-संगठन, जिसमें अनुवर्तिनी सभ्यताओं के निर्माताओं ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया, को छोड़कर, शेष सांस्कृतिक तत्त्वों की मूल-प्रेरणा उन्हें सुमेरियनों से ही मिली थी ।

ऐतिहासिक स्रोत

साहित्यक साक्ष्य सुमेरिया संस्कृति के विषय में प्रायः मौन हैं । इसी कारण आज से कुछ वर्ष पहले जब प्राचीन सभ्यताओं के अध्ययन में केवल साहित्यिक साक्ष्यों का अवलम्बन लिया जाता था इस संस्कृति के विषय में हमारा ज्ञान बहुत कम था । मेसोपोटामिया सभ्यता के अध्ययन में यहूदी तथा यूनानी साहित्य उपादेय अवश्य थे लेकिन दुर्भाग्य से इनसे केवल बैबिलोनिया, असीरिया एवं कैल्डिया की सभ्यताओं के बारे में कुछ सूचनाएँ मिलती थीं, सुमेरिया सभ्यता के बारे में नहीं । इसमें भी यहूदी साहित्य केवल असीरिया तथा कैल्डिया का संकेत करते हैं, प्राचीन बैबिलोन तथा सुमेर के बारे में वे भी मौन हैं । वर्तमान समय में यह भी दृढ़तापूर्वक नहीं कहा जा सकता कि बाइबिल के रचनाकार सुमेरियन जाति से परिचित ही थे । इसमें एक स्थल पर एक जाति के शिन्नार में आकर बसने का संकेत मिलता है । संभवतः इससे सुमेर तथा सुमेरियनों का ही अभिप्राय है । हेरोडोटस भी संभवतः सुमेरिया अथवा यहाँ के निवासियों से परिचित नहीं था । यूनानी लेखक टीसियस भी सुमेरिया के बारे में मौन है ।

एण्टियोकस सोटर (Antiochus Sotar) का समकालीन इतिहासकार बेरोसस (Berossus) जिसके इतिहास का मूल रूप यद्यपि अब सुलभ नहीं है लेकिन जोसेफस (Josephus) तथा यूसीबियस आदि की कृतियों में कुछ अंश उपलब्ध हैं, बैबिलोनियन शासकों के बारे में लिखता है लेकिन आश्चर्य है कि उसने सुमेरिया के विषय में कहीं कोई उल्लेख नहीं किया। कैल्डिया का शासक नैबू-नैद (Nabu-naid) राजनीति की अपेक्षा इतिहास एवं पुरातत्त्व में अधिक रुचि रखता था। उसने भी प्राचीन शासकों का उल्लेख किया है। यद्यपि उसके द्वारा प्रस्तावित शासकों से सम्बन्धित तिथियाँ वर्तमान शोधों के परिप्रेक्ष्य में असिद्ध हो जाती हैं लेकिन आश्चर्य है कि सारगोन से परिचित होते हुये भी वह सुमेरियनों से अपरिचित लगता है क्योंकि कहीं भी सुमेरियन शासकों की चर्चा नहीं की गयी। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उसके समय तक सुमेरियन सभ्यता के तत्त्व पूर्णतया कालकवलित हो चुके थे।

लेकिन साहित्यिक साक्ष्यों की अनुपस्थिति इस संस्कृति के अध्ययन में तभी तक बाधक थी जब तक पुरातात्त्विक साक्ष्य प्रकाश में नहीं आए थे। सत्यता तो यह है कि इस विस्मृत संस्कृति को प्रकाश में लाने का श्रेय पुरातत्त्व को ही है। इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किंग टामस, जार्ज स्मिथ, डि सारजक, लेयार्ड रालिसन, लियोनार्ड वुलि इत्यादि विद्वानों ने किया। उन्नीसवीं शती ई० में बैबिलोनिया में असीरिया सभ्यता के तत्त्वों की जानकारी के लिये कार्य प्रारंभ किया गया। लेकिन इस अनुसंधान की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि असीरियनों के अतिरिक्त सुमेरियनों के बारे में जानकारी थी। हिंक्स महोदय ने सर्वप्रथम 1850 ई० में यह मत प्रतिपादित किया था कि कीलाक्षर लिपि (Cuneiform Script) का प्रचलन पश्चिम एशिया के सेमाइटों में था। लेकिन उनकी यह मौलिक उपलब्धि नहीं थी, बल्कि इसे स्वयं उन्होंने किसी गैर सेमिटिक प्राचीन जाति से सीखा था। इसी को आपर्ट (Jules Oppert) ने सुमेरियन संज्ञा प्रदान कर दी। इसी के आस-पास रालिसन एवं उनके सहयोगियों को कुछ ऐसे अभिलेख प्राप्त हुए जिनमें प्राचीन भाषा में कुछ अंश लिखे थे, साथ ही उनका बैबिलोनियन भाषान्तर भी दिया गया था। इसकी सहायता से अन्य सुमेरियन लेखों का पाठ प्रस्तुत किया जा सका। 1854 ई० में दो अंग्रेज विद्वानों ने उर (Ur), एरिडु (Eridu) तथा उरुक (Uruk) नामक कुछ नगरों का उत्खनन किया। उन्नीसवीं शती ई० के अन्तिम चरण में लगश (Lagash) नामक नगर से सुमेरिया के शासकों को सूचियाँ मिलीं। प्रो० वुलि को 1929 ई० में उर के उत्खनन में प्रसिद्ध राज-समाधि तथा कोष मिले जिनसे इस सभ्यता के बहुत से तत्त्व प्रकाश में आये। उत्खनन का क्रम जारी रहा। 1948 ई० में शिकागो युनिवर्सिटी के ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट तथा युनिवर्सिटी म्युजियम फिलाडेल्फिया के तत्त्वाधान में निप्पुर (Nippur) में जो उत्खनन हुए उनसे बहुत से लेख प्रकाश में आये। इनके माध्यम से अब हम सुमेरिया सभ्यता के बारे में बहुत कुछ जान गये हैं। यद्यपि अभी यह कार्य अपूर्ण है तथा इस अतीत की विस्मृत संस्कृति के विषय में और ज्ञान प्राप्त करना बाकी है।

सुमेरियन जाति

सांस्कृतिक तत्त्वों से सम्बन्धित विपुल साक्ष्यों के प्रकाशित होने के वावजूद भी अद्यापि हम निर्णीत रूप से यह कहने की स्थिति में नहीं हैं कि सुमेरियन मूलतः किस प्रजाति के थे, उनका मूल स्थान क्या था तथा सुमेरिया में उनका प्रवेश कब और किस मार्ग से हुआ ? जहाँ तक इनकी तथाकथित जातिवाची 'सुमेरियन' संज्ञा का प्रश्न है इसे जातिवाची नहीं माना जा सकता। इसे इन्होंने सुमेर नामक नगर में बसने के कारण प्राप्त कर लिया। यह प्रायः मान लिया गया है कि इनका आदि स्थान सुमेर नहीं, बल्कि कोई दूसरा भू-क्षेत्र था। यहाँ वे किसी समय आकर बस गये थे। लेकिन ये कौन थे, कब और कहाँ से आये ऐसे प्रश्न हैं जिनके विषय में आज तक बहुत कुछ कहा जा चुका है लेकिन निर्णयात्मक ढंग से नहीं। इस अनिर्णय का कारण सुमेरियनों द्वारा बोली जाने वाली भाषा को ही माना जा सकता है। इस भाषा की समता अनेक भाषाओं से हो जाती है। चीनी-तिब्बती, द्रविड़, हंगरी, अफ्रीकी इत्यादि भाषाओं के साथ सुमेरियन भाषा किसी न किसी प्रकार का तादात्म्य स्थापित ही कर लेती है। सार रूप में कहा जा सकता है कि बास्क (Basque) की भाँति यह भाषा भी कई भाषाओं का अद्भुत सम्मिश्रण है। एक ज्यूइश विद्वान् (Jewish scholar) ने वॉलपुक[1] (Volapuk) को इस भाषा का आधार बताते हुये मत व्यक्त किया है कि सुमेरियनों की यह भाषा अपनी मौलिक भाषा नहीं थी, बल्कि सेमिटिक बैबिलोनियन पादरियों की काल्पनिक उपज थी। लेकिन यह कथन जातीय एवं देशीय दोनों पक्षपातों से पूर्ण है। सत्यता तो यह है कि न इसकी समता किसी सेमिटिक भाषा और न किसी भारोपीय (Indo-European) भाषा से ही है। जो कुछ समता परिलक्षित होती है उसे हम केवल स्वरीय ही कह सकते हैं। किसी जातीय तत्त्व से इसे सम्बन्धित कर समस्या का समुचित समाधान नहीं निकाला जा सकता।

प्रजाति निर्धारण के समान इसके आगमन मार्ग के विषय में भी कुछ निश्चित ज्ञात नहीं है। इस सम्बन्ध में विविध मत प्रतिपादित किये गये हैं। कुछ प्राचीन परम्पराएँ ओआन्नेस (Oannes) नामक एक मछुआरे का संकेत करती हैं जो फारस की खाड़ी पारकर सभ्यता एवं संस्कृति के तत्त्वों के साथ सुमेर में प्रविष्ट हुआ था। इस कथा का मेल कीलाक्षर (Cuneiform) लिपि में उत्कीर्ण विवरणों से भी बैठ जाता है जिनमें एनकी (Enki) नामक बुद्धि देवता को जल से सम्बन्धित किया गया है। इस देवता का अस्तित्व एरिडु में रक्षा सम्बन्धी प्रसङ्गों

---

1. "Volapuk-a name given to a universal language invented about 1879 by Johann Schleyer of Constance, Baden, the vocabulary being mainly based on English, and the grammer being simplified to the utmost."

में पूर्णतया मिलता है। एरिडु फारस की खाड़ी की एक छिछली झील के किनारे स्थित है। प्राचीन दिलमुन (Dilmun), जिसकी समता वर्तमान बहरैन (Bahrain) से की जा चुकी है, एरिडु से पहले भी सुमेरियन धर्म-केन्द्र होने का दावा करता है। इन साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में कहा जाता है कि सुमेरियन मेसोपोटामिया में फारस की खाड़ी से प्रविष्ट हुए थे। लेकिन यह मत अभी तक किसी पुरातात्त्विक साक्ष्य से समर्थित नहीं हो पाया है। प्रागैतिहासिक एवं आद्यैतिहासिक युग में सुमेर तथा ईरान के मध्य सांस्कृतिक सम्पर्क की उपस्थिति इस मत के लिये पर्याप्त आधार प्रस्तुत करती है कि सुमेरियन बैबिलोनिया में पूर्व या उत्तर-पूर्व की ओर से आये थे। सुमेरियन जिकुरत भी इनके पर्वतीय प्रदेश के आदि स्थान के सूचक हैं। वे अपने देवताओं के आवास भी पूर्व दिशा में स्थित कोई पर्वत मानते थे। उनके प्राचीन भवन भी लकड़ी के बनाये जाते थे। इससे भी लगता है कि उनका आदि स्थल ऐसा कोई भू-भाग था जहाँ पर्वत एवं जंगल दोनों थे। ओल्ड टेस्टामेण्ट में एक स्थल पर पूर्व से आकर एक जाति के शिन्नार (Shinnar) में बसने की चर्चा है। संभवतः यह उल्लेख सुमेरियनों की ओर ही है। कुछ अन्य विद्वान् सुमेरियन धर्म का सम्बन्ध भारत में सिन्धु प्रदेश तथा दक्षिणी बलूचिस्तान से स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। हड़प्पा संस्कृति के निर्माता, जिनकी लिपि की वाचना अभी भी नहीं प्रस्तुत की जा सकी है, प्राचीन द्रविड़ जाति से सम्बन्धित किये गये हैं जिनके अस्तित्व बाद में दक्षिण भारत में मिले हैं। सुमेरिया तथा हड़प्पा सभ्यताओं का सांस्कृतिक सम्पर्क उनके लिए विशेष रूप से आकर्षण का विषय है जो दोनों भाषाओं में साम्य देखने की चेष्टा करते हैं। भाषा के अतिरिक्त दोनों स्थलों से संग्रहीत कुछ कलात्मक उपकरण तथा अन्य सामग्रियों को भी इस सम्बन्ध की अभिपुष्टि के लिये प्रमाणस्वरूप उपस्थित किया जाता है। तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० में सुमेरिया, सिन्धु तथा बलूचिस्तान के बीच व्यापारिक सम्बन्धों की पुष्टि भी इन उपकरणों द्वारा होती है। उर तथा सूसा से प्राप्त उच्च स्कंध वाले भारतीय बैल के चित्रों द्वारा ज्ञात होता है कि भारतीय व्यापारी ईरान तथा मेसोपोटामिया में विद्यमान थे जिनके अधिकार में निस्सन्देह कुछ क्षेत्र भी रहा होगा। सम्भव है पूर्व से सुमेरियन दो शाखाओं में गये। एक शाखा समुद्री मार्ग द्वारा फारस की खाड़ी से होती हुई सुमेर गयी तथा दूसरी ईरान के स्थल मार्ग से। इसी शाखा की कुछ प्रशाखाएँ सिन्धु में आकर बस गयीं। लेकिन यह मत अभी निर्णीत रूप मे प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता है।

प्रमुख नगर-राज्य

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत हम नागरिक सभ्यताओं के उद्भव की चर्चा कर चुके हैं। चार हजार ई० पू० के आस-पास उर्वर अर्द्धचन्द्र के दज़ला-फ़रात की घाटी वाले भाग में भी नव पाषाणकालीन सभ्यता के तत्त्व विद्यमान

थे और यहाँ ग्राम्य सभ्यता का साम्राज्य था। लेकिन इस भू-भाग की उर्वरता, खनिज पदार्थों की बाह्य देशों से सरलता से उपलब्धि, जिसके फलस्वरूप सुमेरिया में समुन्नत व्यापार सम्पन्न हुआ, कृषकों द्वारा प्रचुर अन्न के उत्पादन एवं उनके नगर निर्यात तथा दज़ला-फ़रात नदियों द्वारा उपस्थित यातायात की समुचित सुविधा के कारण शनैः-शनैः सुमेरियन ग्राम नगरों के रूप में परिवर्तित हो गये। लेकिन नगरों के विकास का यह अर्थ नहीं कि ग्रामों का अस्तित्व ही नष्ट हो गया। बल्कि सत्यता यह थी कि दोनों का अस्तित्व साथ-साथ बना रहा। हाँ, इतना अवश्य सत्य है कि धीरे-धीरे शक्ति एवं सम्पदा नगरों में केन्द्रित होने लगी। शनैः-शनैः नगर नगर-राज्य बनने लगे। सुमेरिया में जिन नगरों का विकास हुआ उनमें एरिडु (Eridu), एरेक (Erech), उर (Ur), लगश (Lagash), निप्पुर, (Nippur), ईशिन (Ishin), लारसा (Larsa), किश (Kish) तथा बैबिलोन (Babylon) प्रमुख थे। इनमें एरिडु, एरेक तथा उर फ़रात नदी के पश्चिम, निप्पुर, ईशिन तथा लारसा पूर्व, किश तथा बैबिलोन आसन्न पूर्व तथा लगश दोनों नदियों के मध्य स्थित थे। एरिडु, एरेक, निप्पुर की महत्ता धार्मिक दृष्टि से अधिक थी, जबकि उर, लगश, ईशिन, लारसा, किश तथा बैबिलोन धार्मिक एवं राजनीतिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं।

राजनीतिक इतिहास

सुमेरिया का राजनीतिक इतिहास मूलतः प्राक्प्रलय एवं प्रलयोत्तर दो युगों में विभाजित किया जा सकता है। इसमें प्राक्प्रलययुगीन सुमेरियन इतिहास प्रायः कल्पनाजनित है। प्राक्प्रलययुगीन सुमेरियन राज्यों में एरिडु, बैद तिबिरा (Bad Tibira), लरक (Larak), सिप्पर (Sipper) तथा शुरुप्पक (Shuruppak) नामक पाँच राज्यों का उल्लेख मिलता है। इनमें प्राचीनतम एरिडु है। शुरुप्पक को उबैद (Ubaid) काल तक प्राचीन बताया गया है। सिप्पर के विषय में अभी तक कोई निश्चित जानकारी नहीं मिल सकी है। जहाँ तक लरक का सम्बन्ध है इसका अभी तक वास्तविक तादात्म्य भी नहीं किया जा सका है। बैद तिबिरा के समीकरण के लिये मदीनेह के टीले (Tell Madineh) को प्रस्तुत किया जाता है। लेकिन दुर्भाग्य से अभी यहाँ उत्खनन नहीं सम्पन्न हुआ है। प्राक्प्रलययुगीन राजनीतिक क्रम में विकास के प्रथम चरण पर एरिडु राज्य को रखा जा सकता है। यहाँ के पौराणिक शासक एलुलिम (Alulim) तथा अललगर (Alalgar) ने परम्परया 28,800 तथा 36,000 वर्ष तक राज्य किया। इसके बाद दो राजाओं ने कुल 64,800 वर्ष तक राज्य किया। कहा जाता है इसके बाद किसी अज्ञात कारण से राजधानी बैद तिबिरा (Bad Tibira) गयी जहाँ के तीन राजाओं ने, जिसमें एक स्वयं दुमुजि देव था, 108,000 वर्ष तक राज्य किया। बैद तिबिरा के बाद क्रमशः लरक के एक शासक ने 28,800 वर्ष, सिप्पर के एक शासक ने 21,000 वर्ष तथा शुरुप्पक के एक शासक

ने 18,600 वर्ष राज्य किया। इसके बाद प्रलय का प्रकोप हुआ तथा समस्त नगर विनष्ट हो गये। एरिडु पुरावंशीय काल से ही अस्तित्व में था। उरुक काल के बाद यहाँ के विषय में कोई सूचना नहीं मिलती।

भीषण प्रलय के प्रभाव के बाद जब पुनः शान्ति स्थापित हुई तथा जन-जीवन अपने क्रमबद्ध रूप में गतिमान हुआ तो राजनीतिक शक्ति किश तथा एरेक में केन्द्रित हुई। एरेक में कुछ पौराणिक ग्रन्थों की भी रचना की गयी जिनका समय पुरावंशीय काल का है। इनमें गिल्गैमिश नामक एक शासक ने सर्वाधिक ख्याति अर्जित की। यदि पौराणिक विवरण सही है तो गिल्गैमिश तथा अग्गा (Agga) के बीच किसी प्रकार का संघर्ष भी हुआ था लेकिन, जैसा कि एक सुविदित तथ्य है कि पौराणिक विवरणों में कल्पना के सम्पुट का प्रायः आधिक्य रहता है, इनकी ऐतिहासिकता निर्विवादतः स्वीकार नहीं की जा सकती। सच तो यह है कि सुमेरियन इतिहास निर्माण के लिए हमें पुरातात्त्विक साक्ष्यों पर ही अवलम्बित होना पड़ता है। लगश में उर-नन्शे (Ur-nanshe) ने एक नूतन साम्राज्य की स्थापना की जिसकी वर्द्धमान प्रवृत्तियाँ छः शती तक निर्विघ्न क्रियाशील रहीं। लगश का ही पड़ोसी एक दूसरा राज्य उम्मा (Umma) था। इसकी स्थिति दज़ला-फ़रात को परस्पर मिलाने वाली नहर पर थी। इस नहर की प्रसिद्धि शत-एल-हई (Shatt-el-hai) नाम से थी। वास्तव में इस नहर की प्रवाह दिशा उत्तर से दक्षिण की ओर थी, अतएव उम्मा की स्थिति ऐसी थी कि वह अपनी इच्छानुसार लगश के जल को अवरुद्ध कर सकता था। यह जल-विवाद घरेलू झगड़े के रूप में ही न रह सका, बल्कि उम्मा तथा लगश के मध्य एक बड़े संघर्ष के सूत्रपात का कारण बना। एन्नतुम (Eannatum, C. 2550 B.C.) नामक नरेश के एक लेख द्वारा ज्ञात होता है कि उसने स्वयं उम्मा पर विजय प्राप्त की थी। लेकिन इससे झगड़ा समाप्त होने वाला नहीं था। लगता है यह संघर्ष और दिनों तक चलता रहा है।

एन्तेमेन (Entemena) तथा एन्नतुम दोनों शासकों के लेख पुरावंशीय काल के किश के शासक मेसिलिम (Mesilim), जो संभवतः मेस-एन-पद्द (Mes-anne-padda) ही था,[1] का उल्लेख करते हैं। मेसिलिम को न केवल उम्मा तथा लगश के बीच के सीमा-विवाद के निर्णय में सफलता मिली, बल्कि इसके साथ ही उसने दोनों के बीच सीमा-पाषाण का निर्माण करवा कर दोनों पर अधिकार भी कर लिया। उर-नन्शे के बाद लगश पर ऊरुकगिना (Urukagina, 2415-2400. C. B.C.) नामक शासक के अस्तित्व का समर्थन मिलता है। उरुकगिना द्वारा किये गये प्रशासनिक सुधारों का सुमेरियन इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसने बहुत से कर बंद किया तथा पुजारियों को कठोर

---

[1] Georges Roux, Ancient Iraq, p.131. For detail see–E. I. Gordon, Mesilim and Mes-anne-padda, are they identical ? Bulletin of the American Schools of Oriental Research, New Haven, 132, (1953) pp. 27-30

बंधनों में बाँधने का प्रयत्न किया। लेकिन उसका शासन काल कुल आठ वर्ष ही रहा। लगश के उच्च वर्गों के लिए वे सुधार सह्य नहीं थे। उन्होंने विरोध प्रारंभ कर दिया। परिस्थिति अनुकूल पाकर उम्मा के शासक लूगल-जग्गेसी (Lugal-Zaggzsi, C. 2400-2371 B.C.) ने लगश की प्रतिष्ठा धूल में मिला कर उस पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। उसके बाद उसने उरुक पर अधिकार कर लिया तथा उसका राजा बना। उत्तरी बैबिलोनिया के किश राज्य पर भी उसका प्रभुत्व स्थापित हो गया। इसके अतिरिक्त लारसा, उर तथा निप्पुर पर भी विजय प्राप्त कर, कहा जाता है कि वह भूमध्यसागर तक बढ़ा था। अपनी विजयों के परिणामस्वरूप उसने 'एरेक तथा सुमेर का राजा' विरुद धारण किया। अपनी विजय-योजना में बहुत कुछ सफल होते हुए भी अन्त में उसे शर्रु-किन (Sharru-kin, 2371-2316 B.C.) नामक एक अज्ञात कुलशील, पर प्रतिभाशाली व्यक्ति के हाथों पराजित होना पड़ा। इस शासक ने न केवल लूगल-जग्गेसी को पराजित किया, अपितु एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना भी की जो सुमेरियन इतिहास में अगेद (Agade) अथवा अक्काद (Akkad) के साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसे 'सेमाइट (Semite) साम्राज्य' के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। सेमाइट बहुत पहले से ही अक्काद में शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे थे। इनकी निजी संस्कृति समुन्नत नहीं थी, अतएव इन्होंने बहुत कुछ सुमेरियन सांस्कृतिक तत्त्वों को आत्मसात कर लिया था। लूगल-जग्गेसी के अन्त तथा शर्रु-किन की प्रभुता स्थापना से सुमेरियन इतिहास में एक नये अध्याय की शुरुआत हुई।

शर्रु-किन सुमेरियन इतिहास में सारगोन प्रथम (Sargon I) के नाम से भी प्रसिद्ध है। अपने शासन काल में इस शासक ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया उससे इसकी ख्याति दूरगामी हो गयी और सुमेरिया के इतिहास में यह विशेष प्रतिष्ठा का भागी बना। दुर्भाग्य से इस महान् सुमेरियन शासक के प्रारंभिक जीवन के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है। एक सुमेरियन गाथा में वह अपना परिचय इस प्रकार देता है—"मेरी माँ एक बदली हुई बच्ची थी, मैं पिता को नहीं जानता। मेरी माता ने मुझे गर्भ में धारण कर गुप्त रूप से प्रकट किया। मुझे घास-फूस की टोकरी में बंद कर नदी में बहा दिया गया जहाँ से अक्की (Akki) नामक एक पानी खींचने वाले व्यक्ति ने प्राप्त कर मेरा पुत्रवत् पालन-पोषण किया। उसने मुझे अपना माली नियुक्त किया। जब मैं माली था इश्टर (Ishtar) देवी ने मुझे अपना प्यार दिया ·····इसके बाद मैंने राजपद का उपभोग किया।" लेकिन इस आख्यान की अभिपुष्टि ऐतिहासिक साक्ष्यों से नहीं हो पाती। ऐतिहासिक शोधों के आधार पर इस शासक के प्रारंभिक जीवन के विषय में जो इतिहास निर्मित किया जाता है उससे प्रकट होता है कि इसका सम्बंध एक साधारण परिवार से था। इसके पिता किश के शासक के अधीन अगेद-प्रदेश के एक छोटे नगर के अधिकारी थे। सारगोन को भी कुछ समय के लिये पिता का पद प्राप्त हुआ था। बाद में इसका समस्त सुमेर तथा अक्काद पर अधिकार हो गया। प्रायः सभी नगरों में इसने राजप्रासाद तथा मंदिर बनवाया। इस तरह दोनों साक्ष्य कम से कम यह

4

बताते हैं कि सारगोन के प्रारंभिक दिन अच्छे नहीं थे। वह उत्तराधिकारी रूप में किसी राज्य का स्वामी नहीं बना था, अपितु सुमेरिया में सारगोन द्वारा स्थापित साम्राज्य उसके बल एवं बुद्धि का परिणाम था।

यदि केवल सुमेर तथा अक्काद पर ही अधिकार स्थापित कर वह सन्तुष्ट हो गया होता तो शायद इतिहास में इतने शानदार स्थान का भागी न बनता। इन दो राज्यों पर अधिकार स्थापित करने के अतिरिक्त समस्त पूर्वी सीमा को भी अपनी प्रभाव-परिधि में लाने में वह सफल हुआ। ईलम (Elem) पर आक्रमण कर वहाँ सफलता प्राप्त की तथा समस्त उत्तरी सीरिया से भूमध्यसागर तक अपना प्रभुत्व बढ़ाया। साहित्यिक विवरणों में उसे एशिया माइनर तक का स्वामी बताया गया है। साम्राज्य विस्तार के साथ-साथ उसके द्वारा किये गये प्रशासनिक सुधार भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं थे। इसके संरक्षण में मंदिर तथा राजप्रासाद निर्मित हुए तथा सुमेरियन कानूनों एवं धर्म-ग्रन्थों को संग्रहीत कर उन्हें सेमिटिक भाषा में अनूदित किया गया। लेकिन उन बहुतेरे राज्यों के समान, जिनकी जड़ें विजयों पर आधृत होती हैं, सारगोन का साम्राज्य भी क्षीणता को प्राप्त हुआ। सारगोन की मृत्यु सुमेरियन विद्रोह की पहली घंटी थी। इसके बाद उसके दोनों उत्तराधिकारी, रिमुश (Rimush) तथा मनिश्तुसु (Manishtusu) ने क्रमशः 2315 से 2307 ई० पू० एवं 2306 से 2292 ई० पू० तक राज्य किया। रिमुश के अल्पकालीन शासन में ही उसकी शक्ति को चुनौती मिली। यह चुनौती बाहर की नहीं, अपितु उसके राजदरबार की ही थी। एक बैबिलोनियन सूचना के अनुसार उसके नौकरों ने उसकी हत्या कर दी। इसके बाद उत्तराधिकार उसके जुड़वाँ भाई मनिश्तुसु को मिला। उसके शासन काल की महत्त्वपूर्ण घटनाओं में फारस की खाड़ी की ओर प्रेषित सैनिक अभियान का उल्लेख किया जा सकता है। इसके बाद उत्तराधिकार इसके पुत्र नराम-सिन (Naram-sin-2291-2255 B.C.) को मिला। इसके शासन काल में सारगोन के बाद सुमेरिया की क्षीणशक्ति पुनः वापस लायी गयी। साम्राज्य की उत्तरी और पूर्वी सीमा को आगे बढ़ाने में इस शासक ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उसके लेख स्वयं इसके प्रमाण हैं कि उसने अपनी शक्ति का विस्तार फारस की खाड़ी के पश्चिमी मुहाने पर स्थित ओमन (Oman) तक कर लिया था। उसने लुल्लुबि के शासक को पराजित किया तथा पहाड़ी पर एक चित्र उत्कीर्ण करवाया जो आज भी ध्वंसावशेष के रूप में देखा जा सकता है। एशिया माइनर के रास्ते पर इसने ब्रेक टीले (Tell Brak) में एक महल का निर्माण करवाया था। अर्मीनिया की सीमा पर स्थित दियरबेक्र (Diarbakr) नामक स्थान से उसकी समाधि पर लगने वाले खड़े बल का एक पत्थर प्राप्त हुआ है। उसके लेखों में सुमेर, किश, अक्काद उरुक तथा सिप्पर द्वारा राजद्रोह की सूचना मिलती है। इसके विपरीत पौराणिक विवरण में सारगोन के साम्राज्य के अधःपतन के लिये धार्मिक कथाएँ गढ़ी गयी हैं। इसके अनुसार इन्नना (Innana) देवी ने क्रुद्ध हो कर अगेद (Agade) त्यागने का निश्चय किया था। यह भी वर्णन मिलता है कि नराम-सिन के सैनिकों ने उसकी आज्ञा से एकुर (Ekur) के मंदिर

को लूट-पाट लिया था। यह एनलिल (Enlil) नामक देवता का विशाल मंदिर था। इसी देवता ने गूती (Guti) नामक जाति को नराम-सिन के राज्य का अन्त करने के लिये प्रोत्साहित किया था।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर नराम-सिन के बाद सुमेरियन इतिहास का जो निश्चित अथवा अनिश्चित क्रम निर्धारित होता है उसके परिप्रेक्ष्य में यही कहा जा सकता है कि सारगोन साम्राज्य का अन्त गूती नामक जाति के आक्रमण के फलस्वरूप हुआ। गूती एक खूँखार, बर्बर एवं भ्रमणशील जाति थी जिसका आगमन उत्तर से हुआ था।[1] इनका प्रभुत्व लगभग सौ वर्षों तक (2250-2150 ई० पू०) बना रहा। लेकिन केवल इनके कुछ शासकों के नाम के अतिरिक्त इस बीच की राजनीतिक घटनाओं के बारे में कोई सूचना नहीं है। सूचनाओं की इस अनुपस्थिति से यह अनुमान सरलतापूर्वक लगाया जा सकता है कि इनका उद्देश्य साम्राज्य की स्थापना और उसका विकास करना नहीं, बल्कि केवल लूट-पाट तक ही सीमित था। लेकिन इस लूट-पाट से सुमेरियनों की जो भी क्षति हुई हो इसका प्रत्यक्ष लाभ यह हुआ कि प्रत्येक राज्यों में आत्मरक्षा की प्रवृत्ति का संचार होने लगा। अन्ततः सौ वर्षों के इनके आतंकपूर्ण शासन के बाद जब सुमेरिया में शान्ति स्थापित हुई हम यहाँ लगश का नेतृत्व प्राप्त करते हैं। लगश नगर ने गुदेआ (Gudea) नामक एक बहादुर योद्धा के नेतृत्व में अपनी स्थिति बहुत कुछ मजबूत कर ली थी। इसकी प्रेरणा के फलस्वरूप यहाँ धर्म, कला, साहित्य इत्यादि की अच्छी उन्नति हुई। गुदेआ ने लगश को केन्द्र मानकर जिस साम्राज्य की स्थापना की उसे सुमेरियन इतिहास में 'लगश के द्वितीय साम्राज्य' की संज्ञा प्रदान की गयी है। गुदेआ केवल लगश से ही सन्तुष्द न रहा। उसने अपनी साम्राज्य सीमा निप्पुर तथा एरेक तक बढ़ायी। अन्शान (Anshan) के ईलमाइट नगर पर भी उसने आक्रमण किया था। उसके लेख मगन (Magan), मेलुहा (Meluhha), गूबी (Gubi) तथा दिलमुन (Dilmun) से व्यापारिक सम्बंधों की सूचना देते हैं। गुदेआ के बाद उसके पुत्र तथा पौत्रों ने शासन-सूत्र सँभाला लेकिन अधिक दिन तक नहीं। एक ओर गुदेआ का साम्राज्य क्षीणता को प्राप्त हो रहा था दूसरी ओर गूती के राज्य-काल के अन्तिम दिन आ गये थे। इसी बीच उरुक के एन्सी-उतु-हेगल (Ensi-ut-hegal) ने एक अच्छी सेना एकत्र कर ली थी। जब 2120 ई० पू० में उसने शत्रुओं का विरोध करना प्रारंभ किया, कई नगर-राज्यों ने उसकी मदद की। उसने विदेशियों के पैर उखाड़ दिये। उनके शासक तिरिकन (Tiriquan) ने भागने की कोशिश की लेकिन असफल रहा। एन्सी-उतु-हेगल भी अधिक दिन तक शासन न कर सका। उर-नम्मु (Ur-nammu) नामक इसके एक अधिकारी ने इसे भी अपदस्थ कर दिया तथा नवीन वंश की स्थापना की। सुमेरिया इतिहास में उर-नम्मु द्वारा स्थापित वंश 'उर के तृतीय राजवंश' और यह काल 'नव सुमेरियन-काल' (Neo-Sumerian

---

1. C. Harold King, A. History of Civilization, p. 51

Period) के नाम से प्रतिष्ठित है। यह साम्राज्य अक्काद के सारगोन के साम्राज्य से भी अधिक स्थायी सिद्ध हुआ। इस युग में सुमेरियान-सभ्यता उन्नति की चरम ऊँचाई प्राप्त की। इस वंश के शासकों के बारे में अपेक्षाकृत अधिक सूचनाएँ हैं। राजवंश के संस्थापक उर-नम्मु (2113-2096 ई० पू०) ने एरेक, निप्पुर, लगश, तथा उर में भव्य मंदिर बनवाया तथा चन्द्रदेव नन्न की श्रद्धा में उर में जिकुरत का निर्माण करवाया। कहा जाता है कि किसी युद्ध में इसकी मृत्यु हुई थी।

उर-नम्मु के बाद उत्तराधिकार इसके पुत्र एवं सुमेरियन इतिहास के ख्यातिनामा शासक शुल्गी (Shulgi,[1] 2095-2048 B. C.) को मिला। शुल्गी ने अपने शासन काल के सैंतालिस वर्षों में सुमेर साम्राज्य की सीमा हर प्रकार से बढ़ाने का प्रयत्न किया। प्रारंभ में उसका ध्यान निर्माण कार्यों एवं शान्ति स्थापना की ओर आकृष्ट हुआ। उसके पिता उर-नम्मु के समय में बहुत से कार्य प्रारंभ त' कर दिये गये थे लेकिन पूर्ण नहीं हो सके थे। इसके पूरा करने का उत्तरदायित्व शुल्गी के कंधों पर आया। इसने न केवल अधूरे कार्यों को पूरा किया, बल्कि अनेक नया निर्माण भी किया। राजा द्वारा नियुक्त पुरोहितों के निदेशन में मंदिरों में मूर्तियाँ स्थापित की गयीं, पंचांग में कुछ सुधार किया गया तथा भार का नया पैमाना चलाया गया। अपने शासनकाल के चौबीसवें वर्ष में इसने सामरिक अभियान प्रारंभ किया। यह दियाला (Diyala) के उत्तरी मैदानों तथा कुर्दिस्तान की पहाड़ियों की ओर किया गया। इस अभियान के वास्तविक कारण के विषय में ठीक-ठीक कहना कठिन है। उपलब्ध साक्ष्यों में केवल तिथि एवं शक्तियों का ही संकेत मिलता है। अन्य क्षेत्रों में शुल्गी ने शस्त्र-बल के विपरीत नीतिबल का ही अवलम्बन लिया। उसने अपनी पुत्रियों का विवाह बर्हशे (Barhashe) तथा अन्शान (Anshan) के राज्यपालों से सम्पन्न किया। सूसा में ईलम के राष्ट्रीय देवताओं के लिये मंदिर बनवाया।[2] इन सबके बाद उसने 'उर नरेश' 'चतुर्दिक का स्वामी' 'सुमेर और अक्काद का राजा' इत्यादि महत्त्वपूर्ण उपाधियाँ धारण कीं जिसमें अन्तिम उपाधि सर्वप्रथम इसी शासक ने धारणा की थी। साम्राज्यिक उपाधियों के साथ उसने दैवी उपाधि भी धारण की थी। इन सब कारणों से तो वह सुमेरियन इतिहास में प्रसिद्ध ही हुआ। इससे भी अधिक उसकी प्रतिष्ठा उसके द्वारा निर्मित विधि-संहिता (Code) के कारण बढ़ी। यद्यपि अब सुमेरिया में ही कुछ विधि-संहिताएँ ऐसा मिली हैं जो शुल्गी की विधि-संहिता की अपेक्षा प्राचीन हैं। ऐसी स्थिति में अब शुल्गी को प्राचीनतम विधि-संहिता के निर्माण का श्रेय नहीं दिया जा सकता लेकिन इसकी अपनी महत्ता कभी भी विस्मृत नहीं की जा सकती है। इस पर हम दो दृष्टियों से विशेष रूप से विचार कर सकते हैं। प्रथमतः सुमेरियन

---

1. The name which probably means 'strong yougman' was formerly read Dungi, Goerges Roux, Ancient Iraq p. 156
2. G. G., Cameron, History of Early Iran, pp. 48-50

संहिताओं में प्राचीनतम न होते हुए भी सर्वाधिक ज्ञात एवं महत्त्वपूर्ण यही विधि-संहिता है। द्वितीयत: बैबिलोनियन साम्राज्य के प्रसिद्ध शासक हम्मूराबी (Hammurabi) द्वारा निर्मित विधि-संहिता पर निर्विवादत: इसका प्रभाव पड़ा था।

शुल्गी की मृत्यु एक तरह से तृतीय राजवंश के अन्त की घंटी थी। इसके बाद क्रमश: अमर-सिन[1] (Amar-sin, 2047-2039 B. C.), शु-सिन (Shu-sin, 2038-2030 B. C.) तथा इब्बी-सिन (Ibbi-Sin 2029-2006 B. C.) ने राज्य किया लेकिन एक प्रकार से इन्हें असफल ही कहा जा सकता है। अन्तिम दिनों में ईलमाइट प्रभुता की वृद्धि के संकेत मिलते हैं। अन्ततः इब्बी-सिन के शासन काल के चौबीसवें वर्ष में, ईलमाइट तथा मारी (Mari) शासकों के सहयोग से उर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया तथा सुमेरिया का साम्राज्यिक गौरव समाप्त हो गया। लगभग एक हजार वर्ष तक चौतरफा अपना दब-दबा रखते हुये अन्ततः इसने अपना गौरव खो दिया। इसके बाद मेसोपोटामिया के राजनीतिक रंगमंच पर जिसकी भूमिका प्रारंभ हुई उसे बैबिलोनिया का साम्राज्य कहा गया है, जिस पर हम पृष्ठान्तर से विमर्श करेंगे। अपने एक हजार वर्ष के इतिहास में सुमेरियनों ने सुमेरिया बैबिलोन तथा फारस पर तो प्रभुता स्थापित ही किया इसके साथ-साथ सिंध तथा मिस्र तक भी उनका प्रभाव बढ़ा। इस बीच यहाँ राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में प्रगति हुई। सुमेरियन नगर-राज्य, शासन, कृत्रिम सिंचाई-व्यवस्था, व्यापार, वस्तुकला विशेषकर भवन, मंदिर, मेहराब, गुम्बद, लेखन-कला, साहित्य इत्यादि का प्रभाव मेसोपोटामिया की अनुवर्तिनी संस्कृतियों पर अविस्मरणीय रूप से पड़ा।

राजनीतिक संगठन

सुमेरियन नगर-राज्यों में राजनीतिक एकता का सर्वथा अभाव था। यदि थोड़ी देर के लिये इसका अस्तित्व स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी यह मानना पड़ेगा कि यह एकता केवल सैनिक उद्देश्यों के लिये ही क्रियाशील थी। प्रत्येक नगर राज्य एक प्रधान नगर तथा कृषि-योग्य भूमि से सुसज्जित रहता था। कभी-कभी नगर के अधिशासन में दो-तीन कस्बे या गाँव भी रहते थे। सुमेरियन राजनीतिक गठन में अत्यन्त प्राचीन काल से दो सदनों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। इसमें एक जन-सभा (Popular Assembly) थी जिसमें प्राय: सभी वयस्क सदस्य होते थे। दूसरी सभा कुछ अनुभवी व्यक्तियों की बनाई जाती थी जिसे वृद्धों की सभा (Council of Elders) कह सकते है। इन सदनों की कार्य-पद्धति क्या थी निश्चित ज्ञात नहीं है। केवल अभिलेखों तथा आख्यानों में इनकी उपस्थिति की सूचनाएँ मिलती हैं।[2] यदि सुमेरियन

---

[1] The name formerly read Bur-sin

[2] Ancient Mesopotamia—Socio-Economic History, A Collection of Studies by Soviet Scholars, p. 183

राजनीतिक गठन में प्रजातंत्र के स्वरूप का उद्भव और विकास इतिहास के उषाकाल में हो चुका था तो हम कह सकते हैं कि प्रजातंत्र के वास्तविक विकास का श्रेय सुमेरियनों को है। पच्चीस सौ वर्ष बाद जिस गौरव का जामा यूनान ने पहना क्या इस मान्यता से वह हतप्रभ नहीं होगा ?

लेकिन सुमेरिया का यह प्रारंभिक प्रजातंत्र दुर्भाग्य से अधिक दिन तक जीवित न रहा। शीघ्र ही यह उनके राजनीतिक गठन के रंगमंच से अदृश्य हो जाता है और यहाँ राजतंत्रात्मक व्यवस्था प्रारंभ होती है। इस व्यवस्था-परिवर्तन के जो भी अन्य कारण रहे हों लेकिन इस स्थल पर कम से कम एक का उल्लेख आवश्यक है। हम जानते हैं कि सुमेरिया का ही नहीं, अपितु समग्र मेसोपोटामिया का इतिहास अविछिन्न रूप से बाह्याक्रमणकारियों से प्रभावित रहा है। अति प्राचीन काल में, जबकि अभी राजनीतिक संगठन की जड़ें जम ही रहीं थीं, आकस्मिक संकटों के समय कर्त्तव्याकर्त्तव्य पर विचार करने के लिये सदनों की परामर्श शीघ्रता से लेना कठिन हो जाता था। इसलिये इस अधिकार से सम्पन्न एक सर्वोच्च पदाधिकारी की नियुक्ति की जाने लगी जिसे पटेशी या लूगल कहा जाता था। ये दोनों उपाधियाँ भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त की जाती थीं।

सुमेरियन राजनीतिक संगठन के अन्तर्गत पटेशी एवं लूगल के कर्त्तव्यों एवं अधिकारों के विवेचन के पूर्व इनके शासन-संगठन की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं की चर्चा आवश्यक है। राजनीतिक एकता का अभाव सुमेरियन राजनीतिक संगठन की प्रथम विशेषता है। हाँ, प्राकृतिक समरूपता के कारण आर्थिक एकता अवश्य थी। शासन-संगठन की दूसरी विशेषता के रूप में इस पर धर्म के प्रभाव का उल्लेख किया जा सकता है। परस्पर पृथक् सुमेरियन राज्यों का शासन-तंत्र धर्म से प्रभावित था। सुमेरियन धर्म का मर्मज्ञ और धार्मिक अनुष्ठानों का कर्ताधर्ता शासक स्वयं था। इसी कारण उसे पटेशी उपाधि प्रदान की गई थी। पटेशी नगर-राज्य का पुरोहित तथा शासक दोनों था। इस तरह उसके व्यक्तित्त्व में धर्म एवं राज्य दोनों का समाहार था। याज्ञिक क्रियाएँ और आन्तरिक व्यवस्थाएँ दोनों उसी की देख-रेख में सम्पन्न होती थीं। बाह्याक्रमण से रक्षा भी उसी के द्वारा होती थी। युद्ध में सेना का संचालन पटेशी करता था और वही नगर-सेना का सेनापति था। न्याय-व्यवस्था का समस्त उत्तरदायित्व पटेशी पर ही था। इस तरह नगर-राज्य के न्यायाधीश रूप में भी वह प्रतिष्ठित था। नगर-राज्य के देवालय का उपयोग न्यायिक कार्य सम्पन्न करने तथा उसके आवास के रूप में किया जाता था। पटेशी का पद वंशानुगत था। जैसा कि कहा गया है सुमेरियन राजनीतिक संगठन में यहाँ के शासक 'पटेशी' के अतिरिक्त 'लूगल' उपाधि भी धारण करते थे। प्रश्न है कि यह उपाधि किन अर्थों में पटेशी से भिन्न थी। इस सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य उल्लेखनीय हैं। लूगल का शाब्दिक अर्थ है। महान् आदमी इस तरह पटेशी की अपेक्षा लूगल बड़ी उपाधि थी। पटेशी यदि नगर का शासक था तो लूगल राज्य का। तात्पर्य यह कि एक की शक्ति संकुचित थी,

जबकि दूसरे की विस्तृत । वास्तव में लूगल उपाधि धारण करने का अधिकारी वही व्यक्ति था जो कई नगर-राज्यों को जीतकर अपने अधीन एक विशाल राज्य स्थापित करता था । हम जानते हैं कि लगश के एक शासक जग्गेसी ने यह उपाधि धारण की थी । इसी कारण सुमेरियन इतिहास में उसे लूगल-जग्गेसी नाम से ख्याति मिली थी । पटेशी और लूगल के अन्तर को दूसरी तरह भी स्पष्ट किया जा सकता है । वास्तव में पटेशी राजनीतिक विशृंखलता का द्योतक है, जबकि लूगल राजनीतिक एकता का । विजित नगर-राज्यों में लूगल के विश्वसनीय सैनिक पदाधिकारी के रूप में नियुक्त किये जाते थे । प्रारम्भ में लूगल का पद स्थायी नहीं था । संकट का समय समाप्त हो जाने पर पुनः शक्ति जनसभा को मिल जाती थी लेकिन धीरे-धीरे जब नगरों की संख्या पर्याप्त बढ़ गई तो कुछ नगरों में यह पद स्थायी हो गया । इस समय मंदिरों के प्रधान पुरोहितों को भी आगे राजनीति में बढ़ने का अवसर मिला और वे भी राजनीतिक नेता बन बैठे । लेकिन ऐसे नेताओं ने न तो पटेशी की उपाधि धारण किया न लूगल की, अपितु एन्सी (Ensi) की नई उपाधि धारण किया । लूगल तथा एन्सी दोनों पद वंशानुगत नहीं थे । इनकी नियुक्ति जनसभा अथवा देवता द्वारा की जाती थी । इससे प्रकट होता है कि यहाँ राजा की स्थिति सदैव अस्थिर ही बनी रही ।

प्रारम्भ में तो निस्संदेह यह व्यवस्था आदर्श थी, पर बाद में इसमें अनेक दोष आ गये । इसमें सर्वाधिक भूमिका एन्सियों ने अदा की । राज्य की अधिकांश भूमि को वे अपनी सम्पत्ति समझने लगे तथा नगर के अन्य मंदिरों में अपने सम्बन्धियों को नियुक्त करने लगे । नगर में वाद के निर्णय के शुल्क तथा अन्य करों में भी वृद्धि कर दी गई । वे राजकीय सैनिक शक्ति का उपयोग भी अब करने लगे । नगर की सभाएँ अस्तित्वहीन होने लगीं । लगश के उर-कगिना ने इस दिशा में कुछ सुधार करने की चेष्टा की लेकिन उम्मा के शासक लूगल-जग्गेसी के हाथों मुँह की खानी पड़ी । वास्तव में इस समय सुमेर की आन्तरिक स्थिति ऐसी थी जिसमें राजनीतिक एकता की स्थापना वे आवश्यक समझ रहे थे । उनका दृढ़ विश्वास था कि यदि वे ऐसा नहीं करेंगे तो उत्तर, पश्चिम तथा पूर्व के आक्रमणों को रोक सकने में समर्थ नहीं होंगे । एन्सियों को और आगे बढ़ने का अवसर मिला । अभी तक वे देवता के प्रतिनिधि माने जाते थे लेकिन अब उसके अवतार माने जाने लगे । अब उनकी मूर्तिपूजा होने लगी तथा उनको अशुभ शक्तियों से बचाने के लिये बड़े-बड़े अनुष्ठान किये जाने लगे । इस प्रकार का दैवी सम्मान सर्वप्रथम सारगोन तथा नरामि-सिन ने प्राप्त किया । शुल्गी भी अपने को देवता कहता था ।

सारगोन तथा उसके उत्तराधिकारियों ने देश में राजनीतिक एकता स्थापित करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयास किया लेकिन सुमेर के निवासी उन्हें विदेशी ही मानते थे, इसलिये उन्हें अपने समर्थकों का एक दल भी बनाना पड़ा । ये विभिन्न नगरों के गवर्नर होते थे जो 'राजा का दास' उपाधि धारण करते थे । न्यायालय में राजा के नाम पर शपथ चलाई गई तथा सर्वत्र एक पंचांग का प्रचलन किया गया । लेकिन इनका

यह प्रयास विशेष सफल नहीं कहा जा सकता। सांस्कृतिक दृष्टि से एक होते हुए भी सुमेरिया में राजनीतिक एकता न स्थापित हो सकी। प्रादेशिक स्वतन्त्रता की भावना यहाँ इतनी अधिक थी कि अवसर मिलते ही केन्द्रीय शक्ति के विरुद्ध विद्रोह हो जाते थे। ऐसे संकट में इसके चारों ओर विद्यमान अर्द्धसभ्य जातियाँ भी अवसर से नहीं चूकती थीं। सुमेर के साम्राज्य के अन्त का कारण भी यही था।

विधि-संहिता

सुमेरियन प्रशासन बहुत कुछ इनके विधान पर अवलम्बित था। ये विधान एक प्रकार से सुमेरिया में प्रचलित कानून थे। इन कानूनों के विकास में स्थानीय परम्पराओं के घटन एवं संग्रंथन का विशेष योगदान था। दूसरे शब्दों में इन कानूनों के संकलन और संग्रंथन में स्थानीय रीति-रिवाजों एवं आचार-विचारों आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान था। समय के प्रवाह के साथ आगे चल कर सुमेरिया के शानदार शासक शुल्गी ने इन कानूनों को संहत और संकलित रूप दिया। दुर्भाग्य से इन कानूनों का मूल रूप अब उपलब्ध नहीं है। इसी कारण इनकी व्यापकता, अव्यापकता एवं प्रकृति के बारे में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में यह महत्त्वपूर्ण है कि बैबिलोन के शासक हम्मूराबी ने इन्हें यत्र-तत्र अपने विधान-संकलन में प्रयुक्त किया था। यह सौभाग्य की बात है कि हम्मूराबी के कानून आज भी प्रस्तर-खण्ड पर उत्कीर्ण अपने मूलरूप में देखे जा सकते हैं। इसके आधार पर हम शुल्गी के कानून के स्वरूप का अंकन कर सकते हैं। संग्रहीत और संकलित होने के कारण ही शुल्गी तथा हम्मूराबी के कानून-संग्रह को विधि-संहिता की संज्ञा प्रदान की जाती है। इन्हें वर्तमान पारिभाषिक शब्दावली में कोड (Code) भी कहा जाता है। इन दोनों विधान-संहिताओं की विशेषता इनकी ग्रहणशीलता में है जिसके कारण इनका अनुसरण उन सभी संस्कृतियों में किया गया जिनके लिये ये सुग्राह्य हो सकीं। इन संस्कृतियों में सेमिटिक सभ्यताएँ, उदाहरणार्थ बैबिलोनियन, असीरियन, कैल्डियन तथा हिब्रू विशेषतः उल्लेखनीय हैं। यदि शुल्गी की विधि-संहिता के विविध पहलुओं का अध्ययन किया जाय तो इसकी कतिपय महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हमारे सामने उपस्थित होती हैं। इनका संकेत निम्न प्रकार किया जा सकता है :—

1. शुल्गी की विधि-संहिता की प्रथम विशेषता के रूप में इसमें निहित प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त (Law of retaliation) का उल्लेख किया जा सकता है। इस संहिता के अनुसार हानिग्रस्त व्यक्ति हानिकर्ता को उसी अनुपात में हानि पहुँचाने का न्यायतः अधिकारी था। दूसरे शब्दों में यदि कोई व्यक्ति किसी को आँख फोड़ देता था तो अपराधी की भी आँख फोड़ दी जाती थी। इसी प्रकार दाँत तोड़ने पर दाँत तोड़ देने का विधान था।
2. शुल्गी की विधि-संहिता की द्वितीय विशेषता के रूप में इसकी अर्द्ध वैयक्तिक न्याय-व्यवस्था का उल्लेख किया जा सकता है। यह हानिग्रस्त व्यक्ति अथवा उसके परिवार के कर्त्तव्य क्षेत्र के अन्तर्गत था कि वह अपराधी को न्यायालय के सम्मुख उप-

स्थित करे। वस्तुतः न्यायालय का कर्त्तव्य वादी तथा प्रतिवादी के बीच मध्यस्थता करना था। राज्य की ओर से शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना के लिए वे तनिक भी जिम्मेदार नहीं थे। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि न्यायालय अपराधी के दण्ड कार्यान्वियन में अभियोक्ता की कोई सहायता ही नहीं करता था। न्यायालयों से सम्बद्ध दीवान (Constable) इस कार्य में सहायता करते थे।

3. कानून में भेद-भाव की उपस्थिति शुल्गी के कानून की तृतीय विशेषता थी। इस विधि-संहिता के अनुसार सुमेरियन समाज कुलीन, सर्वसाधारण एवं दास तीन वर्गों में विभाजित था। प्रश्न है, यह वर्ग-विभाजन शुल्गी की विधि-संहिता को कहाँ तक प्रभावित किया अथवा दूसरे शब्दों में शुल्गी ने अपने कानूनों के निर्माण में विभिन्न वर्गों को एक ही दृष्टि से आँका या भिन्न दृष्टि से अर्थात् क्या इस संहिता में सभी वर्गों को बराबर अधिकार मिले थे या कम अधिक? यह भी विचारणीय है कि क्या शुल्गी ने दण्ड-निर्धारण के समय सभी वर्गों के लिये एक ही विधान लागू किया? लेकिन इन सभी प्रश्नों का केवल यही उत्तर है कि शुल्गी ने इस दिशा में पक्षपात का अवलम्बन लिया था। इसका कारण जो भी रहा हो लेकिन दण्ड के निर्धारण के समय अभियोक्ता तथा अभियुक्त के स्तर का बराबर ध्यान रखा जाता था। एक ओर कुलीन वर्ग के सदस्यों की हत्या को सर्वसाधारण वर्ग के सदस्य की हत्या की अपेक्षा गम्भीर अपराध माना जाता था तो दूसरी ओर कुलीन वर्ग का अपराधी सर्वसाधारण वर्ग के अपराधी की अपेक्षा अधिक दण्डनीय था। इस व्यवस्था का मूल उद्देश्य सैनिक अनुशासन को बनाये रखना था। इस संगठन में सैनिक अधिकारी के रूप में कुलीन वर्ग के सदस्य ही कार्य करते थे। उनसे अपराध की संभावनाओं को दूर रखने के लिये ही इस प्रकार के नियम बनाये गये थे। इससे एक ओर कुलीन वर्ग पर कड़ी निगरानी रहती थी, दूसरी ओर अनुशासन भी बना रहता था। उनसे आशा की जाती थी कि कुप्रवृत्तियों के वशीभूत वे कोई ऐसा आचरण न करें जिसका परिणाम ध्वंसात्मक सिद्ध हो सके।

4. आकस्मिक एवं आकांक्षिक हत्या में पर्याप्त अन्तर के अभाव को इस संहिता की चौथी विशेषता के रूप में उल्लिखित किया जा सकता है। इस विधि-संहिता में सभी हत्याएँ बराबर थीं। आकस्मिक हत्या में भी अपराधी दण्ड से बच नहीं पाता था। ऐसे अवसर पर मृत व्यक्ति के परिवार को अभियुक्त की ओर से अर्थ-दण्ड दिया जाता था। इस प्रकार की व्यवस्था जिसमें अर्थ-दण्ड का विधान हो, का विकास किन कारणों से, इस अपराध के सम्बन्ध में किया गया था, निश्चित ज्ञात नहीं है लेकिन इसके मूल में पारिवारिक समन्वय एवं संतुलन की भावना ही मानी जा सकती है जिसमें बालक पिता तथा पत्नी पति की सम्पत्ति है।

न्याय एवं दण्ड-विधान

समस्त सुमेरियन न्याय तथा दण्ड-व्यवस्था उपर्युक्त विधि-संहिता पर अवलम्बित थी। न्याय-व्यवस्था मन्दिरों से सम्बद्ध थी और पुजारी न्यायाधीश का कार्य करते थे। पंच की व्यवस्था भी थी। जहाँ न्यायालय में जाने के पूर्व शान्तिपूर्ण ढंग से

प्रत्येक वाद के समाधान का यत्न किया जाता था। कुछ नगरों में न्याय से सम्बन्धित अधिकार नगर-सभाओं को भी प्राप्त हुए थे। किसी भी वाद के निर्णय देने के लिए प्राचीन वाद एवं निर्णयों को नज़ीर रूप में उपस्थित किया जाता था जैसे आज होता है। किसी भी प्रकार के अधिवक्ता के अस्तित्व नहीं मिलते। वादी तथा प्रतिवादी दोनों स्वयं अपनी-अपनी बात न्यायालय के समक्ष उपस्थित करते थे।

उपर्युक्त न्याय-पद्धति में यहाँ के अपराधी को न्यायालय द्वारा जो दण्ड प्रदान किया जाता था उसका स्वरूप परवर्ती दण्ड-व्यवस्था की अपेक्षा सरल था। दूसरे शब्दों में सुमेरियन दण्ड-व्यवस्था में उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया गया था। इसे कुछ दण्डों के परिप्रेक्ष्य में भली-भाँति समझा जा सकता है। व्यभिचार के अपराध में भी स्त्री का तलाक सम्भव नहीं था। ऐसी स्त्री का पति केवल पुनर्विवाह कर इसे दासी के रूप में रख सकता था। भागे हुए दास को शरण देने पर शरण देने वाले को केवल कुछ जुर्माना देना पड़ता था। स्वामी का अधिकार न मानने पर दास को बेच दिया जाता था। हम्मूराबी की विधि-संहिता में इन अपराधों के लिये कठोर-दण्ड की व्यवस्था थी।

सैन्य-संगठन

प्राचीन विश्व इतिहास में सुमेरियनों ने सर्वप्रथम युद्ध-कर्म को एक कला के रूप में प्रतिष्ठित किया।[1] इनके संघर्ष प्रायः पड़ोसी नगर-राज्यों से नगर-राज्य की भूमि तथा मार्गों के अधिग्रहण अथवा उपभोग के प्रश्न को लेकर होते थे। यहाँ लड़ने योग्य निवासियों या सैनिकों का विवरण मन्दिर के पुजारियों के पास रहता था। यही शान्ति काल में मन्दिरों में श्रमिक रूप में कार्य करते थे और संकट के समय सैनिक रूप में योद्धा का। इनका नेतृत्व पटेशी करता था। अनुशासन की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व था। इनकी सेनाएँ भाला, बर्छी, परशु आदि से सुसज्जित युद्ध-स्थल में उतरती थीं और भेड़ों की तरह नहीं, अपितु पंक्तिबद्ध लड़ती थीं। इस प्रकार के अनुशासन की तलाश हम सुमेरिया की समकालीन मिस्री सभ्यता में करते हैं, लेकिन व्यर्थ। रक्षा के लिये शिरस्त्राण तथा कवच धारण करते थे जिनका निर्माण चमड़े तथा ताँबे की सहायता से किया जाता था। शिरस्त्राण के लिये धातु के प्रयोग का यह प्रथम उदाहरण है। युद्ध में चार पहिये वाले रथ का प्रयोग करते थे लेकिन उसमें अश्व के स्थान पर गधे जोते जाते थे। सुमेरियन धनुष-बाण का प्रयोग नहीं करते थे। इसे सबसे पहले उन्होंने अक्कादी सेमाइटों से सीखा था। नराम-सिन के चित्रों में उसे धनुष-बाण से सुसज्जित प्रदर्शित किया गया है। धनुष-बाण के प्रयोग से सुमेरियन सैनिक अत्यधिक शक्तिशाली हो गये। युद्ध का मूलोद्देश्य लूट-मार तथा दूसरे के माल को अपने कब्जे में करना था। युद्ध में पराजित लोगों को दास बना कर बेच दिया जाता था। यदि उन्हें यह मालूम हो जाता था कि दास के रूप में उनकी कोई उपयोगिता नहीं है तो रण-क्षेत्र में ही उनकी इह लीला समाप्त कर दी जाती थी। कभी-कभी बन्दियों का 1/10 भाग बलि के रूप में देवता को अर्पित कर दिया जाता था।

---

[1] W. N. Weech, History of the World, p. 55

सामाजिक संगठन

शुल्गी की विधि-संहिता के अनुसार सुमेरिया का समाज कुलीन, सर्वसाधारण एवं दास तीन वर्गों में विभाजित था। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत राजपुरुष, पुरोहित तथा अन्य उच्च अधिकारी सम्मिलित थे। सर्वसाधारण वर्ग का गठन मध्यम श्रेणी द्वारा किया गया था। इसमें स्वतन्त्र नागरिक उदाहरणार्थ कृषक, व्यापारी, शिल्पी आदि सम्मिलित प्रतीत होते हैं। तृतीय वर्ग दासों का था। वर्ग विभाजन की सक्रियता दण्ड के निर्धारण में विशेष रूप से देखी जा सकती है। ऐसे समय सामाजिक स्तर का विशेष ध्यान रखना पड़ता था।

सुमेरियन सामाजिक गठन में स्त्रियों की स्थिति अच्छी थी। यद्यपि विधानतः पुरुष स्त्री को बेचने अथवा बन्धक रख सकने का अधिकारी थ लेकिन व्यावहारतः इसे कम क्रियान्वित किया जाता था। स्त्रियों को यहाँ कुछ विशेष अधिकार मिले थे। दहेज में पिता द्वारा प्राप्त सम्पत्ति की वह अधिकारिणी थी। उस सम्पत्ति का व्यय उसकी इच्छानुसार ही किया जाता था। पति तथा वयस्क पुत्र के अभाव में स्त्री ही पारिवारिक सम्पत्ति की देख-रेख करती थी। पति से अलग व्यापार करने तथा दासी रखने की उन्हें पूरी स्वतन्त्रता मिली थी। इसी प्रकार सन्तान पर भी दोनों का समानाधिकार था। लेकिन इन अधिकारों के साथ-साथ उनके उत्तरदायित्व भी अधिक थे। माता के रूप में उनसे बहुसन्तति वाली होने की आशा की जाती थी और निःसन्तान होने पर उन्हें त्याग दिया जाता था। प्रत्येक मन्दिर में कुछ ऐसी स्त्रियाँ रखी जाती थीं जो या तो मन्दिरों में कार्य करती थीं या देवता की सेविका रूप में जीवनयापन करती थी। सुमेरियन इसे अपमानजनक नहीं मानते थे। प्रत्येक ऐसी कन्या, जिसकी सेवाएँ देवता के लिये अर्पित हो जाती थी, का पिता गर्व का अनुभव करता था। सुमेरियन स्त्रियों से नैतिकतापूर्ण जीवन व्यतीत करने की भी आशा की जाती थी। पुरुष तो किसी प्रकार अनैतिक आचरणों से क्षमा भी पा जाता था लेकिन स्त्रियों को क्षमा नहीं किया जाता था। समाधियों से जो अवशेष मिले हैं उससे पता लगता हैं कि यहाँ उच्च वर्ग की महिलाएँ विलासपूर्ण एवं सुखी जीवन-यापन करती थीं। इन अवशेषों में अलंकरण एवं प्रसाधन सम्बन्धित उपकरणों की प्रचुरता है। इनमें विशेष रूप से नखकर्तनी, भौंहों के बाल ठीक करने वाली कैंची, लाली लगाने वाले चम्मच की पहचान आसानी से की जा सकती है। विल ड्युरैण्ट के शब्दों में स्त्रियों के अलंकरण एवं प्रसाधन की दृष्टि से अब तक कोई विशेष अन्तर नहीं हुआ है।[1]

आर्थिक संगठन

सुमेरियन आर्थिक संगठन की विधायक एवं प्रेरणात्मक शक्तियाँ तीन

---

[1] Will Durant, Story of Civilization (Hindi), p. 127

थीं। इनमें सर्वप्रथम भूमि की उर्वरता का उल्लेख किया जा सकता है। दजला-फ़रात के तटीय प्रदेश तथा अन्तवर्ती भू-क्षेत्र अत्यन्त उर्वर थे क्योंकि शरद्‌कालीन वर्षा के फलस्वरूप नदियों में आने वाली बाढ़ से प्रतिवर्ष यह भू-भाग नवीन रूप धारण कर लेता था। इसी सुविधा के फलस्वरूप नव पाषाण काल से ही यह भू-क्षेत्र कृषकों के लिये आकर्षण का केन्द्र बना। जिस विस्तृत क्षेत्र को उर्वरता के कारण उर्वर अर्द्धचन्द्र (Fertile Crescent) की संज्ञा मिली थी, उसका एक महत्त्वपूर्ण अंग इन्हीं दोनों नदियों के मध्य भाग में स्थित था। उर्वरता की दृष्टि से दजला-फ़रात नदियों का वही महत्त्व था जो मिस्र में नील नदी का। स्वेन के मतानुसार मेसोपोटामिया के निवासी दजला-फ़रात पर उसी प्रकार आश्रित थे जैसे मिस्रवासी नील नदी पर।[1] कहने का तात्पर्य यह कि यदि मिस्र नील नदी का वरदान था तो निश्चित ही मेसोपोटामिया दजला-फ़रात का।[2] दोनों नदियाँ एक ओर भूमि की उर्वरता के निर्माण में सहयोग करती थीं तो दूसरी ओर इन्हीं के जल द्वारा नहरों की सहायता से सिंचाई भी की जाती थी। यहाँ नहरों का जाल बिछा था। सुमेरियन आर्थिक संगठन की दूसरी विधायक शक्ति व्यापारिक सुविधा थी। दोनों नदियों ने यातायात के लिये समुचित साधन उपस्थित कर दिया था जिससे सुमेरियन व्यापारी अपने माल का निर्यात तथा बाहरी माल का आयात सुगमतापूर्वक कर लेते थे। व्यापार में समुद्र की निकटता एवं उसके सम्बन्ध का लाभ उन्हें मिला। सुमेरियावासियों ने फारस की खाड़ी से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। व्यापारिक उन्नति बहुत कुछ नगरों पर निर्भर करती है। इसे सुयोग ही कहा जा सकता है कि यहाँ अनेक नगर उपस्थित थे। कृषि तथा व्यापारिक सुविधा के अतिरिक्त सुमेरियन आर्थिक संगठन की तृतीय विधायक एवं प्रेरणात्मक शक्ति के रूप में इनकी लिपि कला का उल्लेख किया जा सकता है। इसके सम्बन्ध में सविस्तर हम अन्यत्र विमर्श करेंगे यहाँ केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि व्यापारिक कार्यों में हिसाब-किताब के लिये इसकी अत्यधिक आवश्यकता थी, अतः सुमेरिया में इसका आविष्कार प्रारंभिक काल से ही हो गया था। इसका व्यापार एवं वाणिज्य में पर्याप्त उपयोग किया, गया, परिणामतः इसका समुचित विकास हुआ। इन विधायक एवं प्रेरणात्मक शक्तियों के फलस्वरूप सुमेरिया का आर्थिक संगठन खूब फूला-फला। कृषिकर्म, उद्योग-धन्धे, व्यापार-वाणिज्य आदि अत्यधिक विकसित हुये।

कृषि-कर्म

सुमेरियन आर्थिक संगठन मूलतः कृषिपरक कहा जा सकता है। भूमि की उर्वरता, सिंचाई की सुविधा तथा सुमेरियनों के कठोर परिश्रम के फलस्वरूप यहाँ खेतों का जाल-सा बिछ गया था। कृषि में सर्वाधिक उपादेय यन्त्र हल था। इसी उपयोगिता

---

1. J. E. Swain, A History of World Civilization, p. 60
2. Georges Roux, Ancient Iraq, p. 20

के परिप्रेक्ष्य में इतिहासकार एच० एस० लूकस इसे हल-प्रधान संस्कृति मानते हैं।[1] हल बैलों की सहायता से खीचे जाते थे। भूमि के स्वामी नगर-राज्यों के शासक पुरोहित अथवा सैनिक पदाधिकारी थे। लेकिन इनके आवास नगर थे, अतएव कृषि लगानधारी काश्तकारों या दासों द्वारा की जाती थी। मुख्यतः गेहूँ और खजूर की खेती होती थी। बहुत से मन्दिरों के पास फलों के बाग थे। अन्न का उत्पादन गाँवों में होता था और नगर-निवासी उसे विभिन्न तरीकों से प्राप्त कर उपभोग करते थे। इसकी कम से कम तीन विधियाँ थीं। पहली विधि में गाँव वाले अनाज उत्पन्न कर नगर भेजते थे तथा नगर से आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करते थे। यह एक प्रकार की वस्तु-विनिमय विधि थी। इसका प्रचलन नगर के व्यापारियों में था। दूसरी विधि करों (Taxes) की थी। इस विधि द्वारा शासक कर के रूप में गाँव से अनाज प्राप्त करता था। इसके बदले वह उनकी सुरक्षा का ध्यान रखता था और आक्रमणकारियों से रक्षा करता था। इस व्यवस्था के संचालन के लिये सैनिक शक्ति का अवलम्बन भी लिया जाता था। तृतोय विधि धर्म-सम्पृक्त थी। नगर-शासक शासक के साथ-साथ पुरोहित भी थे। वे अच्छी फसल प्राप्त करने के लिये देवकृपा को आवश्यक मानते थे। इसे यज्ञानुष्ठानों द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता था। सत्यता तो यह है कि यहाँ की पूरी कृषि-व्यवस्था पुरोहितों के हाथों नियंत्रित थी। वे समाज के सर्वाधिक शिक्षित व्यक्ति थे अतएव अनपढ़ ग्रामीणों को जब चाहते थे अपनी बुद्धिकौशल से अपने अनुरूप मोड़ लेते थे। इस तरह मुख्य पुरोहित होने के नाते नगर का सर्वाधिक धनी व्यक्ति वही माना जाता था। इसे हम धर्म प्रभावित पूँजीवादी-व्यवस्था की संज्ञा दे सकते हैं।

पशु-पालन

कृषि के साथ-साथ सुमेरियन आर्थिक संगठन में पशु-पालन का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। उनकी एक देवी गाय के रूप में प्रतिष्ठित थी। उसकी कल्पना उन्होंने पशु-जगत् की संरक्षिका के रूप में की थी। गाय के अतिरिक्त बकरी एवं भेंड़े भी पाली जाती थीं। मन्दिरों से सम्बद्ध पशुओं की संख्या पर्याप्त थी। इनके रहने के लिये बाड़े की व्यवस्था रहती थी। दुग्ध-उद्योग भी प्रचलित था जिसके प्रमाण उर के समीप स्थित एक मन्दिर के चित्र में मिले हैं। बैल तथा गदहे क्रमशः हल एवं गाड़ी खींचने में प्रयुक्त किये जाते थे।

उद्योग-धन्धे

निस्सन्देह सुमेरियन आर्थिक संगठन कृषि एवं पशु-पालन पर निर्भर था लेकिन उद्योग-धन्धों की दृष्टि से वे बहुत पीछे नहीं थे। मन्दिरों में रहने वाले विविध वर्ग के लोग आवश्यक वस्तुएँ बनाते और उनका उपयोग करते थे। उपयोग से जो वस्तुएँ बचती थीं उसे बाहर भेजते थे। सुमेरियन उद्योग-धन्धे

---

[1] Henry S. Lucas, A Short History of Civilization, p. 67

वैशिष्ट्यात्मक थे। अर्थात् यहाँ विविध उद्योग-धन्धों में लगे समूह अलग-अलग थे। इसमें लगे समूह केवल उत्पादन करते थे, जबकि इसका व्यापार दूसरे वर्ग द्वारा सम्पन्न किया जाता था। दोनों नदियों द्वारा निर्मित भू-क्षेत्र, जिसे उर्वर अर्द्धचन्द्र के भू-भाग होने का श्रेय मिला था, खनिज की दृष्टि से निर्धन था। अतएव आवश्यकता की वस्तुएँ बाहर से मँगानी पड़ती थीं। उद्योग-धन्धों में धातु उद्योग, वस्त्रोद्योग तथा रथ उद्योग प्रचलित थे। प्राचीन काल से ही यहाँ धातु की सहायता से विविध उपकरण बनाये जाते थे। ताँबे को पीट कर तथा साँचे में ढाल कर मूर्तियाँ, अस्त्र-शस्त्र तथा अन्यान्य उपकरण बनाते थे। ताँबा और टिन मिला कर काँसा बनाना भी वे जान गये थे। ताम्र के अतिरिक्त अन्य जिन धातुओं से उनका परिचय था उसमें सुवर्ण, रजत एवं शीशे का उल्लेख किया जा सकता है। धातु उद्योग के बाद इनका वस्त्रोद्योग प्रतिष्ठित था। पशुओं द्वारा उन्हें प्रचुर मात्रा में ऊन प्राप्त हो जाता था, अतएव इसकी सहायता से वे प्राचीन काल से ही वस्त्र-निर्माण करने लगे थे। बुनाई का कार्य शासक द्वारा नियुक्त निरीक्षकों के निरीक्षण में सम्पन्न किया जाता था। इसका स्वरूप लगभग वही था जो शासकीय नियन्त्रण में सम्पन्न किये जाने वाले उद्योगों का आज है। रथ-निर्माण उद्योग भी यहाँ खूब प्रचलित था। इनमें लकड़ी के चक्र लगाये जाते थे जिन पर ताँबे के हाल अथवा चमड़े के टायर चढ़े होते थे जैसा आज भी किया जाता है। किश से कुछ पहिये वाली गाड़ियों के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। ये इतिहास की सबसे पुरानी गाड़ियाँ हैं।

व्यापार एवं वाणिज्य

व्यापार के प्रायः सभी सामान्य नियम यहाँ प्रचलित थे। पावना-पत्र (Bill), रसीद (Reciept), नोट (Notes), जमापत्र आदि का प्रयोग वे करते थे। लिखित अनुबन्धों की साक्षियों द्वारा अभिपुष्टि आवश्यक थी। इनकी अच्छी बाजारें देवालयों के सन्निकट स्थित थीं जहाँ आवश्यकता की सभी वस्तुएँ मिल जाती थीं। खजूर, अनाज, अस्त्र-शस्त्र, आभूषण तथा ऊनी वस्त्र के कारण सुमेरियनों का विदेशी व्यापार अधिक बढ़ा था। ये वस्तुएँ बाहर भेजी जाती थीं और मन्दिरों में काम आने वाली वस्तुओं का विदेशों से आयात किया जाता था। वस्तुतः दैनिक जीवन की अधिकांश वस्तुएँ सुमेरियावासी स्वयं उत्पन्न करते थे, इसलिए आयात की जाने वाली वस्तुओं में अधिकता विलासिता की वस्तुओं की ही थी। चूंकि सुमेरिया खनिज की दृष्टि से समृद्ध नहीं था, अतएव इमारती लकड़ी, शीशा, काँसा, ताँबा, सोना तथा चाँदी का भी आयात करना पड़ता था। फारस की खाड़ी में स्थित ओमन नामक प्रदेश से ताँबे का आयात करते थे। चाँदी तोरुस के पर्वतीय प्रदेश से मँगायी जाती थी। एशिया माइनर से टिन मँगाया जाता था। विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध बनाये रखने के लिये व्यापारी पर्यटक प्रतिनिधियों को मालों के साथ भेजते थे। इन प्रतिनिधियों के साथ-साथ विक्रेता कर्मचारी भी नियुक्त किये जाते थे। जिन्हें लाभांश

का उचित भाग मिलता था। व्यापारी इन कर्मचारियों से बराबर लेखा-जोखा लिया करते थे। इसके लिये विशेष नियम बने थे जिसके उल्लंघन पर कठोर दण्ड की व्यवस्था थी।

प्रारम्भ में सुमेरिया में व्यापार वस्तु-विनिमय द्वारा सम्पन्न किया जाता था लेकिन सारगोन युग में इस दिशा में विशेष प्रगति हुई। इस युग में धातु को विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयुक्त किया गया। यद्यपि इस कार्य में सोने तथा चाँदी दोनों का व्यवहार किया जाता था लेकिन परवर्ती की प्रचुरता के कारण इसका प्रयोग अधिक किया गया। इसके निश्चित भार के टुकड़े इस कार्य में प्रयुक्त किये जाते थे। इनका भार एक शेकेल (Shekel) था। इसे हम एक प्रकार से तौल तथा मुद्रा का अविकसित तथा पूर्व रूप मान सकते हैं। इसके तौल होने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। उदाहरणार्थ, अब्रहाम ने एक गुहा खरीदने के लिये तौल में चार सौ शेकेल चाँदी दी थी। अनुमान किया जाता है कि फारस की मुद्रा सिग्लोई का मूलस्रोत सुमेरिया का शेकेल ही था। अभी तक मुद्रा का आविष्कार नहीं किया गया था।[1] ऋण-प्रथा प्रचलित थी। उधार पर पन्द्रह से तैंतीस प्रतिशत तक ब्याज लिया जाता था। विल ड्युरैण्ट के अनुसार ब्याज की दर के आधार पर यदि किसी समाज की स्थिरता का अनुमान लगाया जा सकता है तो हम कह सकते हैं कि सुमेरिया के व्यापारी एक अनिश्चित एवं संदेहास्पद आर्थिक और राजनीतिक वातावरण में रहते थे। निकट तथा दूर देशों से सुमेरिया के व्यापारी स्थल, समुद्र तथा नदी, तीनों मार्गों से व्यापार सम्पादित करते थे। इनके व्यापारिक सम्बन्ध मिस्र, सिन्धुघाटी[2] तथा एशिया माइनर से तो थे ही साथ ही उन दुर्गम एवं सामुद्रिक प्रदेशों से, जो अन्यथा विश्रुत नहीं थे, उद्योग-धन्धों में प्रयुक्त किये जाने वाले खनिजों का आयात किया जाता था।

धर्म

सुमेरियन धर्म के विविध तत्त्वों की समीक्षा करने से ज्ञात होता है कि यद्यपि यह धर्म उदात्त एवं उन्नतिशील नहीं था तथापि सुमेरियन जन-जीवन तथा आचार-विचार में इसने महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया था।

बहुदेववाद

अन्य प्राचीन धर्मों की भाँति यहाँ भी बहुदेववाद का प्रचलन था। सुमेरियावासी अनेक देवी-देवताओं के अस्तित्व एवं उपासना में विश्वास करते थे। प्रत्येक नगर और राज्य यहाँ तक कि मानव जीवन के प्रत्येक कार्य के निमित्त उन्होंने देवता की कल्पना की थी। इन देवताओं में सूर्य देव शमश (Shamash), वृष्टि और वायुदेव एनलिल (Enlil) तथा प्रकृति देवी इश्टर का स्थान प्रमुख था। इनके अतिरिक्त एनकी (Enki), पृथ्वी देवी निन्माह (Ninmah) तथा प्रेम-देवी इनन्ना (Inanna) का भी उल्लेख किया जा सकता है। शमश की उपासना सुमेरिया में

---

1. Albert A. Traver, History of Ancient Civilization, vol. 1, p. 25
2. W. N. Weech, History of the World, p. 55

प्राचीन काल से ही प्रचलित थी। शमश देवताओं के प्रकाश रूप में प्रतिष्ठित थे। प्रातःकाल एक ज्योतिर्मय रथ पर आरूढ़ होकर उदित होते थे और रात्रि में उत्तर दिशा में विश्राम करते थे। वायुदेव एनलिल को अभिलेखों में देवपिता तथा पृथ्वी और आकाश का स्वामी कहा गया है। सुमेर के सभी शासक मानते थे कि उन्हें राज्य इसी देव की कृपा से मिला है। सृष्टि-व्यवस्था के लिये इसी देवता को जिम्मेदार बताया गया था। जलदेव एनकी, एनलिल के निर्णयों को, जिसे वह किसी नगर के नष्ट-भ्रष्ट करने के लिये लेता था, क्रियान्वित करने के अतिरिक्त नदी, नहर तथा सिंचाई के अन्य साधनों को नियंत्रित करने तथा उत्पादक शक्तियों के सृजन जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य भी सम्पन्न करते थे। पृथ्वी देवी निन्माह भी यहाँ कम प्रतिष्ठित नहीं थी। इसे भाग्य-विधात्री अथवा राजारानी का दर्जा मिला था। कहीं-कहीं इसे दुग्ध-पान कराती हुई माता के रूप में चित्रित किया गया है।

देवताओं में मानवीकरण की प्रवृत्ति

सुमेरियन धर्म के अन्तर्गत देवताओं की कल्पना मनुष्य रूप में की गयी थी। प्रत्येक देवता को निश्चित आकार प्रदान किया गया था। स्वरूप के अनुसार उनके देवता मानवीय आवश्यकताओं एवं गुणों की परिधि के अन्तर्गत ही थे। वे मनुष्यों के समान ही भोजन, विवाह तथा सन्तान सृष्टि करते थे। अर्थात् वे मानवीय दुर्बलताओं से ऊपर नहीं थे। लेकिन इतना होते हुए भी उनमें कुछ मानवेतर गुणों की कल्पना की गयी थी। इस प्रसङ्ग में देवताओं की अमरता का उल्लेख किया जा सकता है। मनुष्य एवं देवता में यही अन्तर था कि देवता अमर्त्य थे, जबकि मनुष्य मर्त्य। शक्ति में भी देवता से मनुष्य दुर्बल था। मनुष्य की शक्ति नगर-निर्माण तक ही सीमित थी, जबकि देवता सृष्टि के निर्माता थे।

द्वैतवाद का अभाव

सुमेरियन धर्म एक तरह से द्वैतवाद से विरत था। वास्तव में जिन देवताओं की कल्पना उन्होंने की थी उनमें प्रत्येक में सत् एवं असत् प्रवृत्तियाँ तो थीं लेकिन इस सम्बन्ध में स्मरणीय है कि सत् प्रवृत्तियाँ ही अधिक सक्रिय थीं असत् प्रवृत्तियों का केवल परिकल्पन किया गया था। वास्तव में असत् प्रवृत्तियाँ सत् प्रवृत्तियों के वशीभूत थीं। उनके द्वारा अधिशासन नहीं हो सकता था। इसी कारण यद्यपि उन्होंने नर्गल (Nergal) नामक एक महामारी के देवता में रौद्र गुण की कल्पना की थी लेकिन व्यवहार में इसका स्थान प्रायः नगण्य ही रहा। ऐसी स्थिति में यही कहा जा सकता है कि यहाँ द्वैतवाद का प्रचलन नहीं था।

देवताओं के द्विविध स्वरूप का परिकल्पन

सुमेरियन कभी-कभी एक ही देवता में द्विविध रूपों का सन्निधान मानते थे।

उदाहरणार्थ, सूर्य देव शमश की किरणों में यदि एक ओर मृदुता का समावेश था तो दूसरी ओर रौद्रता का। एक ओर यदि उन किरणों में मानव जीवन में प्रीति संचार करने की शक्ति थी तो दूसरी ओर वे सृष्टि को पल भर में विनष्ट करने में भी समर्थ थीं।

नैतिकता एवं आध्यात्मिकता का अभाव

सुमेरियन धर्म के सम्यक् अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें नैतिक एवं आध्यात्मिक पक्ष का पूर्णतया अभाव था। सुमेरियन देवताओं में मानवोचित दुर्बलताओं के साथ-साथ कतिपय मानवेतर गुणों की कल्पना अवश्य की गयी लेकिन उनके स्वरूप तथा प्रकार में किसी ऐसे तत्त्व का सन्निधान नहीं किया गया था जिसका सम्बंध आध्यात्मिक जगत् से हो। इसमें संदेह नहीं है कि सुमेरियन देवता प्रार्थना के पात्र तथा वरदान के साधन थे लेकिन प्रार्थना का उद्देश्य आत्मशान्ति, आत्मा की एकता और आत्मा का उत्थान नहीं था। इसका उद्देश्य केवल लौकिक इच्छाओं की पूर्ति जैसे अन्न में वृद्धि तथा वाणिज्य में लाभ प्राप्त करना था। कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें ऐसी कोई प्रार्थना एवं उपासना नहीं थी जिसका सम्बन्ध नैतिकता अथवा सदाचारिता से जोड़ा जा सके। सत्यता तो यह है कि अध्यात्म पक्ष की भाँति इसमें नैतिक पक्ष का भी पूर्णतया अभाव था। सुमेरियन देवता मनुष्य से क्रुद्ध हो सकता था लेकिन इसके परिणामस्वरूप वह उसे दण्ड नहीं दे सकता था। मनुष्य निस्संदेह देवता के प्रति श्रद्धालु था, उसकी श्रद्धा विनय और प्रीति से सम्पृक्त थी लेकिन इसमें सदाचार के लिए कोई स्थान नहीं था। इस अर्थ में अपने समकालीन मिस्री धर्म से यह धर्म बहुत पीछे था।

लौकिक धर्म

सुमेरियन धर्म पूर्णतया लौकिक धर्म था। इसमें लोकान्तर के लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं था। यदि किसी लोकान्तर की कल्पना की भी गयी थी तो उसे अस्थायी ही माना जा सकता है। मृतात्मा को एक ऐसे लोक में जाना पड़ता था जिसे शियोल (Sheol) नाम दिया गया था। इस स्थान का स्वरूप कुछ वैसा ही था जैसा हमारे यहाँ नरक का। सुमेरियन मान्यता के अनुसार प्रेतात्माएँ अल्प काल के लिए इस लोक में प्रकट होकर फिर अदृश्य हो जाती थीं। लोकोत्तर जीवन के प्रति उनकी अन्यमनस्कता का अनुमान हम उनकी सरल दाह-विधि के आधार पर भी लगा सकते हैं। सुमेरियन अपने मृतकों को दफ़नाने के लिये किसी विशेष प्रकार के संस्कार अथवा विधि का अवलम्बन नहीं लेते थे। उन्हें अपने घर के भीतर ही दफ़ना देते थे। उनके साथ दैनिक उपयोग की वस्तुएँ भी रख दी जाती थीं। स्यात् उनका विश्वास था कि मृतक उन वस्तुओं का उपभोग करता है। ऐसे अवसर पर किसी प्रकार के धार्मिक संस्कार अथवा अनुष्ठान का सम्पादन नहीं किया जाता था। कुछ समाधियों से मृतकों के साथ दफ़नाये गये दासों एवं परिचरों के प्रमाण भो संग्रहीत किये गये हैं। इससे यह सरलतापूर्वक अनुमान लगाया जा सकता है कि यहाँ नर-बलि का भी प्रचलन

था लेकिन निस्संदेह यह प्रथा केवल शासकीय मृतक संस्कार के सम्बंध में ही प्रचलित थी, इसका आम प्रचलन नहीं था।[1] इस सम्बंध में स्मरणीय है कि हमारे यहाँ भी पुरुष-मेध के प्रमाण उपलब्ध हैं[2] पर इनके सम्बन्ध में भी यह प्रस्तावित किया जाता है कि इनका आम प्रचलन नहीं था बल्कि विशिष्ट अवसरों पर ही इसे सम्पन्न किया जाता था।[3]

आख्यान प्राचुर्य

आख्यानों की प्रचुरता सुमेरियन धर्म की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इन आख्यानों में सृष्टि एवं प्रलय सम्बन्धित आख्यान विशेष प्रसिद्ध हैं। सृष्टि सम्बन्धित आख्यान में मार्दुक एवं अन्य देवताओं के बीच संघर्ष वर्णित है। हमारे वृष्टि एवं युद्ध देव इन्द्र की भाँति मार्दुक भी सुमेरिया के युद्ध देव थे। जिस दैवी संघर्ष का वर्णन इस आख्यान में मिलता है उसमें अंतिम विजय मार्दुक की होती है। इसके अनुसार सृष्टि का निर्माण मार्दुक द्वारा मारे गये एक देवता द्वारा हुआ था। मनुष्य मिट्टी तथा दानव के रक्त के मिश्रण से बना है। सम्यक् रूप से देखने से ऐसा लगता है कि इस आख्यान में प्राचीनता का पुट अधिक है, जबकि नैतिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वों का सर्वथा अभाव है। प्रलय सम्वंधित आख्यान भी बर्बरता एवं प्राचीनता से ओत-प्रोत है। एक समय देवता मनुष्य से क्रुद्ध होकर समस्त सृष्टि के विनाश के लिये उद्यत हो गये। सर्वत्र जल-प्लावन हो गया लेकिन एनकी देव ने एक व्यक्ति को नाव द्वारा सुरक्षा का उपाय बता दिया था। सात दिन तक जल-प्लावन चलता रहा लेकिन सुरक्षा के उक्त उपाय से वह सुरक्षित बच गया। उसने देवता को हवि प्रदान की। परिणामस्वरूप उसे दैवी जीवन तथा जहाँ सूर्य उदित होता है, वहाँ स्थान मिला। जल-प्लावन की स्थिति में देवताओं को अपना भोज्य पदार्थ नहीं मिल पाता था, इसलिये भविष्य में उन्होंने कभी ऐसा न करने का निर्णय लिया। सुमेरियन प्रलयाख्यान के संदर्भ में यह महत्त्वपूर्ण है कि यद्यपि इसमें प्राचीनता और बर्बरता का पुट है लेकिन इसकी अपनी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्ता कम नहीं है। सुमेरियन धर्म में इस आख्यान का आरोपण कब और किन परिस्थितियों में संभव हुआ निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हो सका है। फिर भी इस सम्बंध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्राचीन संस्कृतियों में सुमेरिया में इस कथा का सृजन बहुत पहले हो चुका था। बाद में अन्य धार्मिक आख्यानों में भी इसे प्रतिष्ठित किया गया। दैशिक एवं प्रादेशिक विशिष्ट परिस्थितियों के कारण कथा के स्वरूप एवं प्रकार में भी परिवर्तन होता गया। हिब्रू संस्कृति में प्रचलित

---

1. W. N. Weech, History of the World, p. 55
2. G. R. Sharma, Excavation at Kaushambi
3. M. P. Lakhera, Srautviniyoga of the Mantras of the Rigveda Sanhita an unpublished thesis, Sanskrit Deptt. Allahabad University

जल-वृद्धि के आख्यान को जिसका वर्णन ओल्ड टेस्टामेण्ट में मिलता है, सुमेरियन आख्यान का ऋणी माना जा सकता है। यद्यपि प्रो० एच० डब्ल्यू ० एफ० सैग्स के मतानुसार इस पर बैबिलोनियन आख्यान का प्रभाव है। इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि संभव है यह आख्यान सुमेरिया से बैबिलोनिया में गया हो और बाद में कैल्डिया में इसका प्रचलन हुआ हो। भारतीय वाङ्मय में वैदिक एवं पौराणिक ग्रंथों में इसके वर्णन देखे जा सकते हैं।[1] प्रश्न है भारतीय आख्यान सुमेरिया का ऋणी है अथवा सुमेरियन आख्यान भारत का। इसके उत्तर में निश्चित और विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिलते हैं। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि जल-प्लावन की कथा अति प्राचीन है जिसका परम्परा एवं परिवेश तथा धारणा एवं विश्वास के अनुसार विश्व के विभिन्न धर्म-ग्रंथों में स्थान बनता गया।

कला

कला के क्षेत्र में सुमेरियन विश्व की अन्य प्राचीन संस्कृतियों और विशेषकर अपनी समकालीन नील घाटी की संस्कृति के समान सफलताएँ न अर्जित कर सके तथापि इस क्षेत्र में उनके योगदानों को विस्मृत नहीं किया जा सकता। वास्तुकला, मूर्तिकला, मुद्रा एवं अलंकरणोपकरणों के निर्माण में उनकी कलात्मक प्रतिभा एवं अभिरुचि के दर्शन किये जा सकते हैं।

वास्तुकला

वास्तुकला में सुमेरियनों ने कोई महत्त्वपूर्ण सफलता नहीं प्राप्त की। इस दिशा में उनकी प्रगति प्रायः मन्द ही रही। इसका मूल कारण यह था कि उन्हें इसके लिये उपादेय एवं आवश्यक उपकरण अपने परिवेश में सुलभ नहीं थे। दजला-फ़रात की घाटी में प्रस्तर खंडों की अलभ्यता के कारण भवनों में धूप में सूखी ईंटों का प्रयोग करना पड़ता था। सामान्य नागरिकों की भवन-योजना सरल थी। इनके बीच में एक बड़े कमरे का निर्माण किया जाता था। इसी के माध्यम से अन्य कमरों में जाते थे। अभ्यन्तर कक्ष को धूप से सब तरह से बचाने का प्रयत्न किया जाता था। बाद में इसमें एक खुले प्रांगण का प्राविधान भी कर दिया गया। शाही परिवार के भवन ऊँचे स्थलों पर बनाये जाते थे। यह ऊँचाई धरातल से कभी-कभी बारह-तेरह मीटर तक भी हो जाती थी। इनमें प्रवेश करने के लिये एक मार्ग बनाया जाता था। इस तरह प्रत्येक सुमेरियन शाही परिवार का भवन एक किले के समान लगता था। अन्दर की दीवालों पर पलस्तर (Plaster) किया जाता था। भवन-योजना में वातायन का कोई स्थान नहीं था पर जल-निकास की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था।

भवन-निर्माण में स्तम्भों एवं मेहराबों का प्रयोग मिलता है। निप्पुर से लगभग तीन हजार ई० पू० की मेहराबें मिली हैं। उर की समाधियों

---

[1] विस्तार के लिये द्रष्टव्य—डॉ० एस० एन० राय, पौराणिक धर्म एवं समाज तथा ए० ए० मैक्डानेल, वैदिक माइथोलाजी

में तो शायद इसका प्रयोग और पहले किया गया था। एशनुन्ना से उत्खनित एक स्थानीय शासक के भवन की नाली में मेहराबों का प्रयोग किया गया है। सुमेरियन वास्तुकला के अन्तर्गत मन्दिरों का निर्माण भी किया गया। ये एक प्रकार से प्राचीर से परिवेष्ठित भवन-समूह थे। इसमें मन्दिर के साथ-साथ भण्डार-गृह, कार्यालय इत्यादि बने होते थे। इनमें सर्वश्रेष्ठ भवन जिकुरत (Ziqqurat) नाम से प्रसिद्ध था। इसे ही जिगुरत (Ziggurat) भी कहा गया है। सुमेरियन भाषा में यह शब्द (Ziqqurat) पर्वत-निवास के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता था। कुछ विद्वानों की धारणा है कि सुमेरियावासियों ने इसलिये इतने ऊँचे भवन बनाये क्योंकि मूलतः वे पर्वतीय प्रदेश के निवासी थे। उदात्त-निर्माण-शैली तथा सांस्कृतिक प्रभाव की दृष्टि से इसे महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। लेकिन अभाग्यवश जिकुरत के अवशिष्टांश बहुत कम उपलब्ध हुए हैं, अतएव इनके स्वरूप एवं निर्माण शैली के बारे में निश्चिततः ज्ञात नहीं हो सका है। इस सम्बन्ध में विविध साक्ष्यों से कुछ जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया है। इस दृष्टि से दो साक्ष्य विशेष रूप से उपादेय सिद्ध हुए हैं। उत्तर बैबिलोनियन युग के एक कीलाक्षर लेख में बैबिलोन के जिकुरत का उल्लेख मिलता है। इसे बाइबिल[1] में 'टावर ऑव बेबल' (Tower of Babel) नाम से उल्लिखित किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रो० वुलि के नेतृत्व में किये गये उर के उत्खनन द्वारा भी जिकुरत के कुछ अवशिष्ट भाग प्राप्त हुए हैं। इनके आधार पर इसका अनुमानित आकार-प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। साक्ष्यों के आलोक में जिकुरत एक ऐसा अट्टालक माना जा सकता है जिसके मूल में एक प्रशस्तवेदिका निर्मित की जाती थी और ऊपरी भाग को मन्दिर का आकार दिया जाता था। निप्पुर में बने एनलिल के जिकुरत का बाहरी भाग पक्की इंटों द्वारा बनाया गया था। जिकुरत के अग्रभाग में तीन सीढ़ियाँ बनायी जाती थीं जो भवन की आधी ऊँचाई पर जाकर मिल जाती थीं। ऐसा भी लगता है कि कुछ जिकुरतों में कई समतल छज्जे बनाये जाते थे। निर्माण शैली की दृष्टि से इनकी जो भी महत्ता हो, इनकी सांस्कृतिक महत्ता इस दृष्टि से अधिक है कि आगे चल कर अन्य सेमिटिक सभ्यताओं में भी इस प्रकार के धार्मिक भवनों का निर्माण किया गया। सुमेरियन वास्तुकला के प्राप्त अवशेष इसके साक्षी हैं कि सुमेरियन वास्तु-विशेषज्ञों ने मौलिकता एवं परम्परा दोनों को मान्यता प्रदान की लेकिन प्रथम की अपेक्षा द्वितीय को अधिक महत्ता मिली थी। इसे वास्तुकला की उस शैली में प्रश्रय मिला जिसका सम्बन्ध सार्वजनिक भवनों से था। इसके विपरीत ऐसी वास्तुकृतियों में, जिनका सम्बन्ध समाज से न होकर व्यक्ति से था, उदाहरणार्थ, शासकीय समाधियाँ अथवा सर्वसाधारण के भवन, सुमेरियन वास्तु शिल्पियों की मौलिक कलात्मक प्रवृत्ति का उद्दाम परिचय मिलता है। सत्यता तो यह है कि मेसोपोटामिया संस्कृति में तोरण, बुर्ज तथा गुम्बद सुमेरियन शिल्पी की ही देन हैं।

---

[1] Genesis XI, 4

मूर्तिकला

वास्तुकला की अपेक्षा मूर्तिकला में सुमेरियावासी कुछ अधिक बढ़े हुए प्रतीत होते हैं। इनके कुछ आकर्षक उदाहरण उर की समाधियों से संग्रहीत किये गये हैं। इस दृष्टि से एक मन्दिर के समक्ष चबूतरे पर रखी एक वृषभ की मूर्ति, उसी के समीप द्वार पर रखी एक सिंहमुखी चील की मूर्ति, जिसे हिरण के एक जोड़े पर पंख फैलाये हुये प्रदर्शित किया गया है, दुग्ध-उद्योग के चित्र, उरध्वज, इयन्नातुम का गृध्र-पाषाण तथा नराम-सिन-पाषाण का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। इनमें उरध्वज का स्थान सर्वोपरि है। इस उद्भृत-चित्र में सुमेरियन कलाकारों द्वारा उर के एक शासक को विजयोपरान्त रथारूढ़ वापस होते हुए दिखाया गया है। शत्रु सैनिक बन्दी बना कर खींचे या रथों के नीचे रौंदे जा रहे हैं। उर के सैनिक पंक्तिबद्ध चल रहे हैं। दूसरे दृश्य में विजयोत्सव के उपलक्ष्य में आयोजित भोज में आनन्द मनाते हुए सुमेरियन शासक प्रदर्शित है। सभी राजपुरुष कुर्सियों पर बैठे हैं। उनके हाथ प्यालों से सुशोभित हैं। इस सब कार्य के लिये नीलम, शंख और गुलाबी चूना-पत्थर का प्रयोग किया गया है। मोजैक के सभी अवशिष्ट खण्ड यहाँ मूल रूप में परिरक्षित हैं। लेकिन जिन लकड़ियों पर इन्हें जड़ा गया था जब वे मिट्टी बन गयीं तो वे कुछ अव्यवस्थित हो गये। तृतीय सहस्राब्दी ई०पू० की आरम्भिक शताब्दियों में सुमेरियन जन-जीवन का इतना सजीव चित्रण अन्यत्र नहीं मिलता।[1] इयन्नातुम का गृध्र-पाषाण भी सुमेरियन कला का अच्छा उदाहरण है। यह लगश के शासक इयन्नातुम की विजयों के उपलक्ष्य में उत्कीर्ण किया गया था। इसमें शासक को गर्दभचालित रथ पर आरुढ़ दिखाया गया है। मृत-शत्रु सैनिकों द्वारा कुचले जा रहे हैं। सैनिक शिरस्त्राण धारण किये हुए हैं। एक स्थल पर एक देवता को लगश का राजचिह्न धारण किये हुए प्रदर्शित किया गया है। इस उद्भृत में वह दृश्य विशेष महत्त्वपूर्ण है जिसमें गृध्र मृत-शत्रुशरीर का भक्षण कर रहे हैं। सम्भवतः इस प्रस्तर-चित्र के 'गृध्र-पाषाण' नाम का यही औचित्य भी है। नराम-सिन का विजय-स्तम्भ भी तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० के उद्भृत चित्रों में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसमें नराम-सिन की लुल्लुबी के शासक की पराजय का अंकन किया गया है। धनुष-बाण से सुसज्जित नराम-सिन पर्वत के ढाल पर चढ़ते हुए प्रदर्शित है। उसके संमुख पराजित शासक आहत गिरा है तथा गर्दन में चुभे बाण को निकालने का प्रयत्न कर रहा है। शासक के पीछे एक मनुष्य का चित्र है जिसकी भावभंगिमा से ऐसा प्रतीत होता है कि वह त्राणयाचना कर रहा है। नराम-सिन के पीछे उसके सैनिक धनुष-बाण, भाले तथा ध्वज के साथ चढ़ते हुए दिखाये गये हैं। ऊपर की ओर मार्तण्ड एवं नक्षत्र प्रकाशमान हैं। सामूहिक रूप से इस रिलीफ चित्र में हमें सुमेरियन मूर्तिकला का अविकसित रूप दिखायी पड़ता है। उपर्युक्त साक्ष्यों के आलोक में हम कह सकते हैं कि शिल्पगत वैशिष्ट्य से वंचित होते हुए भी सुमेरियन कलाकृतियों में रूप एवं गति के

---

[1] Leonard Woolley, History Unearthed, Hindi Version, p. 72

अंकन का सफल प्रयत्न किया गया था जिसको देखने से ऐसा लगता है कि अविकसित सुमेरियन कला विकास की ओर बढ़ रही थी।

अन्य कलाएँ

वास्तु एवं मूर्तिकला के अतिरिक्त सुमेरियनों ने कला के जिन अन्य क्षेत्रों में प्रगति की थी उस दृष्टि से भाण्ड-निर्माण, आभूषण-निर्माण, मुद्रा-निर्माण तथा स्वर्ण-कला का विशेषरूप से उल्लेख किया जा सकता है। सुमेरियन बर्तनों के जो अवशेष मिले हैं वे साधारण कोटि के हैं। इनका निर्माण कुम्भकार द्वारा चाक की सहायता से किया गया प्रतीत होता है। सम्भवत: हमें उनके सिलखड़ी के बर्तनों की भाँति सुन्दर बर्तनों के अवशेष नहीं मिले हैं क्योंकि समय के प्रवाह के साथ वे नष्ट हो गये। भाण्ड-निर्माण की अपेक्षा स्वर्ण-कला में सुमेरियन कलाकारों ने अच्छी प्रगति की थी। स्वर्ण की सहायता से स्वर्णकारों ने आभूषण, भाण्ड तथा अस्त्र-शस्त्र निर्मित किया। उर से ऐसी बहुत-सी स्वर्ण-कलाकृतियाँ प्राप्त हुई हैं। एक समाधि से स्वर्ण निर्मित एक राजमुकुट मिला है जिस पर उच्चकोटि की कला प्रदर्शित है। अन्यत्र राजकुमार के कमर में लटके हुए एक स्वर्ण निर्मित खड्ग का भी महत्त्वपूर्ण प्रदर्शन है। उसी के समीप स्वर्ण-निर्मित कुछ पात्र रखे हैं। लगश से प्राप्त एक चाँदी के पात्र पर अच्छी पच्चीकारी की गयी है। वस्तुत: सोने का इतना अच्छा काम कहीं कभी नहीं किया गया जितना सुमेरियावासियों ने सत्ताईस सौ ई० पू० में किया था।[1] सुमेरियन व्यापारियों को हिसाब-किताब रखने के लिये व्यक्तिगत मुद्रा की आवश्यकता पड़ती थी। इस कार्य के लिये हस्ताक्षर का बड़ा महत्त्व था। लेकिन मृद्पत्रों पर हाथ से हस्ताक्षर करने से बचने के लिये सुमेरियावासियों ने मुद्रा का प्रयोग किया। पत्थर को तराश कर वे अपनी व्यक्तिगत मुद्रा (Seal) बनाते थे और मिट्टी की पाटियों पर इसे ही अंकित कर देते थे। इनका आकार-प्रकार सदैव एक-सा न रहा। पहले वे वर्गाकार, गोल तथा अण्डाकार बनायी जाती थीं लेकिन बाद में बेलनाकार बनायी जाने लगीं। इसी तरह मुद्राओं पर प्रारम्भ में किसी पशु का चित्र बना दिया जाता था लेकिन बाद में सम्बन्धित व्यक्ति के अभिधान के साथ-साथ पौराणिक आख्यान के चित्र भी उत्कीर्ण किये जाने लगे। इनके निर्माण में श्वेत कैल्सिडनी, गहरे लाल जैस्पर इत्यादि कीमती पत्थर प्रयुक्त किये जाते थे।

बौद्धिक उपलब्धियाँ

लिपि

सुमेरियन बौद्धिक उपलब्धियों के अन्तर्गत सर्वप्रथम इनकी लिपि का उल्लेख आवश्यक है। एक ओर व्यापार में अभिरुचि के कारण दूसरी ओर मन्दिरों के आय-व्यय के विवरण सुरक्षित रखने के लिए इन्हें लिपि की आवश्यकता पड़ी। आरम्भ में

---

[1] Leonard Woolley, History Unearthed, Hindi Version, p. 70

इन्होंने मिट्टी की पाटियों पर मन्दिरों में विद्यमान पशुओं एवं वस्तुओं की संख्या को रेखाओं के माध्यम से अभिव्यक्त करना प्रारम्भ किया। इसी के साथ-साथ वस्तुओं एवं पशुओं में भेद प्रदर्शित करने के लिए उन वस्तुओं एवं पशुओं के चित्र भी बनाये जाने लगे जिनसे सम्बन्धित संख्या वे उत्कीर्ण करना चाहते थे। सुमेर के एक प्राचीन नगर से प्राप्त प्राचीनतम लेखों पर इसी पद्धति से चित्र एवं उनकी अभीष्ट संख्याएँ उत्कीर्ण हैं। यही सुमेरियन सभ्यता की आदि लिपि है। लेकिन इसके प्रयोग में अनेक कठिनाइयाँ थीं। धीरे-धीरे चित्रों को संक्षिप्त एवं सरल रूप दिया जाने लगा। परिणामतः चित्र इतने संक्षिप्त एवं सरल हो गये कि मूलवस्तु से उनका सम्बन्ध स्थापित करना कठिन हो गया लेकिन अर्थ-विशेष में रूढ़ होने के कारण उनके भाव समझ लिये जाते थे।

आगे चल कर चित्रलिपि में अनेक कठिनाइयाँ पैदा हुईं। जैसे सिर का भाव व्यक्त करने के लिए सिर का चित्र तो बना लिया जाता था लेकिन इससे मुँह का भाव व्यक्त करना कठिन था। उन्होंने इस कठिनाई को समझकर वस्तुचित्रों में साधारण परिवर्तन कर दिया। इस परिवर्तन से भावचित्रों का विकास हुआ। अभी तक सिर तथा मुँह में चित्रों की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं था। पर अब मुँह को सिर से पृथक् करने के लिए सिर के चित्र में ठोढ़ी के नीचे एक छोटी रेखा खींच दी जाने लगी। एक दूसरी विधि में दो चित्रों को मिलाकर अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति की गई। इस प्रकार भावचित्रों के विकास द्वारा सुमेरियनों ने लिपि की कुछ कठिनाइयाँ हल कर लीं। लेकिन अभी भी कुछ कार्य शेष था। क्योंकि इन चित्रों से अमूर्त विचारों की अभिव्यक्ति कठिन थी। इतना ही नहीं कभी-कभी शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध का संकेत भी कठिन हो जाता था। इसके लिये इन्होंने एक चित्र को कई अर्थों में स्वीकार किया। जैसे हल के चित्र से हल तथा कृषक दोनों का बोध हो जाता था। लेकिन अभी समस्या का पूर्णतया समाधान नहीं हो सका था। तीन हजार ई० पू० के आस-पास यहाँ वस्तुचित्रों को ध्वनिबोधक मान लिया गया। अब इनका प्रयोग ध्वनिसंकेतों के लिए किया जाने लगा। इन ध्वनिचित्रों के अविष्कार से अब शब्दांश या अक्षरसूचक लिपि (Syllabic Script) का विकास सरल हो गया। इसमें किसी एक शब्द में प्रयुक्त होने वाली ध्वनियों के लिये उसके बोधक चित्र बना दिये जाते थे। उदाहरणार्थ, यदि हस्तिन् का चित्र हस्तिन् के लिए प्रयुक्त किया जाय तो यह वस्तुचित्र लिपि है लेकिन यदि हस्तिन् चित्र की ध्वनि हस्तिन् को हस्तिनापुर शब्द के लिये प्रयुक्त किया जाय तो यह शब्दांश या अक्षरसूचक लिपि है।

सुमेरियन लिपिकारों ने संकेत चिह्नों का प्रयोग भी किया। उदाहरणार्थ, 'ती' चित्र या शब्द के बाण और जीवन दोनों अर्थ थे। अतः 'ती' के साथ 'गीश' चित्र या शब्द अङ्कित कर इससे बाण का आशय ग्रहण किया गया क्योंकि 'गीश' काष्ठ का बोधक था। इस तरह सुमेरियन चित्रलिपि वस्तुचित्र लिपि, भावचित्र लिपि, ध्वनिलिपि, शब्दांश लिपि तथा संकेतसूचक लिपियों के रूप में विकसित हुई। इसमें प्रारंभ में

चित्रों की संख्या दो हजार तक थी। तीन हजार ई० पू० तक यह संख्या घटा कर आठ सौ और पच्चीस सौ ई० पू० तक छः सौ कर दी गयी। सुमेरियन कभी भी वर्ण-माला का विकास न कर सके।

सुमेरियन अपनी लिपि का प्रयोग मिट्टी की गीली पाटियों पर करते थे। इन पाटियों पर शलाका (Stylus) की सहायता से चित्र उत्कीर्ण किये जाते थे। बाद में इन्हें सुखा कर अग्नि में पका लिया जाता था। बाहर भेजने के लिये गीला ही इसे किसी गीले लिफाफे में डाल देते थे। पाटी को लिफाफे से अलग रखने के लिये दोनों के बीच में चूर्ण डाल दिया जाता था और उसे सुखाने के बाद पका कर बाहर भेजते थे। केवल स्मारक लेखों को छोड़कर, जिनके लिये प्रस्तर अथवा धातु-पत्रों का उपयोग किया जाता था, शेष लेख इन्हीं मिट्टी की पाटियों पर लिखे जाते थे। पहले तो शलाका की नोक काफी तेज रहती थी पर बाद में उसे मोटा कर दिया गया। चित्रों को लिखते समय शलाका का प्रयोग खरोंच कर नहीं, बल्कि मिट्टी में दबाकर किया जाता था। जब एक चित्र समाप्त हो जाता था तो दूसरा चित्र बनाने के लिये शलाका को एक जगह से हटा कर दूसरी जगह रखते थे। शलाका की नोक के झुके होने के कारण एक किनारे की अपेक्षा दूसरा चौड़ा हो जाता था। इस प्रकार फन्नी (Wedge) के समान आकृति बन जाती थी। इस प्रकार की आकृति के लिये लैटिन भाषा में क्युनियस (Cuneus) शब्द है। इसी लिये सुमेरियन लिपि को कीलाक्षर लिपि (Cuneiform Script) भी कहा जाता है। मिट्टी की पाटियों पर उत्कीर्ण इसी कीलाक्षर लिपि की सहायता से हम सुमेरियन सभ्यता के विषय में बहुत-सी जानकारी प्राप्त कर पाये हैं।

भाषा एवं साहित्य

प्रारंभ में सुमेरिया में सुमेरियन भाषा प्रचलित थी। बाद में विशेषकर अक्कादी युग में सेमिटिक भाषा भी प्रयुक्त की गयी। सुमेरियन भाषा को सेमाइट भी आदर की दृष्टि से देखते थे, इसी कारण राजनीतिक ह्रास के बाद भी बहुत दिनों तक इसका अध्ययन होता रहा। उपर्युक्त लिपि एवं भाषा के माध्यम से सुमेरियनों ने जिस साहित्य की रचना की उसका अल्पांश ही हमें प्राप्त है। जो कुछ मिला है उसमें पौराणिक आख्यान, काव्य, उपासना-गीत तथा कहावतों का स्थान प्रमुख है। इस प्रकार के साहित्य के साथ-साथ कानूनी तथा लेन-देन सम्बन्धित प्राचीनतम लेख भी संभवतः यहीं से प्राप्त हुए हैं। सारजक (Sarzec) महोदय को टेलो से गुदेआ के समय का एक संग्रहालय मिला है जिसमें तीस हजार मिट्टी की पाटियाँ तरतीबवार रखी मिली हैं। लेकिन जितनी ही इनकी उपलब्धि सरल थी उतनी ही इनकी पढ़ायी कठिन भी। एक तो लिपि की कठिनाई थी दूसरे मिट्टी की पाटियाँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने से क्षत-विक्षत हो गई थीं। पढ़ने के बाद इनके अनुवाद की समस्या और कठिन थी। लेकिन इन कठिनाइयों के बावजूद भी अनेक विद्वानों ने जिनमें बार्टन स्टीफेन,

किंग, क्रेमर इत्यादि प्रमुख हैं, अथक परिश्रम कर अन्त में इनमें से बहुतों को प्रकाशित किया । सुमेरियन उपलब्ध साहित्य को स्थूलतः हम धार्मिक साहित्य एवं लौकिक साहित्य दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं ।

धार्मिक साहित्य—धार्मिक साहित्य में धर्माख्यानों का बाहुल्य है । इसमें गिल्गैमिश महाकाव्य (Gilgamesh Epic) को प्रथम स्थान मिला है । इसकी रचना दो हजार ई० पू० के आस-पास की गयी थी । यद्यपि इसको पूर्ण विकसित होने का सुयोग बैबिलोनियन साहित्य के अन्तर्गत ही मिला था लेकिन इसके मूल अंश सुमेरिया में प्रचलित थे । इस महाकाव्य में गिल्गैमिश तथा उसके द्वारा एरेक निवासियों को सताये जाने और उनकी प्रार्थना पर रक्षा के लिए भेजे गये एनकीडू (Enkidu) नामक देवता के बीच परस्पर संघर्ष का वर्णन है । प्रारंभ में दोनों में युद्ध होता है लेकिन अन्त में दोनों एक दूसरे के मित्र बन जाते हैं । आगे चल कर दोनों की सम्मिलित शक्ति से अनेक साहसिक कार्य सम्पन्न हुए । इसमें हुवावा या हुमबाबा (Huwaba or Humbaba) नामक दैत्य का वध विशेष रूप से उल्लेखनीय है । इसी से सम्बद्ध एक अन्य आख्यान में गिल्गैमिश द्वारा उस स्वर्गिक वृषभ (Bull of Heaven) के वध का वर्णन है जिसे इनन्ना देवी ने क्रुद्ध होकर गिल्गैमिश के वध के लिये भेजा था क्योंकि उसने उसकी प्रणययाचना को अस्वीकार कर दिया था। एक अन्य आख्यान में गिल्गैमिश द्वारा अमृतत्व प्राप्त करने के प्रयत्न एवं असफलता का वर्णन किया गया है । इससे सम्बन्धित एक अन्य आख्यान में एनकीडू के पाताल-गमन एवं वहाँ से प्रत्यावर्तन का वर्णन मिलता है । इनन्ना ने जिस पक्कू (ढोल) तथा मिक्कू (छड़ी) का निर्माण एक प्रिय वृक्ष की लकड़ी द्वारा किया था, वे दोनों एक बार पाताल लोक में गिर गये । एनकीडू उनको लाने के लिये पाताल जाता है लेकिन गिल्गैमिश द्वारा बताये गये पाताल में रहने के नियमों का उल्लंघन करता है और वहीं रह जाता है । गिल्गैमिश द्वारा राजकी से प्रार्थना किये जाने पर एनकी के आदेश से ऊतू ने पाताल में एक छेद कर दिया । जिससे एनकीडू की छाया पृथ्वी पर गिल्गैमिश से मिल गयी । गिल्गैमिश आख्यान के साथ-साथ सुमेरियन धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत प्रलय-आख्यान की भी चर्चा की जा सकती है जिसमें जल-प्लावन के बाद किसी तरह नौका की सहायता से एक व्यक्ति बच गया था । इसकी महत्ता के विषय में हम धर्माख्यानों के प्रसङ्ग में चर्चा कर चुके हैं ।

लौकिक साहित्य—धार्मिक साहित्य की तुलना में सुमेरियन लौकिक साहित्य बहुत कम है । यदि उपलब्ध साक्ष्य ही किसी वस्तु की उपस्थिति और अनुपस्थिति के प्रमाण हैं तो निर्विवादतः हम कह सकते हैं कि सुमेरियन इस क्षेत्र में पीछे रह गये । सुमेरियन इतिहास शास्त्र से अपरिचित प्रतीत होते हैं । संभवतः इस ओर उनकी कोई रुचि नहीं थी । तीन हजार ई० पू० के आस-पास उन्होंने कुछ राज-सूचियाँ बनायी थीं । इसमें भी उनकी कल्पनात्मक प्रवृत्ति अधिक जागृत मिलती है । गीतों की रचना उन्होंने अवश्य की लेकिन वे अधिकांशतः पूजा के लिये ही रचे गये थे । इनके केवल दो गीत ऐसे हैं जिन्हें हम किसी तरह प्रेमगीत मान सकते हैं। इनका उपयोग धार्मिक

उत्सवों में खेले जाने वाले नाटकों में किया जाता था। सुमेरियन साहित्य के अन्तर्गत मुहावरों (Proverbs) की चर्चा आवश्यक है। इनके कुछ मुहावरे बिल्कुल आधुनिक लगते हैं जैसे, 'क्या कोई बिना खाये मोटा हो सकता है', 'जिसके पास कुछ नहीं है वह सो सकता है' आदि। इन मुहावरों के प्रकाश में आने का बड़ा महत्त्व है। इसके प्रकाशन के पूर्व मुहावरों के आदि आविष्कार का श्रेय यहूदियों को दिया जाता था। कालान्तर से मिस्री सभ्यता के मुहावरे जब प्रकाश में आये तो यह श्रेय मिस्रवासियों को मिला। लेकिन अब एक स्वर से यह श्रेय सुमेरियनों को दिया जाने लगा है।

विज्ञान

दर्शन के क्षेत्र में सुमेरियावासियों ने कोई प्रगति नहीं की। इसके गूढ़ चिन्तन अथवा विश्लेषण में उनकी कोई रुचि नहीं थी, अतः साहित्य के बाद बौद्धिक उपलब्धि के अन्तर्गत उनकी प्रगति वैज्ञानिक क्षेत्र में दर्शनीय है। इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम गणित का उल्लेख किया जा सकता है। सुमेरियन गुणा, भाग, वर्गमूल एवं घनफल से परिचित थे। इनकी अंक-पद्धति दशमलव एवं षाष्ठिक (Sexagesimal) प्रणाली के मिश्रित रूप पर आधृत थी। इनकी अंक-पद्धति में साठ का वही महत्त्व था जो भारतीय अंक-पद्धति में सौ का है। तीन सौ को इनकी अंक गणना में पाँच-साठ कहा जाता था। संभवतः घंटों का साठ मिनट तथा मिनट का साठ सेकण्ड में विभाजन इसी आधार पर किया गया।

गणित के साथ-साथ ज्योतिष तथा नक्षत्रशास्त्र में भी सुमेरियावासियों ने अपनी मेधा का परिचय दिया। ज्योतिष तथा नक्षत्र शास्त्र को वे एक दूसरे से पृथक् नहीं मानते थे। इस क्षेत्र में उनकी विशेष प्रगति पञ्चांङ्ग-निर्माण में देखी जा सकती है। दिन-रात के अतिरिक्त सुमेरियावासियों ने मास की कल्पना की। इसका प्रारंभ वे चन्द्रोदय से मानते थे। इस प्रकार एक वर्ष में कुल बारह चन्द्र मास की कल्पना की गई। उनका एक मास तीस दिन का ही था, इसलिये उनके एक वर्ष में तीन सौ साठ दिन ही होते थे। वास्तविक स्थिति तथा इस गणना में लगभग सवा पाँच दिनों का अन्तर पड़ जाता था। यह अन्तर चार-पाँच वर्षों में एक मास का हो जाता था, अतः चन्द्र एवं सौर वर्ष में परस्पर मेल बैठाने के लिये चार-पाँच वर्षों के बाद एक मास अधिक जोड़ दिया जाता था। अभी तक संवत् का ज्ञान उन्हें नहीं था। वर्षगणना में उन्होंने एक पद्धति का आविष्कार किया था। मिस्रियों की भाँति किसी वर्ष का नामकरण उस वर्ष की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना के आधार पर करते थे।

सुमेरियन चिकित्सा-पद्धति में वैज्ञानिकता की अपेक्षा बर्बरता का पुट अधिक था। वे भूत-प्रेतादि बाधा या असत् शक्तियों के प्रभाव को रोग का कारण मानते थे। ऐसी स्थिति में चिकित्सक की अपेक्षा तांत्रिक अधिक श्रद्धेय थे। इनकी चिकित्सा-सारिणी में तंत्र-मंत्र की बहुलता थी लेकिन चिकित्सकों का एक वर्ग तीन हजार ई० पू० के प्रारंभ से ही अस्तित्व में आ गया था। सत्ताइस सौ ई० पू० के आस-पास उर के लुलु नामक वैद्य ने पर्याप्त ख्याति अर्जित कर ली थी। 1954 ई० में तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० के मध्यकाल की एक वैज्ञानिक भेषज-संहिता मिली है जिसमें कुछ महत्त्वपूर्ण उपचार अंकित हैं।

सुमेरियन सभ्यता की महत्ता एवं देन

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि सुमेरियन सभ्यता प्राचीन विश्व की एक महत्त्वपूर्ण सभ्यता थी। इसकी महत्ता के कारण ही कुछ विद्वान् इसे विश्व की प्राचीनतम सभ्यता मानते हैं। वास्तव में पश्चिम एशिया की अनुवर्तिनी संस्कृतियों के लिये जिस पृष्ठभूमि का निर्माण सुमेरियनों ने किया उसके परिप्रेक्ष्य में इसे मानना ही पड़ेगा कि पश्चिम-एशिया में सभ्यता के जनक सुमेरियन ही थे। निरन्तर अनुसंधान से यह कथन और अभिपुष्ट होता जा रहा है।

पश्चिम-एशिया में नगर-सभ्यता के आदि आविष्कर्ता सुमेरियन ही थे। दज़ला-फ़रात की घाटी में सर्वप्रथम नगर-राज्य की कल्पना तथा उसका विकास सुमेरिया-वासियों ने किया। इसी अनुकृति पर बाद में दूसरी संस्कृतियों में विकास संभव हो सका। नगर-सभ्यता के विकास के साथ-साथ नगर-राज्य की स्थापना कर शासन-तंत्र में भी उन्होंने कतिपय नूतन अनुभव एवं आविष्कार किये। जहाँ तक हम जानते हैं कुलीनतंत्र एवं साम्राज्यवाद की कल्पना सर्वप्रथम सुमेरिया में की गई थी। किसी देश एवं सभ्यता के उत्थान के लिये प्रशासन के महत्त्व को सर्वप्रथम सुमेरियनों ने अनुभव किया और उसे व्यवस्थित करने के लिये प्रचलित नियम एवं परम्पराओं का सर्वप्रथम उन्होंने ही संकलन कर विधि-संहिता का स्वरूप दिया। सुमेरियन विधि-संहिता की महत्ता प्राचीनता की दृष्टि से ही नहीं, अपितु इस दृष्टि से भी है कि सुमेरिया संस्कृति के बाद मेसोपोटामिया की प्रसिद्ध बैबिलोनियन संस्कृति के शासक हम्मूराबी की प्रसिद्ध विधि-संहिता का निर्माण इसी पृष्ठभूमि में किया गया था। समाज एवं राष्ट्र कानून द्वारा कितना नियंत्रित होता है इसका अनुभव सर्वप्रथम सुमेरियावासियों ने किया।

आर्थिक क्षेत्र में उनके कुछ आविष्कार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं। दज़ल-फ़रात की घाटी में समुन्नत कृषि के लिये सिंचाई-विधि का सर्वप्रथम आविष्कार उन्होंने ही किया। इसी प्रकार व्यापार एवं वाणिज्य में लिखित अनुबन्ध का विकास कर इसे और पुष्ट किया गया। मूल्य-निर्धारण में सुवर्ण एवं चाँदी के निश्चित भार के टुकड़े सर्वप्रथम इसी सभ्यता में आविष्कृत हुए। कला के क्षेत्र में इनके कुछ प्रयोग महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं। वास्तुकला के अन्तर्गत मंदिर तथा उसमें भी विशेष रूप से जिकुरत निर्माण तथा मेहराब, गुम्बद एवं स्तंभों का प्रयोग दज़ला-फ़रात की घाटी में सबसे पहले सुमेरियनों ने किया। इसके अतिरिक्त उनके प्रसाधनोपकरणों तथा कलात्मक मुद्राओं के प्रयोग भी महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं। बौद्धिक क्षेत्र में उनकी महत्ता की चर्चा हम लिपि कला के संदर्भ में कर सकते हैं। सुमेरियन कीलाक्षर लिपि न केवल सुमेरियनों के लिये उपयोगी सिद्ध हुई, बल्कि आगे चल कर मेसोपोटामिया की अन्य संस्कृतियों में भी अपनायी गयी। साहित्य के क्षेत्र में गिल्गैमिश एवं प्रलय-आख्यानों का बाद के आख्यानों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। प्रलय आख्यान तो मेसोपोटामिया के बाहर यहूदी एवं भारतीय सभ्यताओं में भी प्रचलित हुआ। साहित्य-सृजन के अतिरिक्त शिक्षण-पद्धति एवं

साहित्य को सुरक्षित रखने की कलाएँ भी सर्वप्रथम यहीं उत्पन्न हुईं। इनके कतिपय वैज्ञानिक आविष्कार, विशेषकर गणित, चिकित्सा एवं ज्योतिष के क्षेत्र में, बैबिलोनियन वैज्ञानिक विकास के आधार बने।

उपर्युक्त सुमेरियन आविष्कार महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं। केवल इस दृष्टि से नहीं कि प्राचीनतम है, बल्कि इस दृष्टि से कि बाद में मेसोपोटामिया की अनुवर्तिनी संस्कृतियों ने इनके आधार पर अपनी संस्कृति के भव्य-भवनों का निर्माण किया जिसके कारण पश्चिम-एशिया में वे महत्त्वपूर्ण स्थान पा सकीं। लेकिन सुमेरिया सभ्यता की महत्ता के अध्ययन के संदर्भ में हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि अनेक अच्छाइयों के होते हुए भी इसमें कुछ कमियाँ थीं। दासता, स्वेच्छाचारिता, धार्मिकता, साम्राज्यवाद एवं युद्धों के प्रथम दर्शन हमें यहीं मिलते हैं। यहाँ जन-जीवन भरा-पूरा अवश्य था लेकिन तरह-तरह के भेद-भावों से आपूर्ण था। समाज का सशक्त व्यक्ति आनन्दित जीवन व्यतीत कर रहा था, जब कि निर्बलों के लिए कठोर एवं अनुशासनबद्ध जीवन-यापन अनिवार्य था।

4

बैबिलोनियन सभ्यता

मेसोपोटामिया की सभ्यताएँ अपने स्थान-परिवर्तन के लिये प्रसिद्ध रही हैं। कभी इस संस्कृति ने केन्द्रीय स्थल के रूप में सुमेर को उपयुक्त पाया तो कभी बैबिलोन ने अपने माधुर्य से उसे आकृष्ट कर लिया, कभी असीरिया की वनस्थलो, तड़ाग-एवं उपसरिताओं से सुशोभित रम्य वसुन्धरा उसके मन में समा गयी तो फिर कभी बैबिलोन के उसी रमणीक भू-प्रदेश को ही उसने कैल्डियन संस्कृति का नूतन परिधान पहना दिया। द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में बैबिलोन में एमोराइट (Amorite) नामक एक सेमिटिक भाषा-भाषी जाति आकर बस गयी थी। इसका मूल निवास-स्थान अरब का रेगिस्तान था। कैनान (Cannan) में बसने के बाद उन्होंने स्थायी जीवन प्रारम्भ कर दिया था। पिछले सात-आठ दशकों में हुए पुरातात्त्विक शोधों के आधार पर स्पष्ट हो गया है कि इस भू-क्षेत्र में इन्होंने तीन हजार ई० पू० के कुछ बाद प्रवेश किया। उस समय कैनान में विद्यमान अर्धसभ्य भूमध्यसागरीय जाति वहाँ वस्तुतः पाषाण काल से ही रह रही थी। उन्हें ही पराजित कर एमोराइटों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। शनैः-शनै विजित तथा विजेता दोनों जातियाँ परस्पर मिल कर इतिहास में कैनानाइट और पश्चिमी सेमिटिक नाम से प्रसिद्ध हुईं। पश्चिमी सेमिटिक जाति बैबिलोन में प्रवेश करने के पूर्व ही उनके अनेक सांस्कृतिक तत्त्वों से परिचित हो गयी थी। अतः इस घाटी में इनका प्रवेश अपरिचित जाति के रूप में नहीं हुआ।

पश्चिमी सेमाइटों के दज़ला-फ़रात घाटी में प्रवेश करने के समय तक सुमेर तथा अक्काद के नगर अपना प्राचीन गौरव लगभग खो चुके थे। उर के प्रसिद्ध तृतीय राजवंश का अन्त हो चुका था, अतएव बैबिलोन पर अधिकार करने में उन्हें तनिक भी कठिनाई नहीं हुई। इसके बाद मेसोपोटामिया में विकसित होने वाली सभ्यता ही बैबिलोनियन सभ्यता के नाम से प्रसिद्ध हुई। लेकिन यह नाम प्रचलित होते हुए भी सार्थक नहीं है क्योंकि आलोच्य सभ्यता के अन्त के कई शताब्दियों बाद बैबिलोन को ही केन्द्र मानकर कैल्डियन सभ्यता का विकास किया गया था।

इस तरह भू-क्षेत्र के आधार पर तो कैल्डियन सभ्यता भी बैबिलोन की ही सभ्यता थी। लेकिन दोनों के समय एवं प्रकृति में पर्याप्त अन्तर था । ऐसी स्थिति में बैबिलोन में पनपने वाली दोनों सभ्यताओं में कालक्रम की दृष्टि से प्रथम को प्राचीन बैबिलोनियन (Old Babylonian) सभ्यता और द्वितीय को नवबैबिलोनियन (Neo-Babylonian) सभ्यता नाम देना तर्कसंगत जान पड़ता है । पर प्रस्तुत विवेचन मे प्राचीन बैबिलोनिया के लिये बैबिलोनियन संज्ञा का ही प्रयोग किया जायगा क्योंकि नवबैबिलोनियन के लिये कैल्डियन संज्ञा रूढ़ मान ली गई है ।

आविर्भाव एवं विकास की दृष्टि से मेसोपोटामिया-सभ्यता में द्वितीय स्थान पर बैबिलोनियन सभ्यता का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है । बैबिलोनिया संस्कृति के कर्ता-धर्ता सुमेरियन संस्कृति के अत्यन्त निकट थे । अतः दोनों का एक दूसरे के द्वारा अनुप्रेरित एवं प्रभावित होना स्वाभाविक था। तत्कालीन परिस्थितियों में बैबिलोनियन ही सुमेरियनों द्वारा प्रभावित हुए। इस प्रभाव की प्रक्रिया को कार्यान्वित करने वाली परिस्थितियाँ मुख्यतः दो थीं। एक तो बैबिलोन के निवासियों का अर्धसभ्य होना जिसके कारण वे निकटवर्ती किसी भी सभ्य संस्कृति के प्रभाव में आ सकते थे और दूसरे सुमेरियन संस्कृति का उत्कृष्ट होना एवं निकटवर्ती भू-क्षेत्रों में उसके विकसित सांस्कृतिक तत्त्वों का सुलभ प्रसार। इस तरह सांस्कृतिक विकास-निमित्त बैबिलोनियनों के लिए अनुकूल पृष्ठभूमि पहले से ही विद्यमान थी लेकिन दुर्भाग्य से वे इसका यथोचित लाभ न उठा सके। बैबिलोन की सभ्यता अपने उत्कर्ष काल में भी वहीं रह गई जहाँ से इसे प्रारंभ किया गया था। दूसरे शब्दों में इसके सांस्कृतिक तत्त्वों में उत्कर्ष और अपकर्ष तथा आदि और अन्त दोनों स्तरों पर किसी प्रकार का अन्तर नहीं दिखाई पड़ता।

जिस प्रकार सुमेरिया में किश, निप्पुर, उर, एरक, लारसा, लगश आदि नगर राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्रियाकलापों के केन्द्र थे उसी प्रकार यहाँ भी ईशिन, लारसा, बैबिलोन, मारी तथा असुर को हम प्रधान राजनीतिक एवं सांस्कृतिक केन्द्रों के रूप में प्राप्त करते हैं। इनमें प्रत्येक राज्यों के पृथक् शासक थे तथा सभी सम्पूर्ण बैबिलोनिया पर एकछत्र प्रभुता के आकाँक्षी थे। इसमें कब, कौन नरेश, किससे राजनीतिक दौड़ में आगे बढ़ा और कौन पीछे रह गया, किस प्रकार विदेशी सत्ता स्थापित हुई, किसने स्वतंत्रता खो दी इत्यादि का वर्णन राजनीतिक इतिहास के अन्तर्गत करने का प्रयत्न किया जायगा।

राजनीतिक इतिहास

उर के तृतीय साम्राज्य के अन्तिम शासक इब्बी-सिन को ईलम आक्रमणकारियों के हाथ गहरी पराजय खानी पड़ी थी। इसके बाद वह भू-क्षेत्र ईलमवासियों के अधिकार क्षेत्र का अंग बन गया। कुछ विद्वान् प्रस्तावित करते हैं कि सुमेरिया के इस अन्त में सेमिटिक निवासियों का ही प्रमुख हाथ था लेकिन साक्ष्यों के सम्यक् अनुशीलन से प्रतीत होता है कि इसमें उनका कोई विशेष हाथ नहीं था क्योंकि उर के राजवंश

के अन्त के पहले ही पश्चिमी सेमिटिक जातियों ने मेसोपोटामिया में शान्तिपूर्ण प्रवेश एवं प्रसार प्रारंभ कर दिया था और वे बैबिलोन के सम्पर्क में आ गयी थीं। स्वतः उर के तृतीय राजवंश में ही मंदिरों के पुरोहितों के अधिकांश अभिधान सेमिटिक भाषा में मिलते हैं। प्रवेश एवं प्रसार की यह प्रक्रिया लगभग दो सदियों तक निरन्तर चलती रही जिसका राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक गतिविधियों पर गहरा प्रभाव पड़ा। ये सेमिटिक आगमनकर्त्ता विभिन्न क्षेत्रों को क्रीड़ास्थली बनाकर संगठित होते रहे। इस नूतन संगठन से जिस सभ्यता का कलेवर दजला-फ़रात घाटी में निर्मित हुआ उसके बहुत से तत्त्व सुमेरियन तत्त्वों से भिन्न थे।

उर के दुःखद अन्त के साथ-साथ कई नगर-राज्यों ने स्वतंत्रता अर्जित कर ली थी। इसमें सर्वाधिक शक्ति अर्जित करने वाला ईशिन नरेश इश्बी-इर्रा (Ishbi-Irra, 2017-1985 B. C.) था। यह प्रभुता उसने कैसे प्राप्त की यह तथ्य अभी तक अज्ञात है, पर हम इतना जानते हैं कि उसका अधिकार क्षेत्र विस्तृत था। सुमेर के प्रधान नगर निप्पुर पर तो उसका अधिकार था ही, इसके साथ ही उत्तर में अर्रप्ख (Arrapkha) वर्तमान किर्कुक (Kirkuk) तथा दक्षिण में दिलमुन (Dilmun) तक उसने अपना साम्राज्य विस्तृत किया। संभवतः उर के तृतीय साम्राज्य के विध्वंसक ईलमवासियों से भी उसका संघर्ष हुआ था। ईलमवासियों को वहाँ से बहिष्कृत कर उसने नगर का पुनर्निर्माण किया तथा चन्द्रदेव नन्न (Nanna) की एक नवीन प्रतिमा निर्मित करवायी जिसकी प्राचीन प्रति ईलम आक्रमणकारी अंशान (Anshan) उठा ले गये थे। इश्बी-इर्रा के बाद उत्तराधिकार शू-इलिशु (Shu-Ilishu, 1984-1975 B. C.) तदनन्तर इद्दिन-दगन (Iddin-Dagan, 1974-1954 B. C.) को मिला। लेकिन इन शासकों के विषय में अधिक सूचनाएँ नहीं हैं। तृतीय उत्तराधिकारी इश्मे-दगन (Ishme-Dagan, 1953-1935 B. C.) था। अब तक परिस्थितियाँ परिवर्तित हो चुकी थीं और साम्राज्य पर अधःपतन के काले बादल मड़राने लगे थे। बेदुइन (Beduin) नामक जाति निप्पुर को सब तरह से नष्ट करने में सफल रही लेकिन इश्मे-दगन ने बड़ी कुशलता से निप्पुर को पुनः स्वतंत्र करा लिया तथा उर, एरेक, एरिडु तथा उत्तरी बैबिलोनिया के बहुत से भाग पर अधिकार कर लिया।

इसी समय से असीरियन नरेश इलुशुमा (Ilushuma) के विषय में भी सूचनाएँ मिलने लगती हैं। असीरियन एक बर्बर एवं युद्धप्रिय जाति थी जिसने 3000 ई० पू० के कुछ पहले ही ऊपरी दजला तथा बड़ी जाब (Zab) नदियों के आस-पास अपना आवास बना लिया था। असीरिया का उक्त शासक बैबिलोनिया के सुमु-अबुम (Sumu-Abum, 1894-1881 B. C.) का समकालीन था। कहा गया है कि इसने डेर, उर तथा निप्पुर पर अधिकार कर लिया था। डेर असीरिया का एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। लारसा भी अब तक पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कर चुका था। ईशिन नरेश इश्मे-दगन के उत्तराधिकारी लिपित-इश्टर (Lipit-Ishtar, 1934-1924 B. C.) को पृथ्वी पर कानून का प्रस्थापक तथा नागरिकों को स्वतंत्र करने वाला कहा गया है।

इसने दासता से मुक्ति दिलाने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी किया था। इसके बारे में कहा जाता है कि यह कोई सामाजिक दासता थी। लिपित-इश्टर के समय से ही लारसा प्रत्यक्ष शत्रुता ठान बैठा था जिसका नेतृत्व गुन्गुनुम (Gungunum, 1932-1906 B. C.) कर रहा था। लारसा का अधिकार उर के साथ-साथ बहरीन से होने वाले विदेशी व्यापार पर भी हो गया। ऐसा उल्लेख मिलता है कि लिपित-इश्टर तथा इश्मे-दगन दोनों की पुत्रियाँ नन्न की पुजारिनों के रूप में नियुक्त थीं। जिस समय गुन्गुनुम ने उर पर अधिकार किया उस समय भी वे मौजूद थीं। गुन्गुनुम के उत्तराधिकारियों ने उत्तरी बैबिलोनिया पर भी सैनिक आक्रमण किया तथा निप्पुर और एरेक पर अधिकार कर लिया। गुन्गुनुम के बाद क्रमशः अबीसरे (Abisare, 1905-1895 B. C.), सुमु-एल (Sumu-El, 1894-1866 B. C.) ने राज्य किया।

उर के तृतीय राजवंश के काल में बैबिलोन एक छोटा-सा नगर था जिसके देख-रेख का उत्तरदायित्व एन्सी (Ensi) पर था। बैबिलोन साम्राज्य की स्थापना का श्रेय सुमु-एबुम (Sumu-Abum, 1894–1881 B. C.) को दिया गया है। इसका सम्बन्ध पश्चिमी सेमिटिक जाति से था। इसी कारण जिस साम्राज्य की स्थापना इसने की उसकी सामाजिक प्रथाएँ भी सेमिटिक प्रभाव के अन्तर्गत विकसित हुईं। साम्राज्य-स्थापना की कथा संदिग्ध है। सुमु-एबुम के विषय में केवल इतना कहा जा सकता है कि उसका चौदह वर्ष का शासन-काल दुर्ग-निर्माण, सुरक्षात्मक कार्यों तथा साम्राज्य विस्तार में व्यतीत हुआ। उसकी महत्त्वपूर्ण विजयों में किश तथा सिप्पर के विजय का उल्लेख किया जा सकता है। उस समय दो प्रतिस्पर्द्धी राज्य एक दूसरे के सम्मुख खड़े थे। एक ओर लारसा का सुगठित साम्राज्य था तो दूसरी ओर बैबिलोनिया गौरवान्वित शीश उठाये खड़ा था। दोनों के अलावा मारी नामक एक अन्य सुदृढ़ राज्य मौजूद था। इनके साथ कुछ अन्य छोटे-छोटे राज्य फ़रात से दियाला (Diyala) तक तथा ईलमाइट सीमा पर फैले थे। प्रश्न था कौन-सा राज्य अपनी प्रभुता स्थापित करे। इस कार्य में किसे सफलता मिली लारसा या बैबिलोन को। हमें यही निश्चित करना है। गुन्गुनुम के अन्तिम उत्तराधिकारियों को कजलु (Kazallu) तथा मुतिआबल (Mutiabal) द्वारा परास्त कर राज्य छोड़ने के लिये विवश किया गया। लेकिन शीघ्र ही इन्हें भी कुदुर-माबुक (Kudur-Mabuk) नामक एमोराइट द्वारा पराजित होना पड़ा। कुदुर-माबुक के क्रमशः दो पुत्रों वरद-सिन (Warad-Sin, 1834–1823 B. C.) तथा रिम-सिन (Rim-Sin, 1822–1763 B. C.) ने राज्य किया। अन्तिम ने ईशिन साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर अपने साम्राज्य में मिला लिया। ईशिन के गरिमामय साम्राज्य के अन्तिम अवशेष भी लारसा में विलीन हो गये। रिम-सिन अब तक सम्पूर्ण मध्य तथा दक्षिणी बैबिलोनिया का स्वामी बन गया था।

हम्मूराबी

जिस समय लारसा में रिम-सिन की शक्ति चरम सीमा पर थी बैबिलोन में सिन

मुबालित (Sin-Muballit, 1812–1793 B.C.) राज्य कर रहा था। अभी मारी एवं एश्नुन्ना (Eshnunna) स्वतन्त्र थे। हम्मूराबी ने जिस समय 1792 ई० पू० में अपने पिता सिन-मुबालित के बाद उत्तराधिकार ग्रहण किया बैबिलोनिया एक छोटा-सा राज्य था जिसकी सीमा सिप्पर से मरद (Marad) तक फैली थी जो लगभग 129 किलो मीटर लम्बी तथा 32 किलो मीटर चौड़ी थी। इसके चारों ओर अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली राज्य विद्यमान थे। दक्षिण में रिम-सिन अपना साम्राज्य बढ़ा रहा था तो उत्तर में मारी, एकल्लातुम तथा असुर के राज्य अपनी-अपनी शक्ति का विस्तार कर रहे थे। पूर्व की ओर दद्दुश (Dadusha) एश्नुन्ना में अभी भी शासन कर रहा था। हम्मूराबी के मन में छोटे से बैबिलोन राज्य को एक बड़े साम्राज्य में परिवर्तित करने की इच्छा तो बलवती थी लेकिन परिस्थितियों के प्रतिकूल होने के कारण उसने अपने शासन-काल के प्रारम्भिक पाँच वर्ष प्रतीक्षा में व्यतीत किए। पाँच वर्ष बाद जब हम्मूराबी को अपनी मजबूती का एहसास हो गया, तो उसने अपना त्रिमुखी अभियान प्रारम्भ किया। सर उठाये खड़े ईसिन का, जो न रिम-सिन के साम्राज्य में मिलना चाहता था न हम्मूराबी के साम्राज्य में, पहले सफाया किया गया। छठवें वर्ष वह उरूक की ओर बढ़ा तथा दजला एवं जगरोस पहाड़ियों के बीच वाले भू-भाग पर अधिकार कर लिया। सातवें-नवें एवं दसवें वर्ष में मलगुम (Malgum) तथा रपीकुम (Rapiqum) पर अधिकार कर लिया। इसके बाद लगता है कि बीस वर्ष तक हम्मूराबी का समय मन्दिरों की स्थापना तथा नगरों की किलेबन्दी में व्यतीत हुआ।

हम्मूराबी के इन सैनिक अभियानों की सफलताओं के फलस्वरूप लारसा एवं एश्नुन्ना की सीमाओं का अतिक्रमण हुआ जिससे निश्चित ही रिम-सिन, तथा इबल-पि-एल द्वितीय ने बदला लेने का निश्चय किया होगा लेकिन उन्हें कितनी सफलता मिली हम ठीक-ठीक नहीं कह सकते। दसवें वर्ष में शम्शी-अदद प्रथम (Shamshi-Adad I, 1814–1782 B. C.) जिसके संरक्षण में असीरिया को मेसोपोटामिया की एक बड़ी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठा मिली थी तथा जिसका शासन काल पैत्रिक निरंकुशता का द्योतक माना जा सकता है, की मृत्यु हो गयी थी तथा उत्तराधिकार उसके पुत्र इश्मे दगन (Ishme-Dagan, 1781–1742 B. C.) को मिला था। उसका एक भाई इसमह-अदद (Iasmah-Adad) मारी का वाइसराय बना था। पैत्रिक सम्पत्ति के अर्द्धभाग के अधिकारी होने के बावजूद भी इसे वाइसराय का पद मिला लेकिन भाग्य-लक्ष्मी ने इसमें भी साथ न दिया। इहदुन-लिम (Iahdun-lim) के पुत्र जिमरी-लिम (Zimari-lim, 1799–1761 B. C.) ने एलेप्पो के शासक की सहायता से इसमह-अदद को पदच्युत कर स्वयं सत्ता ग्रहण कर ली। जिमरी-लिम ने अपने बाहुबल एवं राजनीतिक दाँव-पेंच से अपनी स्थिति काफी मजबूत कर ली थी। पहले तो मारी के शासक जिमरी-लिम तथा हम्मूराबी के बीच अच्छे सम्बन्ध बने रहे। लेकिन, यदि बैबिलोन में उपस्थित जिमरी-लिम के राजदूत उसे बैबिलोनिया की गति-

विधियों से परिचित करा रहे थे तो हम्मूराबी के राजदूत जिमरी-लिम की क्षण-क्षण की नीतियों की सूचना उसको दे रहे थे। इस प्रकार की व्यवस्था से दोनों राज्य बराबर एक दूसरे की गति-विधियों से परिचित हो रहे थे। लेकिन अन्ततः इसका लाभ हम्मूराबी को ही मिला। संभवतः उसने अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए ही ऐसा किया था।

राजनीतिक दौड़ में अन्त में मधुर सम्बन्धों के सूत्र विच्छिन्न हो गये और जैसा कि हम्मूराबी स्वयं कहता है, उसके राज्य पर ईलमी, गूती, असीरियन तथा एश्नुन्ना के निवासियों ने मिल कर आक्रमण किया था लेकिन हम्मूराबी के सामने उनकी एक नहीं चली थी और उन्हें उल्टे पाँव लौट जाना पड़ा था इससे हम्मूराबी अच्छी तरह समझ गया कि शान्ति से कार्य नहीं चल सकता, अतएव उसने एक बार पुनः विजय की योजना बनाई। 1763 ई० पू० में हम्मूराबी ने लारसा पर आक्रमण किया। रिम-सिन, जिसने लम्बे समय से बैबिलोनिया को अपने चंगुल में फँसा रखा था और जिसका शासन-काल मेसोपोटामिया के इतिहास में सबसे लम्बा (60 वर्ष का) माना जाता है, पूर्णतया पराजित हुआ। हम्मूराबी का बैबिलोनिया में एकछत्र राज्य स्थापित हो गया। प्रायः सभी विरोधी शक्तियों का मान-मर्दन हो चुका था। जो छोटे-मोटे राज्य बचे थे उनको भी हम्मूराबी के वर्द्धमान साम्राज्य में मिला लिया गया। लेकिन हम्मूराबी अभी शान्त होने वाला नहीं था। अभी मारी के शासक जिमरी-लिम का मान-मर्दन बाकी था जिसकी इच्छा निश्चित रूप से हम्मूराबी में बहुत पहले से थी। अन्ततः उसने मारी के विरुद्ध एक सफल अभियान किया जिसके फलस्वरूप शीघ्र ही जिमरी-लिम को अपना उन्नत भाल हम्मूराबी के श्री चरणों में झुकाना पड़ा लेकिन जिमरी-लिम को राज्य-त्याग नहीं करना पड़ा, प्रत्युत् उसे एक अधीनस्थ शासक के रूप में रहने के लिए छोड़ दिया गया। छत्तीसवें तथा अड़तीसवें वर्ष उसने असीरिया के सैनिकों को पराजित किया। इस प्रकार विभिन्न राज्यों एवं शक्तियों को जीत कर हम्मूराबी ने एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की। इन विजयों के फलस्वरूप उसने 'शक्तिशाली शासक', 'बैबिलोन के शासक', 'सुमेर तथा अक्काद के स्वामी' 'विश्व के चतुर्दिक् के स्वामी' इत्यादि उपाधियाँ धारण कीं। हम्मूराबी के साम्राज्य-विस्तार का अनुमान हम उसकी विधि-संहिता की प्रस्तावना से लगा सकते हैं जिसमें क्रमशः निप्पुर, एरिडु, बैबिलोन, लारसा, एरेक, ईसिन, किश, कूथा, लगश, अक्काद, असुर, निनिव इत्यादि नगरों का उल्लेख मिलता है जिन्हें उसने धर्म केन्द्रों के रूप में सहायता प्रदान की थी।

हम्मूराबी का चारित्रिक विश्लेषण

बैबिलोन के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास में हम्मूराबी तथा उसका शासन-काल एक अप्रतिम स्थान रखता है। पश्चिमी सेमाइटों में हम्मूराबी ने वही यश अर्जित किया जिसे अक्कादी सेमाइटों में सारगोन ने प्राप्त किया था। इसके साथ ही

राजनीतिक एवं सांस्कृतिक तत्त्वों के समन्वय और व्यवस्था में जो ख्याति सुमेरिया में शुल्गी ने अर्जित की थी वही वैबिलोनिया में हम्मूराबी ने की। एक प्रबल विजेता एवं साम्राज्य-निर्माता के रूप में हम्मूराबी ने भिन्न-भिन्न राज्यों एवं प्रदेशों को जीतकर एक अति विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की। सुमेर, अक्काद, ईलम, असीरिया, मारी आदि अनेक राज्यों को पराजित कर हम्मूराबी ने अपने अभूतपूर्व शौर्य एवं वीरता का परिचय दिया। एक विजेता के रूप में उसने इतिहास में विपुल ख्याति तो प्राप्त की ही इसके साथ ही एक अनुभवशील शासन संगठनकर्त्ता एवं विधिविद् शासक के रूप में भी उसका स्थान बन गया। निस्संदेह हम्मूराबी का शासन-काल बैबिलोनियन इतिहास का एक गौरवपूर्ण युग है। इसी लिये मेसोपोटामिया के इतिहास में इसे स्वर्णकाल की संज्ञा प्रदान की गई है।[1]

हम्मूराबी वैबिलोनियन इतिहास में उपर्युक्त कारणों से तो प्रसिद्ध ही हुआ, किन्तु उसकी सबसे अधिक प्रसिद्धि उसकी अपनी विधि-संहिता के कारण हुई। इसे इतिहास में हम्मूराबी की विधि-संहिता (Code of Hammurabi) के नाम से जाना जाता है। लगभग ढाई मीटर ऊँचे पाषाण-स्तंभ पर हम्मूराबी ने कीलाक्षर लिपि में अपनी प्रसिद्ध विधि-संहिता उत्कीर्ण-करवायी थी। इसे बैबिलोन के प्रधान देव मार्दुक के मंदिर में स्थापित किया गया था। वास्तव में इस विधि-संहिता की रचना दैवी प्रेरणा से सम्पन्न हुई थी, इसी लिए इसकी स्थापना मार्दुकदेव के मंदिर में की गई थी। इसे बाद में (बारहवीं शताब्दी ई० पू०) ईलम के शासक सूसा उठा ले गये थे। यहीं से इसे खंडित अवस्था में फ्रांसीसी पुरातत्त्ववेत्ता जैकस दी मार्गन (Jacques de Morgan) ने 1901-2 ई० में प्राप्त किया था। सम्प्रति यह विधि-संहिता लूब्रे संग्रहालय, पेरिस में, एक अमूल्य निधि के रूप में सुरक्षित है। कीलाक्षर लिपि में उत्कीर्ण यह विधि-संहिता हेनरी रॉलिन्सन (Henry Rawl-inson) के अथक परिश्रम के फलस्वरूप पढ़ी जा सकी थी। क्योंकि इसकी प्राप्ति के लगभग अर्धशती पहले ही रॉलिन्सन महोदय ने बैबिलोनियन कीलाक्षर लिपि का पाठ प्रस्तुत किया था। इस संहिता पर सविस्तर हम पृष्ठान्तर से विमर्श करेंगे। प्रस्तुत स्थल पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि जिन परिस्थितियों में उसने साम्राज्य की अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी प्रवृत्तियों को संगठित किया उसका सारांश उसके कोड के अंतिम भाग में निबद्ध मिलता है। बैबिलोनिया के सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय देवता मार्दुक की कृपा को हम्मूराबी अपने सफल शासन का आधार मानता था। जनसाधारण की मनोवृत्ति, प्रवृत्ति तथा गति-विधियों से वह निश्चेष्ट नहीं था। शत्रुओं को संत्रस्त और विवश करना वह अपने कर्त्तव्य का गौरवपूर्ण अंग समझता था। राष्ट्रवासियों की सुरक्षा

---

[1] Adda, B. Bozeman, Politics and Culture in International History, p. 23

एवं कल्याण के लिए वह बराबर सजग था। विधि-संहिता के शीर्षभाग पर विद्यमान हम्मूराबी एवं शमश देव की प्रतिमा यह बता रही है कि हम्मूराबी का कानून दैवी है। अत: उसकी अवज्ञा नहीं की जा सकती।

यदि हम्मूराबी को विधि-संहिता उसे एक कुशल विधि-निर्माता के रूप में प्रस्तुत करती है तो उसके संरक्षण में निर्मित बहुत से मंदिरों द्वारा एक उच्च-कोटि के निर्माता के रूप में उसकी स्मृति सुरक्षित है। हम्मूराबी के समय में निप्पुर, एरिडु, बैबिलोन, लगश, लारसा, एरेक, ईसिन, असुर, उर, सिप्पर आदि स्थानों में अनेक मंदिर बनवाये गये थे। सार्वजनिक हितों को ध्यान में रखते हुए हम्मूराबी ने कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उदाहरणार्थ, किश से फारस की खाड़ी तक एक नहर का निर्माण कर सिंचाई की समुचित व्यवस्था की। कर द्वारा जो धन मिलता था उसे राज्यव्यवस्था में व्यय किया जाता था और जो इससे बच जाता था उससे राजधानी अलंकृत की जाती थी।

हम्मूराबी का व्यक्तिगत जीवन अनुशासनपूर्ण था। अधिकारियों की किसी प्रकार की अनुशासनहीनता उसे कदापि सह्य नहीं थी। एरेक के समीप नहर-निर्माण में लगे हुए एक उच्च अधिकारी को उसने तीन दिन में कार्य समाप्त करने का आदेश दिया था। उसके शासन-काल में सभी पूर्ण एवं निष्पक्ष न्याय की आशा करते थे। हम्मूराबी के समय में सभी नगर-राज्यों को संगठित कर उन्हें एक भाषा-सूत्र में बाँधने का सफल यत्न किया गया तथा सम्पूर्ण साम्राज्य के लिए एक नियम एवं विधान बनाया गया। कुछ विद्वानों ने तो यहाँ तक कहा है कि हम्मूराबी का साम्राज्य एक धर्म-सूत्र में भी बाँध दिया गया था जिसका प्रधान देवता मार्दुक था, किन्तु हम्मूराबी के अन्त के साथ-साथ मार्दुक का राष्ट्रीय गौरव भी जाता रहा।

हम्मूराबी के उत्तराधिकारी

हम्मूराबी की मृत्यु एक तरह से बैबिलोनियन साम्राज्य के अधःपतन की घंटी थी। इसके बाद उत्तराधिकार सम्सु-इलुना (Samsu-iluna, 1749-1712 B.C.) को मिला। इसके शासन-काल में विस्तृत बैबिलोनियन साम्राज्य के अपकर्ष के लक्षण स्पष्ट दिखायी देने लगते हैं। ईलमाइट सीमा से कैसाइट (Kassites) सेना बैबिलोनिया पर चढ़ आयी। सबल प्रतिरोध एवं हर संभव प्रयत्न करने के बाद भी उर तथा एरेक बैबिलोनिया के हाथ से निकल गए। कैसाइट एक युद्धप्रिय जाति थी जो अश्व से परिचित थी। इसी युद्धप्रिय जाति ने आगे चल बैबिलोनिया में एक नवीन साम्राज्य की स्थापना की। सम्सु-इलुना के ही राज्यकाल में एक अन्य विद्रोह हुआ जिसे वह दबा न सका जिसके परिणामस्वरूप जिस नवीन साम्राज्य का जन्म हुआ उसे 'समुद्र-भूमि के राजवंश, (Dynasty of the Sealand) के नाम से प्रसिद्धि मिली।

सम्सु-इलुना के बाद उसके चार उत्तराधिकारियों, अबी-एशुह (Abi-eshuh, 1711–1684 B. C.), अम्मी-दिताना (Ammi-ditana, 1683–1647 B. C.), अम्मी-सदुका (Ammi-saduqa, 1646–1626 B.C.) तथा सम्सु-दिताना (Samsu-ditana, 1625-1595 B.C.) ने राज्य किया। इसमें प्रथम तीन का राज्य-काल किसी भी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। सम्सु-दिताना के समय में पुनः राजनीतिक भाग-दौड़ दिखायी पड़ती है। हित्ती साम्राज्य का शासक मुर्सिलिश प्रथम (Mursilish I, 1620–1590 B. C.) साम्राज्य विस्तार की दौड़ में मारी पर अधिकार करता हुआ वैबिलोन तक बढ़ा और (1595 ई० पू०) उसे विध्वंस कर जिस तरह तूफान की भाँति आया था उसी तरह वापस चला गया। लेकिन क्षणिक ही सही, इस आघात का वैबिलोनियन साम्राज्य पर गहरा प्रभाव पड़ा जिसके फलस्वरूप पुनः वैबिलोन न उठ सका। उसकी शक्ति सदा के लिए क्षीण हो गयी। एक बार रास्ता खुल जाने पर वाह्याक्रमणकारी बराबर उसका लाभ उठाते हैं। वैबिलोन पर बराबर कैसाइट एवं हित्ती आक्रमण होते रहे। इसमें हित्ती आक्रमणकारी तो वापस चले गये, किन्तु अवसर का लाभ कैसाइटों ने उठाया। सम्सु-दिताना के समय से ही कैसाइट वैबिलोनिया के उत्तर-पूर्व में निरन्तर संगठित हो रहे थे। शीघ्र ही उन्होंने अगुम द्वितीय (Agum II, 1602–1585 B. C.) के नेतृत्व में एक सुदृढ़ राज्य स्थापित कर लिया। हित्ती शासक मुर्सिलिश प्रथम जब वैबिलोनिया को अथाह विपत्ति के सागर में डुबोकर वापस लौट गया तो अगुम द्वितीय ने न केवल वैबिलोनिया का राज्य ही सँभाला, बल्कि उसकी सीमाएँ भी बढ़ायीं। असीरिया के पूर्वी भाग में स्थित गुत्यूम (Gutium) पर उसने अधिकार कर समस्त वैबिलोनिया साम्राज्य को कैसाइट साम्राज्य का अंग बना लिया। कैसाइटों ने वैबिलोनिया की राजनीतिक शक्ति अवश्य समाप्त कर दी लेकिन स्वयं वैबिलोनियनों की भाषा एवं लिपि के बंधन में बँध गये।

लगभग इसी समय से हुर्रियन (Hurrian) नामक एक अन्य प्रजाति के विषय में सूचनाएँ मिलने लगती हैं। दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० में वान झील (Lake Vane) के क्षेत्र से हुर्रियन उत्तरी मेसोपोटामिया की ओर बढ़े और वहीं से ये मेसोपोटामिया, एशिया माइनर, सीरिया और फिलीस्तान तक छा गये थे।[1] हित्ती साम्राज्य की प्रभा क्षीण होने पर इनको अभ्युदय का अच्छा अवसर मिला। इसके बाद जिस नवीन साम्राज्य की स्थापना हुई उसे मितन्नी साम्राज्य के नाम से जाना जाता है। इस साम्राज्य की स्थापना में हुर्रियनों का प्रमुख योगदान था। मितन्नी शासकों के नाम भारोपीय भाषाओं में मिले हैं। हुर्रियनों की अपनी कुछ सांस्कृतिक विशेषताएँ थी। भू-सम्पत्ति उत्तराधिकार में ही प्राप्त होती थी। इसका क्रय-विक्रय नहीं किया जाता था। लेकिन दत्तक-ग्रहण एवं वसीयत द्वारा इस नियम का अतिक्रमण किया जा सकता था। वे युद्धों में अश्वचालित रथों का प्रयोग करते थे, अतएव युद्ध-विद्या में कुशल थे। मिस्र तथा पश्चिमी एशिया में हुर्रियनों ने ही सर्वप्रथम दो पहिये वाले अश्व

---

[1] Hermann Kinder and Werner Hilgemann, The Penguin Atlas of World History, Vol. I, P. 29

चालित लड़ाकू रथों का प्रचलन किया। इसे इनके एक महत्त्वपूर्ण योगदान के रूप में माना जा सकता है।[1] ये भारतीय-ईरानी देवी-देवताओं इन्द्र, वरुण, मित्र तथा नासत्य की उपासना करते थे। पंक्तियों में उद्भृत चित्रों से सुसज्जित पत्थर की पाटियाँ सजाते थे तथा आयताकार भवन बनाते थे।

जिस समय मितन्नी साम्राज्य का सूर्य असीरिया पर चमक रहा था, कैसाइटों ने 'समुद्र-भूमि के साम्राज्य' का अन्त कर एक बार पुनः वैबिलोनिया को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया। यह श्रेय कैसाइट शासक कश्तिलियाश द्वितीय (Kashtiliash II) तथा उलम्बुरियाश (Ulamburiash) को प्रदान किया जा सकता है।

लगभग दो-सौ वर्षों के बाद पुनः वैबिलोन एक वार एकता के सूत्र में बँध गया। लेकिन शान्ति अधिक दिन तक न रह सकी। संघर्ष की शुरुआत अगुम द्वितीय के समय से ही प्रारम्भ हो गई थी। कारा-इन्देश (Kara-Indash) के समय वैबिलोनिया के साथ मिस्र के दौत्य-सम्बन्धों की सूचनाएँ मिलती हैं। इसके बाद कैसाइट वंश के जिन उत्तराधिकारियों के विषय में उल्लेख मिलता है उनमें सर्वाधिक ख्याति करिगल्जु द्वितीय (Kurigalzu II, 1345–1324 B. C.) को मिली। उर, एरेक तथा एरिडु में मन्दिरों की स्थापना की गई। एक नवीन राजधानी का निर्माण कर उसे चारों ओर से सुरक्षात्मक दीवार से घेर दिया गया। इस नवीन राजधानी का समीकरण बगदाद के निकट अकार कफ (Aqar Quf) से किया गया है। करिगल्जु द्वितीय को अपने साम्राज्य को सुदृढ़ करने में असीरियन साम्राज्य की डाँवा-डोल परिस्थिति से काफी लाभ मिला। मितन्नी नरेश शुत्तर्न प्रथम (Shuttarn I) की किसी कारणवश मृत्यु हो गयी। लगता है मिस्र के विरोधी दल ने ही उसे मार डाला था। जिस समय साम्राज्य विश्रृंखलता की अवस्था में था मृत शासक के किसी पुत्र तुश्रत्त (Tushratta) ने सिंहासन ग्रहण कर लिया। आन्तरिक विद्रोह का लाभ हुर्रियनों ने उठाया। उन्होंने उसके एक अन्य भाई अर्तंतम द्वितीय के नेतृत्व में मितन्नी राज्य से पृथक् एक अन्य राज्य स्थापित कर लिया। इधर मितन्नी राज्य स्वयं गृह-युद्ध में संलग्न था उधर हित्ती शासक सुप्पिलुल्युमस (Shuppiluliumas, 1375-1335 B.C.) एवं मितन्नी के बीच संघर्ष प्रारम्भ हो गया। इसमें हित्ती शासक ही सफल हुआ। हुर्रियनों के सीरिया में स्थित कई राज्य हित्ती के अधिकार में आ गये। तुश्रत्त का उसके किसी पुत्र ने वध कर दिया। स्यात् इसकी प्रेरणा अर्तंतम द्वितीय से मिली थी। इस आन्तरिक कलह के फलस्वरूप एक लम्बे अरसे से मितन्नियों की प्रभुता में फँसा असीरिया-साम्राज्य स्वतन्त्र हो गया।

वैबिलोनियन साम्राज्य इस समय करिगल्जु प्रथम के उत्तराधिकारी बुर्नबुरियाश द्वितीय (Burnaburiash II, 1380-1350 B.C) के अधीन था तथा असीरिया में अशुर-उबैलित प्रथम (Ashur-ubaillit I, 1365-1330 B.C.) शासन कर रहा था। असुर-उबैलित के एक दूत के मिस्री दरबार में उपस्थित होने और वहाँ पर्याप्त

---

[1] William L. Langer, An Encyclopedia of World History, P. 28

सम्मान प्राप्त करने की सूचना मिलती है। इससे सरलतापूर्वक यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस समय तक असीरिया अपनी खोयी प्रतिष्ठा प्राप्त करने में तो सफल हुआ ही था साथ ही राजनीतिक भाग-दौड़ में भी आगे निकलने की कोशिश कर रहा था। बैबिलोनिया तथा असीरिया दोनों राज्य समान स्थिति में आमने-सामने खड़े थे। एक दूसरे से आगे बढ़ने, अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने तथा राजनीतिक महत्ता प्राप्त करने के लिए युद्ध और मैत्री में से एक का चुनाव आवश्यक था। अन्ततः पहल असीरिया की ओर से ही की गई। अशुर-उबैलित एक दूरदर्शी एवं नीतिनिपुण शासक था। वह जानता था कि युद्ध के परिणाम अहितकर हो सकते हैं। अतः उसने युद्ध न ठान कर बैबिलोनिया के साथ मैत्री सम्बंध स्थापित करना ही श्रेयस्कर समझा। उसने अपनी पुत्री का विवाह तत्कालीन बैबिलोनियन शासक बुर्नबुरियाश द्वितीय के पुत्र कारा-इन्देश द्वितीय (Kara-Indash II) के साथ सम्पन्न कर इस सम्बन्ध को और मजबूत कर दिया। लेकिन इसी बीच मितन्नी साम्राज्य के दुर्दिन आ गये और उसकी लक्ष्मी की सुषमा मंद पड़ने लगी। आपसी संघर्षों से परेशान होकर तुश्रत्त के युवा पुत्र मत्तिवाजा (Mattiwaza) के सुप्पिलुल्युमस के यहाँ शरण ली और उससे राज्य पर पुनः प्रतिष्ठित करने की याचना की। सुप्पिलुल्युमस ने निवेदन स्वीकार कर उसके लिए मितन्नी सिंहासन छीन लिया। मितन्नियों के तीन शासकों के विषय में संकेत अवश्य मिलते हैं लेकिन उनकी राजनीतिक घटनाओं पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। ऐसा लगता है अब तक उनकी गौरवश्री का अन्त हो चुका था। शत्तुअर प्रथम (Shattuar I) को असीरियन शासक अदद-निरारी प्रथम (Adad-nirari I) के हाथों पराजित होना पड़ा। इसके बाद एक और विद्रोह की सूचना मिलती है और हम देखते हैं कि मितन्नी के अन्तिम शासक शत्तुअर द्वितीय की असीरियन शासक शालमनेसर प्रथम (Shalmaneser I, 1274-1245 B.C.) से पराजय के बाद मितन्नी भाग्य-मार्तण्ड सर्वदा के लिये अस्त हो गया और वह पूर्णतया असीरियन साम्राज्य का अंग बन गया।

शालमनेसर प्रथम की मितन्नी राज्य पर यह विजय अत्यधिक प्रभावकारी सिद्ध हुई। 14,000 बंदी उसके साथ गये। इसके बाद शालमनेसर प्रथम ने जिस साम्राज्य की स्थापना की उसकी प्रज्ज्वलित अग्निशिखा की आँच में बैबिलोनिया झुलस गया। प्रारंभ में तो राजनीतिक दौड़ एवं दाँव-पेंच में किसी प्रकार के रागद्वेष के लक्षण नहीं दिखलाई पड़ते यहाँ तक कि स्नेहपूर्ण सम्बन्ध सूत्र को वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा और पुष्ट कर दिया गया था। इतना ही नहीं, बल्कि प्रारंभ में दोनों के सुलह एवं सम्मिलित प्रयास के फलस्वरूप ही सुतू (Sutu) नामक एक भ्रमणशील जाति पराजित हुई थी। निश्चय ही यदि दोनों शक्तियाँ संगठित न हुई होतीं तो ईलमाइट एवं कैसाइट की भाँति यह बर्बर एवं भ्रमणशील जाति भी किसी न किसी साम्राज्य को जड़ से उखाड़ फेंकती। किन्तु विधि के विधान को कौन टाल सकता है। उत्थान के बाद पतन, उत्कर्ष के बाद अपकर्ष तथा उन्नति के बाद अवनति के क्रम निश्चित हैं। सब कुछ अनुकूल

होते हुए भी बैबिलोनियन भाग्य के सूर्य के अस्ताचल की ओर जाने के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। असीरियन सम्बंधों को लेकर बैबिलोनिया में परस्पर संघर्ष की शुरूआत हो गई। नाजी-बुगश (Nazi-Bugash) नामक व्यक्ति ने शासन के वैध उत्तराधिकारी का अन्त कर दिया और स्वयं सत्ता ग्रहण कर ली। असीरियन शासक अशुर-उबैलित इस आन्तरिक संघर्ष से लाभ उठाने में न चूका। उसकी निगाह पहले से ही असीरियन विद्रोही गुट पर लगी थी। उचित अवसर देखकर उसने उसे दवा दिया तथा अपने समर्थक करिगल्जु द्वितीय (Karigalzu II, 1345-1324 B. C.) को सिहासन पर अभिषिक्त किया। पर अशुर-उबैलित के आँख मूँदते ही यह कटुता और तीव्र हो गई तथा जैसे ही एनलिल-निरारी (Enlil-nirari) असीरियन शासक के रूप में प्रतिष्ठित हुआ, करिगल्जु द्वितीय ने उस पर आक्रमण कर दिया। दोनों की शक्ति सुगठित थी, इसलिये कोई किसी का कुछ न बिगाड़ सके। यद्यपि युद्ध का परिणाम अनिर्णयात्मक ही रहा पर इसका प्रभाव बैबिलोनिया के पक्ष में अहितकर सिद्ध हुआ। इससे उसकी शक्ति कमजोर हो गई और जब ईलमाइटों ने उन पर आक्रमण किया तो वे उसे रोक न पाये। दूसरी ओर असीरियनों के भाग्य-नक्षत्र बलिष्ठ थे एतदर्थ उन्होंने न केवल ईलमाइट शक्ति का डट कर विरोध किया, बल्कि असीरिया के उत्तरी-पूर्वी भागों पर अधिकार भी कर लिया। इसी समय अह्लमु (Ahalamu) नामक एक अन्य पश्चिमी जाति के आक्रमण हुए जिन्हें उन्होंने गहरी पराजय दी।

अदद-निरारी प्रथम के समय से असीरियन साम्राज्य का वास्तविक प्रसार प्रारम्भ हो गया। कैसाइट शासक नाजी-मरुत्तश (Nazi-maruttash) तथा उत्तरी प्रदेशों पर विजय प्राप्त कर उसने साम्राज्य का पर्याप्त विवर्द्धन किया। अगले उत्तराधिकारी शालमनेसर प्रथम (1274-1245 B.C.) ने साम्राज्य-विस्तार की गतिविधि को और जीवन दिया। इसके बाद टुकुल्ति-निनुर्त प्रथम (Tukulti-Ninurt I, 1244-1208 B.C.) के शासन काल में भी साम्राज्य विस्तार का कार्य जारी रहा। बैबिलोनियन साम्राज्य का अन्त इसी के समय में हुआ। उसनें सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य बैबिलोनिया को असीरियन कानूनों के अन्तर्गत लाने की दृष्टि से किया। कश्तिलियाश चतुर्थ को पराजित कर बैबिलोनिया पर अधिकार कर लिया। इसके बाद से असीरियन साम्राज्य का सूर्य प्रखरता के साथ चमकने लगा। बैबिलोनिया में असीरियन अधिकारी रख दिये गये और उसके शासन का संचालन असीरिया केन्द्र-विन्दु से होने लगा। मार्दुक की प्रतिमा असुर ले जायी गयी। बैबिलोनिया साम्राज्य का पूर्णतः अन्त हो गया तथा असीरियन साम्राज्य के गौरवमय इतिहास का प्रारम्भ हुआ। विद्वानों की राय है कि असीरिया को बैबिलोनिया पर राजनीतिक विजय अवश्य मिल गयी लेकिन सांस्कृतिक दृष्टि से उससे पराजित होकर उसी के बन्धन सूत्र में बँध गया।

राजनीतिक संगठन

शासक

बैबिलोनियन संस्कृति अपनी पूर्ववर्ती सुमेरियन संस्कृति से जिन तत्त्वों की

दृष्टि से श्रेष्ठ है उनमें राजनीतिक एवं संवैधानिक तत्त्वों की चर्चा सर्वप्रथम की जा सकती है । बैबिलोनियन बैबिलोन में एक विजेता की हैसियत से आये थे । बैबिलोनियन साम्राज्य हम्मूराबी की विजयों के फलस्वरूप स्थापित हुआ था । अतः स्वाभाविक था कि विजित क्षेत्र पर समुचित शासन करने के लिये राजनीतिक सत्ता को सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया जाय । इसका मुख्य उद्देश्य प्रादेशिक एवं स्थानीय स्वतन्त्रता को समाप्त कर शासक की शक्ति को सर्वव्यापी तथा सर्वजनीन बनाना था । इसके लिये इन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किये । इसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य था शासक को सर्वश्रेष्ठ पद पर प्रतिष्ठित करना । सुमेरिया की ही भाँति यहाँ भी राजपद दैवी स्वीकार किया गया । यह परम्परा केवल बैबिलोनिया तक ही सीमित न रही, प्रत्युत अनुवर्ती असीरियन एवं नव बैबिलोनियन संस्कृतियों में भी इसका अनुसरण किया गया । इसी आधार पर मेसोपोटामिया की राज्य-संस्था को दैवी राजतंत्र (Divine Kingship) की संज्ञा से अभिहित किया जाता है । कहने का अर्थ यह कि धार्मिक दृष्टि से राजा वह सूत्र था जो देवता तथा मनुष्य को एक दूसरे से जोड़ता था । राष्ट्र का हित राजा के हितों पर आश्रित था, इसी लिये शासक को हानि पहुँचाना एक गम्भीर अपराध माना जाता था । शासक की सुरक्षा के लिए सभी प्रयत्न किये जाते थे । राजपद यद्यपि वंशानुगत था लेकिन कभी-कभी अन्य व्यक्ति को भी मिल जाता था । ईसिन नरेश की मृत्यु के बाद एक व्यक्ति ने पहले अस्थायी रूप से राज्य ग्रहण किया था, बाद में उसे स्थायी राजपद मिला था । बैबिलोनियन कथाओं में मनुष्य के कर्त्तव्यों के विषय में कहा गया है कि उनका एकमात्र कर्त्तव्य ईश्वर की सेवा करना है । अतएव शासक का प्रधान कर्त्तव्य भी ईश्वर की सेवा करना था ।

विस्तृत साम्राज्य के प्रशासन का उत्तरदायित्व अकेले शासक द्वारा सम्भव नहीं था । इसमें अधिकारियों की उपस्थिति अनिवार्य समझी गयी । अधिकारियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पद गवर्नरों का था जिनके विषय में हमारे पास सूचनाएँ हैं । मारी का तेर्का (Terqua) नामक स्थान मारी शासक जिमरी-लिम (Zimari-Lim) के अधीन था लेकिन वहाँ किब्री-दगन (Kibri-dagan) नामक व्यक्ति गवर्नर के रूप में शासन कर रहा था । गवर्नर के अधीन वह सम्पूर्ण नगर रहता था जिसका वह गवर्नर स्वीकार कर लिया जाता था । उसके अधिकृत क्षेत्र में स्थित ग्रामों में अनेक प्रकार की जातियाँ रहती थीं । ग्रामीण जातियों तथा गवर्नरों के बीच मध्यस्थता के लिये सक्वाकु (Saquaqu) नामक एक अन्य पदाधिकारी रहता था । हाजन्नु (Hazannu) नामक एक अन्य अधिकारी का भी संकेत मिलता है जो छोटे-छोटे कस्बों के शासन का उत्तरदायित्व सँभालता था । यह एक प्रकार से आधुनिक नगर प्रमुख (Mayor) के समान था । शिबुतुम (Shibutum) नामक एक अन्य पदाधिकारी के विषय में भी सूचनाएँ मिलती हैं ।

गवर्नर का पद यद्यपि महत्त्वपूर्ण था लेकिन वह किसी निर्णय के लिए स्वतंत्र नहीं था । आज्ञा देने, न्याय करने तथा निर्माण कार्यों के लिये उसे शासक से अनिवार्य

रूप से आज्ञा लेनी पड़ती थी। इसी लिये समय-समय पर प्रत्येक विषय की सूचना राजा के पास पहुँचाना गवर्नर के कर्त्तव्य का एक अंग माना जाता था। शासक एवं गवर्नर के बीच सम्बन्ध बनाये रखने के लिये दूत और अभिकर्त्ता नियुक्त रहते थे। स्वयं शासक भी गवर्नरों के कार्य-कलापों पर सावधानी से निगरानी रखता था तथा समय-समय पर वह उन्हें सजग करता रहता था। उनकी सुरक्षा का भी बराबर ध्यान रखा जाता था। स्वयं वे अपने पास सैनिक रखते थे। सैनिक अधिकारियों को भूमि प्रदान की जाती थी। यदि कोई संकट उपस्थित होता था तो आकाशदीप प्रज्ज़्वलित कर लोगों को उसकी सूचना दी जाती थी।

हम्मूराबी की विधि-संहिता

बैबिलोनियन प्रशासन को व्यवस्थित करने तथा उसे चुस्त बनाने की दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य हम्मूराबी ने किया। वास्तव में हम्मूराबी की विधि-संहिता बैबिलोनियन साम्राज्य के प्रशासन के दर्पण के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होती है। एक विजेता एवं साम्राज्य-निर्माता के साथ-साथ हम्मूराबी एक कुशल प्रशासक एवं राजनीतिज्ञ भी था। वह जानता था कि सुव्यवस्थित शासन ही बैबिलोनियन साम्राज्य को स्थायित्व प्रदान कर सकता है। समस्त साम्राज्य को एक शासन-तन्त्र में लाने की उसकी उत्कट अभिलाषा थी। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने अपनी पूर्वोक्त प्रसिद्ध विधि-संहिता की रचना करवायी थी। इसकी रचना उसके शासन काल के अंतिम भाग में की गयी थी, अतएव हम्मूराबी ने जो कुछ अनुभव किया इसमें देने की चेष्टा की। इस संहिता की महत्ता बैबिलोनियनों के लिये तो है ही इससे भी अधिक इसकी महत्ता इस दृष्टि से मानी जा सकती है कि लगभग 1500 वर्ष तक इसे मेसोपोटामिया के विधान के आधार होने का सुयोग मिलता रहा।[1]

यह निर्विवाद रूप से स्वीकार्य्य है कि हम्मूराबी को विधि-संहिता सुमेरियन शासक शुल्गी की विधि-संहिता पर आधारित थी लेकिन हम्मूराबी ने इसमें यथावश्यक काट-छाँट कर इसे अपने साम्राज्य के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। हम्मूराबी की विधि-संहिता की रचना के पूर्व बैबिलोनियन कानून स्वरूप में स्थानीय थे। दूसरे शब्दों में एक नगर का कानून उसी नगर पर लागू हो सकता था दूसरे पर नहीं। हम्मूराबी का महत्त्वपूर्ण योगदान इस दृष्टि से था कि उसने उन सभी स्थानीय परम्पराओं को सम्वर्द्धित एवं परिवर्द्धित कर उन्हें सामान्य रूप देकर पूरे राष्ट्र पर लागू किया। इसमें अपने मौलिक रूप में दो-सौ पचासी धाराएँ थीं लेकिन अब तक दो सौ बयासी धाराएँ ही अवशिष्ट हैं। इन्हें वैयक्तिक सम्पत्ति, व्यापार-वाणिज्य, परिवार, अपराध,

---

[1] C. E. Van Sickle, A Political and Cultural History of the Ancient World, p. 49

श्रम इत्यादि अध्यायों में विभाजित किया गया है। हम्मूराबी की विधि-संहिता के कुछ प्रमुख विधान इस प्रकार थे।

1. राज्य-अपराध से सम्बन्धित वाद में साक्षियों को जो धमकाता था उसे मृत्यु-दण्ड दिया जाता था।
2. देवालय अथवा राजप्रासाद में चोरी करने वाले तथा चोरी के पदार्थ को रखने वाले दोनों प्राण-दण्ड प्राप्त करते थे।
3. यदि मन्दिर से कोई पशु चुरा लेता था तो उसे पशु के मूल्य का तीस गुना अर्थ-दण्ड देना पड़ता था लेकिन यदि पशु किसी निम्नस्तर के व्यक्ति के यहाँ से चुराया जाता था तो अर्थ-दण्ड पशु के मूल्य का दसगुना देना पड़ता था।
4. साक्ष्य एवं अनुबन्ध पत्र के बिना रजत, स्वर्ण, दास, वृष, मेष, एवं गर्दभ क्रय करने या उसे रखने के लिये चोर की तरह ही प्राण-दण्ड का विधान था।
5. यदि कोई कर्जदार अपने साहु को अपनी पत्नी, पुत्र, और कन्या दे देता था तो तीन वर्ष तक कार्य करने के बाद उन्हें मुक्त कर दिया जाता था।
6. पतिगृह के बाहर समय व्यतीत करने, मूर्खता से व्यवहार करने, पति के सामानों का दुरुपयोग करने और उसकी अवज्ञा करने पर पति पत्नी को तलाक दे सकता था। ऐसी स्थिति में दहेज में मिली सम्पत्ति का कोई भाग पत्नी को नहीं मिलता था। लेकिन यदि वह यह नहीं कहता था कि मैं 'उसे तलाक देता हूँ' तो वह दूसरी स्त्री रख सकता था लेकिन प्रथम पत्नी भी एक दासी की हैसियत से रह सकती थी।
7. पति द्वारा अपशब्द कहने पर निर्दोष पत्नी दहेज में प्राप्त सम्पत्ति के साथ पितृगृह प्रत्यावर्तित होने की अधिकारिणी थी।
8. पिता को चोट पहुँचाने वाले व्यक्ति के हाथ काट लिये जाते थे।
9. समान सामाजिक स्तर में किसी व्यक्ति की आँख फोड़ देने पर अपराधी की भी आँख फोड़ दी जाती थी लेकिन यदि किसी निर्धन व्यक्ति की आँख फोड़ी जाती थी अथवा अंगच्छेद किया जाता था तो अपराधी को चाँदी का एक मनेह (Maneh) अर्थ-दण्ड दिया जाता था।
10. किसी व्यक्ति द्वारा चोट पहुँचाने से किसी शिष्ट महिला के गर्भस्राव होने पर अपराधी को दश शेकेल (Shekel) अर्थ-दण्ड दिया जाता था लेकिन महिला की मृत्यु हो जाने पर अपराधी की पुत्री मृत्यु-दण्ड प्राप्त करती थी।
11. चिकित्सक द्वारा किसी घाव की शल्य-क्रिया में जिसे वह एक तांबे के अस्तूरे से करता था रोगी की मृत्यु हो जाने पर अथवा आँख की शल्य-क्रिया में आँख नष्ट हो जाने पर चिकित्सक के हाथ काट लिये जाते थे। पर मृत्यु यदि किसी स्वतन्त्र

व्यक्ति के दास की होती थी तो चिकित्सक को उसी मूल्य का एक दास देना पड़ता था।

12. किसी भवन के धराशायी हो जाने पर यदि स्वामी की मृत्यु हो जाती थी तो शिल्पी को मृत्यु-दण्ड दिया जाता था पर यदि मृत्यु मकान मालिक के पुत्र की होती थी तो शिल्पी के पुत्र को प्राण-दण्ड दिया जाता था। यदि मृत्यु मकान मालिक के दास की होती तो मृत्यु-दण्ड शिल्पी के दास को दिया जाता था।
13. यदि कोई नाविक किराये पर एक जलपोत लेता था और उसे असावधानी से परिचालित कर क्षतिग्रस्त अथवा नष्ट कर देता था तो उसके मालिक को दूसरा जलपोत देना पड़ता था।
14. अपराध न सिद्ध होने पर अभियोक्ता को मृत्यु-दण्ड दिया जाता था।
15. अभिचार के अपराध में अपराधी को नदी में फेंक दिया जाता था और यदि वह डूब जाता था तो उसकी सम्पत्ति वादी को मिल जाती थी। इस तरह इसमें दैवी निर्णय के सिद्धान्त को भी स्थान मिला था।

हम्मूराबी की विधि-संहिता की उक्त पंक्तियाँ हमें इसके स्वरूप से भली-भाँति परिचित करा देती हैं। इनके माध्यम से हम्मूराबी के उन उद्देश्यों पर प्रकाश पड़ता है जिसे वह पूर्ण करना चाहता था। उसका प्रथम उद्देश्य था दण्ड को कठोर रूप प्रदान करना। इसकी विधि-संहिता में अपराध के लिये कठोर से कठोर दण्ड निर्धारित किये गये थे। इस सम्बन्ध में यह भी महत्त्वपूर्ण है कि बेबिलोनियन दण्ड-व्यवस्था सुमेरियन दण्ड-व्यवस्था की अपेक्षा कठोर थी। इसमें संदेह नहीं है कि हम्मूराबी की विधि-संहिता के बहुत से तत्त्व सुमेरियन विधि-संहिता से ग्रहण किये थे लेकिन उसने उन्हें बैबिलोनिया के आवश्यक ढाँचे में ढालनें की चेष्टा की थी। दण्ड-व्यवस्था इतनी अधिक कठोर थी कि न्याय की पकड़ में उच्च से उच्च अधिकारी भी दण्ड का भागी बन जाता था। यदि कोई सैनिक कर्मचारी अपने स्थान पर किसी दूसरे को भेज देता था तो उसे प्राण-दण्ड दिया जाता था। दण्ड-निर्धारण में सुमेरिया के 'जैसे को तैसा' सिद्धान्त को हम्मूराबी ने भी अपनी विधि-संहिता में स्थान दिया था। जैसे शिल्पी द्वारा बनाये गये भवन के धराशायी होने से मकान मालिक की मृत्यु होने पर शिल्पी को मृत्यु-दण्ड दिया जाता था लेकिन यदि मृत्यु मकान मालिक के पुत्र की होती थी तो शिल्पी का पुत्र मृत्यु-दण्ड पाता था। इसी प्रकार किसी की लड़की का वध करने पर अपराधी की लड़की का वध किया जाता था। दण्ड-निर्धारण के समय अभियोक्ता और अभियुक्त की सामाजिक प्रतिष्ठा का ध्यान रखा जाता था। निम्न वर्ग के अभियुक्त को उच्च-वर्ग के अभियुक्त की अपेक्षा कम दण्ड मिलता था। लेकिन यदि अभियोक्ता उच्च वर्ग का होता था तो अभियुक्त को अधिक दण्ड मिलता था। जहाँ तक दण्डों की कठोरता का सम्बन्ध है इसमें मृत्यु-दण्ड से सम्बन्धित अपराधों की संख्या में वृद्धि कर दी गई थी। व्यभिचार, चोरी, बलात्कार, व्यर्थ भ्रमण करने, शत्रु के सम्मुख कायरता प्रदर्शिता करने इत्यादि के लिए मृत्यु-दण्ड नियत था। भागे दास को शरण देने वाले तथा व्यभिचारिणी स्त्री को भी यही दण्ड दिया जाता था।

निष्पक्ष न्याय-सम्पादन हम्मूराबी की विधि-संहिता की द्वितीय प्रमुख विशेषता थी। इस दृष्टि से निस्संदेह हम्मूराबी की विधि-संहिता उदात्त मानी जा सकती है। हम्मूराबी ने राजकीय न्यायालयों की स्थापना की जो मन्दिरों अथवा पुरोहितों से किसी प्रकार सम्बद्ध नहीं थे। इनमें न्यायाधीशों की नियुक्ति स्वयं सम्राट् करता था। इनकी देख-भाल वह स्वयं करता था। इनमें किसी प्रकार की अनियमितता होने पर कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। इसके साथ-साथ यदि किसी व्यक्ति के साथ निष्पक्ष न्याय नहीं किया जाता था तो वह शासक के पास पुनरावेदन भी कर सकता था। शासक का न्यायालय बैबिलोन का सर्वोच्च न्यायालय था। दूरस्थ नगरों में जहाँ समयानुसार शासक की उपस्थिति सम्भव नहीं थी वहाँ विशेष अधिकारियों की व्यवस्था की गई थी जो पुनरावेदनों पर विमर्श करते थे। उच्च न्यायालय में वाद के निर्णय पर भली-भाँति विचार किया जाता था और यदि किसी स्तर पर यह अनुभव किया जाता था कि स्थानीय न्यायालयों में निष्पक्ष निर्णय नहीं किया गया है तो स्थानीय न्यायालय के न्यायधीशों को कठोर से कठोर दण्ड दिया जाता था। हम्मूराबी न्यायालयों में वादों की संख्या कम करने की दिशा में भी सचेत था। इसके लिये कुछ नियम बनाए गये थे जैसे, न्यायालय में किसी व्यक्ति के प्रति लगाये गये गम्भीर आरोप सिद्ध न हो पाने पर अभियोक्ता को कठोर दण्ड देना।

अपनी विधि-संहिता की सहायता से हम्मूराबी ने समाज में समन्वय एवं सन्तुलन स्थापित करने का निरवशेष प्रयत्न किया वह भी ऐसे समाज में जो सदियों तक बर्बरता से आक्रान्त एवं संत्रस्त था। विधि-संहिता के अनुसार बैबिलोनियन समाज (i) उच्च (ii) सर्वसाधारण एवं (iii) दास तीन वर्गों में विभाजित था। इसमें प्रथम वर्ग पर कड़ी निगरानी रखी जाती थी तथा इनकी सुरक्षा का विशेष ध्यान रखा जाता था। यदि कोई व्यक्ति इन्हें हानि पहुँचाता था तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता था, पर यदि वही अपराध वह सर्वसाधारण वर्ग के सदस्य के प्रति करता था तो कम दण्ड दिया जाता था। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं था कि उच्च वर्ग के सदस्य मनमानी करें। हम्मूराबी इनकी कर्त्तव्यपरायणता के प्रति सचेत था। कर्त्तव्य के समुचित निर्वाह न करने पर इस वर्ग के सदस्य भी कठोर दण्ड, प्राप्त करते थे। दासों की स्थिति सुधारने की दिशा में भी हम्मूराबी ने कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। स्वामी के अतिरिक्त अन्य कोई न तो उन पर अधिशासन कर सकता था न अत्याचार ही। स्वदेश के अतिरिक्त उन्हें विदेशों में बेचा भी नहीं जा सकता था। सम्पत्ति-संचय एवं सम्पत्ति-संग्रह की सुविधा उन्हें मिली थी। संचित धन के माध्यम से वे अपनी स्वतन्त्रता खरीद सकते थे।[1] लेकिन इतना होते हुए भी उनकी स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। ऋणग्रस्त व्यक्ति ऋण की अदायगी न करने पर दास बना दिया जाता था।

---

1. Lynn Thorndike, A Short History of Civilization, p. 63

सामाजिक समन्वय एवं सन्तुलन की ही भाँति हम्मूराबी अपनी विधि-संहिता के माध्यम से आर्थिक संगठन, समन्वय एवं सन्तुलन भी स्थापित करना चाहता था। इसके आधार स्तभ तीन थे—कृषि-कर्म, वाणिज्य एवं उद्योग-धन्धे। इसमें कृषि-कर्म का स्थान महत्त्वपूर्ण था। इसके लिये उपादेय एवं उपयुक्त साधनों की व्यवस्था राज्य की ओर से की जाती थी। इसमें संलग्न व्यक्ति दास, छोटे श्रेणी के जमींदार तथा स्वतन्त्र काश्तकार थे। व्यापार के क्षेत्र में भी बैबिलोनियन आगे थे। इसका नियमन एवं नियन्त्रण भी शासकीय नियमों के अन्तर्गत होता था। मुद्रा-प्रणाली विकसित नहीं थी। प्रश्न है व्यापार का नियन्त्रण हम्मूराबी की विधि-संहिता कैसे करती थी? इसके देखने से लगता है कि व्यापार में लगे यातायात पर संहिता पर्याप्त नियन्त्रण रखती थी। पोत के स्वामी, नाविक तथा व्यापारी की अधिकार सीमाएँ नियत थीं। नाविक पोत बड़ी सावधानी से चलाता था। इसके क्षतिग्रस्त अथवा नष्ट होने पर कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। हम्मूराबी की विधि-संहिता में व्यापारिक नियम बने थे। लेन-देन, साझेदारी इत्यादि मौखिक नहीं लिखित होती थी। व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता था। कृषि एवं वाणिज्य के साथ-साथ यहाँ अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धे प्रचलित थे। वस्त्र-निर्माण,चर्मोद्योग एवं धातु-उद्योग की दृष्टि से बैबिलोन तत्कालीन विश्व में प्रसिद्ध माना जा सकता है। इस विकास के पृष्ठतल में हम्मूराबी की विधि-संहिता क्रियाशील थी। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हम्मूराबी आर्थिक क्षेत्र में कृषि, वाणिज्य एवं उद्योग-धन्धों के लिये समान रूप से सचेत था इसी लिये सभी क्षेत्रों में यथासम्भव प्रगति हुई।

उपर्युक्त विवेचन से हम्मूराबी की विधि-संहिता के वहुव्यापी उद्देश्यों से हम परिचित हो जाते हैं। निस्संदेह बैबिलोनिया संस्कृति के सज्जा-निर्माण में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान था। हम्मूराबी की विधि-संहिता के सम्बन्ध में एक प्रश्न और विचारणीय है। यह विधि-संहिता धर्मसापेक्ष थी अथवा धर्म निरपेक्ष? इसके आद्योपान्त अवलोकन से तो यही निष्कर्ष निकलता है कि इसमें दोनों प्रकार की भावनाएँ निहित थीं। प्रारंभ में यह धर्मसापेक्ष अवश्य लगतो है लेकिन अन्त तक पहुँचते-पहुँचते शासकीय पक्ष की प्रबलता के कारण धार्मिक पक्ष मंद पड़ जाता है। यह विधि-संहिता अपने में सर्वगुण-सम्पन्न एवं अभूतपूर्व थी। विल ड्युरैण्ट के अनुसार एक हजार वर्ष बाद बने असीरियन कानूनों से यह कहीं अधिक विकसित थी और कई माने में तो यह किसी भी आधुनिक यूरोपीय कानूनों की बराबरी कर सकती है। रोमनकाल के पूर्व इससे श्रेष्ठ कानून नहीं मिलते।[1]

सामाजिक संगठन

• हम्मूराबी की विधि-संहिता के अनुसार बैबिलोनियन समाज उच्च, सर्वसाधारण एवं दास तीन वर्गों में विभाजित था। इस सामाजिक विभाजन के अतिरिक्त

---

1. William L. Langer, An Encyclopedia of World Hisory, p. 26

परिश्रम एवं व्यवसाय के आधार पर वैबिलोनियन समाज कई संगठनों में विभक्त था। इस दृष्टि से बुनकर, तक्षक, मांसिक, हेमकर, कुभंकार, नापित, रजक, सूपकार, कर्षक, मेषपाल, एवं माली का उल्लेख किया जा सकता है। प्रत्येक वर्ग का सामाजिक स्तर भिन्न-भिन्न था। उच्च वर्ग के अन्तर्गत उच्च अधिकारी, मंत्री, भू-सम्पत्ति के स्वामी एवं व्यापारी सम्मिलित थे। कभी-कभी आर्थिक दृष्टि से पिछड़े एवं पदनिवृत्त व्यक्ति भी उच्च वर्गीय अधिकारों से वंचित नहीं हो पाते थे। इससे यह अनुमान सहज में लगाया जा सकता है कि शनैः-शनैः यह वर्ग-भेद धन एवं पद पर नहीं, अपितु रक्त पर आधृत होता जा रहा था। उच्च वर्ग के सदस्य अवीलुम (Awelum) कहे जाते थे। साधारण वर्ग या मध्यम वर्ग के सदस्य भी प्रथम वर्ग की तरह ही स्वतंत्र थे लेकिन उनका स्थान श्रीमन्तों से निम्न था पर दासों की अपेक्षा उनकी स्थिति ठीक थी। इस वर्ग के सदस्यों को मुस्केनुम (Muskenum) की संज्ञा प्रदान की गई थी।

यद्यपि बैबिलोनियन समाज में इन दोनों को तीसरे वर्ग दास की अपेक्षा अधिक सम्मान मिला था लेकिन परस्पर इनके स्तर में अन्तर था। यह अन्तर दण्ड-निर्धारण के समय अधिक प्रभावी दिखाई पड़ता है। इसमें सामाजिक स्तर के अनुसार दण्ड की मात्रा निश्चित की जाती थी। एक ही प्रकार के अपराध में मध्यम वर्ग की अपेक्षा उच्च वर्ग का अपराधी अधिक दण्ड प्राप्त करता था। हत्या के अपराध में भी मध्यम वर्ग की अपेक्षा उच्च वर्ग का अपराधी अधिक दण्ड पाता था। दण्ड-निर्धारण में अपराधी के साथ-साथ अभियोगी के सामाजिक स्तर का भी ध्यान दिया जाता था। यदि अपराधी की अपेक्षा अभियोगी निम्नस्तरीय होता था तो दण्ड की मात्रा घट जाती थी पर अपराधी की अपेक्षा अभियोगी के उच्चस्तरीय होने पर दण्ड की मात्रा बढ़ जाती थी। मूलतः दण्ड-निर्धारण में सामाजिक स्तर का निर्णय सुमेरियन परम्परा पर ही आधृत था।

बैबिलोनियन सामाजिक गठन के अन्तर्गत तृतीय वर्ग दासों का था। इन्हें वरदु (Wardu) कहा गया है। इनका कार्य मुख्य रूप से उच्च एवं मध्यम वर्ग की सेवा तथा खुशामद करना था। युद्ध में पकड़े गये शत्रु दास में परिवर्तित कर दिये जाते थे, इसी लिए प्रतिदिन इनकी संख्या बढ़ती जा रही थी। इन्हें स्वामी की सम्पत्ति के रूप में स्वीकार किया जाता था। इनके स्वामी इनका भी क्रय-विक्रय उसी प्रकार करते थे जैसे पशुओं का। स्वामी की आज्ञा के उल्लंघन एवं उच्च वर्ग के सदस्यों के प्रति किए गए किसी प्रकार के अपराध के लिए इन्हें कठोर दण्ड मिलता था। पर इतना होते हुए भी इनकी स्थिति बहुत दयनीय नहीं थी। यदि कभी कोई दास भाग जाता था अथवा किसी के द्वारा अपहृत कर लिया जाता था तो भगोड़े को शरण देने वाले तथा अपहरणकर्ता दोनों ही मृत्युदण्ड प्राप्त करते थे। भगोड़े दास को पकड़वाने में सहायता करने वाले को पुरस्कार रूप में धन दिया जाता था। यदि किसी दूसरे के दास पर कोई दूसरा अपना अधिकार सूचक चिह्न अङ्कित कर देता था तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। दासों

की स्थिति सुधारने के लिए हम्मूराबी ने कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किये थे। दासों से सम्बन्धित नियम विधि-संहिता में बनाये गए थे।

पारिवारिक गठन एवं स्त्रियों की स्थिति

बैबिलोनियन सामाजिक संगठन के अन्तर्गत पारिवारिक गठन एवं स्त्रियों की स्थिति से सम्बन्धित सूचनाएँ हमें हम्मूराबी की विधि-संहिता तथा अन्य पत्रों से मिलती हैं। बैबिलोनियन पारिवारिक-सम्बन्ध विधि-संहिता द्वारा नियंत्रित एवं अनुशासित था। विवाह, तलाक, उत्तराधिकार इत्यादि के लिए निश्चित नियमों का पालन करना पड़ता था। विवाह को संवैधानिक रूप देने के लिए साक्षियों की उपस्थिति एवं मुद्रा सहित लिखित अनुवंध आवश्यक थे। इसमें उल्लिखित शर्तें दोनों पक्षों को आवश्यक रूप से माननी पड़ती थीं। स्त्रियों में यहाँ एक विचित्र प्रथा प्रचलित थी। हेरोडोटस के अनुसार विवाह के पूर्व प्रत्येक स्त्री को इश्टर के मंदिर में एक बार जाकर किसी अज्ञात व्यक्ति के साथ यौन-सम्बंध स्थापित करना पड़ता था। स्त्रियाँ मंदिर में जाकर किसी स्थान पर बैठ जाती थीं। पुरुष उनके सामने से जाते थे तथा अपनी इच्छानुसार उनका चयन करते थे। चयन करने के बाद उनकी गोद में एक चाँदी का टुकड़ा फेंकते थे तथा उनके साथ सम्बंध स्थापित करते थे। इस प्रथा के मूल कारणों का पता लगाना कठिन है। संभवतः यह एक प्रकार से विवाह की तैयारी थी। सामाजिक विवाह माता-पिता के सहयोग से सम्पन्न किए जाते थे। वर-पिता कन्या के पिता को उपहार देता था और कन्या का पिता कन्या को प्रचुर दहेज देता था। कभी-कभी उन्मुक्त भाव से लड़कियों की बिक्री की जाती थी। विवाह के सम्बंध में हमें हेरोडोटस बताता है कि विवाह योग्य लड़कियाँ एक वर्ष में एक बार एक स्थल पर एकत्र होती थीं जिनका नीलाम सरकारी व्यक्ति करते थे। इसमें रूपवती कन्याएँ शीघ्र और अधिक मूल्य में बिक जाती थीं। क्रेता को उससे विवाह करना आवश्यक था। निस्संदेह इनमें से कुछ प्रथाएँ विचित्र थीं। बैबिलोनिया में एकपत्नी विवाह की प्रथा थी। विवाह के पूर्व सम्बन्धों में थोड़ी ढिलाई अवश्य थी लेकिन विवाह के बाद उन्हें कठोर नैतिकता के बंधन में रहना पड़ता था। व्यभिचारिणी स्त्री तथा उसके प्रेमी को नदी में डुबोकर प्राण-दण्ड दिया जाता था। यदि उस पर कुछ दया की जाती थी तो उसका सारा समान लेकर उसे घर से बाहर कर दिया जाता था। यह कहकर कि 'तू मेरी पत्नी नहीं है' कोई पुरुष अपनी स्त्री को दहेज की सम्पत्ति के साथ, बहिष्कृत कर सकता था लेकिन यदि कोई पत्नी यह कहती थी कि 'तू मेरा पति नही है' तो उसे मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। व्यभिचारिणी, बेईमान एवं वंध्या होने पर स्त्रियों को तलाक दिया जा सकता था। कानून के अनुसार घरेलू कार्य में लापरवाही करने पर भी स्त्रियों को त्याग दिया जाता था। स्त्रियाँ भी पुरुषों पर क्रूरता या आचरणहीनता का आरोप मढ़ कर दहेज में प्राप्त सम्पत्ति लेकर पितृगृह जा सकती थीं। उन्हें एक और छूट मिली थी। पति के किसी कारणवश लम्बे समय तक प्रवास करने और पत्नी के लिए किसी प्रकार की

जीविका की व्यवस्था न रहने पर स्त्री किसी अन्य व्यक्ति के साथ रह सकती थी लेकिन पति के वापस आने पर उसे पुनः पति के पास आना पड़ता था ।

बैबिलोनियन समाज में देवदासियों को पर्याप्त प्रतिष्ठा मिली थी । इनमें उच्च-वर्ग की अविवाहित महिलाओं का स्थान प्रमुख था । देवदासी बनने पर कन्याएँ पिता से उसी प्रकार धन प्राप्त करने की अधिकारिणी थीं जिस प्रकार सामान्य कन्याएँ दहेज । इसे वे व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में अपनी इच्छानुसार व्यय कर सकती थीं । उच्च वर्गीय अविवाहित कन्याएँ बैबिलोनिया के प्रमुख मंदिरों में रहने वाली देवदासियों के वर्ग-विशेष की सदस्यता स्वीकार कर व्यापार आदि कर सकती थीं । कुछ दिन तक देवदासी के रूप में जीवन व्यतीत करने के बाद भी देवदासियाँ विवाह कर सकती थी । विवाहित अवस्था में देवदासी के पद-ग्रहण करने के बाद उन्हें अपने पति से पृथक् रहना पड़ता था । देवदासियाँ अपने पद की गरिमा की रक्षा के प्रति सजग रहती थीं । मद्यव्यापार की कौन कहे मद्यशाला में प्रवेश करने पर ही उन्हें मृत्युदण्ड दिया जाता था । उक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि बैबिलोनियन समाज में स्त्रियों की दशा उन्नत थी । साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व इस प्रकार की स्थिति निस्संदेह आश्चर्यजनक मानी जा सकती है ।

आहार-विहार एवं वस्त्राभरण

सामान्यतः बैबिलोनियन निरामिष थे । रोटी, शाक एवं शहद का वे नित्य-प्रति प्रयोग करते थे । आमिष भोजन का प्रचलन अवश्य था लेकिन प्रभावशाली एवं धनाढ्य वर्गों में ही सीमित था । खजूर एवं अंगूर की सहायता से निर्मित मद्य का प्रचलन भी था । इसका व्यापार खुले बाजार में निम्न एवं पतित आचरण की स्त्रियाँ करती थीं । मछली का इनके जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान था । मछुआरों की यहाँ अनेक श्रेणियाँ थीं जैसे, शुद्ध जल के मछुआरे, समुद्री मछुआरे तथा नमकीन पानी के मछुआरे । बैबिलोनियन नागरिक सामान्यतः हल्के एवं साधारण वस्त्र धारण करते थे । इनमें ऊनी वस्त्रों की प्रचुरता थी । हम्मूराबी के पूर्व तक यहाँ सेमिटिक वस्त्राभरणों की प्रधानता थी अर्थात् महँगे वस्त्र धारण किए जाते थे लेकिन हम्मूराबी के बाद सस्ते एवं सादे वस्त्रों का प्रचलन हुआ । इसे सुमेरियन प्रवृत्ति का प्रभाव माना जा सकता है । द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० में यहाँ सिले वस्त्र व्यवहार में लायें जाने लगे थे । वस्त्र का आकार एक चोंगे के समान था जो घुटनों तक लटका रहता था । इसे कमर पर एक पेटी द्वारा बाँध दिया जाता था । शाही वस्त्र आकर्षक एवं अलंकृत होते थे । उपलब्ध कलात्मक उपकरण यह सिद्ध करते हैं कि यहाँ दाढ़ी और बड़े बाल रखने की प्रथा थी ।

आर्थिक संगठन

कृषि-कर्म एवं पशु-पालन

दजला-फ़रात की घाटी में जो सुविधाएँ सुमेरियनों को प्राप्त थीं वही बैबिलोनियनों को भी । अतः सुमेरिया की ही भाँति यहाँ भी उन्नतिशील कृषि का विकास

किया गया। इसके समुचित विकास एवं उन्नयन के लिये हम्मूराबी की विधि-संहिता में कानून बनाये गये थे और इसे इन्हीं कानूनों के अन्तर्गत सम्पन्न किया जाता था। भूमि पर शासक, मन्दिर, जमींदार अथवा बड़े-बड़े किसानों का अधिकार रहता था। इस पर कार्य करने वाला वर्ग दासों का था। काश्त के लिए पट्टे पर भूमि लेने वाले को उपज का $\frac{1}{3}$ अथवा कभी-कभी $\frac{1}{2}$ भाग देना पड़ता था। खेत लेने पर अनिवार्य रूप से कृषि करनी पड़ती थी। किसी प्रकार की असावधानी करने पर भी निश्चित कर अदा करना पड़ता था। प्राकृतिक क्षति कृषक तथा भू-स्वामी दोनों बराबर-बराबर वहन करते थे। अनुमति के बिना खेतों में पशु चराना भी वर्जित था।

बैबिलोनिया में सिंचाई कृत्रिम साधनों द्वारा की जाती थी। हम्मूराबी वंश के प्रत्येक शासक ने यहाँ नहर का निर्माण करवाया था। स्थानीय गवर्नर या पदाधिकारी अपने-अपने क्षेत्र में नहर आदि के निर्माण का उत्तरदायित्व सँभालते थे। जिस मार्ग से नहर का निर्माण किया जाता था उसके आस-पास रहने वाले उसमें यथावश्यक कार्य करते थे। पुरस्कार रूप में उन्हें उसमें मछलियों के पकड़ने की छूट दी जाती थी। नहर के जल को धरातल के स्तर से नीचा होने पर यंत्र की सहायता से ऊपर उठाया जाता था। इस यंत्र का आकार-प्रकार प्राचीन मिस्र के शडूफ के समान ही था। बाढ़ के पानी को नहरों या तालाबों में इक्कठा कर लिया जाता था जिसमें लगे दरवाजों को हटाकर जल का उपयोग करते थे। खेत में पानी ले जाते समय इसका बराबर ध्यान रखा जाता था कि अगल-बगल कोई क्षति न पहुँचे। उर्वर भूमि एवं उचित सिंचाई की व्यवस्था के फलस्वरूप यहाँ अनेक प्रकार के खाद्यान्न तथा फल उत्पन्न किये जाते थे। फलों में खजूर, जैतून एवं अंगूर का स्थान विशेष था। वे खजूर की बहुविधि उपयोगिता से परिचित थे। फल की सहायता से आटा, चीनी और मदिरा तथा छाल से रस्सी बनाते थे। इसकी लकड़ी को भवन-निर्माण में प्रयुक्त किया जाता था। हम्मूराबी खजूर की खेती के प्रति सजग था। विधि-संहिता में इसकी कृषि से सम्बंधित नियम बनाये गये थे। कृषि के साथ पशु-पालन का भी प्रचलन था। राजकीय कोष से सम्बद्ध बहुत से पशु रहते थे। पशुपालन पर भी कर लगाया जाता था। राजकीय पशुओं की देख-रेख के लिये शहरों में शासकीय चरवाह नियुक्त रहते थे। नगर एवं प्रान्त के गवर्नर भी समय-समय पर राजकीय पशुओं का निरीक्षण करते थे। हम्मूराबी की विधि-संहिता में पशु-पालन से सम्बंधित आवश्यक नियम बने हुए थे।

उद्योग-धन्धे

बैबिलोनियन आर्थिक-गठन में उद्योग-धन्धों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। यहाँ कई प्रकार के उद्योग-धन्धे प्रचलित थे जिसमें प्रमुख रूप से वस्त्रोद्योग, चर्मोद्योग भाण्डोद्योग एवं अस्त्र-शस्त्र उद्योग की चर्चा की जा सकती है। पशु-पालन का प्रभाव इनके वस्त्रोद्योग पर पड़ा। इनसे इन्हें पर्याप्त मात्रा में ऊन मिल जाता था। बैबिलोनिया में ऊनी वस्त्रोद्योग का प्रचलन वैसे ही था जैसे हमारे यहाँ सूती वस्त्रों का। लोहे का ज्ञान उन्हें अवश्य था लेकिन दुर्लभता के कारण इससे निकट का सम्वंध नहीं स्थापित हो सका। खनिज रूप में स्वर्ण, रजत, ताम्र, काँस्य, एवं शीशा प्राप्त

किया जाता था। धातु की ढलायी का ज्ञान उन्हें हो चुका था। इसकी सहायता से अस्त्र-शस्त्र, भाण्ड एवं आभूषण बनाये जाते थे।

व्यापार

उद्योग-धन्धों का प्रभाव वैबिलोनियन व्यापार पर भी पड़ा। इस दिशा में यातायात के साधन अधिक उपादेय सिद्ध हुए। नहरें सिंचाई के अतिरिक्त यातायात के लिये भी उपादेय थीं। खाद्यान्न, खजूर, तेल, लकड़ी, तिल आदि का आयात-निर्यात जल-मार्ग द्वारा ही सम्पन्न किया जाता था। भारी सामान ढोने के लिये दजला-फ़रात में लट्ठो का उपयोग किया जाता था। हम्मूराबी की विधि-संहिता में बड़ी नावों एवं पोतों के विषय में सूचनाएँ मिलती हैं। जलपोत-वाहक, उसके स्वामी तथा उसमें रखे सामान के स्वामी के कर्त्तव्य एवं अधिकार की सीमाएँ निश्चित थीं। इनके व्यापारिक सम्बन्ध सिंधु-प्रदेश तथा ईलम से प्राचीन काल से चले आ रहे थे। बाद में सीरिया से भी इनके व्यापारिक सम्बंध स्थापित हो गये। वाणिज्य का नियमन और नियंत्रण राज्य द्वारा किया जाता था। वाणिज्य तथा व्यापार से सम्बद्ध प्रत्येक कार्य के लिये विशिष्ट और पृथक् नियम बने थे। साझेदारी, धनसंचय तथा अभिकरण का विधान में समाहार किया गया था एव अनुबंध, दस्तावेज, ब्याज इत्यादि के लिए नियम बनाये गये थे। लिखित अनुवंध के बिना किसी भी प्रकार का लेन-देन दण्डनीय था। प्राचीन वैबिलोनिया में व्यापार एक वर्ग-विशेष से सम्बद्ध था जिसे तमकरु (Tamkaru) कहा गया है जिसका शाब्दिक अर्थ सौदागर होता है। यह केवल सौदागरों का ही वर्ग नहीं था, बल्कि अर्थ संग्रह भी करता था।[1] दूसरे शब्दों में यह बैंकर (Banker) का कार्य भी करता था और आवश्यकता पड़ने पर धन उधार देता था। तमकरु तथा अभिकर्ता के मध्य किस प्रकार के सम्बंध होने चाहिए इसका उल्लेख हम्मूराबी की विधि-संहिता में किया गया था। ऋण देने की अनेक विधियाँ प्रचलित थी जिनमें एक प्रकार के ऋण को हुबुत्ततु ऋण (Hubuttatu Loan) कहा गया है। इस पर किसी प्रकार का ब्याज नहीं लगता था। प्रत्येक ऋण लिखित शर्तों पर दिये जाते थे। इन पर बेलनाकार मुद्राओं या अँगुली के अगले हिस्से की छाप अङ्कित की जाती थी। एक ऐसे ऋण के विषय में भी हमें पता है जिसमें किसी प्रकार का लिखित समझौता नहीं किया जाता था। इस ऋण को इबत्तु (Ebattu) कहा गया है। यहाँ प्रचलित ब्याज की दर अधिक थी। राज्य की ओर से नकदी पर बीस तथा माल पर तैंतीस प्रतिशत की दर से ब्याज लिया जाता था।

धर्म

हम्मूराबी के नेतृत्व में विकसित वैबिलोनिया संस्कृति के संस्थापक पश्चिमी सेमाइट थे जो सांस्कृतिक दृष्टि से सुमेरियनों से बहुत पिछड़े थे। जिस समय

---

[1] Ancient Mesopotamia, Socio-Economic History, A Collection of Studies by Soviet Scholars, p. 200

मेसोपोटामिया पर इन्होंने अपनी प्रभुता स्थापित की सुमेरियन संस्कृति एवं धर्म लगभग एक हजार वर्ष पुराने हो चुके थे, अतएव इन पर उनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। पर, चूँकि पश्चिमी सेमाइटों की शक्ति स्थापना के समय सुमेरियनों की प्रभा क्षीण हो चुकी थी और उनकी भाषा में अधिक दिन तक जीवित रहने की शक्ति शेष नहीं रह गई थी, अतः जब सुमेरियन साहित्य का सेमिटिक भाषान्तर प्रस्तुत किया गया तो इसमें यथावश्यक तथ्यात्मक परिवर्तन संभव हो सका। परिणामतः दोनों के धार्मिक तत्त्व एक दूसरे से इतने संश्लिष्ट हो गये हैं कि दोनों को पृथक् करना कठिन हो जाता है। लेकिन सश्लेष के बावजूद भी बैबिलोनियन धर्म की अपनी मौलिकता सर्वथा नष्ट नहीं हुई।

देव-मण्डल

7153

जहाँ एक ओर अनेक सुमेरियन देवी-देवताओं को बैबिलोनियन देव समूहों में प्रतिष्ठित स्थान मिला वहीं दूसरी ओर बहुत से सुमेरियन देवी-देवताओं का स्थान बैबिलोनियन देवताओं ने ग्रहण कर लिया। सुमेरियन धर्म के सम्बन्ध में हम देख चुके हैं कि वहाँ देवी-देवताओं में शमश, एनलिल, एनकी, अनु, नन्नार इत्यादि विशेष प्रतिष्ठित थे। इनमें एनलिल की प्रतिष्ठा अत्यधिक थी। बैबिलोनियन देव-मण्डल के अन्तर्गत एनलिल को बेल नाम प्रदान किया गया तथा उसका समीकरण बैबिलोनियन मार्दुक से किया गया। यही बेल-मार्दुक बैबिलोनियन देव समूहों में सर्वाधिक प्रतिष्ठित हुआ। कुछ इसी प्रकार मिस्र में प्राचीन देव आमोन एवं रे को मिला कर आमोन-रे नाम से प्रतिष्ठित किया गया था।

प्रारम्भ में बेल-मार्दुक बैबिलोनिया का एक सामान्य नगर-देवता था लेकिन बाद में जब बैबिलोनिया के नेतृत्व का भार हम्मूराबी के सुदृढ़ कंधों पर आया तो मार्दुक को राष्ट्रीय देवता का पद मिला। इसी के फलस्वरूप प्राचीन सुमेरियन एनलिल देवता का स्थान इस देव ने ग्रहण किया। इसका स्पष्ट संकेत हमें 'एनुमा एलिश' नामक कृति में मिलता है। इसमें मार्दुक के लगभग पचास नाम मिलते हैं। इसमें विश्वोत्पत्ति, मार्दुक के आविर्भाव तथा देवताओं की असुरों पर विजय का वर्णन किया गया है। मूलतः इसका नायक सुमेरिया का एनलिल देवता था लेकिन बैबिलोनियन साम्राज्य की स्थापना के बाद जब मार्दुक को राष्ट्रीय देवता के रूप में प्रतिष्ठा मिली तो एनलिल का स्थान मार्दुक ने ग्रहण कर लिया। इसकी पत्नी के रूप में सर्पेनिटम (Serpanitum) का उल्लेख मिलता है। नेबु (Nabu) नामक देवता से भी इसके घनिष्ठ सम्बन्ध थे।

मातृशक्ति का सन्निधान इश्टर (Ishtar) नामक देवी में किया गया। यह देवी सभी देवियों के प्रतिनिधि रूप में गौरवान्वित हुई। अलग-अलग स्थानों पर इस देवी की पृथक् सत्ता थी। इसी कारण इसके कई स्थानीय नाम पड़ गये, जैसे निनिव की इश्टर, अरबेला की इश्टर, बित-कितमरी (Bit Kitmuri) की इश्टर इत्यादि। बैबिलोनिया में इस देवी की दो दृष्टियों से विशेष ख्याति थी। एक ओर युद्ध देवी के रूप में इससे विजय की आशा की जाती थी तो दूसरी ओर दाम्पत्य जीवन की मधुरता एवं सन्तान

प्राप्ति के लिये भी इस देवी की कृपा आवश्यक थी। मनुष्य प्रातः एवं सायंकालीन नक्षत्रों से उसका परिचय प्राप्त करता था। यह चन्द्रदेव सिन की पुत्री थी। इसे अष्टकोणीय नक्षत्र के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता था। इस देवी के प्रतिनिधि-चिह्न बैबिलोनियन कलात्मक उपकरणों पर प्राप्त हुए हैं। मूर्तियों एवं चित्रों में इश्टर को कभी दाढ़ी सहित अर्द्धनारी के रूप में और कभी स्तनपान कराने के उद्देश्य से स्तन-प्रदान करती हुई एक नग्न स्त्री के रूप में चित्रित किया जाता था। ऐसा उल्लेख मिलता है कि शायद उसने कभी सिंह से प्रेम कर उसे भ्रष्ट कर उसकी हत्या कर दी थी। इसी कारण गिलगैमिश ने उसके प्रणय-निवेदन को अस्वीकार कर दिया था। बैबिलोनिया की यही देवी समयान्तर से एशिया में प्रेम की देवी के रूप में और बाद में यूनानी धर्म के अन्तर्गत एफ्रोडाइटि (Aphrodite) तथा रोम में वीनस (Venus) नाम से प्रसिद्ध हुई।[1]

बैबिलोनियन देव-मण्डल में तृतीय स्थान तामुज (Tamuz) देवता को मिला था। इसे इश्टर का पुत्र, भाई एवं प्रेमी माना गया था। सुमेरियन रूप तामुज इश्टर का भाई था। सुमेरियन देव समूहों में इसे कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिला था लेकिन बैबिलोनियन देव समूह में यही तृतीय पद पर प्रतिष्ठित किया गया। तत्कालीन प्रचलित मान्यताओं के आलोक में तामुज देव का सम्बन्ध मूलतः वनस्पति जगत् से प्रतीत होता है। इसे नव-जीवन का प्रतीक माना जाता था। पतझड़ में उसकी मृत्यु हो जाती थी और वसन्त में पुनर्जीवित हो उठता था। इसमें प्रकारान्तर से वनस्पतियों के जन्म एवं मृत्यु के भाव छिपे थे।

इनके अतिरिक्त बैबिलोनियन देव समूह में कुछ अन्य देवी-देवताओं को भी महत्ता प्राप्त थी। इस दृष्टि से सर्वप्रथम प्रकाश देव शमश का उल्लेख किया जा सकता है। शमश में अन्तर्निहित शक्ति से समस्त अंधकार छिन्न-भिन्न होता था। समस्त मानवीय क्रिया-कलाप उसकी देख-रेख में सम्पन्न किये जाते थे। उसकी दृष्टि से परे कुछ भी नहीं था। हम्मूराबी की विधि-संहिता पर उत्कीर्ण चित्र में उसे हम्मूराबी को विधि-संहिता देते हुए प्रदर्शित किया गया है। ऐसी स्थिति में यह सहज एवं स्वाभाविक लगता है कि न्याय एवं विधि-देवता के रूप में यहाँ शमश देव ने पर्याप्त ख्याति अर्जित कर ली थी। इसके प्रमुख केन्द्र लारसा एवं सिप्पर थे। चन्द्रदेव सिन का प्रभाव भी यहाँ कम नहीं था। इसे ही बैबिलोनियन पञ्चाङ्ग के निर्माण का श्रेय प्रदान किया गया था। इस सम्बन्ध में स्मरणीय है कि बैबिलोनिया में चन्द्रदेव सिन का स्थान सूर्य देव शमश से अधिक महत्त्वपूर्ण था। इसके मूल में समय-गणना में चन्द्र की महत्ता को ही स्वीकार किया जा सकता है। चन्द्र देव को अनु (Anu) का पुत्र माना गया था। इसकी पत्नी निन्गल (Ningal) थी तथा इसका प्रतिनिधि चिह्न अर्द्धचन्द्र था।

बैबिलोनियन देव-मण्डल में कुछ ऐसे देवता भी थे जिनका सम्बन्ध वनस्पति जगत् तथा भू-गर्भ दोनों से था। इस दृष्टि से नर्गल (Nergal) एवं दुमुजि (Dumuzi) का

---

[1] H. A. Davies, An Outline History of the World, p. 52

उल्लेख किया जा सकता है। बैबिलोनियन देव-मण्डल में नर्गल (Nergal) का स्थान भी मुख्य देवताओं में था। इसे महामारी का देवता माना जाता था। इसका प्रभुत्त्व कथाह (Cuthah) नामक स्थान में था जिसे आभिचारिक ग्रंथों में भूतों का आवास बताया गया है। जलवायु एवं ऋतु से सम्बद्ध एक अन्य देव अदद (Adad) थे जिनका स्पष्टीकरण विद्युत्, गर्जन एवं तूफान द्वारा होता था। मारी में इस देवता ने विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। बाढ़ इत्यादि प्राकृतिक बाधाएँ इसी देवता द्वारा नियंत्रित होती थीं। तूफान से सम्बद्ध एक अन्य देव निनुर्त (Ninurt) के विषय में भी सूचनाएँ मिलती हैं। जो प्रकृत्या बहुत कुछ एनलिल से मिलता-जुलता था, स्यात् युद्धदेव के रूप में भी यह सम्मान का अधिकारी बन गया था। हम्मूराबी ने इससे ही वह अस्त्र प्राप्त किया था जिससे उसने सामरिक सफलताएँ अर्जित की थीं। असीरियन काल में भी इसे ही युद्ध एवं शिकार से सम्बन्धित किया गया। इसकी पत्नी गुल (Gul) थी। इसके चित्र कुत्ते के साथ मिलते हैं। लगश का स्थानीय देव निगिर्सु (Nigirsu) था।

उक्त विवरण के आधार पर यह सरलतापूर्वक कहा जा सकता है कि बैबिलोनियन देवी-देवता एक प्रकार से सुमेरियन देवी-देवताओं के ही बैबिलोनियन रूपान्तर थे। बैबिलोनियन देवताओं का स्वरूप एवं व्यक्तित्व लगभग वैसा ही था जैसा सुमेरियनों का। मनुष्य के समान उनमें भी हाड़-मांस था और उन्हीं के समान भोजन तथा विहार करते थे। मंदिरों में उनकी उपासना उसी प्रकार होती थी जैसे, घरों में सेवक स्वामी की करते थे। देवता को प्रसन्न करने के लिए मधु, घृत, तैल, दुग्ध, लवण, मक्खन, मत्स्य, शाक इत्यादि की भेंट चढ़ायी जाती थी। दैनिक भेंट को सत्तुकु (Sattuku) तथा मासिक भेंट को गुक्कु (Guqqu) कहा जाता था। इनके अतिरिक्त मंदिरों को पर्याप्त दान भी मिलता था। परिणामस्वरूप प्रतिदिन इनकी सम्पत्ति बढ़ती जा रही थी। मंदिर में विद्यमान इस सम्पत्ति का उपयोग पुरोहित सीधे न करके पूँजी के रूप में करते थे। इसी कारण धीरे-धीरे वे देश के सबसे बड़े पूँजीपति, उद्योगपति तथा भू-स्वामी बन गये। उनके अधीन बहुत से दास तथा श्रमिक कार्य करते थे।

बैबिलोनियन धर्म किसी प्रकार भी आध्यात्मिकता अथवा नैतिकता से सम्बद्ध नहीं माना जा सकता। उपासना का उद्देश्य किसी आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना अथवा नैतिक आचरण का सम्पादन करना नहीं था। वस्तुतः इसके मूल में भय एवं स्वार्थमयी प्रवृत्ति क्रियाशील थी। बैबिलोनिया निवासी देवता की उपासना इसलिये नहीं करता था कि उसे किसी आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति होगी, बल्कि इसलिए करता था कि देवता प्रसन्न होकर उसकी कृषि एवं वाणिज्य को समृद्ध करेंगे। अपने दुष्कर्मों को देवता के समक्ष प्रस्तुत कर जब वह क्षमा-याचना या प्रायश्चित्त करता था तब भी उसका उद्देश्य केवल भौतिक सुखों को प्राप्त करना था। बैबिलोनियन जीवन-मुक्ति जैसे गम्भीर विषयों को धर्म से सम्बद्ध नहीं कर सके। वे भूत-प्रेतादि के अस्तित्त्व में अत्यधिक विश्वास करते थे। उनका विश्वास था कि प्रेतात्माएँ पृथ्वी पर सर्वत्र

विचरण करती हुई मनुष्यों को उत्पीड़ित करती हैं। नर्गल देवता अवसर पाते ही मनुष्यों को धर-दबोचता था। अतएव भूत-प्रेतादि की बाधा के निवारण-निमित्त बैबिलोनिया के निवासी देवताओं का अवलम्बन लेते थे और उनकी सम्यक् अभ्यर्चना करते थे। इनसे बचने के लिए वे तावीज, देवताओं की मूर्तियाँ और कभी-कभी छोटे-छोटे पत्थरों की मालाएँ धारण करते थे। इनमें काले, सफेद तथा लाल धागे प्रयुक्त किये जाते थे।

अभिचार एवं अन्धविश्वास

बैबिलोनियन धर्म अन्धविश्वास एवं अभिचारपरक था। अभिचार, मंत्र-तन्त्र, शकुन इत्यादि का इसमें महत्त्वपूर्ण स्थान था। दैवी अवधारणा में सौम्य तत्त्वों के साथ-साथ रौद्र तत्त्व भी परिकल्पित थे। सुमेरियन नर्गल यहाँ दानव की कोटि में आ गया था। इसके अतिरिक्त अन्य दानवी शक्तियों की भी कल्पना की गई थी। इनसे बचने के लिये बैबिलोनियन सचेष्ट थे। इनका निवारण धार्मिक अनुष्ठानों एवं आभिचारिक वृत्तियों द्वारा किया जाता था। यह कार्य पुरोहितों की सहायता से सम्पन्न होता था क्योंकि धार्मिक अनुष्ठानों तथा आभिचारिक कृत्यों के पूर्ण ज्ञाता वही थे। इस रहस्य को वे सर्वसाधारण के समक्ष प्रकट नहीं करते थे। अतएव प्रत्येक बैबिलोनियन को इनकी कृपा-प्राप्ति के लिये सजग एवं सन्नद्ध रहना पड़ता था। इस दृष्टि से बैबिलोनियन पुजारियों की स्थिति सुमेरियन पुजारियों से अच्छी थी। लेकिन सुमेरियन काल में शासक ही प्राय: पुजारी बनते थे, अतएव उनमें राजाओं के विशिष्ट अधिकारों के अपहरण की प्रवृत्ति विद्यमान रहती थी, जबकि बैबिलोनियन युग में सम्राट् का पुजारियों पर पूर्ण नियंत्रण रहता था। बैबिलोनियन धर्म में दानवी शक्तियों की उपासना एवं आभिचारिक प्रवृत्ति का समावेश किन परिस्थितियों में किया गया था, कहना कठिन है। इस सम्बन्ध में दो सम्भावनाओं की चर्चा की जा सकती है। या तो इनका परिकल्पन बैबिलोन के अस्वस्थ प्राकृतिक वातावरण के कारण किया गया था अथवा जीते हुए राज्यों के निवासियों में भय उत्पन्न करने के लिए, लेकिन अधिक सम्भावना बाद वाले की ही है।

पुजारियों के अधिकार–विस्तार का जो भी स्वरूप रहा हो लेकिन निस्सन्देह उन्होंने बैबिलोनियनों में अपनी अच्छी धाक जमा ली थी। इनमें एक वर्ग शकुन अर्थात् शुभाशुभ विचारकों का था। इन्हें दैवज्ञ कहा जा सकता है। शायद ही किसी सभ्यता में शकुन-विचार सम्बन्धी अन्धविश्वास को इतना अधिक महत्त्व दिया गया हो। जन्म एवं मरण से लेकर प्रत्येक छोटी-बड़ी घटना किसी शुभ या अशुभ शकुन से जुड़ी रहती थी। नदी की गति, आकाश में ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति, स्वप्न, तथा मनुष्य एवं पशुओं के असाधारण व्यवहार के आधार पर भविष्य की सूचनाएँ प्राप्त की जाती थीं। कुत्ते की गति-विधि के आधार पर राजा से सम्बन्धित भविष्य की घटनाओं के

बारे में जानकारी प्राप्त करते थे। प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में शकुन-विचार आवश्यक था क्योंकि शकुन अच्छा होने पर ही उत्तम फल की आशा की जा सकती थी। यहाँ शकुन-विचार की अनेक विधियाँ प्रचलित थीं। पशु-पक्षियों के शरीर के कई टुकड़े कर दिये जाते थे और उनके भीतरी अंगों का अध्ययन कर शकुन प्राप्त किया जाता था। जलपूर्ण किसी पात्र में तेल की बूँद डाल दी जाती थी और उसके आधार पर शकुन-विचार किया जाता था। इनके शकुन-विचार की विधियों में यकृत-विधि सर्वाधिक मान्य एवं प्रचलित थी। इस विधि में अभीष्ट मेष को काट कर उसके यकृत के आधार पर शकुन विचार किया जाता था। बाद में इस प्रथा का प्रचलन प्राचीन विश्व की अन्य सभ्यताओं में भी हुआ। पुजारी विद्यार्थियों को शकुन की शिक्षा देते समय यकृत की मृण्मयी अनुकृतियाँ व्यवहार में लाते थे जिनके कुछ अवशेष प्राप्त किये गये हैं। दैवज्ञों के अतिरिक्त पुजारियों का एक अन्य वर्ग ज्योतिषियों का था जो ग्रह-नक्षत्रों की गति-विधियों के आधार पर शुभाशुभ घटनाओं का अनुमान लगाता था। इन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप बाद में असीरिया में ज्योतिष-विद्या का विकास किया गया।

परलोकवाद

बैबिलोनियन धर्म के अन्तर्गत लोकान्तर विषयक तत्त्वों का उतना ही अभाव था जितना पूर्ववर्ती सुमेरियन धर्म में। अमृतत्व एवं पुनर्जन्म जैसे विषयों के प्रति इनकी आस्था बिल्कुल नहीं थी। यदि इसके परिप्रेक्ष्य में इनके धर्म की समीक्षा करें तो निश्चित रूप से हम कह सकते हैं कि यह पूर्णतया भौतिकवादी था। बैबिलोनिया के निवासी देवताओं की उपासना भौतिक सुखों के लिये करते थे। उनका उद्देश्य स्वर्ग का सुख प्राप्त करना कदापि नहीं था। इनकी अवधारणा में दो लोक थे, स्वर्ग एवं पाताल। स्वर्ग देवताओं के लिये सुरक्षित था और उसे मनुष्य नहीं प्राप्त कर सकता था। उनके द्वारा कल्पित पाताल लोक का स्वरूप अत्यन्त भयानक था। प्रत्येक प्राणी मृत्यु के बाद इस लोक में प्रवेश करता था। इसमें प्रवेश करते समय पाप-पुण्य, मूढ़ता-विद्वता इत्यादि पर तनिक भी विचार नहीं किया जाता था अर्थात् पापी, पुण्यात्मा, मूढ़ एवं विद्वान् सभी को आवश्यक रूप से इस लोक में मृत्यु के बाद जाना ही पड़ता था। पाताल लोक के स्वरूप पर गिलगैमिश आख्यान से प्रकाश पड़ता है। गिलगैमिश के पूछने पर कि पाताल में मृत-व्यक्ति की क्या दशा होती है उसे एनकिडु बताता है कि कीड़े शरीर को वस्त्र की भाँति ही खाते हैं। किसी को परलोक में शान्ति तभी मिलती थी जब उसके परिवार के सदस्य उसकी समाधि पर खाद्य, पेय इत्यादि देते रहते थे। ऐसा न करने पर प्रेतात्माएँ सड़कों पर घूमती हुई अपवित्र वस्तुएँ ग्रहण करती थीं।

बैबिलोनियन पारलौकिक जीवन के संदर्भ में मृतक संस्कार का उल्लेख भी आवश्यक है। प्रायः शव को शव-पेटिका में रखकर भूमि में गाड़ते थे। कभी-कभी दाह-क्रिया भी सम्पन्न की जाती थी तथा अवशिष्टांश को घड़े इत्यादि में सुरक्षित

कर भूमि में गाड़ दिया जाता था। मिस्र की भाँति यहाँ मृतक सुरक्षित नहीं रखे जाते थे। कभी-कभी व्यवसायी वर्गों में मृतकों का स्नान, प्रक्षालन एवं शृंगार भी सम्पन्न किया जाता था। स्त्रियों के शवों को भी इसी प्रकार अलंकरणीय उपकरणों से संयुक्त किया जाता था। शव को दफनाते समय उनकी सावधानी का मूल कारण उनका यह विश्वास था कि यदि ऐसा न किया जायगा तो मृतक जीवित को कष्ट देगा तथा मृतात्माएँ अभद्र स्थलों पर भ्रमण करती हुई महामारी का कारण बनेंगी।

कला

बैबिलोनियनों में सृजनात्मक शक्ति का अभाव था, अतएव नवीन सृष्टियों को कौन कहे सुमेरियन कला को भी वे न दुहरा पाये। इसी कारण उनकी कलात्मक उपलब्धियाँ नगण्य ही रहीं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि इस दिशा में वे पूर्णतया असफल रहे।

वास्तुकला

वास्तुकला के क्षेत्र में बैबिलोनियन अधिक प्रगति न कर सके। इसके मुख्यतः दो कारण थे। सुमेरियनों की भाँति अपने परिवेश में इन्हें सम्बन्धित साधन सुलभ नहीं थे, अतएव जो भवन बनाते भी थे वे शीघ्र ही नष्ट हो जाते थे। हम्मूराबी इससे अनभिज्ञ नहीं था इसी लिए भवन धराशायी हो जाने पर सम्बन्धित शिल्पी के लिए कठोर-दण्ड की व्यवस्था की गई थी। सुमेरियनों के समान बैबिलोनियनों में रचनात्मक प्रतिभा नहीं थी, अतएव उच्चकोटि की कलाकृतियों का निर्माण वे न कर सके। बैबिलोनियन भवनों के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं उनसे ज्ञात होता है कि उनमें प्रायः ईंटें प्रयुक्त की जाती थीं। प्रयोग के पूर्व ईंटों को कठोर बनाने के लिए धूप में सुखा लिया जाता था अथवा अग्नि में पका लिया आता था। छतें गीली मिट्टी की सहायता से बनायी जाती थीं। इनके भवन प्रायः एक मंजिले अथवा दो मंजिले होते थे। कभी-कभी इनमें तीन-चार मंजिलें तक बनायी जाती थीं। भवनों में कमरों की संख्या पर्याप्त होती थी जो सड़क की ओर नहीं, बल्कि अन्तः प्राङ्गण की ओर खुलते थे। दीवारों में खिड़कियाँ प्रायः नहीं होती थीं।

बैबिलोनियन वास्तुकला के अन्तर्गत इनके मन्दिर और विशेषकर जिकुरत का उल्लेख किया जा सकता है। बैबिलोनियन मन्दिरों में सौंदर्य का अभाव था। वास्तव में बैबिलोनियन वास्तुकारों को सरलता एवं सादगी अधिक पसन्द थी। इसी लिये मन्दिरों को अलंकृत करने की दिशा में उन्होंने कभी भी कोई प्रयास नहीं किया। लेकिन सादगी एवं सरलता से परिपूर्ण बैबिलोनियन मन्दिर आकार-प्रकार में छोटे नहीं थे। दूसरे शब्दों में वे सौन्दर्यहीन विशाल भवन थे। इन्होंने दैवी एवं मानवीय आवश्यकताओं में एकरूपता लाने की चेष्टा की अर्थात् देवताओं का सम्बन्ध मानवीय आवश्यकताओं से जोड़ा गया। इसी

कारण बैबिलोनियनों ने अपने देवालयों की कल्पना गृहों के रूप में ही की। सामान्य गृहों एवं देवालयों के संयोजन में भेद केवल जिकुरत की दृष्टि से था। इनकी निर्माण योजना लगभग उसी प्रकार थी जैसी सुमेरियन जिकुरतों की। अर्थात् एक आधार वेदिका के ऊपर एक मन्दिर का निर्माण किया जाता था। ऊपर की ओर यह छोटा होता जाता था। ऊपर जाने के लिए सीढ़ी बनी होती थी। बैबिलोनियन जिकुरतों के सम्बन्ध में एक तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें मंजिलों की संख्या अधिक होती थी। बारसिप्पा (Barsippa) के जिकुरत में सात तल्ले बने थे, इसी लिए इसे 'सात सितारों का मंच' नाम दिया गया था। प्रत्येक मंजिल किसी न किसी ग्रह एवं उसके रंग से सम्बन्धित थी। सबसे नीचे की मंजिल शनि से सम्बन्धित थी और काले रंग से रँगी थी। इसके बाद क्रमशः शुक्र, वृहस्पति, बुध, मंगल, चन्द्र एवं सूर्य की मंजिलें थीं जिन्हें क्रमशः उनके प्रतिनिधि रंग श्वेत, बैंगनी, नीले, लाल, रुपहले तथा सुनहले में रँगा गया था। जिकुरत उनके लिए दो दृष्टियों से विशेष उपयोगी थे : प्रथमतः वे उनके देवालयों के रूप में प्रतिष्ठित थे और द्वितीयतः यहीं बैठकर बैबिलोनिया के ज्योतिषी ग्रह-नक्षत्रों का अध्ययन करते थे। तोरण, गुम्वद, बुर्ज इत्यादि यहाँ सुमेरियन परम्परा में ही बनाये जाते थे।

मूर्तिकला

वास्तुकला की ही भाँति मूर्तिकला में भी उनकी मौलिकता स्पष्ट नहीं हो पायी। इसका मूल कारण धार्मिक एवं राजनीतिक परम्पराओं को ही माना जा सकता है। परम्पराएँ इतनी प्रखर थीं कि मौलिकता को मुखरित होने का सुयोग ही नहीं मिला। जो कुछ कलाकृतियाँ बनीं भी उनके अल्प ही उदाहरण हमें मिल पाये। मूर्तियों के जो उदाहरण मिले हैं उनको देखने से लगता है कि सभी मुखाकृतियाँ लगभग एक-सी हैं। शासक को लम्बे, चौड़े और गठीले वदन का दिखाया गया है। मूर्तिकला के आदर्श उदाहरण रूप में सर्वाधिक प्रशस्त ग्रेनाइट का बना हम्मूराबी का शीश है। मारी से एक मूर्ति मिली है जो संभवतः उर्वरता की देवी की है जिसके हाथ गुलदस्ता से सुशोभित हैं।

मूर्तिकला के क्षेत्र में भले ही बैबिलोनियन अधिक विकसित न माने जायँ लेकिन उद्भृत कला के क्षेत्र में उनकी प्रगति निस्संदेह अच्छी थी। इसका ज्वलन्त उदाहरण वह अविस्मरणीय शिला-खण्ड है जिस पर हम्मूराबी की विधि-संहिता उत्कीर्ण है। भावना का यथातथ्य प्रदर्शन तथा मानवीय अभिव्यंजना दोनों का इसमें यथोचित निर्वाह मिलता है। इस शिला-खण्ड पर दो आकृतियाँ तक्षित हैं। एक आकृति श्रद्धा-अवनत मुद्रा में उत्कीर्ण है जिसका सम्बन्ध देव-प्रिय सम्राट् हम्मूराबी से है। दूसरी में दैवी तत्त्व आरोपित करने की यथासंभव चेष्टा की गई है जिसके प्रथम दर्शन से ही सूर्य देव शमश का स्मरण हो जाता है। इसके अतिरिक्त एक अन्य वस्तु की आकृति है जिसे हम्मूराबी उक्त देवता से ग्रहण करते हुए दिखाया गया है। इसका तादात्म्य हम्मूराबी की प्रसिद्ध विधि-संहिता से प्रस्तावित किया गया है। बैबिलोनियन कलाकारों ने मूर्ति-

कला की अपेक्षा उद्भूत मूर्तियों में निस्संदेह अधिक सफलता प्राप्त कर ली थी क्योंकि इनमें सजीवता अधिक है। लेकिन इस सम्बन्ध में स्मरणीय है कि इससे अधिक सफलता मिस्री कलाकारों को इनसे एक हजार वर्ष पहले मिल चुकी थी।

चित्रकला एवं अन्य गौण कलाएँ

बैबिलोनियन कला के अन्तर्गत चित्रकला कभी भी स्वतन्त्र कला के रूप में न विकसित हुई। इसका उपयोग सदा पूरक कला के रूप में ही किया गया। इनकी चित्रकला के उदाहरण हमें दीवारों के अलंकरण में ही मिलते हैं। मिस्र की समाधियों अथवा क्रीट के महलों में प्रयुक्त भित्तिचित्रों में जैसी चित्रकला का प्रदर्शन किया गया था वैसे साक्ष्य हमें बैबिलोनिया में नहीं मिलते हैं। बैबिलोनियन तक्षण-कला के अन्तर्गत इनकी मुद्रा निर्माण-कला का उल्लेख आवश्यक है। बैबिलोनिया में व्यापार-वाणिज्य का अत्य-धिक विकास किया गया था इसलिए मुद्रा की अधिक आवश्यकता पड़ती थी। यहाँ सर्व-साधारण से लेकर सम्राट् तक अपनी व्यक्तिगत मुद्रा रखते थे। लेन-देन तथा व्यापारिक पत्रों पर हस्ताक्षर के बदले यही मुद्रा अङ्कित कर दी जाती थी। ये मुद्राएँ आयताकार अथवा वर्तुलाकार होती थीं। इन पर भाँति-भाँति के चित्र और उनके साथ व्यक्ति से सम्बंधित नाम उत्कीर्ण रहते थे। इनकी शुचिता एवं सत्यता सत्यापित करने के लिये इन पर बैबिलोनियन देवताओं के नाम भी उत्कीर्ण कर दिये जाते थे। संगीत में उनकी विशेष रुचि थी, अतएव अनेक प्रकार के वाद्य-यंत्र जैसे, बाँसुरी, बीन, सारंगी, ढोल, तुरही, झाँझ इत्यादि बनाए गए। संगीत के कार्य-क्रम मंदिरों, महलों तथा समृद्ध व्यक्तियों के यहाँ आयोजित समारोहों में सम्पन्न किये जाते थे। समृद्ध जन सुन्दर टाइल्स, चमकीले पत्थर तथा अनेक प्रकार के फर्नीचर से अपने गृहों की शोभा-वृद्धि करते थे। वे आभूषण भी बनाते थे लेकिन उनमें उच्चकोटि की कलाकारिता नहीं मिलती।

बौद्धिक उपलब्धियाँ

बौद्धिक क्षेत्र में बैबिलोनियन निवासी उस सीमा का स्पर्श न कर सके जो अपेक्षित और संभव थी। लिपि के क्षेत्र में कुछ प्रगति अवश्य हुई लेकिन अधिक नहीं। साहित्य के क्षेत्र में थोड़ा-वहुत सुमिरियनों से आगे अवश्य बढ़े, किन्तु केवल कुछ अपवादों को छोड़कर वैज्ञानिक क्षेत्र में जहाँ तक सुमेरियावासियों ने विकास किया था वहीं तक रह गए।

लिपि

इनकी बौद्धिक उपलब्धियों के अन्तर्गत सर्वप्रथम लिपि का उल्लेख किया जा सकता है। बैबिलोनिया में प्रयुक्त लिपि सुमेरियन संस्कृति से ग्रहण की गई थी अर्थात् सुमेरिया की भाँति बैबिलोनिया में भी कीलाक्षर-लिपि का प्रचलन था। लेकिन बैबिलोनिया में प्रयुक्त इस कीलाक्षर लिपि के सम्बन्ध में दो तथ्य विशेष रूप से

उल्लेखनीय हैं। प्रथमतः इसके आकार-प्रकार में परिवर्तन तथा परिवर्द्धन और द्वितीयतः इसकी लोकप्रियता। इसमें अंतिम अधिक महत्त्वपूर्ण है। किसी लिपि के प्रचार-प्रसार तथा उसकी लोकप्रियता के लिए राजकीय प्रश्रय आवश्यक होता है। बैबिलोनियन कीलाक्षर लिपि इस सुयोग से वंचित न रही। प्रसिद्ध बैबिलोनियन सम्राट् हम्मूराबी तथा उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में इसी लिपि को विकसित होने एवं लोकप्रिय बनने का अवसर मिला। एक ओर साहित्यकारों ने साहित्यिक कृतियों में प्रयुक्त कर इसे महत्त्व दिया तो दूसरी ओर शासकों ने शासकीय कार्यों में इसे व्यवहृत कर शासकीय लिपि के पद पर प्रतिष्ठित किया। इतना ही नहीं, बल्कि सर्वसाधारण वर्ग के सदस्यों ने व्यावसायिक एवं व्यापारिक कार्यों में इसका उपयोग कर इसकी लोकप्रियता में और वृद्धि की। हम्मूराबी की प्रसिद्ध विधि-संहिता में इसके प्रयोग से न केवल इसकी शासकीय महत्ता प्रकट होती है, अपितु इसकी धार्मिक महत्ता भी स्पष्ट हो जाती है। ऐसी स्थिति में इस लिपि का सर्वव्यापी होना सहज एवं स्वाभाविक था।

साहित्य

इसमें संदेह नहीं है कि बैबिलोनियन कीलाक्षर लिपि द्वारा जो साहित्य लिखा गया उसका संकलन एवं संग्रंथन सुमेरियन साहित्य के प्रभाव के अन्तर्गत किया गया था लेकिन इस प्रक्रिया में उन्होंने यत्र-तत्र अपने परिवेश के अनुकूल उचित परिवर्तन कर मौलिकता के सन्निवेशन का यथेष्ट प्रयत्न किया। इनकी साहित्यिक कृतियों के रूप में सर्वप्रथम 'गिल्गैमिश महाकाव्य' (The Gilgamesh Epic) का उल्लेख किया जा सकता है। इलियड (Illiad) की भाँति इसमें भी अनेक कथाएँ एक दूसरे से सम्बद्ध मिलती हैं। इसमें सुमेरियन एवं बैबिलोनियन कथाओं का मिश्रण मिलता है। गिल्गैमिश एरेक का एक पौराणिक शासक था। महाकाव्य में उसका व्यक्तित्व अत्यन्त शक्तिशाली एवं रूपवान वीर पुरुष के रूप में वर्णित है। यद्यपि इस महाकाव्य की मूल कथा सुमेरियन आख्यानों से ग्रहण की गई है लेकिन बैबिलोनियन रूपान्तरण में इसे वास्तविक महाकाव्य का रूप देकर अधिक सुग्राह्य एवं सुरुचिपूर्ण बनाया गया। यहाँ मूल-कथा में यथावश्यक परिवर्तन कर इसे बारह अध्यायों में विभाजित किया गया। इस आख्यान के कुछ अंश बोघज-कोई से भी मिले हैं, अतएव लगता है कि इसका अनुवाद हित्ती एवं हुर्रियन भाषाओं में भी किया गया था। एस० एन० क्रेमर (S. N. Kramer) के अनुसार गिल्गैमिश महाकाव्य की आधारभूत कितनी ही सुमेरियन कथाएँ अक्कादी रूप में विद्यमान हैं। बारह अध्यायों में विभक्त होने के कारण बहुत से विद्वान् गिल्गैमिश आख्यान को एक सौर-आख्यान (Solar Myth) स्वीकार करते हैं लेकिन किंग महोदय (N.W. King) इससे सहमत नहीं हैं। आपके अनुसार गिल्गैमिश महाकाव्य का बारह अध्यायों में विभाजन उस समय किया गया जब इसने अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। ऐसी स्थिति में इसे सौर-आख्यान मानने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जो भी हो, इसमें संदेह नहीं है कि द्वितीय सहस्राब्दी

ई० पू० में मेसोपोटामिया एवं निकटवर्ती क्षेत्रों में यह महाकाव्य पर्याप्त विख्यात हो गया था।

गिल्गैमिश महाकाव्य के बाद द्वितीय स्थान पर 'जगत् उत्पत्ति आख्यान' (The Epic of the Creation of the World) का उल्लेख किया जा सकता है। इसे एक अन्य नाम 'एनुमा-एलिश' (Enuma-elish) से भी सम्बोधित किया गया है। जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई तथा देव समूह द्वारा इसका संचालन कैसे किया जाता है, इस आख्यान का वर्ण्य-विषय है। इसमें विश्व का संचालन करने वाले देवताओं में मार्दुक का स्थान श्रेष्ठ बताया गया है। इस आख्यान की लगभग एक सहस्र पंक्तियाँ सात पाटियों पर उत्कीर्ण प्राप्त हुई हैं। नववर्षोत्सव के उपलक्ष्य में नाटक के रूप में इसका अभिनय किया जाता था जिसमें बैबिलोनियन शासक व्यक्तिगत रूप से भाग लेते थे। इस कारण इसकी लोकप्रियता बढ़ गई थी।

एनुमा-एलिश के अतिरिक्त यहाँ कुछ अन्य कथाएँ भी प्रचलित थीं जिसमें मानव एवं देवताओं की उत्पत्ति का वर्णन किया गया था। मानव मात्र की उत्पत्ति-सम्बंधित कथा में मनुष्य की उत्पत्ति एक देवता के रक्त से तथा मानव भोगों की उत्पत्ति एक देवी द्वारा बतायी गयी है। इसका पठन-पाठन सन्तानोत्पत्ति के अवसर पर किया जाता था। देवताओं की उत्पत्ति-सम्बंधित आख्यान में आठ देवताओं की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। एक अन्य काव्य में नर्गल के पाताल लोक के राजा तथा एरिश किगल के पति बनने का उल्लेख मिलता है। अन्य प्रसिद्ध बैबिलोनियन आख्यानों में 'भाग्य-लेख' (Tablets of destiny), 'एटन गड़ेरिये की कथा' (Myth of Etana) एवं 'आदप मछुए की कथा' (The Story of Adap) की चर्चा की जा सकती है। 'भाग्य लेख' के अनुसार मनुष्यों एवं देवताओं के भाग्य कुछ तख्तियों पर उत्कीर्ण थे जो तियामत के अधिकार में थीं। मार्दुक ने उन्हें प्राप्त कर लिया था लेकिन एक दैत्य ने उन्हें चुरा लिया। अन्त में शमश ने उन्हें दैत्य से मुक्त कराया। 'एटन की कथा' में एटन के चील के पीठ पर आरूढ़ होकर आकाश-गमन एवं वहाँ से पृथ्वी पर गिरने का वर्णन किया गया है। 'आदप मछुए की कथा' में आदप को अत्यन्त क्रोधित बताया गया है। एक बार दक्षिणी वायु देवी ने उसकी नौका उलट दी उसने क्रुद्ध होकर देवी के पर छिन्न-भिन्न कर दिये। परिणामतः उसे आकाश-देव के समक्ष उपस्थित होना पड़ा। क्रोध शान्त होने पर देवता ने उसे जल तथा रोटी दी जिसे ग्रहण कर वह अमृतत्व प्राप्त कर सकता था लेकिन उसे अस्वीकार कर उसने यह अवसर खो दिया।

बैबिलोनियन साहित्य में कथा साहित्य के अतिरिक्त देवस्तोत्र, पूजा-गीत एवं आभिचारिक मंत्र भी लिखे गये। इनमें सर्वाधिक संख्या स्तोत्रों की थी। क्षमा-प्रार्थना से सम्बन्धित इनके कुछ गीत अत्यन्त मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी हैं। बैबिलोनियन लौकिक साहित्य अधिक समृद्ध नहीं माना जा सकता। आधिकारिक रूप से उपनिबद्ध इतिवृत्तों में शासकों की विजयों का वर्णन किया गया है एवं मंदिरों के विस्तृत विवरण तथा प्रत्येक नगर के जीवन की प्रमुख घटनाएँ अङ्कित हैं। लेकिन इनको ऐतिहासिक महत्ता

जो भी हो, साहित्यिक दृष्टि से परवर्ती हित्ती एवं असीरियन शासकीय लेखों के सदृश महत्त्वपूर्ण नहीं माने जा सकते।

दर्शन

धार्मिक एवं लौकिक साहित्य-ग्रंथों के साथ-साथ बैबिलोनिया में उच्चकोटि के दार्शनिक ग्रंथों की उपलब्धि यह सिद्ध करती है कि उन्होंने उच्चकोटि की बौद्धिक रचनाएँ भी की थीं। इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति 'लुडलुलबेल नेमकी' या 'बैबिलोनियन जॉब' (Babylonian Job) नाम से प्रसिद्ध है। इसे एक प्रकार से बाइबिल के ओल्ड टेस्टामेण्ट की पाँच किताबों (Books) में एक 'बुक ऑव जॉब' (Book of Job) का मूल माना जा सकता है। इसमें एक ऐसे व्यक्ति के कष्टों का वर्णन किया गया है जो प्रारंभ से ही सदाचारी एवं धार्मिक है। उसने पृथ्वी पर कभी कोई बुरा-कर्म नहीं किया तथापि उसे अतिशय कष्ट मिलता है। वह अनुभव करता है जैसे उसने ईश्वर के लिए न कभी भोग लगाया न उसका स्मरण किया। उसने जो कुछ किया था उससे ईश्वर को प्रसन्न होना चाहिये था लेकिन उसके साथ इसका उल्टा हो रहा है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि देवताओं के रहस्य को समझा नहीं जा सकता। मनुष्य का भाग्य अनिश्चित है। अन्त में इसके समाधान का एक भावात्मक उत्तर दिया गया है। वह देवताओं के प्रति विश्वास कर आनन्द प्राप्त करता है और कष्टों से उसे छुटकारा मिल जाता है। इसी कोटि के अन्तर्गत 'द बैबिलोनियन थिऑडिसि' (The Babylonian Theodicy) का उल्लेख किया जा सकता है। पद्य रचना के रूप में इस ईशशास्त्र में विपत्ति में पड़े एक व्यक्ति तथा उसके मित्र के बीच वार्तालाप मिलता है। एक अन्य कृति 'डाइअलॉग ऑव पेसिमिज्म' (Dialogue of Pessimism) में स्वामी तथा दास के बीच वार्तालाप का वर्णन है। उपदेशपरक नीति साहित्य के रूप मे 'कौंसिल ऑव विज्डम' (Counsel of Wisdom) का उल्लेख किया जा सकता है। इसमें पिता द्वारा पुत्र को दी गयी शिक्षाएँ संग्रहीत हैं।

विज्ञान

व्यापारी होने के कारण बैबिलोनियनों ने विज्ञान में अच्छी प्रगति की थी। गणित, ज्योतिष, खगोलशास्त्र, मानचित्र-निर्माण एवं औषधिशास्त्र में इनकी उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती हैं। इसमें कहीं-कहीं इन्होंने सुमेरियनों को भी मात कर दिया था। यहाँ पुरोहितों को ही न्यायाधीश, प्रशासक, कृषि एवं उद्योग के संचालक, वैद्य तथा ज्योतिषी इत्यादि के कार्य सम्पन्न करने पड़ते थे। इसके फलस्वरूप इन्होंने बहुत-सी ऐसी वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त कर ली थी जिसके आधार पर बाद में यूनानियों ने बहुत से वैज्ञानिक सिद्धान्त आविष्कृत किये।

गणित—सुमेरियनों की भाँति बैबिलोनियन अंक-पद्धति भी द्विदाशमिक (duodecimal) एवं षाष्ठिक (Sexagesimal) विधि पर आधृत थी। एक लिखने के लिए जो

चिह्न बनाया जाता था उसी को संख्या के अनुसार लिख कर नौ तक की संख्याएँ प्राप्त कर ली जाती थी। जैसे छः लिखने के लिये एक संख्या के चिह्न को ही छः बार लिख दिया जाता था। दश के लिये पृथक् चिह्न था। इसे ही दो, तीन अथवा चार बार लिख कर क्रमशः बीस, तीस एवं चालीस की संख्याएँ प्राप्त करते थे। साठ के लिये पृथक् चिह्न था जिसकी सहायता से साठ, एक सौ बीस, एक सौ अस्सी इत्यादि संख्याएँ लिखी जाती थीं। इन्हीं चिह्नों की सहायता से वे दशमलव विधि द्वारा सभी अभीष्ट संख्याएँ लिखते थे। हिसाब लगाने के लिये पहाड़ों एवं सारणियों की सहायता ली जाती थी। इनमें मूल संख्या के आधे, तिहाई, चौथाई, वर्ग एवं घन के अतिरिक्त गुणन और विभाजन के विवरण भी रहते थे। रेखागणित में मिश्रित एवं टेढ़े-मेढ़े क्षेत्र का क्षेत्रफल भी वे ज्ञात कर लेते थे। वृत को तीन सौ साठ अंशों में विभाजित किया गया था। संभवतः इसी आधार पर उक्त षाष्ठिक विधि विकसित हुई थी।

ज्योतिष—उनकी रूचि ज्योतिष में विशेष थी। इस दिशा में उनकी उपलब्धि महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती है। आकाश के ग्रह देवतुल्य थे और उनके भाग्य विधायक थे जिसका अनुमान वे उनकी स्थिति के आधार पर करते थे। सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र तथा शनि का तादात्म्य उन्होंने क्रमशः शमश, सिन, नर्गल नेबु, मार्दुक, इश्टर तथा निनिब से किया था। प्रत्येक ग्रहों की गति-विधियों के विषय में उनके पास सूचनाएँ रहती थीं। इनकी प्रत्येक गति-विधि को वे किसी न किसी भावी घटना से सम्बद्ध मानते थे। यदि चन्द्र नीचे होता था तो वे अनुमान लगाते थे कि कोई दूरस्थ देश आत्म-समर्पण करने वाला है। अर्द्ध चन्द्र शासक द्वारा शत्रु-विजय द्योतित करता था। इन्हीं भविष्यवाणियों के आधार पर बैबिलोनियन पुरोहित प्रचुर धन संग्रहीत करने में सफल हुए थे तथा समाज में पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त किए थे। पुरोहित सदा इस विद्या को रहस्य बनाये रखते थे। इसकी जानकारी प्राप्त करना सरल नहीं था। इसे सीखने के लिये साधक को कठिन परिश्रम करना पड़ता था। सम्यक् ज्ञान प्राप्त किये बिना जो व्यक्ति इस व्यवसाय को अपनाकर भविष्यवाणियाँ करता था उसे अत्यन्त निंद्य माना जाता था।

खगोल शास्त्र—स्वार्थवश ही सही, बैबिलोनियन ज्योतिषियों ने खगोल शास्त्रीय अध्ययन के लिए मार्ग प्रशस्त किया। शनैः-शनैः वे इसमें निष्णात हो गये। ग्रह-पथ एवं गतियों का उन्होंने इतना सूक्ष्म अध्ययन किया कि द्वितीय सहस्राब्दी ई०पू० के पूर्वार्द्ध में ही उन्होंने शुक्र के उदय एवं अस्त के विषय में जानकारी प्राप्त कर ली थी। विभिन्न ग्रहों की आकाशीय स्थिति वे जानते थे। ग्रह-मण्डल के चित्र-निर्माण में भी वे निपुण हो चुके थे। उन्होंने वर्ष को बारह चन्द्र मासों में विभाजित किया था। इनमें छः मास तीस दिन तथा छः मास उन्तीस दिन के थे। इस प्रकार कुल एक वर्ष में तीन सो चौवन दिन थे। लेकिन चन्द्रवर्ष एवं सौर-वर्ष में साम्य स्थापित करने के लिए समयानुसार प्रति चौथे या पाँचवें वर्ष इसमें एक अतिरिक्त मास जोड़ दिया जाता था। प्रत्येक मास में चार सप्ताह, एक दिन में बारह घंटे, तथा प्रति घंटे में तीस मिनट होते थे। इस

प्रकार उनका एक घंटा हमारे दो घंटे तथा एक मिनट हमारे चार मिनटों के बराबर होता था।

मानचित्र-निर्माण—जैसे आकाश में स्थित ग्रहों के मानचित्र बनाने में उन्हें तनिक कठिनाई नहीं होती थी उसी प्रकार धरातल एवं उस पर स्थित नगरों के मानचित्र-निर्माण में भी वे अत्यन्त कुशल थे। इस वैज्ञानिक उपलब्धि के ज्वलन्त प्रमाण रूप में शात-अजल्ला प्रान्त के एक मानचित्र को प्रस्तुत किया जा सकता है। इसका निर्माण एक मिट्टी की पट्टी पर किया गया है। इसमें विविध रेखाओं द्वारा पर्वत, समुद्र एवं नदियों को प्रदर्शित किया गया है। स्थल-स्थल पर विभिन्न नगरों के नाम अङ्कित हैं। हाशिये पर उत्तर-दक्षिण दिशा निर्दिष्ट है। इनके मानचित्र का एक दूसरा उदाहरण निप्पुर नगर से सम्बंधित है जो सम्प्रति जेना विश्वविद्यालय के संग्रहालय में विद्यमान है। इसमें भी नगर के देवालयों, उपवनों, नहरों तथा प्राचीरों को अच्छी तरह प्रदर्शित किया गया है। एक दूसरे मानचित्र में इसी नगर के पड़ोसी प्रदेश का विवरण मिलता है। इन तीनों साक्ष्यों की उपस्थिति से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि वैबिलोनियन मानचित्र के निर्माण में अच्छी सफलता प्राप्त कर चुके थे।

औषधि-शास्त्र—वैबिलोनियन विज्ञान धर्माश्रित था। इसका प्रभाव खगोल शास्त्र से अधिक औषधि-शास्त्र पर पड़ा। इस धार्मिक अधीनता के फलस्वरूप इनके चिकित्स शास्त्र में एक प्रकार की स्थिरता आ गयी। पुरोहितों के रहस्यमय व्यवहार तथा अंधविश्वास के प्रचार-प्रसार ने इस प्रगति को और मन्द बना दिया। लेकिन इन कठिनाइयों के बावजूद भी इस दिशा में उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण प्रगति की। हम्मूराबी के समय से ही चिकित्सा शास्त्र के क्षेत्र में कुछ-कुछ उन्नति प्रारम्भ हो गयी थी और पुरोहितों का प्रभाव घटने लगा था। हम्मूराबी औषिध-शास्त्र को वैज्ञानिक विकास का एक आवश्यक अंग मानता था इसी लिये इसके नियंत्रण के लिये उसकी विधि-संहिता में कुछ कठोर नियम बनाए गये थे। अब तक व्यावसायिक चिकित्सकों का वर्ग अस्तिव में आ चुका था। यह ऐसा वर्ग था जो सशुल्क चिकित्सा करता था। चिकित्सा के लिए शुल्क तथा दण्ड दोनों का निर्णय विधि-संहिता के अनुसार किया जाता था। औषधि-चिकित्सा तथा शल्य-चिकित्सा के लिए अलग-अलग शुल्क निश्चित थे। चिकित्सा करना सरल नहीं था। चिकित्सकों को रोग-निदान, उपचार एवं शल्य-क्रिया इत्यादि बड़ी सावधानी से करनी पड़ती थी। असावधानी के लिए कठोर-दण्ड की व्यवस्था थी। यदि शल्य-क्रिया में चिकित्सक द्वारा किसी कुलीन वर्ग के रोगी की मृत्यु हो जाती थी तो चिकित्सक के दोनों हाथ उड़ा दिये जाते थे। लेकिन मध्यमवर्ग के रोगी होने पर यह दण्ड नही लागू किया जाता था। यदि चिकित्सा के समय किसी व्यक्ति के दास की मृत्यु हो जाती थी तो शल्यक को दास के स्वामी को दूसरा दास देना पड़ता था। यदि चिकित्सा के समय दास की आँख विनष्ट हो जाती थी तो दास का स्वामी शल्यक से दास का अर्द्धमूल्य प्राप्त करने का अधिकारी था। इस प्रकार के कठोर अनुशासन में चिकित्सकों से असावधानी की संम्भावना बिल्कुल

नहीं थी। निस्संदेह वे रोगी को रोग-मुक्त एवं जीवन प्रदान करने में लगन एवं निष्ठा से कार्य करते थे लेकिन अन्धविश्वास एवं अभिचार के अत्यधिक प्रभाव के कारण चिकित्सकों की अपेक्षा टोने-टोटके वाले ओझाओं का महत्त्व अधिक बढ़ गया था। इसके मूल में उनकी उस भावना को माना जा सकता है जिसमें वे रोग के कारण को प्राकृतिक न मानकर भूत-प्रेतादि द्वारा बनाया गया दैवी प्रकोप मानते थे। अतएव उसका उपचार भी चिकित्सक की अपेक्षा ओझा अच्छी तरह कर सकते थे। रोग-मुक्ति के लिए पूजा-पाठ, तन्त्र-मंत्र, एवं अनेक प्रकार की आभिचारिक क्रियाओं का अवलम्बन लिया जाता था। दवा का प्रयोग भी रोग-निवारण के लिए नहीं, अपितु प्रेत-बाधा के निवारण-निमित्त किया जाता था। औषधियाँ जो बनती भी थीं उन पर अभिचार की गहरी छाप थी, अतएव उसका स्वरूप अतीव विचित्र एवं घृणित रहता था। औषधियों के मिश्रण में प्राय: कच्चे मांस, साँप के मांस, मदिरा तथा तेल, खाने की सड़ी-गली चीजें, हड्डियों के चूर्ण, चर्बी, धूल तथा पशुओं एवं मनुष्यों के मल-मूत्र रहते थे। कभी-कभी भूत-प्रेतादि को प्रसन्न करने लिये रोगी को कुछ उत्तम पदार्थ भी दिए जाते थे। उनका विश्वास था कि ये पदार्थ रोगी के माध्यम से भूत-प्रेतों को प्राप्त होंगे जिन्हें पाकर वे शीघ्रता से रोगी को मुक्त करेंगे। यदि सभी प्रयत्नों के बाद भी रोग-मुक्ति नहीं मिलती तो रोगी को सार्वजनिक स्थानों जैसे हाट इत्यादि में लाया जाता था जहाँ सभी अनुभवी बूढ़े ओझा-वैद्य इकट्ठे होते थे और उस विषय पर अपने-अपने अनुभव के अनुसार परामर्श देते थे। बैबिलोनियन औषधि-शास्त्र से सम्बंधित मिट्टी की पाटियों पर जो लेख मिले हैं वे अपर्याप्त हैं, अतएव उनके आधार पर बैबिलोनियन औषधि-शास्त्र से पूर्णतया परिचित होना कठिन है। इसलिये उसके वास्तविक स्वरूप का निर्धारण नहीं किया जा सकता। वर्तमान समय में यह भी कहना कठिन है कि रोग के कारण रूप में प्रेत-बाधा सम्बंधित उनका विश्वास किस सीमा तक बुद्धि एवं तर्कहीन था।

बैबिलोनियन-सभ्यता की महत्ता एवं देन

बैबिलोनियन संस्कृति के सम्यक् अनुशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अंग-सौष्ठव की दृष्टि से यह संस्कृति पूर्णता को प्राप्त थी जिसमें राजनीतिक उतार-चढ़ाव के साथ-साथ महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक विकास भी हुए थे। बैबिलोनियन संस्कृति का प्रभाव बैबिलोन तक ही सीमित न रह कर समय-समय पर अपनी गरिमारश्मि से अन्य संस्कृतियों को भी आलोकित करता रहा।

विल ड्युरैण्ट के अनुसार मानव सभ्यता को बैबिलोनियनों से उतना नहीं मिला जितना मिस्र, भारत अथवा चीन से मिला था। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राचीन विश्व के इतिहास में बैबिलोनियनों का कोई योगदान ही नहीं था। सभ्यता एवं संस्कृति के क्षेत्र में इनके कतिपय आविष्कार निस्संदेह महत्त्वपूर्ण थे और उनका प्रभाव परवर्ती विश्व पर पड़ा था। उदाहरणार्थ, यहूदियों के हाथ साहित्यिक संस्कार प्राप्त कर

योरोपीय गाथाओं की अंग बनने वाली पौराणिक कथाओं के स्रोत बैबिलोनियन रोचक गाथाओं में देखे जा सकते हैं। इनके गणित, खगोल शास्त्र, औषधि-शास्त्र, कला, दर्शन इत्यादि से सम्बन्धित बहुत से तत्त्व भ्रमणशील यूनानियों के पास पहुँचे जहाँ से वे रोम गये और उसके बाद अनुवर्तिनी संस्कृतियों द्वारा ग्रहण किये गये। धातुओं, नक्षत्रों, औषधियों, नाप एवं माप, वाद्य-यन्त्रों इत्यादि के यूनानी नाम बैबिलोनियन नामों के ही यूनानी रूपान्तर हैं। बैबिलोनियन जिकुरतों का प्रभाव निर्विवादतः मुस्लिम मस्जिदों पर देखा जा सकता है। हम्मूराबी के विधान का प्राचीन विश्व का समाज उतना ही ऋणी है जितना आधुनिक संसार रोम का। बैबिलोनियन संस्कृति के पराभव के बाद असीरियन प्रभुता स्थापित हुई लेकिन राजनीतिक दृष्टि से पराभूत बैबिलोनियनों ने असीरियनों पर सांस्कृतिक विजय प्राप्त कर ली। इस तरह सब कुछ नष्ट हो जाने पर भी बैबिलोनिया का कुछ भी नष्ट नहीं हुआ।

●

5

असीरियन सभ्यता

मेसोपोटामिया में, ऊपरी दज़ला नदी के दोनों ओर असीरिया का एक छोटा प्रदेश स्थित था। यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से इसे मेसोपोटामिया का अंग होने का सुयोग नहीं मिला था लेकिन पूर्व तथा उत्तर में स्थित क्रमश: जगरोस · एवं अर्मीनियन पर्वतमालाओं से अन्य देशों से पृथक् होने के कारण तथा दक्षिण में स्थित बैबिलोन से दज़ला नदी द्वारा सम्बद्ध होने के कारण इसकी गणना मेसोपोटामिया के अन्तर्गत कर ली जाती है। असीरिया एक पर्वतीय प्रदेश है जिसके बीच-बीच में नदी-घाटियाँ हैं। पर्वतीय प्रदेश होने के कारण यहाँ की जलवायु बैबिलोन की अपेक्षा अधिक शक्तिवर्द्धक सिद्ध हुई। इसका प्रभाव यहाँ के निवासियों पर पड़ा। पर्वतीय भाग से प्रचुर मात्रा में चूना-पत्थर, सिलखड़ी तथा अन्य कठोर पत्थर मिल जाते थे। नदी घाटियों में सुसम्पन्न कृषि हो जाती थी जिससे गेहूँ तथा जौ की अच्छी उपज वे प्राप्त कर लेते थे। भारवाहन में गर्दभ का प्रयोग किया जाता था। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वे अश्व-पालन से अपरिचित थे। वास्तव में अश्व से उनका परिचय था लेकिन इनका आम प्रचलन नहीं था।[1]

दज़ला-फ़रात की घाटी में कैसाइटों का काल सांस्कृतिक शिथिलता का काल था। कैसाइट असभ्य एवं बर्बर थे तथा संस्कृति के प्रति उदासीन थे। क्योंकि यदि वे ऐसे न होते तो निश्चित ही दज़ला-फ़रात घाटी की सभ्यता जिसे हम्मूराबी ने विकसित अवस्था में छोड़ा था कुछ और सुसंस्कृत एवं समृद्ध करते। लेकिन वे तो इस घाटी में अश्व के प्रयोग के प्रचलन से ही, यद्यपि जो इस घाटी की सभ्यता के लिए सर्वथा नवीन तत्त्व था, सन्तुष्ट रहे। बर्न्स के अनुसार दज़ला-फ़रात घाटी में अश्वों का प्रचलन करना ही कैसाइटों का एक मात्र योगदान था।[2]

---

1. J. H. Breasted, Ancient Times, p. 180
2. E. M. Burns, Western Civilization, Vol. I, p. 63

यदि दज़ला-फ़रात घाटी की ऐतिहासिक स्थिति ऐसी ही रहती तो इस सुसम्पन्न भू-भाग की चिरपोषित सभ्यता काल की कठोरता से चूर हो जाती। पर संयोग से इसका भविष्य अंधकारमय नहीं था। इसके कलेवर की काट-छाँट, संवर्द्धन और परिवर्द्धन होना अभी शेष था। यह उद्देश्य दज़ला-फ़रात घाटी में बसने वाली एक अन्य जाति द्वारा पूर्ण किया गया। यह जाति पहले अरब के शुष्क प्रदेश में निवास करती थी। तीन हजार ई० पू० के पहले इसका एक समुदाय आकर दज़ला के किनारे 'असुर' (Assur) नामक स्थान में बस गया था। यह एक युद्ध-प्रिय जाति थी। संयोग से असुर नामक नगर की भौगोलिक स्थिति इनकी युद्ध-प्रिय प्रवृत्ति के अनुकूल थी। यहाँ वे सुरक्षा का अनुभव कर सकते थे, सेना का संगठन कर सकते थे और आवश्यकता पड़ने पर साम्राज्य-विस्तार की योजना भी कार्यान्वित कर सकते थे। यह सेमिटिक जाति की ही एक शाखा थी। अतः सेमेटिक भाषा का प्रयोग करती थी, इसी लिए इन्हें भी सेमिटिक कहा गया है। लेकिन इनके राजनीतिक और सांस्कृतिक क्रिया-कलापों में 'असुर' नामक नगर का योगदान इतना महत्त्वपूर्ण रहा है कि इन्हें असीरियन नाम से विशेष प्रसिद्धि मिली।

असीरियन जिस भू-क्षेत्र में रहते थे वहाँ दो दिशाओं से विशेष खतरा था। उत्तर-पूर्व में जंगली और पर्वतीय-जातियाँ रहती थीं जिनकी जीविका का कोई सभ्य और निश्चित साधन नहीं था। लूटमार से ही इनका जीवन-यापन होता था। असीरियन के पश्चिमी पड़ोसी भी कुछ इसी प्रकार के थे। ये घुमक्कड़ थे तथा इनकी अपनी जमीन बंजर और बलुई थी। अतएव सम्पन्न सम्प्रदायों को लूटना ही इनका भी व्यवसाय था। ऐसी परिस्थिति में असीरियनों में यदि संघर्षात्मक प्रवृत्ति विकसित हुई तो देश और काल की दृष्टि से इसे संगत ही माना जा सकता है।[1]

असीरियनों की प्रवृत्ति में हमें दो बातें दिखाई पड़ती हैं। एक तो इनका जातिगत स्वभाव अर्थात् ये अपने मूल स्थान से योद्धा की हैसियत से आए थे और इन्हें दज़ला-फ़रात घाटी के ऐसे भाग में रहना पड़ा जहाँ योद्धा रह सकते थे, दूसरे दज़ला-फ़रात की स्थानीय विशेषताओं को इनके द्वारा अपनाया जाना अर्थात् वहाँ जो लोग पहले से रह रहे थे वे कृषि-कर्म तथा नागरिक जीवन में काफी आगे थे। इस प्रकार इनके संरक्षण में दज़ला-फ़रात की घाटी में जो सभ्यता विकसित हुई उसे ही असीरियन की सभ्यता नाम दिया गया। बर्न्स असीरियन सभ्यता को दजला-फ़रात घाटी की सभ्यता का तृतीय स्तर स्वीकार करते हैं।[2]

ऐतिहासिक स्रोत

असीरियन सभ्यता के अध्ययन में हमें बाइबिल तथा यूनानी ग्रन्थों से कुछ सहायता अवश्य मिलती है लेकिन इनका विशेष महत्त्व नहीं है। असीरियन इतिहास के

---

[1] See, C. E. Van Sickle, A Political and Cultural History of Ancient World, p. 124.

[2] E.M. Burns, Western Civilization, Vol. I, p. 63

विषय में सबसे अधिक जानकारी इनके अपने लेखों से होती है। इस दृष्टि से समकालिक इतिहास (The Synchronous History) का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है। इसकी रचना शायद अशुरबनिपाल के समय में उसी के निर्देश में सम्पन्न हुई थी। इससे असीरिया तथा बैबिलोनिया के समकालीन इतिहास के विषय में सूचनाएँ मिलती हैं। असीरियन शासक अपने वार्षिक सैनिक अभियानों का विवरण उत्कीर्ण कर राजकीय संग्रहालयों में सुरक्षित रख देते थे। ये लेख असीरियन इतिहास के अध्ययन में बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इनके माध्यम से असीरियन शासकों के शासनकाल की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ ज्ञात हो जाती हैं। अशुरबनिपाल के राजकीय संग्रहालय में उसके शासन-काल के राजकीय लेखों के अतिरिक्त बैबिलोनियन एवं असीरियन साहित्यिक लेखों को भी सुरक्षित किया गया था। इनसे भी हमें पर्याप्त सहायता मिलती है।

असीरियन इतिहास में तिथि-निर्धारण में इनकी एक सूची का विशेष महत्त्व है। मिस्री एवं बैबिलोनियनों की भाँति असीरियनों को भी संवत् की गणना का ज्ञान नहीं था। अतएव वर्ष की गणना प्रतिवर्ष मनाए जाने वाले उत्सव के आधार पर करते थे। इस उत्सव की घोषणा लिम्मू (Limmu) पदाधिकारी करता था, इसी लिए इसे लिम्मू-सूची (Limmu-list) कहा गया है। अदद-निरारी द्वितीय (Adad-Nirari II) के समय से लेकर अशुरबनिपाल के समय तक की यह सूची उपलब्ध हुई है। शासक किसी वर्ष की घटना का वर्णन करते समय उस वर्ष के लिम्मू-पदाधिकारी का नाम भी दे देते थे। सम्बंधित-लिम्मू अधिकारी की तिथि किसी प्रकार ज्ञात हो जाने पर उस घटना का समय सरलतापूर्वक जाना जा सकता है।

राजनीतिक इतिहास

असीरियनों का प्रारंभिक इतिहास अंधकारमय है। वे तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारंभ में या उससे कुछ पहले असीरिया में प्रविष्ट हो कर असुर नामक नगर को केन्द्र मानकर अपनी शक्ति के विकास में लग गये थे। धीरे-धीरे उनकी शक्ति विकसित होती गई और वहाँ उन्होंने कई छोटे-छोटे नगर-राज्यों की स्थापना में सफलता प्राप्त कर ली। द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारंभ में उन्होंने बैबिलोन के प्रसिद्ध शासक हम्मूराबी की शक्ति स्वीकार कर ली थी। क्योंकि हम्मूराबी ने जिन नगरों को धार्मिक केन्द्र होने के नाते सहायता प्रदान की थी उसमें असुर भी एक था। हम्मूराबी के बाद बैबिलोन पर बर्बर कैसाइटों का प्रभुत्व स्थापित हुआ था। हम्मूराबी के विशाल साम्राज्य के उत्तराधिकारी कैसाइटों ने असुर को बैबिलोन का अंग मानकर उसको दबाने का प्रयत्न अवश्य किया लेकिन युद्ध-प्रिय एवं दुर्दमनीय असीरियनों का कुछ न बिगाड़ सके। इधर कैसाइटों की शक्ति निरन्तर क्षीण हो रही थी उधर असीरियन धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। अभी असीरियन बैबिलोन पर अधिकार करने का स्वप्न देख ही रहे थे इसी बीच उनके पड़ोसी मितन्नी राज्य का उदय हुआ। मितन्नियों का अभ्युदय असीरियनों के लिए अहितकर सिद्ध हुआ।

मितन्नियों के काल में असीरिया राजनीतिक क्षितिज से लगभग अन्तर्ध्यान हो गया था। किन्तु जैसे ही मितन्नी शक्ति का ह्रास हुआ असीरियन सितारा पुनः अशुर-उबैलित प्रथम के मार्ग-दर्शन में राजनीतिक गगनांगन को अपनी रश्मियों से आलोकित करने लगा। अपनी पुत्री का विवाह बैबिलोनियन युवराज कारा-इन्देश से करने के कारण इसकी स्थिति और भी दृढ़ हो गई। इसी के फलस्वरूप अशुर-उबैलित प्रथम ने बैबिलोनिया की राजनीति में हस्तक्षेप कर वहाँ करिगलजु द्वितीय को शासक नियुक्त कर दिया था। लेकिन असुर-उबैलित प्रथम की मृत्यु के तत्काल बाद बैबिलोनिया एवं असीरिया के मधुर-सम्वंधों के सूत्र विखर गये और दोनों में परस्पर संघर्ष छिड़ गया। शालमनेसर प्रथम के उत्तराधिकारी टुकुल्ति-निनुर्त प्रथम ने पुनः बैबिलोनिया को असीरिया में मिला लिया। वहाँ असीरियन शासक नियुक्त हुए तथा राजनीतिक क्रिया-कलापों का चक्र असीरियन केन्द्र बिन्दु पर घूमने लगा। टुकुल्ति-निनुर्त प्रथम की विजयों में महत्त्वपूर्ण विजय पश्चिमी-उत्तरी भागों की थी जिनमें नैरी (Nairi) प्रदेश भी सम्मिलित था। इस प्रकार अशुर-उबैलित प्रथम द्वारा जिस साम्राज्य की स्थापना की गई उसकी सीमाएँ पर्याप्त विस्तृत थीं। टुकुल्ति-निनुर्त प्रथम से लेकर तिग्लैथपिलीज़र प्रथम (Tiglathpileser I,1115-1077 B. C.) तक जिन असीरियन शासकों के विषय में सूचनाएँ हैं उसमें अशुर-नदिन-अप्लि (Asur-Nadin-Apli, 1207-1204 B. C.) जिसे संभवतः अपने पिता टुकुल्ति-निनुर्त प्रथम की हत्या करने के बाद उत्तराधिकार मिला था, एनलिल-कुडुर-उसुर (Enlil-Kudur-usur), निनुर्त-अपल-इकुर (Ninurt-Apal-Ekur, 1192-1180 B. C.), अशुर-दान प्रथम(Ashur-dan I,1179-1134 B.C.) तथा अशुर-रेश-इशि (Ashur-Resh-Ishi, 1131-1116 B. C.) आदि के नाम उल्लिखित किए जा सकते हैं। इनमें अंतिम शासक के विषय में सूचना मिलती है कि उसने अह्लमु (Ahlamu) नामक जाति से डटकर मोर्चा लिया था तथा सुतु (Sutu) और लुल्लुबि(Lullubi) नामक पर्वतीय जातियों को पराजित किया था। इसके बाद उत्तराधिकार तिग्लैथपिलीज़र को मिला।

तिग्लैथपिलीज़र प्रथम

वास्तव में असीरियन पश्चिमी एशिया में जिस साम्राज्यवाद की स्थापना के लिये कृत संकल्प थे उसके स्पष्ट लक्षण टुकुल्ति-निनुर्त प्रथम के समय से ही दिखाई पड़ने लगे थे। यह अत्यन्त सहज और स्वाभाविक था कि उनके इस उत्कर्ष को पश्चिमी एशिया के दूसरे राज्य शंका की दृष्टि से देखते। तिग्लैथपिलीज़र के राज्य ग्रहण से उनकी यह शंका और बलवती हो गई। असीरियन आतंकवादी नीति का वास्तविक जन्मदाता यही था। तिग्लैथपिलीज़र प्रथम के समय में मुश्की (Mushki) नामक एक जाति ने असीरियन सूबे पर आक्रमण कर दिया लेकिन शीघ्र ही उन्हें उल्टे पाँव वापस जाना पड़ा क्योंकि तिग्लैथपिलीज़र प्रथम के पास उसके दाँत खट्टे करने के लिए पर्याप्त शक्ति थी। एशिया माइनर में भी उसकी शक्ति का विस्तार उसके पूर्वजों से अधिक हुआ। मिस्री

शासक नेसुबेनेब्देद (Nesubenebded) ने तिग्लैथपिलीज़र की शक्ति से प्रभावित होकर एक मगर भेंट के रूप में भेजा था ।[1] सीरियन तट की ओर बढ़ने पर गुब्ला (Gubla), सिडोन (Sidon) तथा अर्वद (Arvad) ने उसकी अभ्यर्थना की थी । कहा जाता है, इसके बाद उसका एक सफल संघर्ष बैबिलोन से भी हुआ था । इस प्रकार एक सुविस्तृत साम्राज्य की स्थापना करके तिग्लैथपिलीज़र ने सुमेर और अक्काद का स्वामी नामक विरुद धारण किया । इसके काल में अनेक निर्माणात्मक कार्य किये गये । तिग्लैथपिलीज़र असीरियन इतिहास में एक कुशल शिकारी के रूप में भी प्रसिद्ध है । यदि उसके लेखों पर विश्वास किया जाय, जिसके लिए उपयुक्त आधार हैं तो ज्ञात होता है कि उसे एक सौ बीस शेरों का पैदल तथा आठ सौ शेरों का रथ पर चढ़कर शिकार करने में सफलता मिली थी लेकिन इन सफलताओं के बावजूद भी तिग्लैथपिलीज़र प्रथम के अंतिम दिन शान्ति से न व्यतीत हुए । बैबिलोन की ओर से विद्रोह हुए जिसमें तिग्लैथपिलीज़र की सेना पराजित हुई । असीरियन मंदिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर उसे अच्छी तरह लूट लिया गया । असीरियन देवताओं को बंदी बनाकर बैबिलोन के निवासी अपने यहाँ ले गये । अन्त में शोक एवं लज्जा से तिग्लैथपिलीज़र की मृत्यु हो गई । एक अन्य परम्परा के अनुसार उसकी हत्या कर दी गई ।

तिग्लैथपिलीज़र प्रथम के बाद से लेकर लगभग दो सदियों तक असीरिया क्षीण एवं शत्रुओं का रणक्षेत्र बना रहा । इसका प्रमुख कारण एरेमियनों का उत्कर्ष था । एरेमियन कौन थे और कहाँ से आए थे निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हो सका है । भाषा के आधार पर इन्हें अरब का निवासी माना गया है । ऐसे भी कुछ साक्ष्य हैं जिनके आधार पर इन्हें सीरिया तथा उर्वर अर्द्धचन्द्र का ही निवासी माना जा सकता है । ये जो भी हों और जहाँ से भी आए रहे हों, हम इतना जानते हैं कि तिग्लैथपिलीज़र प्रथम के उत्तराधिकारी इनके प्रवाह को रोक न सके और ये असीरिया के साम्राज्य विस्तार में बाधक बने ।

तिग्लैथपिलीज़र प्रथम के बाद से लेकर अदद-निरारी द्वितीय (Adad-Nirari II) के आगमन तक जिन शासकों ने शासन-सूत्र सँभाला उनमें अशुर-बेल-केला (Ashur-bel-kala, 1074-1057 B. C.), अशुरनज़िरपाल प्रथम (Ashurnasir-pal I, 1049-1031 B. C.), शालमनेसर द्वितीय (1030-1019 ई॰ पू॰), अशुर-राबी द्वितीय (Ashur-Rabi II, 1010-970 B. C.), तिग्लैथपिलीज़र द्वितीय (966-935 ई॰पू॰) एवं अशुरदान द्वितीय (934-912 ई॰ पू॰) के नाम मिलते हैं । लेकिन इनकी राजनीतिक गतिविधियों के विषय में अधिक जानकारी नहीं है । असीरियन राजनीतिक इतिहास में अदद-निरारी द्वितीय के शासन काल (911-891 ई॰ पू॰) से पुनः गतिशीलता आयी । बैबिलोनियन शासक के साम्राज्य-विस्तार के प्रयास को अदद-निरारी द्वितीय ने सफलतापूर्वक दबा दिया । अदद-निरारी द्वितीय के शासन-

---

1. J. H. Breasted, A History of Egypt, p. 518

काल में असीरिया राज्य की सीमा हाबुर (Habur), जिसमें गुंजन भी सम्मिलित था, तक विस्तृत थी। अदद-निरारी द्वितीय के पश्चात् उसके पुत्र टुकुल्ति-निनुर्त द्वितीय (890-884 ई० पू०) ने अल्पकाल के लिए शासन सँभाला। इसके शासन-काल में नैरी भूमि प्रदेश पर विजय के संकेत मिलते हैं। टुकुल्ति-निनुर्त द्वितीय के बाद उत्तराधिकार अशुर-नज़िरपाल द्वितीय को मिला।

अशुरनज़िरपाल द्वितीय

असीरियन साम्राज्य विस्तार का वास्तविक कार्य अशुरनज़िरपाल द्वितीय के समय से प्रारम्भ हुआ। इसका शासन-काल 883 ई० पू० से 859 ई०पू० तक स्वीकार किया गया है। साम्राज्यविस्तार के प्रथम चरण में अशुरनज़िरपाल का ध्यान पूर्व एवं उत्तर की ओर गया। दक्षिणी अर्मीनिया एवं साइलिसिया पर अधिकार स्थापित करने के बाद फ़रात नदी पार कर सीरिया होता हुआ वह भूमध्य सागर के तट पर स्थित फीनिशियन नगरों तक पहुँच गया। इस प्रकार अनेक छोटे-बड़े राज्यों को जीतने के बाद लूट-पाट से जो सम्पत्ति प्राप्त हुई उससे असीरियन कोष की पर्याप्त वृद्धि हुई। अशुरनज़िरपाल द्वितीय केवल इन विजयों से ही तुष्ट न रहा, अपितु सैनिक-संगठन तथा अन्यान्य निर्माणात्मक कार्यों में भी उसकी प्रवृत्ति सक्रिय रही। सेना में सर्वप्रथम अश्व का प्रयोग इसी के समय में किया गया। असीरियन सैनिकों की क्रूरता के स्पष्ट लक्षण भी इसी के समय से मिलने लगते हैं। अशुरनज़िरपाल द्वितीय संभवतः असीरियन शासकों में सर्वाधिक क्रूर था। इसकी क्रूरता के ज्वलन्त प्रमाण के रूप में ऐसे प्रस्तर लेख उपलब्ध हैं जिनमें उसकी सैनिक नीति का उल्लेख मिलता है, जिसका उद्देश्य विरोधियों को अत्यन्त निर्दयता एवं निर्ममतापूर्वक मार-काट कर उनमें भयंकर आतंक फैलाना था। विरोधियों के नगरों को भस्मीभूत करने नागरिकों को जिन्दा जलाने, कत्ल करने तथा शासकों को बंदी बना कर उन्हें असीरिया लाकर विविध यातनाएँ देने में यह शासक विशेष रूप से आनन्दित होता था। अशुरनजिरपाल द्वितीय के उपर्युक्त क्रूर, निर्मम एवं अमानवीय आदेशों से निर्दिष्ट, अग्निशिखावत सैनिक जिस मार्ग से गुजरते थे सर्वनाश करते जाते थे। विरोधियों के लिये वह अवश्य क्रूर एवं निर्दयी था लेकिन असीरियनों के लिए उसके द्वारा अनेक लोक-कल्याणकारी रचनात्मक कार्य सम्पादित किए गये। उसने कलाह (Calah) में एक नहर का निर्माण कर उसके किनारे छायादार वृक्ष लगवाये। कलाह में नवीन राजधानी की स्थापना की। कहीं-कहीं असीरियनों के निवास के लिए बस्तियाँ भी बसायी। अशुरनजिरपाल द्वितीय के बाद उत्तराधिकार उसके पुत्र शालमनेसर तृतीय (858-824 ई० पू०) को प्राप्त हुआ।

शालमनेसर तृतीय

शालमनेसर तृतीय भी अपने पिता के समान योग्य शासक सिद्ध हुआ। अपने शासन काल के पैंतीस बर्षों में से इकतीस बर्षों तक वह युद्ध में व्यस्त रहा। इसके प्रारंभिक वर्ष पश्चिमी स्थिति को सुदृढ़ करने में व्यतीत हुए। 853 ई० पू० में इज़रायल, हमथ

तथा दमेस्कश के शासकों ने संगठित होकर असीरियन शासक को चुनौती दी। संभवतः यह संघर्ष अनिर्णीत रहा। यद्यपि असीरिया इसमें अपनी विजय का दावा करता है। सीरिया तथा दमेस्कश के साथ शालमनेसर तृतीय को उलझा देखकर बैबिलोनिया ने, जिसका दक्षिणी भाग स्थानीय कैल्डियनों के अधिकार में था, विद्रोह कर दिया। शालमनेसर तृतीय को इस विद्रोह को दबाने में सफलताा मिली और बैबिलोनियनों को अधीनता मानने के लिये वाध्य होना पड़ा। इन विजयों के फलस्वरूप असीरियन साम्राज्य का पर्याप्त विस्तार हुआ। इस शासक की मृत्यु के समय असीरिया पश्चिमी एशिया की सबसे बड़ी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित था। शालमनेसर तृतीय के उत्तराधिकारी अयोग्य सिद्ध हुए। परिणामत: 824 ई० पू० से 745 ई० पू० तक असीरियन इतिहास में अव्यवस्था एवं अशान्ति व्याप्त रही। शालमनेसर तृतीय के पश्चात् शम्शी-अदद पंचम (Shamshi-Adad V, 823-811 B. C.) उत्तराधिकारी हुआ लेकिन यह उत्तराधिकार इसे शान्तिपूर्ण ढंग से नहीं मिला था। वास्तव में शम्शी-अदद पंचम शालमनेसर तृतीय का कनिष्ठ पुत्र था। इसे पिता के जीवन काल में ही युवराज बना दिया गया था लेकिन पिता का यह पक्षपात पूर्ण कार्य उसके जेष्ठ पुत्र अशुर-दानिन-पाल (Ashur-Danin-Pal) को अच्छा न लगा। अत: रुष्ट होकर उसने विद्रोह कर दिया और निनिव तथा असुर के सहित राज्य के अधिकांश भाग पर कब्जा कर लिया। पिता-पुत्र दोनों को राजधानी कलाह् का समर्थन मिलता रहा। पिता की मृत्यु के बाद पूर्ण रूप से शम्शी-अदद पंचम के द्वारा राज्य-ग्रहण करने के पश्चात् हमथ तथा बैबिलोनिया की ओर से विद्रोह हुए। शम्शी-अदद पंचम को न केवल बैबिलोन को दबाने में सफलता मिली, बल्कि उसके साथ साठ-गांठ करने वाले ईलमाइट तथा कैल्डियनों को परास्त करने में भी वह सफल रहा। 811 ई० पू० में शम्शी-अदद पंचम की मृत्यु हो गई और उत्तराधिकार इसके पुत्र अदद-निरारी तृतीय को मिला।

अदद-निरारी तृतीय का शासन काल 810 ई० पू० से 783 ई० पू० तक स्वीकार किया गया है। इसमें प्रारंभिक पाँच वर्षों तक शासनाधिकार उसकी माता सम्मुरमत (Sammuramat) के हाथ रहा। अदद-निरारी तृतीय ने बैबिलोनियनों, मीडों तथा उरर्तु से डटकर लड़ाईयाँ लड़ीं। लेकिन इसके बाद शासन करने वाले शालमनेसर चतुर्थ (782-772 ई० पू०), अशुर-दान तृतीय (771-754 ई० पू०) तथा अशुर-निरारी पंचम (753-746 ई० पू०) के शासन-काल में कोई राजनीतिक उपलब्धि नहीं हुई। अशुर-निरारी पंचम के समय में कलाह् में एक विद्रोह हुआ जिसमें समस्त परिवार के साथ वह मार डाला गया।

तिग्लैथपिलीज़र तृतीय

असीरियन गृह-युद्ध एवं अशान्ति के पश्चात् पुनः शान्ति एवं सुव्यवस्था के वातावरण निर्मित होने के बाद असीरियन सिंहासन पर तिग्लैथपिलीज़र तृतीय आसीन हुआ। इसका शासन काल 745 ई० पू० से 727 ई० पू० तक परिव्याप्त रहा। यह मूलतः एक असीरियन सेनापति था जिसका प्रारंभिक नाम पुलु (Pulu) था।

उपर्युक्त संज्ञा इसने सिंहासनासीन होने के पश्चात् धारण की थी। इसके आसन्न पूर्ववर्ती शासकों के शासनकाल में असीरियन साम्राज्य की जो स्थिति निर्बल एवं अव्यवस्थित हो गई थी उसे इसने अपनी राजनीतिक सक्षमता से सबल एवं व्यवस्थित बनाया। सर्वप्रथम इसका ध्यान दक्षिण की ओर आकृष्ट हुआ जहाँ एरेमियन लम्बे अरसे से उपद्रव करते आ रहे थे। बगदाद के उत्तर-पूर्व में स्थित पुकुदु (Puqudu) नामक जाति पर इसने विजय प्राप्त की। इसके बाद इसका ध्यान असीरिया के पुराने शत्रु उरर्तु की ओर गया। उरर्तु का शासक सरदुर तृतीय (Sardur III) पराजित हुआ। पूर्व की ओर इसकी सेनाएँ ईरानी पठार लांघ कर मीडों के राज्य से होती हुई देमावेन्द (Demavend) के पर्वतीय भाग तक पहुँचीं। इसके पहले असीरियन सेना कभी भी इतनी दूर तक नहीं आ पायी थीं। पूर्व से लौटने के बाद तिग्लैथपिलीज़र तृतीय भूमध्यसागर की ओर बढ़ा। एक ओर टायर तथा सिडोन असीरियनों द्वारा लगाये गये उस प्रतिबंध से असन्तुष्ट थे जिसके अनुसार वे फिलिस्तिया तथा मिस्र को टिम्बर का निर्यात नहीं कर सकते थे। दूसरी ओर इसी बीच एस्केलन (Ascalon) तथा गाजा Gaza) के शासकों ने मिलकर असीरियन शासक के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। तिग्लैथपिलीज़र तृतीय को इसे दबाने में भी सफलता मिली। टायर, सिडोन, एमोन, मोब, तथा एडोम ने असीरियन प्रभुता स्वीकार कर ली। भूमध्य सागर की ओर से निपटने के बाद तिग्लैथपिलीज़र तृतीय का ध्यान बैबिलोनिया की ओर गया जहाँ कैल्डियन प्रभाव बढ़ गया था। इनसे निपटने में उसे तीन वर्ष लग गये। 729 ई० पू० में बैबिलोन पर उसका पुनः अधिकार स्थापित हो गया और पुलु नाम से उसने बैबिलोन के शासक का पद ग्रहण किया।

इन विजयों के फलस्वरूप असीरिया साम्राज्य की सीमा दक्षिण में फारस की खाड़ी, उत्तर में अर्मीनिया तथा पश्चिम में भूमध्य सागर तक बढ़ गई। इतने बड़े भू-भाग पर कभी किसी असीरियन शासक का अधिकार नहीं स्थापित हो सका था। अन्त में युद्ध से ऊब कर लड़ाई-भिड़ाई बंदकर शान्ति से शासन प्रारंभ किया। तिग्लैथ-पिलीज़र तृतीय भली-भाँति जानता था कि साम्राज्य की रक्षा के लिये स्थायी सेना का संगठन अत्यावश्यक है। अतः इस ओर इसने विशेष ध्यान दिया। इसके कतिपय प्रशासनिक सुधार महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं। असीरिया साम्राज्य के समीप स्थित राज्यों को असीरियन प्रान्तों में बदल दिया गया। विद्रोह की संभावनाओं को दूर रखने के लिए एक राज्य के निवासियों को दूसरे दूर स्थित स्थानों में भेज दिया गया। ऐसे निवासियों का अधिकतर समय नवीन वातावरण के अनुरूप अपने को बनाने में बीत जाता था। ऐसी स्थिति में विद्रोह करने का अवसर ही नहीं मिलता था। प्रशासनिक सुधारों के अतिरिक्त तिग्लैथपिलीज़र के रचनात्मक कार्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इसके शासनकाल में कई मंदिर तथा राजप्रासाद बनवाए गये। अंत में 727 ई० पू० में असीरिया के इस महान् शासक की मृत्यु हो गई। इसके बाद उत्तराधिकार अल्पकाल (726-722 ई० पू०) के लिए इसके पुत्र शालमनेसर पंचम

को मिला। इसके शासनकाल में मिस्र से मदद की आशा पाकर टायर तथा इज़रायल ने वार्षिक कर देना बंद कर दिया। शालमनेसर पंचम तत्काल विद्रोहियों को दबाने के लिए आगे बढ़ा। टायर ने आत्मसमर्पण कर दिया। इज़रायल पर भी उसने अधिकार कर लिया। ओल्ड टेस्टामेण्ट में यह श्रेय, सारगोन को दिया गया है। संभव है, सारगोन ने वहाँ शालमनेसर पंचम के किसी कर्मचारी की हैसियत से कार्य-भार सँभाला हो। इसी बीच शालमनेसर पंचम की हत्या कर दी गई तथा सारगोन नामक व्यक्ति ने सिंहासन प्राप्त किया। सुमेरियन सारगोन से पृथक् करने के लिए इसे सारगोन द्वितीय नाम से अभिहित किया गया है।

सारगोन द्वितीय

असीरियन इतिहास में सारगोन द्वितीय का शासनकाल (721-705 ई० पू०) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। जैसे ही असीरियन साम्राज्य का गुरुतर भार इसके कंधे पर आया कैल्डियन सरदार मेरोडेक-बल्दान (Merodac-baldan) ने ईलम की सहायता से विद्रोह कर बैबिलोनिया का सिंहासन अपने कब्जे में कर लिया। सारगोन द्वितीय के समक्ष मेरोडेक-बल्दान के मान-मर्दन का गंभीर प्रश्न था। लेकिन इसके पहले कि सारगोन द्वितीय उसके विरुद्ध कुछ कर पाता मेरोडेक-बल्दान की देखा-देखी पश्चिमी प्रदेशों ने भी विद्रोह कर दिया। अतः सारगोन द्वितीय का ध्यान बैबिलोन से हट कर पश्चिम की ओर गया। इस दिशा में उसे निर्णायक रूप से सफलता मिली। इज़रायल का पूर्णतया दमन किया गया तथा वहाँ के अधिकांश नागरिकों को सुदूर मीडिया भेज दिया गया। 714 ई० में उरर्तु के शासक रुसस प्रथम (Rusas I) को पराजित करने में भी वह सफल रहा। एशिया माइनर के दक्षिणी-पूर्वी भाग में स्थित मुश्की राज्य के साथ संघर्ष में भी सारगोन द्वितीय सफल हो गया तथा उनका का शासक मीता अधीनता मानने के लिए विवश किया गया। उरर्तु के शासक रुसस प्रथम तथा मुश्की के शासक मीता के बहकाने से उत्तर-पूर्व के मीडिया के मन्नाई प्रदेश एवं उत्तर-पश्चिम के कार्शेमिश नगरों में भी विद्रोह की आग फूट पड़ी। लेकिन सारगोन द्वितीय को इनको दबाने में भी सफलता मिल गई। मन्नाई का शासक दायक्कु (Daiakku) अपदस्थ कर दिया गया। कार्शेमिश का भी अधिग्रहण हो गया।

इसके बाद सारगोन द्वितीय का ध्यान बैबिलोन की ओर गया और मेरोडेक-बल्दान को निर्णायक रूप से पराजित किया। इन विजयों के फलस्वरूप सारगोन द्वितीय का साम्राज्य सिलिसिया (Cilicia) से फारस की खाड़ी तक फैल गया। शासन-काल के अंतिम दिनों में सारगोन द्वितीय ने कलाह के अतिरिक्त दुर-शर्रुकिन (Dur-Sharrukin) नामक स्थान को राजधानी के रूप में चुना। यहाँ एक भव्य राजप्रासाद बनवाया गया तथा एक शानदार पुस्तकालय की स्थापना की गयी। अन्त में 705 ई० पू० में एक अभियान में इसकी मृत्यु हो गई। इसके बाद उत्तराधिकार इसके पुत्र सेनैकरिब (Sennacherib, 704-681 B. C.) को मिला।

सेनैकरिब

पिता के शासनकाल में ही उत्तरी सीमा पर सेनापति के रूप में सफल कार्य करने के फलस्वरूप उसे प्रशासन का अच्छा अनुभव हो गया था। वास्तव में सेनैकरिब के कंधों पर जिस विस्तृत साम्राज्य का गुरुतर भार था उसकी सुरक्षा एवं सुव्यवस्था के लिए उसकी जिम्मेदारियाँ बहुत अधिक थीं। सर्वप्रथम उसका ध्यान चिरप्रतिष्ठित निनिव नगर की ओर आकृष्ट हुआ। नगर का पुनर्निर्माण कर वहाँ राजधानी की स्थापना करवाई। सेनैकरिब को यदि कुछ और समय मिल गया होता तो निस्संदेह अन्यान्य रचनात्मक एवं निर्माणात्मक कार्य सम्पन्न हुए होते लेकिन नियति को अभीष्ट नहीं था। बैबिलोनिया से मधुर सम्बन्ध बनाने के हर संभव प्रयत्न के बावजूद भी अन्त में विद्रोह की सुलगती आग भभक उठी। कुछ दिन तक तो बैबिलोनिया का शासक मेरोडेक-बल्दान असीरिया की अधीनता मानता रहा लेकिन जैसे ही सारगोन द्वितीय की मृत्यु हुई, उसकी बैबिलोनिया पर स्वतंत्र राज्य स्थापित करने की इच्छा बलवती होने लगी। उसकी इस दुस्साहसपूर्ण योजना में कैल्डियनों, ईलमाइटों तथा एरेमियनों का सहयोग मिल गया। लेकिन सेनैकरिब के समक्ष उसकी एक न चली। उसकी महत्त्वकांक्षा धूल में मिला दी गई। बैबिलोनिया निवासियों ने सेनैकरिब का स्वागत उसी सम्मान एवं उत्साह के साथ किया जैसे कुछ वर्ष पूर्व सारगोन द्वितीय का किया था। बैबिलोन के दक्षिणी भाग पर जहाँ कैल्डियनों ने अधिकार स्थापित कर लिया था, असीरियन अधिकारी नियुक्त किये गये। सेनैकरिब की सेनाओं ने मिस्र तथा पेलेस्टाइन पर भी सफलता प्राप्त की। इसी बीच बैबिलोनिया में पुनः उपद्रव उठ खड़ा हुआ। 700 ई० पू० में असीरियन सैनिकों ने कैल्डियन क्षेत्रों पर भयङ्कर आक्रमण किया। सेनैकरिब ने बैबिलोनिया के तत्कालीन शासक बेल-इब्नी (Bel-ibni, 702-700 B. C.) के स्थान पर अपने कनिष्ठ पुत्र अशुर-न दिन-शुम (Ashur-Nadin-Shum, 699-694 B. C.) को शासक नियुक्त किया। बैबिलोनिया ने अभी भी अपनी तलवार नहीं रखी थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए अनवरत उसकी ओर से प्रयास चलता रहा। अतएव सेनैकरिब ने आवश्यक समझा कि बैबिलोनिया रूपी इस काँटे को असीरिया के रास्ते से सदा के लिए हटा दिया जाय। अन्ततः बैबिलोनिया तथा उसके साथ साठ-गाँठ करने वाले ईलमाइटों के विरुद्ध उसने कठोरता की नीति अपनाई। बैबिलोन पर भयङ्कर आक्रमण किया गया। सम्पूर्ण नगर चारों ओर से घेर लिया गया। उसे नष्ट-भ्रष्ट कर जला दिया गया तथा वहाँ की स्त्रियों, बच्चों तथा बूढ़ों को मौत के घाट उतार दिया गया। बैबिलोन की सड़कों पर लाशों के ढेर लग गये। मन्दिरों तथा राजप्रासादों को इस प्रकार लूट लिया गया कि वहाँ कुछ भी शेष न रहा। बैबिलोन के चिरप्रतिष्ठित देवताओं की मूर्तियाँ नष्ट-भ्रष्ट कर दी गईं। उनमें से कुछ को बंदी बनाकर असीरिया लाया गया। बैबिलोन के प्रधान देवता मार्दुक को 'अशुर' का दास बनाकर असीरिया पहुँचा दिया गया। सेनैकरिब के इस विनाशकारी आक्रमण से एक ओर बैबिलोन के निवासी कराह रहे थे।

दूसरी ओर उनके लूट-पाट से जो धन मिला था उससे असीरिया में निर्माणात्मक का सम्पन्न हो रहे थे। सेनैकरिब की रचनात्मक एवं निर्माणात्मक प्रवृत्ति का संकेत स्वयं उसके लेखों में मिलता है। अन्त में 681 ई० पू० में उसके किसी पुत्र ने पूजा करते समय उसकी हत्या कर दी।

एसरहद्दोन

सेनैकरिब के बाद उत्तराधिकार इसके पुत्र एसरहद्दोन (Esarhaddon, 680-669 B. C.) को मिला। पिता के शासनकाल में इसे बैबिलोन में रहने का अवसर मिला था, इसलिए इसे भी प्रशासन सम्बन्धी प्रायः सभी अनुभव प्राप्त हो गए थे। एसरहद्दोन को असीरिया का सिंहासन सरलतापूर्वक नहीं मिला था। वास्तव में यह सेनैकरिब का चौथा पुत्र था, अतएव इसके पहले असीरियन साम्राज्य के तीन दावेदार और थे। जिस समय वह राजधानी से बाहर था इसके बड़े भाइयों ने गृह-क्रान्ति करके सेनैकरिब की हत्या कर दी थी। एसरहद्दोन को जब इसकी सूचना मिली वह शीघ्रता से राजधानी की ओर बढ़ा। वहाँ पहुँच कर अन्य भाइयों को रास्ते से हटा दिया तथा 680 ई० पू० में अंतिम रूप से राजगद्दी प्राप्त की।

एसरहद्दोन ने अपनी नीतिमत्ता एवं रचनात्मक क्षमता का प्रथम परिचय बैबिलोन के पुनर्निर्माण में दिया। सेनैकरिब द्वारा बैबिलोन नगर पूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया था, अतएव वहाँ की जनता असीरियन शासक के प्रति ईर्ष्या रखती थी। एसरहद्दोन ने उनकी सहानुभूति प्राप्त करने के लिए नगर का पुनर्निर्माण करवाया। जिसके फलस्वरूप तीन वर्ष के भीतर ही पुनः बैबिलोन नगर पुनर्प्रतिष्ठित हो गया। एसरहद्दोन को इसका राजनीतिक लाभ मिला। जब भूतपूर्व कैल्डियन शासक के पुत्र ने विद्रोह किया, उसे बैबिलोनियनों ने दबा दिया। इसी प्रकार ईलमाइटों ने बैबिलोन को जब क्षति पहुँचाने का कुचक्र रचा उन्हें उल्टे पाँव वापस जाना पड़ा। इसके समय में सिम्मेरियनों (Cimmerians) तथा सीथियनों (Cythians) के राजनीतिक हस्तक्षेप दिखाई पड़ते हैं। लेकिन दोनों को दबाने में इसे आंशिक सफलता मिल गई। एक सीथियन सेनानायक से एक असीरियन राजकुमारी का विवाह कर इसने सीथियनों से मधुर सम्बन्ध स्थापित कर लिया।

सिम्मेरियनों एवं सीथियनों की ओर से निश्चिन्त होने के बाद एसरहद्दोन ने मिस्र पर निगाह डाली। पिछले कुछ वर्षों से मिस्री शासक असीरियन शासकों के विरुद्ध बराबर षड्यंत्र करते चले आ रहे थे। वे कभी एक को भड़काते थे तो कभी दूसरे को। असीरिया के विरुद्ध सीरिया तथा फिलीस्तीन को भड़काने में मिस्र ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। एसरहद्दोन असीरिया के इस मिस्र रूपी अवरोध को रास्ते से सदा-सदा के लिए हटाना चाहता था। अन्ततः निर्णय को साकार रूप देने के लिए एक बड़ी सेना लेकर उसने मिस्र के विरुद्ध प्रयाण कर दिया। मार्ग में सिडोन तथा सिलिसिया (Cilicia) के शासक पराजित हुए। फीनिशिया ने आत्मसमर्पण कर दिया।

साइप्रस तथा पेलेस्टाइन के शासकों ने भी उसकी अभ्यर्थना की । इसके बाद क्रूर तथा निर्मम असीरियन सैनिक मिस्र पहुँच गये । मिस्र बुरी तरह पराजित हुआ । निर्णायक विजय के साथ एसरहद्दोन असीरिया वापस आया । लेकिन मिस्र विजय के सम्बन्ध में एसरहद्दोन की दूरदर्शिता नहीं दिखाई पड़ती । न तो इसने मिस्र की परम्परागत शासकीय उपाधि धारणा की, न कोई ऐसा कार्य किया जिससे मिस्रवासियों की सहानुभूति इसे मिलती । परिणामतः इसके वापस होते ही वहाँ विद्रोह प्रारंभ हो गया । एसरहद्दोन उसे दबाने के लिए आगे अवश्य बढ़ा लेकिन मार्ग में ही अस्वस्थ होने के कारण हरन (Haran) में उसकी मृत्यु हो गई । एसरहद्दोन की मृत्यु के समय उसका साम्राज्य भूमध्यसागर से फारस की खाड़ी तथा अरारात (Ararat) से मिस्र में थीब्ज तक फैला था ।[1] एसरहद्दोन के दो पुत्र थे । उसे विश्वास था कि उसकी मृत्यु के बाद उत्तराधिकार सम्वन्धित प्रश्न को लेकर झगड़े खड़े हो सकते हैं । उसका यह विश्वास इसलिए भी दृढ़ था क्योंकि उसे भी सिंहासन रक्तमार्ग से ही मिला था । अतः भावी गृह-कलह की सम्भावनाओं को दूर रखने के लिए अपने जीवनकाल में उसने एक सभा का आयोजन करके ज्येष्ठ पुत्र अशुरबनिपाल (Ashurbanipal) को असीरिया तथा कनिष्ठ पुत्र शमश-शुम-उकिन (Shamash-shum-ukin) को बैबिलोन के शासक होने की घोषणा कर दी । उपस्थित सभी प्रान्तों के गवर्नरों से इसका अनुमोदन करा लिया गया । इसकी प्रतिलिपि निमुर्द से मिली है । इस घोषणा के अनुसार एसरहद्दोन के बाद असीरिया का सिंहासन अशुरबनिपाल को मिला ।

अशुरबनिपाल

अशुरबनिपाल का शासनकाल 668 ई० पू० से 631 ई० पू० तक स्वीकार किया गया है । अशुरबनिपाल असीरियन साम्राज्य का अंतिम महान् शासक था । राज्य ग्रहण करने के बाद सर्वप्रथम इसका ध्यान मिस्र की ओर गया । एसरहद्दोन को मिस्र पर सफलता अवश्य मिल गई थी लेकिन उसके लौटते ही वहाँ जो विद्रोह हुआ था उसे दबा सकने के पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई थी । अतः यह कार्य अशुरबनिपाल के लिये बाकी था । अशुरबनिपाल के नेतृत्व में असीरियन सैनिक मिस्र पर जा धमके । थीब्ज नगर ध्वस्त कर दिया गया तथा मेम्फिस पर असीरियन ध्वज फहराने लगा । मिस्र के साथ अशुरबनिपाल को उलझा देखकर फीनिशिया भी सिर उठाने लगा । लेकिन अत्यन्त कुशलता से उसे दबाने में असीरिया शासक को सफलता मिल गई । लीडिया ने नये सम्राट् को प्रसन्न करने के लिये दूत भेजा । मिस्र तथा फीनिशिया विजय से अशुरबनिपाल को कुछ राहत अवश्य मिल गई लेकिन यह अस्थायी ही सिद्ध हुई । ईलम के शासक बराबर बैबिलोनिया को असीरिया के विरुद्ध भड़काते रहते थे । अतः इनका भी मान-मर्दन आवश्यक था । ईलम के विरुद्ध अभियान में अशुरबनिपाल को पूर्णरूपेण सफलता मिली तथा वहाँ का शासक ति-उम्मान (Ti-Umman) बुरी तरह पराजित

---

[1] W. N. Weech, History of the World, p. 77

हुआ। उसका सेनापति अग्नि की प्रचण्ड शिखा में जीवित जला दिया गया। उसके भाई के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिए गये। स्वयं शासक के शिर को असीरिया लाकर शासकीय भोज के समय एक वृक्ष से लटका दिया गया। बाद में उसे नगर के स्तम्भ में टाँगा गया जिसका चित्र एक प्रसिद्ध स्थापत्य में देखा जा सकता है।[1] अशुरबनिपाल के इस युद्ध का रोमांचकारी वर्णन उसके एक लेख में मिलता है। लेकिन इन विजयों से उसे शान्ति न मिली उसके सामने एक विशेष संकट उपस्थित हो गया। यह संकट बाहरी नहीं अपितु घरेलू था।

लगभग सत्रह वर्ष तक अशुरबनिपाल तथा उसके भाई शमशु-शुम उकिन के बीच अच्छे सम्बन्ध बने रहे तथा दोनों एक दूसरे की सहायता करते रहे। लेकिन अन्त में सम्बन्ध-सूत्र टूट गए। शमशु-शुम-उकिन ने सोचा कि बैबिलोन विश्व पर अपना अधिकार उसी प्रकार स्थापित कर सकता है जिस प्रकार असीरिया का निनिव। अन्ततः एकछत्र साम्राज्य की स्थापना की लालसा से उसने सिप्पर, बैबिलोन तथा बारसिप्पा के दरवाजे असीरिया की ओर से बन्द कर दिये तथा फीनिशिया, फिलिस्तीन, जूडा, सीरियन रेगिस्तान के अरबों, दक्षिणी ईराक के कैल्डियनों, ईलमाइटों तथा यहाँ तक को लीडिया तथा मिस्र के साथ साठ-गाँठ करके एक विशाल संघ की स्थापना की। उसका यह विश्वास था कि इन शक्तियों के सम्मिलित मोर्चे को असीरियन शासक कभी भी परास्त नहीं कर सकेगा। उसका यह विश्वास सत्य भी था। निस्संदेह अगर इन सभी शक्तियों के सम्मिलित प्रयास से असीरिया को चुनौती मिली होती तो असीरिया का चिरपोषित साम्राज्य काल कवलित हो जाता और असीरिया इनके एक ही आघात से तहस-नहस हो जाता। लेकिन भाग्य ने अशुरबनिपाल का साथ दिया। पहले तो अशुरबनिपाल ने बैबिलोन के निवासियों को सत्परामर्श दी कि उन्हें उसके धोखेबाज भाई की मीठी बातों में नहीं आना चाहिए लेकिन जब इसका कोई असर न पड़ा तो अशुरबनिपाल ने बैबिलोन पर आक्रमण कर दिया। तीन वर्ष के तुमुल-संघर्ष के बाद अन्त में उसका बैबिलोन पर अधिकार हो गया। जब शमशु-शुम-उकिन को विश्वास हो गया कि वह अब बच नहीं सकता, उसने स्वतः राजप्रासाद में आग लगा दी और उसकी धधकती लौ में चिरशान्ति प्राप्त की। यह घटना 648 ई० पू० की है। लेकिन शमशु-शुम-उकिन को ही रास्ते से हटाना पर्याप्त नहीं था। अभी उन शक्तियों की खबर लेनी बाकी थी जिन्होंने उसके साथ साठ-गाँठ की थी। सबसे पहले अशुरबनिपाल का ध्यान अरबों पर गया जो बराबर उसके लिये पश्चिमी प्रान्तों पर उपद्रव खड़ा कर रहे थे। इन्हें दबाने में वह पूर्णतया सफल रहा। अशुरबनिपाल की कड़ी निगाह उसके पुराने शत्रु ईलम पर पहले से ही लगी थी। उसके कुकृत्यों से अशुरबनिपाल आग बबूला था। अतः उसे नष्ट करने के लिए वह आगे बढ़ा। सूसा नगर तथा वहाँ का जिकुरत नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया और वहाँ की जनता को दूर देशों में भेज दिया गया। ईलम का

---

[1] H. Frank fort, The Art and Architecture of Ancient Orient.

अस्तित्व एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में समाप्त हो गया। यह घटना 629 ई० पू० के आस-पास की है। ईलम विजय अशुरबनिपाल की अंतिम विजय थी।

एक विजेता एवं साम्राज्य-निर्माता के साथ-साथ अशुरबनिपाल एक निर्माता तथा साहित्य एवं कला-प्रेमी भी था। वह सगर्व कहता था कि उसने साम्राज्य में शान्ति स्थापित की तथा नगरों को सुव्यवस्थित किया नवीन मंदिरों एवं राजप्रासादों के निर्माण के प्रति वह अत्यन्त सजग था। इसके लिए अशुरबनिपाल ने साम्राज्य के सभी निष्णात शिल्पियों को बुलाकर लगा दिया था। नवीन निर्माण के साथ-साथ अशुरबनिपाल ने प्राचीन मंदिरों एवं निनिव के राजप्रासाद के पुनर्निर्माण की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया। इस प्रकार निनिव नगर को सम्यक् रूप से अलंकृत करने की उसकी प्रवल आकांक्षा सफल हुई। साहित्य प्रेमी एवं साहित्य संरक्षक दोनों रूपों में उसकी स्मृति मानव सभ्यता के इतिहास पटल पर शाश्वत अङ्कित रहेगी। सुमेरियन एवं बैबिलोनियन साहित्य के समस्त गरिमामय एवं चिरप्रतिष्ठित ग्रंथों की अनुकृति के निमित्त अशुरबनिपाल ने बहुसंख्यक विद्वान् लिपिकारों को नियुक्त कर रखा था और इन अनुकृत ग्रन्थों को निनिव के विशाल पुस्तकालय में सुसज्जित एवं सुरक्षित कर दिया। आश्चर्य है कि पच्चीस सौ वर्ष वाद भी इसमें संरक्षित 22,000 साहित्यिक कृतियाँ यथावत प्राप्त हुई हैं। संभावना व्यक्त की गई है कि इसमें से बहुतों को अशुरबनिपाल ने स्वयं लिखा-पढ़ा था। इस तरह एक श्रेष्ठ विजेता, साम्राज्य-विस्तारक साहित्य एवं कला-प्रेमी के रूप में देदीप्यमान वह लगभग अर्द्धशती तक असीरियन राजगद्दी को समलंकृत करने के पश्चात् 626 ई० पू० में सदा के लिये शान्त हो गया।

अशुरबनिपाल के उत्तराधिकारी एवं असीरिया-साम्राज्य का पराभव

अशुरबनिपाल के चिरशान्ति ग्रहण करने के तत्काल बाद से असीरिया साम्राज्य के ऊपर संकट एवं विनाश के बादल छा गए। वास्तव में अशुरबनिपाल के शासनकाल के अंतिम दिनों में ही उत्तरी जातियाँ अत्यन्त दुर्दमनीय हो गई थीं। उत्तर-पूर्व में मीड उवक्षत्र (Cyaxares) के नेतृत्व में स्वतंत्र राज्य की स्थापना में सफल हो गया था लेकिन शीघ्र ही उन्हे सीथियनों की प्रभुता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया। सीथियन असीरिया, सीरिया, पेलेस्टाइन होते हुए मिस्र की सीमा तक बढ़ गए। मिस्री शासक सामतिक (Psamatik) बड़ी चालाकी से इनसे बच गया था, अन्यथा उसे भी अधीनता मानने के लिये विवश कर दिया गया होता। इन संकटमय परिस्थितियों में असीरिया साम्राज्य का अस्तित्व नियति के अधीन था।

अशुरबनिपाल के अगले उत्तराधिकारी उसके पुत्र अशुर-इतिल-इलानी (Ashur-etil-ilani,) ने सिंहासन तो प्राप्त कर लिया पर रक्तमार्ग से। इसे एक विद्रोह का दमन तो राज्य-ग्रहण के समय ही करना पड़ा तथा दूसरे का शासन काल की समाप्ति के पूर्व। इसके विषय में अन्य बातें ज्ञात नहीं हैं। इसके बाद उत्तराधिकार इसके भाई सिन-शर-इश्कुन(Sin-shar-ishkun) को मिला जिसने संभवत: 623 ई० पू० में सिंहासन ग्रहण किया। इस समय असीरिया की आन्तरिक एवं सीमावर्ती दोनों स्थिति अनुकूल

नहीं थी। ईरान में उवक्षत्र अपनी शक्ति का विस्तार करने में सतत प्रयत्नशील था। पश्चिम में फीनिशियन अब तक निनिव से अपना सम्बंध विच्छेद कर चुके थे। पेलेस्टाइन भी असीरिया के हाथ से जा चुका था। इन सबसे बढ़कर उसके लिए खतरा दक्षिण के वैबिलोनिया राज्य से था। इस समय बैबिलोनिया के अधिक भाग पर समुद्र भूमि के गवर्नर नेबोपोलस्सर (Nebopolassar, 626-605 B. C.) का अधिकार स्थापित हो गया था। इसकी पुष्टि उन लेखों से हुई है जिनमें उसी के राज्य-काल की तिथियाँ मिलती हैं। अशुरबनिपाल के द्वितीय पुत्र सिन-शर-इश्कुन की कमजोरी का फायदा उठाते हुए अन्त में 612 ई० पू० में मीड शासक उवक्षत्र तथा बैबिलोनियन शासक नेबोपोलस्सर की सम्मिलित शक्ति से असीरियन साम्राज्य की राजधानी निनिव को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया। असीरियन शासक सिन-शर-इश्कुन अपने देशवासियों एवं परिचरों के साथ राजप्रासाद में लगी आग की प्रचण्ड लौ में भस्मीभूत हो गया। कुछ वर्षों के लिए इसके उत्तराधिकारी अशुर-उबैलित द्वितीय ने हरन को राजधानी मानकर असीरियन साम्राज्य के अवशिष्ट अंश को बचाने का प्रयत्न किया लेकिन अन्त में असीरिया साम्राज्य का स्वतंत्र अस्तित्व 605 ई० पू० में सदा के लिए समाप्त हो गया।[1]

असीरिया साम्राज्य के पतन के कारण

वैबिलोनियन तथा मीड शासकों के सम्मिलित प्रयास से असीरिया साम्राज्य की राजधानी निनिव को ठीक उसी प्रकार धूल में मिला दिया गया जिस प्रकार किसी समय क्रूर एवं निर्मम असीरियन सैनिकों ने सूसा तथा बैबिलोन को नष्ट-भ्रष्ट किया था। नगर निवासियों को या तो बंदी बनाकर बैबिलोन ले जाया गया या मौत के घाट उतार दिया गया। अशुरबनिपाल के द्वारा अलंकृत राजप्रासाद अच्छी तरह लूट लेने के बाद अग्नि की ज्वाला में जला दिया गया। इश्टर देवी का मंदिर जो अपनी शान-शौकत के लिए प्रसिद्ध था, पूर्णतया नष्ट कर दिया गया तथा सदियों वर्ष पुरानी मूर्ति तोड़ दी गई। अशुरबनिपाल के राजप्रासाद के निकट स्थित नेबु का मंदिर भी ध्वस्त कर दिया गया। इस प्रकार एक ही आघात से असीरिया का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। उसके भव्य भवन धराशायी हो गये। कुछ युद्धोपयोगी उपकरणों, मृद्‌पात्रों, भवन के भग्नावशेषों—स्तम्भों एवं गुम्बदों—के अतिरिक्त कुछ भी अवशेष न रहा। कुछ दिनों तक लोग उनके क्रूर एवं निर्मम कृत्यों का स्मरण करते रहे लेकिन धीरे-धीरे उसे भी भूल गये। किसी समय असीरियन साम्राज्य के केन्द्र बिंदु से सभ्य विश्व का लगभग आधा भाग नियंत्रित था लेकिन दो सौ वर्ष के बाद ही उनका गौरव समाप्त हो गया। शायद विश्व में इस प्रकार निरवशेष एवं दुखद अन्त किसी अन्य नगर का नहीं हुआ। प्रसिद्ध इतिहासकार ट्वायनबी[2] के अनुसार 614-610 ई० पू० में असीरियन सैनिक शक्ति की जो पराजय हुई वह इतिहास की सर्वाधिक पूर्ण पराजय है। इससे केवल असीरियन सैनिक तन्त्र का ही विनाश नहीं हुआ, बल्कि असीरियन राज्य एवं जाति का भी विनाश हो गया। वह

---

[1] William L. Langer, An Encyclopedia of World History, p. 28

[2] A. J. Toyanbee, A Study of History, Vol. I, (Hindi), p. 280

समुदाय जो दो हजार साल तक जीवित रहा और लगभग ढाई सौ वर्षों तक दक्षिण-पश्चिम एशिया में प्रमुख रूप से क्रियाशील रहा, पूरी तरह से मिट गया। विल ड्युरैण्ट[1] के अनुसार जब जेनोफन दश हजार सैनिकों के साथ उधर से गया तो उसे आभास भी नहीं हुआ कि वह वही निनिव है जिसका किसी समय विश्व के अर्द्धभाग पर शासन था। असीरिया साम्राज्य का अधःपतन आकस्मिक अवश्य माना जा सकता है लेकिन इस सम्बन्ध में स्मरणीय है कि इस अधःपतन की पृष्ठभूमि स्वतः असीरियनों ने ही बनायी थी और इसके अधःपतन के लिए वे स्वतः उत्तरदायी थे। उनकी वैयक्तिक नीति, दोषपूर्ण प्रशासनिक एवं आर्थिक व्यवस्था इत्यादि के फलस्वरूप धीरे-धीरे असीरिया का साम्राज्य आन्तरिक दृष्टि से क्षीण होता जा रहा था। अन्त में एक समय ऐसा आ गया जिसके बाद उसका अस्तित्व संकट में पड़ गया और हर संभव प्रयत्न करने के बावजूद भी इसकी रक्षा न हो सकी।

असीरिया साम्राज्य का अधःपतन असीरियनों की वैयक्तिक नीति के कारण हुआ। असीरियन शासक अपनी क्रूरता एवं निर्ममता के लिए विश्व इतिहास में प्रसिद्ध हैं। शायद वे विश्व में सर्वाधिक युद्धप्रिय एवं क्रूर व्यक्ति थे। यह युद्धप्रियता एवं क्रूरता उन्होंने सोद्देश्य अपनायी थी और इसके लिए उनका परिवेश उत्तरदायी था। उनके यहाँ साधन सीमित थे। अतएव दूसरे देशों के लूट-पाट को उन्होंने अपनी जीविका का प्रमुख आधार मान लिया था। इसी लिए उनकी विजय-पिपासा कभी शान्त न हुई। जितनी ही विजय वे करते गए उतनी ही विजय अभिलाषा बढ़ती गई और वे धीरे-धीरे कठोर सैनिकवाद में जकड़ते गए। केवल विजय प्राप्त करना ही आवश्यक नहीं था। जीते हुए राज्यों की रक्षा एवं उनसे भविष्यत्कालीन विद्रोह की सम्भावनाओं को दूर रखने के लिए उनके साथ क्रूरता एवं निर्ममता का व्यवहार आवश्यक समझा गया। इसी उद्देश्य से जीते हुए राज्यों के निवासियों के साथ असीरियन शासकों ने जिस प्रकार की क्रूरता प्रदर्शित की उसके उदाहरण अन्यत्र नहीं मिलते। इसका उन्हें तात्कालिक लाभ अवश्य मिला। निर्दयता एवं क्रूरता के तांडव-नृत्य से संत्रस्त पराजित राज्य शीघ्र विद्रोह की हिम्मत नहीं करते थे। लेकिन यह लाभ स्थायी न सिद्ध हुआ। असीरियन शासक पराजित राज्यों के निवासियों की सहानुभूति न प्राप्त कर सके। इसी कारण जैसे ही उन्हें अवसर मिला वे बदला लेने से न चूके। जैसे किसी समय निर्दयतापूर्वक सूसा एवं बैबिलोन का अन्त किया गया था वैसे ही निनिव का भी अन्त किया गया। इस प्रकार जिस सैनिकवाद एवं क्रूरता की नीति के कारण असीरिया साम्राज्य की स्थापना एवं उसका विकास संभव हुआ था उसी ने बाद में अधःपतन का द्वार भी खोल दिया। ट्वायनबी[2] ने उचित ही कहा है कि "वे सैन्यवादी जो अपने पड़ोसियों को नष्ट करने के लिए उनसे उग्र युद्ध करते हैं अपना ही विनाश करते हैं। असीरिया अपनी सैनिक विजय के पीछे धीरे-धीरे अपनी आत्महत्या कर रहा था। अपने पड़ोसियों के साथ इन्होंने जो बर्ताव किया और जो हानि पहुँचायी उसका परिणाम इन्हें मिलना था। असीरिया के

---

[1] Will Durant, Story of Civilization, Vol. I, p. 284

[2] A. J. Toyanbee, A Study of History, Vol I. Hindi, p. 285

शासक निर्लज्जता एवं अभिमानपूर्ण ढंग से अपने क्रूर एवं निष्ठुर कृत्यों का वर्णन करते समय यह भूल जाते थे कि यही किसी दिन उनके अन्त का कारण बनेगा। असीरियन सैनिकों द्वारा पराजित एवं त्रस्त राज्यों में से बहुतेरे राज्यों ने बाद में अच्छी प्रगति की लेकिन निनिव का इस प्रकार अन्त हो गया कि वह फिर से सजीव न हो सका।"

असीरियन साम्राज्य के अध:पतन के लिए इनकी प्रशासनिक नीति को भी जिम्मेदार माना जा सकता है। प्रारंभ में असीरियन शासक आक्रमण, विजय एवं विभिन्न राज्यों के मान-मर्दन में ही व्यस्त रहे। पहले तो वे उनका निर्दयता एवं निर्ममतापूर्वक अन्त करते थे फिर लूट-पाट से प्राप्त सम्पत्ति से असीरियन कोष की वृद्धि करते थे। इतना ही नहीं, बल्कि उनसे पर्याप्त मात्रा में कर-ग्रहण करते थे तथा यदि आवश्यक समझते थे तो वहाँ के निवासियों को दूर देशों में भेज देते थे। इस प्रकार वे कभी भी उन राज्यों की सहानुभूति नहीं प्राप्त कर पाते थे। इससे धीरे-धीरे उनका प्रभाव घटता गया। प्रारंभिक असीरियन नरेशों ने विजित राज्यों को साम्राज्य के प्रान्तों के रूप में संगठित करने की दिशा में भी कोई प्रयास नहीं किया। उनका उद्देश्य केवल लूट-पाट तक ही सीमित रहा। तिग्लैथपिलीज़र तृतीय के समय में इस दिशा में कुछ प्रयास हुए लेकिन इससे कोई विशेष लाभ न हुआ। अत: दिन-दिन असीरियन साम्राज्य प्रशासनिक दृष्टि से दुर्बल होता गया। असीरियनों की आन्तरिक व्यवस्था भी दोषपूर्ण थी। आन्तरिक व्यवस्था में यहाँ सैनिक एवं धार्मिक तत्त्वों का विशिष्ट महत्त्व था। इन दोनों के पारस्परिक सहयोग एवं मेल से ही सुशासन संभव था लेकिन असीरिया में इस प्रकार के प्रयास प्रायः नहीं दिखाई देते। असीरियन शासकों को बराबर कभी एक दल के तो कभी दूसरे के असहयोग का सामना करना ही पड़ता था। इससे भी असीरियन साम्राज्य के स्थायित्व को पर्याप्त आघात पहुँचा।

असीरियन साम्राज्य के अध:पतन में इनके आर्थिक संगठन को भी उत्तरदायी माना जा सकता है। आर्थिक दृष्टि से असीरिया में प्रायः वही सुविधाएँ विद्यमान थीं जो बैबिलोनिया में लेकिन जहाँ बैबिलोनिया का आर्थिक गठन वाणिज्यपरक था वहाँ असीरिया का अर्थिक गठन कृषिपरक था। असीरियन व्यापार को घृणा की दृष्टि से देखते थे। यहाँ कृषिकर्म में सर्वसाधारण वर्ग के सदस्य लगे थे। लेकिन अनवरत गतिमान युद्धों के कारण शनैः-शनैः इस व्यवसाय को प्रचुर आघात पहुँचा। युद्धों में भाग लेने वाले सैनिक प्रायः इसी वर्ग में से लिए जाते थे, अतएव जहाँ सैनिकों की संख्या एक ओर बढ़ती गई वहाँ कृषकों की संख्या घटती गई। धीरे-धीरे असीरियन लूट-पाट पर आश्रित होते गए। इसका दूरगामी प्रभाव अहितकर सिद्ध हुआ। जैसे-जैसे उनकी विजयों की संख्या घटती गई वे आर्थिक दृष्टि से दुर्बल होते गये।

क्रूर एवं निर्मम असीरियनों का राष्ट्रीय चरित्र ऊँचा था। इसी के बल पर उन्होंने असुर नामक एक छोटे से नगर से प्रारंभ कर एक सुविस्तृत साम्राज्य की स्थापना कर ली थी। लेकिन निरन्तर युद्धों में भाग लेने के कारण उनके राष्ट्रीय चरित्र का स्तर गिरने लगा। युद्ध में वे विजयश्री अवश्य प्राप्त करते थे लेकिन इसके बदले उन्हें

शूरकर्मा एवं आदर्श सैनिकों को बलि पर चढ़ाना पड़ता था। इससे दिन-दिन उनकी संख्या घटने लगी। विजित राज्यों के बहुसंख्यक निवासी बंदी बना कर असीरिया लाए जाते थे इससे दासों की संख्या यहाँ अधिक बढ़ गई और वे स्वयं असीरियन शासकों के लिए समस्या बन गए। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि क्रमशः असीरिया में कायर एवं भीरु व्यक्तियों की भीड़ लगने लगी जिनके बल पर असीरियन साम्राज्य का अधिक दिन तक टिक पाना असंभव था।

अन्यान्य प्रतिकूल परिस्थितियों में भी किसी साम्राज्य के योग्य शासक उसको कुछ दिन तक जीवित रख लेते हैं। लेकिन अन्य स्थितियों के अनुकूल होते हुए भी अयोग्य शासक साम्राज्य को अधःपतन से नहीं बचा पाते। अशुरबनिपाल असीरियन साम्राज्य का अंतिम महान् शासक था। इसने अत्यन्त नीति-निपुणता एवं बहादुरी से शत्रुओं का दमन किया तथा असीरिया साम्राज्य की सीमा विस्तृत की। लेकिन दुर्भाग्य से इसके उत्तराधिकारी नितान्त अयोग्य सिद्ध हुए। इसके बाद एक भी शासक ऐसा न उत्पन्न हुआ जो असीरियन साम्राज्य की रक्षा करने में समर्थ होता। निस्संदेह यदि उनमें अशुरबनिपाल की शक्ति एवं क्षमता होती तो असीरिया साम्राज्य कुछ दिनों तक और जीवित रह जाता।

तत्कालीन परिस्थिति में कैल्डियनों के आकस्मिक अभ्युदय एवं उनके सैनिक अभियान से असीरियनों की रही-सही शक्ति भी समाप्त हो गई। कैल्डियन नेबोपोलस्सर के नेतृत्व में पर्याप्त शक्ति अर्जित कर चुके थे। असीरिया तथा बैबिलोन की पुरानी शत्रुता थी। कभी बैबिलोन का प्रभुत्व असीरिया पर स्थापित हुआ था तो कभी असीरिया का बैबिलोन पर। अवसर की प्रतीक्षा में बैठे बैबिलोन का अशुरबनिपाल की मृत्यु के बाद भाग्य ने साथ दिया। अंतिम महान् असीरियन सम्राट् की मृत्यु का लाभ उन्हें मिला। मीडों के सहयोग से उन्होंने असीरिया पर अधिकार कर लिया। यदि कैल्डियनों का अभ्युदय कुछ दिन बाद हुआ होता तो निश्चित ही असीरिया का साम्राज्यिक वैभव कुछ दिनों तक और बना रहता। लेकिन अदृष्ट को यह अभीष्ट नहीं था।

असीरियन क्रूर विजेता थे पर संस्कृति के प्रति उदासीन नहीं थे

असीरियनों के राजनीतिक इतिहास के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो गया है कि असीरियन इस प्रदेश में एक योद्धा एवं विजेता की हैसियत से आए थे और इनका जीवन यहाँ भी विजयों एवं युद्धों में व्यतीत हुआ। युद्धनीति को कार्यान्वित करने के लिए इन्होंने अत्यन्त क्रूरता एवं निर्ममता की नीति अपनाई। विल-ड्युरैण्ट[1] कहते हैं कि पश्चिमी एशिया में कुछ दिनों तक लोग असीरिया को केवल इस रूप में स्मरण करते रहे कि उसने बड़ी निर्ममता से लगभग एक दर्जन राज्यों का दमन किया था। हिब्रुओं ने घृणापूर्वक निनिव के विषय में कहा है कि 'वह एक खूनी नगर है जिसमें झूठे एवं

---

1. Will Durant, Story of Civilization, Vol. I, p. 284

डाकू भरे पड़े हैं ।[1] असीरियनों के विषय में इन उक्तियों में किंचित भी अतिरंजना नहीं है । संभवतः इसीसे प्रभावित होकर थार्नडाइक महोदय[2] प्रस्तावित करते हैं कि असीरियनों तथा कैल्डियनों, दोनों का योगदान सभ्यता के विकास में नगण्य रहा । उनका कहना है कि असीरियनों ने जितना प्राप्त किया उससे अधिक उन्होंने नष्ट कर दिया । लेकिन इसका आशय यह नहीं है कि असीरियनों की सभ्यता एवं संस्कृति में कोई रुचि नहीं थी । प्रशासन में सैनिक संगठन की महत्ता सर्वप्रथम असीरियनों ने समझी और इसकी कतिपय विशिष्टताओं का आविष्कार सबसे पहले यहीं किया गया । सामाजिक संगठन में पर्दाप्रथा का सर्वप्रथम विकास असीरियनों ने किया । वास्तुकला, मूर्तिकला तथा प्रस्तर-कला से सम्बन्धित इनकी प्रगति भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी । प्रस्तर-कला में तो इन्होंने सुमेरियनों तथा बैबिलोनियनों को भी मात कर दिया था । क्रूर एवं निर्मम असीरियन यद्यपि साहित्य सर्जना न कर सके लेकिन प्रशासन, सामाजिक एवं आर्थिक संगठन, धर्म, कला, साहित्य, विज्ञान इत्यादि के क्षेत्र में उनके कतिपय नूतन अनुभव एवं आविष्कार महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं । सुमेरियन एवं बैबिलोनियन साहित्य को सुरक्षित करने का सराहनीय कार्य इन्होंने ही किया था । असीरियन सभ्यता एवं संस्कृति के जो साक्ष्य मिले हैं उनके आधार पर डेवीज महोदय के शब्दों में हम कह सकते हैं कि यद्यपि असीरियन निष्ठुर एवं बर्बर विजेता थे लेकिन संस्कृति के प्रति दृष्टिहीन नहीं थे ।[3]

राजनीतिक संगठन

कानून, सुरक्षा, वाणिज्य एवं शान्ति की स्थापना के लिए विविध राज्यों को समझा-बुझाकर अथवा शक्तिपूर्वक दबाकर एक साम्राज्य के अन्तर्गत संगठित करने के साम्राज्यिक सिद्धान्त की महत्ता का अनुभव करते हुए असीरियनों ने सर्वप्रथम एक सुसम्पन्न एवं सुविस्तृत साम्राज्य की स्थापना की । इस प्रकार का साम्राज्य पश्चिम एशिया में इसके पहले कभी नहीं स्थापित हो सका था । अशुरबनिपाल के सुविस्तृत साम्राज्य में असीरिया के अतिरिक्त बैबिलोन, अर्मीनिया, मीडिया, फिलिस्तीन, सीरिया, फीनिशिया, सुमेरिया, ईलम तथा मिस्र सम्मिलित थे। इसकी बराबरी कुछ हद तक इसके पूर्व केवल बैबिलोन के हम्मूराबी तथा मिस्र के थुत्मोस तृतीय (Thutmose III) कर पाये थे और बाद में यूनानी शासक सिकन्दर के आगमन के पूर्व का पारसीक साम्राज्य ही इसकी बराबरी कर पाया है ।

केन्द्रीय शासन

इस विस्तृत साम्राज्य का सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न केन्द्रीय शासक सम्राट् स्वयं था । उसकी शक्ति निर्विवाद थी । लेकिन शासक को यह महत्ता अनायास नहीं प्राप्त थी । असीरियनों को असुर नामक नगर से प्रारंभ कर एक सुविस्तृत असीरियन साम्राज्य

---

[1] Bible, Nahum, 3, I

[2] Lynn Thorndike, A Short History of Civilization, p. 94

[3] H.A. Davies, An Outline History of the World, p. 56

की स्थापना करने में जो सफलता मिली उसके मूल में उनकी संगठित शक्ति ही क्रियाशील थी । उनका यह दृढ़ विश्वास था कि एकता के अभाव में उनका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो सकता है । ऐसी स्थिति में वे सम्पूर्ण साम्राज्य के लिए एक ही शासक की आवश्यकता समझते थे । इसके साथ ही असीरियावासी शासक को शमश देव का अवतार मानते हुए उसे दैवी मानते थे । अतः शासक की आज्ञा स्वीकार करना राष्ट्रीय ही नहीं, अपितु धार्मिक कर्त्तव्य माना जाता था । इन कारणों से उसका सर्वशक्तिमान होना सहज एवं स्वाभाविक था ।

सिद्धान्ततः असीरियन शासक निरंकुश, अविवाद्य एवं अवाध्य था अर्थात् उसकी गति-विधियाँ पूर्णतया अनियंत्रित थीं लेकिन व्यवहारतः इसमें कुछ शिथिलता दिखाई पड़ती है। वह किसी न किसी प्रकार से असीरियन पुजारियों की प्रभाव परिधि में आ गया था । असीरियन अपने साम्राज्य को अशुर देव की सम्पत्ति मानते थे । अशुर देव के नाम पर ही कर-संग्रह करते थे, युद्ध करते थे तथा कानून का सृजन करते थे । प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य जैसे युद्ध एवं उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति के समय ईश्वर की प्रार्थना की जाती थी । धार्मिक महत्त्व के साथ यहाँ दिन-दिन पुजारियों का महत्त्व बढ़ता गया और वे शासक की स्वैच्छिक मनोवृत्ति पर किंचित अंकुश रखने लगे । असीरियन केन्द्रीय प्रशासन पर प्रकाश डालने वाले साक्ष्यों का अभाव है। आज की भाँति किसी प्रकार के मंत्रि परिषद् का अस्तित्व नहीं था । लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि शासन का संचालन अकेले शासक द्वारा ही हो जाता था । वास्तव में शासक की सहायता के लिए कुछ उच्च अधिकारी यहाँ रहते थे इनमें से पाँच के बारे में हमें सूचनाएँ हैं । सेनानायक इस दृष्टि से शायद प्रथम अधिकारी था । इसे तर्तनु (Turtanu) कहा गया है। रैब-शाकी (Rab-shaqe) नामक एक अन्य सहायक के विषय में भी सूचना मिलती है । इनके अतिरिक्त नगिर-एकाली (Nagir ekalli), जो राजप्रासाद का अधीक्षक था, अबरक्कु (Abarakku) एवं शक्नु (Shaknu) नामक तीन अन्य पदाधिकारियों के विषय में भी साक्ष्य मिलते हैं । इनका खर्च राज्य द्वारा प्राप्त भूमि से चलता था ।

प्रान्तीय शासन

असीरिया का अपना राज्य प्रारम्भ से ही प्रान्तों में विभाजित था जहाँ का शासन शासक द्वारा नियुक्त गवर्नरों द्वारा सम्पन्न किया जाता था । प्रारम्भ में इनका शासन-संचालन सरलतापूर्वक हो जाता था लेकिन धीरे-धीरे साम्राज्य विस्तार के साथ-साथ जब प्रान्तों की संख्या में वृद्धि होती गई तो प्रान्तीय प्रशासन भी कठिन हो गया । असीरियन प्रान्तों को उनके स्तर की दृष्टि से तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं । प्रथम श्रेणी के वे करद प्रान्त थे जिन्हें प्रतिवर्ष केन्द्र को निश्चित मात्रा में कर भेजना पड़ता था । द्वितीय श्रेणी के प्रान्त कर के साथ-साथ बेगार भी देते थे । तृतीय श्रेणी के प्रान्त केन्द्रीय शासन की प्रत्यक्ष प्रभाव-परिधि में थे । इनका गवर्नर शक्नु नामक पूर्वोल्लिखित पदाधिकारी था । प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी के प्रान्त आन्तरिक प्रशासन की दृष्टि से स्वतन्त्र थे लेकिन तृतीय श्रेणी के प्रान्त पूर्णतया शासकाधीन थे ।

प्रान्तों में नियुक्त प्रान्तपतियों या गवर्नरों के स्तर का निर्धारण प्रान्त की स्थिति के अनुसार किया जाता था। इस पद पर शासक के सम्बन्धित व्यक्ति अथवा शाही परिवार के सदस्य या फिर किसी प्रभावशाली व्यक्ति की नियुक्ति की जाती थी। इन प्रान्तों के गवर्नरों एवं अधिकारियों के उत्तरदायित्व कम नहीं थे। आन्तरिक व्यवस्था के साथ-साथ इन्हें कर वसूल कर केन्द्र के पास भेजना पड़ता था तथा शाही सेना के लिए सैनिकों को भर्ती करना तथा उनकी सेना तैयार करना पड़ता था। केन्द्र को प्रत्येक प्रान्त से क्या मिलना चाहिए, इसका निर्णय प्रान्तपति नहीं, बल्कि केन्द्रीय शासन करता था। प्रान्त एवं प्रान्तपतियों की गति-विधियों की जानकारी रखने के लिये शासक यहाँ गुप्तचर भेजता था जो समय-समय पर उसे प्रान्त की स्थिति के बारे में सूचनाएँ देते रहते थे। निनिव तथा कलाह् के उत्खनन से ऐसे बहुत से लेख प्राप्त हुए हैं जो प्रान्तपतियों द्वारा शासक को सम्बोधित किये गये हैं। इन पत्रों से हो प्रान्तपतियों के विषय में सूचनाएँ मिलती हैं। टायर तथा सिडोन के प्रान्तपतियों की ओर से शासक के पास पत्र भेजे गये थे। कुरदी-अशुर-लमुर (Qurdi-Ashur-Lamur) नामक एक अधिकारी ने शासक को पत्र लिखा था। जिसमें उसने इच्छा व्यक्त की थी कि विजित प्रदेशों के प्रति कर्त्तव्यों के विषय में उसे आदेश दिया जाय। आवश्यकता पड़ने पर समय-समय पर प्रान्तों का राजकीय निरीक्षण भी किया जाता था। एक बार अशुर-मत्क-गुर (Ashur-Matka-Gur) नामक एक अधिकारी से प्रश्न पूछा गया था कि उसने एरेमियनों को क्यों पुनः शरण दी थी ?[1]

असीरियन प्रान्तीय व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण सुधार तिग्लैथपिलीज़र तृतीय के समय से किये गये। इस काल में प्रान्तों को कई छोटे-छोटे जिलों में विभाजित किया गया। ये जिले पख्ती कहे गये। इसका अधिकारी बेल-पख्ती कहा गया। अपने-अपने क्षेत्र के अधिशासन की जिम्मेदारी इनकी ही थी। शासक, प्रान्तपति एवं बेल-पख्ती के मध्य पारस्परिक सम्पर्क बनाए रखने के लिए व्यावसायिक दूतों की भी नियुक्ति की जाती थी। मार-शिप्री एक ऐसा ही दूत था जो केन्द्रीय शासन से सम्बन्ध स्थापित करने में प्रान्तपतियों की सहायता करता था। यह राजमार्ग से यात्रा करता था। बीच-बीच में इसके विश्राम की व्यवस्था रहती थी। शासक के पास गुप्त संदेश भेजने के लिए अतिरिक्त अधिकारी रहते थे। इन अधिकारियों को कुरबुतु (Qurbutu) कहा जाता था। किसी बड़े अधिकारी के विरुद्ध शिकायत मिलने पर उसके निरीक्षण का कार्य भी यही अधिकारी करता था। कुछ प्राचीन नगरों में बड़े-बूढ़ों की सभाओं द्वारा भी शासन संचालित होता था। शासक द्वारा नियुक्त पदाधिकारी उक्त सभाओं की गतिविधियों का निरीक्षण करता था। असीरियन प्रान्तीय एवं स्थानीय शासन व्यवस्था के विषय में अन्य तथ्य अभी प्रकाशित नहीं हुए। लेकिन हम इतना जानते

---

[1] H. W. F. Saggs, The Greatness That Was Babylon, P. 245

है कि असीरियन प्रान्तीय व्यवस्था को बाद में पारसीकों ने अपनाया जहाँ से फिर यह रोम पहुँची।[1]

कर-व्यवस्था

असीरियन प्रान्तपतियों एवं अधिकारियों के कर्त्तव्यों में कर-संग्रह का विशेष महत्त्व था। वास्तव में असीरियन केन्द्रीय अर्थ-व्यवस्था पूर्णतया करों पर आधारित थी। साक्ष्यों से पता लगता है कि असीरियन कर-व्यवस्था अत्यन्त कठोर थी। भूमि के प्रत्येक अधिकारी तथा प्रत्येक प्रान्तपति को नियमित रूप से केन्द्र को कर देना पड़ता था। इसके अतिरिक्त पराजित शासक तथा उपराज्यों के शासक नियमित कर भेजते थे। पराजित शासक द्वारा दिया जाने वाला कर तमर्तु (Tamartu) कहा जाता था। इसी प्रकार मन्दत्तु (Mandattu) नामक एक अन्य कर के विषय में सूचना मिलती है। यह एक ऐसा कर था जो उपराज्यों द्वारा नियमित असीरियन राजधानी को भेजा जाता था।[2]

विधि-संहिता, एवं दण्ड-विधान

असीरियन प्रशासन में इनके कानूनों का वही महत्त्व था जो सुमेरियन प्रशासन में शुल्गी एवं बैबिलोनियन प्रशासन में हम्मूराबी के कानूनों का। असीरियन कानूनों से सम्बन्धित लेख बारहवीं-तेरहवीं शती ई० पू० के हैं। इन्हें कल-अँट-शेरकात (Qal'at sherqat) से प्राप्त किया गया था। इनमें तीन तख्तियों पर असीरिया के प्राचीनतम कानूनों के निन्यानबे नियम लिखे गये हैं। प्रथम का सम्बन्ध स्त्रियों से है। इसमें कुल साठ अनुच्छेद हैं। द्वितीय का सम्बन्ध भूमि-व्यवस्था से है। इसमें कुल इकतीस अनुच्छेद हैं। यह अधिक टूट-फूट गई है। तृतीय में विश्वासघात से सम्बन्धित नियम है। यह विशेष खंडित अवस्था में है।

असीरियन विधि-संहिता का स्वतंत्र विकास हुआ था अथवा किसी पूर्ववर्ती विधि संहिता के प्रभाव के अन्तर्गत ? इस प्रश्न का समुचित एवं समादरित उत्तर वर्तमान समय में नहीं दिया जा सकता है। असीरियन सभ्यता एवं संस्कृति की स्थापना के पूर्व बैबिलोनियन विधि-संहिता पश्चिम एशिया में विशिष्ट स्थान पा चुकी थी। अतएव असीरियनों पर उसका प्रभाव पड़ना सहज एवं स्वाभाविक था। लेकिन असीरियन एवं बैबिलोनियन विधि-संहिताओं की शब्दावली, शैली एवं विषयगत अन्तर के कारण दोनों संहिताओं को एक दूसरे से सर्वथा पृथक् स्वीकार किया जाता है। दण्ड-निर्धारण के समय दोनों संहिताओं का यह अन्तर और स्पष्ट हो जाता है। जहाँ बैबिलोनिया में देश-द्रोह से सम्बन्धित अपराधों के लिए अत्यन्त कठोर दण्ड-व्यवस्था थी वहाँ असीरिया में इस प्रकार के दण्ड भ्रूणहत्या एवं अप्राकृतिक व्यसन के लिए दिये जाते थे। स्त्रियों की

---

[1] Will Durant, Story of Civilization, Vol. I. p. 272

[2] Ancient Mesopotamia—Socio-Economic History : A Collection of Studies by Soviet Scholars, p. 253. ft.

स्थिति के सम्बन्ध में भी दोनों विधि-संहिताओं में मूल अन्तर देखा जा सकता है। वैबिलोनिया में स्त्रियों को कुछ महत्त्वपूर्ण अधिकार मिले थे, जबकि असीरियन स्त्रियाँ पूर्णतया पति के अधीन थीं। वास्तव में असीरियन इस भू-भाग में योद्धा की हैसियत से आए थे तथा सैनिकवाद के नितान्त पोषक थे। उनके यहाँ निर्धारित क्रूर एवं निर्मम दण्ड उनकी प्रकृति एवं राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक प्रवृत्ति के अनुकूल थे। ऐसी स्थिति में उनकी विधि-संहिता का विकास स्वतंत्र एवं मौलिक रूप से होना स्वाभाविक था। अतः यदि बैबिलोनियन प्रभाव पड़ा भी था तो उसे हम केवल बाहरी ही मान सकते हैं। वांसिकिल[1] महोदय उचित ही कहते हैं कि असीरियन विधि-संहिता पर वैबिलोनियन प्रभाव दिखाई अवश्य पड़ता है लेकिन उसकी रचना विशुद्ध रूप से स्थानीय प्रभाव के अन्तर्गत की गई थी। ऐसा लगता है कि असीरियनों ने कानून-निर्माण की मूल प्रेरणा तो बैविलोनियनों से ग्रहण की लेकिन रचनाकारों की व्यक्तिगत प्रतिभा एवं प्रकृति तथा स्थानीय विशेषताओं के दवाव के कारण इनकी प्रकृति हम्मूराबी के कानूनों से भिन्न हो गई, इसी कारण दोनों में शैली का अन्तर दिखाई पड़ता है। दण्डों की प्रकृति में पारस्परिक अन्तर के सम्बन्ध में भी स्थानीय विशेषताओं के प्रभाव को स्वीकार किया जा सकता है। वैबिलोनिया में दण्ड-निर्धारण के समय अभियुक्त एवं अभियोक्ता के सामाजिक स्तर का ध्यान बैबिलोनियन सामाजिक गठन के परिवेश में किया गया था। इस पर सुमेरियन कानूनों का प्रभाव था। इसके विपरीत असीरियन सामाजिक गठन वैबिलोनियन सामाजिक गठन से भिन्न था। अतएव यहाँ इसके अनुकूल नियम बनाए गए। असीरियन साम्राज्य की नींव सैनिक संगठन पर टिकी थी। इनकी शक्ति एवं संख्या का उन्हें बराबर ध्यान बना रहता था। इसी कारण जहाँ बैबिलोनिया में देश-द्रोह के लिए मृत्युदण्ड नियत था वहाँ असीरिया में इसे भ्रूणहत्या के लिए निश्चित किया गया। क्योंकि इससे सैनिकों की संख्या घटने की सम्भावना थी। बैबिलोनिया का आर्थिक गठन वाणिज्यपरक था, इसलिए वहाँ स्त्रियों को विशेष अधिकार मिले थे लेकिन असीरियन आर्थिक संगठन कृषिपरक था इसलिए यहाँ स्त्रियों को विशिष्ट अधिकार न मिल सके। इन स्थितियों में सुरक्षात्मक ढंग से यही कहा जा सकता है कि असीरियनों को मूल प्रेरणा बैबिलोनिया से ही मिली थी लेकिन देश एवं काल के कारण असीरियन कानून सर्वथा मौलिक बन गए।

असीरियन कानूनों के जो लेख मिले हैं उनके देखने से पता लगता है कि असीरियन जाति की क्रूरता एवं निर्ममता का प्रभाव उनके कानूनों पर निर्विवाद रूप से पड़ा था। इनके यहाँ जिन दण्डों का विधान था वे अनेक प्रकार के थे। इनमें कठिन परिश्रम लेने, कोड़े लगाने, अंगभेद—जैसे, नाक, कान, जीभ इत्यादि काट लेने, अण्डोच्छेदन, शूली पर चढ़ाने, शीश काट लेने इत्यादि का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। सारगोन द्वितीय के समय विषपान कराने तथा सन्तान की वलि देने की प्रथा

---

[1] C. E. Van Sickle, A Political and Cultural History of the Ancient World, p. 134

भी प्रचलित थी। गर्भपात कराने वाली स्त्री को मृत्यु दण्ड दिया जाता था। गर्भपात करते समय यदि किसी स्त्री की मृत्यु भी हो जाती थी तो भी उसे दण्ड से मुक्ति नहीं मिलती थी। उसको शूली पर चढ़ाया ही जाता था। यदि कोई स्त्री पति पर आक्रमण करती थी या उसे चोट पहुँचाती थी तो उसे कड़ा दण्ड दिया जाता था। पर-पुरुष से संबन्ध स्थापित करते हुए यदि कोई पुरुष अपनी पत्नी को देख लेता था तो परपुरुष की हत्या कर देता था। इस प्रकार की हत्या को यहाँ अपराध नहीं माना जाता था। किसी स्त्री पर अनायास दोषारोपण दण्डनीय था। इसके लिए हाथ-पैर बाँध कर नदी में फेंक दिया जाता था। इसके बाद भी यदि जान बच जाती थी तो भी दण्ड से मुक्ति नहीं मिलती थी।

सैन्य-संगठन

असीरियन साम्राज्य पर्याप्त विस्तृत था। इसकी रक्षा का गुरुतर भार उनके कंधों पर था और हम निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि इस महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वहन उन्होंने अत्यन्त सफलतापूर्वक किया। असीरियन साम्राज्य की भित्तियाँ सैनिक शक्ति पर टिकी थीं। इसी के बल पर असीरियन एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना में सफल हुए थे। मैसीडोनियन तथा रोमन सैनिकों की भाँति असीरियन सैनिकों का आदर्श ऊँचा था। इनके पास उच्च कोटि के अस्त्र-शस्त्र थे तथा ये कठोर अनुशासन में बँधे थे। इसी कारण इन्हें प्राय: सफलता मिलती गई। सिद्धान्तत: यहाँ प्रत्येक नागरिक को अनिवार्य रूप से सेना में भर्ती होना पड़ता था लेकिन यह अनिवार्यता तो आवश्यकता पड़ने पर ही दिखाई पड़ती थी। इसमें भी बहुत लोग अपने बदले किसी दास को भेज कर बच जाते थे। यहाँ दो प्रकार की सेना थी। एक पर शासक का अधिकार था तथा केन्द्रीय सेना के रूप में प्रतिष्ठित थी। दूसरी प्रकार की सेना प्रान्तपतियों के अधिकार में थी। प्रान्तों की सुरक्षा का भार इसी पर था। आवश्यकता पड़ने पर शासक भी प्रान्तपतियों की सैनिक सहायता करता था।

असीरियन सेना के पदाति, अश्वारोही तथा रथारोही तीन अंग थे। इनके अतिरिक्त इनके साथ श्रमिकों का एक और दल रहता था जो रक्षाखाई का निर्माण करता था। रथारोही की अपेक्षा पदाति तथा अश्वारोही दल अधिक उपयोगी थे। संभवत: सैनिकों की संख्या सर्वाधिक थी। इनके सैनिकों की वास्तविक संख्या के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। इसका नहीं के बराबर ही उल्लेख मिलता है। अशुरबनिपाल एक स्थल पर 50,000 सैनिकों का उल्लेख करता है तो शालमनेसर तृतीय 1,20,000 सैनिकों का। सेना को कई टुकड़ियों में बाँट दिया गया था। इसका प्रधान नायक तर्तनु था। इसके बाद की टुकड़ियों की संख्या एवं उसके नायक के बारे में ठीक-ठीक पता नहीं है। इसके बाद फिर हमें सत्तर के नायक (Captain of Seventy) तथा पचास के नायक (Captain of fifty) नामक अधिकारियों के संकेत मिलते हैं। ये अधिकारी तर्तनु के अधीन कार्य करते थे।

असीरियन सैनिक मुख्यतः लोहे की तलवार, विशाल धनुष, दीर्घप्रास, भित्तिपातक, रथचालित दुर्ग, धात्विक कवच, ढाल तथा शिरस्त्राण का प्रयोग करते थे। युद्धोपयोगी उपकरणों के निर्माण में लोहे का प्रयोग प्रचुरता से किया जाता था। इसे हित्तियों की देन मान सकते हैं। उपकरणों से कहीं अधिक महत्त्व यहाँ अनुशासन को दिया गया था। सैनिक अनुशासित एवं पंक्तिबद्ध होकर शत्रुओं पर आक्रमण करते थे। इससे भी अधिक महत्त्व इनकी रणनीति एवं युद्धविद्या को दिया जा सकता है। असीरियन सैनिक प्रतिरक्षात्मक युद्धों की अपेक्षा आक्रमणात्मक युद्धों में अधिक दक्ष थे। इसकी कई विधिओं का उन्हें ज्ञान था। दुर्ग-भेदन तथा शत्रु को भलीभाँति घेर लेने में वे अत्यन्त निष्णात थे। आक्रमणात्मक युद्धों में वे रथचालित दुर्गों का खुलकर उपयोग करते थे। इसमें बैठ कर वे सुरक्षात्मक ढंग से आक्रमण करने में सफल हो जाते थे। असीरियन सैनिक शासक के नेतृत्व में आगे बढ़ते थे। शासक राजकीय रथ पर आरुढ़ होकर सबसे आगे चलता था। दुर्ग-भेदन के लिए एक प्रकार के बड़े लट्ठे का प्रयोग किया जाता था जिसमें एक सिरे पर लोहा जड़ा होता था। इससे या तो रथ पर रख कर चोट पहुँचायी जाती थी या फिर किसी रस्सी से बाँध कर हवा में झुला कर आघात पहुँचाया जाता था। विजय के बाद नगर को बुरी तरह से रौंद डालना, उसे नष्ट-भ्रष्ट करना तथा उसे लूट-पाट लेना उनका सामान्य स्वभाव बन गया था। शत्रु-नगर जला दिया जाता था तथा अधिकांश नगर-निवासियों को मौत के घाट उतार दिया जाता था। युद्धबंदियों का या तो समरभूमि में ही सफाया कर दिया जाता था या फिर बन्दी बनाकर असीरिया लाया जाता था। जो जितना अधिक शत्रुओं का सिर काटता था उसे उतना ही अधिक पुरस्कार मिलता था। इसके हिसाब-किताब के लिए लिपिक नियुक्त रहते थे। जिस राज्य से वे विजय करके लौटते थे वहाँ मृत सैनिकों के सिरों के ढेर लग जाते थे। वे बन्दी शत्रुओं को एक पंक्ति में खड़ा करने के बाद तलवार से या तो सिर धड़ से पृथक् कर देते थे या गदा के आघात से उसे चकनाचूर कर देते थे। सामन्तों एवं अधिकारियों का सफाया विशेष सम्मान के साथ किया जाता था। इसकी कई विधियाँ थीं। उनके या तो हाथ-पैर, नाक, कान, आदि काट लिए जाते थे या ऊँची मीनार से ढकेल दिया जाता था। कभी-कभी सपरिवार उनका सिर काट लिया जाता था अथवा उनकी खाल उतार ली जाती थी। मंदाग्नि में भूनने की प्रथा भी प्रचलित थी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि असीरियन सैनिक संगठन अत्याचार पूर्ण नृशंस एवं अमानवीय आचरणों पर अवलम्बित था। इस असीरियन सैनिक क्रूरता के लिए विद्वानों की लेखनी सदा से जहर उगलती रही है। लेकिन यदि दूसरे पहलू से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह क्रूरता उन्होंने सोद्देश्य अपनायी थी। वास्तव में पश्चिम एशिया में असीरियनों का सितारा इसी क्रूरता एवं नृशंसता के बल पर चमका था। भविष्यकालीन विद्रोह की सम्भावनाओं को दूर रखने के लिए इस प्रकार की नीति आवश्यक थी। युद्धवन्दियों को स्वदेश लाकर उनके भरण-पोषण की जिम्मेदारी से बचने के लिए समर-भूमि में उनका सफाया कर देना अधिक उपयुक्त

समझा जाता था। इस तरह हम कह सकते हैं कि उनकी क्रूरता सकारण थी। लेकिन उनकी यह कठोरता की नीति अन्त तक सफल नहीं रही। उनकी क्रूरता एवं नृशंसता का परिणाम उन्हें शीघ्र ही भुगतना पड़ा। उनकी यही नीति उनके अन्त का कारण बनी।

सामाजिक संगठन

असीरियन सैनिक नीति का प्रभाव उनके सामाजिक गठन पर पड़ा। विभिन्न प्रान्तों, प्रदेशों एवं राज्यों के निवासी युद्धबन्दी के रूप में असीरियन समाज के अंग बनते गये। धीरे-धीरे निनिव एक अन्तर्राष्ट्रीय नगर बन गया जिसमें पश्चिम में एशिया माइनर से लेकर पूर्व में ईलम तक के निवासी विद्यमान थे। बहुतों ने तो यहाँ तक कहा है कि निनिव में असीरियनों की अपेक्षा विदेशी अधिक थे। असीरियन स्त्रियों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अथवा उनके दत्तक पुत्र बन कर बहुत से विदेशी असीरियन नागरिक बन गए थे।

प्रमुख वर्ग

सामान्यत: असीरियन समाज स्वतन्त्र एवं दास दो वर्गों में विभाजित था। स्वतन्त्र वर्ग की तीन श्रेणियाँ थी। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत शासकीय परिवार के सदस्य, धर्माधिकारी तथा उच्च अधिकारी थे। इन्हें श्रीमन्त अथवा मारबनुति कहा गया है। इन्हें यहाँ विशिष्ट स्थान प्राप्त था। ऐसा लगता है कि असीरिया में इस श्रेणी के सदस्यों की संख्या बहुत कम थी क्योंकि कभी-कभी योग्य व्यक्तियों के अभाव में स्त्रियों को भी कुछ महत्त्वपूर्ण पद मिल जाते थे। श्रीमन्तों के अधिकारों की रक्षा के लिए यहाँ सतत् प्रयत्न किए जाते थे। स्वतन्त्र नागरिकों की द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत शिल्पी या उम्माने वर्ग के सदस्य थे। इनकी संख्या अधिक थी। इस श्रेणी के सदस्यों में श्रेष्ठिन् अथवा तामकरु, लिपिक अथवा तुपशरुं, कुंभकार या परवरु, वर्द्धकि अथवा नग्गरु आदि का समाहार किया गया था। इनका व्यवसाय नियत था। स्वतंत्र नागरिकों की तृतीय श्रेणी श्रमिक वर्ग या खुब्शी की थी। असीरियन राष्ट्रीय सेना इसी वर्ग के सदस्यों की बनी थी। आवश्यकता पड़ने पर इस वर्ग के सदस्यों को विदेशों में उपनिवेश स्थापना के लिये भी भेज दिया जाता था। असीरियन दास दो प्रकार के थे। एक विदेशों के युद्ध-बंदी दूसरे ऋण न चुका सकने के कारण स्वतंत्रता खो देने वाले नागरिक। इनका मुख्य कार्य स्वतन्त्र वर्ग के सदस्यों की सेवा करना था। इनसे बेगार ली जाती थी तथा तुच्छ कार्य करवाया जाता था। सेनैकरिब के समय के एक प्रस्तर-चित्र में दासों को एक विशाल मूर्ति से लदी मिट्टी की गाड़ी खींचते हुए दिखाया गया है। कोड़ेधारी अधिकारी उनका निरीक्षण कर रहे हैं। अन्य स्वतन्त्र वर्ग के सदस्यों से पृथक् करने के लिए इनके कान छेद दिये जाते थे तथा सिर मुड़ा दिये जाते थे। लेकिन इतना होते हुए भी यहाँ दासों की स्थिति बहुत दयनीय

नहीं थी। वे कुछ स्वतन्त्र व्यवसाय करके धनार्जन कर सकते थे। कभी-कभी न्यायालय में साक्षी के रूप में भी उपस्थित हो जाते थे तथा उन्हें स्वतः दास रखने की छूट मिली थी। कभी-कभी तो शासन में भी उन्हें कुछ पद मिल जाता था।

पारिवारिक गठन एवं स्त्रियों की स्थिति

असीरियन पारिवारिक गठन पितृसत्तात्मक था जिसमें पिता ही परिवार का सर्वेसर्वा था। परिवार के शेष सदस्यों को उसकी आज्ञा का पूर्ण पालन करना पड़ता था। असीरियनों के इस प्रकार के पारिवारिक गठन के मूल में उनकी सैनिक प्रवृत्ति को स्वीकार किया जा सकता है। युद्धों में निरन्तर व्यस्त रहने के कारण परिवार का पुरुष वर्ग यहाँ महत्ता प्राप्त करता गया। पुरुषों की महत्ता के कारण ही यहाँ स्त्रियों की स्थिति दयनीय हो गई। मेसोपोटामिया सभ्यता में असीरियन स्त्रियों ने उन अधिकारों को खो दिया जिसे उन्होंने बैबिलोनिया में प्राप्त कर लिया था। इनके विधिसंमत लेखों में स्त्रियों की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। उनके द्वारा की गई चोरी, पुरुषों पर आक्रमण, भ्रूणहत्या, व्यभिचार इत्यादि के लिए दण्ड सम्बन्धित कानून मिलते हैं। विवाह के नियम बैबिलोनियनों के समान ही थे लेकिन यहाँ सामान्यतः लड़की खरीद कर विवाह किया जाता था। कभी-कभी स्त्रियों को पिता के घर में ही रहना पड़ता था और वे यदा-कदा ही पति से मिल पाती थीं। यदि विवाह की प्रारम्भिक रस्मों के बाद वर की अकस्मात मृत्यु हो जाती थी तो कन्या का विवाह उसके किसी छोटे भाई के साथ कर दिया जाता था लेकिन इस समय इसका ध्यान रखा जाता था कि उसकी अवस्था दस वर्ष से कम न हो। संयोग से यदि वर का कोई छोटा भाई नहीं रहता था तो वरपिता को खाने-पीने की सामग्री के अतिरिक्त शेष सब कुछ, जो उसे कन्यापिता की ओर से रस्म के समय मिलता था, वापस करना पड़ता था। उनकी सैनिक संख्या निरन्तर बढ़ती रहे इसके लिए उन्हें स्त्रियों से सम्बन्धित कुछ कठोर नियम बनाने पड़े। भ्रूणहत्या के लिये स्त्रियों को मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। यहाँ तक कि यदि इस प्रयास में गर्भिणी की मृत्यु हो जाती थी तो भी उसे शूली पर चढ़ाया जाता था। विवाहित स्त्रियों को पूर्ण पातिव्रत का पालन करना पड़ता था। बिना उसकी आज्ञा के न वे बाहर जा सकती थीं न व्यापार कर सकती थीं। व्यभिचार के लिए यहाँ प्राण-दण्ड दिया जाता था। विवाहित स्त्रियों को कठोर पर्दे में रहना पड़ता था। वे मुख खोलकर सार्वजनिक स्थलों पर विचरण नहीं कर सकती थीं। पर्दा-प्रथा का विकास यहीं से माना जाता है। अविवाहित स्त्रियों, गणिकाओं, पुजारिणों तथा दासियों के लिये पर्दा प्रथा नहीं थी। उन्हें सदा मुख खोल कर रहना पड़ता था। यदि कोई व्यक्ति कुछ मित्रों के बीच किसी गणिका को घूंघट में करके यह कह देता था कि 'यह मेरी पत्नी है' तो उस गणिका को उस व्यक्ति की पत्नी मान लिया जाता था और विवाहिता स्त्री के निस्सन्तान होने पर उसके पुत्र को उत्तराधिकार भी मिल जाता था। स्त्री को तलाक देना, उसे कुछ देना या न

देना पति की इच्छा पर था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि असीरिया में स्त्रियों को कोई अधिकार नहीं मिला था और वे पूर्णतया पुरुषों के अधीन थीं। लेकिन इसका कहीं-कहीं अपवाद भी मिलता है। स्वतन्त्र वर्ग से सम्बद्ध उच्च वर्ग की स्त्रियों को यहाँ कुछ अधिकार मिले थे। कभी-कभी तो वे राज्यभार भी सँभाल लेती थीं। सम्मुरत नामक एक शासिका के विषय में सूचना मिलती है जिसनें अल्पकाल के लिए शासन सँभाला था। इसी प्रकार खुब्शी वर्ग की स्त्रियों का भी बराबर ध्यान रखा जाता था। यदि कोई सैनिक शत्रु द्वारा बन्दी बना लिया जाता था और उसकी स्त्री के पास जीविका का समुचित साधन नहीं रहता था तो नगर शासक की ओर से उसके लिए भूमि एवं मकान की व्यवस्था की जाती थी और दो वर्ष पश्चात् उसे पुनः विवाह की छूट मिल जाती थी लेकिन ऐसा करने के बाद भी यदि उसका पति आ जाता था तो उस स्त्री को पुनर्विवाहित पति छोड़ना पड़ता था। भूमि एवं मकान की व्यवस्था करने के बाद यदि पति की युद्ध में मृत्यु का समाचार मिल जाता था तो उससे भूमि और मकान छीन लिया जाता था।

आर्थिक संगठन

कृषि-कर्म

आर्थिक दृष्टि से असीरियनों को भी लगभग वही सुविधाएँ मिली थीं जो सुमेरियनों तथा बैबिलोनियनों को। दजला के दोनों ओर स्थित उर्वर मैदान कृषि के लिए उपयुक्त थे। यहाँ गेहूँ, जौ, बाजरा, तथा तिल की खेती मुख्य रूप से की जाती थी। बैबिलोनियनों की भाँति बाँध बना कर नहरों की सहायता से नदी के जल का उपयोग किया जाता था। खेतों तक जल पहुँचाने के लिए मिस्र की भाँति यहाँ भी शडूफ की सहायता ली जाती थी। यहाँ भूमि के स्वामी उच्च वर्ग के सदस्य ही थे। वास्तव में यहाँ भू-स्वामी तथा कृषक दोनों अलग-अलग थे। कृषक स्वयं भूमिधर थे अथवा इन्हीं भू-स्वामियों को लगान देकर भूमि प्राप्त करते थे, ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है। लेकिन इतना हम जानते हैं कि जो भूमि लगान पर ली जाती थी उसकी शर्तें बड़ी कड़ी होती थीं। कृषि-कर्म की महत्ता के कारण कृषकों की स्थिति यहाँ अच्छी थी। असीरिया में कृषि कर्म को वही स्थान प्राप्त था जो बैबिलोनिया में व्यापार को। असीरियन व्यापारी होने की अपेक्षा भू-स्वामी होना अधिक पसन्द करते थे।

उद्योग-धन्धे

कृषि-कर्म के बाद असीरियनों के आर्थिक संगठन के द्वितीय स्तर पर उद्योग-धन्धों का उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि असीरियनों की भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि वहाँ उद्योग-धन्धे तथा व्यापार दोनों अधिक विकसित नहीं हो सकते थे क्योंकि निनिव तथा अन्य महत्त्वपूर्ण नगर काफी उत्तर में थे लेकिन विभिन्न प्रान्तों एवं प्रदेशों से लूट-पाट द्वारा जो धन यहाँ इकट्ठा हो रहा था उससे उद्योग-धन्धों के विकास का मौका मिला। मुख्यतः धातु-उद्योग प्रचलित था। धातुएँ या तो खदानों से प्राप्त की जाती

थीं या फिर उनका आयात किया जाता था । स्वर्ण, रजत, ताम्र, कांस्य एवं लौह से अनेक प्रकार के उपकरण बनाये जाते थे । धातुओं को ढालने तथा शीशा-फूँकने की कला से वे परिचित थे । धातु उद्योग के अतिरिक्त भाण्ड उद्योग, तथा वस्त्रोद्योग भी अत्यधिक प्रचलित थे । सेनैकरिब के एक लेख में वृक्ष पर उत्पन्न होने वाली एक ऊन का उल्लेख मिलता है । यह निस्संदेह कपास का उल्लेख है तथा पश्चिम एशिया में इसका प्राचीनतम उदाहरण है । ब्रेस्टेड के अनुसार इसका आगमन भारत से हुआ था ।[1] उद्योग-धन्धे प्रायशः वंशानुगत थे ।

व्यापार एवं वाणिज्य

व्यक्तिगत रूप से असीरियन श्रीमन्त व्यापार को घृणा की दृष्टि से देखते थे । उनकी दृष्टि में कम दाम पर सामान खरीद कर उसे अधिक दाम में वेंचना निंद्य कार्य था । श्रीमन्त वर्ग की व्यापारिक उदासीनता का लाभ विदेशी एरेमियनों को मिला और धीरे-धीरे सम्पूर्ण असीरियन व्यापार एवं वाणिज्य उनके अधिकार में आ गया । विदेशी व्यापार काफिलों की सहायता से किया जाता था । यहाँ माल तैयार करने वाले तथा उसे बाहर ले जाने वाले अलग-अलग वर्ग थे । व्यापारी और साहूकार पूँजी लगा कर माल बनाते थे तथा सौदागर उसे बाहर ले जाते थे । व्यापारियों को सौदागरों से पूँजी पर पचीस प्रतिशत ब्याज मिल जाता था । इससे हम सौदागरों के लाभ की अधिकता का अनुमान लगा सकते है । मुद्रा-प्रणाली अभी तक विकसित नहीं थी । विनिमय में स्वर्ण, रजत एवं ताम्र के खण्ड प्रयुक्त किये जाते थे । सेनैकरिब के एक लेख में रजत के एक अर्द्ध शेकेल के खण्ड का उल्लेख मिलता है । व्यापार का संचालन राजधानी असुर से किया जाता था । व्यापारिक वस्तुओं की कीमत एक-सी नहीं रहती थी । माँग एवं पूर्ति के अनुसार वस्तुओं के मूल्य घटते-बढ़ते रहते थे । अशुरबनिपाल के समय में ऊँटों के दाम $1\frac{1}{2}$ शेकेल कम हो गये थे क्योंकि विजयों के कारण उनकी संख्या बढ़ गई थी । यहाँ व्यापार-वाणिज्य से सम्बन्धित बहुत से नियम बनाए गये थे । जो इन नियमों का उल्लंघन करता था उसे कठोर दण्ड दिया जाता था । इनके व्यापारिक सम्बन्ध सीरिया, पेलेस्टाइन, साइप्रस तथा ईजियन द्वीप समूह से थे । मेसोपोटामिया का व्यापारिक मार्ग सीरिया से होकर जाता था, अतः उसका योगदान विशेष था । यह एक सुविदित तथ्य है कि असीरियनों के दूसरों से संघर्ष प्रायशः व्यापारिक मार्गों के प्रश्न को लेकर होते थे । टायर, उरर्तु एवं सीरिया के साथ हुए संघर्ष इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं ।

धर्म

देव-मण्डल

क्रूर एवं हिंसा के वातावरण में आलोच्य सभ्यता में न तो धार्मिक मान्यताएँ अधिक विकसित हुईं न उनका राजनीतिक जीवन पर कोई विशेष प्रभाव ही

---

[1] J. H. Breasted, Ancient Times, p. 203

पड़ा। बैबिलोनियन देवी-देवताओं को यहाँ अपनाया अवश्य गया लेकिन उनके राष्ट्रीय देव मार्दुक का स्थान असीरिया के अशुर नामक देवता को मिला। प्रारम्भ में यहाँ अशुर को अन्य देवताओं के समान महत्त्व मिला था और उसकी प्रसिद्धि एक सौर-देवता (Solar God) के रूप में थी। सपक्ष सूर्य-चक्र उसका प्रतीक था। बाद में जब असुर नामक नगर को असीरिया साम्राज्य की राजधानी बनने का सुयोग मिला तो अशुर को विशेष प्रतिष्ठा मिली। इसे राष्ट्रीय देवता के पद पर आसीन कर भारतीय इन्द्र की भाँति युद्धदेव स्वीकार कर लिया गया। अशुर युद्ध एवं शान्ति दोनों में राष्ट्र का कल्याण करता था। वास्तव में अशुर एक ऐसा राष्ट्रीय देवता था जिसका शक्तिशाली हाथ असीरियनों को विजय दिलाता था तथा जिसकी अक्षय उदारता मानव मात्र को श्रेष्ठतम समृद्धियाँ प्रदान करती थी। अशुर के अन्य व्यक्तिगत गुणों एवं चरित्र के विषय में अधिक ज्ञात नहीं हैं। अशुरनज़िरपाल द्वितीय के शासन काल के एक प्रस्तर-चित्र में युद्धवन्दियों को अशुर के समक्ष बलि देते हुए दिखाया गया है। अशुरबनिपाल अपने एक लेख में सगर्व कहता है कि असुर के विद्रोहियों एवं मेरे विरुद्ध षड्यन्त्र करने वाले इन सैनिकों को मैंने देवताओं के सम्मुख हवन कुण्डों में बलि दे दी इससे मैंने देवताओं को प्रसन्न किया।[2] इससे यह पता लगता है कि अशुर बलि से सन्तुष्ट होता था। अशुर का आवास असुर नगर का मन्दिर था। इसकी पत्नी के रूप में निनलिल (Ninlil) प्रतिष्ठित थी। अशुर एवं निनलिल के अतिरिक्त एआ (Ea), अनु (Anu) तथा एनलिल (Enlil) की उपासना भी की जाती थी। उनकी अधिष्ठात्री देवी निन्ना प्रेम की प्रतीक थी।

अन्धविश्वास

असीरियन धर्म अंधविश्वास एवं अभिचारपरक था। इस धर्म में अशुभकारी एवं आभिचारिक शक्तियों को विशेष महत्त्व मिला था। असीरियनों को इन शक्तियों से उतना ही भय था जितना उन्हें अपने विरोधियों से। विल ड्युरैण्ट ने उचित ही कहा है कि असीरियन धर्म का मुख्य उद्देश्य भावी नागरिकों में देशभक्ति पूर्ण विनय उत्पन्न करना तथा अभिचार एवं बलि के माध्यम से देवताओं की कृपा प्राप्त करने की कला की शिक्षा देना था।[3] अशुभकारी एवं आभिचारिक शक्तियों से बचने का एकमात्र उपाय मंत्र-तंत्र था जिस पर पुजारियों का एकाधिकार था। इन मन्त्रों को तावीजों पर उत्कीर्ण कर दिया जाता था। कभी-कभी मंत्रों के साथ-साथ नाना प्रकार की आकृतियाँ भी उत्कीर्ण की जाती थीं। इन तावीज़ों को यहाँ बालक से वृद्ध तक सभी धारण करते थे। अंधविश्वास एवं अभिचार की अतिशयता का प्रभाव पुजारियों के विकास पर पड़ा और उन्हें खूब विकसित होने का अवसर मिला। यहाँ पुजारियों के कई वर्ग थे।

---

1. H. A. Davies, An Outline History of the World, P. 55
2. Will Durant, The Story of Civilization, Vol. I, p. 276
3. I bid.

आभिचारिक ज्ञान-सम्पन्न, संगीत द्वारा देवता को प्रसन्न करने वाले, स्तुति करने वाले तथा धार्मिक कार्यों के समय देव-मूर्तियों का जलाभिषेक करने वाले पुजारी अलग-अलग थे।

असीरियन प्रकृत्या एवं विश्वास से निराशावादी एवं धर्मान्ध थे। उनमें निगमनिक तर्कणा शक्ति का अभाव था। वे घटनाओं के कार्य-कारण पर विश्वास करते थे। उनका विश्वास था कि क्रम से घटित होने वाली दो घटनाओं में पहली दूसरे का कारण होती है। इसका प्रभाव शकुन विचार पर पड़ा और यहाँ भी बैबिलोनिया की भाँति शकुन विचारकों का एक वर्ग अस्तित्व में आ गया। ग्रह-नक्षत्रों का अध्ययन करके शकुन विचारक भविष्यवाणी करते थे। इससे ज्योतिष के अध्ययन को बढ़ावा मिला। इसका लाभ बाद में यूनानियों को मिला।

परलोकवाद

असीरियनों की पारलौकिक मान्यताओं के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है। हम केवल इतना जानते हैं कि वे एक ऐसे अंधकार लोक के अस्तित्व में विश्वास करते थे जहाँ मृतात्मा को जाना पड़ता था। वहाँ उसके लौकिक कर्मों की जाँच की जाती थी। इस जाँच में जो दुष्कर्मी सिद्ध होता था उसे घोर यातना मिलती थी। मृतकों के विषय में असीरियन उदास दिखाई पड़ते हैं। पहले तो उन्हें भूमि में वैसे ही गाड़ कर अंतिम संस्कार कर देते थे लेकिन आगे चल कर अग्निदाह भी करने लगे।

कला

कला के क्षेत्र में असीरियनों ने बैबिलोनियनों से आगे बढ़ कर सुमेरियनों की समता प्राप्त कर ली थी। प्रस्तर-चित्रों के उत्कीर्णन में तो ये सुमेरियनों से भी आगे बढ़ गये। विभिन्न प्रान्तों एवं प्रदेशों के लूट-खसोट से प्राप्त सम्पत्ति से सैनिक शक्ति के भरण-पोषण के साथ ही असीरियन राजधानी तथा नगरों का वैभव और सौन्दर्य समृद्ध होता गया। असीरियन कलाकारों के सतत् प्रयास से निनिव, असुर आदि नगर विभिन्न प्रकार के भवनों, मूर्तियों, प्रस्तर-चित्रों एवं अन्यान्य उपकरणों से समलंकृत हो गये।

वास्तुकला

प्रारंभ से ही असीरियन शासकों का ध्यान भवन-निर्माण की ओर था। जिसके फलस्वरूप यहाँ वास्तुकला पर्याप्त पुष्पित-पल्लवित हुई। असीरियन वास्तुकला की कुछ निजी विशेषताएँ थीं। प्रारंभ में इसमें ईंटों का प्रयोग किया गया लेकिन प्रस्तर-खण्डों की सुलभता के कारण बाद में उसी का बहुप्रचलन हो गया। भवनों में मेहराब तथा स्तंभ बनाये जाते थे। ये भवन आकार-प्रकार में विशाल होते थे तथा इन्हें प्रायः दो-तीन मंजिलों तक ऊँचा बनाया जाता था। प्रत्येक भवन में कई बड़े-बड़े कमरे और हॉल होते थे। राजकीय भवनों के द्वार पर पशुओं की अति-विशाल आकृतियाँ स्थापित की जाती थीं। दीवारों, छतों तथा फर्शों को विविध प्रकार से विभूषित किया जाता था। असीरियन वास्तुकला का विकास शासकीय संरक्षण में हुआ था और अधिकांश भवन तथा

मंदिर असीरियन शासकों की प्रेरणा एवं निर्देशन में निर्मित हुए थे। इसके आधार पर हम कह सकते हैं कि भारतीय मौर्यकला एवं पारसीक कला की भाँति असीरियन वास्तुकला भी एक प्रकार की दरबारी कला थी। सारगोन युग के पूर्व यहाँ तिग्लैथपिलीज़र प्रथम, अशुरनज़िरपाल द्वितीय तथा शालमनेसर तृतीय ने वास्तुकृतियों के निर्माण में विशेष रुचि ली। तिग्लैथपिलीज़र प्रथम ने राष्ट्रीय देव अशुर के लिए कई मंदिर बनवाए थे जिसमें से एक के विषय में वह स्वयं कहता है कि उसने इसके अभ्यन्तर भाग को आकाश के समान आकर्षक बनाया तथा इसकी दीवालों को सितारों से सजाया था। अशुरनज़िरपाल द्वितीय के समय में राजधानी कलाह में स्थापित की गई थी जहाँ प्रासाद एवं मंदिर बनवाए गये थे। इसके लिए उसने बहुसंख्यक वास्तुकारों एवं शिल्पियों को लगा रखा था। राजप्रासाद की दीवारों पर युद्ध, मृगया तथा धार्मिक अनुष्ठानों के दृश्यों को अत्यन्त सजीवता के साथ उत्कीर्ण किया गया। शालमनेसर तृतीय के समय में अधिकांश भवन असुर में बनाए गए। नगर को सुरक्षा प्रदान करने के लिए एक खाईं तथा दोहरी प्राचीर निर्मित कराई गई। इसमें थोड़ी-थोड़ी दूर पर तोरण बनाए गये थे। वास्तुकला में अगली प्रगति तिग्लैथपिलीज़र तृतीय के समय में हुई। इसी काल में राजप्रासादों में द्वार-मण्डप बनाए गए। ब्रेस्टेड के अनुसार इसे उन्होंने हित्तियों से सीखा था।[1] सारगोन द्वितीय ने निनिव के समीप दुरु-शरुंकिन नामक नगर बसाया। इसमें एक विशाल प्रासाद बनवाया गया। इसके द्वार पर सपक्ष वृषभ की दो बड़ी मूर्तियाँ स्थापित की गईं। इसकी दीवारों को बहुविध अलंकृत किया गया तथा कक्षों को नाना प्रकार के साज-सज्जा के उपकरणों तथा स्थापत्य कृतियों से सजाया गया। सेनैकरिब के समय का बना निनिव का राजप्रासाद भी आकार-प्रकार की दृष्टि से अपने ढंग का अद्वितीय था। इसकी दीवारें तथा छतें बहुमूल्य धातुओं, लकड़ियों तथा पत्थरों के काम से सजायी गई थीं। इसकी खपरैल अत्यन्त चमकदार थी। धातु पर काम करने वालों ने सिंह तथा बैलों की ताम्रमूर्तियाँ तथा शिल्पियों ने सिलखड़ी तथा चूना-पत्थर की सपक्ष वृषभ मूर्तियाँ बनायी थीं। सेनैकरिब के बाद एसरहद्दोन ने भी इस कार्य में विशेष रुचि ली। इसके समय में भी कई भव्य भवन निर्मित हुए। इसके काल में निर्मित भवनों में भव्य स्तम्भ प्रयुक्त किए गए तथा उन्हें नये ढंग से अलंकृत किया गया। लेकिन दुर्भाग्य से सेनैकरिब का भवन साठ वर्षों में ही कमजोर हो गया था। इसके पुनर्निमाण का उत्तरदायित्व अशुरबनिपाल ने सँभाला था जिसका वर्णन उसके स्वयं के एक लेख में सविस्तर मिलता है।

मूर्तिकला

प्रारम्भ में असीरियन मूर्तिकारों ने शासक तथा देवताओं की मूर्तियाँ बनायीं लेकिन आगे चल कर सपक्ष मानव-शीश, वृषभ तथा सिंह की मूर्तियाँ बनायी गईं। तकनीकी भाषा में इन कृतियों को पूर्ण मूर्तिकला (Sculpture in the round) के

---

[1] J. H. Breasted, Ancient Times, pp. 202-3

अन्तर्गत रखा जाता है। असीरियन कलाकारों द्वारा निर्मित मूर्तियों में पशु-मूर्तियाँ अत्यन्त सजीव एवं स्वाभाविक हैं। इन मूर्तियों के देखने से ऐसा लगता है जैसे इन पशुओं को मनुष्यों की अपेक्षा अपनी शारीरिक एवं नैतिक श्रेष्ठता का अधिक गर्व है। इसके विपरीत इनकी दैवी एवं मानवीय मूर्तियाँ निर्जीव, अस्वाभाविक, अपरिष्कृत एवं अभद्र लगती हैं। केवल अशुरबनिपाल द्वितीय की भीमाकार मूर्ति इसका अपवाद है। सम्प्रति ब्रिटिश संग्रहालय में विद्यमान इस मूर्ति में अशुरबनिपाल के प्रभावोत्पादक एवं दर्पपूर्ण व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक मिलती है।

उद्भृत कला

मूर्तिकला की अपेक्षा उद्भृत कला में असीरियनों ने अधिक प्रगति की थी। सारगोन द्वितीय, सेनैकरिब, एसरहद्दोन तथा अशुरबनिपाल के स्वर्णिम शासनकाल में इसे खूब फूलने-फलने का अवसर मिला। असीरियन उद्भृत कला के प्राचीनतम अवशेष अशुरनज़िरपाल द्वितीय के समय के हैं। एक उत्कीर्ण-भास्कर में पुण्य के देवता मार्दुक को पाप के देवता तियामत (Tiamat) के साथ युद्ध करते हुए उत्कीर्ण किया गया है। अशुरबनिपाल के समकालीन एक उद्भृत में नदी तट पर बसे हुए शत्रु नगर पर असुर सेनाओं के आक्रमण के दृश्य उत्कीर्ण हैं। रक्षक सैनिक तैनात अवस्था में प्रदर्शित हैं। शत्रु के स्थल सैनिक हवा भरी मशकों के अवलम्ब से नदी उत्तीर्ण कर आत्मरक्षा करना चाहते हैं। असुर सैनिक उन पर शर-संधान कर रहे हैं। असीरियन कलाकार भीमाकार मानवाकृतियाँ उत्कीर्ण करते थे। इस दृष्टि से खिलखड़ी पर उत्कीर्ण एक चित्र [जिसमें ताड़ के वृक्ष की पूजा करते हुए कुछ व्यक्तियों को दिखाया गया है,] तथा कलख से प्राप्त शम्शी-अदद सत्तम की चूने-पत्थर पर उत्कीर्ण मूर्ति का उल्लेख किया जा सकता है। असीरियन उद्भृत चित्रों में दैवी एवं मानवीय आकृतियाँ लगभग एक ही समान बनी हुई हैं। प्रायशः सभी व्यक्तियों के सिर बड़े हैं तथा उनकी मूँछें एक समान हैं। ऐसा लगता है जैसे सभी मानवीय आकृतियाँ एक ही साँचे में ढाली गई हैं। इतना ही नहीं, बल्कि असीरियन कलाकार मानवीय चित्राकृतियों को एक किनारीदार वस्त्र से आच्छादित कर देते थे जिसके फलस्वरूप उनकी मौद्रिक भिन्नता समाप्त हो जाती थी और वे एक जैसी प्रतीत होने लगती थीं। लेकिन इन दोषों के बावजूद भी उनकी अभिव्यक्ति एवं संप्रेषणीयता में विशेष न्यूनता नहीं आयी। इनमें असीरियन इतिहास के अंतिम तीन सौ वर्षों की सैनिक साज-सज्जा एवं प्रविधि का क्रमागत विकास बड़ी सावधानी एवं यथार्थता से प्रदर्शित किया गया है।

देवताओं एवं मनुष्यों की आकृतियों की अपेक्षा दीवार में लगे शिलापट्टों पर उत्कीर्ण युद्ध एवं मृगया से सम्बन्धित पशु-आकृतियाँ अधिक सजीव, आकर्षक एवं मनोरम हैं। केवल शान्त मुद्रा को छोड़कर शेष सभी मुद्राओं में वे पशु आकृतियों का चित्राङ्कन कर लेते थे। दुर-शरुकिन से मिले सारगोन द्वितीय के समय के अश्व, सेनैकरिब के निनिव के राजप्रासाद में उत्कीर्ण एक घायल शेरनी, अशुरबनिपाल के राजप्रासाद में

मिले सिलखड़ी के टुकड़े पर उत्कीर्ण एक मरणासन्न सिंह आदि की आकृतियाँ तथा अशुरनज़िरपाल द्वितीय और अशुरबनिपाल के शिकार के दृश्य, विश्राम करती हुई एक बाघिन, जाल से छूटे एक सिंह तथा एक वृक्ष की छाया में विश्राम करते हुए बाघ-बाघिन के चित्र इनकी उद्भृत कला के कतिपय आदर्श उदाहरण हैं। असीरियन उद्भृत कला में उत्कीर्ण पशु-आकृतियों से प्रभावित होकर विल ड्युरैण्ट प्रस्तावित करते हैं कि पशु आकृतियों को इतनी कुशलता से न पहले न कभी बाद में उत्कीर्ण किया गया। लेकिन विल ड्युरैण्ट महोदय का यह कथन दोषमुक्त नहीं माना जा सकता है। यह सत्य है कि असीरिया के पहले इस प्रकार के प्रस्तर-चित्र नहीं उत्कीर्ण किए गये थे लेकिन उनका यह कहना कि बाद में भी ऐसा नहीं हुआ उचित नहीं है। हमारे यहाँ मौर्यकाल में अशोक के स्तम्भों पर उत्कीर्ण पशु आकृतियों में जो सौन्दर्य, स्वाभाविकता एवं भावाभिव्यक्ति है वह असीरियन पशु आकृतियों से कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

चित्रकला एवं अन्य गौण कलाएँ

यद्यपि चित्रकला का विकास यहाँ स्वतन्त्र रूप से नहीं, वास्तुकला के सहायक रूप में ही हुआ तथापि असीरियन चित्रकार रंजित एवं काचित डिस्टेम्पर (Tempera) चित्रों के अङ्कन में विशेष सफलता पा लिए थे। सुमेरिया तथा बैबिलोनिया की भाँति यहाँ भी मुद्रा का निर्माण किया गया लेकिन कलात्मक वैशिष्ट्य की दृष्टि से ये मुद्राएँ सुमेरियन मुद्राओं की समता न कर सकीं। राजप्रासादों, भवनों तथा देवालयों के शोभा वर्द्धन के लिए असीरियन कलाकारों ने विविध उपकरण बनाए अवश्य थे लेकिन उनमें से अब अधिकांश उपलब्ध नहीं हैं।

बौद्धिक उपलब्धियाँ

असीरियन अधिकांशतः सामरिक योजनाओं, आक्रमणों, युद्धों एवं पराजित राज्यों को दण्डित करने में ही व्यस्त रहे। अतएव बौद्धिक क्षेत्र में प्रगति करने का उन्हें अवसर न मिला लेकिन इसका यह आशय नहीं है कि इस क्षेत्र में उन्होंने कोई प्रगति की ही नहीं। सत्यता तो यह है कि कैसाइट काल में मेसोपोटामिया की जो सांस्कृतिक एवं बौद्धिक क्षति हुई थी उसकी असीरियनों ने बहुत कुछ पूर्ति कर दी। दर्शन एवं अनुसंधान के प्रति वे निस्पृह अवश्य थे लेकिन लिपि, साहित्य एवं विज्ञान में उन्हें कुछ सफलता प्राप्त हो गयी थी।

लिपि एवं साहित्य

असीरियनों ने बैबिलोनियन कीलाक्षर लिपि को संशोधित एवं परिवर्द्धित कर सुगम एवं लोकप्रिय बनाया। यहाँ सुमेरियन एवं बैबिलोनियन के अतिरिक्त अन्य सेमिटिक भाषाएँ भी प्रचलित थीं। इस दृष्टि से एरेमियन भाषा का उल्लेख किया जा सकता है। एरेमियन भाषा में उत्कीर्ण बहुसंख्यक लेख असीरियन नगरों से प्राप्त हुए हैं। अधिकांश असीरियन साहित्य देववाणी के रूप में मिलते हैं। इन्हीं देववाणियों के माध्यम से असी-

रियन दैवज्ञ शुभाशुभ घटनाओं की भविष्यवाणी करते थे। अपने प्रभाव को बनाए रखने के लिए वे इसे कभी प्रकट नहीं करते थे। आगे चल इन्हीं देववाणियों के आधार पर राजकीय अभिलेख लिखे गये। प्रारम्भ में इन अभिलेखों की प्रकृति सरल थी। इनमें भवन समर्पण का विवरण रहता था। समयान्तर से इनकी प्रकृति ऐतिहासिक हो गई। अब इनमें भवन-समर्पण के विवरण के साथ-साथ शासकीय विजयों का भी विवरण दिया जाने लगा। आगे चल कर इनमें भी कतिपय सुधार किए गये। अब ऐतिहासिक घटनाओं को तिथि अथवा अभियान के क्रम के अनुसार उत्कीर्ण किया जाने लगा। अभिलेख साहित्य के अतिरिक्त असीरियनों की अन्य साहित्यिक कृतियों के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है। इन्होंने सुमेरियन तथा बैबिलोनियन साहित्य के अनुवाद में ही सन्तोष कर लिया। बैबिलोनियन साहित्य की अमूल्य कृति गिल्गैमिश महाकाव्य तथा विश्व सृजन की कथा का पता सर्वप्रथम असीरियन संस्करणों से ही लगा। असीरियन मौलिक साहित्य-सृजन में असफल कहे जा सकते हैं, किन्तु पुरातन संस्करणों की सुरक्षा में वे सर्वाधिक सफल माने जा सकते हैं। प्राचीन साहित्यिक कृतियों की सुरक्षा के लिये असीरियनों ने जो कार्य किया वह साहित्य-रचना से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। अशुरबनिपाल के समय में निर्मित विशाल ग्रंथागार के कारण असीरिया विश्व इतिहास में प्रसिद्ध है। अशुरबनिपाल का मुख्य उद्देश्य पुरातन साहित्यिक कृतियों को नष्ट होने से बचाना था। अशुरबनिपाल को साहित्य के अध्ययन एवं संरक्षण की प्रेरणा उसके पिता से मिली थी। अशुरबनिपाल के निदेशन एवं संरक्षण में निर्मित निनिव के ग्रंथागार में बाइस हजार मिट्टी की पाटियाँ प्राप्त हुई हैं। इन्हें अशुरबनिपाल ने अत्यन्त सावधानी से रखवाया था। इसमें ग्रंथ-सूचियाँ बनाई गई थीं तथा विषयानुसार इनका वर्गीकरण किया गया था। प्रत्येक पाटी पर एक पट्टी बँधी रहती थी। इस पर उसका नाम तथा विषय संकेतित रहता था। कई पाटियों पर स्वयं शासक की मुद्रा अङ्कित रहती थी जिसमें इसे चुराने वाले के लिए दण्ड लिखे रहते थे। इसमें साहित्यिक कृतियाँ बहुत कम हैं। अधिकांशत: ये राजकीय अभिलेख, भविष्यवाणियाँ, औषधि-सूचियाँ, ज्योतिष सम्बन्धी बातें, रोगों के विवरण, प्रार्थनाएँ, मन्त्र-तन्त्र आदि हैं।

विज्ञान

क्रूर एवं हिंसा के वातावरण में यहाँ युद्ध-विज्ञान ही प्रगति कर सकता था। अत: असीरियन इससे बहुत आगे न बढ़ सके। गणित के क्षेत्र में थोड़ी बहुत प्रगति की गई। बैबिलोनियनों की भाँति इन्होंने भी वृत को 360 अंशों में विभाजित किया था तथा पृथ्वी पर अक्षांश एवं देशान्तर का निर्धारण कर लिया था। अभिचार एवं अंधविश्वास की वृद्धि के कारण ज्योतिष अध्ययन को बढ़ावा मिला। इसका उपयोग शकुन विचार में किया जाता था। असीरियन शासकों की ओर से ऐसे अधिकारी नियुक्त रहते थे जो खगोलशास्त्रीय आँकड़े एकत्र करते थे। पाँच नक्षत्रों का नामकरण इन्होंने किया था तथा ग्रहण के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त कर ली थी। अशुरबनिपाल ने स्वयं कहा है कि

पुजारियों के साथ बैठकर वह शकुनों का अध्ययन करता था। सैनिकों के स्वास्थ्य-रक्षा के लिये औषधियों का आविष्कार आवश्यक समझा गया। असीरियनों ने औषधि के उद्देश्य से कुछ पौधों की एक सूची बनाई थी। इससे वनस्पतिशास्त्रीय अध्ययन को प्रेरणा मिली थी। बाद में यूनानियों को प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन में इससे काफी सहायता मिली। शरीर रचनाशास्त्र पर भी इनके पास एक विशाल शब्दकोश था। इन्हें रोगों के निदान की अच्छी जानकारी हो गई थी। अधिकांश रोगों को वे प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न मानते थे। लेकिन रोग से मुक्ति पाने के लिए असीरियन भी बैबिलोनियनों की भाँति आभिचारिक क्रियाओं तथा बीभत्स औषधियों का उपयोग करते थे। उनका विश्वास था कि इससे रोग रूपी पिशाच दूर भाग जायगा। उन्हें रसायनशास्त्र की भी जानकारी थी। इसका उपयोग उन्होंने चर्मोद्योग तथा मीनाकारी में प्रयुक्त की जाने वाली रासायनिक क्रियाओं में किया। उनके अभियांत्रिकी-ज्ञान के ज्वलन्त प्रमाण रूप में सेनैकरिब के शासनकाल में निर्मित कृत्रिम जल-मार्ग (Aqueduct) का उल्लेख किया जा सकता है। इसकी सहायता से अड़तालीस किलोमीटर दूर से जल लाने की व्यवस्था थी। इसमें एक स्थल पर जल नदी के ऊपर से लाया गया था।

असीरियन सभ्यता की महत्ता एवं देन

सुमेरिया का बैबिलोनिया तथा बैबिलोनिया का असीरिया से वही सम्बंध था जो क्रीट का यूनान तथा यूनान का रोम से, अर्थात् प्रथम ने सभ्यता को जन्म दिया, द्वितीय ने उसे अंतिम सीमा तक विकसित किया और तृतीय ने उसे उत्तराधिकार रूप में प्राप्त कर, उसमें किंचित वृद्धि कर उसकी रक्षा की।[1] दजला-फ़रात घाटी की चिरपोषित एवं संचित बैबिलोनियन सभ्यता, यद्यपि जिसे कैसाइटों के काल में पर्याप्त आघात पहुँचा था, के सांस्कृतिक तत्त्वों को ग्रहण कर उसमें यथासंभव परिवर्तन एवं परिवर्द्धन कर सुरक्षित रखने का श्लाघनीय कार्य असीरियनों ने ही किया। बैबिलोनियन सांस्कृतिक तत्त्वों के अधिग्रहण एवं संश्लेष के बावजूद भी इनकी मौलिकता में कोई कमी नहीं आयी। इसी लिए असीरियन सभ्यता को बैबिलोनियन सभ्यता की अनुकृति तो माना जाता है लेकिन यह अनुकरण आसन्नानुकरण ही था अंधानुकरण नहीं।[2] लिपि, साहित्य, धर्म, विधान एवं सामाजिक आर्थिक संगठन के क्षेत्रों में इनके अनेक अभिनव अनुभव एवं आविष्कार इस कथन की पुष्टि करते हैं। असीरियनों के इन नूतन अनुभवों एवं आविष्कारों से परवर्ती विश्व निस्संदेह प्रभावित हुआ। इतिहास में सर्वप्रथम सैनिक शक्ति के बल पर एक अति विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की सम्भावना को असीरियनों ने यथार्थ में परिवर्तित कर दिया जो बाद में पारसीक तथा मैसीडोनियन शासकों के लिए आदर्श बना। असीरियन सैनिकवाद का प्रभाव परवर्ती हिब्रू धर्म के एकेश्वरवाद पर

---

1. Will Durant, The Story of Civilization, Vol. I, p. 265
2. C. E. Van Sickle, A Political and Cultural History of the Ancient World, p. 124

निर्विवाद रूप से पड़ा । असुर निवासी तथा उनके क्रूर एवं निष्ठुर स्वभाव से भारतीय भी अपरिचित नहीं थे । वैदिक साहित्य से लेकर श्रेण्य साहित्य तक असुर का उल्लेख बराबर मिलता है । इसे यहाँ प्रारम्भ में तो वरुण एवं अन्य कुछ देवताओं की उपाधि के रूप में ग्रहण किया गया । लेकिन आगे चलकर इसे दानव का पर्याय मान लिया गया । वास्तव में इसका मुख्य कारण यही था कि प्रारंभ में तो इसे देववाची माना गया लेकिन जब असुर निवासी अपने क्रूर एवं निर्मम कृत्यों के कारण कुख्यात हो गये तो इस शब्द को दानव के अर्थ में ग्रहण किया जाने लगा। यह मान्यता ऋग्वेदोत्तर काल में अधिक व्यापक दिखाई पड़ती है जो संभवत: असीरियनों का उत्कर्ष काल था । महाकवि कालिदास असुर विजय की निर्ममता से परिचित थे इसी लिए वे रघु की धर्म-विजय एवं प्रतिमुक्तनीति की प्रशंसा करते हैं । प्राचीनतम एशियायी वास्तुकला की पूर्णता असीरियन युग में ही दिखाई पड़ती है । वास्तुकला में प्रयुक्त इनके स्तंभों का प्रभाव पारसीक एवं यूनानी स्तंभों पर निर्विवाद रूप से पड़ा । डॉ० भगवत शरण उपाध्याय[1] भारतीय अशोककालीन स्तंभों पर उत्कीर्ण सिंह एवं वृषभ आकृतियों पर असीरियन प्रभाव देखने की चेष्टा करते हैं । लेकिन डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल[2] ने अत्यन्त विद्वतापूर्ण ढंग से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अशोककालीन स्तंभों पर उत्कीर्ण आकृतियाँ सर्वथा भारतीय परम्परा के अन्तर्गत निर्मित हैं । अतएव भारतीय मौर्यकला पर असीरियन प्रभाव मानना उचित नहीं है । असीरियन ज्योतिषशास्त्र एवं चिकित्साशास्त्र ने यूनानी ज्योतिषशास्त्र तथा प्राकृतिक विज्ञान को प्रेरणा प्रदान की ।

---

[1] B. S. Upadhyaya, The Ancient World, p. 96

[2] V. S. Agrawal, Studies in Indian Art, pp. 69-74

6

कैल्डियन सभ्यता

कैल्डियन सभ्यता की स्थापना से मेसोपोटामिया की सभ्यता अपनी चौथी एवं अंतिम अवस्था पर पहुँचती है। यद्यपि ब्रेस्टेड तथा लूकस इसे मेसोपोटामिया की तीसरी अवस्था की ही सभ्यता मानते हैं। इस सभ्यता के संस्थापक एरेमियन जाति के ही एक अंग थे और उन्हीं के साथ बैबिलोन में प्रविष्ट हुये थे। बैबिलोन के जिस दक्षिणी भू-भाग में ये रहते थे उसे असीरियन कल्दु (Kaldu), बैबिलोनियन कस्दु (Kasdu) तथा हिब्रू कस्दिम (Kasdim) कहते थे।[1] इन्हें कैल्डियन जातिवाची संज्ञा इसी भू-भाग के नाम के आधार पर मिली। कैल्डियनों ने अपने राजनीतिक क्रिया-कलापों का केंद्र बैबिलोन को बनाया और प्राचीन बैबिलोनियन सभ्यता को पुनर्जीवित करने की चेष्टा की इसलिए इनके द्वारा स्थापित सभ्यता भी बैबिलोनियन सभ्यता के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसे प्राचीन बैबिलोनियन सभ्यता से पृथक् करने के लिए नव बैबिलोनियन सभ्यता नाम दिया गया।

राजनीतिक इतिहास

कैल्डियनों के प्रारंभिक इतिहास के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है। इनका प्राचीनतम उल्लेख अशुरनज़िरपाल द्वितीय के समय का है। इसके बाद शम्शी-अदद पंचम, अदद-निरारी तृतीय, तिग्लैथपिलीज़र तृतीय तथा सारगोन के समय में भी इसके विरुद्ध सैनिक अभियानों एवं उसमें इनकी पराजय की छिट-पुट सूचनाएँ मिलती हैं। सारगोन द्वितीय के समय में इन्होंने पर्याप्त शक्ति संचित कर ली थी इसी लिए कैल्डियन सरदार मेरोडेक बल्दान को अपनी स्वतंत्रता घोषित कर बैबिलोनियन सिंहासन प्राप्त करने में कोई विशेष कठिनाई न हुई। लेकिन मेरोडेक बल्दान की यह स्वतंत्रता स्थायी न सिद्ध हुई। अभी वह दश वर्ष ही शासन कर सका था कि सारगोन द्वितीय ने उसे पराजित

---

[1] Encyclopaedia Britanica, Vol. 5. p. 240

कर बैबिलोनिया पर अधिकार कर लिया। कैल्डियन इस पराजय से हतोत्साहित न हुए। स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए उनका प्रयास निरन्तर चलता रहा। अन्त में उन्हें सफलता मिली। 626 ई० पू० में कैल्डियन सरदार नेबोपोलस्सर ने स्वतंत्र रूप से वैबिलोनिया का सिंहासन प्राप्त कर लिया। नेवोपोलस्सर की अन्य उपलब्धियों के विषय में सविस्तार ज्ञात नहीं हैं लेकिन हम इतना जानते हैं कि वह न केवल वैबिलोनिया पर अधिकार स्थापित करने में सफल रहा, बल्कि मीडियन शासक के साथ मिलकर असीरियनों की स्वतंत्रता भी समाप्त कर दी। असीरियनों ने इधर-उधर भाग कर प्राणरक्षा की।

नेबुकद्रेज्जर द्वितीय

नेवोपोलस्सर के बाद उत्तराधिकार नेबुकद्रेज्जर द्वितीय (Nebuchadrezzar II) को मिला जिसका शासनकाल 605 से 562 ई० पू० तक स्वीकार किया गया है। प्रारंभ से ही नेबुकद्रेज्जर द्वितीय को संघर्षों का सामना करना पड़ा। नेवोपोलस्सर के राज्यकाल के अंतिम दिनों में मिस्री शासक नीको द्वितीय (Necho II, 609-593 B. C.) ने पश्चिमी एशिया पर आक्रमण कर सीरिया तथा फिलिस्तीन पर अधिकार स्थापित कर लिया। कैल्डियनों के लिए यह सह्य नहीं था। इस भू-भाग का उनके लिए बड़ा महत्त्व था। वास्तव में वे इन धनी प्रान्तों को जाने नहीं देना चाहते थे। असीरियन साम्राज्य के उत्तराधिकारी होने के नाते नेवोपोलस्सर इस भू-भाग को अपने साम्राज्य का अभिन्न एवं उपयोगी अंग मानता था। अतः इसके अधिग्रहण के लिए नीको द्वितीय का मानमर्दन आवश्यक समझा गया। उसने अपने उदीयमान पुत्र नेबुकद्रेज्जर द्वितीय को इन प्रान्तों पर अधिकार स्थापित करने के लिए प्रेषित किया। इस संघर्ष में नीको बुरी तरह पराजित हुआ। कहा जाता है कि इस युद्ध में मिस्री सेना का एक व्यक्ति भी स्वदेश वापस नहीं जा सका था। इस विजय के फलस्वरूप नेबुकद्रेज्जर द्वितीय का सम्पूर्ण सीरिया-फिलिस्तीन पर अधिकार स्थापित हो गया। इसके बाद कैल्डियन सैनिक नेबुकद्रेज्जर द्वितीय के नेतृत्व में पेलुस्यूम (Pelusium) तक बढ़ गये लेकिन इसी बीच उसे पिता की दुःखद मृत्यु की सूचना मिली जिससे उसे तत्काल लौटना पड़ा। वैबिलोनिया आकर उसने राजपद ग्रहण किया।

मिस्र पर विजय पाने तथा सीरिया एवं फिलिस्तीन पर अधिकार स्थापित करने से नेबुकद्रेज्जर द्वितीय का प्रभाव बढ़ गया। कार्शेमिश-युद्ध के एक वर्ष बाद ही हम उसे पुनः सीरिया में पाते हैं जहाँ से वह दमेश्कस, टायर सिडोन तथा जेरूसलम से कर-संग्रह कर रहा था। इसी बीच उसके द्वारा एस्केलन (Ascalon) को दबाने की सूचना मिलती है। 598-97 ई० पू० में जब जेरिमाइ (Jeremiah) की चेतावनी के बावजूद भी जूडा (Judea) ने विद्रोह कर खिराज देना बंद कर दिया तो नेबुकद्रेज्जर द्वितीय ने उस पर आक्रमण कर दिया। 597 ई० पू० में जेरूसलम पर अधिकार कर वहाँ अन्य यहूदी

शासक जेदिकाइ (Zedekiah) को स्थापित किया गया। कहा जाता है कि तीन हजार हिब्रू बंदी मेसोपोटामिया भेज दिए गये। बैबिलोनियन साक्ष्यों से इसके बाद की घटना पर प्रकाश नहीं पड़ता लेकिन अन्य साक्ष्यों से पता लगता है कि शायद मिस्र के भड़काने से जेरूसलम के शासक जेदिकाइ ने विद्रोह कर दिया था जिसे दबाने के लिए नेबुकद्रेज्जर द्वितीय को कठोर होना पड़ा था। जेरूसलम पर पुनः अधिकार कर जेदिकाइ को बंदी बना लिया गया। उसके सामने ही उसके पुत्रों की हत्या कर दी गई। स्वयं जेदिकाइ की आँख निकाल ली गई तथा अन्य यहूदी नागरिकों के साथ बैबिलोन लाया गया। बहुत से यहूदी मिस्र में शरण लिए। जूडा में एक स्थानीय गवर्नर नियुक्त कर दिया गया। सीरिया में नेबुकद्रेज्जर द्वितीय का अंतिम कार्य टायर का अधिग्रहण था। कहा जाता है इसके बाद उसका एक प्रत्यक्ष संघर्ष मिस्र से भी हुआ था। हेरोडोटस हमें बताता है कि नेबुकद्रेज्जर द्वितीय ने मीडियन शासक उवक्षत्र तथा लीडियन शासक अल्यत्तीज (Alyattes) के बीच एक संघर्ष टालने के लिए मध्यस्थता भी की थी तथा दोनों के मध्य विद्यमान सीमा-विवाद को समाप्त किया था।

नेबुकद्रेज्जर द्वितीय की इन विजयों के फलस्वरूप कैल्डियन साम्राज्य फारस की खाड़ी से भूमध्यसागर तक विस्तृत हो गया तथा मिस्र पर उसका आतंक स्थापित हुआ। पूर्व एवं पश्चिम के व्यापारिक मार्ग पर अधिकार हो जाने से उसका कोष भर गया तथा बैबिलोन एक समृद्ध नगर के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। संभवतः वह विश्व का सर्वाधिक समृद्ध एवं आकर्षक नगर था। नेबुकद्रेज्जर द्वितीय एक महान् निर्माता था। इसीके शासनकाल में बैबिलोन को दोहरी प्राचीर से सुरक्षित किया गया था। बैबिलोन में ए-सगिला (E–sagila) तथा बारसिप्पा के ए–जिदा (E-Zida) के मंदिर इसी के समय में बनाये गए थे। अन्त में 562 ई० पू० में इस महान् शासक की मृत्यु हो गई।

नेबुकद्रेज्जर द्वितीय के उत्तराधिकारी

नेबुकद्रेज्जर द्वितीय के शासनकाल के अंतिम दिनों के विषय में ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है। ऐसा लगता है कि इसका अन्त आन्तरिक विद्रोहों के बीच हुआ। इसके बाद दो वर्ष के लिये (562-560 ई० पू०) उत्तराधिकार इसके पुत्र अवेल-मार्दुक (Awel-Marduk) को मिला। बैबीलोनिया के साम्राज्य निर्माण में इसका कोई योगदान न रहा। इसके बाद शासन-सूत्र नेबुकद्रेज्जर द्वितीय के एक दामाद नेरगल-शर-उसुर (Nergal-shar-usur) ने सँभाला। बैबिलोन पर इसका चार वर्ष तक अधिकार बना रहा। पहले माना जाता था कि नेरगल-शर-उसुर की राजनीतिक उपलब्धि न के बराबर थी। लेकिन अब यह माना जाने लगा है कि इसका सिलिसिया से एक सफल युद्ध हुआ था। इसके बाद उत्तराधिकार इसके पुत्र लबशि-मार्दुक (Labashi-Marduk) को मिला लेकिन वह दो माह ही शासन कर सका था कि उसकी हत्या कर दी गई तथा सिंहासन पर नेबु-नैद (Nabu-naid) को बैठाया गया। नेबु-नैद का शासन-काल 556 से 539 ई० पू० तक स्वीकार किया गया है।

मेसोपोटामिया के इतिहास की शासकीय शृंखला में नेबु-नैद का व्यक्तित्व अत्यन्त रहस्यमय एवं चित्ताकर्षक है। इसका सम्बन्ध राजकुल से नहीं था। यह हरन के सिन देवता की श्रेष्ठतम पुजारिन एवं एक कुलीन व्यक्ति का पुत्र था। माता की धर्मपरायणता एवं भक्ति का इस पर अमिट प्रभाव पड़ा। जिसके फलस्वरूप नेबु-नैद प्रारम्भ से ही धार्मिक, दार्शनिक तथा पुरातत्त्व प्रेमी बन गया। पुरातत्त्व में तो इसकी इतनी अधिक रुचि थी कि इसे पुरातत्त्वविद् के नाम से भी संबोधित किया जाने लगा। राज्य ग्रहण करने के बाद नेबु-नैद की इच्छा हुई कि वह हरन में सिन देव के लिए एक मंदिर का निर्माण करवाये। कहा जाता है कि इस मन्दिर-निर्माण की प्रेरणा उसे स्वप्न में मिली थी। दुर्भाग्य से हरन मीडों के अधिकार में था अतएव संकल्प को पूरा करने में उसके सामने कठिनाई थी। अन्त में उसने पारसीकों की सहायता ली। कुरुश् द्वितीय ने मीडिया पर अधिकार कर लिया। जिसके फलस्वरूप मीडों को हरन से हटना पड़ा था। इसी समय नेबु-नैद द्वारा मन्दिरों में किए गये सुधारों का विवरण मिलता है। लेकिन मीडिया तथा बैबिलोनिया की यह शत्रुता अन्ततः बैबिलोनियनों के लिए अहितकर सिद्ध हुई। मीडिया अधिग्रहण के पश्चात् कुरुश् द्वितीय धीरे-धीरे शक्तिशाली हो रहा था और अन्त में उसमे इतनी शक्ति आ गई कि वह बैबिलोन के विरुद्ध शस्त्र उठा सके। 539 ई० पू० में यह अवसर उपस्थित हो गया। एक ओर कुरुश् द्वितीय एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना में व्यस्त था तो दूसरी ओर नेबु-नैद अरब से लेकर लाल सागर तक एक मार्ग के निर्माण में। बैबिलोनिया में यहूदी बन्दी-जीवन व्यतीत करते हुए मुक्ति की याचना कर रहे थे। अवसर का लाभ उठा कर कुछ धर्माधिकारियों द्वारा षड्यन्त्र कराकर कुरुश् द्वितीय ने बैबिलोन पर आक्रमण कर दिया। घटनाओं का क्रम ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है लेकिन हम इतना जानते हैं कि कुरुश् द्वितीय निर्णायक रूप से इसमें सफल रहा। इसी से नेबु-नैद और बैबिलोन के स्वतन्त्र इतिहास का अन्त हो गया।

धर्म एवं दर्शन

कैल्डियनों ने बैबिलोन को अपनी शक्ति का केन्द्र बना कर प्राचीन बैबिलोनियन सभ्यता एवं संस्कृति को नव जीवन प्रदान करने का यत्न किया। प्राचीन बैबिलोनियन सांस्कृतिक तत्त्वों को एक बार पुनः कैल्डियनों के हाथ जीवन मिला। लेकिन हम्मूराबी से नेबुकद्रेज्जर द्वितीय के काल तक पश्चिमी एशिया में हुए राजनीतिक परिवर्तनों एवं असीरियन रूपान्तरण के फलस्वरूप बैबिलोनियन धर्म एवं जीवन दर्शन में अनेक गहन एवं अमिट परिवर्तन हो गए थे। इन्हें पूर्णतया समाप्त कर पुरातन आदर्शों को प्रतिष्ठित करना उनके लिए सरल नहीं था। इसी कारण कैल्डियन अपने लक्ष्य में बहुत सफल नहीं दिखाई पड़ते। लेकिन यह असफलता उन्हें केवल मूल तत्त्वों की स्थापना में मिली। प्राचीन बैबिलोनियन सभ्यता के बाह्य तत्त्वों उदाहरणार्थ, शासन-तन्त्र, आर्थिक संगठन

विशेषकर वाणिज्य एवं उद्योग-धन्धे, साहित्य, कला इत्यादि को पुनः विकसित करने में उन्हें उल्लेखनीय सफलताएं मिल गई थीं। इसी लिये मेसोपोटामिया के इतिहास में कैल्डियनों के शासन काल को नव बैबिलोनियन अथवा 'कैल्डियन पुनर्जागरण का युग' (Chaldean Renascence) की संज्ञा से अभिहित किया गया है। लेकिन कैल्डियन पुनर्जागरण की असफलता का ज्वलन्त प्रमाण इनका धर्म एवं दर्शन है।

प्राचीन बैबिलोनियन धर्म को कैल्डियनों ने अपनाया अवश्य लेकिन उनके केवल बाह्य तत्त्वों को ही। उदाहरणार्थ, बैबिलोनियन मार्दुक देवता यहाँ भी प्रतिष्ठित किए गये लेकिन यह धर्म का केवल बाह्य तत्त्व था। बैबिलोनियन धर्म के गूढ़ तत्त्वों के प्रति वे उदासीन रहे। उनके स्थान पर इन्होंने नवीन मान्यताएँ स्थापित कीं।

प्राचीन बैबिलोनियन एवं कैल्डियन देवताओं के स्वरूप एवं व्यक्तित्व में पर्याप्त अन्तर था। बैबिलोनियन देवी-देवता मानव जैसी आकांक्षाओं एवं प्रेरणाओं से ओत-प्रोत उनकी दुर्बलताओं से परे न होते हुए अमर्त्य थे और वे उपासना, पूजा एवं अभिचार के माध्यम से अनुकूल किए जा सकते थे। उनका सम्बन्ध इसी लोक से स्वीकार किया गया था। इसके विपरीत कैल्डियन देवी-देवता मानवीय गुणों से वंचित, उत्कृष्ट, ज्ञानातीत तथा सर्वशक्तिमान थे। इन्हें अभिचार, उपासना इत्यादि के द्वारा अनुकूल नहीं बनाया जा सकता था। इनका सम्बन्ध विभिन्न ग्रहों से स्थापित किया गया। इसी लिए कैल्डियन धर्म एक प्रकार का नक्षत्रीय धर्म बन गया। देवताओं के प्रति इस प्रकार के विश्वास एवं आस्था के फलस्वरूप कैल्डियन धर्म में भाग्यवाद, आध्यात्मवाद एवं निराशावाद का उदय हुआ।

प्राचीन बैबिलोनियन धर्म में व्यक्तिगत अथवा सामूहिक विपत्ति का कर्ता देवता स्वीकार किया गया। इसी लिए जब बैबिलोनियन देवता की उपासना करते थे तो उनका उद्देश्य केवल इन विपत्तियों को दूर भगाना था। इस प्रकार की प्रवृत्ति कैल्डियनों में भी दिखाई पड़ती है। वे भी मानते थे कि मनुष्य दैवी प्रेरणा एवं इच्छा से ही समृद्धि प्राप्त करता है अथवा विपत्तियों से ग्रसित होता है। लेकिन कैल्डियनों ने एक नवीन मान्यता विकसित की। अब भविष्य का निर्माण तथा वर्तमान का नियमन दोनों ईश्वर की इच्छा पर छोड़ दिया गया। इसे मनुष्य उपासना अथवा अभिचार द्वारा बदल नहीं सकता था। इसी पृष्ठभूमि में कैल्डियन भाग्यवाद का उदय हुआ। जो अपने ढंग का प्राचीनतम उदाहरण है। यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि देवताओं के प्रति इस आत्म-समर्पण की प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में कैल्डियनों की कोई स्वार्थ भावना तो नहीं छिपी थी अथवा दूसरे शब्दों में देवताओं एवं दैवी इच्छाओं को सर्वोपरि मानकर-कैल्डियन लौकिक अथवा पारलौकिक इच्छाओं की पूर्ति तो नहीं करना चाहते थे। प्रस्तुत सन्दर्भ में इस प्रकार के प्रश्न इसलिए भी उठाए जा सकते हैं क्योंकि कैल्डियनों के पूर्व मेसोपोटामियन सभ्यताओं में इस प्रकार की भावनाएँ विद्यमान थीं। लेकिन हम कह सकते हैं कि कैल्डियनों में इस प्रकार की स्वार्थ सम्पृक्त भावनाएँ न विकसित हो सकीं।

कैल्डियनों की पारलौकिक जीवन में किंचित भी आस्था नहीं थी। इस आत्म-समर्पण एवं नियतिवाद के मूल में उनकी कोई पारलौकिक इच्छा नहीं छिपी थी। वास्तव में कैल्डियन भाग्यवादी इसलिए था कि वह देवताओं के रहस्य को समझ नहीं सकता था।

कैल्डियन नक्षत्रिय धर्म एवं भाग्यवाद के फलस्वरूप इनके धर्म में आध्यात्मवाद का संचार हुआ। प्रस्तुत प्रसङ्ग में इस बात की चर्चा की जा सकती है कि कैल्डियनों के पूर्व की मेसोपोटामियन सभ्यताओं में इस तत्त्व का विकास नहीं किया गया था अर्थात् कैल्डियन धर्म के पूर्व का मेसोपोटामियन धर्म लौकिक था। लेकिन कैल्डियन पूजागीतों तथा स्तुतियों से प्रतीत होता है कि वे देवता को मानवीय गुणों से ऊपर मानते थे। वे पाप, पुण्य, सदाचार तथा अनाचर इत्यादि के द्रष्टा तथा निरीक्षक माने गये। अब वे मानने लगे कि मनुष्य को स्वयं पुण्याचरण करना चाहिए तथा पाप से बचना चाहिए। दैवी शक्ति केवल इसका निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण करती है। वर्तमान समय में हम यह नहीं कह सकते कि कैल्डियनों का सदाचार से वास्तविक मन्तव्य क्या था ? कैल्डियनों की ये सदाचारपरक प्रार्थनाएँ हिब्रू धर्म में भी किंचित अन्तर के साथ मिलती हैं।

इन दैवी मान्यताओं के फलस्वरूप कैल्डियन धर्म में देवताओं का स्थान अत्यन्त उत्कृष्ट हो गया तथा मनुष्य एक हेय एवं निम्नस्तरीय प्राणी बन गया। अब मनुष्य ग्रहों में रहने वाले भाग्यविधाता, सर्वशक्तिमान एवं ज्ञानातीत देवताओं की अपेक्षा हीन एवं सत्कर्मविहीन हो गया। उसके लिए दैवी स्तर एक दुर्लभ वस्तु हो गई। कैल्डियन अपने को एक ऐसा बंदी मानने लगा जिसके हाथ-पैर जकड़ दिए गये और जिसके पास मुक्ति का कोई उपाय न रहा। दुःख की इतनी दर्दनाक कल्पना कभी नहीं की गई। अब वे मानने लगे कि मनुष्य पाप का आचरण अपने स्वभाव के कारण करता है। कैल्डियनों की इस प्रकार की हेयता की भावना उनके निराशावाद में बदली। कैल्डियन निराशावाद के सम्बंध में एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि कैल्डियन निराशावाद का प्रभाव इनके सदाचार पर कहाँ तक पड़ा। वास्तव में कैल्डियन सभ्यता की पूर्ववर्ती मेसोपोटामिया की तीनों सभ्यताओं में लौकिकता को इतनी अधिक महत्ता मिली थी कि वहाँ नैतिकता एवं सदाचार का वास्तविक अर्थ में विकास हो ही न सका। एतदर्थ चिरसंचित अतीत की पृष्ठभूमि में कैल्डियन संस्कृति में विकसित नैतिकता प्रौढ़ एवं पुष्ट हो ही नहीं सकती थी। इसी लिए कैल्डियन धर्म में निराशावाद का विकास तो हुआ लेकिन इसके परिणामस्वरूप हम जिन्न तत्त्वों की आशा करते हैं उनका यहाँ विकास न हो सका। जीवन के प्रति कैल्डियन निराश अवश्य थे लेकिन शरीर को कष्ट नहीं देना चाहते थे। तपश्चर्या, व्रतादि जो जीवन के प्रति निराश व्यक्ति के लक्षण हैं, कैल्डियनों में नहीं मिलते। कैल्डियन उतने ही लौकिक इच्छाओं की पूर्ति के आकांक्षी तथा वैषयिक थे जितने दूसरे लोग। कैल्डियन साहित्य में जो स्तुतियाँ तथा

प्रार्थनाएँ है उनमें यदि एक ओर श्रद्धा, दया एवं शुचिता का उल्लेख गुणों के रूप में किया गया है तो दूसरी ओर अत्याचार, मिथ्यापवाद तथा क्रोध को दुर्गुणों के रूप में स्वीकार किया गया है। लेकिन इनका सम्बंध आनुष्ठानिक शुचिता और अशुचिता से था जिसका उद्देश्य भौतिक समृद्धियाँ प्राप्त करना था, न कि किसी नैतिकता अथवा अनैतिकता से।

कला

धर्म एवं दर्शन के अतिरिक्त कैल्डियनों की प्रगति कला एवं विज्ञान में दिखाई पड़ती है। कला के अन्तर्गत इन्होंने वास्तुकला में अच्छी सफलता प्राप्त कर ली थी। कैल्डियन शासकों में नेबोपोलस्सर, नेबुकद्रेज्जर द्वितीय तथा नेबु-नैद निर्माता के रूप में विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके द्वारा बनवाए गये भवनों, प्राचीरों, तथा झूलते हुए बाग के कारण बैबिलोन समस्त विश्व में प्रसिद्ध हो गया। यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस स्वतः बैबिलोन गया था तथा वहाँ के वैभव से प्रभावित हुआ था। हेरोडोटस के अनुसार बैबिलोन का क्षेत्रफल 517996 हेक्टेयर था। संभवतः इसमें नगर के अतिरिक्त चारों ओर स्थित कृषि भूमि को भी सम्मिलित कर लिया गया था।[1] नगर को चारों ओर से एक दीवार से घेर दिया गया था जिसकी लम्बाई 90·16 किलोमीटर थी तथा चौड़ाई इतनी थी कि इस पर चार घोड़े द्वारा खींचा जाने वाला रथ सरलतापूर्वक चल सकता था। हेरोडोटस के विवरण के आधार पर हम बैबिलोन नगर की समृद्धि का अनुमान लगा सकते हैं।

कैल्डियन युग के भवन नेबोपोलस्सर के समय से बनने प्रारंभ हुए। इस शासक ने एक राजप्रासाद निर्मित कराया तथा बैबिलोन नगर के पुनर्निर्माण की योजना बनायी। लेकिन संभवतः ये कार्य इसके समय में पूर्ण नहीं हो सके थे, अतएव इसके पूर्ण करने का महत्त्वपूर्ण कार्य इसके उत्तराधिकारी नेबुकद्रेज्जर द्वितीय ने किया। इसने राजप्रासाद को पूर्ण कर नगर के नव निर्माण की योजना को साकार रूप दिया। प्राचीन प्राचीर को पूरा कर एक नई प्राचीर बनवायी गई। जिसकी लम्बाई हेरोडोटस के अनुसार उक्त 90·16 किलोमीटर थी। दोनों दीवालों के बीच में एक उपयुक्त एवं सुरक्षित स्थान चुना गया। वहाँ ईंट का एक विस्तृत चबूतरा बनाया गया और उसी पर एक विशाल दुर्ग। नेबुकद्रेज्जर द्वितीय ने इन विशाल प्राचीरों के अतिरिक्त अन्य कई दीवारें तथा खाइयाँ बनवायी थी जिससे बैबिलोन नगर पूर्णतया सुरक्षित हो गया था। नेबुकद्रेज्जर द्वितीय द्वारा निर्मित विशाल जिकुरत, जिसे 'टावर ऑव बाबेल' के नाम से प्रसिद्धि मिली है, की ऊँचाई पिरामिड से भी अधिक थी। इसमें सात मंजिलें थीं। सबसे ऊपरी मंजिल में एक चबूतरा बनाया गया था जिसके पास एक अलंकृत शैय्या रहती थी जिस पर प्रति रात्रि ईश्वर की कृपाकांक्षी कोई स्त्री विश्राम करती थी। टावर ऑव बाबेल से

---

[1] Will Durant, The Story of Civilization, Vol. I, p. 224

546 मीटर उत्तर कस्र (Kasra) का टीला था इसी पर नेबुकद्रेज्जर द्वितीय ने अपना विशाल राजप्रासाद बनवाया था। राजप्रासाद की दीवारें आकर्षक पीत इंटों से बनायी गई थीं। फर्श बढ़िया श्वेत पत्थरों से अलंकृत थी। द्वार पर भीमाकार सिंह की मूर्तियाँ बनायी गई थीं। राजप्रासाद के निकट नेबुकद्रेज्जर द्वितीय के 'झूलते हुए उपवन' (Hanging Gardens) स्थित थे। यह उपवन स्तंभों पर बनी एक छत पर टिका था। छत पर कई मीटर मोटी मिट्टी डाली गई थी। इस पर पुष्प वृक्षों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के गहरी जड़ वाले वृक्ष भी लगाए गये थे। इन वृक्षों की सिंचाई फ़रात नदी के जल द्वारा की जाती थी। जल को स्तंभों में लगे यंत्रों की सहायता से ऊपर चढ़ाया जाता था। इस की ऊँचाई धरातल से लगभग 22.5 मीटर थी। इसी ऊँचाई पर बैबिलोनिया की राजघराने की महिलाएँ वृक्षों की शीतल छाया में विहार करती थीं। यह स्थान धरातल से इतना अधिक ऊँचा था कि किसी की दृष्टि वहाँ तक नहीं पहुँच पाती थी। कहा जाता है कि नेबुकद्रेज्जर द्वितीय ने इस उपवन का निर्माण अपनी मीडियन रानी (उवक्षत्र की पुत्री) के लिये करवाया था क्योंकि आकर्षक एवं शीतल वायु सम्पृक्त पहाड़ियों के बीच रहने वाली मीडियन रानी का कोमल शरीर बैबिलोन की तड़पती धूप में झुलस जाता था। इस झूलते हुए उपवन की गणना यूनानियों ने दुनिया के सात आश्चर्यों (Seven Wonders of the World) में की है।

बैबिलोन के अतिरिक्त अन्य नगरों में भी नेबुकद्रेज्जर द्वितीय द्वारा भवन बनवाए गये। बारसिप्पा में ए-जिदा मंदिर का निर्माण इसी ने किया था। नेबुकद्रेज्जर द्वितीय के बाद भवन निर्माण का कार्य नेबु-नैद के शासनकाल में सम्पन्न हुआ तथा बैबिलोन, सिप्पर एवं हरन में कई मंदिर बनवाए गए।

विज्ञान

दज़ला-फ़रात घाटी के निवासियों में कैल्डियन सबसे बड़े वैज्ञानिक थे लेकिन दुर्भाग्य से उनका यह ज्ञान केवल ज्योतिष एवं खगोलशास्त्र तक ही सीमित रह गया। कैल्डियनों के पराभव के आठ सौ वर्ष बाद भी रोम के निवासी उन्हें एक कुशल वैज्ञानिक के रूप में स्मरण करते रहे। इस क्षेत्र में उनकी प्रसिद्धि इतनी अधिक थी कि कभी-कभी कैल्डियन तथा ज्योतिषी को पर्याय मान लिया जाता था।[1] 'न्यू टेस्टामेण्ट' में पूर्व के जिन बुद्धिजीवियों का उल्लेख किया गया है वे सम्भवतः कैल्डियन ज्योतिर्विद ही थे। कैल्डियनों ने समय-विभाजन की प्राचीन पद्धति में कतिपय संशोधन कर सप्ताह को सात दिन, दिन को बारह घंटे तथा घंटे को एक सौ बीस मिनटों में विभाजित किया। इनकी ग्रहण विषयक भविष्यवाणी बहुत सटीक उतरती थी। कैल्डियन वैज्ञानिकों के लिए यह कोई नई बात नहीं थी। ग्रहण विषयक भविष्यवाणी के प्राचीनतम प्रमाण 2283 ई० पू० के हैं। लेकिन इस प्रकार की गणना आकस्मिक एवं अटकल-पच्चू ही मानी जा सकती है। वास्तव में इस गणना को वैज्ञानिक रूप नेबोपोलस्सर के

---

[1] Encyclopaedia Britanica. Vol. 5.p. 241

समय में ही मिला। इस समय से इसका सुव्यवस्थित रिकार्ड रखा जाने लगा। यद्यपि हमें इनकी ग्रहण विषयक गणना का पूरा-पूरा विवरण नहीं मिला है लेकिन इनमें प्राचीनतम गणना 568 ई० पू० की है। कैल्डियन ग्रहण विषयक गणना इनके अधःपतन के 360 वर्ष वाद तक प्रचलित रही जिससे हेलेनेस्टिक युगीन वैज्ञानिक लाभान्वित हुए थे। कैल्डियन ज्योतिषियों में सर्वाधिक ख्याति नेबु-रिमन्नु (Nabu-rimannu) एवं किडिन्नु (Kidinnu) ने अर्जित की। इसने सूर्य एवं चन्द्र की गति का पता लगाया तथा सूर्य एवं चन्द्रग्रहण की जानकारी दी। इसने एक वर्ष की लम्बाई 365 दिन, 6 घंटे, 15 मिनट तथा 41 सेकण्ड बतायी। इसमें एवं आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा निर्धारित वर्ष की लम्बाई में केवल 26 मिनट 55 सेकण्ड का अन्तर है। संभवतः वर्ष की निकटतम सही लम्बाई इसके पहले कभी नहीं प्राप्त की जा सकी थी। किडिन्नु ने पृथ्वी की धुरी के वार्षिक झुकाव का पता लगाया। ब्रेस्टेड ने दोनों वैज्ञानिकों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। फादरिंगम (J. K. Fotheringham) के अनुसार इन दोनों वैज्ञानिकों की गणना विश्व के महान् वैज्ञानिकों में की जानी चाहिए।[1]

ज्योतिष एवं खगोल शास्त्र के अतिरिक्त विज्ञान के अन्य क्षेत्र में कैल्डियनों ने कोई प्रगति न की। सम्भवतः वे शून्य से परिचित थे तथा उन्हें थोड़ा बहुत बीजगणित का भी ज्ञान था। इसी प्रकार औषधिशास्त्र में भी इन्होंने कोई प्रगति न की। प्रश्न है कैल्डियन विज्ञान क्यों ज्योतिष एवं खगोलशास्त्र तक ही सीमित रह गया। इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन नहीं है। वास्तव में नक्षत्रिय धर्म के कारण कैल्डियन धर्म तथा ज्योतिष एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े थे। आकाश के विभिन्न नक्षत्र एवं ग्रह उनके लिए देव-तुल्य थे। उनकी गतिविधियों का अध्ययन कर वे भविष्यवाणियाँ करते थे। ऐसी स्थिति में इसका विकास सहज एवं स्वाभाविक था।

कैल्डियन सभ्यता की महत्ता एवं देन

मेसोपोटामिया के इतिहास में कैल्डियन सभ्यता का स्थान इसके धर्म, दर्शन एवं विज्ञान के कारण बढ़ा। भाग्यवाद आध्यात्मवाद, निराशावाद इत्यादि का विकास सर्वप्रथम कैल्डिया में किया गया। विज्ञान के क्षेत्र में इनके ज्योतिष विषयक आविष्कार अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। इन सब का प्रभाव परवर्ती विश्व पर निर्विवाद रूप से पड़ा। हिब्रुओं को सर्वप्रथम बन्दी युग में एक सुसम्पन्न एवं समृद्ध राष्ट्र के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने का सुयोग मिला। यद्यपि यहाँ वे विद्वेष एवं घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे फिर भी उन्होंने इनसे बहुत कुछ सीखने का प्रयत्न किया। कैल्डियन प्रतीकवाद, निराशावाद, भाग्यवाद एवं अभिचार का प्रभाव हिब्रू धर्म पर दिखाई पड़ता है। इनके ज्योतिष एवं खगोल-विज्ञान का प्रभाव यूनान पर पड़ा था।

●

---

[1] Quoted by Lynn Thorndike, A Short History of the Civilization, p. 94

7

मिस्र की सभ्यता

मिस्र देश अफ्रीका महाद्वीप के उत्तर पूर्व स्थित है। इसके पूर्व लालसागर, उत्तर भू-मध्यसागर, पश्चिम लीबियन रेगिस्तान तथा दक्षिण नील नदी के महाप्रपात हैं। सुदृढ़ एवं संरक्षित प्राकृतिक स्थिति के कारण यहाँ सभ्यता की निर्बाध प्रगति हुई। मिस्र के लम्बे इतिहास में हिक्साँस (Hyksos) नामक बर्बर एशियाई जाति के अतिरिक्त किसी अन्य विदेशी जाति की जड़ें अधिक दिन तक न जम पायीं। इसके विपरीत समकालीन दजला-फ़रात की घाटी में विकसित सभ्यताएँ सतत् बाह्याक्रमणकारियों से प्रभावित रहीं। पच्चीस सौ वर्ष पूर्व मिस्र की यात्रा करने वाले यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस ने लिखा था कि 'मिस्र देश नील नदी की देन है'। हेरोडोटस का यह कथन आज भी उतना ही सही है जितना पहले था। मिस्रवासियों के मानसपटल पर सरिता देवी, जिसे प्राचीन मिस्रवासी 'हापी' कहते थे की छाप छोड़ने वाली यह पवित्र नदी युगाण्डा पर्वत से निकल कर 6436 किलोमीटर लम्बे मार्ग को तय करती हुई अन्तत: भू-मध्यसागर में विश्राम लेती है। मार्ग में इसे अनेक अवरोधों का सामना करना पड़ता है। नील की दक्षिणी घाटी में सूडान (Sudan) तथा दक्षिणी मिस्र का कुछ भाग सम्मिलित है। इसका उत्तरी भाग नूबिया (Nubia) कहा जाता है। यह भू-भाग समतल नहीं है। कम-से-कम छ: स्थलों पर नदी अपनी पूरी शक्ति लगा कर भी चट्टान काटने में समर्थ नहीं हुई जिसके कारण महाप्रपात बन गए। इनमें से प्रथम, द्वितीय एवं चतुर्थ ही यात्रा की दृष्टि से बाधक हैं शेष तीन को पार करना दुष्कर नहीं है। उद्गम स्थल की ओर से गिनने में अंतिम महाप्रपात एलीफेण्टाइन (Elephantine) के समीप है। इसके उत्तर नील की उत्तरी घाटी है और यही वास्तविक मिस्र का निर्माण करती है। इस क्षेत्र में नील का प्रवाह निर्बाध है इसी लिए यह उर्वर एवं उपयोगी बन गया है। वास्तव में मिस्र

लीबियन रेगिस्तान का एक भाग है जिसमें नील नदी द्वारा निर्मित लगभग एक हजार किलोमीटर लम्बी तथा दस से बीस किलोमीटर चौड़ी एक उर्वर मैदान की पट्टी है जिसकी परत नौ से बारह मीटर तक गहरी है। यह उर्वर भू-भाग मेरीलैण्ड (Maryland) के क्षेत्रफल के लगभग बराबर है।

मिस्र : नील का वरदान

मिस्र देश एवं उसकी सभ्यता के सृजन एवं संवर्द्धन में नील नदी का विशिष्ट योगदान था। इसी नदी द्वारा निर्मित अति उर्वर एवं समृद्ध भू-भाग अतीत से ही मानव आकर्षण का केन्द्र बना। नील में प्रति वर्ष बाढ़ आती है जिसकी मिस्रवासी अत्यन्त उत्सुकता से प्रतीक्षा करते हैं। नील नदी की यह बाढ़ मई से प्रारम्भ हो जाती है तथा अक्टूबर तक रहती है। बाढ़ के साथ लाई गई मिट्टी से नील के दोनों तट पट कर प्रतिवर्ष नूतन आवरण धारण कर लेते हैं। नवम्बर के प्रथम सप्ताह से नदी का जल-स्तर घटने लगता है और दोनों किनारे के उर्वर मैदान छूटने लगते हैं। इन उर्वर मैदानों का उपयोग मिस्रवासी पिछले पाँच हजार वर्षों से करते चले आ रहे हैं। आरम्भ से ही यहाँ कई प्रकार की फसलें आसानी से उगायी जाती रही हैं। उर्वर मैदान के सृजन के साथ-साथ प्राचीन काल से ही सिंचाई के लिए उपयुक्त साधन प्रदान करने में भी नील नदी का सक्रिय योगदान रहा है। प्राचीन काल में यहाँ सिंचाई के कृत्रिम साधनों का अधिक विकास नहीं हुआ था। अतः मिस्रवासी नील के दोनों किनारों पर बड़े-बड़े गड्ढे बना लेते थे। बाढ़ आने पर इन गड्ढों में पानी भर जाता था। इन्हीं गड्ढों में एकत्रित जल की सहायता से वे अपने खेतों की सिंचाई करते थे। आज भी नील के किनारे इस प्रकार के गड्ढे बने हैं जिनसे जल निकाल कर, एक लट्ठे में बँधी बाल्टी में भरकर मिस्रवासी गीत गाते हुए उसे अपने खेतों तक पहुँचाते हैं। नील नदी पिछले लगभग पाँच हजार वर्षों से इन गीतों की गुनगुनाहट सुनती चली आ रही है। इस प्रकार एक ओर उर्वर मैदान बनाकर दूसरी ओर सिंचाई की सुविधा प्रदान कर नील नदी मिस्रवासियों के कृषि-जीवन की प्रेरणा-स्रोत बनी।

कृषि के साथ-साथ यातायात की दृष्टि से भी नील का विशिष्ट महत्त्व रहा है। नील के जल-मार्ग द्वारा ही यहाँ व्यापार एवं वाणिज्य में प्रगति सम्भव हो सकी। नील नदी द्वारा निर्मित राष्ट्रीय जल-मार्ग एवं इसमें प्रयुक्त की जाने वाली नावों का इनके जीवन में विशेष महत्त्व था। इसी लिए नावों को इनके चित्राक्षर प्रतीकों में भी ग्रहण किया गया है। इस राष्ट्रीय जल-मार्ग का केवल व्यापारिक महत्त्व ही नहीं था बल्कि राजनीतिक एकता की स्थापना एवं बाह्याक्रमणकारियों से मिस्र की रक्षा करने में भी इसने उल्लेखनीय भूमिका निभायी। इसी जल-मार्ग के माध्यम से मिस्र को अन्य देशों जैसे उत्तर में भू-मध्यसागरीय प्रदेश, उत्तर-पश्चिम में सीरिया तथा पूर्व में मेसोपोटामिया के सान्निध्य में आने का सुयोग मिला।

मिस्रवासियों में एकता की भावना का संचार नील नदी द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों के कारण हुआ। नदी के दोनों ओर बाँध तथा बस्तियों के लिए नहर इत्यादि बनाने में अनेक व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती थी। जिसमें एक-दूसरे को परस्पर संगठित होकर कार्य करने का अवसर मिलता था। धीरे-धीरे उनमें एकता की प्रवृत्ति बढ़ती गई जिससे संकट के समय संगठनबद्ध होकर मिस्रवासी किसी भी विपत्ति का सामना कर सकने में समर्थ हो सके। इसका प्रभाव राजनीतिक संगठन पर पड़ा। धीरे-धीरे छोटे-छोटे मिस्री गाँव बड़े-बडे गाँवों में बदलने लगे। प्राग्वंशीय युग में नगर-राज्यों के एकीकरण की दिशा में किया गया प्रयास इसी भावना का परिणाम था।

मिस्र के धार्मिक, कलात्मक, साहित्यिक एवं वैज्ञानिक विकास में भी नील नदी का अत्यधिक योगदान था। नील में आने वाली वार्षिक बाढ़ को मिस्रवासियों ने जन्म एवं मृत्यु का प्रतीक मान लिया। मिस्री आख्यानों में प्रसिद्ध 'ओसाइरिस आख्यान' (Osiris Legend) के मूल में यही भावना निहित थी। मिस्र के गौरवशाली पिरामिड नील के सहयोग से ही निर्मित हो सके थे। इनमें प्रयुक्त किए जाने वाले शिलाखण्डों को सूदूर स्थित स्थलों से नदी द्वारा ही अभीष्ट स्थान तक पहुँचाया गया था। प्रतिवर्ष बाढ़ आने के फलस्वरूप थोड़ी देर के लिए इनकी कृषि-योग्य भूमि परस्पर एक हो जाती थी। बाढ़ समाप्त होने पर उनके परस्पर विभाजन के लिए ज्यामिति एवं गणित की आवश्यकता पड़ती थी। इसी प्रकार बाँध, नहर इत्यादि के निर्माण में भी नाप-जोख की आवश्यकता पड़ती थी। अतः विवश होकर मिस्रवासियों को इस ओर सजग होना पड़ा। तिथिगणना की उनकी एक अति प्रचलित विधि, जिसे 'लुब्धक चक्र विधि' (Sothic Cycle Method) कहा गया है, का आविष्कार भी नील की बाढ़ के आधार पर ही किया गया था। अजस्रवाहिनी नील के रम्य एवं शीतल तट पर खड़े होकर मिस्री साहित्यकारों ने इसकी कलकल ध्वनि से साहित्य-रचना की प्रेरणा ग्रहण की। इस प्रकार हम देखते हैं कि मिस्रवासियों के आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, कलात्मक, साहित्यिक एवं वैज्ञानिक प्रगति में नील नदी का कितना अधिक योगदान था। हेरोडोटस का यह कथन कि 'मिस्र नील नदी का वरदान है' पूर्णतया सत्य एवं युक्तिसंगत है।

ऐतिहासिक स्रोत

प्रारम्भ में मिस्र के इतिहास के अध्ययन में मुख्यतः यूनानी एवं रोमन लेखकों के विवरणों, ओल्ड टेस्टामेण्ट तथा परवर्ती लेखकों की रचनाओं में उद्धृत मिस्री पुरोहित मनेथो की कृतियों के अंशों से ही सहायता मिलती थी। यूनानी लेखकों में हेरोडोटस तथा डिओडोरस, (Diodorus) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हेरोडोटस ने मिस्र की यात्रा की थी और उसने उनके विषय में बहुत कुछ लिखा है लेकिन उसके विवरण में कल्पना का पुट अधिक है। तृतीय शती ई० पू० में टॉलमी

प्रथम (Ptolemy I, 350-285 B. C.) ने सेवेनाइटॉस (Sebennytos) के निवासी मनेथो (Manetho) पुरोहित को मिस्र के प्राचीन लेखों को एकत्र कर उन्हें व्यवस्थित करने तथा अनूदित करने का उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य दिया। मनेथो ने यह कार्य सम्पन्न किया लेकिन दुर्भाग्य से आज उसकी कृति पूर्णरूप से प्राप्त नहीं है। इसका लगभग अर्द्धभाग ही जूलियस एफ्रिकनस (Julius Africanus), यूसीबियस (Eusebius), जोसीफस (Josephus) आदि परवर्ती लेखकों की रचनाओं में उद्धरणों के रूप में मिलता है। मनेथो ने मेनीज से लेकर अर्तखशयार्श तृतीय तक के प्राचीन मिस्री इतिहास को तीस राजवंशों में विभाजित किया है जो कई दृष्टियों से त्रुटिपूर्ण है।

उपर्युक्त सभी साक्ष्यों से अधिक उपादेय स्वयं मिस्री अभिलेख एवं साहित्य हैं। इनकी उपादेयता अठारहवीं शती ई० के बाद बढ़ी जब मिस्री लिपि का पाठ प्रस्तुत किया गया। इस कार्य को प्रेरणा नेपोलियन के मिस्री अभियान के बाद मिली। मिस्री अभियान के समय नेपोलियन के साथ बहुत से खगोलशास्त्री, ज्यामितिविद्, पुरातत्त्ववेत्ता, मानचित्रकार, इंजीनियर आदि गये थे।[1] बहुत दिनों तक मिस्री लेख इनके लिए भी मूक बने रहे लेकिन अन्त में प्रसिद्ध पुरालिपिविज्ञ जे० एफ० शाम्पोल्यों (Jean Francois Champollion) ने अथक परिश्रम करके इनका पाठ प्रस्तुत किया। शाम्पोल्यों के पूर्व टामस यंग (Thomas Young) ने सिद्ध कर दिया था कि मिस्री चित्राक्षर लिपि (Heiroglyphic Script) तथा लोक-लिपि दो भिन्न-भिन्न लिपियाँ थीं तथा शासकों के नाम रेखाओं द्वारा घेर दिये जाते थे। इसे 'कार्तूश' (Cartoushes) कहा गया है। शाम्पोल्यों के सामने एक ऐसा लेख था जिसमें यूनानी लिपि में टॉलमी तथा क्लिओपैट्रा (Cleopatra) के नाम लिखे थे और ऊपर मिस्री चित्राक्षर लिपि में एक लेख था जो रेखाओं द्वारा घिरा था। इसी आधार पर शाम्पोल्यों ने ग्यारह मिस्री चित्राक्षरों को पढ़ा। इसी की सहायता से प्रसिद्ध रोजेटा प्रस्तर लेख (Rossetta Stone Inscription), जिसे नेपोलियन के सैनिकों ने नील के रोजेटा मुहाने से प्राप्त किया था, का पाठ प्रस्तुत किया गया। इसके बाद धीरे-धीरे मिस्री लेख पढ़े जा सके तथा अतीत की संस्कृति के बहुत से तथ्य प्रकाश में आए। मिस्री लेखों एवं साहित्यिक कृतियों के अतिरिक्त, इनके स्मारकों, पिरामिडों, भवनों तथा विविध प्रकार के कलात्मक उपकरणों के माध्यम से हम इनके विषय में अन्यान्य जानकारी प्राप्त करते हैं।

प्राचीन मिस्रवासी कौन थे और कहाँ से आए थे, निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हो सका है। सम्भवतः वे नूबियन (Nubian), इथियोपियन (Ethiopian), लीबियन (Lybian), सेमिटिक अथवा आरमोनाइड प्रजातियों के मिश्रण से उत्पन्न हुए थे। कहा जाता है कि पश्चिम से आने वाले आक्रमणकारी अपने साथ अधिक

---

[1] C. D. M. Ketelbey, A History of Modern Times, pp. 102-3

विकसित संस्कृति लाए थे। उन्होंने यहाँ के मूल निवासियों से अन्तर्जातीयविवाह कर एक ऐसी जाति को जन्म दिया जिसने नई सभ्यता विकसित की। धीरे-धीरे 4000 से 3000 ई० पू० तक विभिन्न वर्ग एवं समुदाय ने एकीकृत होकर मिस्र के इतिहास का निर्माण किया।

राजनीतिक इतिहास

ब्रेस्टेड ने प्राचीन मिस्र के समग्र राजनीतिक इतिहास को स्थूलतः प्राग्वंशीय युग, प्राचीन राज्य युग, मध्य राज्य युग एवं साम्राज्य युग चार भागों में विभाजित किया है। इन चारों युगों में कुल मिला कर तीस राजवंशों ने शासन किया। इन्हें निम्न तैथिक अनुक्रम में रखा गया है :—

4241 ई० पू०	पंचाङ्ग का आविर्भाव
3400 ई० पू०	मेनीज द्वारा राज्य-ग्रहण एवं राजवंश की स्थापना
3400–2980 ई० पू०	प्रथम दो राजवंशों का काल
2980–2475 ,,	तृतीय से छठवें राजवंश का शासन काल
2475–2160 ,,	सामन्तवादी युग, (सातवें से दशवें राजवंशों का शासन काल)
2160–1788 ,,	ग्यारहवें एवं बारहवें राजवंशों का शासन काल
1788–1580 ,,	सामन्तीय संघर्ष एवं हिक्सॉस आधिपत्य का काल (तेरहवें से सत्तरहवें राजवंशों का शासन काल)
1580–1090 ,,	अठारहवें से बीसवें राजवंशों का शासन काल
1090–945 ,,	तैनाइट-एमोनाइट काल (इक्कीसवें राजवंश का शासन काल)
945–712 ,,	लीबियन काल (बाइसवें से चौबीसवें राजवंश का शासन काल)
712–663 ,,	इथियोपियन काल (पच्चीसवें राजवंश का शासन काल)
663–525	साइत युग (छब्बीसवें राजवंश का शासन काल)
525–332 ,,	ईरानी आधिपत्य एवं विद्रोहों का युग (सत्ताइसवें से तीसवें राजवंशों का शासन काल)
332— ,,	यूनानी आधिपत्य की स्थापना।

प्राग्वंशीय युग

प्राग्वंशीय युग में मिस्र कई छोटे-छोटे नगर राज्यों में विभक्त था। चतुर्थ सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ तक इन छोटे-छोटे नगर राज्यों, जिन्हें नोम (Nomes) कहा गया है, को मिलाकर दो बड़े राज्य स्थापित किये गये। इन्हें उत्तरी एवं दक्षिणी

राज्य नाम दिया गया। उत्तरी मिस्र की राजधानी बूटो (Buto) तथा संरक्षिका नागदेवी थी जिसका रंग लाल था। इसी कारण यहाँ के शासक लाल मुकुट धारण करते थे। दक्षिणी मिस्र की राजधानी नेखेब (Nekheb) की संरक्षिका गृध्रदेवी (Volture Goddess) थीं तथा इसका विशिष्ट रंग श्वेत था। इसी लिए यहाँ के शासक श्वेत मुकुट धारण करते थे। प्राग्वंशीय नगर-राज्यों की राजनीतिक गतिविधियों पर प्रकाश डालने वाले साक्ष्यों का अभाव है। पाँचवें राजवंश के एक लेख के माध्यम से उत्तरी मिस्र के सात राजाओं, जिनमें सेका (Scka) तथा कायु (Khayu) प्रमुख हैं, के विषय में संकेत मिलता है लेकिन इनके विषय में और कुछ नहीं ज्ञात हो पाता। दक्षिणी मिस्र की राजनीतिक घटनाओं के विषय में तो और कम जानकारी है।

दोनों राज्यों को परस्पर मिलाने की दिशा में 3400 ई० पू० के आस-पास प्रयास किया गया। इसका श्रेय अबाइडॉस (Abydos) के समीप स्थित तेनी, जिसे यूनानी थिस कहते थे, के निवासी मेनीज़ (Menes) को दिया गया है। ब्रेस्टेड की धारणा है कि सम्भवतः 3400 ई० पू० के पहले भी कभी दोनों राज्यों को परस्पर मिलाने का प्रयास किया गया था किन्तु स्थायी सफलता नहीं मिली थी। संयुक्त राज्य-स्थापना के साथ-साथ मिस्र के प्रथम राजवंश की स्थापना हुई। बहुत से विद्वान् मेनीज़ को काल्पनिक व्यक्ति स्वीकार करते हैं लेकिन ब्रेस्टेड उसे ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं। मेनीज़ से लेकर मिस्र के प्रथम दो राजवंशों में कुल अठारह नरेशों ने 420 वर्षों तक शासन किया लेकिन इनकी उपलब्धियों का क्रमबद्ध विवरण नहीं प्राप्त है। प्रथम राजवंश के शासकों द्वारा सिनाई (Sinai) के लिए प्रेषित एक व्यापारिक अभियान की सूचना मिलती है। इसका उद्देश्य वहाँ से ताँबा प्राप्त करना था। इस अभियान की अभिपुष्टि इसी खान के समीप स्थित एक अद्भुत चित्र द्वारा होती है जिसमें सम्राट् सेमेरखेत (Semerkhet) को एक योद्धा पर प्रहार करते हुए उत्कीर्ण किया गया है। द्वितीय राजवंश के शासकों में पेरब्सन (Perabsen) के विषय में सूचना मिलती है। इसके समय में मिस्र का व्यापारिक सम्बन्ध उत्तर में कालासागर तक था। इससे हम इसके शासन काल की शान्ति एवं सुव्यवस्था का अनुमान लगा सकते हैं। इसकी मृत्यु के बाद एक शासक के शासन काल में मिस्र के पुनः एकीकरण का समर्थन मिलता है। स्वयं वह और उसके उत्तराधिकारी दावा करते हैं कि उन्होंने बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़ी थीं तथा हजारों की संख्या में शत्रुओं का वध किया था।

प्राचीन राज्य युग

तृतीय राजवंश (2980–2900 ई० पू०) के शासन काल से लेकर छठवें राजवंश के शासन काल तक का समय प्राचीन राज्य युग के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। विश्व को आश्चर्यचकित करने वाले पिरामिड इसी काल में बनाये गये थे

इसी लिए इस युग को एक अन्य संज्ञा 'पिरामिड युग' से भी अभिहित किया जाता है। इस युग का समारम्भ तृतीय राजवंश की स्थापना से होता है। इस समय से मिस्र का राजनीतिक इतिहास अधिक स्पष्ट होने लगता है। तृतीय राजवंश का संस्थापक जोसेर (Joser) था जो इस राजवंश के शासकों में एक अत्यन्त सफल शासक माना जा सकता है। इसकी सफलता का मूल कारण इम्होतेप (Imhotep) का सान्निध्य था। इम्होतेप अपने समय का एक महान् कलाविद्, शिल्पी, वैज्ञानिक तथा साहित्य का पंडित था। इसके कुशल मंत्रित्व में राज्य को सुदृढ़ता प्रदान की गई तथा अनेक रचनात्मक कार्य सम्पन्न हुए। सक्कर का सोपान-पिरामिड इसी समय बनाया गया था। जोसेर के उत्तराधिकारियों में स्नेफ्रू (Snefru) का नाम विशेष प्रसिद्ध है। यह तृतीय राजवंश का अंतिम शासक था। इसके समय में बने लगभग 50 मीटर लम्बे जलयान से व्यापारिक विकास को प्रचुर प्रोत्साहन मिला। इसके समय में लेबनान से चालीस जलपोत भेजकर देवदारु मँगाया गया था। जोसेर के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए इसने भी उत्तरी नूबिया की विद्रोही जातियों को पराजित करने के लिए एक सैनिक अभियान भेजा जो सात हजार युद्धबंदियों तथा छोटे-बड़े दो लाख पशुओं के साथ वापस लौटा था। मेडूम (Medum) तथा दशूर (Dashur) के पिरामिड इसी की देन हैं।

तृतीय राजवंश के पश्चात् खुफू (Khufu) के नेतृत्व में मिस्र में चतुर्थ राजवंश (2900–2750 ई० पू०) की स्थापना हुई। मिस्र के इतिहास में चतुर्थ राजवंश के शासन काल का विशिष्ट स्थान है। मिस्र के शानदार पिरामिड इसी राजवंश के शासन काल में निर्मित हुए थे। खुफू के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है। संभवतः उसका सम्बन्ध तृतीय राजवंश से ही था और उसका आदि निवास-स्थान बेनीहसन (Benihasan) नगर था। खुफू की उपलब्धियों के शाश्वत प्रतीक गीजे (Gizeh) के पिरामिड हैं। खुफू के बाद उत्तराधिकार डेडफ्रे (Dedefre) को मिला। इसके भी पारिवारिक सम्बन्ध के बारे में कोई जानकारी नहीं है। इसके समय में निर्मित पिरामिड गीजे के उत्तर अबुरोश (Aburoash) में मिले हैं। डेडफ्रे के बाद खेफ्रे (Khafre) शासक हुआ। इसे मिस्र के पुरोहितों का सामना करना पड़ा था क्योंकि वे शक्तिमान हो चुके थे। इसके समय में पिरामिड तथा नारसिंही मूर्ति (Sphinx) बनाई गई। नारसिंही मूर्ति को तो विद्वान् उसकी अपनी मूर्ति मानते हैं। इसके द्वारा निर्मित पिरामिड पहले की अपेक्षा छोटे हैं। खेफ्रे के बाद उत्तराधिकार मेंकुरे (Menkure) को मिला। इसके शासन काल में निर्मित पिरामिड भी आकार-प्रकार में छोटे हैं जिससे पता लगता है कि इस समय देश की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी। मेंकुरे के बाद चतुर्थ राजवंश का इतिहास अस्पष्ट है। केवल इसका अन्त ही दृष्टिगत होता है।

चतुर्थ राजवंश के पश्चात् पंचम राजवंश (2750–2625 ई० पू०) की स्थापना युसेरकाफ (Userkaf) ने की। इसकी राजनीतिक उपलब्धियाँ अज्ञात हैं।

इसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी साहुरे के समय में नौ शक्ति में पर्याप्त वृद्धि की गई तथा फीनिशिया के विरुद्ध एक जलबेड़ा भेजा गया। इसका दृश्य उसके अबुसिर (Abusir) मंदिर-पिरामिड की दीवालों पर उत्कीर्ण मिलता है। ब्रेस्टेड के अनुसार समुद्र यात्रा का यह प्राचीनतम प्रमाण है। साहुरे के समय में एक जलबेड़ा पुण्ट (Punt) के विरुद्ध भी प्रेषित किया गया था। प्रत्यावर्तन के समय इस अभियान के साथ प्रचुर मात्रा में गंधरस और कीमती लकड़ी लायी गई थी। नूबिया पर भी इसके आक्रमण के उल्लेख मिलते हैं।

साहुरे के बाद इस राजवंश में जिन अन्य शासकों ने राज्य किया उनमें नेफेरिर्केरे (Neferirkere), शेपसेस्केरे (Shepseskere), खानेफेर्रे (Khaneferre), न्युसेर्रे (Nuserre), मेंकुहोर (Menkuhor), डेड्केरे-इसीसी (Dedkere-Isesi) तथा युनिस (Unis) के नाम मिलते हैं लेकिन इनकी राजनीतिक गति-विधियों के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है।

छठवें राजवंश का संस्थापक तेती द्वितीय (Teti II) था। लेकिन राजवंश स्थापना के अतिरिक्त इसके विषय में कुछ नहीं ज्ञात है। इसके बाद युसेरकेरे (Userkere) ने शासन संभाला जिसका उत्तराधिकारी पेपी प्रथम (Pepi I) था। अपने इक्कीस वर्ष के शासनकाल में पेपी प्रथम ने सामन्तों, पुजारियों तथा सेनापतियों पर नियंत्रण रखने का पूर्ण प्रयास किया। इसमें इसे ऊनी (Uni) नामक व्यक्ति की सहायता मिली थी। पेपी प्रथम ने इस व्यक्ति को कई महत्त्वपूर्ण पद प्रदान किया था। बेदुइन (Beduin) के विरुद्ध एक सैनिक अभियान ऊनी के नेतृत्व में भेजा गया था। प्राचीन राज्य युग में उत्तर की ओर भेजा गया यह सबसे अधिक दूरी वाला अभियान था। पेपी प्रथम की मृत्यु के बाद शासन-भार इसके पुत्र मर्नेरे प्रथम (Mernere I) के कंधों पर आया। मर्नेरे प्रथम अभी युवक ही था इसलिए उसने ऊनी को दक्षिण का गवर्नर नियुक्त कर दिया। ऊनी की मृत्यु के बाद यह पद हर्कुफ (Harkuf) को मिला। मर्नेरे प्रथम के चार वर्षीय अल्पकालीन शासन के बाद उत्तराधिकार इसके विमातृज भाई पेपी द्वितीय को मिला। यह पेपी प्रथम की एक अन्य रानी एनेखनीज-मेरिरे (Enekhnes-Merire) का पुत्र था। इसके शासन काल की एक महत्त्वपूर्ण घटना में हर्कुफ का यम (Yam) की ओर प्रस्थान तथा वहाँ से समृद्ध जद्दू जानवरों के दल तथा एक बौने के साथ प्रत्यावर्तन का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि हर्कुफ के मिस्र पहुँचने पर उसका भव्य स्वागत किया गया था। पेपी द्वितीय के शासन काल में उत्तर तथा दक्षिण में भी विशेष सफलता मिली थी। मनेथो के अनुसार पेपी द्वितीय ने 90 वर्ष तक तथा त्युरिन सूची के अनुसार 94 वर्ष तक राज्य किया था जो विश्व-इतिहास में सर्वाधिक लम्बा शासन काल है। पेपी द्वितीय के बाद उत्तराधिकार मर्नेरे द्वितीय को मिला लेकिन वह केवल एक वर्ष तक ही शासन कर सका। इसके बाद छठवें राजवंश तथा इसी के साथ-साथ प्राचीन मिस्र के प्राचीन राज्य युग का भी अन्त हो गया।

सामन्तवादी युग

प्राचीन राज्य युग मिस्र के इतिहास में राजनीतिक एवं कलात्मक दोनों दृष्टियों से प्रगति का युग है लेकिन यह प्रगति स्थायी न सिद्ध हुई। अलाभकारी निर्माणात्मक कार्यों के कारण मिस्र आर्थिक दृष्टि से दुर्बल हो गया। इसका प्रभाव इतना अधिक पड़ा कि आगामी लगभग तीन सौ वर्षों तक मिस्र में आर्थिक एवं राजनीतिक दुर्बलता व्याप्त रही। छठवें राजवंश के पश्चात् क्रमशः यहाँ सातवें एवं आठवें राजवंशों (2445-2160 ई० पू०) की स्थापना हुई लेकिन इनका शासन काल किसी भी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। आठवें राजवंश के दुर्वल मेम्फाइट (Memphites) शासकों से हेराक्लियोपोलिटन (Heracleopolitan) शासकों ने राजसत्ता अपने अधिकार में करके नवें राजवंश की स्थापना की। मेम्फिस के स्थान पर अब शक्ति का केन्द्र हेराक्लियोपोलिस बना। नवें राजवंश का संस्थापक अख्तीज़ (Akhthoes) था। किन्तु इसकी उपलब्धियों का कोई विवरण हमें नहीं मिला है। इसके उत्तराधिकारी शासकों के विषय में भी कुछ ज्ञात नहीं है। नवें राजवंश की भाँति ही दसवें राजवंश के विषय में भी कोई विशेष जानकारी नहीं है। इस राजवंश के शासक भी एक तरह से दुर्बल ही माने जा सकते हैं। ऐसा लगता है कि इस वंश के शासनकाल के अंतिम दिनों में थी०ज के सामन्तों की शक्ति काफी बढ़ गई थी। अन्ततः इस वंश के अन्त करने तथा ग्यारहवें राजवंश की स्थापना में उन्हें सफलता मिल गई।

मध्य राज्य युग

मिस्र के ग्यारहवें राजवंश (2160-2000 ई० पू०) का संस्थापक होरुस वहेनेख इन्तेफ प्रथम (Horus-Wahenekh-Intef I) था। इसके समय में हेराक्लियोपोलिस का बर्बरतापूर्वक दमन किया गया तथा उत्तर की ओर साम्राज्य की सीमा बढ़ाई गई। पचास वर्ष तक शासन करने के बाद उत्तराधिकार क्रमशः होरुस-नख्तनेब-तेप्नेफेर-इन्तेफ द्वितीय (Horus-Nakhtneb-Tepnefer-Intef II), होरुस-सेनेखिब्तोव-मेंतुहोतेप प्रथम (Horus Senekhibtowe-Mentuhotep I), निभपेत्रे-मेंतुहोतेप द्वितीय (Nibhapetre-Mentuhotep II), निब्तोवेरे-मेंतुहोतेप तृतीय (Nibtowere-Mentuhotep III), निभेपेत्रे-मेंतुहोतेप चतुर्थ एवं सेनेख्केरे-मेंतुहोतेप पंचम ने राज्य किया लेकिन इनमें से अन्तिम दो के विषय में ही विशेष सूचनाएँ मिल सकी हैं। निभेपेत्रे-मेंतुहोतेप चतुर्थ के शासनकाल के इकतालीसवें वर्ष एक जलबेड़ा कोषाध्यक्ष खेटी (Kheti) के नेतृत्व में ववत (Wawat) के लिए भेजा गया था। सामन्तवादी युग में निर्माणात्मक कार्यों में जो स्थिरता आ गई थी उसे इसने गति प्रदान की। इसके शासन काल में बना सोपान-मन्दिर विशेष प्रसिद्ध है। यही बाद में देल-एल-बहरी में निर्मित साम्राज्ञी हत्शेपसुत के भव्य मन्दिर के

लिए आदर्श बना। इसके उत्तराधिकारी सेनेखेरे-मेंतुहोतेप पंचम ने भी पिता के चरण-चिन्हों का अनुसरण किया लेकिन वह केवल आठ वर्ष तक ही शासन कर सका। उसके बाद बारहवें राजवंश की स्थापना हुई।

बारहवें राजवंश का संस्थापक एमेनेम्हेत प्रथम (Amenemhet I, 2000-1970 B. C.) था। यह ग्यारहवें राजवंश के अंतिम शासक का मन्त्री था। सम्भवत: इसका सम्बन्ध शाही परिवार से भी था क्योंकि इसके वंशज ग्यारहवें वंश के इन्तेफ शासकों को अपना पूर्वज मानते थे तथा उनके प्रति श्रद्धा एवं सम्मान प्रदर्शित करते थे। सामन्तों की शक्ति को पूरी तरह दबाने में तो यह सफल न रहा लेकिन उन पर कुछ नियन्त्रण अवश्य स्थापित हो गया था। शासन काल के अन्तिम दिनों में इसके अधिकारियों ने गुप्तमंत्रणा करके इसके विरुद्ध षड्यन्त्र कर दिया। शयन कक्ष से भाग कर एमेनेम्हेत प्रथम ने किसी प्रकार प्राण-रक्षा की। इसके बाद इसने अपने पुत्र सेसोस्त्रिस प्रथम (Sesostris I, 1970-1935 B. C.) को सह-राजप नियुक्त किया। लेकिन दश वर्ष बाद जब एमेनेम्हेत प्रथम की मृत्यु हो गई तो सेसोस्त्रिस प्रथम ने पूर्णरूप से उत्तराधिकार प्राप्त किया। इसने कुल पैंतालीस वर्ष राज्य किया। पिता के जीवनकाल में ही दक्षिण दिशा की ओर किए गये एक सैनिक अभियान तथा उत्तर की शक्तियों के मानमर्दन में इसे सफलता मिल गई थी जिससे इसका मनोबल पहले से ही ऊँचा था। नूबिया के आक्रमणकारियों को पराजित करने में इसे पूर्ण सफलता मिली। इसी के समय में नील को एक नहर के द्वारा लाल सागर से मिलाया गया था तथा हेलियोपोलिस, अबाइडाँस तथा कार्नाक में विशाल मन्दिर बनवाए गये थे। अपने शासन काल के अन्तिम दिनों में इसने भी अपने पुत्र एमेनेम्हेत द्वितीय (1935-1903 ई० पू०) को सह-राजप नियुक्त कर दिया था जिसके साथ तीन वर्ष तक शासन करने के बाद इसकी मृत्यु हो गई थी। इसके बाद उत्तराधिकार क्रमशः एमेनेम्हेत द्वितीय तथा सेसोस्त्रिस द्वितीय (1903-1887 ई० पू०) को मिला। एमेनेम्हेत द्वितीय ने कुल पैंतीस वर्ष तथा सेसोस्त्रिस द्वितीय ने उन्नीस वर्ष राज्य किया। सेसोस्त्रिस द्वितीय के समय मिस्र के वैदेशिक सम्बन्ध क्रीट (Crete) से स्थापित हुए थे। इस काल के क्रीट के मृद्भाण्डों के कुछ अवशेष उन बस्तियों से प्राप्त हुए हैं जहाँ सेसोस्त्रिस के पिरामिड-निर्माता रहते थे। इस काल के मिस्री उपकरण क्रीट से भी मिले हैं।[1] सेसोस्त्रिस द्वितीय के बाद उत्तराधिकार सेसोस्त्रिस तृतीय (1888-1849 ई० पू०) को मिला। इसके शासन काल में 82 मीटर लम्बी, 10.36 मीटर चौड़ी तथा लगभग 8 मीटर गहरी एक चैनल (Channal) के निर्माण का उल्लेख मिलता है। दक्षिण की ओर से जो अशान्ति एवं विद्रोह हो रहे थे उसका इसने डटकर मुकाबला किया तथा सेम्नेह

---

1. M. A. Murray, The Splendour that was Egypt, p. 23

(Semneh) एवं कुमेह (Kummeh) नामक स्थानों पर दुर्ग का निर्माण करवाया। सोलहवें वर्ष के कुछ पहले कैसाइट जातियों को पराजित किया था। इसके नेतृत्व में सबसे पहले सीरिया के विरुद्ध सैनिक प्रयाण की सूचना मिलती है। सेसोस्त्रिस द्वितीय के बाद शासन-भार एमेनेम्हेत तृतीय-(1849-1801 ई० पू०) ने संभाला। यद्यपि राज्य-ग्रहण करते समय इसकी अवस्था कम थी लेकिन पिता के सदृश यह भी योग्य एवं कुशल था इसलिए उत्तरदायित्व का निर्वाह सफलतापूर्वक किया। सिनाई की खदानों में कार्यरत मजदूरों की कठिनाइयों को समझ कर इसने उनकी कार्य-पद्धति में कुछ आवश्यक सुधार किया। अब उनके उपकरण वहीं जमीन में गाड़ दिये जाने लगे तथा आवास के लिये छोटी-छोटी बस्तियाँ बनायी गईं। मिस्र के प्रसिद्ध लैबिरिंथ (Labyrinth) भवन का निर्माण इसी के समय में किया गया था। इसका विस्तार 244 × 305 मीटर था। यह भवन एक प्रकार का प्रशासनिक केन्द्र था। स्ट्रैबो के अनुसार इस भवन के प्रत्येक कक्ष को एक केन्द्रीय कार्यालय माना जा सकता है। हेरोडोटस तो इसे पिरामिडों से भी आगे बताता है। फयूम प्रान्त में मीरिस (Moeris) झील के जल को नियंत्रित कर सिंचाई के लिए उसका उपयोग किया गया। एमेनेम्हेत तृतीय के पश्चात् क्रमशः एमेनेम्हेत. चतुर्थ (1801-1792 ई० पू०) तथा सेबेक्नेफ्रूरे (Sebeknefrure, 1792-1788 B.C.) ने राज्य किया लेकिन इनका शासन काल किसी प्रकार से भी महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। इनके बाद बारहवें राजवंश का पतन हो गया तथा तेरहवें राजवंश की स्थापना हुई।

सामन्तीय संघर्ष एवं हिक्सॉस आधिपत्य का युग

बारहवें राजवंश के अन्त के साथ-साथ मिस्र के मध्य राज्य युग का भी अन्त हो गया। इसका प्रभाव सामन्तों एवं जागीरदारों पर व्यापक रूप से पड़ा। शक्ति-स्थापना में परस्पर होड़ लग गई तथा वे एक दूसरे के मान-मर्दन का प्रयत्न करने लगे। इस आन्तरिक संघर्ष का लाभ विदेशी आक्रमणकारियों को मिला। बर्बर हिक्सॉस मिस्र पर बहुत पहले से काक-दृष्टि लगाये बैठे थे और अवसर मिलते ही वे उस पर आ धमके। ये कौन थे और कहाँ से आये थे ऐसे प्रश्न हैं जिनका समुचित एवं समादरित उत्तर वर्तमान समय में नहीं दिया जा सकता। इनके विषय में जो कुछ जानकारी मिलती है वह अधिकांशतः लोककथाओं पर आधृत है। साम्राज्ञी हतशेपसुत (Hatshepsut) के एक लेख में इन्हें एशियाई मानते हुए इनकी शक्ति का केन्द्र उत्तरी डेल्टाई भाग के अवरिस (Avaris) में माना गया है। जोसीफस इन्हें पशु-पालक राजा (Shephered King) बताता है क्योंकि 'हिक्' (Hyk) का अर्थ राजा तथा 'सॉस' (Sos) का अर्थ पशुपालक होता है। लेकिन इस सम्बन्ध में स्मरणीय है कि 'सॉस' का यह अर्थ बाद में देशी भाषा में ग्रहण किया गया। प्राचीन लेखों में यह कहीं भी इस अर्थ में नहीं प्रयुक्त किया गया है। लगता है कि हिक्सॉस में प्रयुक्त 'सॉस'

शब्द देशवाची है। अतः हिक्सॉस का अर्थ देशों का स्वामी होगा न कि पशुपालक राजा। अन्य साक्ष्यों से पता लगता है कि ये फीनिशियनों एवं अरबों से सम्बन्धित थे। समकालीन साक्ष्यों में इन्हें एशियाई, बर्बर तथा शासक रूप में उल्लिखित किया गया है। हिक्सॉस जो भी रहे हों तथा जहाँ से भी उनका आगमन हुआ हो, हम इतना जानते हैं कि सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़े होते हुए भी आगामी दो सदियों तक उनका प्रभुत्व बना रहा। हिक्सॉस आधिपत्य स्थापना से मिस्र के तेरहवें राजवंश का समारंभ हुआ। लेकिन तेरहवें एवं उसके बाद स्थापित चौदहवें राजवंश के शताधिक शासकों के नाम के अतिरिक्त हमें अधिक ज्ञात नहीं है। इतना ही नहीं बल्कि चौदहवें राजवंश के बाद स्थापित पन्द्रहवें, सोहलहवें एवं सत्तरहवें राजवंश के शासकों के विषय में भी कोई विशेष सूचना नहीं मिलती। वास्तव में तेरहवें राजवंश से लेकर सत्तरहवें राजवंश तक का मिस्र का इतिहास अराजकता, बर्बरता एवं अव्यवस्था का युग माना जा सकता है। इन बर्बर आक्रमणकारियों के प्रभाव से मिस्र का सांस्कृतिक गौरव विनष्ट हो गया। वास्तव में प्राचीन सभ्यताएँ बर्बरता के सागर में लघुद्वीप के समान रहती थीं जिनका जीवन सदैव अस्थिर एवं अनिश्चित रहता था क्योंकि अवसर मिलते ही युद्ध पिपासु बर्बर एवं आखेटप्रिय जातियाँ उन्हें घेर लेती थीं और उन्हें डुबो देती थीं। बैबिलोनिया पर कैसाइट, यूनान तथा रोम पर गाउल, इटली पर हूण तथा पेकिंग पर मंगोल आक्रमण इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। लेकिन हिक्सॉस मिस्र पर स्थायी प्रभुत्त्व न स्थापित कर सके। वास्तव में शान्ति, सुव्यवस्था एवं स्वतन्त्रता के वातावरण में पला राष्ट्र अधिक दिनों तक परतन्त्रता की जंजीर में जकड़ा नहीं जा सकता है। एक ओर मिस्रवासियों में रह-रह कर स्वतंत्रता की भावना का संचार हो रहा था तो दूसरी ओर सुख एवं विलासिता के बीच पनपने वाले हिक्सॉस आक्रमणकारी आलसी होते जा रहे थे। पुनश्च, मिस्रवासियों ने यदि स्वतंत्रता खोयी तो उन्हें कुछ मिला भी। बर्बर हिक्सॉस अश्व से परिचित थे तथा युद्धों में उनका प्रचुर प्रयोग करते थे। मिस्रवासियों ने युद्ध की यह कला उनसे सीख ली और इसका उपयोग हिक्सॉस विरोधी संघर्षों में उन्होंने किया। हिक्सॉस आक्रमण का एक और प्रभाव मिस्रवासियों पर पड़ा। अभी तक प्रादेशिक अलगाव की भावना से वे प्रभावित थे लेकिन विदेशी आधिपत्य स्थापना से उनके नेत्र खुल गये। उन्होंने अनुभव किया कि स्वतंत्रता की स्थापना तथा राष्ट्र की रक्षा के लिए पारस्परिक एकता आवश्यक है। अन्ततः मिस्रवासियों ने हिक्सॉस आक्रमणकारियों का विरोध प्रारम्भ कर दिया। इसमें वे सफल हुए तथा बर्बर आक्रमणकारियों को मिस्र छोड़कर जाना पड़ा।

साम्राज्य युग

हिक्सॉस बहिष्करण का कार्य थीब्ज के राजकुमार सेकेनेंरे तृतीय (Sekenenre III) तथा उसके उत्तराधिकारी किमोस (Kimos) के शासन काल

में ही प्रारम्भ हो गया था लेकिन इस कार्य को विशेष गति अठारहवें राजवंश के प्रथम शासक अहमोस प्रथम (Ahmos I, 1580-1557 B. C.) के समय से मिली। एशिया के बर्बर आक्रमणकारी इसी समय बहिष्कृत किये गये। अभी तक मिस्र के शासक नील घाटी से ही सन्तुष्ट रहते थे लेकिन विदेशी आधिपत्य से मुक्ति एवं हिक्सॉस पर सफलता पाने के बाद उनकी लालसा बढ़ गई। हिक्सॉस जैसे बर्बर आक्रमणकारियों को पराजित करने में उन्हें एक अति सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित सेना का संगठन करना पड़ा था। बाद में इसका उपयोग साम्राज्य-विस्तार में किया गया। अहमोस प्रथम तो विदेशी आधिपत्य से मुक्ति प्राप्त करने में ही व्यस्त रहा लेकिन उसके उत्तराधिकारी आमेनहोतेप प्रथम (Amenhotep I) ने इस दिशा में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। इसके समय में नूबिया, लीडिया तथा सीरिया पर सफल आक्रमण किये गये। विजय के साथ-साथ युद्ध से संत्रस्त मिस्री जन-जीवन को सुव्यवस्थित करने में भी इसे विशेष सफलता मिली थी। इसकी मृत्यु के बाद लोगों ने कहा था कि महाराज सुख एवं शान्ति का जीवन बिताकर सूर्य से मिलने स्वर्ग गये। आमेनहोतेप प्रथम के बाद उत्तराधिकार थुत्मोस प्रथम (Thutmos I) को मिला। इसका सम्बन्ध शासकीयवंश से नहीं था। इसके समय में सीरिया पर आक्रमण कर सागर के किनारे से कार्शेमिश तक के भू-भाग पर अधिकार स्थापित किया गया। इसका उद्देश्य भावी आक्रमण की सम्भावनाओं को दूर रखना था।

थुत्मोस प्रथम के बाद राज्य के उत्तराधिकार के लिए कुछ संकट उत्पन्न होने की सम्भावना थी। थुत्मोस प्रथम की प्रधान रानी से, जिसका सम्बन्ध थीब्ज के शाही परिवार से था, चार सन्तानें (दो पुत्र तथा दो पुत्री) उत्पन्न हुईं थीं जिनमें केवल एक पुत्री हतशेपसुत को छोड़कर शेष तीन कालकवलित हो चुकी थीं। थुत्मोस प्रथम की एक अन्य रानी मत्नोफ्रेत (Matnofret) तथा एक अन्य संदिग्ध रखैल से एक-एक पुत्र थे जो क्रमशः थुत्मोस द्वितीय एवं थुत्मोस तृतीय के नाम से जाने जाते थे। अतः उत्तराधिकारी के निर्णय का गम्भीर प्रश्न था। जनमत हतशेपसुत के पक्ष में था। थुत्मोस प्रथम ने अपने शासन काल में ही हतशेपसुत को शासकीय तथा सैनिकीय कार्यों में दक्ष बना दिया था। हतशेपसुत को थुत्मोस प्रथम के बाद कब उत्तराधिकार मिला ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है। शासकीय नामावलि में उसका संकेत भी नहीं मिलता। शासन-क्रम की अस्पष्टता जब समाप्त हो जाती है तो हम थुत्मोस तृतीय को सिंहासनस्थ प्राप्त करते हैं। वास्तव में थुत्मोस प्रथम के शासनकाल में हतशेपसुत के सह-शासिका नियुक्त किये जाने पर भी शायद आमोन के पुजारियों की सहायता से थुत्मोस तृतीय ने राज्य-ग्रहण कर लिया था। इसका विवाह हतशेपसुत के साथ हो गया था। इस तरह यह हतशेपसुत के पति रूप में राज्य का वास्तविक दावेदार भी था। पहले तो इसने हतशेपसुत को कोई अधिकार न दिया लेकिन जब थीब्ज के शाही परिवार का इस पर दबाव पड़ा तो इसने महारानी को सह-शासिका नियुक्त कर दिया। लेकिन धीरे-धीरे मातृपक्ष के सहयोग के कारण तथा अपने व्यक्तित्व के

कारण हतशेपसुत ही मुख्य शासिका बन गई तथा थुत्मोसतृतीय का व्यक्तित्व धूमिल पड़ गया।

इसी बीच हमें थुत्मोस द्वितीय के विषय में भी सूचनाएँ मिलने लगती हैं। आन्तरिक संघर्षों से लाभ उठाते हुए अथवा भाग्य की कृपा से अन्त में थुत्मोस द्वितीय ने थुत्मोस तृतीय एवं उसकी साम्राज्ञी हतशेपसुत को सिंहासन छोड़ने के लिए बाध्य कर स्वयं राजपद प्राप्त कर लिया। अभी तक वृद्ध थुत्मोस प्रथम जीवित था। पिता-पुत्र दोनों ने मिलकर जहाँ कहीं भी हतशेपसुत का नाम मिला उसे उड़ा दिया। इस आन्तरिक संघर्ष की सूचना नूबिया तक पहुँच गयी और जिस दिन ही थुत्मोस द्वितीय ने राज्य-ग्रहण किया उसी दिन वहाँ विद्रोह हो गया। थुत्मोस द्वितीय के लिए राजधानी छोड़ना उचित नहीं था अतः उसने विद्रोहियों को दबाने के लिए एक सेना भेजी। इसमें मिस्री सैनिक सफल रहे। एशियाई विद्रोहियों को दबाने के लिए वह स्वयं बढ़ा था। लेकिन अल्पकालीन सफल शासन के बाद थुत्मोस द्वितीय चित्रपट से हट जाता है तथा राजसत्ता पदच्युत थुत्मोस तृतीय के हाथ में पुनः आ जाती है। उसने पुनः हतशेपसुत को सह-शासिका नियुक्त किया। लेकिन मातृपक्ष के समर्थन से पुनः हतशेपसुत ही मुख्य शासिका बन गई तथा थुत्मोस तृतीय का व्यक्तित्व दब गया। हतशेपसुत ने मिस्री परम्परा के अनुसार शासक का पद ग्रहण किया। उसने अपने को पुरुषोचित वेशभूषा से समलंकृत किया तथा 'सूर्यपुत्र' की उपाधि धारण की। इसके समय में मिस्र में व्यापार और वाणिज्य की पर्याप्त उन्नति हुई। कार्नाक के सूच्याकार स्तम्भ तथा अन्य अनेक मन्दिर इसी के शासन काल में बनवाये गये तथा पुण्ट के विरुद्ध एक सैनिक अभियान में भी सफलता प्राप्त की गई।

हतशेपसुत के बाद उत्तराधिकार पुनः थुत्मोस तृतीय को मिला। इसके समय में विरोधी शक्तियाँ फिर सिर उठाने लगी थीं लेकिन इसने उनका सफलतापूर्वक दमन किया। अभी मेगिद्दो (Megiddo) तथा कादेश के शासक आक्रमण की तैयारियाँ ही कर रहे थे कि थुत्मोस तृतीय ने एक बड़ी सेना लेकर उन पर चढ़ाई कर दी। यहाँ सफलता प्राप्त करने के बाद पश्चिम एशिया के अन्य भागों पर अधिकार करता हुआ तथा प्रत्येक भाग से नज़राने लेता हुआ वह थीब्ज वापस आया। कहा जाता है कि अपने शासन काल में थुत्मोस तृतीय ने एक-एक करके कुल पन्द्रह सैनिक अभियान किया जिसके फलस्वरूप इस दुर्विजयी शासक ने समस्त भू-मध्यसागरीय क्षेत्र पर अपनी विजय पताका फहरायी। विजित प्रान्तों में मिस्री सैनिक रखे गये तथा उन्हें मिस्री साम्राज्य का स्थायी अंग बना लिया गया। सामरिक सफलताओं के साथ-साथ थुत्मोस तृतीय का काल मिस्र के इतिहास में समृद्धि एवं सम्पन्नता का युग भी माना जा सकता है। इसकी समृद्धि का अनुमान हम इसी से लगा सकते हैं कि एक बार एक राजकीय कोष में 4086 किलोग्राम के बराबर सुवर्ण तथा चाँदी तौली गई थी। थुत्मोस तृतीय का काल मिस्र में निर्माणात्मक दृष्टि से भी प्रसिद्ध है। कार्नाक के मन्दिर में नये भवन तथा थीब्ज एवं हेलियोपो-

लिस में सूच्याकार स्तम्भ बनवाये गये। थुत्मोस तृतीय की सफलताओं के फलस्वरूप मिस्र निकट पूर्व की सबसे बड़ी शक्ति के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

थुत्मोस तृतीय के बाद उत्तराधिकार क्रमशः आमेनहोतेप द्वितीय (Amenhotep II, 1448-1420 B. C.), थुत्मोस चतुर्थ (1420-1411 B. C.), आमेनहोतेप तृतीय (1411-1375 B. C.) तथा आमेनहोतेप चतुर्थ (1375-1358 B. C.), सेकेरे (Sekere), तूतेनकामेन (Tutenkhamen) तथा आई (Eye) ने अठारहवें राजवंश में राज्य किया। इनमें प्रारम्भिक तीन शासकों का काल मिस्र में राजनीतिक एवं आर्थिक सफलता का काल माना जा सकता है। इन शासकों के शासन काल में सूडान, लीबिया, फिलिस्तीन, लेबनान, सीरिया, मेसोपोटामिया, साइप्रस तथा क्रीट के लोग सम्राट् को उपहार प्रदान करने आते थे। इस काल में थीव्ज की प्रतिष्ठा इतनी अधिक बढ़ गई थी कि उसे तत्कालीन विश्व का सबसे सुन्दर एवं समृद्ध नगर स्वीकार कर लिया गया था। किन्तु अगले उत्तराधिकारियों का समय मिस्र के इतिहास में किसी प्रकार की प्रगति का सूचक नहीं माना जा सकता।

आमेनहोतेप तृतीय के बाद उत्तराधिकार आमेनहोतेप चतुर्थ को मिला। दुर्भाग्य से सर्वप्रथम मिस्र को एक शासक की अपेक्षा दार्शनिक एवं कवि मिला जिसने राजदण्ड एक ओर रखकर विश्व इतिहास में सर्वप्रथम धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ किया। तत्कालीन विद्यमान बहुदेववाद, पुरोहितवाद तथा कर्मकाण्ड को देखकर इसका मन विक्षुब्ध हो गया। इसके मन में इसमें सुधार लाने की इच्छा जागृत हुई। अतः प्राचीन देवी-देवताओं को समाप्त कर उनके स्थान पर नवीन देवता 'आतोन' (Aton) की स्थापना की गई। आमेनहोतेप चतुर्थ की धर्मनिष्ठा तथा शासन-संगठन के प्रति उदासीनता का लाभ विद्रोहियों को मिला। अवसर पाकर हित्तियों ने अन्य पड़ोसियों के साथ मिल कर मिस्र के अधीन पश्चिमी एशियाई राज्यों पर आक्रमण कर दिया। मिस्री गवर्नर ने जब मिस्री शासक के पास सहायता की याचना की तो उसने उस ओर ध्यान ही नहीं दिया। वास्तव में आमेनहोतेप इतनी दूर मिस्री सैनिकों को भेजकर उनके प्राण संकट में नहीं डालना चाहता था। जब अधीनस्थ राज्यों ने देखा कि उनका शासक एक सन्त एवं कवि हृदय है तो उन्होंने अधीनता का जुआ उतार कर गवर्नरों को बहिष्कृत कर स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। धीरे-धीरे मिस्र एक विशाल साम्राज्य से सिकुड़ते-सिकुड़ते एक छोटा-सा राज्य रह गया। आतोन का उपासक अधिक दिन तक अपने देवता की उपासना भी न कर सका और अन्त में तीस वर्ष की आयु में इस संसार से विदा ले लिया।

आमेनहोतेप चतुर्थ के शासन काल में ही साकेरे नामक व्यक्ति को उत्तराधिकारी घोषित कर दिया गया था लेकिन राजनीतिक विशृंखलता के वातावरण में साकेरे के लिए राज्य-भार संभाल पाना कठिन था। अतः एक अत्यल्प शासन के बाद वह मिस्री इतिहास से हट जाता है तथा उसके स्थान पर आमेनहोतेप चतुर्थ के पुत्र एवं दामाद तूतेनकामेन को सिंहासन मिलता है। वह आमेनहोतेप तृतीय की किसी रखैल

का पुत्र था। सिंहासन ग्रहण करने के बाद उसका भी ध्यान पिता के समान धर्म की ओर गया। उसने अनुभव किया कि पिता द्वारा चलाये गये धर्म पर चलने से प्रतिष्ठा नहीं मिल सकती, अतः उसने पुनः प्राचीन देवी-देवताओं को प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयत्न किया। उसकी भी अन्य उपलब्धियाँ प्रायः नगण्य रहीं। उसके बाद उसकी विधवा रानी इन्खोस्नेपाटन (Enkhosnepaaton) सम्भवतः उत्तराधिकार प्राप्त करना चाहती थी और इसी आशय से उसने हित्ती शासक सुप्पिलुल्युमस के पास निवेदन भेजा था कि शासक अपने पुत्रों में से किसी एक को उसके पति के रूप में भेज दे। इस पत्र की वास्तविकता का पता लगाने के लिए हित्ती शासक ने पहले एक दूत तथा बाद में अपने एक पुत्र को भेजा था लेकिन उनके मिस्र पहुँचने के पूर्व ही वहाँ षड्यन्त्र किया जा चुका था अतः मार्ग में ही उनका सफाया कर दिया गया। इसी बीच विधवा रानी भी इतिहास से हट जाती है तथा उत्तराधिकार आई नामक पुरोहित ग्रहण कर लेता है। किन्तु षड्यन्त्रकारी भी अधिक दिन तक शासन न कर सका। इसका भी अन्त हो गया तथा मिस्र में उन्नीसवें राजवंश की स्थापना की गई।

उन्नीसवें राजवंश का वास्तविक संस्थापक कौन था ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है। वास्तव में मिस्र को अठारहवें राजवंश के अंतिम दिनों में बहुत कुछ व्यवस्थित करने का कार्य हर्महाब (Hermhab, 1350-1315 B. C.) नामक एक व्यक्ति ने किया था। यह आमेनहोतेप चतुर्थ एवं उसकें उत्तराधिकारियों के समय से ही विभिन्न पदों पर कार्य करने के कारण पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुका था। तूतेनकामेन, उसकी विधवा रानी तथा आई के शासनकाल में जब मिस्र की स्थिति बहुत बिगड़ गई तो प्रशासन का उत्तरदायित्व इसी ने ग्रहण कर उसमें बहुत-सा सुधार किया। वास्तव में अठारहवें राजवंश की स्थापना के लिए पृष्ठभूमि इसी द्वारा बनाई गई थी इसी लिए ब्रेस्टेड उन्नीसवें राजवंश की गणना हर्महाब से ही करते हैं जबकि मुरे इसे अठारहवें राजवंश के अन्तर्गत ही मानते हैं। हर्महाब का सम्बन्ध जिस भी राजवंश से रहा हो निस्संदेह इसका शासनकाल मिस्री इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। हर्महाब के बाद अत्यल्प काल के लिए उत्तराधिकार रैमिसीज प्रथम (Rameses I, 1315-1314 B. C.) को मिला। यह कहना कठिन है कि दोनों में क्या सम्बन्ध था। राज्य-ग्रहण के समय रैमिसीज प्रथम वृद्ध हो चुका था अतः शासन संभालने में असमर्थ होने के कारण उसने अपने पुत्र सेती प्रथम (Seti I, 1313-1292 B. C.) को सह-राजप नियुक्त किया जिसने थोड़े समय तक पिता के साथ शासन करने के बाद अन्ततः स्वतंत्र रूप से सिंहासन ग्रहण किया। सेती प्रथम को हित्तियों के विरुद्ध अभियान में सफलता मिली थी। कार्नाक के विशाल भवन इसी समय बनाये गये थे। सेती प्रथम के बाद उत्तराधिकार रैमिसीज द्वितीय (1292-1225 ई० पू०) को मिला। रैमिसीज द्वितीय शायद मिस्र का अन्तिम महान् शासक था। विल ड्यूरैण्ट तो यहाँ तक कहते

हैं कि इतना विलक्षण शासक शायद ही कभी गद्दी पर बैठा हो।[1] रैमिसीज द्वितीय ने साम्राज्य-संगठन एवं उसकी सुव्यवस्था के लिये महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इसके संरक्षण में मिस्र की सेनाएँ पुनः फ़रात के तट पर विजयघोष करने लगीं। हित्ती पुनः उपद्रव खड़ा करना चाहते थे लेकिन उनके दर्प को चूर्ण करने के लिए रैमिसीज द्वितीय ने जिस लम्बे युद्ध की शुरुआत की यद्यपि उसमें प्रारम्भ में वह सफल न रहा किन्तु बाद में दोनों देशों में एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक संधि (1269 ई० पू०) हुई थी। कहा जाता है कि उसने हित्ती राजकुमारी से विवाह भी किया था। एक विजेता एवं प्रशासक के साथ-साथ रैमिसीज द्वितीय मिस्री इतिहास में अपने रचनात्मक गुणों एवं व्यसन के लिए भी प्रसिद्ध है। कार्नाक मंदिर का मुख्य कक्ष इसी के समय में पूर्ण किया गया था। इसके अतिरिक्त लक्जोर मंदिर के विस्तार तथा आबू सिम्बेल (Abu Simbel) के प्रसिद्ध गुहा-मन्दिर के निर्माण को पूर्ण करने का श्रेय भी इसी को दिया जा सकता है। इसके समय में नील को लालसागर से एक नई नहर द्वारा मिलाया गया था जो इसकी मृत्यु के उपरान्त बालू भर जाने के कारण बन्द हो गई थी। रैमिसीज द्वितीय के अन्तःपुर में शताधिक रानियाँ थीं। कहा जाता है कि उसकी मृत्यु के बाद शोक मनाने के लिए उसके परिवार में रानियों के अतिरिक्त सौ पुत्र और पचास पुत्रियाँ भी थीं। मिस्र के इस ख्यातिलब्ध शासक की मृत्यु 1225 ई० पू० में हुई। इसके बाद मेर्नेप्टाः (Merneptah, 1225-1215, B. C.), आमेनमिसीज (Amenmeses), सिप्ताः (Siptah, 1215-1209 B. C.) तथा सेती द्वितीय (1209-1205 ई० पू०) ने राज्य किया। लेकिन इनका कोई विशेष योगदान नहीं दिखाई पड़ता। सेती द्वितीय के साथ मिस्र के उन्नीसवें राजवंश का अन्त हो गया तथा राजसत्ता बीसवें राजवंश के हाथ चली गई।

बीसवें राजवंश (1200-1090 ई० पू०) का संस्थापक मनेथो की सूची के अनुसार सेतनख्त (Setnakht, 1200-1198 B. C.) था। इसका शासनकाल इतना कम था कि मिस्र के इतिहास में राजवंश की स्थापना के अतिरिक्त यह कुछ न कर सका। इसके अनन्तर उत्तराधिकार रैमिसीज तृतीय (1198-1167 ई० पू०) को मिला। कुछ विद्वान् तो बीसवें राजवंश का संस्थापक रैमिसीज तृतीय को ही स्वीकार करते हैं। उन्नीसवें राजवंश की पतनोन्मुखी परिस्थिति से लाभ उठाते हुए विदेशी शत्रु उठने लगे थे। लेकिन रैमिसीज तृतीय के सामने उनकी एक न चली। विद्रोहियों को दबाने तथा आक्रमणकारियों को खदेड़ने में रैमिसीज तृतीय पूर्णतया सफल रहा। पर जैसे ही इस मिस्री फेराओ ने आँख मूँदी मिस्र का अधःपतन शुरू हो गया। इसे फिर कभी रोका न जा सका। बारहवीं शती ई० पू० के मध्य काल तक एशियाई साम्राज्य केवल अतीत की कहानी के रूप में स्मरण किया जाने लगा। रैमिसीज तृतीय के बाद बीसवें राजवंश में क्रमशः रैमिसीज चतुर्थ (1167-1161 ई० पू०),

---

[1] Will Durant,, The Story of Civilization, Vol. I., p. 213

रैंमिसीज पंचम (1161-1157 ई० पू०), रैंमिसीज षष्ठ, रैंमिसीज सप्तम् तथा रैंमिसीज अष्ठम् (सभी ने कुल मिलाकर पन्द्रह वर्ष–1157-1142 ई० पू०), रैंमिसीज नवम् (1142-1123 ई० पू०), रैंमिसीज दशम् (1123-1121 ई० पू०), रैंमिसीज एकादश (1121-1118 ई० पू०), रैंमिसीज द्वादश (1118-1090 ई० पू०) ने शासन किया। इनके समय में मिस्र में कोई राजनीतिक उपलब्धि न हो सकी। इनके समय के ऐतिहासिक लेख नहीं मिलते। रैंमिसीज नामधारी इन शासकों की स्मृति केवल थीब्ज में बने शानदार स्मारकों में सुरक्षित है। राजवंश के मध्यकाल में आमोन के पुजारियों का महत्त्व बहुत बढ़ गया था। इसका कारण उत्तराधिकारिणी राजकुमारियों द्वारा उनके साथ विवाह करना था। धीरे-धीरे राजसत्ता पुरोहितों के अधिकार में जाने लगी। इसी लिए जब अन्तिम रैंमिसीज द्वादश की मृत्यु हुई तो आमोन का उच्च पुजारी मिस्र का शासक बन गया। इसके बाद यहाँ इक्कीसवें राजवंश की स्थापना हुई।

इक्कीसवें राजवंश का संस्थापक नेसुवेनेब्देद (Nesubenebded, 1090-1085 B. C.) था। इसके बाद लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक क्रमशः पेसिब्खेन्नो प्रथम (Pesibkhenno I, 1085-1067 B. C.), पेनोजेम प्रथग (Paynozem I, 1067-1026 B. C.), आमेनेमोपेत (Amenemopet, 1026-976 B. C.), सियामन (Siamon, 976-958 B. C.) तथा पेसिब्खेन्नो द्वितीय (958-945 ई० पू०) ने शासन किया। लेकिन इस वंश के शासक भी मिस्र को अधःपतन से न बचा पाये। दशवीं शती ई० पू० के मध्य काल में मिस्र पर लीबियनों का अधिकार हो गया जिनका प्रभुत्व लगभग 712 ई० पू० तक विद्यमान रहा। इस अवधि में यहाँ बाईसवें, तेईसवें एवं चौबीसवें राजवंशों के विषय में सूचनाएँ मिलती हैं। बाईसवें राजवंश का संस्थापक शेशोंक प्रथम (Sheshonk I, 945-924 B. C.) था। इसे बाइबिल में शिशक (Shishak) कहा गया है। इसमें इसके जेरुसलम प्रयाण एवं उसके अधिग्रहण का रोमांचकारी उल्लेख मिलता है।[1] शेशोंक प्रथम के बाद क्रमशः ओसोरकोन प्रथम (Osorkon I, 924-895 B. C.), तेकलोत प्रथम (Takelot I, 895-874 B. C.), ओसोरकोन द्वितीय (874-853 ई० पू०) शेशोंक द्वितीय, तेकलोत द्वितीय (860-834 ई० पू०), शेशोंक तृतीय (834-784 ई० पू०), पेमाऊ (Pemou, 784-782 B. C.) तथा शेशोंक चतुर्थ (782-745 ई० पू०) ने शासन किया लेकिन इनका कार्यकाल किसी भी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। मिस्र साम्राज्य धीरे-धीरे संकुचित होते-होते अन्त में एक साम्राज्य की स्थिति खोकर केवल एक छोटे राज्य के रूप में रह गया। बाईसवें राजवंश के बाद तेईसवें राजवंश की स्थापना पेदीबास्त (Pedibast, 745-721 B. C.) ने की। इस राजवंश के दो अन्य शासकों ओसोरकोन तृतीय तथा तेकलोत तृतीय के नाम मिलते

---

[1] Bible, 2 Chronicles, 12, 2–9

हैं। चौबीसवें राजवंश के केवल बेक्नेरनेफ (Bekneranef, 718-712 B. C.) के विषय में हमें ज्ञान है। चौबीसवें राजवंश की समाप्ति के बाद मिस्र में पच्चीसवें राजवंश की स्थापना हुई। इसका संस्थापक सैबेका (Sabaka, 712-700 B. C.) था। इस राजवंश के दो अन्य शासकों – सैबेटेका (Shabataka, 700-688 B. C.) तथा तेहर्का (Taharka, 668-663 B. C.) के नाम मिलते हैं। इसी बीच 712 ई० पू० से 663 ई० पू० तक मिस्र पर इथियोपियनों का अधिकार रहा यद्यपि 670 से 663 ई० पू० तक वे स्वयं असीरियन प्रभुता के अन्तर्गत रहे।

663 ई० पू० में नील के मुहाने के पश्चिमी भाग में स्थित साइस (Sais) नामक स्थान के साम्तिक (Psamtik) नामक एक शासक ने असीरियन प्रभुता का जुआ उतार कर स्वतन्त्रता की स्थापना कर ली। इसका शासन काल 663 ई० पू० से 609 ई० पू० तक माना गया है। छब्बीसवें राजवंश का संस्थापक यही था। इसके बाद इस वंश में क्रमशः नेको (Necho, 609-593 B. C.), साम्तिक द्वितीय (593-588 ई० पू०), होफ्रा (Hophra, 588-569 B. C.) अहमोस द्वितीय (569-525 ई० पू०) तथा साम्तिक तृतीय के विषय में सूचनाएँ मिलती हैं जिसमें अन्तिम ने तो केवल कुछ ही महीने शासन किया। इनमें केवल नेको के समय में ही कुछ सफलता मिली थी। इसके समय में मिस्र फिर एक बार निकट पूर्व को आदरणीय शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। नेको के उत्तराधिकारी अयोग्य सिद्ध हुए। फलतः राजवंश के अन्त तक अर्थात् 525 ई० पू० में मिस्र पारसीकों के अधिकार में चला गया जिनका प्रभुत्व 332 ई० पू० तक बना रहा। इस समय मिस्र में सत्ताईसवें, अट्ठाइसवें, उन्नीसवें एवं तीसवें राजवंशों की स्थापना हुई। 332 ई० पू० में मिस्र पर यूनानी शासक सिकंदर का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

राजनीतिक संगठन

प्राचीन मिस्र में राजनीतिक संगठन का स्वरूप सदा एक-सा न रहा। समय-समय पर आवश्यकतानुसार इसमें परिवर्तन एवं परिवर्द्धन होते रहे। राजनीतिक संगठन का प्राचीनतम रूप प्राग्वंशीय युग से सम्बन्धित है। इस युग में मिस्र कई छोटे-छोटे समूहों में विभाजित था। प्रत्येक समूह का प्रशासन वैयक्तिक था जिसमें स्थानीय शासक का स्थान सर्वोपरि था। शान्ति के समय वह शासक तथा न्यायाधीश और युद्ध के समय वही प्रधान सेनापति था। इसके साथ वही प्रधान कोषाध्यक्ष तथा देवालयाध्यक्ष भी था। आगे चल कर जब प्रशासन सम्बन्धी जिम्मेदारियाँ बढ़ने लगीं उसकी सहायता के लिए सहायक अधिकारियों की नियुक्ति भी की गई। युवराज इस दृष्टि से सर्वप्रथम आगे आए। सम्भवतः इसी लिए उन्होंने 'राजपुत्र' (Son of the king) की उपाधि धारण की। प्राग्वंशीय युग तक कानूनों का विकास नहीं किया गया था। परम्पराएं ही कानून के रूप में प्रतिष्ठित थीं। शासकों के लिए इसका पालन आवश्यक था।

प्राचीन राज्य युग में मिस्र का राजनीतिक संगठन प्राग्वंशीय युग की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित था। इस युग में यह पूर्णतया धर्मतंत्रीय (Theocratic) हो गया। मिस्री शासक सूर्यदेव 'रे' (Re) के प्रतिनिधि स्वीकार कर लिए गए तथा राजाज्ञाओं को देवाज्ञाएँ मान लिया गया। शासक को 'फेराओ' (Pharaoh) की सम्मानित उपाधि दी गयी। फेराओ का शाब्दिक अर्थ 'महाप्रासाद का निवासी' (Dweller of the Great House) था लेकिन काल-क्रम से इसे शासक की परम्परागत उपाधि के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा। प्राचीन राज्य युग में फेराओ ही राज्याध्यक्ष, सर्वोच्च सेनापति, सर्वोच्च पुजारी तथा मुख्य न्यायाधीश था। राजपद वंशानुगत था। शासक का ज्येष्ठ पुत्र अपनी भगिनी से विवाह कर शासन का उत्तराधिकारी हो जाता था। बहन से विवाह करने का मुख्य कारण यह था कि यहाँ उत्तराधिकार माता से सीधे पुत्री को मिल जाता था। सामान्यत: शासक निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी थे लेकिन व्यवहारत: उस पर पुरोहितों, सामन्तों, उच्च पदाधिकारियों तथा साम्राज्ञियों की इच्छाओं तथा राज्य की परम्पराओं का अंकुश था।

यद्यपि अभी भी शासक सर्वोच्च अधिकारी था लेकिन उसकी सहायता के लिए अन्य अधिकारियों की नियुक्ति भी की जाने लगी। इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पद प्रधान मन्त्री का था। प्रधान मन्त्री ही साम्राज्य का प्रधान शिल्पी, न्यायाधीश तथा राज्याभिलेखागार का अध्यक्ष था। इसकी सहायता के लिए बहुसंख्यक लिपिक कार्यरत रहते थे। प्रारम्भ में प्रधानमन्त्री का पद केवल युवराजों को मिलता था किन्तु बाद में इस पद पर अन्य राजपुत्रों तथा सामन्तों को नियुक्त किया जाने लगा। प्रधान मन्त्री के बाद द्वितीय महत्त्वपूर्ण पद मुख्य कोषाध्यक्ष का था। इसकी सहायता के लिए दो सहायक कोषाध्यक्षों की नियुक्ति की जाती थी। मुख्य कोषाध्यक्ष समस्त देश की वित्त-व्यवस्था की देख-भाल करता था जबकि सहायक कोषाध्यक्ष राजप्रासादों, मंदिरों तथा पिरामिडों के निर्माण की देख-रेख रखते थे। प्रशासन की सुविधा के लिए मिस्र देश चालीस प्रान्तों में विभाजित था। इन पर फेराओ द्वारा नियुक्त गवर्नर शासन करते थे। इन्हें 'फर्स्ट अंडर द किंग' (First under the King) के नाम से प्रसिद्धि मिली थी। स्थानीय गवर्नर के अतिरिक्त ये 'न्यायाधीश' (Judge) के नाम से भी प्रसिद्ध थे। प्रान्तीय गवर्नरों के पास व्यक्तिगत रूप से कर-निर्धारक, कर-समाहर्ता तथा अन्य आवश्यक अधिकारी रहते थे। स्थानीय वादों के निर्णय के लिए इनके पास अपने न्यायालय भी होते थे। स्थानीय गवर्नरों को प्रान्तों से कर के रूप में जो धान्य, मधु, पशु तथा दूसरी वस्तुएँ मिलती थीं उसे वे केन्द्रीय कोषागार में भेजते थे। प्रान्तों के शासन के निरीक्षण के लिए निरीक्षक नियुक्त रहते थे लेकिन कभी-कभी शासक स्वयं यात्रा करता था और जहाँ कहीं उसे दोष मिलता था उसे दूर करता था। प्राचीन राज्य युगीन न्याय-व्यवस्था सरल थी। न्यायाधीशों का कोई पृथक् समुदाय नहीं था। नगर के अधिकारी ही न्यायाधीश का कार्य सम्पादित करते थे। ऐसा माना जाता था कि वे परम्पराओं के

ज्ञाता थे। केवल कुछ अपवादों को छोड़कर, जिसमें शासक के पास पुनरावेदन की व्यवस्था थी, शेष मामलों में प्रधानमन्त्री ही मुख्य न्यायाधीश के रूप में कार्य करता था। प्रान्तों के न्यायाधीश छः अदालतों में विभाजित थे। ये भी एक प्रकार के स्थानीय पदाधिकारी थे। इन अदालतों के बाद उच्च न्यायालय तथा उसके बाद शासक के पास निर्णय के लिए मुकदमें आवश्यकता पड़ने पर जाते थे। न्यायालयों की कार्य-प्रणाली सरल थी। अभियुक्त तथा अभियोक्ता दोनों न्यायालय के समक्ष अपने-अपने पक्ष का समर्थन तथा दूसरे के पक्ष का निराकरण करते थे। यह कार्य लिखकर किया जाता था। यहाँ मेसोपोटामिया की भाँति दण्ड-निर्धारण में सामाजिक-स्तर का ध्यान नहीं दिया जाता था। राजपरिवार के सदस्यों पर भी यदि वे अपराध करते थे तो मुकदमा चलाया जाता था। प्राचीन राज्य युग में फेराओ की अपनी कोई स्थायी सेना नहीं थी। प्रान्तों के पास व्यक्तिगत सेना रहती थी जो शान्ति के समय निर्माणात्मक तथा संकट के समय सैनिक का कार्य करती थी। नगर अधिकारियों में से ही किसी को सैनिक अधिकारी बना दिया जाता था।

मध्य राज्य युग सामन्तवाद के विकास की दृष्टि से प्रसिद्ध है। प्राचीन राज्य युगीन प्रान्तपति अब तक अधिक शक्तिशाली हो गये थे। यद्यपि सिद्धान्तरूप में अभी भी वे शासकाधीन थे लेकिन व्यवहार में पूर्णतया स्वतन्त्रता का उपभोग करने लगे थे। इसी लिए बारहवें राजवंशीय शासकों को उनकी शक्ति पर अंकुश रखने के लिए कुछ ठोस कदम उठाना पड़ा था और उन्हें पुनः उस स्थिति में ला दिया गया था जिस स्थिति में उनके पूर्वज थे। इसी आशय से मेम्फिस (Memphis) से केन्द्रीय शासन को हटाकर मध्य मिस्र में इथेट-तावी (Ithet-tawy) नगर में स्थापित किया गया। ऐसा इस लिए किया गया क्योंकि मेम्फिस से दक्षिण के गवर्नरों पर नियंत्रण रखना कठिन हो जाता था। बारहवें राजवंश के शासक प्रान्त के गवर्नरों को प्रधान सेनापति (Commander-in-Chief) मानने लगे। मध्य राज्ययुगीन मिस्री शासक प्राचीन राज्ययुगीन मिस्री शासकों की अपेक्षा दुर्बल माने जा सकते हैं। केवल बारहवें राजवंश को छोड़कर, जब उन्होंने सामन्तों पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया था, शेष समय में उनकी स्थिति सुदृढ़ नहीं थी। लेकिन यहाँ कुछ नियम एवं विधान ऐसे बने थे जिनसे उनका सामन्तों पर कुछ प्रभाव अवश्य बना रहता था। उदाहरणार्थ, सामन्तों के पास दो प्रकार की जागीरें थीं। एक को वे पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त करते थे। दूसरी शासकीय जायदाद थी। इसे वे उत्तराधिकार में तभी प्राप्त कर सकते थे जब उन्हें शासकीय अनुमति मिलती थी। मध्य राज्ययुगीन फेराओ की आय प्राचीन राज्ययुगीन फेराओं की अपेक्षा कम हो गई थी। न केवल सामन्त एवं गवर्नरों से उन्हें कम कर प्राप्त होता था बल्कि धीरे-धीरे उनकी जायदाद भी घटने लगी थी। इसकी पूर्ति नूबिया की सोने तथा विभिन्न क्षेत्रों में फैली कीमती पत्थरों की खदानों से की गई। सामन्तों की शक्ति में वृद्धि तथा फेराओ की शक्ति में तो कमी इस युग में आयी ही इसके साथ-साथ कतिपय अन्य प्रशासनिक परिवर्तन

भी किये गये। प्रधानमन्त्री का पद जो पहले युवराज या किसी अन्य राजपुत्र अथवा सामन्त को मिलता था अब किसी बड़े जागीरदार को मिलने लगा। प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में एक समिति गठित हुई जिसे 'तीस का सदन' (House of Thirty) नाम दिया गया। इसका सम्बन्ध न्याय-व्यवस्था से था। केन्द्र में अभी छः अदालतें (The six Great Houses) अस्तित्व में बनी थीं लेकिन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। स्थानीय गवर्नरों की सेनाओं के साथ-साथ इस युग में मिस्री फेराओ के पास भी व्यक्तिगत सैनिक रहने लगे। इसका सेनापति शासक स्वयं था। यद्यपि सैनिक संख्या में कम रहते थे लेकिन शासक की रक्षा के लिए पर्याप्त थे।

मध्य राज्य युग का अन्त प्रायः उन्हीं कारणों से हुआ था जिन कारणों से प्राचीन राज्य युग का। बारहवें राजवंश के गौरवपूर्ण शासन के बाद सामन्तों तथा जागीरदारों में सत्ता हड़पने के लिए जो पारस्परिक संघर्ष छिड़ा उसका लाभ विदेशी आक्रमणकारी हिक्सॉस को मिला। उनका लगभग दो शतियों तक मिस्र पर प्रभुत्व बना रहा। जब वे बहिष्कृत किये गये और मिस्र में स्वतन्त्रता की स्थापना हुई तो साम्राज्य युग में मिस्रवासियों ने कतिपय आवश्यक परिवर्तन के साथ प्राचीन प्रशासनिक व्यवस्था को ही अपना लिया। फेराओ अभी भी राज्य का सर्वोच्च अधिकारी था लेकिन उसकी कुछ शक्ति मन्त्री को मिल गई थी। वस्तुतः इसका मूल कारण यह था कि शासक अकेले विस्तृत साम्राज्य के प्रशासन का उत्तरदायित्व वहन कर सकने में समर्थ नहीं था। अठारहवें राजवंशीय शासकों ने एक के स्थान पर दो मन्त्रियों की नियुक्ति की। इसमें एक हेलियोपोलिस को कार्यालय बनाकर उत्तरी मिस्र की निगरानी रखता था और दूसरा शासक के साथ थीब्ज में ही रह कर दक्षिणी मिस्र की देख-भाल करता था। शासक के सन्निकट रहने के कारण दक्षिण मिस्र के मन्त्री की प्रतिष्ठा अधिक थी।

साम्राज्य युग में लगभग समस्त न्यायाधिकार मन्त्री के हाथ में आ गये थे। इसी के न्यायालय में सभी मुकदमें निर्णय के लिए आते थे। मंत्री के न्यायालय के अतिरिक्त स्थानीय न्यायालय भी थे जहाँ स्थानीय अधिकारी न्यायाधीश के रूप में कार्य करते थे। स्थानीय न्यायालयों में मंत्री के प्रतिनिधि भी जाते थे। वाद के निर्णय के लिए किस विधान का अवलम्बन लिया जाता था ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है। लेकिन हम इतना जानते हैं कि पहले की अपेक्षा न्यायालय की कार्य-प्रणाली विकसित थी। साक्ष्य की सत्यता की आवश्यक रूप से परीक्षा की जाती थी। वादी को अपने पक्ष के समर्थन की सत्यता की शपथ खानी पड़ती थी और यदि वह झूठी सिद्ध हो जाती थी तो उसे दण्ड दिया जाता था। दण्ड-विधान एवं दण्ड-प्रक्रिया दोनों अमानवी थीं। यहाँ सामान्य दण्ड में भी सौ कोड़े लगाये जाते थे। राज्यापराध में अपराधी को मकर के संमुख खाने के लिए छोड़ दिया जाता था। अभिशस्त अपराधी को आत्महत्या की छूट दे दी जाती थी। बहुत से अपराधियों को जिनके नाक-कान काट लिये जाते थे,

सीमा-प्रान्तों में स्थित उपनिवेशों में कार्य करने के लिए बाध्य किया जाता था। चोरी के अपराध में चोर को चुराई गई वस्तु का दूना मूल्य देना पड़ता था।

प्राचीन राज्य युग एवं मध्य राज्य युग की अपेक्षा साम्राज्ययुगीन सैनिक संगठन उत्तम था। हिक्सॉस आधिपत्य से यदि मिस्रवासियों ने कुछ खोया था तो कुछ प्राप्त भी किया था। इस युग में मिस्रवासी अश्वचालित रथों के उपयोग तथा आक्रमणात्मक युद्धों की तकनीक से परिचित हो गये थे। इसका उपयोग उन्होंने स्वयं हिक्सॉस विरोधी आन्दोलन में किया। साम्राज्य युग में मिस्री शासक एक विशाल एवं स्थायी सेना के स्वामी बन गये। सेना का महत्त्व इतना अधिक बढ़ गया कि राजपुत्र तथा प्राचीन सामन्त नगर पदाधिकारी की अपेक्षा सेनापति बनना अधिक उचित समझने लगे।

सामाजिक संगठन

राजनीतिक संगठन की भाँति मिस्री सामाजिक संगठन भी अस्थिर दिखायी पड़ता है। यहाँ कभी भी कठोर वर्गभेद का विकास न हो सका। विधानतः यहाँ समाज का प्रत्येक सदस्य समान था। सामाजिक संगठन पर आर्थिक गठन का प्रभाव अवश्य पड़ा था लेकिन इसका किसी व्यक्ति के सामाजिक स्तर-निर्धारण से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। केवल शासकीय वर्ग को छोड़कर शेष सभी को अपने सामाजिक स्तर से आगे बढ़ने की छूट मिली थी। लेकिन किसी ऐसे समाज में, जो कृषि, वाणिज्य तथा उद्योग पर आधारित हो, राजनीतिक तथा सामाजिक एकता स्थापित करना कठिन हो जाता है। यहाँ सामन्त एवं पुरोहित बराबर शक्ति एवं संख्या में बढ़ते गए। प्राचीन मिस्री समाज मोटे तौर पर उच्च, मध्यम तथा निम्न तीन वर्गों में विभाजित था। उच्च वर्ग के अन्तर्गत आभिजात्य, सामन्त, जागीरदार तथा पुरोहित थे। मध्यम वर्ग के अन्तर्गत सुमेरिया एवं बैबिलोनिया की भाँति कृषक, शिल्पी, लिपिक, व्यापारी तथा औद्योगिक प्रतिष्ठानों के स्वामी सम्मिलित थे। तृतीय वर्ग के अन्तर्गत सर्फ थे। साम्राज्य काल में सैनिकों तथा दासों का दो और वर्ग अस्तित्व में आ गया था। लेकिन दासों को धीरे-धीरे राजकीय खदानों तथा मंदिरों में काम करने के लिए बाध्य किया गया तथा वे शासकीय सेना एवं शासकीय सेवा में लगा लिये गये जिससे स्वतंत्र वर्ग के रूप में उनका अस्तित्व समाप्त हो गया। समाज में विभिन्न वर्गों की स्थिति सदा एक सी न रह सकी। उदाहरणार्थ, प्राचीन राज्य युग में शासक के बाद सर्वाधिक प्रतिष्ठा सामन्तों एवं पुरोहितों को मिली थी लेकिन मध्य राज्य युग में मध्यम वर्ग के सदस्यों को भी बहुत-सी सरकारी सुविधाएँ मिलने लगी थीं। साम्राज्य युग में इस वर्ग को और अधिक आगे बढ़ने का अवसर मिला। स्थानीय प्रशासन में कार्य करने वाले बहुत से कर्मचारी इस वर्ग में से भी नियुक्त किये जाने लगे। इस तरह राजपुरुषों का एक नवीन वर्ग अस्तित्व में आ गया जिसमें प्राचीन सामन्त के साथ साथ मध्यम वर्ग के सदस्य भी सम्मिलित थे। अठारहवें राजवंश के

एक अधिकारी के जनगणना-प्रतिवेदन में मिस्री जनता सैनिक, पुरोहित, शिल्पी तथा राजकीय सर्फ चार वर्गों में विभाजित मिलती है। निस्संदेह इसमें सैनिक के अन्तर्गत राजपुरुष एवं मध्यम वर्ग के सदस्यों को गिन लिया गया है।

मिस्री सामाजिक गठन में उच्च एवं निम्नवर्ग के जीवन-स्तर में पर्याप्त अन्तर था। उच्च वर्ग के सदस्य शानदार भवनों में रहते थे और उनका जीवन सुखमय था जबकि निम्नवर्ग के सदस्य घुटन की जिन्दगी व्यतीत कर रहे थे। उनके पास न रहने के लिए घर थे न पहनने के लिए अच्छे कपड़े। एक ओर धनी शाही भवनों में रहते हुए, सुवर्ण, रजत तथा सिलखड़ी के शानदार बर्तनों में विभिन्न प्रकार के मांस, मुरगा-मुरगी, फल, मदिरा एवं मिष्ठान्न का स्वाद लेते थे तो दूसरी ओर निर्धन टूटे-फूटे मिट्टी के बर्तनों में किसी प्रकार अपना पेट भर रहे थे।

पारिवारिक गठन एवं स्त्रियों की स्थिति

मिस्री सामाजिक गठन कौटुम्बिक था। विधान के अनुसार यहाँ एक विवाह की प्रथा थी। कोई व्यक्ति यहाँ तक कि शासक भी एक से अधिक वैध पत्नी नहीं रख सकता था लेकिन समृद्ध वर्ग में कई उपपत्नियों के रखने की प्रथा थी। मिस्री समाज में स्त्रियों को विशेष प्रतिष्ठा मिली थी। मैक्समूलर तो यहाँ तक कहते हैं कि स्त्रियों को जितना वैधानिक अधिकार नील घाटी के निवासियों ने दिया था उतना किसी प्राचीन अथवा वर्तमान देश के निवासियों ने नहीं दिया। डिओडोरस ने लिखा है कि नील घाटी के निवासियों को विवाह के पूर्व यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वे स्त्री की बात मानेंगे। प्राचीन यूनानी जब मिस्री स्त्रियों की स्वतन्त्रता से परिचित हुए तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा क्योंकि वे अपनी स्त्रियों को बंधन में रखने के आदी थे। बाद के पतनोन्मुखी राजवंशों के समय के पहले मिस्र में सामान्यतः तलाक का प्रचलन नहीं था। केवल व्यभिचार के अपराध में स्त्रियों को तलाक दिया जा सकता था। अन्य कारणों से तलाक देने पर पत्नी को पारिवारिक सम्पदा का एक निश्चित भाग देना पड़ता था। स्त्रियों को माता से सीधे उत्तराधिकार मिल जाता था। पति सम्पत्ति का अधिकारी तभी तक होता था जब तक उसकी स्त्री जीवित रहती थी। स्त्री की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार उसकी पुत्री को मिल जाता था और उसी के माध्यम से उसका पति सम्पत्ति का स्वामी बनता था। स्त्री की मृत्यु के बाद शासक को उत्तराधिकारी बने रहने के लिए अपनी पुत्री से विवाह करना पड़ता था। इसलिए सगोत्रता एवं अवस्था दोनों को ध्यान में न रखते हुए यहाँ भाई-बहन तथा पिता-पुत्री के बीच वैवाहिक सम्बन्ध प्रचलित था। उत्तराधिकार सम्बन्धी इस विशेषाधिकार से यहाँ स्त्रियों की प्रतिष्ठा और अधिक बढ़ गई थी। यहाँ से प्राप्त स्मारक चित्रों में स्त्रियों को पुरुषों के साथ सार्वजनिक स्थलों पर विचरण करते हुए, समारोहों में भाग लेते हुए तथा उद्योगों में हिस्सा बँटाते हुए चित्रित किया गया है। ऐसा पता लगता है कि यहाँ प्रणय-व्यापार में सबसे पहले स्त्रियाँ ही अगुवाई करती

थीं। यहाँ से जो प्रेम सम्बन्धी कविताएँ मिली हैं उनमें अधिकांशतः स्त्रियों द्वारा पुरुषों को सम्बोधित किया गया है।

प्राचीन मिस्रवासी अत्यन्त नैतिक थे। व्यभिचारी स्त्री को तलाक दिया जाता था। भ्रूणहत्या प्रायः नहीं की जाती थी। डिओडोरस ने लिखा है कि जो माता-पिता शिशु-हत्या करते थे उन्हें तीन दिन तक मृत शिशु के सिर को अपनी गोद में लिये रहना पड़ता था। मिस्रवासियों के नैतिक मापदण्ड हमसे भिन्न थे। प्रणय सम्बन्धी बातचीत करने में उन्हे तनिक भी संकोच नहीं होता था। वे मंदिरों को अत्यन्त कामुक चित्रों से सजाते थे तथा मृतकों की समाधियों पर अत्यन्त अश्लील साहित्य एवं उद्भृत चित्र उत्कीर्ण करते थे। गायिकाओं एवं नर्तकियों को यहाँ विशेष महत्त्व मिला था। वे अत्यन्त पारदर्शी वस्त्र पहनती थीं। उनका कार्य मनोरंजन एवं शारीरिक सुख देना था।

शिक्षा

शिक्षा की ओर प्राचीन मिस्रवासी विशेष सजग थे। चार वर्ष की अवस्था से बालकों की विद्यालयीय शिक्षा प्रारम्भ हो जाती थी। प्रारम्भिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में लेखन, पाठन तथा गणित का समाहार था। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालक को लिपिक, पुरोहित तथा वास्तुविद् बनाना था। प्रत्येक राजकीय विभाग के निजी विद्यालय थे जहाँ सम्बन्धित विभाग के अधिकारी अपने बालकों को विभागीय शिक्षा देते थे। एक विभाग से सम्बन्धित बालक दूसरे विभाग के विद्यालय में भी जाकर शिक्षा ग्रहण कर सकता था। सामान्य नागरिकों के लिए कोषागार से सम्बद्ध राजकीय विद्यालय थे जबकि शासकीय बालकों को व्यक्तिगत शिक्षा की व्यवस्था थी। इसे राजप्रासाद में सम्पन्न किया जाता था। शिक्षा की महत्ता पर जोर देते हुए एक पेपाइरस पत्र में उल्लेख मिलता है कि अत्यन्त लगनपूर्वक अध्ययन करना चाहिए तथा मातृवत् शिक्षा से प्रेम करना चाहिए। अन्यत्र कहा गया है कि सैनिक होना दुर्भाग्य है तथा भूमि की जुताई करना कष्टसाध्य कार्य है। आनन्द तो रात-दिन पुस्तकों को पढ़ने में ही मिलता है। शिक्षण में दण्ड आवश्यक था। एक अध्यापक कहता है कि विद्यार्थियों के कान पीठ पर होते हैं इसलिए जब वह पीटा जाता है तभी सुनता है। एक विद्यार्थी शिक्षक से कहता है कि आप मुझे पीठ पर पीटते हैं इसी लिए शिक्षाएँ मेरे मस्तिष्क में बैठ गई हैं।

वस्त्र एवं अलंकरण

प्राचीन मिस्रवासी विविध प्रकार के परिधान एवं आभूषण धारण करते थे। कुछ वस्त्रों में तो उनका अर्द्ध शरीर ही आवृत हो पाता था। सामान्यतः दश वर्ष से कम के बच्चे नग्न ही रहते थे। वे केवल कान तथा कण्ठ में आभूषण पहनते थे। बालिकाएँ कटि में मोती की माला पहनती थीं। नौकर-चाकर तथा कृषक

इत्यादि सामान्यतः कमर में एक वस्त्र लपेट लेते थे। प्राचीन राज्य युग में यहाँ स्त्री-पुरुष दोनों कटि के ऊपर का भाग खुला रखते थे तथा कटि से जानु तक एक वस्त्र लपेट लेते थे। सामने की ओर इसमें चुन्नट पड़ा रहता था। मध्य राज्य युग में इसमें थोड़ा परिवर्तन हुआ तथा वस्त्र की लम्बाई बढ़ा दी गई। अब यह मध्य पिण्डिका तक पहुँच गई। साम्राज्य युग के अन्त तक लम्बे वस्त्र धारण किये जाने लगे इनमें सामने कई चुन्नट रहती थी। रैमिसीज द्वितीय को ग्रीवा से गुल्फ तक एक चुन्नटदार वस्त्र धारण किये हुये दिखाया गया है। बाद में स्त्रियों ने भी चुस्त लुंगी छोड़ दी तथा उसके स्थान पर ढीला-ढाला वस्त्र धारण करने लगीं जो ग्रीवा से लेकर गुल्फ तक रहता था। वस्त्र-विन्यास की भाँति केश-विन्यास में भी प्राचीन मिस्रवासी अत्यन्त रुचि लेते थे। शासक को छोड़कर शेष के केश-विन्यास में भी वस्त्र-विन्यास की भाँति परिवर्तन होते गये। शासक कभी भी अनावृत सिर नहीं दिखाई पड़ता था। वह सदैव दाढ़ी-मूछ साफ रखता था लेकिन विशिष्ट अवसरों पर कृत्रिम दाढ़ी धारण करने की प्रथा थी। इसी प्रकार उच्चाधिकारी भी दाढ़ी-मूछ साफ रखते थे लेकिन समय-समय पर वे भी कृत्रिम दाढ़ी धारण करते थे। प्राचीन राज्य युग में तो कुछ उच्चाधिकारी भी मूछें धारण करते थे। प्रारम्भ से ही यहाँ स्त्री-पुरुष दोनों में कृत्रिमकेश (Wig) धारण करने की प्रथा थी। इसका स्वरूप समय-समय पर बदलता गया। प्रारम्भ में इसका आकार-प्रकार छोटा होता था लेकिन बाद में इसे बड़ा बनाया जाने लगा। कृत्रिम केश धारण करने की सुविधा के लिये वे केश कटवा डालते थे। कृत्रिम केशों के जो अवशेष मिले हैं वे भेड़ की ऊन के हैं। तांबे एवं कांसे की सहायता से बने दर्पण का प्रयोग वे करते थे। इस पर उच्चकोटि की पालिश रहती थी। इसे किसी चमड़े के बाक्स में रखा जाता था। शरीर को भव्य तथा रम्य बनाने के लिए ओठ में एक प्रकार का सुगन्धित द्रव्य, आँख में सुरमा तथा हाथ में मेंहदी लगाई जाती थी। वास्तव में यहाँ से प्रसाधन एवं अलंकरण से सम्बन्धित जो अवशेष मिले हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन मिस्री स्त्रियाँ किसी माने में आधुनिक स्त्रियों से कम नहीं थीं।

मनोरंजन

प्रायः सभी बड़े भवनों एवं मन्दिरों के पास आकर्षक पुष्प एवं छायादार वृक्षों से युक्त उपवन होते थे। उनका विश्वास था कि मृत्यु के बाद मृतात्मा वापस आकर इन्हीं छायादार वृक्षों की छाया में बैठकर फल-फूल खाती है। इसलिए उपवनों की सुरक्षा के प्रति वे विशेष सजग थे। इन्हीं उपवनों में बैठकर वे अपना मन बहलाते थे तथा मनोरंजन करते थे।

प्राचीन मिस्रवासी प्रायः बाह्य क्रीड़ा के शौकीन थे। समृद्ध परिवार के सदस्य धनुष-बाण एवं कुत्तों की सहायता से शिकार करते थे। अश्व से परिचित हो जाने पर अश्वारोहण भी उनके मनोरंजन का एक साधन बन गया। मल्ल-युद्ध,

मुष्टियुद्ध तथा वृषभयुद्ध भी उनके प्रिय विनोदों में था। सम्भवतः वे शतरंज भी खेलते थे। सैनिकों में युद्ध-नृत्य प्रचलित था।

आर्थिक संगठन

कृषि-कर्म

प्राचीन मिस्र का आर्थिक स्तम्भ कृषि कर्म था। अन्न में मुख्यतः गेहूँ, यव, मटर एवं तिलहन तथा फलों में जैतून, खजूर एवं अंगूर उत्पन्न किये जाते थे। नील की उर्वर घाटी में साधारण परिश्रम करके भी मिस्री कृषक इन्हें उगा लेते थे। हेरोडोटस के अनुसार प्राचीन मिस्रवासी बाढ़ घटने के बाद दलदल में बीज छीटकर सुअरें दौड़ा देते थे। इससे बीज जमीन में दब जाते थे और बाद में वे उग आते थे। इसके बाद कृषकों को केवल उनके संग्रह के लिए ही जाना पड़ता था। इसके अतिरिक्त खेतों की जुताई भी की जाती थी। इसमें हल की सहायता ली जाती थी। मिस्री कृषि-जीवन में हल की महत्ता एवं उपयोगिता के कारण ही हेनरी लूकस मेसोपोटामिया की भाँति इसे भी हल प्रधान संस्कृति मानते हैं।[1] खेत को छोटे-छोटे वर्गाकार टुकड़ों में बाँट दिया जाता था। इसे अलग करने के लिए मिट्टी के कुछ सेण्टीमीटर ऊँचे मेड़ बना दिये जाते थे। दो खेतों के बीच एक नाली रहती थी जिसके द्वारा शडूफ की सहायता से खेतों में जल पहुँचाया जाता था। जहाँ वे आवश्यक समझते थे कीचड़ का अवरोध बनाकर पानी का उपयोग कर लेते थे। समुन्नत कृषि का पूरा-पूरा लाभ कृषकों को नहीं मिल पाता था। यहाँ की भूमि शासक के अधीन थी। कोई व्यक्ति उसका उपयोग केवल शासक की कृपा पर ही कर सकता था। कृषकों को उपज का दश से बीस प्रतिशत भाग कर के रूप में देना पड़ता था। इसे अनाज के रूप में बहुसंख्यक अधिकारी संग्रह करते थे। यदि कोई काश्तकार समय से कर नहीं अदा कर पाता था तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। खेतों में काम करने वाले श्रमिक युद्ध में पकड़े गए बंदी या ऋण न चुका सकने के कारण बनाये गये दास थे। राजकीय अधिकारी मिस्री किसानों की सहायता करते थे। वे ही सिंचाई की योजनाएँ क्रियान्वित करते थे, बाढ़ आने की सूचना देते थे तथा फसल बोने का समय निश्चित करते थे। भूमि की पैमाइश की जिम्मेदारी भी उन्हीं की थी।

पशुपालन

प्राचीन मिस्रवासियों के आर्थिक गठन के द्वितीय स्तर पर पशुपालन का प्रचलन था। यहाँ मुख्यतः गाय-बैल, भैंस, बकरी, हिरण, सूकर तथा बंदर

---

[1] Henry Lucas, A Short History of civilization, p. 49

पाले जाते थे। प्राचीन राज्य युग में तरक्षु भी पाले जाते थे। बैलों का उपयोग हल खींचने में विशेष रूप से किया जाता था। इनका प्रयोग भारवाहन में भी किया जाता था। भारवाहन में बंदरों से भी सहायता ली जाती थी। भेंड़ से वे ऊन प्राप्त करते थे तथा इनसे और सुअरों की सहायता से दलदली भूमि में छींटे गये बीजों को दबाया भी जाता था। सत्रहवीं शती ई० पू० के पहले उन्हें अश्व की जानकारी नहीं थी। फारसी आक्रमण के पूर्व वे ऊँट से भी परिचित नहीं हो पाए थे। कुक्कुट पालने, मछली पकड़ने तथा अन्य पशु-पक्षियों के शिकार का भी यहाँ प्रचलन था। मछली पकड़ने के लिए इन्हें कठिन प्रयास नहीं करना पड़ता था। रात्रि में जिस जाल का प्रयोग वे मच्छरों से बचने के लिए करते थे दिन में उसी से मछलियाँ पकड़ते थे।

उद्योग-धन्धे

यद्यपि मिस्र खनिज पदार्थों, कीमती पत्थरों तथा इमारती लकड़ियों की दृष्टि से निर्धन था लेकिन इस अभाव की पूर्ति आयात द्वारा कर ली जाती थी इसलिए उद्योग-धंधों के विकास में यह अभाव कोई विशेष अवरोध न उत्पन्न कर सका। यहाँ मुख्यत: वस्त्रोद्योग, भाण्डोद्योग, धातु उद्योग तथा जलपोत उद्योग प्रचलित थे। इनमें वस्त्रोद्योग सर्वाधिक प्रतिष्ठित था। कताई-बुनाई का कार्य निम्नवर्ग की स्त्रियाँ करती थीं। अत्यन्त पतले धागे की सहायता से मिस्रवासी काफी महीन वस्त्र बना लेते थे। इन्हें लिनिन (Linin) वस्त्र कहा गया है। इनका निर्माण फ्लैक्स (Flax) की सहाथता से किया जाता था। इस प्रकार के वस्त्रों की बराबरी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। चाक के आविष्कार के पूर्व ही मिस्रवासी अत्यन्त आकर्षक मृद्‌भाण्ड बना लेते थे। कुंभकार-चाक के आविष्कार के पश्चात् तो इसमें और अलंकारिता आ गई। इसी समय से वे धातु पिघला कर उससे अनेक प्रकार के उपकरण बनाने लगे थे। ताम्र की सहायता से अनेक प्रकार के भाण्ड, अस्त्रशस्त्र तथा अनेक उपकरण बनाये जाते थे। स्वर्णकार सुवर्ण की सहायता से अच्छे-अच्छे आभूषण बनाते थे। इसे भट्ठी पर पिघलाया जाता था जिसे नरकुल की सहायता से फूंक कर तेज किया जाता था। इस प्रकार के चित्र यहाँ से मिले हैं। मिस्रवासी कई प्रकार के जलपोत बनाने में निष्णात थे। सामान ढोने के लिए बड़े तथा शासकों के लिए काम में आने वाले छोटे तथा सुन्दर जलपोत बनाये जाते थे। मिस्री उद्योगों की समृद्धि का अनुमान हम इनके कुलीन वर्ग के सदस्यों की समाधियों की दीवालों पर विद्यमान चित्रों के आधार पर लगा सकते हैं। कहीं स्वर्णकारों को धातु पिघलाते, पीटते तथा उन पर नक्काशी करते हुए दिखाया गया है तो अन्यत्र कुंभकार को भाण्ड-निर्माण करते हुए। दूसरे चित्रों में आभूषण बनाने तथा फर्नीचर बनाने का दृश्य अंकित है। एक अन्य दृश्य में एक व्यस्त बाजार का दृश्य मिलता है। उद्योग-धंधे पिता से पुत्र को मिल जाते थे। इस प्रकार ये वंशानुगत थे। प्रारम्भ में मिस्र में उद्योग-धंधे पृथक् संगठन में ही थे और उन पर व्यक्तिगत नियन्त्रण था लेकिन बाद में यहाँ उद्योग-

शालाएँ विकसित हुईं। इनमें दस से बीस व्यक्ति कार्य करते थे। सामान्यतः काम करने वाले स्वतन्त्र जन ही थे। लेकिन यदा-कदा दासों को भी इसमें नियोजित कर लिया जाता था। उद्योगशालाओं में कार्यरत श्रमिकों का हिसाब-किताब अत्यन्त सावधानी से रखा जाता था। इसके लिए अधिकारी नियुक्त रहते थे। यहाँ से इस प्रकार की एक मूर्ति मिली है जिसे निरीक्षक (Overseer) की मूर्ति कहा गया है। कभी-कभी असन्तोष की स्थिति में हड़ताल भी हो जाती थी। एक लेख से पता चलता है कि काफी दिन तक वेतन रुक जाने के कारण श्रमिकों ने एक निरीक्षक को घेर लिया था।

व्यापार एवं वाणिज्य

व्यापार एवं वाणिज्य के विकास के लिए उपयुक्त भौगोलिक स्थिति तथा यातायात के सुरक्षित एवं सुगम साधन का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। संयोग से मिस्र में ये सुविधाएँ उपलब्ध थीं। अफ्रीका एवं एशिया महाद्वीप के मिलन-बिंदु पर स्थित होने के कारण मिस्र यूरोपीय भू-मध्यसागरीय तथा पूर्वी देशों से सरलतापूर्वक सम्पर्क स्थापित कर सकता था। नील नदी द्वारा यातायात की भी सुगम एव सुरक्षित सुविधा उपलब्ध थी अस्तु यहाँ व्यापार एवं वाणिज्य का समुचित विकास किया गया। यहाँ आन्तरिक एवं विदेशी दोनों व्यापार प्रचलित था। आन्तरिक व्यापार सामान्यतः अदला-बदली से सम्पन्न किया जाता था। चाँदी के निश्चित भार के छल्ले प्रचलित अवश्य थे किन्तु केवल बड़े लेन-देन में ही। व्यापार की सामान्य विधियों की जानकारी उन्हें थी। रसीद, आदेश, लिखित अनुबंध, दस्तावेज इत्यादि का प्रयोग वे करते थे। नकद या विनिमय द्वारा मूल्य की अदायगी न करने पर लिखित समझौता करना पड़ता था। अनाज, पशु तथा आवश्यकता की अन्य वस्तुएँ बाजार में बिकती थीं। इनके चित्रों में बाजारों के दृश्य मिलते हैं। आन्तरिक व्यापार से कहीं अधिक विदेशी व्यापार प्रतिष्ठित था। इनके वैदेशिक व्यापारिक सम्बन्ध भू-मध्यसागरीय प्रदेशों, नूबिया, एशिया माइनर तथा भारत से विशेष रूप से थे। प्रारम्भिक काल से ही मिस्र में भू-मध्यसागरीय क्षेत्रों से भाण्ड, सिनाई से नीलमणि, नूबिया अथवा एशिया माइनर या भारत से सुवर्ण तथा एशिया माइनर से चाँदी मँगाई जाती थी। प्रथम राजवंश के काल में मिस्र सिनाई से ताँबा, नीलमणि तथा मैलकिट मँगाता था। तृतीय राजवंश के काल में मिस्र पूर्वी भू-मध्य-सागरीय देशों से टिम्बर का आयात करने लगा था। निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में गेहूँ, वस्त्र तथा बर्तनों का उल्लेख किया जा सकता है।

आर्थिक संगठन के दोष

मिस्री आर्थिक संगठन समष्टिवादी था अर्थात् इसमें वैयक्तिक एवं सामाजिक हितों में कोई अन्तर नहीं था। कृषि-कर्म, उद्योग-धन्धे एवं व्यापार-वाणिज्य सभी राज्याधीन थे। प्रारम्भ में इसका कोई विशेष प्रभाव न पड़ा क्योंकि राज्य नियंत्रण

के बावजूद भी कभी-कभी व्यक्तिगत उद्यमों को छूट मिल जाती थी लेकिन आगे चलकर जब राज्य-नियंत्रण कठोर हो गया तो कृषक, उद्योगी तथा व्यापारी सभी अपने उत्तरदायित्व से हटने लगे। अस्तु क्रमशः उत्पादन घटने लगा। पूर्ण राजकीय नियंत्रण में आने के कारण व्यापारियों की भी कार्य-क्षमता में कमी आने लगी। साम्राज्य युग में जैसे-जैसे राजनीतिक एवं आर्थिक शक्ति दुर्बल होती गई शासक का आय-स्रोतों पर अधिकार बढ़ता गया। इसका दूरगामी प्रभाव अहितकर सिद्ध हुआ। साम्राज्य युगीन पुजारियों की शक्ति बढ़ने से आर्थिक संगठन को और आघात पहुँचा। निरंकुश शासन की स्थापना में उन्होंने शासकों की सहायता की और उसके बदले उन्हें कृष्य भूमि का सातवाँ हिस्सा मिल गया। युद्धबंदियों की पर्याप्त संख्या मन्दिरों की सेवा में लगा दी गई। इससे मिस्र की रही-सही आर्थिक स्थिति और दुर्बल हो गई और यही आगे चल कर साम्राज्य के अधःपतन का कारण बनी।

धर्म

प्राचीन मिस्रवासियों के जीवन में धार्मिक विश्वासों एवं मान्यताओं का विशिष्ट स्थान था। शासनतन्त्र, सामाजिक संस्थाएँ, आर्थिक गठन, साहित्य, दर्शन, विज्ञान सभी धार्मिक प्रभाव परिधि के अन्तर्गत आ गये थे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उनके जीवन का कोई पक्ष धर्म से स्वतन्त्र नहीं था। हेरोडोटस ने उचित ही कहा है कि 'मिस्रवासी प्राचीन विश्व में सर्वाधिक धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे।' सम्भव है हेरोडोटस के इस कथन में किंचित् अतिरंजना हो पर हम इतना जानते हैं कि प्राचीन मिस्रवासी अलौकिक शक्तियों एवं लोकोत्तर जीवन के प्रति उतना ही श्रद्धालु थे जितना हम किसी अतीत अथवा वर्तमान मनुष्य से आशा कर सकते हैं। मिस्र में जितनी देवी-देवताओं की संख्या थी उतनी भारत तथा रोम को छोड़कर प्राचीन विश्व में कहीं नहीं दिखाई पड़ती। मिस्री धार्मिक अनुष्ठान, कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास एवं पारलौकिक मान्यताएँ अपने में अद्वितीय हैं। मिस्र के धर्म का विकास सहसा नहीं क्रमशः हुआ है तथा इसका स्वरूप सदा एक-सा न रहा। विभिन्न युगों में धार्मिक विश्वास एवं मान्यताएँ परिवर्तित एवं परिवर्द्धित होती रहीं।

प्राग्वंशीय युग

प्राग्वंशीय युग में मिस्र के धर्म का स्वरूप अत्यन्त सरल एवं सुग्राह्य था। इस युग में अनेक देवी-देवताओं की उपासना की जाती थी। इनमें प्रमुख स्थान होरुस (Horus), ओसाइरिस (Osiris), टॉथ (Thoth), सेत (Set), अनुबिस (Anubis), सोकर (Soker) एवं मिन (Min) का था। इनमें भी सर्वाधिक प्रतिष्ठा होरुस को मिली थी। इनकी उपासना विधि सूक्ष्म, सरल एवं कर्मकाण्डरहित थी। प्राग्वंशीय मिस्रवासियों में पारलौकिक मान्यताएँ भी विकसित थीं। मृतकों को आवश्यक एवं उपयोगी उपकरणों के साथ साधारण विधि द्वारा दफ़ना दिया

जाता था। उनका विश्वास था कि मनुष्य मृत्यूपरान्त इन वस्तुओं का उपयोग करता है।

प्राचीन राज्य युग

प्राचीन राज्य युग में उत्तरी एवं दक्षिणी मिस्र को परस्पर मिलाया गया। एकीकरण की यह प्रवृत्ति देवताओं में भी दिखाई पड़ती है। अभी तक सूर्य की उपासना विभिन्न स्थानों पर विभिन्न नामों से की जाती थी। उत्तरी मिस्र में इसे 'रे' (Re) अभिधान से अभिहित किया गया तो थीब्ज में 'आमोन' (Amon) संज्ञा से। दक्षिणी मिस्र में यही श्येन के रूप में होरुस नाम से प्रसिद्ध था। संयुक्त राज्य की स्थापना के अनन्तर इन विभिन्न नामों में ऐक्य स्थापित करने का प्रयास किया गया। जब थीब्ज की शक्ति पर्याप्त बढ़ गई तो आमोन अभिधान के साथ प्राचीन नाम रे को मिलाकर 'आमोन रे' अभिधान की कल्पना की गई। सूर्यदेव से सम्बन्धित अन्य देवताओं का समाहार इसी में कर लिया गया। इसी प्रकार प्रकृति की सृजनात्मक शक्ति के प्रतीक विविध देवगण 'ओसाइरिस' नामक देवता में समाहित कर लिये गये। प्राचीन मिस्री पुराकथा के विकास में इन देवताओं का विशिष्ट योगदान रहा है एतदर्थ इन पर किंचित् विस्तृत अनुशीलन की आवश्यकता है।

आमोन रे—प्राचीन राज्य युगीन देवताओं में आमोन रे का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। आमोन रे के प्रतीक सपक्षसूर्य चक्र राजचिह्न के रूप में स्वीकार कर लिया गया। उनका विश्वास था कि राज्य में सुख-शान्ति केवल आमोन रे की कृपा एवं उसके सुशासन से ही स्थापित हो सकती है। इसी के फलस्वरूप उन्होंने फेराओ को उसका मूर्तरूप स्वीकार कर उसमें दैवी शासन की शक्ति आरोपित की। वे मानते थे कि फेराओ के सुशासन से ही आमोन रे का सुशासन बना रह सकता है। आमोन रे का चरित नैतिक दृष्टि से भी उत्कृष्ट माना गया था। वह सत्यवादी, न्यायी, सदाचारी के साथ-साथ विश्व की नैतिक व्यवस्था का नियामक था। आमोन रे किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं प्रत्युत समूचे राष्ट्र के हितों का पोषक था। इससे सम्बन्धित एक पुराकथा में कहा गया है कि किसी समय पृथ्वी पर उसी का अधिशासन था लेकिन मनुष्यों ने उसके विरुद्ध षड्यंत्र कर दिया। फलतः क्रुद्ध होकर उसने हाथोर (Hathor) देवी को उनके विनाश के लिए प्रेषित किया। किन्तु बाद में जब उसे अपने किए कराए पर पश्चाताप हुआ तो उसने देवी को मानव जाति के पूर्ण विनाश करने से रोक दिया। इसके अनन्तर अलौकिक गाय ने उसे अपनी पीठ पर बैठा लिया ताकि वह अकृतज्ञ मानव जाति एवं पृथ्वी से दूर हटकर स्वर्ग में वास करे। तभी से रे आकाश में दिव्य नौका पर चढ़कर यात्रा करता हुआ अपने अपरिमित अमृतमय प्रकाश से पृथ्वी का अंधकार दूर करता रहता है।

ओसाइरिस—यदि आकाशदेव के रूप में आमोन रे को प्रतिष्ठा मिली थी तो अधोलोक के रूप में ओसाइरिस को। ओसाइरिस का सम्बन्ध पहले पृथ्वी से था

जिसने आमोन रे के आकाशगामी हो जाने पर उसका शासन संभाला था। यह भी स्वभाव से सत्यवादी, न्यायी तथा कर्त्तव्यपरायण था। मानव जाति को कृषि-कर्म तथा विभिन्न कलाओं का ज्ञान इसी से मिला था। किन्तु इतना सब होते हुए भी इसके दुष्ट-भ्राता सेत ने इसकी हत्या कर दी। इसकी भार्या आइसिस (Isis) ने मृत पति के अस्थि अवशेषों को संग्रहीत कर अन्तिम संस्कार की तैयारी प्रारम्भ की। कहा जाता है कि इस कार्य में उसे श्रृंगाल-देव अनुबिस से विशेष सहायता मिली थी। अन्तिम संस्कार के समय आइसिस ने जिन मंत्रों का पाठ किया उसके प्रभाव से ओसाइरिस के शरीर के अवयवों में पुन: चेतना आ गई। यद्यपि इससे वह लौकिक जीवन व्यतीत करने योग्य नहीं रह सका लेकिन अधोलोक का स्वामी बन गया। ऐसी मान्यता है कि उसके पुनर्जीवित होने के बाद उसकी भार्या आइसिस से होरुस नामक पुत्र का जन्म हुआ था जिसका भरण-पोषण आइसिस ने गुप्त रूप से किया था। युवा होने पर होरुस ने सेत से बदला लेने का निश्चय किया और एक तुमुल-संघर्ष के बाद अन्त में उसे पराजित किया तथा पृथ्वी का शासन सँभाला। पराजित सेत ने देवताओं के न्यायालय की शरण ली और निवेदन किया कि होरुस राज्य का वैध उत्तराधिकारी नहीं है क्योंकि उसका जन्म निष्कलंक नहीं है किन्तु देवताओं ने उसकी एक न सुनी तथा होरुस को निर्दोष सिद्ध कर दिया।

ओसाइरिस से सम्बन्धित इस आख्यान का मिस्री जन-जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। ओसाइरिस की मृत्यु एवं पुनर्जीवन का तादात्म्य शरत् में नील नदी के अपसर्पण एवं बसन्त में बाढ़ के आगमन से किया गया। नील की महत्ता के कारण शनै:-शनै: ओसाइरिस आख्यान का महत्त्व बढ़ता गया। इस आख्यान के पात्रों के सुचरित जैसे शासक की प्रजा के प्रति उदारता, पत्नी की स्वामी के प्रति प्रीति एवं विश्वास तथा पिता के प्रति पुत्र के कर्त्तव्य मिस्रवासियों के लिए आदर्श रूप में अनुकरणीय बने। उनका यह दृढ़ विश्वास हो गया कि जैसे सदाचार के बल पर ओसाइरिस मृत्यु प्राप्त कर भी पुनर्जीवित हो गया, उसी प्रकार कोई भी व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों के समुचित सम्पादन से अमृतत्व प्राप्त कर सकता है। वास्तव में होरुस की सेत पर विजय, जिसका समर्थन दैवी न्यायालय द्वारा भी किया गया, एक प्रकार से सत् की असत् पर विजय थी।

आइसिस—आमोन रे एवं ओसाइरिस के अतिरिक्त ओसाइरिस आख्यान से सम्बद्ध मिस्र की पौराणिक देवी आइसिस को भी यहाँ विशेष प्रतिष्ठा मिली थी। वह केवल ओसाइरिस की पत्नी के रूप में ही प्रतिष्ठित नहीं थी बल्कि एक ऐसी आदरणीया देवी के रूप में प्रतिष्ठित थी जिसने प्रेम के बल पर मृत पति को पुन: जीवित कर लिया था। ओसाइरिस की कल्पना मिस्रवासियों ने एक ऐसी देवी के रूप में की थी जो पृथ्वी पर सभी जीवित वस्तुओं की जन्मदात्री थी।

कर्मकाण्ड—प्राचीन राज्य युग में मिस्रवासी अपने देवी-देवताओं की उपासना देवालयों में सम्पन्न करते थे। इनका आकार-प्रकार उनके गृहों के समान था। मंदिर

के मध्य स्थित गर्भगृह में देवताओं की काष्ठ की प्रतिमा स्थापित की जाती थी। इसे विधिवत् अलंकृत किया जाता था। पूजा के समय देवी-देवता को विविध भेंट चढ़ाई जाती थी। इसमें खाद्य, पेय एवं वस्त्र की बहुलता रहती थी। गायन एवं वादन भी उपासना के अंग थे। मंदिरों का खर्च राज्य द्वारा अनुदान रूप में प्राप्त भूमि की आय, राजकोष से प्राप्त खाद्यान्न, मद्य, मधु इत्यादि तथा मंदिर में चढ़ाई गई भेंट से चलता था। देवार्पित सामग्री का उपभोग पुजारी करते थे। उपासना में पुरोहितों की उपस्थिति आवश्यक थी। सामान्य रूप से यहाँ देवता का अधिकृत पुजारी शासक स्वयं था लेकिन व्यस्तता के कारण वह सर्वत्र एक साथ नहीं उपस्थित हो पाता था एतदर्थ यह कार्य सहायक पुजारियों को दे दिया गया था। शनैः-शनैः एक मंदिर में कई पुजारी हो गए अतः उनमें से एक को प्रधान पुजारी मान लिया गया। यही मंदिर के पूजा की देखभाल, उसकी सम्पत्ति की सुरक्षा तथा आवश्यकता पड़ने पर सेना का संचालन करता था। देवता को प्रसन्न करने के लिए देवदासियाँ भी नियुक्त रहती थीं। सैद्धान्तिक रूप से तो नहीं किन्तु व्यावहारिक रूप में उनका पद वंशानुगत था। पुजारियों का कार्य-क्षेत्र मंदिर ही था। बेगार तथा अनिवार्य सैनिक सेवा जैसे बंधन उनके ऊपर नहीं थे।

परलोकवाद—प्राग्वंशीय युग से ही मिस्रवासी पारलौकिक जीवन के प्रति आस्थावान दिखायी पड़ते हैं। प्राचीन राज्य युग में आमोन रे एवं ओसाइरिस के महत्त्व बढ़ जाने के कारण इनकी पारलौकिक मान्यताओं को और अधिक बल मिला। उनकी पारलौकिक जीवन की कल्पना बहुत कुछ लौकिक जीवन के अनुरूप थी। उनका विश्वास था कि 'क' (Ka) नामक एक शक्ति मनुष्य के जन्म से ही उसके साथ आती है और जीवन भर उसके साथ रहती है। मृत्यु के बाद भी इसका नाश नहीं होता और वह शरीर से चिपकी रहती है। उनकी कल्पना में 'क' का स्वरूप पार्थिव शरीर की ही भाँति था। अतएव मृत्यु के बाद शरीर नष्ट हो जाने पर भी इसे भोजन, पेय इत्यादि की आवश्यकता पड़ती थी इसी लिए मिस्रवासी मृतकों की समाधियों में खाद्य एवं पेय सामग्री रखते थे। उनका यह भी विश्वास था कि यदि वे ऐसा नहीं करेंगे तो खाद्य के अभाव में 'क' अपने पुरीष का भक्षण करने लगेंगे। इस 'क' के अतिरिक्त मिस्रवासी शरीर में आत्मा का निवास भी मानते थे। इसका स्वरूप ऐसे पक्षी के समान था जो वृक्षों पर फुदकती रहती थी।

'क' सम्बन्धित मान्यता के विकास का प्रभाव इनकी समाधियों तथा मृतक-संस्कार विधियों पर पड़ा। 'क' की रक्षा के लिए वे शवों की सुरक्षा के प्रति सजग हो गए। प्राग्वंशीय युग में बालू में गड्ढा खोद कर बनायी गयी समाधियों के स्थान पर विशाल पिरामिड बनाये गये। मृतक संस्कार भी इस युग में पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत तथा कर्मकाण्डपरक हो गए। फेराओ के मृतक-संस्कार में सत्तर दिन लगते थे। प्राचीन राज्य युग में मृतक के शरीर पर ऐसा लेप लगा दिया जाता था जिससे वह दीर्घ काल तक सुरक्षित रहता था। इस लेपयुक्त शव को काष्ठ

की एक पेटिका में रखकर फिर उस पेटी को एक पाषाण की पेटी में रख कर समाधि के एक कमरे में बन्दकर दिया जाता था। मृतक के साथ उसके उपयोग के लिए आवश्यक खाद्य पदार्थ, पेय, प्रसाधनोपकरण इत्यादि भी रख दिए जाते थे। इसके पश्चात् कक्ष के मार्ग को पूर्णतया बन्द कर दिया जाता था। प्राचीन राज्य युगीन मिस्रवासी इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते थे। वे मानते थे कि उक्त संस्कार के बाद भी मृतक बराबर खाद्य, पेय इत्यादि की आवश्यकता का अनुभव करता है। एतदर्थ समृद्ध जन मृत्यु के पूर्व ही किसी पुजारी की नियुक्ति कर देते थे जो उनकी समाधि पर समय-समय पर मृतक संस्कार की पुनरावृत्ति करता रहता था तथा उसे खाद्य-पेयादि समर्पित करता रहता था। सिद्धान्ततः यह व्यवस्था सदैव के लिए की जाती थी लेकिन चार-पाँच पीढ़ियों के अनन्तर उससे वे उदास हों जाते थे और नई समाधियों की ओर अधिक ध्यान देने लगते थे।

प्राचीन राज्य युगीन मिस्रवासी परलोक को 'मृतकों का विश्व' (World of the Dead), 'अधोलोक' (Nether World), 'यारुभूमि' (Field of Yaru) अथवा 'खाद्य-भूमि' (Field of Food) के नाम से जानते थे। 'मृतकों के विश्व' का संकेत पिरामिड-ग्रंथों (Pyramid Texts) में मिलता है। यह लोक पश्चिम में स्थित था। यहाँ प्रतिदिन सूर्यदेवता रात्रि में जाते थे। इसी लिए मिस्रवासी मृतकों को पश्चिमी कह कर भी सम्बोधित करते थे। अधोलोक में मृतात्माएँ प्रतिदिन सूर्यदेव की अलौकिक नौका की प्रतीक्षा करती रहती थीं। यारुभूमि आकाश के उत्तर-पूर्व स्थित था। यह लोक धन-धान्य से समृद्ध था। एतदर्थ यहाँ मृतात्माएँ आनन्दित जीवन-यापन करती थीं। यारुभूमि के चारों ओर जल भरा रहता था अतः यहाँ तक पहुँचना सरल नहीं था। मृतकों को यहाँ जाने के लिए एक नौका का सहारा लेना पड़ता था। इसका परिचालन दैवी नाविक करते थे। वे उन्हीं आत्माओं को पार करते थे जो पुण्य-कर्मा होती थीं। पुण्यकर्म का तात्पर्य धार्मिक अनुष्ठानों एवं कृत्यों के सम्यक् सम्पादन से था। कुछ समाधियों पर यह लिखवाया गया था कि उन्होंने दीन-दुखियों की सहायता तथा सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करके पुण्य प्राप्त किया है किन्तु यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि सदाचार से उनका क्या मन्तव्य था ? उनकी सदाचार विषयक मान्यता पर ओसाइरिस आख्यान से किंचित् प्रकाश पड़ता है। सम्भवतः जिन गुणों के कारण ओसाइरिस पुनर्जीवित हुआ था, आइसिस ने स्वामी के प्रति जो प्रीति प्रदर्शित की थी तथा होरुस ने जिस पितृभक्ति से प्रभावित होकर दुष्ट सेत से बदला लिया था, वही प्राचीन मिस्रवासियों के सदाचार विषयक आदर्श थे।

मध्य राज्य युग

आमोन रे एवं ओसाइरिस की प्रतिष्ठा में वृद्धि—प्राचीन राज्य युगीन सौर एवं ओसाइरिस उपासना मध्य राज्य युग में अपेक्षाकृत अधिक प्रतिष्ठित हुई। सूर्यदेव

रे मध्य राज्य युग में सर्वाधिक सम्मानित देव बन गये। दूसरे देवताओं का भी तादात्म्य आमोन रे से ही किया जाने लगा और उनके नाम के साथ भी रे उपाधि जोड़ दी जाने लगी। जैसे घड़ियाल देव सोब्क (Sobk) को अब सोब्क-रे (Sobk-Re) संज्ञा से अभिहित किया गया। सम्भवतः यह उस एकेश्वरवादी प्रवृत्ति का प्रारम्भिक रूप था जिसका पूर्ण विकास साम्राज्य युग में किया गया। जनसाधारण में ओसाइरिस आख्यान की लोकप्रियता के कारण मध्य राज्य युग में ओसाइरिस की महत्ता में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। ओसाइरिस के जन्म-मृत्यु एवं पुनरुज्जीवन की घटना को पुजारी-गण प्रतिवर्ष नाटक के रूप में प्रस्तुत करने लगे जिसमें पुजारियों के अतिरिक्त जनसाधारण भी भाग लेते थे।

परलोकवाद—ओसाइरिस आख्यान की लोकप्रियता एवं उसके महत्त्व बढ़ जाने के कारण मध्य राज्य युगीन मिस्रवासियों की पारलौकिक मान्यताएँ और समृद्ध एवं महत्त्वपूर्ण हो गयीं। प्राचीन राज्य युग में ओसाइरिस को अधोलोक के न्यायाधीश एवं स्वामी के रूप में स्वीकार किया गया था लेकिन यह किस प्रकार वहाँ शासन करता है तथा न्याय सम्पादित करता है निश्चय नहीं हो पाता था। यह कार्य मध्य राज्य युग में किया गया। अब मिस्रवासी मानने लगे कि प्रत्येक मृतात्मा को परलोक में ओसाइरिस के समक्ष न्याय के लिए उपस्थित होना पड़ता है। ओसाइरिस के न्यायालय में बयालीस सहायक न्यायाधीश थे जो मिस्र के बयालीस नोमों के प्रतिनिधि थे। न्याय-सम्पादन में सर्वप्रथम मृतात्मा को न्यायालय-कक्ष में उपस्थित होकर बयालिसों न्यायाधीशों के समक्ष यह बताना पड़ता था कि उसने बयालीस पाप नहीं किया है। इन बयालीस पापों में हत्या, चोरी, विशेष रूप से अवयस्कों को लूटने, मिथ्या-भाषण, विश्वासघात, झूठी गवाही देने, मिथ्यापवाद. निंदा, निभृत-श्रवण, चारित्रिक अशुद्धता, परगमन, ईशनिंदा तथा दफ़न सम्बन्धी भेंटों की चोरी का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। इसके बाद उसकी घोषणा की सत्यता की परीक्षा के लिए उसके हृदय को सत्य के प्रतीक एक पक्षी के पर से तौला जाता था। जो इस परीक्षण में सदाचारी सिद्ध हो जाता था उन्हें सुख एवं समृद्धि से परिपूर्ण यारुभूमि में आनन्दित जीवन व्यतीत करने के लिए भेज दिया जाता था। जिनका लौकिक जीवन दुराचरणों से परिपूर्ण रहता था उन्हें घोर यातना दी जाती थी।

उपरोक्त पारलौकिक मान्यताओं के फलस्वरूप मध्य राज्य युग में धर्म एवं सदाचार एक-दूसरे से पूर्णतया सम्बद्ध हो गये। विश्व इतिहास में सर्वप्रथम मिस्र-वासियों ने परलौकिक जीवन के सुखों-दुखों को लौकिक जीवन के पुण्य एवं पापकर्मों पर आधारित बताया। इनके द्वारा परिकल्पित परलोक का स्वरूप भी अत्यन्त भयावह था जिसमें मृतात्माओं के लिए रहना कठिन हो जाता था। उन्हें यह विश्वास हो गया था कि परलोक में अन्यान्य भयानक एवं खूंखार जीव——सर्प, घड़ियाल आदि मृतात्मा को डराते-धमकाते हैं, उसका भोजन खा जाते हैं तथा उसके शरीर के विभिन्न अंगों को नष्ट करते हैं। इनसे बचने के लिये मृतकों की शवपेटिका पर अनेक

प्रकार के अभिचारिक मंत्र उत्कीर्ण कर दिये जाते थे। इन्हीं के आधार पर बाद में मृतक-ग्रथ (Book of the Dead) का विकास किया गया। मृतकों को दफनाने के लिए यद्यपि अभी मस्तबा का निर्माण किया जाता था लेकिन अब उसके स्थान पर अधिक खोखला ऊँचा मकबरा बनाया जाने लगा। राजा के मृतक संस्कार के लिए पिरामिड बनाया जाता था। साज-सज्जा के उपकरणों को शवपेटिका (Coffin) पर चित्रित कर दिया जाता था तथा अन्य सामग्रियों को जिसमें एक नाव भी रहती थी, शवपेटिका के पार्श्व में रख दिया जाता था। उनका विश्वास था कि नाव की सहायता से मृतात्मा को जल पार करने में सुविधा रहेगी।

साम्राज्य युग एवं इखनाटन

मध्य राज्य युग में मिस्र धर्म पूर्णतया नैतिक था लेकिन इस युग के अन्त एवं साम्राज्य युग के प्रारम्भ तक इसमें अनेक दोष आ गये थे। हिक्सॉस के बहिष्करण के लिए इन्हें जो लम्बा संघर्ष करना पड़ा उससे इनकी वैचारिक शक्ति को बहुत आघात पहुँचा और इनकी तर्कणा प्रवृत्ति समाप्त हो गई। मध्य राज्य युग में पुजारी विद्यमान तो थे लेकिन अभी वर्ग-विशेष के रूप में उनका आविर्भाव नहीं हो सका था। साम्राज्य युग में इनकी शक्ति एवं समृद्धि में पर्याप्त वृद्धि के कारण इनकी सत्ता पृथक् वर्ग के रूप में स्वीकार कर ली गयी। मंदिरों में जो भेंट इत्यादि चढ़ती थी उसका उपयोग तो वे करते ही थे साथ ही उदारचेता शासकों द्वारा भी इन्हें पर्याप्त भूमि मिलने लगी। मंदिरों में दासों की संख्या बढ़ गई। इस प्रकार मंदिर अब पुजारियों की सुख-सुविधा एवं श्रीवृद्धि के साधन हो गए। धीरे-धीरे उनकी मनोवृत्ति भी बदल गयी। वे धर्मरक्षक के स्थान पर धर्मभक्षक बन कर आनन्दित जीवन व्यतीत करने लगे। सुरा, सुन्दरी एवं सुवर्ण के प्रति उनका आकर्षण बढ़ने लगा। प्राचीन एवं मध्य राज्य युग में जो देवदासियाँ गायन-वादन एवं नृत्य से देवता को प्रसन्न करती थीं वही पुजारियों की कामवासना शान्त करने लगीं। अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए पुजारियों ने धर्मभीरु जनता को शोषण का साधन बना लिया। पारलौकिक जीवन के कष्टों का भय दिखा कर वे जनता को बहकाने लगे। उन्होंने घोषणा की कि उनके पास परलोक के कष्ट दूर करने के मंत्र हैं जिसे धन देकर कोई भी उनसे प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार के पाप-मोचन मंत्र पेपाइरस पत्रों पर लिखकर खुले आम पुजारियों द्वारा बाजार में बेचे जाने लगे। परलोक में ये पाप-मोचन पत्र दो प्रकार से मृतकों की रक्षा करते थे। एक तो उनके सत्कर्मी होने का प्रमाण प्रस्तुत करते थे तथा दूसरे यदि देवता उनकी बात नहीं मानता था तो उसे अकाल अथवा किसी अन्य विपत्ति का भय दिखाते थे। इस प्रकार परलोक के सुख-दुख अब लौकिक कर्मों पर नहीं प्रत्युत पाप-मोचन पत्रों की उपस्थिति एवं अनुपस्थिति पर आधृत हो गए। नैतिक आदर्श एवं सदाचार निर्मूल्य हो गये तथा धर्म एवं नैतिकता के पारस्परिक सम्बन्ध विस्मृत कर दिये गये। अब यह मान लिया

गया कि स्वर्ग के आनन्द सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करने से नहीं अपितु पुरोहितों की कृपा एवं पाप-मोचन पत्रों से प्राप्त किये जा सकते हैं। मिस्र के धर्म की इसी विकृत अवस्था में यहाँ आमेनहोतेप चतुर्थ ने राज्य-ग्रहण किया।

कवि हृदय आमेनहोतेप चतुर्थ नास्तिक तथा पुराणपंथिता का विरोधी था। वह मिस्र का ही नहीं अपितु विश्व का एक विलक्षण शासक माना गया है। उसमें स्त्रियोचित सुकुमारता, कवि की भावुकता एवं संवेदनशीलता, विचार-शक्ति, आदर्शवाद, संकल्प शक्ति इत्यादि गुणों का अभूतपूर्व समन्वय था। राज्य-ग्रहण के समय आमेनहोतेप की अवस्था मात्र पन्द्रह वर्ष की थी। अतः अल्हड़पन के कारण मंदिरों में व्याप्त तत्कालीन भोगविलास, व्यापार, वैभव, पशुबलि, नरबलि, आडम्बर एवं मिथ्याचार देख कर उसका मन विक्षुब्ध हो गया। उसमें सहसा वैचारिक परिवर्तन हो गया। अतः इन दोषों को दूर करने तथा धर्म के सत्य स्वरूप की स्थापना करने के निश्चय से एक धार्मिक क्रान्ति की शुरुआत की। यह धर्मक्रान्ति काल की दृष्टि से प्राचीन विश्व की प्रथम क्रान्ति थी क्योंकि अभी तक न भारत भूमि में महावीर जैन एवं गौतम बुद्ध का आविर्भाव हुआ था न ईरान में ज़रथुश्त्र का। पुनश्च न तो चीन में कन्फ्यूशियस एवं लाओत्से आविर्भूत हुए थे न हिब्रुओं के मूसा (Moses) अथवा अन्य देवदूत। प्रारम्भ में तो आमेनहोतेप भी चाहता था कि व्याप्त दोष सरलतापूर्वक दूर हो जाय और उसे कोई कठोर कदम न उठाना पड़े लेकिन जब उसे सफलता न मिली तो उसने कठोर कदम उठाने का निश्चय किया।

वास्तव में समस्त दोषों के मूल में आमोन रे की उपासना पद्धति, ओसाइरिस का महत्त्व, पुजारियों की स्वार्थवृत्ति तथा अभिचारिक एवं आडम्बरपूर्ण प्रवृत्ति विद्यमान थी। इनको दूर करने के लिए समूचे धार्मिक ताने-बाने को बदलना नितान्त आवश्यक था अतः सर्वप्रथम आमेनहोतेप ने बहुदेववाद एवं उसमें भी विशेष रूप से प्रचलित आमोन रे एवं ओसाइरिस के अस्तित्व को समाप्त कर एकेश्वरवाद का उपदेश दिया तथा 'आतोन' (Aton) नामक एक सर्वथा नवीन देवता की स्थापना की। आमेनहोतेप चतुर्थ की दृष्टि में आतोन मिस्र का ही नहीं, अपितु विश्व का एकमात्र देवता था। आतोन की कल्पना भौतिक सूर्य के रूप में नहीं बल्कि जीवनदायिनी ऊष्मा एवं प्रकाश के रूप में की गई। निराकार होते हुए भी अपनी किरणों के माध्यम से वह सर्वत्र व्याप्त था। वही विश्व की नैतिक व्यवस्था का संचालक था। कर्त्तव्यनिष्ठ एवं न्यायशील व्यक्ति उसके द्वारा पुरस्कृत होते थे। मानव-जाति की समस्त हितकर वस्तुओं का शाश्वत स्रष्टा वही था। बर्न्स के अनुसार किसी देवता में इस प्रकार की उदारवादी प्रवृत्ति हिब्रू देवता के पहले कहीं नहीं मिलती। अपने आराध्य देव आतोन की वन्दना में आमेनहोतेप चतुर्थ ने कई गीत लिखे। इन गीतों का मिस्री साहित्य पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। इन गीतों में से एक के विषय में विल ड्युरैण्ट प्रस्तावित करते हैं कि यह न केवल इतिहास की एक कविता है बल्कि हिब्रू

देवदूत आइजाइ (Isaih) के सात सौ वर्ष पूर्व की अद्वैतवाद की प्रथम उल्लेखनीय अभिव्यक्ति है।[1]

आमोन रे के पुजारियों द्वारा प्रस्तावित पारलौकिक जीवन सम्बन्धित मान्यताओं एवं ओसाइरिस के महत्त्व को सर्वथा अस्वीकार करते हुए आमेनहोतेप चतुर्थ ने ऐसे परलोक के अस्तित्व की घोषणा की जहाँ कष्ट था ही नहीं। उसका विश्वास था कि दयालु आतोन किसी को कष्ट देता ही नहीं। लेकिन इसका यह आशय नहीं था कि मनुष्य के लिए सदाचार पूर्णजीवन व्यतीत करना आवश्यक नहीं था। आमेनहोतेप चतुर्थ का विचार था कि सदाचारपूर्ण जीवन के अभाव में मनुष्य परलोक में कष्ट नहीं प्राप्त करता बल्कि मृतात्मा का पूर्णतया विनाश हो जाता है। मिस्रवासियों ने आत्मा की अमरता को सर्वाधिक महत्त्व दिया था। इसका समूल नाश उन्हें कदापि स्वीकार्य नहीं था। अतएव आत्मा की अमरता के लिए आमेनहोतेप चतुर्थ का सिद्धान्त उनके अनुकूल ही था।

प्रारम्भ में मिस्र के इस धर्म सुधारक ने उदारता एवं धर्मसहिष्णुता का परिचय दिया लेकिन जब परम्परागत धार्मिक विश्वासों एवं उपासना पद्धतियों के स्थान पर नवीन देवता एवं उससे सम्बन्धित मान्यताओं को स्थापित करने में उसे सफलता न मिली तो उसने अपना रास्ता बदल दिया। वास्तव में प्राचीन धर्म एवं आभिचारिक क्रियाओं के विरोध के कारण पुजारी असन्तुष्ट हो गये तथा संगठित होकर इसका विरोध प्रारम्भ कर दिये। इससे आमेनहोतेप चतुर्थ का रहा-सहा धैर्य भी टूट गया। धर्म सुधार की प्रबल प्रेरणा एवं आतोन के प्रति अंधभक्ति के कारण अन्ततः यह अत्यन्त क्रूर बन गया। इसने घोषणा कर दी कि आतोन के अतिरिक्त अन्य देवता का नाम जहाँ कहीं भी मिले उसे नष्ट कर दिया जाय। अतः ऐसे देवनाम जहाँ कहीं भी मिले उसे उड़ा दिया गया। यहाँ तक कि देवता के लिए प्रयुक्त बहुवचनपरक संज्ञा को भी उनमार्जित कर दिया गया। सैकड़ों स्मारकों पर खुदे पिता के नामांश आमेन (Amen) शब्द को भी मिटा दिया गया। आमोन देवता से उसे इतनी घृणा हो गई तथा आतोन से इतनी अधिक आत्मीयता हो गयी कि उसने स्वयं अपना नाम बदल कर 'इख्नाटन' (Ikhnaton)[2] धारण किया जिसका अर्थ है 'आतोन की आत्मा' या 'आतोन सन्तुष्ट है'। बाद में यह धर्म-सुधारक विश्व इतिहास में इसी नाम से प्रसिद्ध हुआ। केवल अपने धर्म को छोड़कर शेष अन्य धर्मों को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। आमोन के सभी मन्दिर बन्द कर दिये गये तथा वहाँ के पुजारियों को बहिष्कृत कर दिया गया। थीब्ज, जिसे लम्बे अर्से से राजधानी

---

1. Will Durant, The Story of Civilization, Vol. I. p. 210
2. Sometimes read as Akhenaton—Encyclopaedia Britannica, Vol. XII, p. 77

होने का गौरव मिला था, को एक भ्रष्ट नगर घोषित कर आतोन के नाम पर एक नवीन राजधानी बसाई गई जिसे एंखेटेटन (Akhetaton) नाम दिया गया।

यह इतिहास का दुर्भाग्य है कि इखनाटन द्वारा स्थापित एकेश्वरवादी सिद्धांत स्थायी न सिद्ध हुआ। उसके अगले उत्तराधिकारी तूतनकाटेन के सिहासन संभालते ही पुजारियों ने उस पर प्रभाव जमा लिया। दुर्बल तूतनकाटेन उनके प्रभाव में आकर पुनः मन्दिरों तथा पुजारियों से समझौता कर प्राचीन देवता आमोन को पुनः प्रतिष्ठित कर दिया। आमोन के साथ-साथ उन सभी देवताओं की पूजा फिर से प्रारम्भ की गई जिन्हें इखनाटन के समय में उपेक्षित कर दिया गया था। अपने देवता की स्थापना में जो व्यवहार इखनाटन ने अन्य देवताओं के साथ किया था ठीक वही तूतनकाटेन ने आतोन देवता के साथ किया। श्वसुर के पदचिह्नों पर चलते हुए दामाद ने भी आतोन तथा उससे सम्बन्धित नामांशों को नष्ट करवा दिया। उसने स्वयं अपना नाम बदल कर नया नाम तूतनकामेन धारण किया। इसके पुरोहितों ने इखनाटन को एक नास्तिक राजा घोषित कर दिया तथा उसके नाम लेने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया। धीरे-धीरे इखनाटन का धर्म विस्मृत कर दिया गया तथा मिस्र में पुनः इखनाटन के पूर्व की धार्मिक स्थिति आ गई। प्रश्न है इखनाटन का धर्म इतनी शीघ्रता से क्यों विलुप्त हो गया ? यदि तत्कालीन परिस्थितियों एवं इसके सुधारों को परस्पर ध्यान में रखते हुए इस पर विमर्श करें तो इसका कारण अज्ञात नहीं रह जाता। वास्तव में इस अनस्थायित्व के लिए इखनाटन स्वयं उत्तरदायी था। इखनाटन में न तो विचारों की प्रौढ़ता थी न दूरदर्शिता। यदि ये दोनों गुण उसमें होते तो निश्चित ही इस बात को वह भलीभाँति समझ जाता कि जनता की आदतों एवं आवश्यकताओं में गहराई से जड़ जमाए बहुदेववाद को समाप्त कर जिस एकेश्वरवाद की स्थापना वह करना चाहता है उसे इतने कम समय में और इतनी आसानी से नहीं स्थापित किया जा सकता। लेकिन इखनाटन तो एक दार्शनिक की अपेक्षा कवि अधिक था। वह शीघ्र ही परिवर्तन द्वारा पूर्णता प्राप्त करना चाहता था जो सर्वथा असम्भव था। उसकी शीघ्रता के कारण मिस्र का सम्पूर्ण ढांचा ही बदल गया।

इखनाटन का मूल्यांकन

इतिहास के अन्य विवादास्पद व्यक्तियों की भाँति इखनाटन के मूल्यांकन को लेकर भी इतिहासकारों में मतभेद है। ब्रेस्टेड[1] इखनाटन को विश्व इतिहास का विलक्षण शासक मानते हैं। आप के अनुसार इखनाटन इतिहास का प्रथम व्यक्ति है जो अतीत में पूर्णतया प्रतिकूल परिस्थितियों में भी विश्व का प्रथम आदर्शवादी व्यक्ति बन गया। यह सही है कि अपने राष्ट्रवासियों के लिए वह एक अपराधी मान लिया

---

[1] J. H. Breasted, A History of Egypt, p. 392

गया लेकिन हम अधिक से अधिक उसकी मदान्धता तथा उन निर्मम कृत्यों की, जिसमें उसने अपने पिता तक के नामांशों को मिटाने की कोशिश की थी, निंदा कर सकते हैं लेकिन निश्चित ही इखनाटन का अन्त एक ऐसी कर्मठ आत्मा का अन्त है जिसकी दुनिया को इसके पूर्व झलक भी नहीं मिली थी। विल ड्युरैण्ट[1] कहते हैं कि इखनाटन में प्रौढ़ विचारशीलता एवं धैर्य दोनों नहीं था। इखनाटन ने मिस्र के परम्परागत शक्ति सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित पुजारियों को वैसे ही अप्रसन्न कर दिया जैसे कवि शेली ने अपनी अधीरता से ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के पादरियों को। इखनाटन की शीघ्रता के फलस्वरूप ही मिस्र का पराभव हुआ। वह शासकमति कम कविमति अधिक था। प्रो० डीक्रुज[2] के अनुसार इखनाटन पुरोहितों के प्रशासनिक हस्तक्षेप से संत्रस्त था। इससे मुक्ति पाना आवश्यक था। इसे धार्मिक विश्वासों एवं मान्यताओं में परिवर्तन कर और उनकी शक्ति को कम करके ही प्राप्त किया जा सकता था। कुछ अन्य विद्वान् इखनाटन को एक अतितृष्ण एवं मूढ़ शासक स्वीकार करते हैं। उनका विचार है कि मन्दिरों एवं पुजारियों के पास विद्यमान अतुल सम्पत्ति से वह आकृष्ट हो गया था। इसी के अधिग्रहण के लिए उसने धर्म का सहारा लिया।

7153

इखनाटन के व्यक्तित्व के मूल्यांकन से सम्बन्धित उक्त सभी मत पूर्णतया निष्पक्ष एवं निर्दोष नहीं माने जा सकते। ब्रेस्टेड का यह कहना कि इखनाटन ने परम्परागत आदर्शों की जंजीर तोड़ कर व्यक्तिगत आदर्शवाद एवं एकेश्वरवाद की स्थापना की—यौक्तिक है लेकिन इतने से ही उसे इतिहास का विलक्षण व्यक्ति क्यों मान लिया जाय। प्राचीन विश्व में प्राय: सभी धर्मसुधारकों ने प्रचलित परम्पराओं के विरुद्ध अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये। भारत में महाबीर एवं गौतम बुद्ध, ईरान में जरथुश्त्र, चीन में कन्फ्यूशियस सभी ने यही किया। इसके साथ ही इन धर्मसुधारकों में अद्वितीय धैर्य, संयम एवं धार्मिक सहिष्णुता विद्यमान थी, जब कि इखनाटन में इन सभी गुणों का अभाव था। ऐसी स्थिति में इनसे इसे कैसे श्रेष्ठ माना जा सकता है। एक शासक के रूप में इखनाटन असफल ही कहा जा सकता है। हित्ती आक्रमण से संत्रस्त अधीनस्थ प्रान्तों ने जब इखनाटन से सहायतार्थ निवेदन किया तो वह यह निर्णय भी न कर सका कि क्या करना चाहिए। एक ओर पश्चिम एशिया के अधीनस्थ राज्य सहायता की याचना कर रहे थे दूसरी ओर मिस्री शासक आतोन की उपासना में व्यस्त था। डीक्रुज महोदय का यह कथन कि उसका आन्दोलन मन्दिरों एवं पुरोहितों की शक्ति एवं सम्पत्ति पर अधिकार करने के लिए किया गया था उचित नहीं है। यह सही है कि अब तक उनकी शक्ति पर्याप्त बढ़ गई थी और उन पर अंकुश आवश्यक था लेकिन प्रश्न है क्या इसके लिए धार्मिक आन्दोलन और वह भी अत्यन्त निर्ममतापूर्वक ही आवश्यक एवं उपयुक्त था ? क्या वह धर्म पर प्रत्यक्षत:

---

1. Will Durant, The Story of Civilization, p. 211
2. Edward D' Cruze, A Survey of World Civilization, p. 12

आघात कर जनता का विश्वास खोने के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय का अवलम्ब नहीं ले सकता था ? शासक के रूप में सर्वशक्तिमान वह अन्य उपायों का भी अवलम्बन ले सकता था लेकिन उसने ऐसा नहीं किया । अतः यह मानना कठिन है कि उसका धार्मिक आन्दोलन निजी स्वार्थों से उत्प्रेरित था ।

वास्तव में इख्नाटन के व्यक्तित्व में गुणों एवं अवगुणों का अभूतपूर्व सम्मिश्रण था । एक ओर यदि वह कवि प्रतिभा सम्पन्न, दार्शनिक तथा प्रगतिशील था तो दूसरी ओर उसमें संयम दूरदृष्टि तथा धैर्य का पूर्णतया अभाव था । तत्कालीन धार्मिक अवस्था देखकर उसका मन विक्षुब्ध हो उठा यह उसकी दार्शनिक एवं सुधारवादी प्रवत्ति का ज्वलन्त प्रमाण है तो सुधार की प्रबल प्रेरणा में यथाशीघ्र सम्पूर्ण व्यवस्था को बदलने का प्रयास उसकी हठधर्मी प्रवृत्ति तथा अदूरदृष्टि का । पिता के नामांशों को भी मिटा देना हठधर्म नहीं तो और क्या था ? आतोन के विषय में तो वह सोचा करता था कि वह शीघ्र ही चरम पद प्राप्त कर ले जो सर्वथा असम्भव था । विश्व के अन्य धर्म-सुधारकों, उदाहरणार्थ महाबीर जैन, गौतम बुद्ध, ज़रथुश्त्र तथा कन्फ्यूशियस सभी ने अपने-अपने सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में अतीव धैर्य एवं संयम का परिचय दिया । इसी कारण सभी को इख्नाटन की अपेक्षा अधिक और स्थायी सफलता मिली । इसके साथ ही इन लोगों ने जितना कष्ट उठाया, इख्नाटन ने उसका लेशमात्र भी नहीं उठाया था । राजसुख का उपभोग करने वाले इख्नाटन को एकान्त चिन्तन, भ्रमण तथा तपश्चर्या से क्या प्रयोजन था ? इख्नाटन में दूरदृष्टि बिल्कुल नहीं थी । यदि उसमें यह शक्ति होती तो वह भलीभाँति जान जाता कि जनमानस में बैठी पुरातन धार्मिक मान्यताओं को निकालने के लिए वह जो प्रयत्न कर रहा है उसका दूरगामी परिणाम अहितकर होगा । यह सही है कि उसके नये देवता में विद्यमान गुण आदर्श एवं अनुकरणीय थे लेकिन वह यह भूल गया कि इनका अनुसरण पुरातन मान्यताओं के विरोध में इतनी जल्दी नहीं किया जा सकता ।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि इख्नाटन मिस्र का एक साधारण शासक था जिसमें गुण एव दोष दोनों विद्यमान थे । उसके गुणों का लाभ किसी को न मिला, जबकि दोषों से मिस्र का सम्पूर्ण ढाँचा ही बदल गया । डॉ० रायचौधरी अशोक के संदर्भ में इख्नाटन का उल्लेख करते हैं लेकिन मैं समझता हूँ कि अशोक के साथ इख्नाटन का नाम जोड़ना उचित नहीं है । यह सही है कि दोनों शासकों ने अपने शासन काल में नवीन धार्मिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया लेकिन दोनों शासकों की कार्य-पद्धति सर्वथा भिन्न थी । अशोक ने अपने नवीन 'धम्म' की स्थापना एवं उसके प्रचार-प्रसार के साथ बौद्ध धर्म से अपने को पूर्णतया पृथक् न कर सका । इसी कारण समस्त बौद्ध जगत् में वह विशेष प्रतिष्ठा का भागी बना दूसरी ओर इख्नाटन केवल अपने धर्म प्रचार के पीछे ही मस्त था । उसे पुरातन धार्मिक मान्यताओं से क्या लेना-देना था । इसी कारण उसकी मृत्यु के बाद उसका धर्म भी समाप्त हो गया । अशोक अपने धर्म के साथ-साथ दूसरे धर्मों का भी सम्मान

करता था, जबकि इख्नाटन को अपने आराध्य देव आतोन को छोड़कर अन्य देवी-देवताओं से इतनी घृणा थी कि वह उनका नाम तक भी देखना नहीं चाहता था। एक धर्मनिष्ठ शासक के साथ-साथ अशोक कुशल प्रशासक भी सिद्ध हुआ तथा अपने जीवन काल में साम्राज्य को सब प्रकार से सुरक्षित रखने में पूर्णतया सफल रहा, जबकि इख्नाटन इस दृष्टि से पूर्णतया असफल ही माना जा सकता है।

कला

धर्म के पश्चात् मिस्रवासी कला के प्रति विशेष सजग दिखायी देते हैं। इतिहास के प्रारम्भ में हम यहाँ एक ऐसी प्रौढ़ एवं सशक्त कला का साक्षात्कार करते हैं जिसकी बराबरी भारतीय एवं यूनानी कला ही कर सकती है। इसी लिए मिस्रवासी इतिहास में सबसे बड़े निर्माता स्वीकार किये गये हैं। ब्रेस्टेड ने तो यहाँ तक कह दिया है कि मिस्र के सदृश कलात्मक प्रगति अन्यत्र कहीं नहीं हुई। पहले तो सुख एवं शान्ति के वातावरण में किन्तु बाद में थुत्मोस तृतीय एवं रैमिसीज द्वितीय के शासन काल में शोषण, उत्पीड़न तथा युद्ध के माध्यम से प्राप्त सम्पदा द्वारा मिस्र में अनेक विशाल स्मारकों, भवनों, मूर्तियों तथा बहुसंख्यक छोटी-मोटी कलाकृतियों के निर्माण से मिस्री कलाकारों ने पूर्णता प्राप्त कर ली। इसके समक्ष तो विकास एवं प्रगति का सिद्धान्त भी मंद पड़ जाता है। मिस्री कला की कतिपय आधारभूत विशेषताएँ थीं। मिस्री कलाकार लघु कृतियों की अपेक्षा विशाल कृतियों के निर्माण में अधिक रुचि लेते थे। उनके पिरामिड, मन्दिर, प्रासाद, मूर्तियाँ सभी विशाल हैं। गीजे का पिरामिड तथा कार्नाक का मन्दिर विश्व की सबसे बड़ी कृतियाँ हैं। थुत्मोस तृतीय तथा रैमिसीज की मूर्तियाँ आकाश छू रही हैं। कृतियों को बृहदाकार देते समय स्वाभाविकता से हटने में भी उन्हें किंचित् असुविधा नहीं होती थी। इसी कारण प्रस्तर-चित्रों में शासकों एवं दासों की आकृतियों में आश्चर्यजनक अनुपातहीनता दिखाई पड़ती है। कहीं-कहीं नेत्र तथा वक्षस्थल भी स्वाभाविक आकार से बड़े दिखाये गये हैं। लेकिन विशालता के प्रवाह में कलाकृतियों में स्थायित्व एवं दृढ़ता का अभाव नहीं होने पाया। मिस्री कलाकार कलाकृतियों को भी शाश्वत रूप देना चाहते थे। कहा जाता है कि ऐसा वे इसलिए करते थे ताकि वे तूफानी झोंके, नदी की अचानक घातक बाढ़ तथा मार्तण्ड की दाहक शक्ति का सामना कर सकें। सुदृढ़ता के कारण ही पिछले चार-पाँच हजार वर्षों से वे प्राकृतिक चुनौती का सामना करती हुई आज भी उसी रूप में विद्यमान हैं जैसे उन्हें छोड़ा गया था। मिस्री कलाकृतियों के विषय में एक अरबी कहावत पूर्णतया सत्य है—"सारा संसार समय से डरता है किन्तु समय पिरामिडों से"।[1] मिस्री कलाकृतियाँ जितनी ही आकार-प्रकार में बड़ी तथा सुदृढ़ हैं उतनी ही भव्य एवं मनोरम भी। केवल उक्त कुछ अपवादों को छोड़कर

---

[1] All world fears time, but time fears Pyramids.

जिनमें विशालता के प्रवाह में अनुपात विहीनता आ गई है, शेष में कहीं भी उनकी स्वाभाविकता एवं सुन्दरता में कमी नहीं आने पायी है। नारसिंही (Sphinx) मूर्ति की मुखाकृति पर जैसी सौम्यता, प्रौढ़ता एवं कान्ति है वैसी अन्यत्र नहीं मिलती। मिस्री कला का संवर्द्धन 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त पर नहीं बल्कि उपयोगिता के सिद्धान्त पर किया गया था। मिस्री कलाकार की तूलिका स्वतन्त्र नहीं अपितु परम्परा के बंधन में जकड़ी थी। यहाँ कला की जो परम्परा चल पड़ती थी कलाकार को उसी के अन्तर्गत अपनी सृजनात्मक शक्ति एवं कलात्मक प्रवृति का उपयोग करना पड़ता था। इसके परिणामस्वरूप मिस्री कलाकृतियाँ एक ही साँचे में ढली प्रतीत होती हैं। वास्तुकृतियों में समान रूप से विशाल स्तम्भों के प्रयोग की प्रचुरता तथा स्थापत्य कृतियों में अनुपातविहीनता दिखलायी पड़ती है। मिस्र के लम्बे इतिहास में कला में शैलीगत भेद प्रायः नहीं मिलता। लेकिन इसका यह आशय नहीं है कि यहाँ सदैव एक समान ही कलाकृतियाँ बनायी गईं। यह एक सार्वभौम सिद्धान्त है कि न तो सभी युग में आदर्श कलाकार जन्म ग्रहण करते हैं न कलाकृतियों का एक-सा सृजन होता है। इसी लिए मिस्री कला के स्वरूप में भी समय-समय पर परिवर्तन दिखाई पड़ता है। कभी यहाँ पिरामिडों की प्रधानता रही तो कभी मन्दिरों की।

मिस्रवासियों की धार्मिक निष्ठा का सर्वाधिक प्रभाव इनकी कला पर पड़ा था। इनके पिरामिड, मन्दिर, मूर्तियाँ एवं चित्रकला के बहुत से उदाहरण धार्मिक विश्वासों एवं मान्यताओं के फलस्वरूप बनाए गये थे। मिस्री कला में वास्तुकला की प्रधानता थी। मूर्तिकला, उद्भृत कला तथा चित्रकला का विकास यहाँ गौण कला के रूप में एवं वास्तुकृतियों के अलंकरण के लिए ही किया गया था। यह सही है कि मिस्री कलाकार के ऊपर परम्परा का दबाव था लेकिन ऐसे अनेक उदाहरण मिले हैं जिसमें उसकी स्वतन्त्र प्रवृति क्रियाशील दिखाई पड़ती है। ऐसी मूर्तियाँ यथार्थवादी प्रतीत होती हैं। इस संदर्भ में काहिरा संग्रहालय में सुरक्षित शेख की मूर्ति तथा लूवे संग्रहालय की लिपिक की मूर्ति का उल्लेख किया जा सकता है। मिस्री कला का संवर्द्धन शासकीय कला के रूप में हुआ था। यह एक प्रकार की अमीरों की कला थी। परवर्ती युग में यह प्रवृत्ति हमें भारतीय मौर्यकला में दिखायी पड़ती है। मिस्री पिरामिड, मन्दिर, प्रासाद सभी शासकों की रुचि, उनकी प्रेरणा तथा उन्हीं के उपयोग के लिए बनाये गये थे। मूर्तियाँ भी मन्दिरों एवं प्रासादों को अलंकृत करने के लिए बनायी गयी थीं। विविध प्रकार की लघु कलाकृतियों के निर्माण का उद्देश्य भी केवल राजमहलों को सजाना था। केवल कुछ अपवादों जो छोड़कर इसमें सर्वसाधारण की भावना को कोई महत्त्व नहीं मिला था। कलाकारों की गुमनामी इसकी एक अन्य विशिष्टता है। जिन कलाकारों ने फेराओ की स्मृतियों को सुरक्षित रखने का भगीरथ प्रयत्न किया वे अपना नाम तक न छोड़ सके। केवल कुछ कलाकारों, उदाहरणार्थ पीम्रे (Puemre), हापुसेनेब (Hapuseneb) तथा सेनमुत (Senmut) को छोड़कर शेष के विषय में हमें कुछ भी पता नहीं है। इसका कारण

यह नहीं था कि वे ऐसा चाहते ही नहीं थे बल्कि सत्यता यह है कि उन्हें ऐसा करने का अवसर नहीं मिला था। यहाँ एक ही कृति के निर्माण में विभिन्न कलाकार कार्य करते थे। एक मूर्ति की बाह्य रूपरेखा बनाता था तो दूसरा उसमें कुछ काट-छाँट कर उसे आगे बढ़ा देता था। तीसरा उसमें आँख लगाता था और चौथा उस पर लेख उत्कीर्ण करता था। ऐसी स्थिति में उनके नाम उत्कीर्ण करने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

वास्तुकला

मिस्र में इमारती लकड़ियों की कमी थी तथा प्रारम्भ में पाषाण-उत्खनन से मिस्रवासी अपरिचित थे अतः इनके प्रारम्भिक भवन नरकुल एवं मिट्टी की सहायता से ही बनाये गये। जलवायु की शुष्कता के कारण ये टिकाऊ भी थे तथा ग्रीष्म ऋतु में तेज धूप तथा शीत ऋतु में शीतल वायु दोनों से रक्षा भी हो जाती थी। घरों की दीवाल बनाने के लिए वे नरकुल की एक झझरी खडी कर उस पर मिट्टी लगा देते थे। छतें घास-फूस या पुआल की सहायता से बनायी जाती थीं। मिस्र में आज भी नरकुल तथा मिट्टी का उपयोग बाउण्ड्री बनाने में किया जाता है। नश्वर उपकरणों द्वारा बनाये गये मिस्र के प्रारम्भिक भवन विनष्ट हो गये हैं। गर्जियन (Gerzian) काल का एक नमूना अबाइडॉस से मिला है। इसमें दरवाजों के लिटल के लिए टिम्बर का भी प्रयोग किया गया था तथा दो खिड़कियों के लिटल तथा देहली का निर्माण भी लकड़ी की सहायता से किया गया था। ध्यातव्य है कि तृतीय राजवंश के काल तक यहाँ टिम्बर का आयात नहीं किया गया था। इसके बाद ही इसे सीरिया से मँगाया जाने लगा।

पिरामिड—मिस्री वास्तुकारों की प्रतिभा का वास्तविक प्रदर्शन पिरामिड निर्माण में दिखायी पड़ता है। पिरामिड शब्द मिस्री पि-रे-मस (Pi-re-mus) से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ ऊँचा होता है। इसका यूनानी पायर (Pyr-अग्नि) से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से पिरामिड किसी ऊँचे निर्माण को ध्वनित करता हैं लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से यह मिस्र के एक विशिष्ट प्रकार के भवन का द्योतक है। पिरामिडों का उद्भव एवं विकास प्राग्वंशीय मिस्र की कच्ची ईंटों की समाधियों से हुआ। इस युग में मिस्रवासी मृतकों को जमीन में दबा कर उन पर रेत का एक ढेर बना देते थे। प्रथम राजवंशीय काल में इसमें थोड़ा परिवर्तन किया गया। अब गड्ढों की दीवारों तथा रेत के ढेर को रोकने वाली दीवालों को सहारा देने के लिए कच्ची ईंटें प्रयुक्त की जाने लगीं। 3050 ई० पू० के आस-पास इस दिशा में कुछ और प्रगति की गई तथा कच्ची ईंटों के स्थान पर प्रस्तर-खण्डों का उपयोग किया गया। वास्तुकला में प्रस्तर के उपयोग का विश्व इतिहात में यह प्राचीनतम उदाहरण है। इसके आधार पर लगभग अर्द्धशती बाद ऐसी समाधियाँ बनायी गयीं जिन्हें 'मस्तबा' (Mastaba) नाम दिया गया। अरबी में मस्तबा का अर्थ है बेंच।

मिस्रवासी अपने घरों तथा दुकानों के सामने एक प्रकार के चबूतरे बनाते हैं जिसे मस्तबा कहा जाता है। इसके आकार-प्रकार से मिलते होने के कारण ही उन प्राचीन समाधियों को भी मस्तबा नाम दे दिया गया। 2980 ई० पू० में तृतीय राजवंश के शासक जोसेर के मन्त्री इम्होतेप ने सक्कर में एक विशाल मस्तबे के ऊपर क्रमशः छोटे होते गये मस्तबों की पाँच मंजिलें बनवायीं। इसे सोपान-पिरामिड (Step-Pyramid) नाम दिया गया। इसकी ऊँचाई 59.43 मीटर थी। तृतीय राजवंश के ही फेराओ स्नेफ्रू के शासनकाल में पिरामिड-निर्माण की दिशा में और प्रगति की गई। अब सीढ़ी वाले भाग को भर कर ढालदार बनाया गया। पूर्ण पिरामिडों का यह प्रथम उदाहरण है।

स्नेफ्रू के बाद यहाँ जो पिरामिड बनाये गये उन्हें सोपान-पिरामिड बना कर सीढ़ी वाले भाग को अलग से भरने के बजाय पहले से ही ढलवाँ बनाया जाने लगा। 2900 ई० पू० में चतुर्थ राजवंश के सम्राट् खुफू के शासन काल में विश्व का प्रसिद्ध पिरामिड बनाया गया। इसका निर्माण गीजे (Gizeh) में किया गया था। हेरोडोटस के अनुसार इसे एक लाख श्रमिकों ने बीस वर्ष में बनाया था। इसका निर्माण 5.265 हेक्टेयर भूमि में किया गया है। यह 146.6 मीटर ऊँचा है तथा इसका वर्गाकार विस्तार 230.1 मीटर है। इसमें कुल तेईस लाख शिलाखंड प्रयुक्त हैं जिनका औसत भार 5.22 मेट्रिक टन है। इनमें से कुछ का भार तो 153 मेट्रिक टन तक है। एक शिलाखण्ड को दूसरे पर इतनी सावधानी से रखा गया है कि कहीं-कहीं तो दोनों के बीच का अन्तर बाल से भी कम है। जिस प्रकार एक शिलाखण्ड को दूसरे पर रखा गया है उसमें मशाले का प्रयोग कैसे किया गया था आज भी रहस्य बना है। पिरामिड निर्माताओं की तुलना आधुनिक चश्माफरोश से की गयी है। दोनों में अन्तर केवल इस दृष्टि से है कि पिरामिड हेक्टेयर के पैमाने पर कार्य करते थे जबकि चश्माफरोश सेंटीमीटर के पैमाने पर कार्य करते हैं।

2.55 से लेकर 153 मेट्रिक टन भार के शिलाखण्डों को उनके उद्गम स्थल से अभीष्ट स्थान तक पहुँचाना साधारण कार्य नहीं था और उस समय जब क्रेन या घिरनी का आविष्कार नहीं किया गया था। कहा जाता है कि बड़े-बड़े शिलाखण्डों को बरमा की सहायता से थोड़ा-सा अलग कर उसमें लकड़ी की कील जड़ देते थे। पानी पड़ने से ये कीलें फूलती थीं जिससे चट्टानें एक दूसरे से अलग हो जाती थीं। इन्हें नदी के किनारे-किनारे लाते थे। फिर रोलर की सहायता से इन्हें अभीष्ट स्थान तक पहुँचाया जाता था। सम्पूर्ण पिरामिड ठोस बनाया गया है केवल एक स्थल पर दो-तीन शिलाखण्ड नहीं हैं जहाँ से एक गुप्त मार्ग भीतर की ओर जाता है इसी से सम्राट् के शव को अन्दर पहुँचाया गया था। इसी मार्ग से यात्री अन्दर की ओर जाता है और सौ सीढ़ियाँ पार कर वह बिलकुल केन्द्र में पहुँच जाता है। यहीं अँधेरे एवं गुप्त स्थान पर खुफू तथा उसकी महारानी के शव रखे गये थे। संगमरमर की बनी शवपेटिका अभी भी सुरक्षित है लेकिन खण्डित हो गई तथा खाली है।

पिरामिड की गणना विश्व के सात आश्चर्यों में की गई है। इनसे मिस्रवासियों की कलात्मक प्रगति का नहीं, अपितु शासकों की शक्ति, सुदृढ़ता एव प्रभावकता के साथ-साथ उनके अदम्य उत्साह एवं कार्यक्षमता का भी अनुमान लगाया जा सकता है। प्रश्न है समय को भयभीत करने वाले पिरामिड के निर्माण के पीछे मिस्रवासियों का कौन-सा उद्देश्य छिपा था ? इस प्रश्न का समुचित एवं समादरित उत्तर वर्तमान समय में देना कठिन है। इस सम्बन्ध में कई धारणाएँ प्रचलित हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार इनका निर्माण जनता को रोजगार देने के लिए उस समय किया गया जव मिस्र की आर्थिक व्यवस्था बिगड़ गयी थी। लेकिन इसे मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। जिस समय मिस्र में पिरामिडों का निर्माण किया गया मिस्र आर्थिक दृष्टि से समृद्ध था अन्यथा इस प्रकार के निर्माण हो ही न पाते। यह अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि एक लाख श्रमिकों ने बीस वर्ष तक परिश्रम करके गीजे का पिरामिड बना कर मिस्र को आर्थिक दृष्टि से दुर्बल अवश्य कर दिया लेकिन यह मानना अनुचित है कि आर्थिक दुर्बलता के कारण ही इनका निर्माण किया गया। ब्रेस्टेड उचित ही कहते हैं कि चतुर्थ राजवंश के समय मिस्र आर्थिक दृष्टि से अतीव समृद्ध हो गया था। इसी लिए विश्व को आश्चर्य में डालने वाले पिरामिड बनाये गये। वास्तव में पिरामिडों का निर्माण धार्मिक एवं राजनीतिक कारणों से किया गया था। इनका विकास मूलतः आदिम समाधियों से ही हुआ। इसके पीछे मिस्रवासियों की पारलौकिक भावनाएँ छिपी थीं। अमर फेराओ के शव की सुरक्षा एवं आवास के लिए उनके ठाट-बाट के अनुकूल इनका निर्माण किया गया। इससे उन्होंने राष्ट्रीय अमरता का संदेश ग्रहण किया। प्रसिद्ध इतिहासकार ट्वायनबी पिरामिड निर्माण के उद्देश्य की व्याख्या भिन्न ढँग से करते हैं। उनके अनुसार जब मिस्री शासकों को भौतिक चुनौती पर विजय मिल गई और उन्होंने निचली नील की घाटी के जल, मिट्टी तथा वनस्पति को मानव की आज्ञा के अधीन कर लिया उनके समक्ष महान् मानवीय संगठन को अनुशासन में रखने की समस्या उठी। यह एक प्रकार की नैतिक चुनौती थी। इसके लिये इन्हें पिरामिड बनाना पड़ा। पिरामिडों ने इन नृशंस शासकों को अमर कर दिया। अमर देवताओं के रूप में नहीं बल्कि गरीबों को पीसने वालों के रूप में।

मन्दिर—मन्दिर-निर्माण प्राचीन राज्य युग में ही प्रारम्भ हो गया था। इसमें वे एकश्मीय स्तम्भों का प्रयोग करते थे। मेट्रोपोलिस के प्रथम मन्दिर तथा टाः के मन्दिर का निर्माण मेना के संरक्षण में किया गया था। लेकिन इसका वास्तविक विकास मध्य राज्य युग एवं साम्राज्य युग में दिखायी पड़ता है। मध्य राज्य युग में पिरामिड का स्थान मन्दिरों ने ग्रहण कर लिया जिनका पूर्ण विकास साम्राज्य युग में दिखायी पड़ता है। साम्राज्य युग तक मिस्रवासियों की आस्था फेराओ के शव सुरक्षित रखने की ओर से हटने लगी तथा देवताओं के प्रति उनका आकर्षण बढ़ गया। अब उनके लिए वे विशाल देवालयों की योजना बनाने लगे। देवालयों का

निर्माण कठोर प्रस्तर खंडों द्वारा किया गया तथा आकार-प्रकार में इन्हें काफी भारी-भरकम बनाया गया। साम्राज्य युगीन प्रमुख मन्दिरों में कार्नाक तथा लक्जोर के मन्दिर विशेष प्रसिद्ध हैं। कार्नाक मन्दिर सम्भवतः विश्व का सबसे बड़ा भवन है। इसका निर्माण मिस्री साम्राज्ञी हतशेपसुत एवं थुत्मोस तृतीय के समय में किया गया था। यह लगभग 396.2 मीटर लम्बा है। इसके मध्यवर्ती कक्ष का विस्तार 103 × 53 मीटर है। इसमें सोलह पंक्तियों में एक सौ छत्तीस स्तम्भ बनाये गये थे जिनमें मध्यवर्ती बारह स्तम्भ 21 मीटर ऊँचे हैं। प्रत्येक के ऊपर 3.35 मीटर ऊँचा शीर्ष भाग है जिस पर सौ व्यक्ति खड़े हो सकते हैं। इसकी छत पीछे की ओर नीची दिखाई गई है। लक्जोर के मन्दिर का निर्माण आमेनहोतेप तृतीय के समय में प्रारम्भ किया गया था लेकिन उसके समय में पूर्ण न किया जा सका। आमेनहोतेप तृतीय का उत्तराधिकारी कवि एवं दार्शनिक अधिक था अतएव उसने इस दिशा में कोई रुचि न दिखाई। आमेनहोतेप चतुर्थ के बाद इसमें कुछ कार्य आवश्य किया गया किन्तु यह पूर्ण न हो सका। नूबिया में स्थित आबू सिम्बेल का मन्दिर एक प्रकार का गुहा मन्दिर है। इसका निर्माण सेती प्रथम तथा रैमिसीज द्वितीय के समय में किया गया था। यह 53.33 मीटर लम्बा तथा 27.43 मीटर ऊंचा है। इसका मध्यवर्ती कक्ष 6.09 मीटर ऊँचे स्तम्भों पर टिका है। इसके साथ ओसाइरिस की 5.18 मीटर ऊँची मूर्तियाँ बनी हैं। द्वार पर 18.28 मीटर ऊँची फेराओ की चार मूर्तियाँ चट्टानों को काटकर तक्षित हैं। मन्दिरों के अतिरिक्त मिस्र में बहुत से सूच्याकार स्तम्भ भी बनाए गये थे। थुत्मोस तृतीय ने 19.5 मीटर ऊंचे एक स्तम्भ का निर्माण करवाया था। महारानी हतशेपसुत द्वारा निर्मित स्तम्भ 32 मीटर ऊँचा था। ऐसा कहा जाता है कि उसका विचार इसे 42 मीटर ऊँचा करने का था लेकिन किसी कारणवश इसे रोक दिया गया था। वास्तव में मिस्र में स्तम्भों, जिनमें निस्संदेह कुछ स्मारकों तथा मन्दिरों के हैं, का एक जंगल-सा दिखायी पड़ता है जो सौंदर्य, भव्यता एवं दृढ़ता में अद्वितीय हैं। इस प्रकार उनके स्मारकों, पिरामिडों, मन्दिरों तथा स्तम्भों के कुछ नमूने आज भी नील घाटी में फैले हैं तथा उस प्राचीन जाति की क्षमता एवं साहस का यशगान कर रहे हैं।

मूर्तिकला

केवल कुछ अपवादों को छोड़ कर मिस्र में मूर्तिकला का विकास वास्तुकला के सहायक रूप ही किया गया था। प्राचीन राज्य युगीन पाषाण मूर्तियों में खेफ्रे एवं हेमसेत की बैठी मूर्तियों का उल्लेख किया जा सकता है। खेफ्रे की मूर्ति कड़े पत्थर की बनायी गयी है तथा मूर्तिकला के इतिहास में विशिष्ट स्थान रखती है। पाँच हजार वर्ष पूर्व निर्मित इस मूर्ति पर कालचक्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसमें शासक की दृढ़ता, बुद्धिमता, आत्मविश्वास एवं उत्साह की झलक मिलती है। खड़ी मुद्रा में निर्मित मूर्तियों में रैनोफर (Ranofer) पुजारी की मूर्ति विशेष रूप से

उल्लेखनीय है। इन सबसे आगे और अलग खेफ्रे के पिरामिड के सामने स्थित नारसिंही (Sphinx) मूर्ति है जो मिस्रवासियों को सबसे बड़ा मूर्तिकार बता रही है। इसमें शरीर सिंह का तथा सर फेराओ का है। विश्व में शायद इतनी बड़ी मूर्ति कभी कहीं नहीं बनायी गयी। इसमें शासक के शौर्यपूर्ण एवं सिंहवत् निर्भीक व्यक्तित्व को सफलतापूर्वक उसी प्रकार प्रदर्शित किया गया है जैसे बाद में भारत में सारनाथ के सिंहों के रूप में भारतोय सम्राट् अशोक की शान-शौकत, शक्ति और अधिकार को प्रदर्शित किया गया। यद्यपि मैमलूकों (Mamelukes) की गोलाबारी से इसकी नाक एवं दाढ़ी का कुछ अंश छतविछत हो गया है तथापि इससे शासक का दर्पपूर्ण व्यक्तित्त्व स्पष्टतः प्रतिभासित होता है। सर्वसाधारण की मूर्ति बनाते समय मिस्री कलाकार परम्परा के बन्धन से स्वतन्त्र दिखायी पड़ता है। इसी लिए ऐसी मूर्तियों में स्वाभाविकता अधिक है। इस दृष्टि से काहिरा संग्रहालय में विद्यमान एक निरीक्षक (Overseer) तथा लूव्रे संग्रहालय में सुरक्षित एक लिपिक की मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। निरीक्षक की मूर्ति को 'शेख की मूर्ति' के नाम से भी जाना जाता है। वास्तव में अरबी मजदूरों ने जिस समय इसे सक्कर की समाधि से प्राप्त किया था उसकी आकृति देख कर इसे उन्होंने शेख-अल-बेलेड (Shekh-el-beled) अर्थात् गाँव के मुखिया की उपाधि दे दी थी तभी से यह शेख की मूर्ति के नाम से प्रसिद्ध हो गई। यह मूर्ति काष्ठ निर्मित है। समय का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसके प्रथम दर्शन से ऐसा लगता है जिस व्यक्ति की यह मूर्ति है वह अपने जीवन एवं सामाजिक स्थिति से सन्तुष्ट है तथा आराम की जिन्दगी व्यतीत कर रहा है। हाथ में एक लाठी धारण किए हुए अधिकारपूर्वक वह एक कदम आगे बढ़ाता प्रतीत होता है जैसे मजदूरों के कामों के निरीक्षण के लिए निकला है। घुटे हुए सिर तथा कटि में आवृत वस्त्र देखने से लगता है कि कला अब तक अपने परम्परागत स्वरूप से काफी आगे बढ़ गई थी। इस मूर्ति के सम्बन्ध में मास्पेरो (Maspero) ने कहा है कि यदि मुझे संसार की सर्वश्रेष्ठ कृतियों में से किसी को चुनने के लिए कहा जाय तो मैं इसी मूर्ति को चुनूंगा।[1] ब्रेस्टेड इस मूर्ति के अज्ञात शिल्पी को प्राचीन विश्व के सर्वश्रेष्ठ कलाकारों में स्वीकार करते हैं। ग्लानवाइल प्रस्तावित करते हैं कि केवल इसी अकेली कृति से यह सिद्ध हो जाता है कि मिस्री कलाकार इस क्षेत्र में कितनी सफलता प्राप्त कर लिए थे। लिपिक की मूर्ति में लेखक पलथी मारे बैठा है। उसकी भाव-भंगिमा से ऐसा लग रहा है जैसे वह स्वामी के आदेश को लिपिबद्ध करने बैठा है। प्राचीन राज्य युग में काष्ठ एवं पाषाण की इन मूर्तियों के अतिरिक्त धात्विक मूर्तियाँ भी बनायी गयीं। कभी-कभी काष्ठ के ऊपर ताँबा चढ़ा दिया जाता था और कभी-कभी स्वतन्त्र रूप से ताम्र एवं सुवर्ण की सहायता से मूर्तियाँ बनायी जाती थीं। प्रथम कोटि की मूर्तियों में काहिरा

---

[1] G. Maspero, Art in Egypt, p. 84

संग्रहालय में विद्यमान पेपी प्रथम की मूर्ति का उल्लेख किया जा सकता है। इसमें आँखें ज्वाला काँच (Obsidian) एवं चूना पत्थर (Lime Stone) की बनायी गयी हैं। काहिरा संग्रहालय में सुरक्षित हियराकोनपोलिस के पवित्र श्येन की मूर्ति ताम्र एवं सुवर्ण द्वारा बनायी गयी थी। इसमें ताम्र-निर्मित शरीर तो नष्ट हो गया है किन्तु स्वर्ण-निर्मित शीर्ष अवशिष्ट है। इसमें भी आँखें ज्वाला काँच से बनी हैं।

मध्य राज्य युग मिस्री मूर्ति कला की दृष्टि से आदर्श नहीं माना जा सकता। यद्यपि कलाकारों को आदर्श मूर्तियों के निर्माण का पूर्ण अवसर था और यदि वे चाहते तो प्राचीन राज्य युग से अच्छी मूर्तियाँ बनाते लेकिन वे इस दिशा में प्रायः उदास ही दिखाई पड़ते हैं। बारहवें राजवंश के काल में इस क्षेत्र में कुछ प्रगति का आभास मिलता है। एमेनेम्हेत तृतीय का प्रस्तर-शीर्ष यह बता रहा है कि मिस्री मूर्ति-कला पुन: अपना प्राचीन गौरव प्राप्त कर रही थी। इसमें सम्राट् का दृढ़ व्यक्तित्व स्पष्टतः प्रदर्शित है। एमेनेम्हेत तृतीय की ही 15.23 मीटर ऊँची प्रतिमा भी कला की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसके बाद लगभग तीन सदियों तक मिस्री मूर्तिकला की प्रगति रुकी रही। साम्राज्य युग की स्थापना से इसमें पुन: गति आयी। मन्दिरों के अलंकरण के लिए इनका बनना आवश्यक भी था। साम्राज्य युगीन मन्दिरों के प्रत्येक भाग में सुन्दर-सुन्दर मूर्तियाँ सजायी रहती थीं। साम्राज्य युगीन मूर्तिकारों को मूल प्रेरणा तो प्राचीन युगीन कलाकृतियों से मिली लेकिन समय की गति एवं साम्राज्य-प्रसार के साथ इनका आकार-प्रकार बढ़ता गया। साम्राज्य प्रसार के साथ-साथ उनकी अहमन्यता भी बढ़ती गई जिसे कलाकृतियों के माध्यम से उन्होंने अभिव्यक्त किया। थुत्मोस तृतीय तथा रैमिसीज द्वितीय की गगन-स्पर्शी मूर्तियाँ बता रही हैं कि मिस्री कलाकार कितनी बड़ी मूर्तियाँ बनाना चाहते थे। मेट्रिपोलिटन कला संग्रहालय में सुरक्षित महारानी हतशेपसुत की ग्रेनाइट की बनी मूर्ति का धड़, काहिरा संग्रहालय की थुत्मोस चतुर्थ की मूर्ति का शीर्ष, थीब्ज से प्राप्त आमेनहोतेप द्वितीय का शीर्ष, लूव्रे संग्रहालय में रखी आमेनहोतेप चतुर्थ की मूर्ति इत्यादि साम्राज्य युगीन मूर्तिकला के कुछ चुने हुए आदर्श उदाहरण हैं। लेकिन रैमिसीज द्वितीय के बाद मिस्री मूर्तिकला में फिर एक बार ह्रास दिखायी पड़ता है। पुन: साइत-काल में कुछ प्रगति हुई तथा कांस्य की सहायता से कतिपय यथार्थिक मूर्तियाँ बनायी गयीं। इस दृष्टि से तेकोशेत (Tekoschet) नामक एक भद्र महिला की मूर्ति उल्लेखनीय है। पशुओं की मूर्तियों के निर्माण में भी साम्राज्य युगीन कलाकार अत्यधिक सफल रहे। बर्लिन संग्रहालय की बिल्ली तथा बकरे के सिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके बाद मिस्र पर पारसीकों का प्रभुत्व स्थापित हो गया तथा उनकी मूर्तिकला का विकास पूर्णतया अवरुद्ध हो गया।

उद्भृत कला

मूर्तिकला के साथ-साथ मिस्र के कलाकार उद्भृत कला में भी काफी आगे

थे। विल ड्यूरैण्ट तो यहाँ तक कहते हैं कि इतिहास में कभी किसी जाति ने अपने इतिहास एवं कथाओं को इतने परिश्रम से दीवारों पर नहीं उत्कीर्ण किया। विल ड्युरैण्ट महोदय का यह कथन अतिशयोक्ति से विरत नहीं माना जा सकता। भारतीय कलाकारों को साँची और भरहुत की उद्भृत मूर्तियों में इससे कम सफलता नहीं मिली थी। मिस्री उद्भृत कला के जो प्रारम्भिक उदाहरण मिले हैं उनमें कुछ कमियाँ दिखायी पड़ती हैं। सबसे बड़ी कमी यह है कि इसमें शासक तथा शत्रु के शारीरिक चित्रण में पर्याप्त अन्तर है जिससे वे अस्वाभाविक लगते हैं, इसी प्रकार नाक, ढुड्डी तथा पैर बहुत छोटे दिखाये गये हैं जबकि आँख तथा स्तनों को बहुत बड़ा दिखाया गया है। लेकिन इन प्रारम्भिक कमियों को बाद में काफी हद तक दूर कर लिया गया। एक समाधि पर उत्कीर्ण गरुड़ एवं सर्प के चित्र तथा सक्कर के सोपान पिरामिड के चूने के पत्थर पर उत्कीर्ण सम्राट् जोसेर के चित्र इनके उद्भृत कला के कुछ आदर्श उदाहरण हैं। आगे चल कर यहाँ उद्भृत चित्रों के माध्यम से लम्बी-लम्बी घटनाओं को व्यक्त किया जाने लगा। थुत्मोस तृतीय तथा रैमिसीज के चित्रों में उनकी सवारी का पूरा-पूरा प्रदर्शन किया गया है। साम्राज्ञी हृतशेपसुत द्वारा प्रेषित एक अभियान का अत्यन्त सावधानीपूर्वक एवं कलात्मक ढंग से चित्रण किया गया है। बड़ी-बड़ी जहाजें सागर में तैरती हुई दिखाई गयी हैं। उनके साथ बड़े-बड़े समुद्री जीव भी तैरते हुए चित्रित हैं। जहाज पुण्ट के किनारे पहुँच जाते हैं तथा वहाँ की जनता एवं शासक को इसका स्वागत करते हुए दिखाया गया है। वहाँ से बहुत-सा माल लेकर जहाज थीब्ज लौटते हैं जहाँ बन्दरगाह पर उनका माल उतारा जाता है। साम्राज्ञी के श्री चरणों में अनेक वस्तुएँ चढ़ाई जा रही हैं। एक अन्य स्थल पर इन आयातित वस्तुओं से मिस्र सजाया जा रहा है।

चित्रकला

मूर्ति एवं उद्भृत कला की भाँति चित्रकला का विकास भी यहाँ स्वतन्त्र कला से रूप में नहीं बल्कि वास्तुकला के सहायक रूप में ही हुआ था। चित्रकार का कार्य यहाँ उन मूर्तियों में रंग भरना था जिन्हें मूर्तिकार बनाता था। मिस्री चित्रकला का विकास परवर्ती युग में हुआ था इसलिए इस पर परम्परा का अधिक दबाव न पड़ा। इस पर धर्म का प्रभाव अवश्य पड़ा लेकिन इसे हम औपचारिक ही मान सकते हैं। प्राचीन राज्य युगीन चित्रकला के उदाहरणों में छः बतखों के चित्र का उल्लेख किया जा सकता है। लेकिन इसकी अपेक्षा मध्य राज्य युग में अधिक प्रगति हुई। इस दृष्टि से बेनी हसन की समाधियों से प्राप्त किसान एवं हिरन के झुण्ड तथा शिकार की प्रतीक्षा में बैठी बिल्ली के चित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये चित्र डिस्टेम्पर शैली में बनाये गये थे। साम्राज्य युग में चित्रकला में और प्रगति हुई। दलदल में कूदते हुए वन्य वृषभ, भयातुर शीघ्रता से भागते हुए हिरण तथा तालाब में तैरते हुए बतख के चित्र इस युग के कतिपय आदर्श चित्रों में

उदाहरण हैं । अब तक मिस्री चित्रकार प्राकृतिक छटा का अत्यन्त सहज एवं स्वाभाविक चित्रण कर लेते थे । धरातल को वे इस ढंग से चित्रित कर देते थे कि देखने से वह तालाब के समान प्रतीत होता था । लक्जोर मन्दिर की छत विभिन्न तारा-समूहों से इस प्रकार चित्रित थी कि उसके प्रथम दर्शन से आकाश का भ्रम हो जाता था । मिस्री चित्रकला के सम्बन्ध में विल ड्युरैण्ट[1] महोदय का यह कथन कि अपनी समस्त कमियों के वावजूद भी मिस्री चित्रकला ने इतनी ऊँचाई प्राप्त कर ली कि चीन के मध्यकालीन राजवंशों के समय के पूर्व किसी भी पौर्वात्य सभ्यता में उनकी बराबरी नहीं की जा सकती, युक्तियुक्त नहीं है । विद्वान् लेखक शायद यह भूल गया कि हमारे यहाँ के गुप्तकालीन अजन्ता एवं बाघ की गुफाओं की भीतरी दीवालों पर बने चित्र किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं । निवेदिता के अनुसार अजन्ता के एक चित्र, जिसमें शासक एक राजहंस की बातों को सुनता हुआ प्रदर्शित है, की बराबरी विश्व में अन्यत्र नहीं मिल सकती ।[2]

गौण कलाएँ

उपर्युक्त कलाकृतियों के अतिरिक्त मिस्र में अन्यान्य छोटी-छोटी कलाकृतियाँ बनायी गयीं । इसमें गृहोपयोगी, अलंकरण एवं प्रसाधन से सम्बन्धित सामग्रियों का उल्लेख किया जा सकता है । इनमें भी मिस्री कलाकारों की वही कलात्मक प्रवृति कार्यरत दिखायी पड़ती है जो वास्तु, स्थापत्य, उद्भृत-मूर्तियों तथा चित्रकला में । बुनकर आकर्षक एवं अलंकृत चादरें तथा कालीन बनाते थे । तूतनकामेन की समाधि से काष्ठ-कला के विविध कलात्मक उपकरण प्राप्त हुए हैं । इनके बर्तनों में से कुछ की बराबरी केवल चीन में मिलती है । बर्तनों में से कुछ की दीवारें इतनी पतली थीं कि उनसे आर-पार सरलतापूर्वक दिखायी पड़ता है । मध्य राज्य एवं साम्राज्य युगीन स्वर्णकारों द्वारा निर्मित कर्णफूल, कंठहार, मणिबंध; मुकुट एवं मुद्रिकाएँ भी कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं ।

बौद्धिक उपलब्धियाँ

लिपिकला एवं लेखन सामग्री

प्राचीन विश्व में संभवतः मिस्रवासियों ने सबसे पहले लिपिकला का आविष्कार किया । इसका प्रारम्भ प्रथम राजवंशीय काल में हुआ तथा चतुर्थ राजवंश के समय तक यह पूर्णतया विकसित हो गई । प्रारम्भ से ही मिस्रवासी अपने भावों को विभिन्न चित्रों के माध्यम से व्यक्त करते थे । इनमें पशु-पक्षी, मनुष्य तथा ज्यामितीय

---

[1] Will Durant, The Story of Civilization, Vol. I., p. 191

[2] उदय नारायण राय, गुप्त सम्राट् और उनका काल, पृ० 418

चित्रों की बहुलता थी। मिस्र की इस प्राचीन लिपि को यूनानियों ने चित्रलिपि (Heiroglyphic) नाम दिया है। हाइरोग्लिफिक का शाब्दिक अर्थ है 'पवित्र चिह्न'। मिस्रवासी स्वतः भी अपनी लिपि को देववाणी (The Words of the God) स्वीकार करते थे तथा इसकी उत्पत्ति वे टाः देवता से मानते थे। लिपिकला की दैवी उत्पत्ति की मान्यताएँ हमारे यहाँ तथा हिब्रुओं में भी प्रचलित थीं। मिस्रवासी अपने लिपि प्रतीकों को अत्यन्त कलात्मक ढंग से चित्रित करते थे। सौंदर्य की दृष्टि से मिस्री चित्रलिपि की बराबरी कोई दूसरी लिपि नहीं कर सकती है।[1] दुर्दिन में भी वे कलात्मकता से पीछे नहीं हो पाये। वे चित्रलिपि प्रतीकों को विविध रंगों से रँगते थे। इसके लिए कुछ रंग निश्चित कर लिये गये थे। उदाहरणार्थ, ताँबे, सुवर्ण, लकड़ी, जल तथा वस्त्र को क्रमशः नीले, पीले, हरे अथवा लाल, काली पंक्तियों के साथ नीले तथा लाल रंग से रँगते थे।

सुमेरियन कीलाक्षर लिपि की भाँति मिस्री हाइरोग्लिफिक के भी शब्दांश या अक्षरात्मक (Syllabic), ध्वनिबोधक (Phonetic) तथा संकेतसूचक (Determinatives) तीन रूप मिलते हैं। अक्षरात्मक लिपि में दो अथवा तीन व्यंजनों को व्यक्त किया जाता था। इसमें स्वर की स्थिति कहीं भी संकेतित नहीं मिलती। ध्वनिबोधक लिपि में सुमेरियन कीलाक्षर की भाँति किसी वस्तु के चित्र की ध्वनि को उस चित्र के अर्थ से भिन्न अर्थ में ग्रहण किया गया। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी के belief शब्द को लीजिए। इसमें be तथा lief दो शब्दांश हैं। अब अगर मिस्रवासी को इसे ध्वनिबोधक लिपि में लिखना होता तो वह be के लिये 'bee' तथा lief के लिये leaf का चित्र बनाता और दोनों को मिलाकर 'belief' की ध्वनि प्राप्त कर लेता। संकेतसूचक लिपि में उन्होंने कतिपय संकेत सूचक प्रतीकों का प्रयोग किया। उनके कुछ संकेतसूचक बहुत सरल थे, जैसे चलते हुए पैर के एक जोड़े से चलने, दौड़ने, नाचने, गाने इत्यादि का भाव प्रकट करते थे।

मिस्रवासी सुमेरियन से आगे बढ़ कर हाइरोग्लिफिक का प्रयोग वर्णमाला के रूप में भी किये। ब्रेस्टेड के अनुसार पैंतीस सौ ई० पू० में ही मिस्रवासी चौबीस अक्षरों वाली वर्णमाला से परिचित हो गये थे। यह प्रथम ज्ञात वर्णमाला है। लेकिन पुराणपंथिता के कारण वे इसका अधिक प्रयोग न कर सके। इसका उपयोग ध्वनिबोधक तथा भावबोधक चित्रों के सहायक रूप में ही किया जाता था।

हाइरोग्लिफिक के साथ-साथ मिस्रवासी पौरोहित्यिक (Hieratic) तथा लोकलिपि (Demotic) दो अन्य लिपियों का भी प्रयोग करते थे। पौरोहित्यिक लिपि सरल एवं द्रुत लिपि थी। इसके प्रथम आविष्कर्ता पुरोहित थे। इसी लिए इसे यह नाम दिया गया था। प्रारम्भ में इसका प्रयोग पुरोहित ही करते थे लेकिन बाद में

---

1. M. A. Murray, The Splendour that was Egypt. p. 231.

इसे सर्वसाधारण ने भी अपनाया। इसमें मूल प्रतीकों को अति संक्षिप्त कर दिया जाता था। इसका प्रयोग यहाँ सात सौ ई० पू० तक होता रहा। मिस्री पौरोहित्यिक लिपि तथा हाइरोग्लिफिक में उतना ही अन्तर था जितना आधुनिक हस्तलिखित तथा मुद्रित अंग्रेजी अक्षरों में। सातवीं शती ई० पू० में पौरोहित्यिक लिपि की कठिनाई को समझते हुए मिस्रवासियों ने एक अन्य सुगम लिपि का विकास कर लिया। सर्वसाधारण में प्रचलित होने के कारण इसे लोक लिपि की संज्ञा से अभिहित किया गया। यह एक प्रकार की आशु लिपि (Short hand) थी। प्रारम्भ में इसका प्रचलन व्यापारियों में अधिक था लेकिन बाद में दूसरे लोग भी इसका प्रयोग करने लगे।

प्राचीनकाल से ही मिस्रवासी पेपाइरस नामक एक पौध के गूदे से कागज बनाना जान गये थे। पहले पेपाइरस की लम्बी पर्तें निकाल ली जाती थीं। फिर एक पर्त को दूसरी के ऊपर तिरछी बिछा कर उसे दबाया जाता था। इस विधि से जो कागज तैयार होता था उसे भी गोंद इत्यादि से जोड़कर लम्बी-लम्बी पाटियाँ बना ली जाती थीं। इस प्रकार कभी-कभी 36.5 मीटर तक लम्बी पट्टी बना लेते थे। इसकी मजबूती का अनुमान हम इसी से लगा सकते हैं कि पाँच हजार वर्ष पूर्व इन पत्रों पर लिखी गई पाण्डुलिपियाँ आज भी उसी रूप में सुरक्षित हैं। आधुनिक पेपर (Paper) शब्द इसी प्राचीन पेपाइरस से बना है। पेपाइरस पत्रों के अतिरिक्त मृद्भाण्डों के टुकड़ों, अस्थियों तथा लकड़ियों का उपयोग भी लिखने के लिए किया जाता था। पानी के साथ गोंद तथा कालिख मिलाकर एक प्रकार की कभी न मिटने वाली स्याही बनाते थे। लिखने के लिए नरकुल की नुकीली लेखनी तथा ब्रुश का उपयोग करते थे। सक्कर से प्राप्त एक उद्भृत चित्र में दो लिपिकों को लिखते हुए दिखाया गया है। उनके कान पर ब्रुश तथा लेखनी है और समीप ही एक कलमदान, मसिपात्र तथा रंगों को मिलाने के लिए प्रयोग में आने वाली तश्तरी रखी है। तूतनकामेन की समाधि से भी लिपिकों के अनेक उपकरण प्राप्त हुए हैं।

साहित्य

उक्त लिपि एवं लेखन सामग्रियों से प्राचीन मिस्रवासियों ने बहुत कुछ लिखा लेकिन दुर्भाग्य से नश्वर उपकरणों पर लिखे जाने के कारण उनका अधिक अंश हम तक नहीं पहुँच सका है। जो कुछ प्राप्त हुए हैं उन्हें धार्मिक साहित्य, लौकिक साहित्य तथा दार्शनिक साहित्य तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। इनमें प्रथम दो का अध्ययन हम साहित्य के अन्तर्गत तथा तृतीय का अध्ययन स्वतंत्र रूप से दर्शन के अन्तर्गत करेंगे।

धार्मिक साहित्य—मिस्री व्यवहारवादी अधिक थे इसलिए उनका साहित्य भी अधिकांशतः व्यावहारिक है। इसमें धार्मिक साहित्य की प्रचुरता है। धार्मिक साहित्य के प्राचीनतम रूप पाँचवें राजवंश के पिरामिड की दीवालों पर उत्कीर्ण

मिलते हैं। इन्हें पिरामिड लेख (Pyramid Texts) नाम दिया गया है। इनमें मृतक संस्कार से सम्बन्धित मंत्र, पूजा-गीत, प्रार्थनाएँ इत्यादि सम्मिलित हैं। इन्हें मृत शासक के पारलौकिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए पिरामिड की दीवालों पर उत्कीर्ण कर दिया जाता था। मध्य राज्य युग में धार्मिक साहित्य न लिखा जा सका। धार्मिक साहित्य रचना में वास्तविक प्रगति साम्राज्य युग में हुई। इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व इख्नाटन के सूर्य-स्तोत्र को मिला है। धर्म सुधार की प्रबल प्रेरणा ने उसे आराध्य देव आतोन की वंदना में गीत लिखने के लिए शक्ति दी। इन गीतों में कहीं भी हिंसा, द्वन्द्व अथवा साम्राज्यवाद की झलक नहीं मिलती। इसमें इख्नाटन की एकेश्वरवादी भावना स्पष्टत: अभिव्यक्त है। एकेश्वरवाद पर आधृत इख्नाटन की ये रचनाएँ प्राचीन विश्व की प्राचीनतम अद्वैतवादी रचनाएं हैं। हिब्रू साहित्य पर इसका प्रभाव स्पष्टत: देखा जा सकता है।[1] इख्नाटन की मृत्यु के बाद आतोन का प्रभाव अवश्य समाप्त हो गया लेकिन उसके गुणों को बाद में आमोन रे में आरोपित करने का प्रयत्न किया गया। इसके प्रमाण रूप में उसकी मृत्यु के दो-तीन सौ वर्षों बाद लिखे जाने वाले 'व्यक्तिगत धर्मनिष्ठा के स्तोत्र' को प्रस्तुत किया जा सकता है। साम्राज्य युग के अन्त में एमेनेमोप ने अपने उपदेशों में ईश्वर को मनुष्य का भाग्यविधाता बताया है तथा मनुष्य को सहिष्णु, शान्ति, उदार एवं ईश्वर से भयभीत होने की परामर्श दी है। यह कृति 'एमेनेमोप के उपदेश' (Teachings of Amenemope, 850 B.C.) के नाम से प्रसिद्ध है। साम्राज्य युगीन धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत मृतकों की किताब (Book of the Deads) का उल्लेख किया जा सकता है।

लौकिक साहित्य––धार्मिक साहित्य के साथ-साथ मिस्रवासियों ने लौकिक साहित्य की रचना भी की। लौकिक साहित्य के अन्तर्गत नाटक, प्रेमगीत, विजय-गीत एवं कहानियों का उल्लेख किया जा सकता है। इनका नाटक साहित्य एक प्रकार का धार्मिक साहित्य था लेकिन वर्गीकरण के परिप्रेक्ष्य में इसे लौकिक साहित्य के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है। नाटक साहित्य के अन्तर्गत मेम्फाइट ड्रामा (Memphite Drama) का उल्लेख कर सकते हैं। इसकी रचना तीन हजार ई० पू० के आस-पास की गई थी। इसमें विभिन्न देवता ईश्वरपरक संवाद करते हुए सौर-सम्प्रदाय के सिद्धान्त पर अभिभाषण करते हैं। इस कृति का मुख्य उद्देश्य आमोन रे की सर्वशक्तिमत्ता प्रतिपादित कर उसे राष्ट्रीय देवता के पद पर प्रतिष्ठित करना है। मेम्फाइट ड्रामा के अतिरिक्त 'सृष्टि नाटक' (Creation Play), अभिषेक नाटक (Coronation Play) तथा 'होरुस एवं सेतेख नाटक' (Horus and Setekh Play) का उल्लेख किया जा सकता है। इन तीनों में अंतिम सर्वोत्तम है। प्राचीन मिस्री प्रेमगीत लगभग वैसे हैं जैसे अन्य देशों के। लेकिन उनमें भाई एवं बहन के

---

1. Bible, Psalms, 104

मध्य प्रेम सम्बन्धों का वर्णन मिलता है। इनके एक प्राचीन संग्रह को 'तुम्हारी भगिनी के सुन्दर एवं आनन्ददायक गीत (The beautiful Joyous songs of thy Sister) नाम दिया गया है। विजय गीतों के साक्ष्य छठवें राजवंश के समय से मिलते हैं। इनमें मिस्रवासियों की शानदार विजयों का वर्णन किया गया है। ये प्रारम्भ से अस्तित्व में आ गये थे लेकिन इनका निबंधन लिपिकला के सुप्रचलित होने के बाद ही किया गया। बारहवें राजवंश तक पुरोहितों की शक्ति में अभिवृद्धि के कारण विजय गीतों की रचना कम हो गई। इसके बाद सेसोस्त्रिस तृतीय तथा आमेनहोतेप तृतीय के विजय गीत मिलते हैं जिनमें केवल शासकों की प्रशस्ति वर्णित है। इनमें कहीं भी वास्तविक युद्ध का वर्णन नहीं मिलता। उन्नीसवें राजवंश के समय में गीतकार प्राचीन परम्पराओं को त्याग कर शासक की प्रशस्ति के साथ-साथ युद्धों का वर्णन भी करने लगे। रैंमिसीज द्वितीय के विजय गीत में युद्ध का वास्तविक नाद तथा मेर्नेप्टा: के विजयगीत में युद्ध के बाद की मानवीय भावनाएँ अच्छी तरह अभिव्यक्त हैं।

लौकिक साहित्य के अन्तर्गत कथा साहित्य की रचना मध्य एवं साम्राज्य युगों में की गई। इनकी बहुत-सी कथाएँ तो उपन्यास तुल्य लगती हैं। अपने संक्षिप्त स्वभाव के कारण ये शुष्क एवं संवेदनाशून्य हैं। वास्तव में मिस्री कहानियाँ कथा-वाचकों के लिए एक प्रकार की टिप्पणियाँ (Notes) थीं। इनकी सहायता से कथा को घटा-बढ़ा कर वे आवश्यकतानुसार वार्तालाप भी जोड़ देते थे। कथावाचक प्राचीन काल के चारणों की भाँति देश भर में भ्रमण करते हुए अशिक्षितों के बीच इस प्रकार की कथाएं कहकर जीविका अर्जित करते थे। इनकी कहानियों में अभिचार सम्बन्धी कई कहानियाँ हैं जिनका स्वरूप कुछ वैसा ही है जैसा आधुनिक जासूसी कहानियों का। इसके साथ-साथ राजकुमार एवं राजकुमारियों तथा राजाओं एवं रानियों की प्रेमकथाएँ भी मिलती हैं। कालक्रम की दृष्टि से सर्वप्रथम 'सिनुइ की कहानी' (Story of Senuhe) का उल्लेख कर सकते हैं। इसे आधुनिक उपन्यास का पूर्वरूप मान सकते हैं। सिनुइ एमेनेम्हेत प्रथम के पुत्र सेसोस्त्रिस का मित्र तथा एक शासकीय अधिकारी था। एमेनेम्हेत की मृत्यु का समाचार सुनकर वह कुछ अस्पष्ट कारणों से मिस्र से भाग जाता है तथा दक्षिणी पेलेस्टाइन में बेदाविन जातियों के बीच बस जाता है। वहाँ उसे बड़ा सम्मान मिलता है। उसका विवाह उस जाति के प्रधान की जेष्ठ्य कन्या से हो जाता है तथा वह अतुल सम्पत्ति अर्जित कर लेता है। लेकिन वृद्धावस्था में उसकी इच्छा पुन: स्वदेश आने की होती है। वह मिस्री शासक के पास निवेदन करता है और शासक की आज्ञा पाकर मिस्र वापस आता है। मिस्र आने पर उसका अत्यधिक सम्मान किया जाता है। प्राचीन मिस्र की यात्रा सम्बन्धी दो कहानियाँ 'सिन्दबाद नाविक की कहानी' (The Story of Sindbad Sailor) तथा 'पोतभंग नाविक की कहानी' (The Story of Ship-wrecked Sailor) विशेष प्रसिद्ध हैं। पोतभंग नाविक की कहानी में नाविक 54.86

मीटर लम्बे तथा 18.28 मीटर चौड़े पोत में 120 चुने हुए नाविकों के साथ राजकीय खदानों के लिए समुद्र के मार्ग से यात्रा प्रारम्भ करता है। हर संभव प्रयत्न के बावजूद भी अन्त में तूफान में पोत भंग हो जाता है। सभी नाविक नष्ट हो जाते हैं। केवल नायक बच जाता है। इसके बाद वह एक ऐसे जादुई द्वीप में पहुँचता है जहाँ नागराज का शासन है। वहाँ नायक का पूर्ण आतिथ्य सत्कार होता है। इसके बाद नाविक प्रचुर धन लेकर सम्मान सहित मिस्र वापस आता है। साम्राज्य युगीन कहानियों में 'अभागे राजकुमार की कहानी' (The Story of Doomed Prince) तथा 'दो भाइयों की कहानी' (The Story of Two Brothers) विशेष प्रसिद्ध हैं। अभागे राजकुमार की कहानी अपने ढँग की अद्वितीय है। इसका प्रारम्भ एक निस्सन्तान दम्पत्ति से होता है जिन्हें बाद में एक पुत्र प्राप्त होता है। लेकिन उसे शाप मिलता है कि उसकी मृत्यु कुत्ते, नाग तथा मगर द्वारा होगी। इसके बाद वह नहरिन (Naharin) के शासक के यहाँ पहुँचता है। वहाँ उसकी इकलौती पुत्री प्राप्त करने के लिए एक दुर्गम शर्त पूर्ण करनी पड़ती है। लेकिन राजा अपनी पुत्री का विवाह ऐसे निम्न स्तर के व्यक्ति के साथ करने से अनिच्छा प्रकट करता है तथा इसके बध की आज्ञा देता है। लेकिन उसकी पुत्री उसे बचा लेती है तथा दोनों का विवाह हो जाता है। युवराज अपनी पत्नी से तीन शापों के विषय में बताता है। कथा में आगे युवराज की पत्नी द्वारा एक सर्प मारे जाने का वर्णन मिलता है। इसके बाद युवराज अपने कुत्ते के साथ टहलने जाता है तथा उसी के अनुसरण में नदी में प्रवेश करता है जहाँ उसे घड़ियाल मिलता है। यहीं से कथा समाप्त हो जाती है। दो भाइयों की कहानी में बड़े भाई का नाम अनुपु (Anupu) तथा छोटे भाई का नाम बित्यु (Bitiu) था। अनुपु विवाहित था जबकि बित्यु अविवाहित। अनुपु की पत्नी बित्यु से प्रणय-प्रस्ताव करती है लेकिन बित्यु उसे ठुकरा देता है। इससे वह क्रुद्ध होकर पति को उसके विरुद्ध भड़काती है। दोनों में परस्पर युद्ध होता है। बित्यु की मदद करने के लिए अनेक देवता तथा मगर आते हैं लेकिन अन्त में मानव जाति से घृणा कर वह जंगल की ओर भाग जाता है तथा अपना हृदय निकाल कर एक वृक्ष के सबसे ऊँचे फूल पर रख देता है। उसके एकाकीपन पर देवताओं को दया आती है, और वे उसके लिए एक रूपवती स्त्री की सृष्टि करते हैं लेकिन नील को उससे मोह हो जाता है जिससे वह उसके बालों की एक लट चुरा लेता है जो तैरते हुए मिस्री शासक के पास पहुँच जाती है। मिस्री शासक उसकी सुगंध से मोहित होकर उस स्त्री को प्राप्त करने के लिए अपने अनुचरों को भेजता है और उसे प्राप्त कर उससे विवाह कर लेता है। इसके बाद उसके आदमी उस वृक्ष को काटते हैं जिस पर बित्यु का हृदय रखा था। जैसे ही उसका फूल पृथ्वी का स्पर्श करता है बित्यु की मृत्यु हो जाती है।

दर्शन—मिस्री साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यूनानियों के कई सदियों पूर्व मिस्रवासी सृष्टि, मानवीय, सामाजिक एवं नैतिक समस्याओं पर

बहुत कुछ विचार व्यक्त कर चुके थे। यूनानियों को तो मिस्रवासियों के दार्शनिक विचारों को ही विकसित करने में सफलता मिली थी। यूनानी स्वतः मिस्रवासियों के ज्ञान की श्रेष्ठता स्वीकार करते थें। मिस्रवासियों के दर्शन में मुख्यतः नैतिक तथा शंकावादी प्रवृत्ति मिलती है। नैतिक दर्शन का प्रथम संकेत 'ताहोतेप का सिद्धान्त' (Maxims of Ptahhotep) में मिलता है। ताहोतेप पांचवें राजवंश के फेराओ का प्रधानमंत्री तथा मेम्फिस का गवर्नर था। सेवा-निवृत्त होने के बाद अपने पुत्र को शिक्षा देने के लिए उसने अपने विचारों को बयालीस अनुच्छेदों में व्यक्त किया। इन्हें अठारहवें राजवंश के पूर्व किसी समय प्राचीन श्रेण्य साहित्य के रूप में विद्वानों ने लिपिबद्ध किया। कुछ विद्वान् इसकी प्राचीनता बारहवें राजवंश तक मानते हैं। ताहोतेप अपनी शिक्षा अपनी वृद्धावस्था से प्रारम्भ करता है। वह कहता है कि मेरे जीवन का अन्त समीप है तथा वार्द्धक्य ने मुझे ग्रस लिया है। मेरा शरीर क्षीण होता जा रहा है तथा बुद्धि बच्चों के समान हो गई है। नेत्र की ज्योति मन्द पड़ गई है तथा श्रवणेन्द्रियाँ शक्तिहीन हो गई हैं। इसलिए हे ईश्वर मुझमें इतनी शक्ति दो कि अपने पुत्र को शिक्षा दे सकूँ। इस मंगलाचरण के बाद वह आगे कहता है कि शिक्षित तथा ज्ञानी को अभिमान नहीं करना चाहिए। ज्ञान तथा योग्यता की कोई सीमा नहीं है। कंकण के बीच मरकत मिल सकता है लेकिन मधुरवाणी का मिलना असंभव है। वह अपने पुत्र को आगे बताता है कि वह जहाँ कहीं भी जाये स्त्रियों से सदैव सावधान रहे। नीतिपरक दर्शन के अन्तर्गत द्वितीय स्तर पर 'वाक्पटु कृषक के अभिवचन' (Plea of the Eloquent Peasant) नामक कृति का उल्लेख कर सकते हैं। यद्यपि इस कृति का लेखक अज्ञात है किन्तु लगता है इसकी रचना किसी उदार एवं न्यायप्रिय शासक की प्रेरणा से सम्पन्न हुई थी। एक वाक्पटु कृषक एक कुटिल अधिकारी द्वारा परेशान किये जाने पर उच्चाधिकारी के पास मधुरवाणी में निवेदन करता है। उसकी वाक्पटुता से प्रभावित होकर उच्चाधिकारी उसे शासक के पास ले जाते हैं। शासक के प्रोत्साहन पर वह राजकर्मचारियों के कर्त्तव्यों पर प्रकाश डालता है। वह कहता है कि कर्मचारियों को अनाथों तथा विधवाओं के साथ क्रमशः पिता तथा पति सदृश प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। उसका विचार है कि राजकर्मचारियों को सत्य बोलना चाहिए, निष्पक्ष न्याय करना चाहिये, अपराधियों को दण्ड देना चाहिए तथा चोर-बदमाशों का दमन करना चाहिए। वह कहीं किसी को भी क्षुधा, तृष्णा तथा शीत से पीड़ित नहीं देखना चाहता था।

मध्य राज्य युग तक मिस्रवासी शंकावादी हो गये। उनकी यह प्रवृत्ति बारहवें राजवंश के एमेनेम्हेत के उपदेश में दिखायी पड़ती है। इसमें शासक अपने पुत्र को उपदेश देता है कि कभी किसी पर विश्वास नहीं करना चाहिए। क्योंकि दुर्दिन आने पर कोई साथ नहीं देता। मिस्रवासियों की निराशावादी प्रवृत्ति की परिणति हमें 'वीणावादक के गान' (Song of the Harp-Player) नामक कृति में दिखायी पड़ती है। वांसकिल के अनुसार इसे कुछ हद तक उमर खय्याम की रूबाइयों

का पुरोगामी माना जा सकता है। इसकी रचना ग्यारहवें राजवंश के समय सम्पन्न हुई थी। इसमें मरणोत्तर जीवन के प्रति अनास्था अभिव्यक्त है। इसमें कहा गया है कि केवल मृत्यु निश्चित है लेकिन यह कब होगी तथा मृत्यु के बाद क्या होगा किसी को कुछ मालूम नहीं है। परलोक से आकर कभी कोई यह नहीं बताता कि वहाँ क्या होता है। इस कृति में सद्‌गुण तथा उद्यम को व्यर्थ बताया गया है क्योंकि इसके लिए कोई पुरस्कार नहीं मिलता। प्रसिद्धि, समृद्धि एवं शक्ति केवल भ्रममात्र हैं। मृत्यु सबके लिए बराबर है। शासक तथा दास की मृत्यु में कोई अन्तर नहीं है। वीणा-वादक अत्यधिक आनन्द एवं विलासपूर्ण जीवन का समर्थक था। मिस्रवासियों की निराशावादी प्रवृत्ति इपुवेर (Ipuwer) की भविष्यवाणी में भी मिलती है। इसमें इपुवेर भविष्य में आने वाले संकट का वर्णन करता है। इसके अनुसार शीघ्र ही सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था भंग हो जायेगी तथा गरीब अमीर एवं अमीर गरीब होंगे। लेकिन इसके अन्त में एक ऐसा दार्शनिक सम्राट् पैदा होगा जो सभी को कष्टों से दूर करेगा। मनुष्य उसे मेषपालक कहेंगे।

विज्ञान

प्राचीन मिस्रवासी उपयोगितावादी अधिक थे इसलिए प्रायः विज्ञान के उन्हीं क्षेत्रों में उन्होंने प्रगति की जो उनके लिए व्यावहारिक जीवन में उपयोगी थे। इस दृष्टि से हम उनके गणित, ज्योतिष तथा औषधिशास्त्र सम्बन्धित विकास का उल्लेख कर सकते हैं।

गणित—प्राचीन मिस्रवासियों का गणित सम्बन्धी ज्ञान अंकगणित एवं ज्योतिष तक सीमित था। इसके विकास के लिए बहुत कुछ नील की प्रतिवर्ष की बाढ़ उत्तरदायी थी। बाढ़ रोकने तथा जल-संग्रह के लिए बाँध बनाने और भूमि की पैमाइश करने के लिए इसकी आवश्यकता पड़ती थी। पिरामिड, मन्दिर इत्यादि बनाने में भी गणित एवं ज्यामिति का ज्ञान आवश्यक था। मिस्री अंक-पद्धति क्लिष्ट थी। एक से नौ तक की संख्या के लिए एक ही चिह्न था। इसे ही दो, तीन या चार बार लिखकर क्रमशः दो, तीन, चार संख्याएँ प्राप्त करते थे। दश के लिए पृथक् चिह्न था। इसे ही दो, तीन, पाँच बार लिखकर क्रमशः बीस, तीस तथा पचास की संख्याओं का बोध कराते थे। सौ तथा एक हजार के लिए अलग चिह्न थे। एक लाख लिखने के लिए एक व्यक्ति को हाथ उठाकर ताली बजाते हुए चित्रित किया जाता था जैसे वह इतनी बड़ी संख्या के लिए आश्चर्य प्रकट कर रहा हो। प्रथम राजवंश के काल से ही इन्हें दशमलव प्रणाली का ज्ञान हो गया था लेकिन इन्हें शून्य की जानकारी नहीं थी। एक से लेकर नौ तक की संख्या के लिए चूंकि पृथक् चिह्न नहीं थे इसलिए 142,857 लिखने के लिए उन्हें सत्ताईस पृथक् चित्राक्षरों का प्रयोग करना पड़ता था। पौरोहित्यिक लिपि में इसे संक्षिप्त कर दिया गया था। भिन्न लिखने में भी उन्हें कठिनाई होती थी। उदाहरणार्थ, $\frac{1}{2}$ तथा $\frac{1}{4}$ तो वे लिख लेते थे लेकिन $\frac{3}{4}$

लिखने के लिए उन्हें $\frac{1}{2}+\frac{1}{4}$ लिखना पड़ता था। जोड़, घटाना तथा भाग की विधियों से परिचित थे किन्तु गुणा का काम जोड़ से लेते थे। उदाहरणार्थ, यदि उन्हें 9 को 6 से गुणा करना होता था तो 9 को 6 बार जोड़ लेते थे। गुणनफल प्राप्त करने की विशिष्ट विधि वर्गीय थी। संख्याओं का वर्गमूल भी वे प्राप्त कर लेते थे। $6\frac{1}{4}$, $1\frac{1}{2}$ तथा $\frac{1}{16}$ के वर्गमूल का ठीक-ठीक पता उन्होंने लगा लिया था। ज्यामिति में वर्गाकार, वृत्ताकार तथा घनाकार के साथ-साथ गोलाकार एवं बेलनाकार वस्तुओं का क्षेत्रफल भी प्राप्त कर लेते थे। ज्यामिति के आधार पर ही वे अपने भवनों, पिरामिडों तथा मंदिरों की योजना बनाते थे। ज्यामिति में पाई का मान 3.16 स्वीकार किया गया था। चार हजार वर्ष बाद भी हम 3.16 से 3.1416 तक ही आ सके हैं।

खगोलशास्त्र——यद्यपि मिस्री वैज्ञानिक ग्रह-नक्षत्रों के विषय में मेसोपोटामिया के निवासियों से कम जान सके लेकिन कई सदियों तक ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति एवं उनकी गतियों का अध्ययन करके उन्होंने दोनों में भेद करना सीख लिया था। उनके नक्षत्र-मानचित्रों में कुछ अदृश्य नक्षत्र भी अङ्कित हैं। ग्रह-नक्षत्रों के अध्ययन के आधार पर उन्होंने प्रसिद्ध पञ्चाङ्ग का निर्माण किया जो मानव जाति के लिए मिस्र की एक महान् देन है। उन्होंने एक वर्ष को चार-चार मास की तीन ऋतुओं तथा बारह मास, मास को तीस दिन, तथा दिन को चौबीस घंटे (जिसमें बारह घंटे के दिन तथा बारह घंटे की रात्रि होती थी) में विभाजित किया था। बारहवें मास के अन्त में पाँच दिन और जोड़कर चन्द्र वर्ष एवं सूर्य वर्ष में परस्पर साम्य बैठा लेते थे। वर्ष का आरम्भ वे उस दिन से मानते थे जिस दिन नील में बाढ़ आती थी तथा सिरियस नक्षत्र (Sirius), जिसे वे लुब्धक (Sothic) कहते थे, सूर्य के साथ उदित होता था। चूंकि उनके वर्ष में 365 दिन होते थे जबकि लुब्धक का उदय $365\frac{1}{4}$ दिन बाद होता था अतः मिस्री पञ्चाङ्ग प्रति वर्ष वास्तविक स्थिति से 6 घंटे पीछे घटता जाता था। मिस्रवासी इस त्रुटि को बहुत दिन तक न ठीक कर सके। इसे बाद में जूलियस सीजर के आदेश पर सिकन्दरिया के यूनानी ज्योतिर्विद् सोसिगेनीज (Sosigenes) ने 45 ई० पू० में ठीक किया। मिस्र के उक्त पञ्चाङ्ग एवं वर्ष गणना से मिस्री तिथि की जानकारी मिलती है। वास्तव में उनके एक वर्ष में 365 दिन थे। अतः लुब्धक का उदय प्रतिवर्ष 6 घंटे बाद होता था। यह अन्तर चार वर्षों में एक दिन, अट्ठाईस वर्षों में सात दिन, एक सौ बीस वर्षों में एक माह तथा चौदह सौ साठ सौर वर्षों में एक वर्ष का होकर एक चक्र पूरा करता था। हम जानते हैं कि इस प्रकार का एक चक्र 140 ई० में प्रारम्भ हुआ था। अतः इसके 1460 वर्ष पूर्व 1320 ई० पू०, 2780, ई० पू० तथा 4240 ई० पू० में इस प्रकार के चक्र प्रारम्भ हुए होंगे। मिस्री लेखों में किसी नरेश की शासनकालीन घटनाओं के उल्लेख के समय यह भी बता दिया जाता था कि उस वर्ष लुब्धक का उदय सूर्योदय के साथ किस माह के किस दिन हुआ। इससे उस शासक के वर्ष का ज्ञान

कर लिया जाता था । उदाहरणार्थ, यदि यह ज्ञात हो जाय कि किसी शासक के किसी घटना के समय लुब्धक का उदय वर्षारंभ में सूर्योदय के बीस दिन बाद हुआ और हम जानते हैं कि उस शासक ने साम्राज्य काल में राज्य किया था तो उसका समय 1320 — (20 × 4) = 1240 ई० पू० होना चाहिए । मिस्री खगोल शास्त्र के सम्बंध में एक तथ्य उल्लेखनीय है कि यदि यह पुरोहितों के अधिकार में न होता तो शायद इस दिशा में मिस्रवासी और अधिक प्रगति करते ।

औषधिशास्त्र—मिस्री औषधिशास्त्र के आविष्कर्ता पुरोहित थे अतः इस पर अभिचार का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा था । इसलिए आम जनता रोग मुक्ति के लिये दवा की अपेक्षा तावीज़ को अधिक उपयोगी समझती थी । रोग को वे भूत-प्रेत-बाधा जनित मानते थे जिसे दवा की अपेक्षा झाड़-फूँक से अधिक दूर किया जा सकता था । इसके लिए अनेक प्रकार के मंत्रों का प्रयोग किया जाता था । लेकिन यह उनके औषधिशास्त्र का प्रारम्भिक रूप था । इसी पिछड़ेपन से आगे चलकर उन्होंने महान् चिकित्सकों, शल्य-चिकित्सकों तथा विशेषज्ञों को जन्म दिया । मिस्री चिकित्सक परीक्षण प्रणाली (Trail and Error Method) द्वारा उपचार करते थे । प्रयत्न करने पर भी यदि सफलता नहीं मिलती थी तो दैवी प्रकोप या भूत प्रेतादि की बाधा मान कर आभिचारिक क्रियाओं का अवलम्बन लिया जाता था । यहाँ नेत्र-रोग, स्त्री-रोग तथा उदर-रोग के विशेषज्ञ अलग-अलग थे । नेत्र-रोग के उपचार में तो इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली थी । इनमें से एक को कुरुश् महान् ने ईरान बुलाया था । मिस्री औषधि शास्त्र से सम्बन्धित जो पत्र प्राप्त हुए हैं उनमें (i) द इडविन स्मिथ पेपाइरस (The Edwin Smith Papyrus), (ii) द इबर्स पेपाइरस (The Ebers Papyrus), (iii) द हर्स्ट पेपाइरस (The Hearst Papyrus), (iv) द चेस्टर बीटी पेपाइरस (The Chester Beatty Papyrus), (iv) द बर्लिन मेडिकल पेपाइरस (The Berlin Medical Papyrus), (vi) द कहून पेपाइरस (The Kahun Papyrus) तथा (vii) द लन्दन मेडिकल पेपाइरस (The London Medical Papyrus) प्रमुख हैं ।[1] इनमें प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं । इडविन स्मिथ पेपाइरस सोलह सौ ई० पू० का है और वर्तमान समय में हिस्टॉरिकल सोसाइटी न्यूयार्क (Historical Society Newyork) के संग्रह में है । 4.875 मीटर लम्बे इस पेपाइरस पत्र में अड़तालीस वर्गों में घावों तथा चोटों की शल्य-चिकित्सा का वर्णन किया गया है । इसमें मस्तिष्क की हड्डी टूटने से लेकर रीढ़ तक की हड्डी पर लगी चोट का वर्णन मिलता है । प्रत्येक विषय को स्पष्टतः लिखा गया है । इसमें निदान, परीक्षण तथा चिकित्सा का क्रमागत विवरण मिलता है । इबर्स पेपाइरस लिपज्ञिक विश्वविद्यालय (University of Leipsic) में रखा गया है तथा पूर्ण सुरक्षित अवस्था में है । इसकी रचना अठारहवें राजवंश के समय में की गई थी । मूल पत्र में

---

[1] S. R. K. Glanville, The Legacy of Egypt, pp. 180-181

110 बड़े कालम हैं जिसे एक आधुनिक संपादक ने 877 भागों में बाँट दिया हैं। इसमें विविध रोगों के उपचार के नुसखे हैं। इसमें से बहुत-सी बीमारियों का केवल नाम है उनका निदान नहीं दिया गया है। इसमें उदर के रोग, हृदय के कार्य तथा सिस्ट (cysts), व्रण (Boils) एवं ट्युमर (Tumour) के शल्य-उपचार दिये गये हैं। हर्स्ट पेपाइरस कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय (University of California) के संग्रह में है। इसका बाह्य भाग ही नष्ट हुआ है शेष सुरक्षित है। इसकी रचना भी अठारहवें राजवंश के समय में की गई थी। इसमें लगभग ढाई सौ नुसखे हैं। इसकी विषय सामग्री इबर्स पेपाइरस से मिलती-जुलती है। कुछ पंक्तियाँ दोनों में एक ही हैं।

मिस्रवासी अनेक रोगों के शिकार होते थे। इनमें से रीढ़ के यक्ष्मा, धमनी प्रदाह, पथरी, चेचक, बाल पक्षाघात, रक्तक्षीणता, गठिया इत्यादि का विशेष रूप से उल्लेख मिलता है। इसके लिए उनके उक्त औषधि पत्रों में उपचार दिये गये हैं। ग्यारहवें राजवंश की एक साम्राज्ञी की समाधि से औषधियों की शीशियाँ तथा उससे सम्बन्धित उपकरण मिले हैं। इनकी औषधियों में कुछ अत्यन्त आभिचारिक एवं घृणित थीं जैसे, छिपकली का रक्त, सूकर के कर्ण एवं दन्त, सड़ा मांस एवं चर्बी, कछुए का भेजा, प्रसूता स्त्री का दूध, सच्चरित स्त्री का मूत्र, पुरुष का पुरीष तथा गदहे, कुत्ते, शेर एवं बिल्ली के मल इत्यादि। शव सुरक्षित करने के लिये उसमें मशाले का प्रयोग करते समय यदि वे चाहते तो शरीर विज्ञान की पूरी जानकारी प्राप्त कर लेते लेकिन इस क्षेत्र में वे अधिक प्रगति न कर सके। फिर भी उन्हें शरीर की बड़ी-बड़ी हड्डियों के विषय में जानकारी थी तथा हृदय को रक्त-संचार-व्यवस्था का केन्द्र मानते थे। मिस्रवासी स्वास्थ्य के प्रति बहुत सजग रहते थे। डिओडोरस के अनुसार वे आँतों की सफाई के लिए व्रत भी करते थे तथा अनावश्यक भोजन को शरीर के लिए हानिप्रद मानते थे। एनिमा लेने की प्रथा भी यहाँ प्रचलित थी। हेरोडोटस के अनुसार लीबिया के निवासियों के बाद मिस्रवासी संसार के सबसे अधिक स्वस्थ व्यक्ति थे।

मिस्री सभ्यता की महत्ता एवं देन

आधुनिक मापदण्डों के परिपेक्ष्य में भले ही मिस्री सभ्यता प्रभावकारी न सिद्ध हो सके किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि प्राचीन विश्व में सभ्यता के प्रथम आविष्कर्ता मिस्र के निवासी ही थे। अनेक युगों के सतत् संघर्ष के अनन्तर वे एक सुविकसित सभ्यता की स्थापना तथा बर्बरता से ऊपर उठकर सभ्य एवं आनन्दित जीवन व्यतीत करने में सफल हो गये। शासन-तंत्र, कृषि, उद्योग-धंधे, धर्म, कला एवं स्थापत्य, लिपि, साहित्य तथा विज्ञान के क्षेत्र में उनके अनुभवों एवं आविष्कारों से परवर्ती विश्व प्रभावित हुआ। मिस्री लिपि का उल्लेख हम कर चुके हैं। प्रारम्भ में यह चित्रात्मक थी जिसमें लगभग 600 चिह्न प्रयुक्त किये जाते थे। इनमें से कुछ प्रतीकों का प्रयोग एक से अधिक भावों को व्यक्त करने के लिए किया जाता था

लेकिन कुछ शताब्दियों के अनुभव के बाद उन्होंने प्रत्येक चित्र को निश्चित वस्तु तथा भाव के अर्थ में स्वीकार कर लिया। एक चिह्न को एक अक्षर के लिये प्रयुक्त किया जाने लगा तथा अक्षर मिलकर शब्दबोधक बन गये। शनैः-शनैः वस्तु चित्र-बोधक न रहकर मात्र अक्षर अथवा ध्वनि बोधक बन गये। इससे ही ध्वनि लिपि का आविष्कार हुआ। 3000 ई० पू० से 2700 ई० पू० के मध्य चौबीस निश्चित प्रतीकों वाली वर्णमाला का विकास हुआ। इसमें व्यंजन ही थे, स्वर नहीं। व्यंजन रहित चौबीस वर्णमाला वाली यह लिपि विश्व की प्राचीनतम वर्णमालात्मक लिपि है। यह सही है कि स्वतः मिस्रवासियों ने इसका पूरा-पूरा उपयोग न किया किन्तु इसका प्रभाव परवर्ती विश्व की लिपियों पर विशेष रूप से पड़ा। हाल के शोधों से पता चला है कि सिनाई प्रायद्वीप तथा दक्षिणी फिलीस्तीन में उन्नीसवीं शती ई० पू० में एक वर्णमालात्मक लिपि प्रचलित थी। यह मिस्री वर्णमाला की ही अनुकृति थी। पन्द्रहवीं शती ई० पू० के पहले हिब्रू एक चौबीस वर्णमाला वाली लिपि का प्रयोग करते थे। इन्हीं से यह फीनिशियनों को मिली थी तथा फीनिशियनों से यूनानियों ने प्राप्त किया था। तीन सौ पैंसठ दिन के वर्ष वाले एक सौर पञ्चांग का आविष्कार मिस्री कर लिए थे। इसमें बारहवें मास के अन्त में पाँच दिन जोड़ दिया जाता था। यह पञ्चांग इनके समकालिक मेसोपोटामिया के निवासियों के पञ्चांग से अधिक शुद्ध था। इसमें 6 घंटे की कमी थी जिसे बाद में ठीक किया गया था। यद्यपि यह सुधार भी यूरोपीय विद्वानों को उचित नहीं लगा इसलिए 1582 ई० में इसमें फिर सुधार किया गया। दिन-रात की गणना के समय प्राचीन मिस्रवासियों ने सूर्य तथा जलघड़ी का आविष्कार भी कर लिया था। इसी प्रकार ज्यामिति तथा इंजीनियरिंग के क्षेत्र में इनके कतिपय आविष्कार महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं। औषधिशास्त्र में भी प्राचीन मिस्रवासी पर्याप्त सफलता प्राप्त कर चुके थे। इन सबका प्रभाव परवर्ती विश्व सभ्यता पर पड़ा था। हिब्रुओं को सदियों तक मिस्र में रहने तथा पलने-पुसने का अवसर मिला था। इसी में मूसा भी थे जिनका जन्म एवं पालन-पोषण मिस्र में हुआ था। मूसा के नेतृत्व में ही हिब्रू पेलेस्टाइन आए थे। मिस्री भाषा का प्रभाव हिब्रू भाषा पर पड़ा था। हिब्रू धर्म में देवता के द्विविध स्वरूप की तथा दो लोक की कल्पना मिस्रीधर्म से ग्रहण की गई थी। यद्यपि अभी तक मिस्री कानूनों के विषय में ठीक-ठीक ज्ञात नही हो सका है लेकिन इतना हम जानते हैं कि मूसा के कानूनों पर हम्मूराबी के कानूनों की अपेक्षा मिस्री कानूनों का अधिक प्रभाव पड़ा था। हिब्रू के अतिरिक्त मिस्री सभ्यता के कलात्मक, धार्मिक, व्यापारिक, तथा वैज्ञानिक विकास ईजियन सागर, क्रीट तथा एशिया माइनर के माध्यम से यूनान पहुँचे जिनसे उनका आगमन रोम में हुआ और रोम से फिर वे तत्त्व मध्य एवं अर्वाचीन विश्व को प्राप्त हुए। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मिस्री सभ्यता द्वारा विश्व इतिहास के प्रथम गौरव पूर्ण अध्याय का श्री गणेश हुआ था। प्रो० इले फाउरे[1] के अनुसार अपनी

---

[1] Elie Faure, History of Art, 1. p. 47

सुदृढ़ता एवं एकता तथा अद्‌भुत शिल्प एवं कलागत सफलता की दृष्टि से मिस्र की सभ्यता सम्भवतः इस पृथ्वी पर स्थापित होने वाली सभी सभ्यताओं में महान् थी। विल ड्युरैण्ट[1] के शब्दों में फीनिशियनों, सीरियनों, हिब्रुओं, क्रीटवासियों, यूनानियों एवं रोमवासियों के हाथों गुजरते हुए मिस्री सभ्यता मानव जाति की साँस्कृतिक विरासत का अंग बन गई। इतिहास के प्रारम्भ में इसे जो सफलता मिली उससे विश्व का प्रत्येक युग एवं देश प्रभावित हुआ।

---

[1] Will Durant, Story of Civilization, Vol, I, p. 217

8

हिब्रू सभ्यता

पाश्चात्य सभ्यताओं में हिब्रू सभ्यता का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह महत्त्व इसे इसलिए नहीं मिला है कि यह सांस्कृतिक विकास में सबसे आगे थी बल्कि इसलिए मिला है कि परवर्ती विश्व जिन-जिन प्राचीन सभ्यताओं से प्रभावित हुआ उनमें हिब्रू सभ्यता का सर्वाधिक योगदान है। प्रसिद्ध इतिहासकार एच० जी० वेल्स के अनुसार हिब्रू सभ्यता अपने समय के लिए नहीं बल्कि परवर्ती विश्व-सभ्यता पर प्रभाव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।[1] हिब्रू सभ्यता एवं संस्कृति का क्रीड़ा-क्षेत्र पेलेस्टाइन (Palestine) उर्वर अर्द्धचन्द्र का दक्षिणी पश्चिमी अंग है। इसके पूर्व अरब का रेगिस्तान तथा पश्चिम में भू-मध्य सागर है। प्राकृतिक दृष्टि से यह भू-भाग समृद्ध नहीं है। न तो यहाँ पर्याप्त खनिज ही मिलते हैं न वर्षा ही होती है। वर्षा के अभाव में इसका अधिक भाग अनुर्वर है। किन्तु तीन हजार वर्ष पहले यहाँ अवश्य पर्याप्त वृष्टि होती थी क्योंकि बाइबिल में कई जगह इसे दूध एवं मधु का देश कहा गया है। इसका उत्तरी भाग आज भी घाटियों की उपस्थिति से समृद्ध है। यहाँ पर्याप्त मात्रा में गेहूँ, जौ, राइ (Rye) अंजीर तथा अंगूर पैदा होता है। इसके उत्तरी समुद्र तट पर कुछ उपयोगी बन्दरगाह अवश्य थे किन्तु उन पर फीनिशियनों का अधिकार था इसलिये हिब्रू उसका उपयोग न कर सके। अपनी भौगोलिक रचना का अधिक लाभ इन्हें अवश्य न मिला किन्तु भौगोलिक स्थिति का इन्हें विशेष लाभ मिला। मिस्र, बैबिलोनिया, असीरिया, एशिया माइनर तथा फीनिशिया के मध्य स्थित होने के कारण एशिया तथा अफ्रीका महाद्वीप को जोड़ने में इस भू-भाग ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। यद्यपि इस भौगोलिक स्थिति से यदि एक ओर ये लाभान्वित हुए तो दूसरी

---

[1] H. G. Wells, A Short History of the World, 82

ओर इन्हें हानि भी उठानी पड़ी । दो वर्द्धिष्णु साम्राज्यों (मिस्र एवं मेसोपोटामिया) के मध्य स्थित होने से जहाँ एक ओर इन्हें व्यापारिक लाभ मिला और विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क में आने एवं उनकी सांस्कृतिक जलधाराओं में पाद प्रक्षालित कर सांस्कृतिक संश्लेष एवं समुत्कर्ष की दिशा में गतिमान होने का सुयोग मिला वहीं दूसरी ओर निस्संदेह दोनों साम्राज्यों की परस्पर स्पर्धा के फलस्वरूप इनकी शान्ति भंग हुई और अस्तित्व के लिए इन्हें बराबर संघर्ष करना पड़ा । अपने योगक्षेम के लिए इन्हें कभी एक को तो कभी दूसरे को आवश्यक रूप से प्रसन्न करना पड़ता था ।

ऐतिहासिक स्रोत

हिब्रुओं के इतिहास के अध्ययन में हमें साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक दोनों साक्ष्यों से सहायता मिलती है । साहित्यिक साक्ष्य के रूप में बाइबिल के ओल्ड टेस्टामेण्ट (Old Testament) का उल्लेख किया जा सकता है । यह ग्रंथ उनतालीस अध्यायों में विभाजित है इसे बुक (Book) कहा जाता है । ओल्ड टेस्टामेण्ट के विषय में दो मान्यताएँ हैं । कुछ विद्वान् इसमें वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं को सर्वथा सत्य स्वीकार करते हैं । इस मान्यता को श्रद्धालु हिब्रुओं तथा ईसाइयों द्वारा विशेष बल मिलता है । इसके विपरीत आधुनिक आलोचक बाइबिल में उल्लिखित सामग्री को कल्पना जनित एवं अतिरंजित स्वीकार करते हैं । किन्तु सत्यता दोनों के बीच में है । जहाँ बाइबिल में लिखित ऐतिहासिक विवरण उसी रूप में स्वीकार करना न्याय नहीं है वहीं पर इसकी मुख्य-मुख्य धाराएँ विश्वसनीय एवं प्रामाणिक हैं । पुरातात्त्विक साक्ष्यों में मेश पाषाण (850 ई० पू०), हिब्रू शासकों के समकालीन लेख तथा टेल-एद-दुवीर (Tell-ed-Duweir) से उत्खनित साक्ष्यों का उल्लेख किया जा सकता है । टेल-एद-दुवीर में 1932 ई० में उत्खनन प्रारम्भ हुआ लेकिन 1938 ई० में इसके निदेशक जे० एल० स्टार्की (J. L. Starkey) की हत्या के कारण बन्द कर देना पड़ा था । इससे ओल्ड टेस्टामेण्ट की किंग्स नामक बुक में वर्णित कुछ घटनाओं का समर्थन मिलता है ।

प्रजाति एवं नामकरण

हिब्रू मूलतः सेमिटिक परिवार के ही एक अंग थे तथा अरब के रेगिस्तानी भू-भाग में भ्रमणशील जीवन व्यतीत कर रहे थे । यहीं से ई० पू० द्वितीय सहस्राब्दी में किसी समय इनका आगमन पेलेस्टाइन हुआ था । हिब्रू जिनके नाम से यह संस्कृति प्रख्यात है मूलतः 'फ़रात के उस पार रहने वाले' का द्योतक है ।[1] इसे ही बैबिलोनिया

---

[1] William, Geddie, Chamber's Twentieth Century Dictionary. p. 488

तथा मिस्र के टेल-एल-अमर्ना (Tell-el-Amarna) लेखों में हबीरू (Hobiru) कहा गया है।[1] हबीरू का अर्थ भी यायावार होता है। हबीरू शब्दबोधक चित्राक्षर भी यही ध्वनित करते हैं। अतः यह प्रतीत होता है कि पहले यह संज्ञा किसी भ्रमणशील जाति के लिए प्रयुक्त की जाती थी लेकिन बाद में इसे पेलेस्टाइन के निवासियों के लिए स्वीकार कर लिया गया। हिब्रुओं के लिए जिउ (Jew) अथवा यहूदी (Yahudi) संज्ञाएँ भी प्रयुक्त की जाती हैं। जिउ लैटिन भाषा के (Judaeus) से निष्पन्न प्रतीत होता है जो हिब्रू (Yahudah) से सम्बन्धित है। जिउ का अर्थ है जूडा का रहने वाला। अतः न्यायतः इसका प्रयोग उत्तरी राज्य के अधःपतन के बाद के सम्पूर्ण हिब्रू जाति के लिए प्रयुक्त किया जाना चाहिए। लेकिन सामान्यतः इसे हिब्रू का पर्याय मान लिया गया है।[2]

राजनीतिक इतिहास

इनका प्रारम्भिक इतिहास बाइबिल की पाँच किताबों (Books) में मिलता है। जेनिसिस (Genisis, 14, 1) द्वारा ज्ञात होता है कि जिस समय शिन्नार में अम्र-फेल (Amraphel, probably Hammurabi) शासन कर रहा था उसी समय इनका पूर्वज अब्रहाम (Abraham) जिसका प्रारम्भिक नाम अब्राम (Abram) था, लेकिन बाद में ईश्वर के आदेशानुसार अब्रहाम धारण किया, कैल्डियनों के उर नगर में निवास कर रहा था। उसकी स्थिति एक भ्रमणशील सरदार के रूप में ही थी। प्रभु के आदेशानुसार वह अपने परिवार के साथ हरन होता हुआ कैनान (फिलीस्तीन) पहुँचा। कहा जाता है उस समय वहाँ कैनानी रह रहे थे। किन्तु ईश्वर अब्रहाम के समक्ष उपस्थित हुए तथा कहा कि "तुम्हारे वंशजों को मैं यह भूमि प्रदान करूँगा।" इसी कारण हिब्रू इस भू-क्षेत्र को 'ईश्वर प्रदत्त देश' (Promised Land) मानते थे। जेनिसिस[3] में आगे उल्लेख मिलता है कि इसी बीच कैनान में भीषण अकाल पड़ गया जिससे भोजन की खोज में अब्रहाम को परिवार सहित मिस्र की ओर बढ़ना पड़ा। वहाँ वे नील नदी के डेल्टाई भाग में बस गये। बाइबिल के इस विवरण के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं कुछ स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। फिलिस्तीन से हिब्रू मिस्र कब और कैसे पहुँचे तथा मिस्रवासियों ने उन्हें क्यों शरण दी, ऐसे प्रश्न हैं जिनका समुचित उत्तर वर्तमान समय में नहीं दिया जा सकता है। ऐसा लगता है कि इस समय मिस्र पर हिक्सॉस का प्रभुत्व था। सम्भवतः उन्हीं के साथ हिब्रुओं का एक दल भी मिस्र चला गया था। यह भी असम्भव नहीं है कि उन्हें शासन-संचालन में हिब्रुओं से सहायता मिलती रही हो। त्युरिन राजपत्र में हिक्सॉस

---

[1] William, L. Langer, An Encyclopedia of World History, p. 29

[2] H. A. Davies, An Outline History of the World, p. 233 ff

[3] Genisis—12.10

शासकों के नाम के साथ जैकब हेर (Jacob-her) का नाम भी मिलता है। संभवतः यह अब्रहाम का पुत्र जैकब था। एक शासकीय समाधि की दीवाल पर इस प्रकार की एक भीड़ का दृश्य उत्त्कीर्ण मिलता है। सात सौ वर्ष बाद एक सीमा प्रान्तीय अधिकारी ने घोषणा की थी कि उसने एडोम की बेदुइन जातियों को डेल्टाई भाग में आने तथा वहाँ रहने की सुविधा दी थी।[1]

मूसा का आविर्भाव एवं मिस्र से प्रत्यावर्तन

हिब्रुओं के मिस्र में रहने तथा वहाँ से वापस आने का वर्णन एक्सोडस (Exodus) में मिलता है। मिस्र में हिब्रू कैसे रहे स्पष्टतः ज्ञात नहीं है किन्तु इस सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि यहाँ उनका जीवन दासवत् व्यतीत हुआ। बाइबिल द्वारा ज्ञात होता है कि हिब्रू मिस्र में 430 वर्ष तक रहे। पेट्री उनके मिस्र में प्रवेश का समय 1650 ई० पू० स्वीकार करते हैं अतः उनका प्रत्यावर्तन 1220 ई० पू० में हुआ। मिस्री दासता से हिब्रुओं को मुक्ति मूसा (Moses) के प्रयत्न से मिली। मूसा जन्मना हिब्रू थे। जन्म से तीन मास पर्यन्त तक मूसा का पालन-पोषण माता द्वारा किया गया लेकिन जब गुप्त रूप से पालन-पोषण सम्भव न हो सका तो इन्हें एक नरकुल की टोकरी में रखकर नदी के किनारे छोड़ दिया गया। ऐसा इसलिए किया गया क्योंकि हिब्रुओं की संख्या एवं शक्ति से भयभीत मिस्री शासकों ने उसे कम करने के लिए प्रसाविकाओं को यह आदेश दे रखा था कि हिब्रुओं के यहाँ जो भी पुत्र पैदा हो उसका प्राणान्त कर दिया जाय और केवल पुत्रियों को छोड़ा जाय। लेकिन जब बाद में उन्होंने देखा कि प्रसाविकाएँ ईश्वर के भय से आदेश का पूर्ण पालन नहीं कर रही हैं तो उन्होंने आदेश दिया कि हिब्रुओं के यहाँ जो भी पुत्र उत्पन्न हो उसे नदी में फेंक दिया जाय। जिस समय शिशु रूप में मूसा नदी के किनारे पड़े थे मिस्री शासक की राजकुमारी वहाँ स्नान करने के लिए आयी। उसकी दृष्टि बालक पर पड़ी। उसने अनुमान लगाया कि यह कोई हिब्रू सन्तान है और पास में खड़ी उसकी (मूसा की) बहन से उसकी सेवा के लिए किसी को नियुक्त करने के लिए कहा जिसने उसकी माँ को बुला दिया। माँ ने मूसा का पालन-पोषण किया और जब बड़े हो गये तो उन्हें मिस्री राजकुमारी को दे दिया।

मूसा की शिक्षा-दीक्षा राजकीय संरक्षण में अवश्य सम्पन्न हुई थी किन्तु उनकी सहानुभूति हिब्रुओं के साथ ही थी। एक दिन उन्होंने देखा कि एक अधिकारी एक हिब्रू दास को बुरी तरह पीट रहा है। मूसा से न रहा गया। उन्होंने उसका विरोध किया लेकिन जब मिस्री शासक को यह ज्ञात हुआ तो उसने मूसा को मृत्युदण्ड

---

[1] James B. Pitchard, Ancient Near Eastern Texts, Relating to the Old Testaments, p. 2

दिया। लेकिन वे प्राण बचाकर भाग गये और इधर-उधर छिपते हुए हिब्रुओं को प्रोत्साहित करते हुए उनका समर्थन प्राप्त करते रहे। धीरे-धीरे मूसा हिब्रुओं के नेता बन गये। इसके बाद उचित अवसर पाकर उन्होंने मिस्री शासक से हिब्रुओं को मुक्त करने का निवेदन किया लेकिन फेराओ ने इसे अस्वीकार कर दिया। कहा जाता है कि मिस्री-शासक को हिब्रुओं को मुक्त करने की सद्बुद्धि देने के लिए मिस्र में या:वे द्वारा दश बार महामारी लाई गयी। इससे भयभीत होकर मिस्री शासक ने हिब्रुओं को स्वदेश जाने की अनुमति तो दे दी किन्तु जैसे ही वे मिस्री सीमा के निकट पहुँचे वैसे ही मिस्री सेना ने उन पर पीछे से आक्रमण कर दिया। संकटग्रस्त हिब्रुओं ने या:वे से प्रार्थना की। कृपालु देव की कृपा से मिस्र की सम्पूर्ण सेना सागर में निमज्जित हो गई। मुक्ति पाकर हिब्रू कुशलतापूर्वक स्वदेश के लिए आगे बढ़े। मूसा को न केवल हिब्रुओं को मिस्री दासता से मुक्ति दिलाने में सफलता मिली बल्कि उन्होंने उनके संघर्षरत बारह कबीलों को भी संगठित किया। मूसा को 'ईश्वर प्रदत्त देश' (Promised Land) का दर्शन नियत नहीं था। फलतः मार्ग में ही एक सौ बीस वर्ष की आयु में उनका शरीर शान्त हो गया।

मूसा से सम्बन्धित बाइबिल के उक्त आख्यान की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में थोड़ी चर्चा आवश्यक है। मूसा के जीवन एवं मिस्र से निष्क्रमण सम्बन्धित घटनाएँ बाइबिल के अतिरिक्त ताल्मुद साहित्य तथा रब्बियों की अनुश्रुतियों में भी मिलती हैं। किन्तु प्रश्न है कि मिस्री इतिहास में इस घटना को क्यों स्थान नहीं दिया गया ? मिस्र के लम्बे इतिहास में कहीं भी मूसा के आविर्भाव, हिब्रुओं के दासतापूर्ण जीवन, उनके विद्रोह, मूसा के नेतृत्व में उनके संगठित होने, तथा सागर में मिस्री सेना के निमज्जित होने की घटनाएँ नहीं मिलतीं। केवल दो स्थलों पर अप्रत्यक्ष रूप से इस घटना का संकेत मिलता है। मिस्री शासक रैमिसीज द्वितीय के एक लेख में उल्लेख मिलता है कि उसने कुछ सेमिटिक कबीलों को, जो उदरपूर्ति के लिए मिस्र आये थे, डेल्टाई भाग में रहने की सुविधा दी थी। कुछ विद्वान् बाइबिल में उल्लिखित मिस्री शासक का तादात्म्य रैमिसीज द्वितीय तथा कुछ मेर्नेप्टाः से करते हैं। अंतिम तादात्म्य स्वीकार करने से हमारी दो समस्याएँ हल हो जाती हैं। प्रथमतः मेर्नेप्टाः के समय (1225-1215 ई० पू०) एवं पेट्री द्वारा बताये गये मिस्र से हिब्रुओं के निष्क्रमण की तिथि (1220 ई० पू०) में ताल-मेल बैठ जाता है। द्वितीयतः रैमिसीज द्वितीय का काल मिस्री इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है अतएव उसके समय में हिब्रुओं की विरोध करने की हिम्मत न पड़ी होगी। यह कार्य रैमिसीज द्वितीय के बाद उसके अगले उत्तराधिकारी मेर्नेप्टाः के समय में ही किया गया होगा क्योंकि मेर्नेप्टाः में रैमिसीज द्वितीय के समान शक्ति एवं सामर्थ्य नहीं थी। जोसीफस हमें बताता है कि ईसा से तीन शताब्दी पूर्व के एक मिस्री इतिहासकार मनेथो के अनुसार मिस्र से हिब्रुओं का निष्क्रमण उनकी इच्छा से हुआ था। इसका कारण यह था कि वे अपने को उस बीमारी से बचाना चाहते थे जो हिब्रू अपाहिजों एवं गुलामों में

फैल रही थी। मनेथो के अनुसार मूसा एक मिस्त्री पुरोहित थे जिन्हें हिब्रुओं के बीच सेवा के लिए भेजा गया था। यद्यपि मनेथो का कथन बाइबिल से नहीं मिलता किन्तु इस कथन का महत्त्व हमारे लिए इस दृष्टि से अधिक है कि इसमें निष्क्रमण, महामारी तथा मूसा की उदारता एवं सेवा-भावना का उल्लेख मिलता है। मिस्र से हिब्रुओं के निष्क्रमण, महामारी के आगमन एवं मूसा के अस्तित्व की ऐतिहासिकता में कोई संदेह नहीं रह जाता। प्रश्न केवल इतना रह जाता है कि मिस्त्री इतिहास में क्यों इस घटना का उल्लेख नहीं मिलता है ? इसका उत्तर देना कठिन नहीं है। मिस्रवासियों के लिए यह घटना अपमानजनक थी अतः जान-बूझकर वे इसे टाल गये। जहाँ तक मनेथो के विवरण का सम्बंध है या तो कर्ण-परम्परा से प्राप्त होने के कारण मनेथो के लिए इसमें परिवर्तन एवं परिवर्द्धन अवश्यंभावी हो गया या फिर मनेथो ने स्वयं जान-बूझकर ऐतिहासिक तथ्य को तोड़-मरोड़ कर रखा। जो भी हो उक्त विवरण से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि मूसा एक ऐतिहासिक पुरुष थे तथा उन्होंने ही हिब्रुओं को मिस्त्री दासता से मुक्ति दिलायी थी। हिब्रुओं के अन्तस्तल में मूसा का वही स्थान है जैसे भारतीयों में राम एवं कृष्ण का।

हम देख चुके हैं कि 'ईश्वर प्रदत्त देश' में पहुँचने के पूर्व ही मूसा का शरीर शान्त हो गया था। बाइबिल की चौथी किताब नम्बर्स (Numbers) में आरोन (Aaron) के नेतृत्व में फिलिस्तीन की ओर प्रयाण तथा कैनान पर आक्रमण का वर्णन मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि जिस समय हिब्रुओं ने 'ईश्वर प्रदत्त देश' की ओर बढ़ कर उस पर अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न किया, वहाँ सेमिटिक परिवार की एक शाखा, जिसे कैनानी कहा गया है, निवास कर रही थी और बैबिलोनियनों, हित्तियों तथा मिस्रवासियों के सम्पर्क में आने के कारण एक सुसम्पन्न संस्कृति की स्थापना में सफल हो गयी थी। उनके नगर सुदृढ़ प्राचीरों से सुरक्षित व्यापारिक केन्द्र बन गये थे। लोहे के प्रयोग, लिपिकला के विकास तथा सामान्य जीवन में हम्मूराबी की विधि-संहिता के प्रचलन के कारण उनका जीवन सुखी एवं समृद्ध हो गया था यद्यपि बैबिलोनियन प्रभाव के कारण वे क्रूर एवं विलासी हो गये थे तथा नरबलि, और वेश्यावृत्ति जैसी कुप्रवृत्तियाँ उनमें आ गयी थीं। हिब्रुओं के लिए कैनानियों पर विजय प्राप्त करना सरल नहीं था। हर संभव प्रयत्न करने के बावजूद भी वे छोटे-छोटे अरक्षित नगरों पर ही अधिकार स्थापित कर सके। जेरुसलम पर कई सदियों तक उनका अधिकार न स्थापित हो सका। यदि केवल कैनानियों की ओर से ही संकट होता तो शायद उन्हें शीघ्रता से सफलता मिल जाती। किन्तु उनके समक्ष एक दूसरी बाधा भी थी। फिलिस्तीनी नामक एक भू-मध्यसागरीय जाति ने, जिसे मिस्रवासियों ने पुलेसाती (Pulesati) कहा है, कैनानियों पर आक्रमण कर गाजा एवं जाफा के मध्य स्थित समुद्र तटीय भाग पर अधिकार स्थापित कर लिया। इनके जाति के नाम के आधार पर बाद में इस भू-भाग को फिलिस्तीन अभि-

धान से अभिहित किया गया। फिलिस्तीनियों के आगमन से हिब्रुओं की प्रगति कुछ दिनों के लिए रुक गई। हिब्रुओं को कभी कैनानियों की तो कभी फिलिस्तीनियों की प्रभुता माननी पड़ी। लेकिन हिब्रू निराश न हुए। सफलता प्राप्ति के लिए उनका प्रयास निरन्तर चलता रहा और बराबर उन्हें संगठित होने की प्रेरणा मिलती रही। अभी तक शासनाधिकार स्थानीय न्यायाधीशों के हाथ में था जो शासक की अपेक्षा धार्मिक नेता अधिक थे। अतएव इस दोष को दूर करने के लिए उन्होंने अन्तिम न्यायाधीश सैमुअल (Samuel) के स्थान पर साल (Saul) नामक शासक की नियुक्ति की।

साल

फिलिस्तीनी हिब्रुओं तथा कैनानियों को निम्न समझते थे अतएव फिलिस्तीनियों तथा हिब्रुओं में दिनोंदिन वैमनस्य बढ़ता गया। फिलिस्तीनियों का सैन्य-संगठन सुदृढ़ था। उनके पास लौहास्त्र थे अतएव उनका मुकाबला करना सरल नहीं था। लेकिन धीरे-धीरे साल (Saul, 1025-1000 B. C.) के नेतृत्व में संगठित होकर उन्होंने उनका डटकर सामना किया। प्रारम्भ में तो साल को सफलता मिली लेकिन अन्त में अन्तिम न्यायाधीश सैमुअल तथा दामाद डेविड (David) के विरोध के कारण वह असफल रहा। फिलिस्तीनियों के विरुद्ध माउण्ट गिल्बोआ (Mount Gilboa) के युद्ध में उसकी सेना पूर्णतया पराजित हुई। बुरी तरह से घायल हो जाने के कारण साल ने अपने अंगरक्षक से इच्छा व्यक्त की कि वह उसका प्रणान्त कर दे। लेकिन जब सेवक ने ऐसा करने में अपनी असमर्थता प्रकट की तो साल ने स्वतः तलवार भोंक कर आत्महत्या कर ली।

डेविड

साल के बाद अल्पकाल के लिए उत्तराधिकार इश्बाल (Ishbaal) को मिला किन्तु इसी बीच हिब्रू-शत्रुओं को पराजित कर तथा सैमुअल का समर्थन प्राप्त का डेविड नामक व्यक्ति ने अपनी स्थिति काफी मजबूत कर ली। इसी कारण जब इश्बाल को अपदस्थ करने का षड्यन्त्र डेविड ने किया तो कहीं से उसका कोई विरोध न हुआ। इश्बाल को अपदस्थ कर डेविड ने लगभग 1006 ई० पू० में सिंहासन ग्रहण किया। डेविड का शासन काल हिब्रू-इतिहास में सर्वाधिक गौरवपूर्ण माना जाता है। डेविड के कुशल नेतृत्व में हिब्रू-सेनाएं पश्चिम में फिलिस्तीन, उत्तर में सीरिया, पूर्व में अम्मोन (Ammone) एवं मोआब (Moab) तथा दक्षिण में एडोम (Adom) तक बढ़ीं। टायर तथा हमथ के साथ भी शासक के मैत्री सम्बन्ध स्थापित हुए। टायर के साथ स्थापित मैत्री सम्बन्ध डेविड के लिए अतीव उपादेय सिद्ध हुआ। इस प्रकार विजयों एवं नीतियों के माध्यम से डेविड के हाथों हिब्रू साम्राज्य की सीमा का पर्याप्त विस्तार हुआ तथा उसकी सुरक्षा की

गई । डेविड ने जेरुसलम में राजधानी की स्थापना की । व्यक्तिगत गुणों की दृष्टि से डेविड में क्रूरता एवं दयालुता दोनों का सन्निवेश था । एक क्रूर शासक एवं योद्धा के रूप में असीरियन शासकों की भाँति युद्ध में पकड़े गये लोगों की हत्या करने में उसे आनन्द मिलता था । शिमी (Shimei) नामक एक बूढ़े के सिर काटने की आज्ञा उसने अपने पुत्र को दी थी क्योंकि उस बूढ़े ने कई वर्ष पहले उसे शाप दे दिया था । उरिया की पत्नी को अन्त:पुर में रख लिया था तथा उसे मारने के लिए युद्ध में सबसे आगे भेजा था । एक दयालु शासक के रूप में डेविड ने साल को सत्तहत्तर बार क्षमा प्रदान की थी । डेविड इतिहास में जोनोथन (Jonothan) एवं अन्यान्य अर्द्धनग्न नर्तकियों एवं स्त्रियों के प्रेमी, वीणावादक एवं मधुर गायक के रूप में भी प्रसिद्ध है । निस्संदेह डेविड अत्यन्त प्रारम्भिक साहित्य का एक विचित्र नायक है ।

डेविड के अंतिम दिन शान्ति से न व्यतीत हुए । सामरिक योजनाओं, निर्माण कार्यों तथा शासन-संगठन के लिए प्रचुर मात्रा में धन अपेक्षित था । इसकी पूर्ति के लिए विवश होकर डेविड को कर में पर्याप्त वृद्धि करनी पड़ी । फलस्वरूप इसके जीवन काल में ही राज्य के कोने-कोने से असन्तोष की आवाज उठने लगी । अशान्ति के उक्त वातावरण में अन्त में लगभग चालीस वर्ष तक शासन करने के पश्चात् उसकी मृत्यु हो गई तथा उत्तराधिकार उसके पुत्र सालमन (Solomon) को मिला ।

सालमन

सालमन (966-926 ई० पू०) हिब्रू संयुक्त राज्य का अंतिम शासक था । परवर्ती हिब्रू, ईसाई एवं मुस्लिम साहित्य में इसे वही स्थान मिला है जो भारतीय साहित्य में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को । सालमन को उत्तराधिकार बिना किसी संघर्ष के प्राप्त हो गया था । राज्य-ग्रहण के समय जिन प्रतिद्वन्दियों ने सिर उठाने की कोशिश की या तो उनका सफाया कर दिया गया या फिर उन्हें निष्कासित कर दिया गया । अपने शासन काल में उसे केवल एरम प्रान्त से हाथ धोना पड़ा था ।

एक कुशल राजनीतिज्ञ एवं साम्राज्य-निर्माता के साथ-साथ सालमन एक राजसी एवं निरंकुश शासक था । पिता के सरल एवं सादगीपूर्ण जीवन से उसे घृणा थी अत: उसे त्याग कर वह अपने समय का सबसे बड़ा शासक बना तथा दूर एवं नजदीक से खिराज़ प्राप्त किया । उसके ऊपर बैबिलोनिया, असीरिया तथा मिस्र के शासकों के वैभवपूर्ण जीवन की गहरी छाप पड़ी थी । अत: वह भी उसी प्रकार सुख-सुविधा का उपभोग करना चाहता था । इसके लिए उसने बेगार प्रथा, कर तथा व्यापार तीनों का अवलम्बन लिया । टायर के साथ हिब्रुओं के व्यापारिक सम्बन्ध डेविड के समय से ही स्थापित हो गए थे । फीनिशिया के व्यापरियों को उसने प्रोत्साहित किया ताकि वे अपने व्यापारिक दस्ते फिलिस्तीन के रास्ते से ले जाएँ । इज़रायल के कृषि उत्पादनों के बदले टायर एवं सिडोन के शिल्पियों द्वारा यहाँ वस्तुएं

आने लगीं। टायर के शासक हिराम की सहायता से लाल सागर में उसने एक जहाजी बेड़ा इजिओन-गेबर (Ezion-geber) से ओफिर (Ophir) तक भेजा जो भारतीय हाथी-दाँत, बंदर तथा मयूर लेकर प्रत्यावर्तित हुआ था जिसका विस्तृत वर्णन बाइबिल में मिलता है।[1]

सालमन अपनी आमदनी का उपयोग निर्माण-कार्यों तथा विलासिता की सामग्रियों को एकत्र करने में करता था। सालमन ने जेरुसलम के अपूर्ण दुर्ग का निर्माण कार्य पूर्ण किया तथा एक विशाल शानदार राजप्रासाद, मंदिर तथा चार हजार अश्व की क्षमता वाले अश्वशाला का निर्माण करवाया। प्राकृतिक साधन यहाँ कम सुलभ थे अतः आवश्यकता की वस्तुओं का बाहर से आयात करना पड़ता था। शिल्पी भी यहाँ बाहर से मँगाये जाते थे। इससे इनका कोष खाली हो जाता था। इसकी पूर्ति कर द्वारा की जाती थी। लेकिन कभी-कभी इससे भी इसकी पूर्ति नहीं हो पाती थी। सालमन के समय में सबसे अधिक सामग्री हिराम से खरीदी गई थी। जिसका मूल्य अदा करने के लिए उसे हिराम को बीस नगर सुपुर्द करने पड़े थे। प्रति तीसरे मास तीस हजार हिब्रू श्रमिक जंगलों एवं खदानों में काम करने के लिए हिराम के पास भेजे जाते थे। सालमन की इन नीतियों का दूरगामी प्रभाव अहितकर सिद्ध हुआ। भारी कर, वेगार तथा अनिवार्य श्रम से फिलिस्तीन के निवासी त्रस्त हो गये। इसी कारण जैसे ही सालमन के नेत्र सदा के लिए बन्द हुए विद्रोह की आग भभक गई। सालमन का अन्त एक प्रकार से हिब्रू-सभ्यता के एक संक्षिप्त पर गौरव-पूर्ण युग का अन्त था। यह सत्य है कि सालमन के संरक्षण में जेरुसलम हर प्रकार से फूला-फला लेकिन यह समृद्धि स्थायी न सिद्ध हुई। एक ओर सम्पत्ति का संग्रह हो रहा था तो दूसरी ओर निर्धनता बढ़ती जा रही थी। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि निर्धन समुदाय अपनी गरीबी का अनुभव तब तक नहीं करता जब तक वह सम्पत्ति के मद में चूर धनपशुओं को गिरते हुए नहीं देखता। जैसे ही उसे इसका आभास होता है कि उसके ही धन का दुरुपयोग किया जा रहा है वह विद्रोह कर बैठता है। सालमन ने अपने सुकृत्यों से एक कुशल, बहादुर एवं नीति-निपुण शासक के रूप में ख्याति तो अवश्य अर्जित कर ली किन्तु आर्थिक नीतियों के फलस्वरूप देश में वर्ग-संघर्ष की जड़ें जमा दीं। सालमन ने एक और भयङ्कर भूल की। इज़रायल एक कृषि-प्रधान राज्य था किन्तु लेनिन तथा पीटर की भाँति उसने उसे औद्योगिक राज्य में परिवर्तित कर दिया। औद्योगिक शिथिलता आने पर जनसंख्या का अधिक भाग वेकार तथा निस्सहाय हो गया। इससे राजनीतिक संघर्ष तथा भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिला। एक ओर शाही भवनों में रहने वाले विलासिता का जीवन व्यतीत कर रहे थे तो दूसरी ओर साधारण जनों को रोटी के भी लाले पड़े थे। धीरे-धीरे अमीर एवं गरीब के बीच की दरार नगर एवं गाँव के संघर्षों में परिवर्तित हो गई। हिब्रू

---

[1] 1 Kings, 9-10

उत्तरी एवं दक्षिणी दो कबीलों में बंटे थे। दोनों की जीवन-पद्धति भिन्न-भिन्न थी। उत्तरी कबीले अपेक्षाकृत परिष्कृत एवं नागरीय जीवन से प्रभावित थे। निकट पूर्व के व्यापारिक मार्ग के मिलन बिंदु पर स्थित होने के कारण वे जहाँ एक ओर समृद्ध होते जा रहे थे वहीं उन पर विदेशी सभ्यताओं का प्रभाव भी बढ़ता जा रहा था। इसके पूर्णतया विपरीत दक्षिण के कबीले ग्राम्य जीवन के आदी थे तथा उन पर प्राचीन हिब्रू मान्यताओं की गहरी छाप थी। उन्हें विदेशी प्रभाव छू तक नहीं गया था। ऐसी स्थिति में संघर्ष अपरिहार्य था।

सालमन की मत्यु होते ही यह संघर्ष प्रारम्भ हो गया। सालमन का अगला उत्तराधिकारी रेहबोम (Rehbom) किसी काम का न सिद्ध हुआ। इसके समय में जो विद्रोह हुआ उसके फलस्वरूप फिलिस्तीन दो भागों में बँट गया। उत्तर में दश कबीलों ने जिस राज्य की स्थापना की उसे इज़रायल नाम दिया गया। इसकी राजधानी समरिया (Samaria) बनी। इसी लिए इसे समरिया के राज्य के नाम से भी जाना जाता है। दक्षिण के दो कबीलों ने जिस राज्य की स्थापना की उसे जूडा (Judea) नाम दिया गया। इसकी राजधानी जेरुसलम बनी। आने वाली लगभग दो सदियों तक दोनों राज्यों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व बना रहा।

इज़रायल राज्य का वास्तविक संस्थापक नेबत (Nebat) का पुत्र जेरबोम प्रथम (Jeroboam I) था। इसने शेकम (Shechem) को राजधानी के रूप में चुना। राज्य-ग्रहण करते ही इसने दान (Dan) एवं बेथेल (Bethel) के मंदिर के वृषाकार देवताओं को जनता की ओर से हवि प्रदान की तथा उन्हें शासकीय देवस्थान के रूप में प्रतिष्ठित किया। जेरबोम के बाद उत्तराधिकार उसके पुत्र नदब (Nadab, 912 B. C.) को मिला किन्तु यह दो वर्ष ही इज़रायल पर शासन कर सका था कि बाशा (Baasha, 911 B. C.) नामक व्यक्ति ने इसकी हत्या कर दी। बाशा अहिजा (Ahijah) का पुत्र था जिसका सम्बन्ध इसचर (Issachar) परिवार से था। इसके समय में राजधानी तिरजा (Tirzah) थी। इसका शासन काल चौबीस वर्ष माना गया है। बाशा के बाद उत्तराधिकार इसके पुत्र इला (Elah, 888 B. C.) को मिला। लेकिन दुर्भाग्य से यह दो वर्ष ही शासन कर सका था कि जिमरी (Zimari, 887 B. C.) नामक इसके एक नौकर ने इसकी हत्या कर दी तथा शासन सँभाल लिया। जिमरी ने बाशा के परिवार के सभी सदस्यों का सफाया कर दिया लेकिन शीघ्र ही इसका मान-मर्दन ओमरी (Omari) नामक एक सेनानायक ने किया। ओमरी के आक्रमण से त्रस्त एवं भयभीत जिमरी ने शासकीय भवन में पहुँचकर आग लगाकर आत्महत्या कर ली। इसके बाद ओमरी ने राज्यग्रहण किया। इसी के समय में इज़रायल की राजधानी समरिया बनी। उत्तरी राज्य की शक्ति एवं सीमा का प्रसार इसी समय किया गया। उत्तरी मोआब को पुनः इज़रायल राज्य का अंग बना लिया किन्तु दमेस्कस के एरेमियनों को अधीन करने में असफल रहा। 871 ई० पू० में ओमरी के बाद उत्तराधिकार इसके पुत्र अहब (Ahab) को

मिला। इसका विवाह फिनिशियन राजकुमारी जेजबेल (Jezebel) के साथ हुआ था। यह टायर के शासक इथवाल (Ethbaal) की पुत्री थी। अहब ने अपनी पत्नी को बाल (Baal) की उपासना के प्रचार-प्रसार की आज्ञा दे दी। इसी समय सन्त इलाइजा (Elijah) एवं इलाइशा (Elisha) का आविर्भाव हुआ जिन्होंने ओमरी वंश का सत्यानाश कर दिया। अहब मोआब के शासक मेशा (Mesha) से पराजित हुआ किन्तु दमेस्कस शासक बेन-हदद द्वितीय (Ben-Hadad II) के साथ संधि स्थापित की तथा असीरिया के शासक शालमनेसर तृतीय के साथ कार्कर में एक लड़ाई लड़ी। ओमरी वंश के अन्तिम शासक एहजाइ (Ahaziah, 853 B. C.) तथा जोरम (Joram, 852 B. C.) थे। 845 ई० पू० में इलाइज़ा के अनुयायियों द्वारा जेहु (Jehu) नामक व्यक्ति को सिंहासन पर बैठाया गया। इसके समय में बाल की उपासना दबा दी गई। शालमनेसर तृतीय को इसने उपहार भेजकर प्रसन्न किया। किन्तु दमेस्कस के हजील (Hazael) ने इसके ट्रांसजोर्डनियन प्रान्तों पर आक्रमण कर अधिकार कर लिया। अगले उत्तराधिकारी जेहोहाज (Jehoahaz, 816 B. C.) तथा जोश (Joash, 800 B. C.) भी दमेस्कस का कुछ न बिगाड़ पाये किन्तु जेरबोम द्वितीय (785 ई० पू०) ने खोये हुए प्रान्तों पर अधिकार करने में अवश्य सफलता प्राप्त कर ली। जेरबोम द्वितीय का शासन काल शान्ति एवं समृद्धि का काल माना जा सकता है। इसी बीच होजिया (Hosea) तथा अमोस (Amos) का विशुद्ध जेहोवावादी के रूप में आविर्भाव हुआ जिन्होंने इज़रायल के अधःपतन की भविष्यवाणियाँ की। जेहु वंश के अन्तिम शासक जेकराइ (Zechariah, 744 B. C.) की शालुम (Shallum) ने हत्या कर दी।

अगले उत्तराधिकारी मेनेहेम (Menehem, 744 B. C.) तथा पेकहाइ (Pekahiah, 738 B. C.) को असीरिया के तिग्लथपिलीजर तृतीय द्वारा कर देने के लिए विवश किया गया। होजिया ने कर देने से असहमति प्रकट की। परिणामतः शालमनेसर पंचम ने उसे निष्कासित कर दिया। अन्त में 722 ई० पू० में असीरियन शासक सारगोन द्वितीय ने इज़रायल पर विजय प्राप्त की। इज़रायल की राजधानी समरिया नष्ट-भ्रष्ट कर दी गई। वहाँ के 27,290 निवासियों को निष्कासित कर दिया गया तथा उन्होंने असीरिया के विशाल साम्राज्य में शरण ली। धीरे-धीरे वे पश्चिमी एशिया की अन्य जातियों में घुलमिल गये तथा उनका स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हो गया इसी लिए हिब्रू इतिहास में इन्हें 'दश इज़रायल के विलुप्त कबीले' (Last ten tribes of Israel) कहा जाता है।

इज़रायल का पतन अवश्य हो गया किन्तु जूडा का अस्तित्व कुछ दिन तक और बना रहा। प्रारम्भ में इसके इज़रायल से अच्छे सम्बन्ध नहीं थे। सम्बन्ध बनाने का उल्लेखनीय प्रयास जोरम के समय में किया गया। इज़रायल के शासक एहब की पुत्री ऐथलाइ से अपना विवाह कर उसने इस सम्बन्ध को और अधिक मज़बूत कर दिया। जोरम के बाद उत्तराधिकार ऐथलाइ को मिला। जिसने

एमोराइटों के पतन के बाद नृशंसतापूर्वक (845-839 ई० पू०) राज्य किया। इसके बाद उत्तराधिकार जेहोश (Jehoash) को मिला। ऐसा पता लगता है कि जेहोश दमेस्कस के शासक हजील (Hazael) को कर देता था। 798 ई० पू० में ऐमजाइ (Amaziah) के विषय में सूचना मिलती है कि उसने एडोमाइट्स को पराजित किया था किन्तु इज़रायल के शासक जोश द्वारा बन्दी बना लिया गया था। इसी बीच सन्त आइजाइ (Isaiah) का आविर्भाव हुआ जिसने राजनीतिक मंत्रणा दी। आगे चलकर मिस्र से सन्धि कर उनका समर्थन प्राप्त कर हेजिकाइ ने असीरियन शासक सेनैकरिब को चुनौती दी किन्तु एक अनर्थकारी युद्ध के बाद सन्धि कर ली। अगला उत्तराधिकारी मनैसी (Manasseh, 692 B. C.) पूर्णतया असीरिया की अधीनता में बना रहा। इसके समय में असीरियन देवी-देवताओं तथा मिस्री देव आमोन की उपासना को प्रेरणा मिली। इसके उत्तराधिकारी जोसाइ (Josiah) के शासन काल में सन्त जेरिमाइ (Jeremaih) का आविर्भाव हुआ जिसने जूडा के अन्त की भविष्यवाणी की किन्तु उसकी बात पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। आन्तरिक एवं वाह्य संघर्षों से लाभान्वित होते हुए अन्त में कैल्डियन सरदार नेबुकद्रेज्जर ने 587 ई० पू० जूडा पर आक्रमण कर दिया। डेढ़ वर्ष की घेरेबन्दी एवं संघर्ष के बाद अन्ततः 586 ई० पू० में जेरुसलम पर विजय प्राप्त की तथा नगर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया। यहाँ के अधिकांश नागरिकों को बन्दी बनाकर बैबिलोन ले जाया गया जहाँ लगभग सैंतालीस वर्ष तक (586-538 ई० पू०) वे दासता में बने रहे। 539-38 ई० पू० में जब हखामनीशिय शासक कुरुश् द्वितीय ने नव-बैबिलोनियन राज्य को अपने साम्राज्य में मिलाया तो फिलिस्तीन भी उसके साम्राज्य का एक अंग बन गया। कुरुश् द्वितीय ने हिब्रुओं के साथ अत्यन्त उदारता प्रदर्शित की तथा उन्हें अपने देश जाने की आज्ञा दे दी। कुछ हिब्रू स्वदेश लौट गये जबकि बहुत से वहीं बसे रहे क्योंकि वे अपना व्यवसाय छोड़कर जाना नहीं चाहते थे। इस प्रकार हखामनीशिय शासकों के संरक्षण में पुनः एक छोटा-सा हिब्रू राज्य अस्तित्व में आ गया। हिब्रू इतिहास में इसे पुनर्स्थापना (Restoration) नाम दिया गया है।

529 से 332 ई० पू० तक हिब्रू सभ्यता का विकास हखामनीशिय प्रभाव के अन्तर्गत सम्पन्न हुआ। इसी बीच यहाँ नीमाइ (Nehemiah) तथा एजरा (Ezra) के नेतृत्व में नवीन धार्मिक एवं राजनीतिक चेतना का आविर्भाव हुआ। जेरुसलम की प्राचीर का पुनर्निर्माण किया गया, सभी प्रकार के ऋण मुक्त कर दिये गये तथा जूडा के निवासियों को किसी दूसरे वर्ग की कन्याओं से विवाह न करने का आदेश दिया गया। जीवन को नियम तथा कानूनों से बाँधा गया। जेरुसलम एक धार्मिक केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। अन्त में 332 ई० पू० में फिलिस्तीन पर यूनानी शासक सिकन्दर का अधिकार स्थापित हो गया।

राजनीतिक संगठन

हिब्रुओं के राजनीतिक संगठन के संदर्भ में इनकी विधि-संहिता एवं दण्ड विधान का उल्लेख किया जा सकता है। इससे सम्बन्धित सूचनाएँ बाइबिल की प्रथम पाँच किताबों में मिलती है। इन्हें पेण्टत्यूक (Pentateuch) नाम दिया गया है। हिब्रू इसे तोरा: कहते हैं। तोरा: का सामान्य अर्थ कानून माना जाता है यद्यपि इसका वास्तविक अर्थ उपदेश होता है। हिब्रू कानूनों पर बैबिलोनियन शासक हम्मूराबी के कानूनों का प्रभाव स्पष्टत: देखा जा सकता है। एक स्थल[1] पर आँख के लिए आँख तथा दाँत के लिए दाँत का स्पष्ट उल्लेख है जो हम्मूराबी की ही एक धारा का अनुवाद है। परम्परया हिब्रू मानते हैं कि इन कानूनों की रचना मूसा ने की थी लेकिन इसे स्वीकार करने में कठिनाइयाँ हैं। हिब्रू का जन्म तथा लालन-पालन मिस्र में हुआ था। वे फिलिस्तीन नहीं पहुँच सके थे। उन्हें बैबिलोन के सम्पर्क में आने का अवसर नहीं मिला था। अतएव यदि मूसा ने हिब्रू कानूनों की रचना की भी होती तो उस पर मिस्री प्रभाव पड़ने की संभावना अधिक थी न कि बैलोनियन प्रभाव। अत: हम यही कह सकते हैं कि इन कानूनों के निर्माता मूसा नहीं थे। परवर्ती काल में इसे दैवी मान्यता देने के लिए ऐसा कहा गया। प्राचीन विश्व की प्राय: सभी संस्कृतियों में यह मान्यता प्रचलित थी कि नियम एवं कानून देवता द्वारा बनाए जाते थे। बैबिलोनिया में हम्मूराबी की विधि संहिता को शमश देवता की देन माना गया था। मिस्र में कानूनों का निर्माता टा:थ देवता था। ईरान में इसका श्रेय अहुर मज्दा को मिला था। हिब्रू भी मानते थे कि उनके कानून मूसा को सिनाई पर्वत पर या:वे की कृपा से प्राप्त हुए थे।

जहाँ तक हिब्रू कानूनों की व्यापकता का प्रश्न है। इसे सर्वथा स्वीकार करना पड़ेगा कि हिब्रू कानून प्राचीन विश्व के अन्य कानूनों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रचलित थे। एक ओर यदि इसमें धार्मिक उपासना, व्रत एवं नैतिक नियम भरे पड़े थे तो दूसरी ओर दैनिक आहार, सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत पवित्रता, प्रसव, कामाधिक्य, यौन व्याधि, कुष्ठ तथा अन्य भयङ्कर व्याधियों के उपचार इत्यादि का समाहार भी मिलता है। धर्म को राजनीतिमत्ता के आधार रूप में प्रयुक्त करने तथा जीवन के प्रत्येक पहलू के नियमन का यह इतिहास में सबसे बड़ा प्रयास है।[2]

हिब्रू विधि-संहिता में दण्ड-व्यवस्था धर्माश्रित थी। मंदिर न्यायालय तथा उसके पुजारी न्यायाधीश का कार्य सम्पन्न करते थे। सामान्यत: दण्ड प्रतिशोध के सिद्धान्त पर आधारित था। अर्थात् यदि कोई व्यक्ति किसी की आँख फोड़ देता था तो पीड़ित व्यक्ति को अपराधी की आँख फोड़ देने का अधिकार मिल जाता था।

---

1. Exodus, 21-26-27
2. Will Durant, The Story of Civilization, vol. I, p. 330

किन्तु साधारण अपराध में कभी-कभी क्षति-पूर्ति के सिद्धान्त भी अपनाए जाते थे। यदि कोई व्यक्ति गड्ढा बना कर छोड़ देता था और उसमें गिरने से किसी पशु की मृत्यु हो जाती थी तो गड्ढा खोदने वाले को मृत-पशु के स्वामी को उसका मूल्य देना पड़ता था किन्तु इस स्थिति में मृत-पशु अपराधी का हो जाता था। मानव हत्या को यहाँ गम्भीर अपराध स्वीकार किया गया था और इसके लिए मृत्यु-दण्ड नियत था। हत्या के अतिरिक्त व्यभिचार, पिता को चोट पहुँचाने, आभिचारिक क्रियायों के सम्पादन, पशुगमन, पत्नी के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धिनियों के साथ सहवास इत्यादि के लिए भी मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। याःवे के अतिरिक्त किसी अन्य देवता की उपासना भी विधानतः दण्डनीय थी। ऐसी स्थिति में उपासक का अन्त कर दिया जाता था। किसी व्यक्ति को चुराने पर मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। दण्ड देने का कार्य पीड़ित व्यक्ति के परिवार के सदस्य ही करते थे। यहाँ तक कि सामान्य हत्या के मामले में भी यही नियम लागू था।

सामाजिक संगठन

सामान्यतः हिब्रू समाज दो वर्गों—स्वतन्त्र एवं दास—में विभाजित था। स्वतन्त्र वर्ग के अन्तर्गत शासकीय परिवार के सदस्य, पुरोहित, सैनिक, कृषक तथा शिल्पी थे। दास का अस्तित्व श्रमिकों के रूप में था। सामाजिक स्तर की दृष्टि से शासकीय परिवार के सदस्य तथा पुरोहित विशेष सम्मानित थे। शासकीय परिवार के सदस्यों का जीवन-स्तर अपेक्षाकृत अधिक विलासपूर्ण था। लूट-पाट तथा कर द्वारा प्राप्त सम्पत्ति का एक प्रचुर भाग शासक की शान-शौकत में खर्च किया जाता था। अन्तःपुर में शासकों की सेवा के लिए बहुत-सी गणिकाएँ रहती थीं। सालमन के हरम में सात सौ रानियों तथा तीन सौ गणिकाओं के रहने की सूचना मिलती है। सम्भव है इसमें किंचित् अतिरंजना हो किन्तु यह मानना पड़ेगा कि इनकी संख्या पर्याप्त थी। शासकीय परिवार के विपरीत कृषकों का जीवन संकटमय था। दासों से सम्बन्धित सूचना विधि-संहिता में मिलती है। प्राचीन विश्व की अन्य जातियों की भाँति बंदी शत्रु को वे भी दास बना लेते थे। इनका मुख्य कार्य लकड़ी काटना तथा खदानों में काम करना था। हिब्रू दास स्वामी के पूर्णतया अधीन नहीं थे। प्रति सप्ताह इन्हें एक दिन का अवकाश मिलता था। यह नियम यहाँ सर्वसाधारण में भी प्रचलित था। विश्राम का यह नियम अन्यत्र भी लागू था। जैसे छः वर्ष तक निरन्तर खेती करने के बाद सातवें वर्ष खेत खुला छोड़ दिया जाता था। इसी प्रकार छः दिन तक काम लेने के बाद सातवें दिन पशुओं को भी विश्राम देते थे। इसे सब्बाथ (Sabbath) कहते थे। इस प्रकार दासों को जो अवकाश मिलता था और उसमें वे जो सम्पत्ति अर्जित करते थे उससे वे अपनी स्वतन्त्रता खरीद लेते थे। हिब्रू सन्तों द्वारा जो आन्दोलन चलाए गये उसमें दासों पर विशेष ध्यान दिया गया। छः वर्ष

तक काम करने के बाद खरीदे गये दास अब मुक्त कर दिए जाने लगे। अकेले रहने पर अकेले तथा सपत्नीक रहने पर सपत्नीक मुक्त किये जाते थे। किन्तु यदि उसे पत्नी दास जीवन में स्वामी की ओर से मिली रहती थी तो उससे उत्पन्न सन्तति तथा उस स्त्री को स्वामी स्वयं अपने पास रख लेता था। यदि कोई दास अकेले नहीं जाना चाहता था और स्वामी तथा स्त्री के प्रति अपना लगाव प्रदर्शित करता था तो ईश्वर की आज्ञा से उसे जीवन-पर्यन्त दास के रूप में रखा जा सकता था। दास को दण्ड देना अपराध माना जाता था। किसी व्यक्ति के पीटने से किसी दास या स्वामी की मृत्यु हो जाने पर अपराधी को दण्ड दिया जाता था। यदि कोई व्यक्ति किसी दास या दासी की आँख फोड़ देता था या दाँत तोड़ देता था तो स्वामी उस दास या दासी को मुक्त कर देता था।

हिब्रू सामाजिक संगठन परिवार-संस्था पर आधारित था। प्रायः यहाँ संयुक्त पारिवारिक व्यवस्था थी। जिसमें माता-पिता के अतिरिक्त विवाहित सन्तानें, उनकी पत्नियाँ तथा बच्चे, अविवाहित बच्चे तथा दास एवं दासियों के रहने की व्यवस्था थी। परिवार का प्रधान पिता था। इसे सर्वाधिक सम्मान एवं अधिकार प्राप्त थे। जो पिता का अपमान करता था उसे मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। परिवार के सदस्यों पर उसका पूर्ण एवं अविवाद्य अधिकार था। यहाँ तक कि आवश्यकता पड़ने पर वह रजस्वला होने के पूर्व भी कन्या को बेच सकता था। स्त्रियाँ यद्यपि पूर्णतया पति के अधीन थी किन्तु उनके सम्मान में कोई कमी नहीं आने पाती थी। इस दृष्टि से सेरा (Sarah), रेचल (Rachel), मिरियम (Miriam), ईस्थर (Isther), डेबरा (Deborah), हुल्डा (Huldah) इत्यादि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। स्त्रियों का मुख्य कर्त्तव्य परिवार की निगरानी करना था।

इनके सामाजिक संगठन में विवाह-संस्था का भी विशिष्ट स्थान था। विवाह का निर्धारण वर-वधू के माता-पिता करते थे। कभी-कभी प्रेम-विवाह भी हो जाते थे। युद्ध की स्थिति में यदि किसी कबीले में स्त्रियों की संख्या कम हो जाती थी तो दूसरे कबीलों से उनका अपहरण भी कर लिया जाता था। विवाह में वर का पिता कन्या के पिता को यथाशक्ति धन देता था। यह प्रथा भारतीय आसुर विवाह का स्मरण दिलाती है। हिब्रू जनसंख्या-वृद्धि के प्रति सजग थे। इसके लिए सम्पन्न पुरुष कई विवाह करते थे। सन्तान-सृष्टि से वंचित विवाह योग्य कुमारियों एवं वंध्याओं को घृणा की दृष्टि से देखते थे। ब्रह्मचर्य को वे पाप समझते थे। विवाह एवं सन्तानोत्पत्ति दोनों उनकी दृष्टि में आवश्यक था। कई संतति के बाद यदि पत्नियों की प्रजनन-शक्ति क्षीण हो जाती थी तो उसके स्थान पर दासियों को इस कार्य में लगा लिया जाता था। विधवा हो जाने पर विधानतः किसी भी स्त्री को मृतपति के भाई अथवा निकटतम् सम्बन्धी से सन्तति के लिए प्रणय की छूट थी। किन्तु नैतिकता का यहाँ विशेष ध्यान रखा जाता था। परपुरुष समागम सर्वथा वर्जित था। इसके लिए इनकी आचार-संहिता में मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था थी। इसी

प्रकार पशुगमन को भी इनके यहाँ अपराध मानते थे। स्त्रियों की भाँति पुरुषों को भी कठोर नैतिक बंधन में रहना पड़ता था। स्वपत्नी के अतिरिक्त किसी दूसरी स्त्री अथवा किसी सम्बन्धिनी से सम्बन्ध स्थापित करने पर कठोर दण्ड दिया जाता था। तलाक देना पुरुषों के लिए सरल था किन्तु स्त्रियों के लिए असम्भव। समाज में समलिंगी मैथुन तथा वेश्यावृति प्रचलित थी। यद्यपि प्रथम के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। जेरूसलम में वेश्याओं की भरमार थी। इनकी संहिता में ऐसे नियम थे जिनके अनुसार वे सीरियन, मोआबियन, मीडियन तथा अन्य पड़ोसी स्त्रियों से सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। ये स्त्रियाँ नगर के खेमे में रहती थी और छोटी-मोटी आवश्यकता की वस्तुओं के साथ नगर में प्रवेश करती थीं तथा नगर निवासियों की काम-वासना शान्त करती थीं। सालमन के समय में इसमें कुछ और कानूनी ढिलाई कर दी गई थी जिसके फलस्वरूप जेरूसलम में वेश्याओं की संख्या इतनी अधिक हो गयी थी कि किसी सुधारक ने चिल्ला कर कहा था कि आजकल के मन्दिर दुराचार एवं वेश्यावृति के केन्द्र बन गए हैं।

आर्थिक संगठन

हिब्रूओं का आर्थिक गठन वैयक्तिक सम्पत्ति के सिद्धांत द्वारा नियन्त्रित था। व्यक्तिगत सम्पत्ति अर्जन को वे दैवी अधिकार मानते थे। उनकी सम्पत्ति सम्बन्धित मान्यताएँ व्यापक थीं। इसके अन्तर्गत भू-सम्पत्ति के साथ-साथ भवन, पशु, परिवार के सदस्य एवं दास भी सम्मिलित थे। कृषिकर्म को विशेष महत्त्व मिला था। इसके विकास एवं सुरक्षा से सम्बन्धित अनेक नियम इनकी संहिता में बनाये गये थे। कहीं-कहीं तो यह अत्यन्त वैज्ञानिक था। निरन्तर छः वर्ष तक किसी खेत में फसल लेने के पश्चात् सातवें वर्ष उसे खाली छोड़ दिया जाता था। इससे उनकी उर्वराशक्ति पुनः वापस आ जाती थी। उस वर्ष बिना जोते-बोए जो कुछ उसमें पैदा हो जाता था, उसका संग्रह नहीं किया जाता था। इसका उपयोग गरीब लोग करते थे। फसल काटते समय न तो खेत के सभी किनारों की लवनी की जाती थी न फसल उठा लेने के बाद उसमें कुछ बिना ही जाता था। इसका संग्रह भी गरीब करते थे। यदि किसी पशु द्वारा किसी के फसल को क्षति पहुँचती थी तो पशु के स्वामी के लिए आवश्यक था कि वह फसल के स्वामी की क्षतिपूर्ति करे। यदि कोई व्यक्ति अग्नि जलाकर किसी के अनाज के अम्बार, खड़ी फसल अथवा खेत को क्षति पहुँचाता था तो उसे पूरी-पूरी क्षति-पूर्ति करनी पड़ती थी। अनाज के साथ-साथ अंगूर, जैतून तथा अंजीर पैदा किये जाते थे। अंगूर की कृषि से सम्बन्धित नियम बनाये गये थे। सब्बाथ के नियम अंगूर की कृषि में भी लागू थे। प्रति सातवें वर्ष न तो अंगूर की छँटाई की जाती थी न फलों का संग्रह ही। किसी प्रकार की क्षति पहुँचाने पर अपराधी को क्षति-पूर्ति करनी पड़ती थी।

पशुपालन भी प्रचलित था। मुख्य रूप से बैल, गर्दभ, भेड़ तथा बकरी पालते थे। चरागाहों की खोज में वे घरों की अपेक्षा तम्बुओं में रहना अधिक पसन्द करते

थे। पशुओं की सुरक्षा का भी पूरा ध्यान रखा जाता था। यदि किसी व्यक्ति का बैल किसी दूसरे व्यक्ति के बैल को चोट पहुँचा कर मार डालता था तो जीवित बैल बेचने से प्राप्त धन तथा मृत बैल दोनों में बाँट दिया जाता था। लेकिन यदि यह ज्ञात हो जाता था कि वह बैल पहले भी सींग मारता था और उसके स्वामी ने यह जानते हुए भी उसे बाँध नहीं रखा तो उसके स्वामी को मृत बैल के बदले क्षतिपूर्ति करनी पड़ती थी तथा मृत बैल उसका (मारने वाले बैल के स्वामी का) हो जाता था। यदि कोई व्यक्ति किसी का बैल अथवा भेड़ चुरा कर बेच लेता था या मार डालता था तो उसे एक बैल के बदले पाँच बैल तथा एक भेड़ के बदले चार भेड़ें देनी पड़ती थीं। किन्तु यदि उसके पास दण्ड-रूप में क्षति-पूर्ति करने के लिए कुछ भी नहीं रहता था तो उसे बेच दिया जाता था। यदि चुराया गया पशु मिल जाता था तो अपराधी को चुराये गये पशु का दूना दण्ड रूप में उसके मालिक को देना पड़ता था।

कृषि तथा पशुपालन के अतिरिक्त सालमन के समय में उद्योग-धन्धों तथा व्यापार की ओर भी ध्यान दिया गया था। हिब्रू व्यापारी जेरुसलम के अतिरिक्त दमेस्कस, टायर तथा सिडोन में दिखाई पड़ते हैं। धीरे-धीरे पश्चिमी एशिया में ऋण देने वाले साहूकारों के रूप में उन्होंने अच्छी ख्याति अर्जित कर ली। उनके लिए या:वे का आदेश था कि कई राष्ट्रों को उधार देना किन्तु किसी से उधार न लेना। बंदी-युग के पूर्व यहाँ मुद्रा-प्रणाली का विकास नहीं हुआ था किन्तु सोने-चाँदी की तौल के आधार पर वस्तुओं के मूल्य अदा किये जाते थे। देश के आन्तरिक भागों में भी ऋण दिये जाते थे पर गरीबों से ब्याज लेने की सख्त मनाही थी।

धर्म

हिब्रू संस्कृति के विविध तत्त्वों में धर्म का स्थान सर्वोपरि है। हिब्रू धर्म का विकास क्रमशः तथा मन्दगति से हुआ। इसका प्रारम्भ तो क्रूरतम अंधविश्वासों से हुआ किन्तु अन्त उच्चतम् आध्यात्मिक एवं नैतिक मान्यताओं से। धार्मिक मान्यताओं के विकास में इनकी भौगोलिक स्थिति का भी विशिष्ट योगदान था। कैनान विजय के बाद इनका क्रीड़ा-स्थल एक ऐसा भू-भाग बना जो मिस्र तथा एशिया की प्रमुख संस्कृतियों का मिलन-बिन्दु था। अतएव इन संस्कृतियों की प्रभाव परिधि में आना उनके लिए सहज एवं स्वाभाविक था। हिब्रू धर्म के क्रमिक विकास को ध्यान में रखते हुए इसे पाँच युगों में विभाजित किया जा सकता है।

1. प्राक् मूसा युग (Pre Mosaic Age)
2. राष्ट्रीय एक देव-पूजा का युग (The Age of National Monolatry)
3. सुधार का युग (The Age of Reformation)
4. बैबिलोनियन बन्दी-युग (The Age of Babylonian Captivity)
5. उत्तर बन्दी-युग या पारसीक प्रभाव का युग (The PostExile Stage or the Age of Persian Influence)

प्राक्मूसा युग

हिब्रू धर्म के विकास की प्रथम अवस्था का सम्बन्ध प्राक्मूसा युग से है। यह युग प्रारम्भ से लेकर मूसा के आविर्भाव के पूर्व तक माना गया है। इस युग में यहाँ किसी राष्ट्रीय देवता का अस्तित्व नहीं था। वे इस समय बहुदेववादी एवं सर्वात्मवादी (Animism) थे। वे वृषभ, भैंस, नाग के साथ-साथ वृक्ष, पर्वत, पवित्र-कूप, झरने तथा अनेक प्रकार के पाषाणों में रहने वाली आत्माओं की पूजा करते थे।[1] उपासना के लिए आभिचारिक क्रियाओं का अवलम्बन लिया जाता था। इसमें जादू-टोने, पैशाचिक क्रियाओं तथा बलि को विशिष्ट स्थान मिला था। इस कार्य में पुरोहितों तथा ओझाओं की विशेष सहायता ली जाती थी। इसी लिए समाज में इन्हें विशेष महत्त्व मिला था। किन्तु इनकी सर्वात्मवादी प्रवृत्ति शनैः-शनैः देवताओं के मानवीकरण में बदलने लगी। यह विकास किन परिस्थितियों में संभव हो सका ज्ञात नहीं है। संभवतः इसमें उनकी पितृसत्तात्मक पारिवारिक व्यवस्था का कुछ हाथ था। क्योंकि पितृसत्तात्मक व्यवस्था में जैसे पिता का स्थान सर्वश्रेष्ठ माना गया था वैसे देवताओं में भी वे कुछ को प्रधान मानने लगे और उनमें मानवत्व आरोपित किया गया। सामान्यतः वे देवताओं को एल (L) की संज्ञा से सम्बोधित करते थे। बहुत से हिब्रुओं ने कैनानियों के बाल तथा इश्टर को भी अपना लिया। इन्हें वे पुरुष-तत्त्व एवं स्त्री-तत्त्व के रूप में पूजते थे।

राष्ट्रीय एकदेव पूजा का युग

इस युग का आविर्भाव मूसा के काल से हुआ। इस युग में हिब्रू धर्म एकेश्वर-वाद की ओर उन्मुख दिखाई पड़ता है। इसलिए इस युग को एकदेव पूजा का युग कहा गया है। लेकिन इसका यह आशय नहीं है कि एक राष्ट्रीय देवता के अतिरिक्त अन्य देवताओं का अस्तित्व रह ही नहीं गया था। सत्यता तो यह है कि अन्य देवताओं के रहते हुए भी सन्त मूसा के प्रभाव में आकर उन्होंने एक देवता की उपासना प्रारम्भ कर दी थी। इस राष्ट्रीय देवता को वे 'JHWH' अथवा 'YHWH' की संज्ञा से संबोधित करते थे। वर्तमान समय में न तो यही कहा जा सकता है कि इस शब्द का वे कैसे उच्चारण करते थे न यही कहा जा सकता है कि इसका अर्थ क्या था? अब विद्वान् मानने लगे हैं कि इसका वे उच्चारण याःवे (Yahveh) करते थे। मूसा ने अपने अभीष्ट देव से पूछा कि इज़रायल जाकर जब वह लोगों से बताएगा कि उसे देवता ने भेजा है तो यदि वे देवता के नाम के विषय में पूछेंगे तब वह क्या बताएगा? देवता ने उससे कहा कि 'मैं वही हूँ जो मैं हूँ'। इसके आगे देवता ने यह भी कहा कि मूसा इज़रायल में लोगों से बताए कि उसे अब्रहाम के

---

[1] J. Shatwell, The Religious Revolution of Today, p. 30

देवता, आइजाक के देवता तथा जैकब के देवता ने भेजा है।[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि देवता ने भी अपना कोई नाम नहीं बताया। अभी तक अथवा बाद में भी हिब्रुओं ने अपने देवता को जेहोवा (Jehoah) नाम नहीं दिया था जिसे तेरहवीं शती ई० में त्रुटिवश क्रिश्चियन हेब्रेस्ट्स (Christian Hebraists) ने दिया।

जिस प्रकार या:वे का शाब्दिक अर्थ अस्पष्ट रहा उसी प्रकार उसका स्वरूप भी। या:वे ने स्वयं मूसा से जो कुछ अपने विषय में बताया उससे प्रकट होता है कि या:वे की कल्पना अमूर्त चेतन सत्ता के रूप में नहीं की गई थी। वह मानव शरीर-धारी ही नहीं अपितु गुण-दोष सम्पृक्त था। यदि प्रसन्न होने पर वह लोगों पर कृपा-दृष्टि रखता था तो अप्रसन्न होने पर क्षणभर में उनके नष्ट करने का यत्न भी करने लगता था। उसके अप्रसन्न होने पर उसके दण्ड के शिकार पापकर्मा एवं अनाचारी ही नहीं अपितु पुण्यकर्मा एवं सदाचारी भी वन जाते थे। उदाहरणार्थ, जिस समय कोवेनेण्ट मंजूषा (Ark of Covenant) इज़रायल लायी जा रही थी उस समय उज्जा (Uzza) नामक व्यक्ति गाड़ी हाँक रहा था। उसने मंजूषा को झटके से वचाने के लिए उस पर हाथ रख दिया। किन्तु देवता ने अप्रसन्न होकर उसे मृत्युदण्ड दिया।[2] इस प्रकार या:वे अज्ञात एवं नियोजित अपराध में कोई भेद नहीं मानता था। स्वभाव से वह स्वतन्त्र एवं स्वेच्छाचारी था। निर्णय कर लेने पर उसे कार्यान्वित करने में विलम्ब नहीं करता था। शीघ्रता में गल्तियाँ करके वह पश्चाताप भी करता था। व्यक्तिगत रूप से वह साधारण से साधारण भेंट से सन्तुष्ट हो जाता था। सीरियन शासक का सेनानायक नामन (Naaman) कुष्ठ से पीड़ित होकर शासक के आदेश से इलाज के लिए इज्रायल गया। या:वे की कृपा से उसे रोगमुक्ति मिल गई। उसने या:वे के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करने के लिए तथा उसकी उपासना के लिए दो खच्चर तथा फिलिस्तीन की अच्छी मिट्टी ही पर्याप्त समझी और इसी की उसने इज़रायल के सन्त से याचना की थी।

या:वे मूलतः बिजली की गड़गड़ाहट अथवा मेघगर्जन का देवता था। उसका आवास पर्वत था। मेघ की गड़गड़ाहट से भयभीत होकर ही लोग उसकी उपासना करते थे। बाद में या:वे की कल्पना एक युद्ध-प्रिय एवं लड़ाकू देवता के रूप में की गई। उपासकों की ओर से या:वे युद्ध में भाग लेता था। वह स्वयं हिब्रुओं से कहता था कि वह उनके शत्रुओं को नष्ट करेगा। पर जिस समय हिब्रू मूसा के नेतृत्व में स्वदेश वापस आ रहे थे मिस्री सेना या:वे की कृपा से ही समुद्र में निमज्जित हुई थी। एक कृपालु युद्ध-देवता के साथ-साथ या:वे अत्यन्त निर्दयी एवं क्रूर भी था। अपने मनोरंजन के लिए उसने कई राष्ट्र के निवासियों को मौत के घाट उतार दिया। जब हिब्रुओं ने मोआब की स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार किया तो उसने मूसा को आदेश

---

[1] Exodus, 3. 13-14

[2] Chronocles, 1-13-9-10

दिया कि सभी हिब्रुओं के शिर काट कर देवता के सम्मुख टाँग दिये जायँ। कई बार स्वतः हिब्रू उसकी क्रोधाग्नि के शिकार होते-होते बच गये। सुवर्ण गोवत्स (Golden Calf) की उपासना के अपराध में जब वह सभी हिब्रू जाति को विनष्ट करने के लिए तुल गया तो स्वयं मूसा को उसे ऐसा न करने के लिए कहना पड़ा था। ऐसा उल्लेख मिलता है कि मूसा के कहने पर याःवे ने पश्चाताप किया था। मनुष्य द्वारा ईश्वर को उपदेश देने का इतिहास में यह प्रथम ज्ञात उदाहरण है। याःवे आत्मतुष्टि का भूखा था। अन्य देवताओं से वह घृणा करता था। मूसा को दिये गये दस आदेशों में पहला था 'मेरे सामने किसी अन्य देवता की पूजा न की जाय।' वह मूर्तिपूजा का भी विरोधी था। इन कमियों के बावजूद भी याःवे हिब्रूओं के संरक्षक देव के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। याःवे प्रकाश-रश्मि विकीर्ण करता था तथा सदाचार एवं न्याय का नियामक था। विधवा तथा अनाथ उसकी कृपा से त्राण प्राप्त करते थे।

याःवे-प्रधान धर्म में आध्यात्मिक पक्ष का अभ्युदय नहीं हुआ था। इसकी उपासना कर्मकाण्डपरक थी। इसमें बलि को विशेष महत्त्व दिया गया था। मूसा ने स्वयं कर्मकाण्ड का स्वरूप तथा पुरोहितों का स्थान निश्चित कर दिया था। पुरोहितवाद एवं कर्मकाण्ड के प्रभाव बढ़ने के फलस्वरूप धीरे-धीरे याःवे का महत्त्व भी घटने लगा। बलि-मांस तब तक ग्रहण नहीं किया जाता था जब तक पुरोहित अपने हाथ से पशुओं को नहीं मारते थे। प्रसव, रजोदर्शन इत्यादि को अशुद्धि का कारण माना जाने लगा। अब पापमुक्ति का एकमात्र उपाय ईश्वर की कृपा को मान लिया गया। पूजा एवं उपासना में पुरोहितों की उपस्थिति आवश्यक स्वीकार कर ली गई तथा अनेक प्रकार के क्रियाकर्म एवं रहस्य के ज्ञाता एकमात्र वही मान लिए गये। इन्हें अनेक प्रकार के अधिकार तथा सुविधाएँ मिली थी। फसल तथा पशुओं में से आवश्यक अंश तथा मन्दिरों में चढ़ाया गया प्रसाद इन्हें मिल जाता था। धीरे-धीरे उच्च वर्गों की आय में वृद्धि के साथ-साथ पुरोहितों की सम्पत्ति बढ़ती गई तथा मन्दिरों के कोष समृद्ध होते गये। बैबिलोन के पुरोहितों की भाँति यहाँ भी पुरोहितों का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया। शासकों की निरंकुशता, उच्चवर्ग के वैभवशाली जीवन, असीरियन आक्रमणों के भय, निर्धनता, बेगार, ब्याज, बेरोज़गारी तथा भ्रष्टाचार से जन-जीवन त्रस्त था और उनकी भावनाएँ बदलती जा रही थीं। छिपे तौर पर विदेशी देवी-देवताओं की उपासना, अनुष्ठान, प्रस्तर एवं पीतल के सर्प तथा सुवर्ण गोवत्स की पूजा प्रचलित हो गई। ऐसी स्थिति में धर्म अपने वास्तविक स्वरूप से हट गया। जिस समय संकटग्रस्त हिब्रू मुक्ति की याचना कर रहे थे यहाँ कुछ सन्तों का आविर्भाव हुआ। इन्हें तत्कालीन प्रचलित धर्म से घृणा हो गई। इन्होंने इसमें सुधार लाने का संकल्प किया। विश्व इतिहास में धर्म सुधार की यह कोई नई घटना नहीं थी। इसके पूर्व मिस्र में भी इस प्रकार का आन्दोलन हो चुका था।

सुधार का युग

उक्त धार्मिक अवस्था में आविर्भूत सन्तों ने अपने उपदेशों द्वारा जिस युग में सुधारवादी आन्दोलन चलाया उसे हिब्रू इतिहास में सुधार का युग नाम दिया गया है। राजनीतिक अस्त-व्यस्तता, आर्थिक संघर्ष तथा धार्मिक अव्यवस्था के वातावरण में अवतरित सन्त-महात्मा-पैगम्बर या नबी (Prophet) कहे गये। इनमें कुछ अलौकिक शक्ति सम्पन्न थे जो साधारण पारिश्रमिक लेकर भविष्यवाणियाँ करते थे। जबकि कुछ ऐसे विचित्र औघड़ थे जो सुरापान कर मदमस्त नृत्य करते थे, मूर्च्छित होते थे तथा अनर्गल प्रलाप करते थे। भक्तजन इसे ईश्वर का संदेश मानकर श्रद्धा से देखते तथा सुनते थे। किन्तु इनसे अधिक सम्मान एवं श्रद्धा के पात्र वे पैगम्बर थे जो समाज सुधारक थे तथा उक्त पैगम्बरों की आलोचना करते हुए कष्टित एवं तपोमय जीवन व्यतीत कर रहे थे। स्वयं सन्त जेरिमाइ ने उपरोक्त पैगम्बरों के विषय में कहा था कि "ये पागल होते हैं तथा अपने को पैगम्बर बताते हैं।" समाज सुधारक पैगम्बर सर्वसाधारण स्थलों पर लोगों को एकत्र कर नैतिक शिक्षाएँ देते थे तथा अन्याय पूर्ण कार्यों के लिए उन्हें फटकारते थे। ये साधारणतया गाँवों में रह कर सरल जीवनयापन करते हुए नगर के भ्रष्टाचार पूर्ण जीवन का प्रतिवाद करते थे।

इन पैगम्बरों की परम्परा में सर्वप्रथम इलाइजा तथा इलाइशा का उल्लेख किया जा सकता है। इलाइजा ने तत्कालीन शासक एहब की कटु आलोचना की क्योंकि उसने प्राचीन परम्पराएँ तोड़ दी थीं। इसने नगरों के विलासमय जीवन तथा विदेशी देवी-देवताओं का डटकर विरोध किया। इलाइजा के ही पदचिह्नों पर इलाइशा ने भी कार्य किया। विदेशी देवी-देवताओं तथा राजपरिवार के विरुद्ध इन्होंने इतनी आवाज उठाई कि इन्हें बाल के पुजारियों तथा राजपरिवार के सदस्यों की हत्या में तनिक भी हिचक न हुई। इन्होंने बताया कि या:वे ही न्यायी एवं दयालु है तथा सभी हिब्रुओं द्वारा उपास्य है। इलाइजा तथा इलाइशा के धर्मसुधार आन्दोलन हिब्रू धर्म सुधार आन्दोलन के प्रथम चरण थे। इसका वास्तविक विकास आमोस, होजिया (Hosea), आइजाइ तथा माइका (Micah) के उपदेशों में दिखायी पड़ता है। वास्तव में इन्हीं सन्तों द्वारा किए गए सुधार तथा दिए गये उपदेश हिब्रू धर्म की तृतीय अवस्था का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये पैगम्बर अधिक प्रगतिशील तथा उदारवादी थे। प्राचीन साधारण जीवन-विधि तथा धर्म को बलात् लोगों के ऊपर थोपने की अपेक्षा वे उसे नवीन आदर्शों एवं दर्शन से अनुप्रेरित करना अधिक उचित समझते थे। वे एकेश्वरवादी थे और उनकी दृष्टि में अन्य देवताओं का अस्तित्व नहीं था। इलाइजा तो पहले ही शक्ति के बल पर विदेशी देवताओं को नष्ट करने पर तुल गया था। उनका एकेश्वरवाद बहुत कुछ न्याय एवं सदाचार पर आधारित था। या:वे को वे न्याय का देवता मानते थे। इसमें संदेह नहीं है कि या:वे सर्वशक्तिमान था किन्तु न्याय एवं सदाचार का पुंज भी था। उन्होंने बताया कि संसार

में अनाचार ईश्वर द्वारा नहीं अपितु मनुष्य द्वारा बनाया गया है। या:वे यज्ञ एवं अनुष्ठानों से नहीं बल्कि दया तथा पवित्र एवं न्यायपूर्ण आचरणों से प्रसन्न होता है। उनके उपदेश सामाजिक अन्याय, आर्थिक शोषण तथा भ्रष्टाचार के विरुद्ध एक प्रकार के आन्दोलन थे।

सन्त आमोस स्वयं को पैगम्बर नहीं बल्कि गाँव का चरवाहा मानता था। कहा जाता है कि एक दिन पशु चराते समय उसने नगर का वैभव देखा और उसका मन वितृष्ण हो गया। नगर में व्याप्त आर्थिक विषमता, शोषण, उत्पीड़न तथा निर्मम प्रतिद्वन्द्विता देखकर उससे न रहा गया। उसने धनपशुओं को फटकारते हुए कहा, "तुम दुखियों एवं निर्धनों को कुचल रहे हो तथा उनका अन्न छीन रहे हो। जो लोग ऐश एवं आराम की जिन्दगी बिता रहे हैं उनका विनाश सन्निकट है।" गरीबों को फटकारते हुए उसने कहा "तुम जो परिश्रम कर रहे हो उसका बदला तुम्हें नहीं मिल रहा है।" विश्व साहित्य में अमोस के विचार अपने ढंग के सर्वथा नवीन थे। यह सही है कि आमोस ने अपने सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में किंचित् शीघ्रता एवं अति कर दी लेकिन एशिया के साहित्य में सर्वप्रथम सामाजिक चेतना ने एक निश्चित रूप ग्रहण किया तथा आडम्बर एवं कर्मकाण्ड-परक धर्म के स्थान पर विशुद्ध एवं नैतिक-धार्मिक विचार के बीज अंकुरित हुए। इन धार्मिक विचारों का प्रभाव ईसा पर पड़ा था। इज़रायल के शाही भवनों की शान-शौकत तथा विलासित देख कर आमोस रो पड़ा और कहा, "ईश्वर का आदेश है जैसे चरवाहा किसी पशु की दो टाँगों अथवा कान को शेर के मुख से बचाने के लिए यत्न करता है उसी प्रकार इज़रायल-निवासी जो समरिया में रह रहे हैं नष्ट होते हुए गद्दे तथा विस्तर से बचाए जायेंगे।" उसने आगे कहा, "देवता का आदेश है कि एक दिन ये वातानुकूलित तथा हाथी-दाँत के भव्य-भवन धूल में मिल जायेंगे।" आमोस की भविष्यवाणी उसके जीवन काल में ही चरितार्थ हुई। उसने बताया कि प्यार से घृणा तथा पुण्य से प्यार करना चाहिए। व्रत, उपवास, उत्सव एवं यज्ञादि उसकी दृष्टि में व्यर्थ थे। शब्दों की झंकार उसे प्रिय नहीं थी। आमोस के सदृश होजिया ने भी इज़रायलवासियों को पाप एवं दुष्कर्मों से बचने की परामर्श दी। उसने भी बताया कि अपने पापकर्म के कारण समरिया का शासक जल की परत की भाँति नष्ट हो जायेगा। उसने कहा कि "कयामत के दिन निकट हैं, इज़रायल के निवासी पुनः मिस्र देश वापस जायेंगे तथा उन पर असीरियन प्रभुत्व स्थापित होगा।"

जिस समय इज़रायल के पतन के बाद जूडा असीरियन भय से घुटन की जिन्दगी व्यतीत कर रहा था यहाँ आइजाइ एवं माइका नामक पैगम्बरों का आविर्भाव हुआ। इनके विचार पूर्वोल्लिखित आमोस तथा होजिया की अपेक्षा दूरदर्शी एवं राजनीतिक थे। ये जानते थे कि सुदूर मिस्र की सहायता लेने पर भी जूडा असीरियन शक्ति के सम्मुख टिक नहीं सकता। आइजाइ ने जूडा नरेश को समझाया कि उसे

असीरिया तथा एफ्राइन के युद्ध में तटस्थ रहना चाहिए। जब असीरियन सैनिक जेरुसलम पर चढ़ आए तो आइजाइ ने हेजिकाइ को उत्साहित किया तथा उसे आत्म-समर्पण से रोकने की चेष्टा की। भविष्यवाणी के फलस्वरूप आइजाइ की स्थिति इज़रायल में बहुत अच्छी हो गई। सर्वसाधारण की दृष्टि में उसका अत्यधिक सम्मान होने लगा। आइजाइ का संदेश था कि या:वे पर सब कुछ छोड़ कर केवल सत्य एवं न्याय के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। उसका विश्वास था कि केवल उसके देश को छोड़ कर अन्य सभी या:वे द्वारा स्वत: विनष्ट कर दिये जायेंगे। उसने बताया कि समय आ रहा है जब देवता शासकों के कर्मों की जाँच करेगा क्योंकि उन्होंने गरीबों को कष्ट दिया है। बलि एवं पूजा का विरोध करते हुए आइजाइ ने कहा कि 'ईश्वर उपासना तथा बलि से ऊब गया है। अब उसे मोटे जानवर तथा भुने हुए भेड़ न चाहिए। वह दावतों से नफ़रत करता है। जब कोई उसके पास वरदान के लिए हाथ बढ़ायेगा तो वह अपने नेत्र तथा कान बन्द कर लेगा। अच्छाई इसमें है कि सभी अन्याय एवं अत्याचार बन्द कर न्याय एवं सदाचार का अनुसरण करें तथा अनाथों एवं विधवाओं की सेवा करें।

आमोस तथा आइजाइ के विचार निस्संदेह उदात्त थे। एक सैनिक युग में भी उन्होंने उदारता, दयालुता, मैत्री एवं पारस्परिक सहयोग पर बल दिया। बाद में इन विचारों का प्रभाव ईसा पर पड़ा। यद्यपि इन पैगम्बरों के समक्ष स्वाधीनता का कोई स्पष्ट स्वरूप नहीं था। किन्तु वे न्यायप्रिय तथा सदाचार के समर्थक थे। इन दोनों सन्तों के संदेशों को जूडा के जोशुआ (Joshua) ने आगे बढ़ाया किन्तु उसे जनता का पूरा-पूरा समर्थन न मिल सका। जब असीरियन साम्राज्य का अधः-पतन हुआ तो वे फूले न समाए। किन्तु यह प्रसन्नता चंद दिनों के लिए ही थी। क्योंकि बैबिलोनिया के कैल्डियन शासक उन पर घातक दृष्टि लगाये बैठे थे। इसी संकट की घड़ी में यहाँ जेरिमाइ (Jeremaih) का आविर्भाव हुआ।

जेरिमाइ ने जूडा के शासकों को मूर्ख घोषित किया और उन्हें परामर्श दिया कि वे संकट के समय नेबुकद्रेज्जर के समक्ष आत्म-समर्पण कर दें क्योंकि उसके अनुसार या:वे ने उसे सभी राष्ट्रों का स्वामी मान लिया है। किन्तु इज़रायलवासियों ने उसकी एक न सुनी। यहाँ तक कि उसे इज़रायल का शत्रु मानकर भाँति-भाँति की यातना दी। किन्तु जब जेरूसलम का पतन हो गया और हिब्रू बैबिलोनियन दासता में जकड़ गये तब उन्हें जेरिमाइ की भविष्यवाणी की सत्यता पर विश्वास हुआ लेकिन तब तक सब नष्ट हो चुका था। एक सच्चे राष्ट्र-भक्त के अतिरिक्त जेरिमाइ हिब्रुओं के नैतिक पतन का भी विरोधी था। उसने खेदपूर्वक कहा कि "जेरुसलम की सड़कों पर जाकर देखो क्या हो रहा है ? एक आदमी भी न्यायी एवं ईमानदार नहीं मिलेगा। यदि एक व्यक्ति भी ऐसा मिल जाय तो ईश्वर जेरुसलम को माफ़ कर देगा।" दुष्प्रवृत्तियों का वर्णन करते हुए उसने कहा "यहाँ लोग दिन भर भोजन करते हैं और पड़ोसी स्त्रियों का अनुसरण करते हैं।" पुरोहितों तथा झूठी उपासना

करने वालों की उसने कटु निन्दा की। उसने कहा कि "शुद्धि के लिए शिश्न-चर्म का ही नहीं बल्कि जीवन का खतना करना पड़ेगा।" इज़रायल में जेरिमाइ की शिक्षाओं तथा उपदेशों ने तहलका मचा दिया। लोग उसे तरह-तरह की यातना देने लगे।

सुधार के युग में नबियों द्वारा प्रतिपादित धर्म में प्राचीन मान्यताओं को महत्त्व मिला। यद्यपि उनका उद्देश्य प्राचीन मान्यताओं को पुनर्स्थापित करना नहीं था लेकिन वे प्राचीन पवित्रता अवश्य लाना चाहते थे। उनका विश्वास था कि दोषों का कारण विदेशी प्रभाव है। इस आन्दोलन के मूल में आर्थिक एवं सामाजिक कारण भी निहित था। सम्पत्ति का केन्द्रीकरण कुछ हाथों में हो गया था। सहस्रों की संख्या में कृषकों का समुदाय स्वतन्त्र अस्तित्व खोकर धनिकों के संरक्षण में जीवन-यापन कर रहा था। अन्याय एवं घूसखोरी इतनी बढ़ गई थी कि आमोस के अनुसार न्याय चाँदी के कुछ टुकड़ों तथा एक जोड़ी जूतों पर बिकने लगा था। यदि आर्थिक एवं सामाजिक दोषों को दूर कर धार्मिक एकता स्थापित हो जाती तो शायद वे असीरियन प्रभुत्व के समक्ष टिक जाते। नबियों का यही उद्देश्य भी था लेकिन किसी ने उनकी बात न मानी।

बैबिलोनियन बन्दी युग

नबियों द्वारा यहाँ जो सुधार किए गये उससे हिब्रू धर्म विकास की अन्तिम अवस्था पर पहुँच गया। लेकिन इसके बाद हिब्रू धर्म बाह्य तत्त्वों से प्रभावित हुआ। इस प्रकार का प्रथम प्रयास बैबिलोनियन बन्दी युग में किया गया। बैबिलोन में प्रविष्ट होने के अनन्तर हिब्रुओं के धर्म एवं जीवन-दर्शन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गये। कुरुश् द्वितीय की बैबिलोन विजय के बाद जो हिब्रू स्वदेश लौट कर आये उनके विचार बदले हुए थे। उनके ऊपर बैबिलोनियन सभ्यता एवं संस्कृति का अमिट प्रभाव पड़ा था। बैबिलोनियन प्रभाव का स्पष्ट संकेत हमें 'बुक ऑव जॉब' में मिलता है जिसमें कहा गया है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है। हम उसके कार्य एवं रहस्य को नहीं समझ सकते अतएव वह जो कुछ करता है उसे उसी रूप में बिना किसी विरोध के हमें स्वीकार कर लेना चाहिए। सैद्धान्तिक परिवर्तनों के साथ-साथ उनके धार्मिक स्वरूप में भी परिवर्तन हुए। बैबिलोनियन प्रभाव में अपने धर्म के बदलते स्वरूप को देखकर हिब्रुओं ने इसे सुरक्षित रखने के प्रयास में कर्मकाण्ड पक्ष को और अधिक जटिल बना दिया। सब्बथ संस्थाएँ, उनकी परम्परा के अनुसार मन्दिर-पूजा, खतना-प्रथा, तथा भोज्य-पदार्थों में शुद्धि-अशुद्धि-विवेक इत्यादि तत्त्व प्रधानता पाने लगे। यह सही है कि इन तत्त्वों तथा इसी प्रकार के कुछ अन्य तत्त्वों का आविर्भाव हिब्रू धर्म में बैबिलोनियन बन्दी युग के पूर्व ही हो चुका था किन्तु बहुत दिनों से इन्हें कोई श्रद्धेय स्थान नहीं मिला था। यहाँ तक कि स्वयं नबियों ने इनकी महत्ता अस्वीकार कर दी थी। कर्मकाण्ड की वृद्धि के फलस्वरूप पुरोहितों

की शक्ति बढ़ी और धीरे-धीरे हिब्रू धर्म चर्च-सम्बद्ध धर्म का स्वरूप ग्रहण करता गया। जिस समय बैबिलोन में हिब्रुओं के धार्मिक विचारों में परिवर्तन हो रहे थे जेरुसलम में इजकील तथा आइजाइ द्वितीय अपने-अपने उपदेश दे रहे थे। इजकील ने प्रारम्भिक उपदेशों में बताया कि हिब्रुओं को उनके पाप का परिणाम मिला है। उसने विदेशी देवता की उपासना करने वाले जेरुसलम को वेश्या सदृश बताया। किन्तु इजकील आशावादी था अत: उसने घोषणा की कि अन्त में ईश्वर प्रसन्न होगा, बैबिलोन में बन्दी हिब्रू वापस आयेंगे, जेरुसलम में मन्दिरों का पुन: निर्माण किया जायगा, या:वे के संरक्षण में आदर्श समाज की स्थापना होगी और पुरोहितों को प्रमुखता प्राप्त होगी। इजकील के समान आइजाइ द्वितीय ने भी हिब्रू धर्म में प्राण फूँकने का कार्य किया। जिस समय भारत में गौतम बुद्ध इच्छा-शक्ति के दमन एवं सत्मार्ग के अनुसरण का उपदेश दे रहे थे, चीन में कन्फ्यूशियस लोगों में ज्ञान का उपदेश दे रहे थे तथा ईरान में ज़रथुश्त्र (Zarathustra) लोगों को सत्मार्ग पर लगा रहे थे उसी समय आइजाइ द्वितीय हिब्रुओं को एकेश्वरवाद का प्रचार कर रहे थे। आइजाइ द्वितीय ने या:वे की कल्पना युद्ध एवं बदला लेने वाले देवता के रूप में नहीं अपितु दयालु पिता के रूप में की। वह पाप के लिए लोगों को दण्ड नहीं देता था। देवता ने स्वयं आइजाइ द्वितीय से कहा था कि वह लोगों को बताये कि वह उन्हें मुक्त कर देगा। आइजाइ द्वितीय ने इसी आधार पर कहा कि एक समय ऐसा आयेगा जब ईरान का उदार शासक कुरुश् द्वितीय बैबिलोन पर अधिकार करेगा तथा हिब्रुओं को दासता से मुक्त करेगा। वे अपने देश जाकर जिस नगर तथा मन्दिर का निर्माण करेंगे वह स्वर्ग के समान होगा। इस नये नगर में सर्वत्र समानता का अधिशासन होगा। भेड़िए, मेमने साथ-साथ रहेंगे तथा शेर घास खायेगा।

उत्तर बन्दी युग या पारसीक प्रभाव का युग

हिब्रू धर्म के इतिहास में इस युग का आविर्भाव ईरान के महान् सम्राट् कुरुश् द्वितीय द्वारा प्रचण्ड शक्ति का प्रदर्शन करते हुए बैबिलोन को अभिभूत कर लेने के बाद हुआ। कुरुश् द्वितीय जितना क्रूर था उतना ही उदार एवं दूरदर्शी भी। वह जानता था कि यदि हिब्रू बैबिलोन से सुरक्षित जेरुसलम चले जायेंगे तो उनका देश उसका बड़ा सम्मान करेगा और उनकी सहानुभूति उसे मिल जायगी। इसी आशय से उसने हिब्रुओं को जेरुसलम जाने की आज्ञा दे दी। इतना ही नहीं बल्कि नेबुकद्रेज्जर जेरुसलम से जो कुछ लूट-पाट कर लाया था उसे पुनः हिब्रुओं में बाँट दिया गया तथा उनके स्वदेश जाने के खर्च की व्यवस्था कर दी गई। पर्याप्त संख्या में हिब्रू स्वदेश आ गये। यद्यपि जो बैबिलोन में पैदा हुए थे तथा खेल-खाकर बड़े हुए थे उनमें अधिकांश वहीं रह गये। बैबिलोन में बन्दी-जीवन व्यतीत करने वाले हिब्रू जब अपने देश पहुँचे तो वहाँ के निवासी उनसे जल-भुन गये किन्तु उनके

शिर पर ईरान के महान् शासक का वरद हस्त था अतएव वे उनका कुछ न बिगाड़ पाये। कुरुश् द्वितीय की सहायता से वहाँ एक मन्दिर बनवाया गया। सन्तों की भविष्यवाणी सत्य हुई।

यदि हिब्रू पारसीक सम्राट् की उदारता से लाभान्वित हुए तो वे पारसीक धर्म एवं सभ्यता के प्रभाव में जकड़ भी गये। पारसीक सम्पर्क में आने के पूर्व उनका धर्म पूर्णतया लौकिक था। इसमें पारलौकिक जीवन को कोई स्थान नहीं मिला था। यद्यपि वे मानते थे कि मूसा जैसे कुछ विशिष्ट आत्माओं को छोड़कर सभी एक ऐसे लोक में प्रवेश करते हैं जहाँ कुछ दिन रहने के बाद विलुप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार अभी तक हिब्रू धर्म में ईश्वर के अतिरिक्त किसी शैतान की कल्पना नहीं की गई थी जिसके प्रभाव में आकर मनुष्य कुप्रवृत्तियों में संलग्न होता। स्मरणीय है कि इन दोनों तत्त्वों का पारसीक धर्म में विशिष्ट महत्त्व था। इनका प्रभाव हिब्रू धर्म पर भी पड़ा। अब हिब्रू धर्म भी परलोकवादी तथा द्वैतवादी हो गया। वे मानने लगे कि एक समय ,ऐसा आयेगा जब एक रक्षक का आविर्भाव होगा जो सभी को कष्टों से मुक्त कर स्वर्गिक राज्य की स्थापना करेगा। अब हिब्रू मृतकों के पुनर्जन्म तथा अन्तिम न्याय जैसी धारणाएँ विकसित कर लिए। भौतिक सुखों की अपेक्षा परलोक में मुक्ति-प्राप्ति के प्रयास में वे अधिक दत्त-चित्त हो गये। अन्ततः उनका धर्म अपौरुषेय हो गया। उनका विश्वास हो गया कि ईश्वर ने इजकील की किताब (Book of Ezekiel) की रचना स्वर्ग में करके पृथ्वी पर भेजा है। धीरे-धीरे उनका यह विश्वास दृढ़ होता गया कि इसी प्रकार की दूसरी किताबें भी याःवे ने बनाकर पृथ्वी पर भेजी है। पारसीक प्रभाव के अन्तर्गत हिब्रू धर्म में जो परिवर्तन हुए उसी के आधार पर बाद में ईसाई धर्म का विकास हुआ।

कला

हिब्रू सभ्यता में कलात्मक विकास न हो सका। धार्मिक दृष्टि से यह संस्कृति जितना ही आगे थी उतना ही कला की दृष्टि से पीछे। वास्तव में हिब्रू कल्पना जगत् में ही रहना अधिक पसन्द करते थे इसी लिए इस ओर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया। कला के क्षेत्र में हम इनकी वास्तु कला में विशेषकर प्रासाद एवं मन्दिरों के विषय में जानते हैं। इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य सालमन के समय में हुआ। इसी के समय में जेरुसलम के अपूर्ण दुर्ग, एक भव्य राजप्रासाद, मन्दिर तथा चार हजार अश्व की क्षमता वाले अश्वशाला का निर्माण करवाया गया था। कलात्मक निर्माण की अपेक्षा यात्रा समारोहों, संगीत एवं धार्मिक मन्त्रों के सस्वर पाठ में उनकी विशेष रुचि थी।

बौद्धिक उपलब्धियाँ

साहित्य

हिब्रू सभ्यता बौद्धिक उपलब्धियों की दृष्टि से भी विशेष प्रसिद्ध है। इनकी साहित्यिक प्रगति का ज्वलन्त प्रमाण बाइबिल के ओल्ड टेस्टामेण्ट के रूप में सुरक्षित है। पश्चिम एशिया के ही नहीं अपितु विश्व के प्राचीन ग्रंथों में इसका विशिष्ट महत्त्व है। नियम एवं कानून के अतिरिक्त इसमें उत्कृष्ट दार्शनिक, काव्यात्मक एवं इतिहास-लेखन की प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। बाइबिल के इस अंश की रचना एक समय में नहीं अपितु कई वर्षों में सम्पन्न हुई थी। किन्तु यह उतनी प्राचीन नहीं है जितना इसे स्वीकार किया जाता है। वास्तव में ओल्ड टेस्टामेण्ट की रचना नवीन तथा प्राचीन अंशों को मिला कर की गई थी। इसकी रचना का श्रेय मूसा को दिया गया है। लेकिन सामान्यतः इसके प्राचीनतम अंशों को आठवीं एवं नवीं शती ई० पू० के पहले नहीं रख सकते। ओल्ड टेस्टामेण्ट की अधिकांश किताबों की रचना बाद में की गई। इसमें कम से कम दार्शनिक अंशों का रचनाकाल बाद का है। साम (Psalm) की रचना डेविड के समय की गई थी। नवीनता की दृष्टि से एक्लीजिएस्टीज (Ecclesiastes), ईस्थर (Isther) एवं डेनियल (Daniel) का उल्लेख किया जा सकता है। इनका समय तृतीय शती ई० पू० के पहले का नहीं है। इसी प्रकार मैकाबीस प्रथम एवं द्वितीय (Maccaabees I, II) में भी द्वितीय शताब्दी ई० पू० की घटनाएँ हैं। सालमन के विवेक (Wisdom of Solomon) तथा ईनॉक (Enoch) की रचना भी यूनानी-प्राच्य-दर्शन (Greeco-Oriental Philosophy) के प्रभाव के अन्तर्गत सम्पन्न हुई थी। हिब्रू साहित्य का रचनाकाल जो भी हो इनकी महत्ता को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। इसमें काव्य, आख्यान, इतिहास एवं दर्शन का अद्भुत समन्वय मिलता है।

काव्य—हिब्रू काव्य साहित्य का प्रारम्भ मूसा एवं डेबरा के गीतों से तथा अन्त स्तोत्र-ग्रंथों (Books of Psalm) तथा सालमन के ग्रंथों (Books of Solomon) से होता है। हिब्रू स्तोत्र-ग्रंथ बैबिलोनियन स्तोत्रों से प्रभावित थे। एक पर तो मिस्री शासक इखनाटन के स्तोत्रों का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। बाइबिल में इन्हें डेविड की रचना माना गया है किन्तु ऐसा लगता है कि इनकी रचना हखामनीशिय शासकों के शासन काल में हुई थी। इनके माध्यम से हम हिब्रुओं की भक्ति-भावना से परिचित होते हैं। इनकी रचना केवल बैठक में सस्वर पाठ करने अथवा आलोचना के लिए नहीं की गई थी। इनका उद्देश्य श्रद्धा एवं पवित्रता का संदेश देना था। इनमें उनके श्रद्धेय देव या:वे के शान्त एवं रौद्र रूपों का वर्णन किया गया है। इसमें कहा गया है कि दया एवं करुणा की मूर्ति पापियों को ऐसा कष्ट देगा कि उनसे भोगते नहीं बनेगा। इन गीतों में इतनी

प्रभावोत्पादकता है कि एक बार आस्तिक हृदय भी इन्हें पढ़ अथवा सुन कर विचलित हो जाता है।

बाइबिल की अधिकांश रचना नबियों द्वारा की गई थी। इसी कारण इसमें लौकिक घटनाएँ कम स्थान पा सकीं। केवल सालमन के गीत इसके अपवाद हैं। प्रश्न है क्या सालमन के गीत विशुद्ध हिब्रू प्रभाव के अन्तर्गत ही रचे गये थे अथवा अन्य संस्कृतियों के प्रभाव में ? उपलब्ध साक्ष्य अन्तिम विकल्प की पुष्टि करते हैं। क्योंकि इसमें यदि एक ओर बैबिलोनियन इश्टर एवं तामुज के प्रेमालाप विषयक आख्यानों का समाहार है तो दूसरी ओर कैनानियों के एक प्राचीन वसन्त-स्तोत्र (Hymn of Spring), जिसमें उर्वरता की देवी सुलेमिथ (Shulemith) तथा उसके प्रेमी डाड के आख्यान मिलते हैं, का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इतना ही नहीं भाई-बहन के परस्पर प्रेम सम्बन्धों के कारण इस पर मिस्री साहित्य का प्रभाव भी माना जा सकता है। बीच-बीच में यूनानी शब्दों की उपस्थिति इस पर हेलेनिस्टिक (Hellenistic) प्रभाव का संकेत करती है। जो भी हो और इसकी रचना जब और जिस प्रभाव के अन्तर्गत सम्पन्न हुई हो इतना निश्चित है कि सालमन के गीत पूर्णतया श्रृंगारिक एवं बाइबिल की प्रवृत्ति के सर्वथा प्रतिकूल हैं। बाइबिल में इनकी उपस्थिति अपने में एक रहस्य है। इसके सम्बन्ध में यही आश्चर्य होता है कि आइजाइ तथा अन्य सन्तों के उपदेशों के बीच इस प्रकार के कामुकतापूर्ण गीत कैसे स्थान पा गये।

यदि सालमन के गीत यौवन की मधुर वाणी है तो बाइबिल में संग्रहीत सूक्तियाँ प्रौढ़ावस्था का संदेश दे रही है। इन्हें सूक्ति-ग्रन्थ (Book of Proverbs) कहा गया है। इसमें हिब्रुओं के सांसारिक ज्ञान की बातें भरी पड़ी हैं। इसमें स्त्रियों से सचेत रहने की परामर्श दी गई है और कहा गया है कि जैसे जलती हुई आग को लेकर चलते समय व्यक्ति के कपड़े बिना जले नहीं रह सकते, जैसे जलते हुए अंगारे पर चलने पर व्यक्ति के पाँव जलने से नहीं बच सकते, वैसे ही किसी पड़ोसी की पत्नी पर कुदृष्टि रखने से कोई विनाश से नहीं बच सकता है।[1] इसमें आलस्य की कटु आलोचना की गई है तथा इसे अपवित्र कहा गया है। आवश्यकता से अधिक महत्त्वाकांक्षा की निन्दा करते हुए परिश्रमपूर्ण जीवन व्यतीत करने की परामर्श दी गई है। व्यर्थ वार्तालाप को निरर्थक, शान्त मूर्ख को बुद्धिमान तथा ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट कहा गया है। प्रश्न है क्या सभी सूक्तियाँ सालमन द्वारा ही रची गई थीं ? संभव है इसमें कुछ की रचना उसने स्वयं की हो किन्तु इनका अधिक भाग सुमेरियन, मिस्री एवं यूनानी प्रभाव के अन्तर्गत रचा माना जा सकता है और संभवतः तृतीय एवं द्वितीय शताब्दी ई० पू० में इन्हें संग्रहीत कर यह रूप दिया गया।

हिब्रू काव्य साहित्य का चरम विकास हमें 'बुक ऑव जॉब' में दिखायी पड़ता

---

[1] Bible, Proverbs, 5

है । इसकी रचना कहावतों के रूप में की गयी थी । कालेन सदृश विद्वान् इस पर यूनानी नाटकों का प्रभाव देखते हैं और इसे युरिपिडीज (Euripides) की शैली के अन्तर्गत मानते हैं ।[1] लेकिन अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि इसका कथानक संभवतः बैबिलोनियन साहित्य से ग्रहण किया गया था किन्तु हिब्रुओं के हाथ पड़ने के कारण इसमें दार्शनिकता का समावेश अधिक हो गया ।[2] जैस्ट्रो के अनुसार इसके तीसरे से इकतीसवें अध्याय ही मूल हैं, अन्य बाद में जोड़े गये । इसके अनुसार मूल अध्यायों में भी कुछ अंश प्रक्षिप्त हैं ।[3] इस रचना में मनुष्य एवं भाग्य के बीच एक सुखान्त संघर्ष दिखाया गया है । सच्चरित व्यक्ति कैसे कष्ट पाते हैं तथा विधर्मी कैसे आनन्द करते हैं यही इस कथा का मूल विषय है । जॉब एक प्रभुता सम्पन्न एवं धर्मनिष्ठ व्यक्ति था । उसके पास सात पुत्र, तीन पुत्रियाँ, सात हजार भेड़ें, तीन हजार ऊँट, पाँच सौ जोड़ी बैल, पाँच सौ गदहियाँ तथा बहुसंख्यक सेवक थे। किन्तु अकस्मात् उसके ऊपर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ता है । उसकी समस्त सम्पत्ति उससे छिन जाती है । उसकी सन्तानें नष्ट हो जाती हैं और वह स्वयं भयङ्कर रोग से पीड़ित हो जाता है । पहले तो वह इन सबको दैवी विधान एवं उसकी इच्छा समझ कर स्वीकार करता है किन्तु अन्त में उसके धैर्य का पारावार टूट जाता है तथा उसके विचारों में परिवर्तन हो जाता है । वह अपने जन्मदिन को कोसता है । जॉब का उसके मित्रों से लम्बा वार्तालाप चलता है जिसमें वे उसे बताते हैं कि मनुष्य कष्ट अपने पापों के कारण प्राप्त करता है । पर जॉब ने कोई दुष्कर्म नहीं किया था इसलिए वह इससे सन्तुष्ट नहीं होता । उसकी शंका प्रतिदिन बढ़ती जाती है । अन्त में उसके मानस-पटल पर ईश्वर का स्वरूप एक ऐसे शक्तिशाली दानव के रूप में अङ्कित हो जाता है जो अकारण ही मनुष्यों को कष्ट देता है ।

अपने मूल रूप में यह कथा इतनी ही थी किन्तु बाद में इसमें कुछ अंश और जोड़ दिये गये । इसमें प्रारम्भ में या:वे तथा शैतान के बीच एक संवाद जोड़ दिया गया । इसमें या:वे जॉब को अपना प्रिय सेवक बताता है जबकि शैतान के अनुसार जॉब की धार्मिकता का कारण उसका सुखी जीवन है । जैसे ही उसका सुख छिन गया वह अधार्मिक हो जायगा । इसी कारण या:वे उसकी परीक्षा लेने के लिए उसे कष्ट में डालता है । अन्त में या:वे की कृपा-प्राप्ति जोड़ कर कथानक को सुखान्त कर दिया गया । जब जॉब की शंका पूर्णता पर पहुँच गयी तो या:वे ने भविष्यवाणी की जिससे जॉब अच्छी तरह समझ गया कि मनुष्य क्षुद्र बुद्धि है । वह परमात्मा के रहस्यमय कृत्यों की अनुभूति के सामर्थ्य से परे है । अतः वह अपने पर पश्चाताप करता है जिससे प्रसन्न होकर या:वे ने उसे सात पुत्र, तीन पुत्रियाँ, चौदह हजार

---

[1] H. Kallen, Book of the Job as a Greek Tragedy, Introduction.

[2] E. M. Burns, Western Civilization, Vol. I, p. 111

[3] M. Jastrow, Book of Job, p. 121

भेड़ें, छ: हजार ऊँट, एक हजार जोड़ी बैल तथा एक हजार गदहियाँ प्रदान कीं। 'बुक ऑव जॉब' से हमें यह प्रतीत होता है कि स्वर्ग एवं पृथ्वी का अलग-अलग अस्तित्व नहीं है। मनुष्य पृथ्वी पर ही स्वर्ग के सुख का उपभोग भी करता है। इसे वह बहुत कुछ अपने कर्मों के आधार पर प्राप्त करता है। इस कथानक से तो यही प्रतीत होता है कि असाधारण कष्ट में भी मनुष्य को धैर्य का परित्याग नहीं करना चाहिए। जॉब की भाँति यदि कोई ईश्वर के द्वारा दिये गये कष्ट को धैर्य-पूर्वक सहेगा तो उसका फल उसे मिलेगा।

आख्यान साहित्य—ओल्ट टेस्टामेण्ट में काव्य के साथ-साथ आख्यान साहित्य भी सुरक्षित है। इस दृष्टि से इनके विश्व-सृजन एवं जल-प्लावन आख्यान का उल्लेख किया जा सकता है। आख्यान साहित्य एवं कथाओं में कुछ प्रेमकथाएँ युद्धगीत, प्रेमगीत तथा देवदूतों की वाणियाँ हैं। ये अत्यन्त रुचिकर एवं भावमय हैं। रुथ (Ruth) की सदृशता प्राप्त करना कठिन है। इसी प्रकार आइजाक (Isaac), रिबेका (Rebecca), जेकब, रेचल (Rechel), जोसिफ (Joseph), बेंजामिन (Benjamin), सैम्सन (Samson), डिलाइला (Delilah), ईस्थर (Esther), जूडिथ (Judith) तथा डेनियल की कथाएँ विश्व साहित्य में विशेष प्रसिद्ध हैं।

इतिहास साहित्य—काव्य एवं आख्यान साहित्य के साथ हिब्रू साहित्य में इतिहास साहित्य एवं इतिहास लिखने की परम्परा भी जीवित मिलती है। ओल्ड टेस्टामेण्ट में इस प्रकार की परम्पराएँ जजेज (Judges), जोशुआ (Joshua), सैमुअल (Samuel), किंग्स (Kings) एवं क्रानिक्ल्ज (Chronicles) में देखी जा सकती हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि इनकी रचना बन्दी युग के बाद जल्दबाजी में की गई ताकि उनकी परम्पराएँ जीवित रह सकें।

दर्शन

बौद्धिक क्षेत्र में हिब्रुओं की प्रगति साहित्य के अनन्तर दर्शन में देखी जा सकती है। संभवत: यूनान के पूर्व पाश्चात्य विश्व में इस क्षेत्र में वे सबसे आगे थे। पौर्वात्य सभ्यताओं में भारतीय दर्शन ही उन्हें मात कर सकता है। यदि यूनानियों के समान वे भी विशुद्ध दर्शन में रुचि लिये होते तो उनकी बराबरी करने में उन्हें तनिक भी हिचक न होती। वे विशुद्ध तत्त्वमीमांसक नहीं थे इसलिए विश्व एवं उसकी रचना की समस्या जैसे गूढ़ विषयों को चिन्तन का विषय नहीं बनाया। उनके समक्ष मुख्य प्रश्न मनुष्य के जीवन एवं भाग्य से सम्बन्धित विषयों की व्याख्या प्रस्तुत करना था। उनकी दार्शनिक प्रतिभा हमें ओल्ड टेस्टामेण्ट के बुक ऑव प्रोवर्ब एवं इक्लीजिएस्टिकस (Ecclesiasticus) में दिखाई पड़ती है। दोनों कृतियों ने अपना अंतिम आकार बाद में प्राप्त किया किन्तु इसमें निहित कुछ सामग्रियाँ निस्सन्देह प्राचीन हैं। बर्न्स तो दोनों की पूरी की पूरी सामग्रियों को मौलिक नहीं मानते। क्योंकि इनका प्रचुर भाग मिस्र के अमेनेमोप (Amenemope) की कृतियों

से प्रभावित हैं। इनमें दार्शनिक गहनता का भी अभाव है। इनके देखने से तो यही प्रतीत होता है कि हिब्रू राष्ट्र बौद्धिक दृष्टि से अभी तरुणावस्था में ही था। इन कृतियों का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को संयमित, कर्मठ, बुद्धिमान् तथा न्यायी बनाना था। इस प्रकार के आचरण से सम्पन्न जीवन तथा ख्याति मिलती थी।

हिब्रुओं की दार्शनिक प्रवृति की परिणति हमें इक्लीजिएस्टीज (Ecclesiastes) में दिखाई पड़ती है। इसमें गूढ़ एवं विवेचनात्मक दार्शनिक विचार मिलते हैं, इस कृति की रचना किसने की थी यह आज भी प्रश्न ही बना है। सालमन को इसकी रचना का श्रेय दिया जाता है किन्तु उचित नहीं है क्योंकि इसमें कुछ ऐसे विचार भरे पड़े है जिनसे सालमन की मृत्यु के सौ वर्ष बाद तक भी हिब्रू अपरिचित रहे। आधुनिक आलोचक इसे तृतीयं शती ई० पू० के पहले की रचना नहीं मानते। इसमें निहित दार्शनिक तत्त्वों में सर्वप्रथम यंत्रवाद (Mechanism) का उल्लेख किया जा सकता है। इसमें विश्व की कल्पना एक यंत्र के रूप में की गई है जो बिना किसी उद्देश्य के निरन्तर गतिमान है। इस यंत्रवाद को हम कई प्रकार से समझ सकते हैं। सूर्य की गति या स्वरूप में कोई नयापन नहीं है। नयापन केवल अतीत की शाश्वत पुनरावृत्ति में है। अनेक पीढ़ियाँ आती हैं और चली जाती हैं। किन्तु पृथ्वी उसी प्रकार बनी रहती है। इसी प्रकार उत्तर से प्रारंभ होने वाली वायु दक्षिण की ओर जाती तो है किन्तु घूमकर पुनः उत्तर की ओर ही आती है। सभी नदियाँ समुद्र में गिरती हैं किन्तु समुद्र कभी आपूर्ण नहीं होता। नदी बराबर उसी स्थान पर गिरती है जहाँ वह गिरती चली आ रही है। जो घटनाएँ अतीत में घटी हैं वही भविष्य में फिर घटेंगी। जिसके विषय में हम कहते हैं कि नया है वास्तव में वह नया नहीं है। वह कभी हो चुका है। सूर्योदय, सूर्यास्त, जन्म एवं मृत्यु शाश्वत आवर्ती चक्र के विभिन्न स्तर हैं। इक्लीजिएस्टीज के अनुसार मनुष्य का जीवन भाग्यानुसार नियंत्रित होता है। प्रयत्न एवं सफलता का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध नहीं है। भवितव्य का निर्धारण पहले ही किया जा चुका है। कौन बता सकता है कि किसके बाद क्या होगा ? इसके अनुसार न तो जीवन शीघ्रगामी के लिए है न युद्ध शक्तिशाली के लिए। इसी प्रकार भोजन उसके लिये ही नहीं है जो बुद्धिमान है। सत्यता तो यह है कि इनमें पारस्परिक कोई अन्तर नहीं है। समयानुसार अकस्मात् ही इन सबका संयोग हो जाता है। मृत्यु मूर्ख एवं बुद्धिमान दोनों का वरण करती है उसके लिये किसी प्रकार के चुनाव का प्रश्न नहीं है।[1] सभी घटनाएँ अपने समय से घटती रहती हैं। जन्म, मृत्यु, फूल लगने तथा गिरने, उत्थान-पतन, हसँने, रोने, प्यार, घृणा इत्यादि का समय नियत रहता है।[2]

---

[1] Ecclesiastes, 2. 17

[2] Ibid, 3. 1–2

इस कृति से प्रतीत होता है कि हिब्रू सशंयवादी थे। वे मानते थे। कि अंतिम ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता। मृत्यु के बाद आत्मा के अस्तित्व के विषय में कोई साक्ष्य नहीं मिलता। मनुष्य तथा पशु में कोई भेद नहीं है। ये सभी धूल के सदृश हैं और समयानुसार उसी धूल में मिल जायेंगे। संशयवाद के साथ-साथ निराशावाद की झलक भी मिलती है। वे मानते थे कि प्रसिद्धि, समृद्धि तथा आनन्द मिथ्या एवं भ्रम है। ऐश्वर्य को चाहने वाला कभी इससे सन्तुष्ट नहीं होता है। जो जैसे आता है वैसे वापस चला जाता है। जैसे शिशु गर्भ से नग्न आता है वैसे ही नग्न वापस जाता है।[1] इसमें यद्यपि बुद्धिमत्ता को मूर्खता की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया गया है किन्तु यह अंतिम सुख का कारण नहीं हैं क्योंकि ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ कष्टों की अनुभूति भी बढ़ती जाती है। इक्लीजिएस्टीज में आत्मसंयम पर बल दिया गया है। इसके अनुसार अत्यधिक आसक्ति एवं तपश्चर्या दोनों अपरिहार्य थीं। एक श्रमिक कम खाकर भी सो सकता है किन्तु एक समृद्ध व्यक्ति अच्छी नींद नहीं पा सकता क्योंकि उसके पास धनाधिक्य है। इसी प्रकार अधिक क्रोध करना भी श्रेयस्कर नहीं होता। अधिक न्यायी, अधिक बुद्धिमान, अधिक पापी तथा अधिक मूर्ख नहीं बनना चाहिए। इन्द्रियों को अपने वश में रखना चाहिए न कि उनके वश में होना चाहिये।

हिब्रू सभ्यता की महत्ता एवं देन

निस्संदेह हिब्रू जाति राजनीतिक दृष्टि से अपने पड़ोसी बैबिलोनियन, असीरियन तथा मिस्रवासियों की तुलना में नगण्य रही क्योंकि इनके राजनीतिक इतिहास के गगनांगन में कोई ऐसा दीप्तिमान नक्षत्र न उदित हुआ जो अपनी प्रकाश रश्मि से पड़ोसी राष्ट्रों को आलोकित करता। यहाँ कोई ऐसा शासक न हो सका जो तमाम पड़ोसी राष्ट्रों को अपने प्रभाव में लाने में समर्थ होता। किन्तु हिब्रू सभ्यता का जो वैचारिक प्रभाव समकालीन अथवा परवर्ती विश्व सभ्यताओं पर पड़ा वह बैबिलोनियन, असीरियन, मिस्री और यहाँ तक कि हित्ती सभ्यताओं से भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। डेविड, सालमन, होजिया तथा अमोस ने वही कार्य किया जो मिस्र के रैमिसीज, बैबिलोनिया के हम्मूराबी तथा असीरिया के अशुरबनिपाल ने। प्राचीन एवं परवर्ती विश्व सर्वाधिक हिब्रू धर्म का ऋणी है। इसका सबसे अधिक प्रभाव ईसाई एवं इस्लाम धर्म पर पड़ा। ईसाई धर्म में विकसित ईश्वरी आदेश, सृष्टि एवं जल-प्रलय सम्बंधित कथाएँ, एक विधिदाता एवं न्यायी के रूप में ईश्वर की कल्पना की मान्यताएँ इत्यादि हिब्रुओं की देन के रूप में स्वीकार की जा सकती हैं। ओल्ड टेस्टामेण्ट को एक प्रकार से बाइबिल का अभिन्न अंग मान लिया गया। ईसा मसीह स्वयं हिब्रू थे और

---

[1] Ecclesiastes 5-16

उन्होंने घोषित किया था कि उनका उद्देश्य प्राचीन धर्म एवं नियम को समाप्त करना नहीं बल्कि उसका पालन करना था। धर्म के अतिरिक्त हिब्रू सभ्यता में विद्यमान सीमित राज्य-संस्था, विधि की सर्वशक्तिमत्ता, वैयक्तिक योग्यता का महत्त्व इत्यादि तत्त्वों का प्रभाव आधुनिक प्रजातंत्र के विकास पर पड़ा। अब यह माना जाने लगा है कि मनुष्य के अधिकार के महत्त्व तथा स्वतंत्र समाज के निर्माण में ईसाई धर्म एवं स्टोइक दर्शन के साथ-साथ हिब्रू धर्म का भी बराबर योगदान रहा है।

किन्तु इस स्थल पर यह नहीं भूलना चाहिए कि एक प्रभावक संस्कृति के साथ-साथ स्वतः हिब्रू संस्कृति भी प्रभावित संस्कृति थी। धर्म के क्षेत्र में इन्होंने बहुत कुछ मिस्र तथा मेसोपोटामिया से ग्रहण किया था। इनके साहित्य, नियम एवं कानूनों पर बैबिलोनियन प्रभाव पड़ा था। इनके दर्शन के बहुत से तत्त्व मिस्र, यूनान तथा भारत से प्रभावित थे।

●

9

हित्ती सभ्यता

प्राचीन विश्व इतिहास में एशिया तथा यूरोप की सभ्यताओं को परस्पर जोड़ने वाली हित्ती सभ्यता का विशिष्ट महत्त्व है। मिस्र, मेसोपोटामिया तथा भू-मध्यसागरीय क्षेत्रों में विकसित प्राचीन सभ्यताओं को एक दूसरे के निकट सम्पर्क में लाने में हित्ती सभ्यता ने श्लाघनीय कार्य किया। हित्तियों का क्रीड़ा-क्षेत्र एशिया माइनर, जिसे आगे चलकर अनातोलिया (Anatolia) एवं एशियायी टर्की (Turkey) नाम दिया गया, की स्थिति भौगोलिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। एशिया, यूरोप तथा अफ्रीका महाद्वीपों के संगम-स्थल पर स्थित होने के कारण इसके माध्यम से यदि एक ओर एशियायी सभ्यता के तत्त्वों का प्रसार यूरोप में हुआ तो दूसरी ओर यूरोप की प्रमुख रोमन तथा यूनानी संस्कृतियों का प्रसार एशिया महाद्वीप में। इसी लिये तो डडले स्टाम्प टर्की को एशिया का प्रवेश द्वार मानते हैं। इसके उत्तर काला सागर, दक्षिण भू-मध्यसागर तथा पश्चिम ईजियन समुद्र स्थित हैं। पूर्व में अर्मीनिया की पर्वतमालाएँ हैं जिसका दक्षिणी-पूर्वी भाग टोरुस (Taurus) नाम से विख्यात है। अनातोलिया खनिज पदार्थों, विशेष कर लोहे, की दृष्टि से धनी है। संभवत: इसी कारण पश्चिम एशिया तथा मिस्र में लोहे का आविष्कार सर्वप्रथम हित्तियों ने ही किया।

एशिया माइनर हित्तियों का मूल निवास-स्थान नहीं था। इसी प्रकार हित्ती संज्ञा भी इनका मूल अभिधान नहीं है। इनका सम्बंध भारोपीय वर्ग की किसी शाखा से था तथा मूल निवास-स्थान कैस्पियन सागर के आस-पास कहीं था। तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य काल के कुछ पूर्व किसी समय वे एशिया माइनर में प्रविष्ट हुए तथा हालिस (Halys) नदी के मोड़ पर स्थित पठार को आवास-स्थल के रूप में चुन लिया। यह भू-भाग हित्ती (Hitti) कहा जाता था। इस भू-भाग के लिए

यह नाम उस जाति ने प्रदान किया था जो भारोपीय हित्ती जाति के आगमन के पूर्व यहाँ निवास करती थी जिसे प्राक् हत्ती (Proto-Hatti) अथवा प्रारम्भिक अनातोलियन कहा गया है। बाद में भारोपीय वर्ग के उक्त आक्रमणकारियों ने अपने लिए हित्ती संज्ञा को अपना लिया। गुर्नी के अनुसार ओल्ड टेस्टामेण्ट में जिस हित्ती जाति का उल्लेख मिलता है संभवतः वह प्रारम्भिक अनातोलियन जाति की ही वंशज थी।

ऐतिहासिक स्रोत

आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व तक हित्तियों से सम्बन्धित जानकारी ओल्ड टेस्टामेण्ट तथा मिस्री लेखों द्वारा मिलती थी। ओल्ड टेस्टामेण्ट[1] में एक अर्द्धसभ्य जाति के रूप में इनका उल्लेख फिलिस्तीन के उन कबीलों के साथ हुआ है जो इज़रायलवासियों के उस देश में आगमन के पूर्व बसे हुए थे। मिस्र के लेखों से पता चलता है कि थुत्मोस तृतीय का प्रतिरोध 'खेता' (Kheta) नामक एक राज्य ने किया था। इसका तादात्म्य बाइबिल के हित्ती से प्रस्तावित किया गया है।[2] इसी ने कालान्तर में रैमिसीज द्वितीय के विरुद्ध ओरोण्टीज (Orontis) नदी पर कादेश (Kadesh) का इतिहास प्रसिद्ध युद्ध लड़ा तथा उसके शासन काल के अंतिम दिनों में एक संधि की जिसकी प्रतिलिपि कार्नाक मंदिर में उत्कीर्ण की गई थी। इन साक्ष्यों से हित्तियों के बिषय में जानकारी अवश्य हो जाती थी किन्तु विस्तार से इनके बिषय में कुछ ज्ञात नहीं हो पाता था। इस अभाव की पूर्ति उन्नीसवीं शती ई० के अंतिम दशकों में पुरातात्त्विक साक्ष्यों द्वारा की गई। इस दृष्टि से सीरिया तथा एशिया माइनर से प्राप्त चित्राक्षर लेखों का अत्यधिक महत्त्व है। 1870 ई० में सर्वप्रथम हमथ (Hamath) से कुछ चित्राक्षर लेख प्राप्त हुए। 1880 ई० में श्री ए० एच० सायस (A. H. Sayce) ने प्रस्तावित किया कि इन लेखों का सम्बन्ध हित्तियों से है। 1887 ई० में तैल-एल-अमर्ना पत्र मिले। इनमें कुछ पत्रों का सम्बन्ध उन असीरियन तथा फिलिस्तीनी शासकों से था जो मिस्र के अधीन थे। इनमें मिस्री शासक को हित्ती शासकों के विषय में जानकारी दी गई थी। इनमें से एक पत्र स्वतः एक हित्ती शासक सुप्पिलुल्युमस का था जो उसने मिस्र के सम्राट् आमेनहोतेप चतुर्थ के पास उसके राज्याभिषेक के अवसर पर बधाई के रूप में भेजा था। अनुसंधान-क्रम में पुरातत्त्वविदों का ध्यान बोगज कोई के कुछ खंडित लेखों पर

---

1. Judges 2. 3-5
2. J. H. Breasted, A History of Egypt, p. 304
3. Ibid., pp. 437-39; Will Durant, The Story of Civilization, Vol. I, p. 284 Encyclopaedia Britannica, Vol. II; O. R. Gurney, The Hittites p. 2

गया । इससे प्रोत्साहित होकर एच० विंकलर (H. Winckler) ने जर्मन ओरियण्टल सोसाइटी (German Oriental Society) की ओर से 1906 ई० में यहाँ उत्खनन कार्य प्रारम्भ किया । यहाँ उन्हें एक राजकीय संग्रहालय मिला जिसमें लगभग 10,000 कीलाक्षर लेख थे । इनमें अधिकांश तैल-एल-अमर्ना की अर्जावा (Arzawa) पत्रों की अज्ञात भाषा में तथा अन्य बैबिलोनिया की अक्कादी भाषा में थे । इनमें बैबिलोनियन भाषा में लिखे गये लेख ही हमारे लिए उपयोगी सिद्ध हो सके क्योंकि उन्हीं का पाठ प्रस्तुत किया जा सका है ।

राजनीतिक इतिहास

एशिया माइनर में हित्तियों ने किस प्रकार राज्य स्थापित किया अथवा उनका राजनीतिक इतिहास कैसे प्रारम्भ हुआ निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है । ऐसा लगता है कि इन्होंने अपना विकास छोटे-छोटे प्रतिस्पर्धी नगर राज्यों से प्रारम्भ किया और अन्त में लगभग 2000 ई० पू० के आस-पास लड़ते-भिड़ते कस्सर (Kussar) नामक नगर को राजधानी मानकर एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली जिसका शासक अनित्त (Anitta) था ।[1] इसने हत्ती के शासक बिजुस्टिस (Bijustis) को पराजित किया । धीरे-धीरे हित्तियों का अन्य नगर-राज्यों पर प्रभुत्व स्थापित होता गया और अनातोलिया में वे एक विशाल राज्य की स्थापना में सफल हो गये । हित्ती साम्राज्य के इतिहास को पुराहित्ती राज्य युग, साम्राज्य युग तथा नव हित्ती राज्य युग तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है ।

पुराहित्ती राज्य युग

पुराहित्ती राज्य युग का प्रथम ज्ञात शासक लबर्नस (Labarnas, 1680-1650 B. C.) था । वास्तव में पुराहित्ती राज्य युग की स्थापना इसी ने की थी। अपने परिवार के साथियों की सहायता से इसका कई नगरों पर प्रभुत्त्व स्थापित हो गया था । अर्जावा प्रान्त भी इसके अधीन था । एलेप्पो (Alleppo) के शासक के साथ भी इसके संघर्ष एव उसमें सफलता की सम्भावना व्यक्त की गई है । इसके राज्य-काल की अन्य घटनाओं के विषय में कोई सूचना नहीं है । लबर्नस के बाद उत्तराधिकार इसके पुत्र लबर्नस द्वितीय (1650-1620 ई० पू०) को मिला । इसके शासन काल के अन्तिम दिनों में हित्ती राजधानी कस्सर से हटा कर हत्तुसस (Hattusas) में स्थापित की गई तथा राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र यही हो गया । संभवतः इसी राजधानी परिवर्तन के फलस्वरूप लबर्नस द्वितीय ने अपना पैत्रिक नाम बदल कर नया नाम हत्तुसिलिस प्रथम (Hattusilis I) धारण किया । राजधानी का उक्त

---

[1] William L. Langer, An Encyclopedia of World History, p. 38

परिवर्तन राजनीतिक दृष्टि से किया गया था।[1] राजधानी परिवर्तन के पश्चात् हित्ती राज्य की सीमा का प्रसार कार्य प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम उसकी भिड़न्त यमहद (Yamhad) राज्य से हुई। इसकी राजधानी एलेप्पो, जिसे हित्ती हलप (Halap) कहते थे, थी। इसका शासक पराजित हुआ किन्तु संभवतः बाद में उसके उत्तराधिकारी मुर्सिलिस प्रथम (Mursilis I, 1620-1590 B. C.) के समय में उसने पुनः विद्रोह कर दिया जिसे दबाने में हित्ती शासक को सफलता मिल गयी।

मुर्सिलिस प्रथम एलेप्पो को पराजित करने के बाद बैबिलोन की ओर बढ़ा तथा वहाँ सफलता प्राप्त की। यह सत्य है कि इस समय हित्ती शासक हित्ती साम्राज्य के सीमा-विस्तार में लगे थे किन्तु वे आन्तरिक स्थिति की सुदृढ़ता के लिए कुछ नहीं कर रहे थे। अतः जिस समय मुर्सिलिस प्रथम राजधानी के बाहर था उसकी अनुपस्थिति का लाभ उठा कर षड्यन्त्र रचा गया और जैसे ही वह प्रत्यावर्तित हुआ उसके जीजा हन्तिलिस प्रथम (Hantilis I, 1590-1560 B. C.) ने उसकी हत्या करके राजसत्ता हथिया ली। किन्तु हन्तिलिस प्रथम का शासन काल हित्ती इतिहास में राजनीतिक विश्रृंखलता का काल माना जा सकता है। वान झील (Van Lake) के आस-पास स्थित हुरियनों ने, जिन्हें किसी समय मुर्सिलिस प्रथम ने त्रस्त किया था, उचित अवसर पाकर हित्ती साम्राज्य के पूर्वी प्रदेशों पर आक्रमण कर दिया तथा नेरिक (Nerik) एवं तिल्युरा (Tiliura) नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। सम्भवतः इसी कारण हत्तुसस नगर दुर्गीकृत किया गया था। दक्षिण में भी हन्तिलिस प्रथम तथा उसके उत्तराधिकारियों जिदान्तस प्रथम (Zidantas I, 1560-1550 B. C.), अम्मुनस (Ammunas, 1550-1530 B. C.) एवं हुज्जियास प्रथम (Huzziyas I, 1530-1525 B. C.) के हाथ से हित्ती साम्राज्य से वे भाग गये जिन्हें लबर्नस प्रथम, हत्तुसिलिस प्रथम तथा मुर्सिलिस प्रथम ने जीत कर इसमें मिलाया था।

हित्ती साम्राज्य में पुनः जब स्थिरता आयी यहाँ हम तेलिपिनस (Telepinus, 1525-1500 B. C.) को सिंहासनस्थ प्राप्त करते हैं। तेलिपिनस हित्ती राज्य का वैध उत्तराधिकारी नहीं था। एक अनाधिकारी रूप में सिंहासन प्राप्त कर तेलिपिनस ने हित्ती साम्राज्य की आन्तरिक स्थिति पर ध्यान दिया। राज्य में नियम तथा कानून व्यवस्थित किए गये। अशान्ति का बहुत कुछ कारण उत्तराधिकार के नियम का न होना था। अतः उसने इसे नियमित किया। अब नियम बना दिया गया कि राज्य का उत्तराधिकारी प्रथम साम्राज्ञी का पुत्र, इसके अभाव में द्वितीय साम्राज्ञी का पुत्र और इनके अभाव में प्रथम साम्राज्ञी का जमाता होगा। आभिजात्य वर्ग के अधिकार भी सुरक्षित किये गये तथा युद्ध-नीति के स्थान पर

---

[1] O. R. Gurney, The Hittites, p. 23

शान्ति-नीति अपनायी गई। यद्यपि इन सुधारों से हित्ती साम्राज्य सुदृढ़ हुआ, किन्तु कोई स्थायी लाभ न मिला।

तेलिपिनस की अन्य उपलब्धियों के विषय में ज्ञात नहीं है। तेलिपिनस के बाद भी हित्ती इतिहास सुनिश्चित नहीं हो पाया है। इसलिए तेलिपिनस के समय से लेकर साम्राज्य युग की स्थापना तक के हित्ती राजनीतिक इतिहास को अन्तराल काल माना जाता है। इस बीच की राजनीतिक घटनाएं तिमिराच्छादित हैं। गुर्नी महोदय[1] तेलिपिनस के बाद उत्तराधिकार प्राप्त करने वाले शासकों में अल्लुवम्नस (Alluwamnas, 1500-1490 B. C.), हन्तिलिस द्वितीय (Hantilis II, 1490-1480 B. C.) जिदान्तस द्वितीय (Zidantas II, 1480-1470 B. C.) एवं हुज्जियास द्वितीय (Huzziyas II, 1470-1460 B. C.) का उल्लेख करते हैं किन्तु इन शासकों की गतिविधियों पर प्रकाश डालने वाले साक्ष्यों के अभाव के कारण इनके विषय में अधिक जानकारी नहीं है।

साम्राज्य युग

साम्राज्य युग का संस्थापक तूधलियास द्वितीय (Tudhalias II, 1460-1440 B. C.) था। दुर्भाग्य से इस शासक के विषय में भी अधिक ज्ञात नहीं है। सम्भवत: इसी के समय में एलेप्पो पर कोई आक्रमण किया गया था जिसमें इसे सफलता मिली थी। किन्तु तूधलियास के बाद हित्ती साम्राज्य की स्थिति बिगड़ती गई। इसके उत्तराधिकारियों अर्नुवन्दस प्रथम (Arnuwandas I, 1440-1420 B. C.), हत्तुसिलिस द्वितीय (1420-1400 ई० पू०), तूधलियास तृतीय (1400-1380 ई० पू०) के शासन काल में हित्ती साम्राज्य को मितन्नियों के कारण एक गम्भीर संकट का सामना करना पड़ा। इस संकट से मुक्ति दिलाने का कार्य अगले उत्तराधिकारी सुप्पिलुल्युमस ने किया। जिसका राज्य काल 1375 से 1335 ई० पू० तक स्वीकार किया गया है।

हित्ती साम्राज्य का वास्तविक संगठन तथा एक बड़ी शक्ति के रूप में आविर्भाव इसी साम्राट् के शासन काल में हुआ। कहा जाता है कि मिस्र के थुत्मोस तृतीय के बाद सुप्पिलुल्युमस निकट पूर्व का एक महान् विजेता था। इसका ध्यान सर्वप्रथम आन्तरिक सुरक्षा की ओर आकृष्ट हुआ। देश को सब प्रकार से सुदृढ़ किया गया तथा राजधानी हत्तुसस को एक विशाल प्राचीर से सुरक्षित किया गया। इसके बाद सुप्पिलुल्युमस ने साम्राज्य विस्तार की योजना बनाई। परिस्थितियाँ अनुकूल थीं। एक ओर इखनाटन के धर्म-संदेश से मिस्र की आन्तरिक स्थिति अस्त-व्यस्त हो गई थी तो दूसरी ओर असीरियन शक्ति के प्रभाव से मितन्नियों की स्थिति भी प्रतिदिन क्षीण होती जा रही थी। सुप्पिलुल्युमस को विश्वास था

---

[1] O. R. Gurney, The Hittites, p. 216

कि जब वह मितन्नियों को चुनौती देगा तो मिस्री शासकों से उन्हें कोई सहायता नहीं मिल सकेगी। उसका विश्वास सत्य सिद्ध हुआ। उचित अवसर देख कर हित्ती शासक ने मितन्नियों के राज्य पर धावा बोल दिया। यद्यपि मितन्नियों को मिस्र की ओर से कोई सहायता न मिली लेकिन इस अभियान में हित्ती शासक असफल रहा। अगला आक्रमण बड़ी सावधानी और तैयारी के साथ किया गया। इस बार मितन्नियों की राजधानी वास्सुक्कन्नी (Wassukkanni) को पूर्णतया लूट-पाट लिया गया तथा उस पर हित्ती विजय पताका फहरने लगी। मितन्नी विजय से सीरिया पर आक्रमण का मार्ग खुल गया। उसने इस पर आक्रमण कर दिया। मितन्नियों की स्थिति देख कर सीरियावासियों ने भी प्रतिरोध की हिम्मत न की और हित्तियों के सम्मुख घुटने टेक दिया। मिस्र के एक मित्र कादेश ने प्रतिरोध करने का साहस किया किन्तु उसका भी बुरी तरह से मान-मर्दन किया गया। किज्जुवत्ना राज्य (Kizzuwatna) से भी उसके मैत्री सम्बन्ध स्थापित हुए। इन विजयों के फलस्वरूप सुप्पिलुल्युमस का आतंक एवं प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया कि इख्नाटन की पुत्री तथा तूतेनकामेन की विधवा पत्नी ने उसके पास यह संदेश भेजा कि "मेरे पति की मृत्यु हो गई है, मैं निस्सन्तान हूँ एतदर्थ बहुत दुखी हूँ। यदि आप अपने पुत्रों में से किसी को मेरे पास भेज दें तो मैं उसे पति स्वीकार कर लूं क्योंकि यहाँ मैं किसी को पति रूप में नहीं वरण करना चाहती।"[1] यदि यह विवाह हो गया होता तो निस्संदेह हित्ती शासक का मिस्र तथा हित्ती दोनों साम्राज्यों पर प्रभुत्व स्थापित हो गया होता और इस प्रकार दोनों साम्राज्य मिलकर विश्व के सबसे बड़े साम्राज्य की स्थापना करते।[2] कहा जाता है कि उसके निवेदन पर हित्ती शासक ने अपने एक पुत्र को भेजा अवश्य था किन्तु उसके मिस्र पहुँचने के पूर्व ही उसका वध करवा दिया गया था तथा आइ नामक एक पुजारी ने विधवा रानी से विवाह कर लिया था। इस प्रकार सुप्पिलुल्युमस मिस्र पर प्रभुत्व स्थापित करने से वंचित रह गया।

सुप्पिलुल्युमस के बाद उत्तराधिकार अर्नुवंदस (Arnuwandas) को मिला लेकिन उसका शासन काल (1346-1345 ई० पू०) एक वर्ष तक ही रहा। इसके बाद शासन-सूत्र मुर्सिलिस द्वितीय (Mursilis II, 1345-1315 B. C.) ने संभाला। इसके समय में हित्ती साम्राज्य के दक्षिणी एवं पूर्वी भागों में अवश्य शान्ति बनी रही किन्तु पश्चिम के अर्जावा (Arzawa) प्रान्त में उपद्रव खड़ा हो गया। इसमें मिस्र ने उसकी सहायता की। मुर्सिलिस द्वितीय इसे बर्दाश्त नहीं कर सकता था। अतः दो वर्ष के युद्ध के बाद वहाँ के शासक को पराजित कर उसने अपने पक्ष का एक शासक नियुक्त कर दिया। उत्तरी सीमा पर स्थित उद्धत एवं स्वतंत्र दलों के

---

[1] O. R. Gurney, The Hittites, p. 31

[2] J. H. Breasted, Ancient Times, p. 249

दमन के लिए मुर्सिलिस द्वितीय को कई सैनिक दल रखने पड़े। किन्तु वहाँ स्थायी शान्ति न स्थापित हो सकी। इस अशान्ति के लिए बहुत कुछ मिस्र एवं असीरिया के शासक उत्तरदायी थे। वे सदैव किसी न किसी प्रकार विद्रोहियों को भड़काते रहते थे। मुर्सिलिस द्वितीय के शासन काल के सातवें वर्ष उत्तर-पूर्व में स्थित अज्जी-हयस (Azzi-Hayas) राज्य ने उपद्रव खड़ा कर दिया किन्तु इसे भी दबाने में हित्ती शासक को सफलता मिल गयी। इसी बीच अवसर देख कर सीरिया ने भी विद्रोह कर दिया। सम्भवतः इसमें उसे मिस्र से भी सहायता मिली थी। संयोग से सीरिया के मान-मर्दन में भी मुर्सिलिस द्वितीय सफल रहा।

मुर्सिलिस द्वितीय के बाद उत्तराधिकार इसके पुत्र मुवातल्लिस (Muwatallis, 1315-1296 B. C.) को मिला। मुवातल्लिस को उत्तराधिकार रूप में जो राज्य मिला था वह सुदृढ़ तथा चारों ओर से अधीन राज्यों से घिरा था। इसी लिए राज्य-ग्रहण के समय उसे किसी गम्भीर संकट का सामना नहीं करना पड़ा। राज्य-ग्रहण के पश्चात् उसका ध्यान पश्चिम की ओर गया किन्तु यह कहना कठिन है कि पश्चिम का उसका शत्रु कौन था? इसके साथ ही उसने अर्जावा प्रान्त के गवर्नर की स्थिति और सुदृढ़ की तथा विलुसा (Wilusa) के शासक अलकसैंदुस (Alaksandus) से एक नवीन सन्धि की। इसके बाद उसका ध्यान पुराने शत्रु मिस्र की ओर गया। उन्नीसवें राजवंश के मिस्री शासकों की दृष्टि सीरिया के उन प्रान्तों पर लगी थी जो थुत्मोस तृतीय के समय साम्राज्य के अंग थे पर आमेनहोतेप चतुर्थ के समय उससे निकल गये थे। मिस्री शासक सेती प्रथम ने कैनान पर विजय प्राप्त कर मिस्र की सीमा कादेश तक बढ़ाई जिसके फलस्वरूप दोनों साम्राज्यों के सम्बन्ध और कटुतापूर्ण हो गए। मिस्र के अगले शासक रैमिसीज द्वितीय के समय में सीरिया को लेकर दोनों साम्राज्यों में संघर्ष छिड़ गया। रैमिसीज द्वितीय ने हित्ती साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। कादेश में शक्ति परीक्षा के लिए दोनों राज्यों की सेना एकत्र हुई। अन्ततः विजय हित्तियों को मिली। कहा तो यहाँ तक जाता है कि यदि दुर्दिन के समय अतिरिक्त सहायता न पहुँच पाती तो शायद मिस्री सेना समूल नष्ट हो जाती।

मुवातल्लिस के शासन काल में ही उत्तरी-पूर्वी भाग को एक स्वतन्त्र प्रान्त के रूप में संगठित करने का उत्तरदायित्व उसके कुशल एवं बहादुर भाई हत्तुसिलिस तृतीय (Hattusilis III, 1289-1265 B C.) को दे दिया गया था। इसने हाक्पिस (Hakpis) को राजधानी मान कर इस कार्य को प्रारम्भ किया। स्वयं मुवातल्लिस दत्तस्स (Dattass) नगर में रह रहा था। इस स्थान को उसने इसलिए चुना था ताकि सीरिया पर निकट से निगरानी रख सके। मुवातल्लिस के बाद उत्तराधिकार उसके पुत्र उर्हि-तेशुब (Urhi-Teshub, 1296-1289 B. C.) को मिला। उर्हि-तेशुब पितृव्य हत्तुसिलिस के प्रति अविश्वास करने लगा और सम्भवतः किसी प्रकार के गृहयुद्ध की योजना भी बनाने लगा किन्तु उसकी योजना सफल न

हुई। सात वर्ष तक तो किसी प्रकार हत्तुसिलिस तृतीय भतीजे उर्हि-तेशुब को बर्दाश्त करता रहा पर आठवें वर्ष उसने उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इसमें उर्हि-तेशुब पराजित हुआ। उसे सिंहासन से हटा दिया गया तथा बन्दी बना लिया गया। भतीजे को हटाने के बाद जिस समय हत्तुसिलिस तृतीय ने राज्य-ग्रहण किया उसकी अवस्था लगभग पचास वर्ष की थी।

हत्तुसिलिस तृतीय का शासन काल हित्ती इतिहास में शान्ति एवं सुव्यवस्था का काल माना जा सकता है। राज्य काल के प्रारम्भ में मिस्र की ओर से कुछ उपद्रव के संकेत मिलते हैं किन्तु हत्तुसिलिस तृतीय ने इसे शस्त्र-बल से नहीं अपितु शान्ति के बल पर शान्त किया। यदि केवल मिस्र की ही समस्या होती तो शायद इसे दूसरे माध्यम से ही तय किया जाता। हित्तियों के सामने उदीयमान असीरिया का राज्य भी विद्यमान था। असीरिया से बचे रहने के लिए मिस्र से शान्तिपूर्ण समझौता आवश्यक था। अतः दोनों देशों में 1284 ई० पू० में इतिहास प्रसिद्ध सन्धि हुई। शासकों के अतिरिक्त महारानियों ने भी एक दूसरे के पास बधाई-पत्र भेजा। इनमें से एक पत्र सुरक्षित मिला है। तेरह वर्ष बाद सन्धि की पुष्टि के लिए हत्तुसिलिस तृतीय ने अपनी पुत्री का विवाह रैमिसीज तृतीय के साथ कर दिया। हत्तुसिलिस तृतीय के समय राजधानी पुनः हत्तुसस में स्थापित की गयी। नगर का पुनर्निर्माण किया गया तथा प्रशासन एवं धर्म सम्बन्धी आज्ञाएँ जारी की गयीं।

हत्तुसिलिस तृतीय के बाद हित्ती साम्राज्य का अधःपतन होने लगा। इसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी तुधलियास चतुर्थ (1265-1235 ई० पू०) राजनीतिज्ञ की अपेक्षा धर्मनिष्ठ अधिक सिद्ध हुआ। उसने अपना ध्यान उत्सवों एवं संस्कारों को सुधारने में अधिक लगाया। यजिलिकय दीर्घा (Yajilikaya Gallery) का निर्माण इसी के समय में प्रारम्भ हुआ था। प्रारम्भ में तो तूधलियास चतुर्थ शान्तिपूर्वक शासन करता रहा किन्तु अन्तिम दिनों में पश्चिम की ओर अशान्ति उत्पन्न हो गई। अहियावा (Ahhiyawa) के शासक तथा अत्तरिस्सियास (Attarissiyas) नामक एक व्यक्ति ने सुदूर पश्चिमी हित्ती सीमा पर उपद्रव खड़ा कर दिया जिसके फलस्वरूप मद्दुवत्तस (Madduwattas) नामक एक शासक ने हित्ती शासक की शरण ली। विद्रोहियों को दबाने में हित्ती शासक को सफलता मिल गई। तूधलियास चतुर्थ के बाद उत्तराधिकार अर्नवन्दस चतुर्थ (Arnuwandas IV, 1235-1215 B. C.) को मिला। इसके समय में पश्चिम की स्थिति और बिगड़ गई। मद्दुवत्तस ने विश्वासघात कर समस्त अर्जावा प्रान्त को अपने अधिकार में कर लिया। इसी समय पूर्वी पहाड़ियों पर मितास (Mitas) ने उपद्रव खड़ा कर दिया। इन विषम परिस्थितियों में हित्ती शासक के लिये उबर पाना कठिन था। इसके बाद के हित्ती इतिहास का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है। एक साक्ष्य से प्रतीत होता है कि शायद इसके बाद उत्तराधिकार सुप्पिलुल्युमस द्वितीय (1215 B. C.) को मिला

लेकिन उसका भी शासन काल बहुत छोटा था। इसके बाद धीरे-धीरे हित्ती साम्राज्य संकुचित होता गया। यदि होमर के साक्ष्यों पर विश्वास किया जाय तो ज्ञात होता है कि शीघ्र ही हित्तियों का स्थान फ्रीजियनों (Phrygians) ने ग्रहण कर लिया।

नव हित्ती राज्य

बारहवीं शती ई० पू० के प्रारम्भ में फ्रीजियन तथा माइसीयन (Mysian) थ्रेस से आकर हालिस के पश्चिम मध्य अनातोलिया में बस गये। इन्होंने ही हित्तियों का अन्त किया। किन्तु हित्ती साम्राज्य के अन्त के बाद भी हित्ती सभ्यता के सांस्कृतिक तत्त्व हित्ती साम्राज्य के दक्षिण-पूर्वी भागों में आगामी पाँच सदियों तक विद्यमान रहे। असीरियन लेखों में सीरिया तथा तोरुस को हत्ती देश (Land of Hatti) के नाम से सम्बोधित किया जाता रहा। इस काल के कुछ ऐसे शासकों के नाम मिले हैं जैसे, सपलुल्मे (Sapalulme), मुत्तल्लु (Muttallu), कतुजिलि (Katuzili) तथा लबर्ना (Labarna) जिनकी समता हित्ती शासक के नामों से सरलतापूर्वक की जा सकती है। इन शासकों को बाइबिल में हित्ती शासक माना गया है।[1] नव हित्ती शासकों के शासन काल में जिस धर्म एवं भाषा का प्रचार था वह साम्राज्य कालीन हित्ती धर्म एवं भाषा से भिन्न थी। दोनों में परस्पर क्या सम्बन्ध था कहना कठिन है। इस युग के शासकों द्वारा चित्राक्षर लिपि में बहुत से लेख उत्कीर्ण अवश्य कराये गये किन्तु लिपि के अपाठ्य होने के कारण उनके विषय में कुछ जाना नही जा सका है।

राजनीतिक संगठन

केन्द्रीय प्रशासन

राजनीतिक संगठन में केन्द्रीय प्रशासन महत्त्वपूर्ण था। इसमें सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न अधिकारी शासक स्वयं था। वही प्रधान पुरोहित, मुख्य न्यायाधीश तथा प्रधान सेनापति था। सेनापति एवं पुरोहित के गौरवपूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वाह वह स्वयं करता था किन्तु न्यायाधीश के रूप में कार्य सम्पन्न करने के लिए वह अधीनस्थ पदाधिकारियों से सहायता प्राप्त कर लेता था। पड़ोसी राज्यों से राजनीतिक सम्बन्ध बनाना तथा प्रधान नगरों का दौरा करना भी उसी का उत्तरदायित्व था। राज्य के प्रधान पुरोहित के रूप में उत्सवों के अवसर पर सभी धर्म-स्थानों पर उसे उपस्थित होना पड़ता था। ऐसे अवसर पर वह विशिष्ट वस्त्र धारण करता था। प्रधान सेनापति के रूप में महत्त्वपूर्ण युद्धों में वही सेना का संचालन करता था। प्राचीन हित्ती शासक 'महाराज तब्र्न' (Tabarn) की उपाधि धारण करते थे। इसमें 'तबर्न' उपाधि उनकी परम्परागत शासकीय उपाधि थी। जिसे उन्होने आदि

---

[1] 2 Kings, 7-6; 2. Chronocles, 1.1-7

हित्ती शासक लबर्नस से ग्रहण किया था। यहाँ प्रत्येक शासक को लबर्नस का अवतार माना जाता था। 'महाराज' विरुद उन्हें अन्य अधीन राजाओं से श्रेष्ठ बताने के लिए था। बाद में यहाँ 'मेरे सूर्य' उपाधि भी प्रचलित हुई। सम्भवतः जिस पर मिस्री एवं मितन्नी प्रभाव पड़ा था। साम्राज्य काल में 'वीर' एवं 'देवप्रिय' उपाधियाँ भी धारण की गईं। प्रारम्भ में हित्ती राजनीतिक संगठन में राजपद सुरक्षित नहीं था। राजा का निर्णय निर्वाचन द्वारा किया जाता था। इस व्यवस्था में कभी-कभी अशान्ति की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी क्योंकि एक ही पद के लिए कई प्रत्याशी हो जाते थे। कुलीन वर्ग का कोई भी सदस्य राज-निर्वाचन का अधिकार छोड़ना नहीं चाहता था। आगे चल कर इस व्यवस्था में कतिपय सुधार किये गये। अब शासक स्वयं उत्तराधिकारी का नाम प्रस्तावित कर सकता था। निर्वाचनकर्ता उस नाम का समर्थन कर देते थे। किन्तु अभी भी पूर्ण शान्ति की आशा नहीं थी। उत्तराधिकार के निश्चित् नियम के अभाव में प्रायः संकट उपस्थित हो जाता था। अतः तेलिपिनस को उत्तराधिकार सम्बन्धित नियम बनाना पड़ा था जिसका कुछ अपवादों को छोड़ कर सामान्यतः सर्वत्र पालन किया जाता था।

प्रशासन में शासक के साथ-साथ उसके आत्मीय जनों का भी विशेष महत्त्व था। इन्हें 'महापरिवार' (Great Family) कहा जाता था। इन्हीं में से राज्य के जेष्ठ्य पदाधिकारी जैसे मुख्य अंगरक्षक, कोषाध्यक्ष, निरीक्षक, दरबारी, सुरा-शोधक, राजदण्डधारक इत्यादि नियुक्त किए जाते थे। महापरिवार के इन अधिकारियों तथा उनके साथ काम करने वाले अधीन कर्मचारियों को सामूहिक रूप से 'पानकुस' (Pankus) कहा जाता था। इनकी एक सम्मिलित सभा थी जिसे आवश्यकतानुसार शासक बुलाता था। प्रारम्भ में इस सभा का विशिष्ट महत्त्व था किन्तु आगे चल कर इसका महत्त्व क्षीण हो गया। क्योंकि तेलिपिनस के बाद से इस सभा की गतिविधियों के विषय में कोई सूचना नहीं मिलती। ऐसा लगता है जैसे-जैसे हित्ती साम्राज्य राजनीतिक दृष्टि से सुदृढ़ होता गया शासक का महत्त्व बढ़ता गया तथा उक्त सभा का महत्त्व कम होता गया।

प्रान्तीय प्रशासन

प्रारम्भ में हित्ती साम्राज्य बहुत छोटा था अतएव प्रान्तीय प्रशासन व्यवस्था अत्यन्त सरल थी। नगरों का प्रशासन नगर सभाओं द्वारा सम्पन्न होता था। जो नगर धर्मकेन्द्रों के रूप में प्रतिष्ठित थे उनका प्रशासन मन्दिर के प्रधान पुजारी के अधीन था। हित्ती साम्राज्य की सीमा के विस्तार के साथ-साथ प्रान्तीय प्रशासन में शासकीय हस्तक्षेप आवश्यक हो गया। अब प्रान्तों की व्यवस्था के लिए केन्द्र की ओर से पदाधिकारी नियुक्त किए जाने लगे। प्रारम्भ में केन्द्र की ओर से प्रान्तीय गवर्नरों का पद राजपुत्रों तथा सेनापतियों को दिया गया। इनके मुख्य कर्त्तव्य सार्वजनिक निर्माण तथा न्याय एवं मन्दिरों की व्यवस्था से सम्बन्धित थे। इनका

पद अस्थायी था। जैसे-जैसे हित्ती साम्राज्य का प्रसार होता गया इस व्यवस्था में भी परिवर्तन अवश्यंभावी समझा गया। क्योंकि आवागमन के साधनों की कमी के कारण स्थायी तथा सशक्त गवर्नरों की उपस्थिति आवश्यक थी। साम्राज्य युग में हित्ती प्रान्तों का स्वरूप बदल गया। इनका स्तरीय विभाजन इनकी स्थिति तथा मर्यादा के अनुरूप किया गया। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत वे प्रान्त थे जिन पर राजपुत्र अधिशासन करता था। इस प्रकार के प्रान्तों में एलेप्पो, दत्तस्सा तथा कार्शेमिश जैसे सामरिक दृष्टि से उपादेय नगरों का उल्लेख किया जा सकता है। द्वितीय श्रेणी के वे संरक्षित प्रान्त थे जो हित्ती शासक की प्रभुता तो स्वीकार करते थे किन्तु उनकी स्थिति सदैव सम्माननीय बनी रहती थी। तृतीय श्रेणी के प्रान्त पूर्णतया शासक के अधीन थे। इनका गवर्नर स्थानीय राजपुत्र होता था जिसकी नियुक्ति प्रायः सम्राट् स्वयं करता था। इस प्रकार के प्रान्तपति अपने प्रदेश में स्वतंत्र अवश्य थे किन्तु आवश्यकतानुसार उन्हें केन्द्र की सैनिक सहायता करनी पड़ती थी। अधीन शासकों को प्रति वर्ष अपनी स्वामिभक्ति प्रमाणित करनी पड़ती थी। इसके लिए वे शासक को कर भेजते थे तथा उसके समक्ष उपस्थित होकर श्रद्धा प्रकट करते थे। संधि के समय अधीन शासक को स्वामी तथा उसके उत्तराधिकारियों के प्रति स्वामिभक्ति की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। इसमें उनके देवताओं को साक्षी बनाया जाता था।

विधि-संहिता एवं दण्ड-विधान

हित्तियों के राजनीतिक संगठन में इनकी विधि-संहिता का विशेष महत्त्व था। इनके लेखों में बहुत से विधि-सम्मत लेख तथा राजाज्ञाएँ हैं। इनमें केवल दो सुरक्षित अवस्था में हैं जबकि अन्य क्षत-विक्षत हो गए हैं। अखण्डित दोनों लेखों में लगभग दो सौ धाराएँ हैं।[1] आधुनिक विद्वान् दोनों लेखों के अंशों को एक ही विधि-संहिता का अंग स्वीकार करते हैं[2] यद्यपि इनमें कोई इस प्रकार का संकेत नहीं मिलता। इनमें कृषि, भूमि, शुल्क, व्यापार, स्वच्छता, अकाल के समय सहायता, सम्पत्ति, मजदूरी, सेवा, दास, पारिश्रमिक, चोरी, हत्या, अभिचार, अवज्ञा, फौजदारी, अग्निकाण्ड, अनैतिक आचरण इत्यादि से सम्बंधित कानून मिलते हैं।

न्याय के लिए सर्वप्रथम मुकदमा नगर समितियों के पास जाता था। इनका गठन जन-न्यायालय के रूप में किया जाता था अतएव राज्य से इनका सम्बंध बहुत कम था। प्रान्तीय नगरों में सैनिक अधिकारियों द्वारा न्याय सम्पन्न किया जाता था। इन्हें नगर-समितियों तथा स्थानीय न्यायालयों का सहयोग मिलता था। मुख्य न्यायाधीश के रूप में शासक स्वयं कार्य करता था। शासक के न्यायालय में महत्त्वपूर्ण मुकदमें ही भेजे जाते थे। न्यायालय में न्याय करते समय मुकदमें का सम्यक् निरीक्षण किया जाता था। इसके बाद न्यायालय जो

---

1. O. R. Gurney, The Hittites, p. 88
2. J. H. Breasted, Ancient Times, p. 251

निर्णय देता था उसे दोनों पक्षों को अंतिम रूप से स्वीकार करना पड़ता था। यदि कोई उसका विरोध करता था तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। बैबिलोनिया के हम्मूराबी के दण्ड-विधान की अपेक्षा हित्ती दण्ड-विधान अधिक मानवीय थे। दण्ड-विधान क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त पर आधारित था। केवल कुछ स्थितियों को छोड़कर, जब नष्ट वस्तु के स्थान पर उसी प्रकार की वस्तु देनी पड़ती थी, अन्य मामलों में क्षतिपूर्ति के लिए चाँदी देकर मुक्ति मिल जाती थी। जैसे यदि कोई व्यक्ति किसी स्वतंत्र व्यक्ति की भुजा या पैर तोड़ देता था तो उसे बीस शेकेल चाँदी देनी पड़ती थी। किन्तु यदि यही अपराध वह किसी दास अथवा दासी के साथ करता था तो उसे दश शेकेल चाँदी देनी पड़ती थी। यदि अभियुक्त दास होता था तो उसे स्वतंत्र व्यक्ति का आधा दण्ड देना पड़ता था। हित्ती दण्ड-व्यवस्था में सामूहिक उत्तरदायित्व की अपेक्षा व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को विशेष महत्त्व मिलता था। बैबिलोनियन तथा हिब्रू दण्ड-विधान के अनुसार यदि अपराधी भाग जाता तो निकटतम ग्राम के निवासी भी दण्ड प्राप्त करते थे। किन्तु हित्तियों में लगभग पाँच किलो मीटर की सीमा नियत कर दी गई थी। इसके बाहर स्थित ग्राम के निवासी दण्ड से मुक्ति पा जाते थे।

हित्ती दण्ड-व्यवस्था में दण्ड सरल थे। मृत्यु-दण्ड के अपराधों की संख्या घटा दी गई थी। इसे अब केवल बलात्कार, व्यभिचार, पशुगमन, राजानुशासन की अवज्ञा, राजप्रासाद में चोरी करने तथा काले जादू जैसे अपराधों के लिया ही दिया जाता था। अन्य अपराधों के लिए अर्थ-दण्ड की व्यवस्था थी। अंगभंग के दण्ड केवल दासों को चोरी या अग्निदाह के लिए दिये जाते थे। हित्ती दण्ड-विधान में असीरियन शासकों की क्रूरता नहीं दिखायी पड़ती। निस्त्वचन, अण्डोच्छेदन तथा शूली पर चढ़ाने जैसे निर्मम दण्ड, जिसे निनिव के शासक अपनी शक्ति सुदृढ़ता के लिए आवश्यक समझते थे, हित्ती दण्ड-विधान में स्थान न पा सके।[1] हित्ती दण्ड-विधान में दण्डों की इस उदारता का समावेश किन परिस्थितियों में किया गया ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है।

सैन्य संगठन

अश्वचालित रथ हित्ती सैनिक संगठन के मूलाधार थे। हित्ती साम्राज्य में सुप्पिलुल्युमस के समय से इसका प्रयोग प्रचुरता के साथ किया जाने लगा था। इनमें छः तीली वाले पहिए लगे रहते थे। मिस्री रथों की भी यही विशेषता थी। हित्ती रथों में चालक के अतिरिक्त दो योद्धा और बैठते थे। आक्रमणात्मक उपकरणों में शंकु एवं धनुष-बाण का उपयोग किया जाता था। चतुर्भुजाकार ढाल भी धारण करते थे। पदाति सैनिक संख्या में अधिक अवश्य थे किन्तु रथारोही सैनिकों

---

[1] E. M. Burns, Western Civilization Vol. I, p. 121

के समक्ष उन्हें विशेष महत्त्व नहीं मिला था। अश्वारोही सैनिक तथा जल वेड़े का विकास नहीं किया गया था। उनके सामरिक अभियान निश्चित समय में किए जाते थे। इसके लिए बसन्त तथा ग्रीष्भ ऋतु को वे चुनते थे। आक्रमणात्मक युद्धों में हित्ती शत्रुओं को खुली चुनौती देते थे। इससे वे अपनी रथ सेना का पूरा-पूरा उपयोग कर लेते थे। शत्रु के दुर्ग को अच्छी तरह से घेर लेने में वे निष्णात् थे। अपनी रक्षा के लिए उन्होंने नगरों की अच्छी तरह से किलेबंदी की थी। हत्तुसस नगर को दोहरी प्राचीर से घेर दिया गया था। शत्रु पर आक्रमण करने के लिए गुप्त द्वार बनाए गये थे। प्रारम्भ में हित्तियों का उद्देश्य शत्रु को लूटना था लेकिन साम्राज्य युग में आक्रमण के पूर्व वे शत्रु को आक्रमण का कारण बता देते थे और उसे इस बात की सुविधा देते थे कि यदि वह चाहे तो उनकी माँगों को पूरा कर विनाश से बच जाय। किन्तु यदि शत्रु की ओर से कोई अनुकूल उत्तर नहीं मिलता तो वे उस पर आक्रमण कर देते थे। शत्रु के साथ उनका व्यवहार 'जैसे को तैसा' सिद्धान्त पर आधारित था। यदि आक्रमण के तत्काल बाद नगर आत्म-समर्पण कर देता था तो उसके साथ संधि कर लेते थे किन्तु यदि आक्रमण के बाद नगर विरोध करता था तथा वहाँ अधिकार शक्तिपूर्वक स्थापित हो पाता था तो शत्रु के साथ क्रूरता का व्यवहार किया जाता था। ऐसी स्थिति में नगर को जला दिया जाता था, वहाँ के निवासियों को बंदी बना लिया जाता था तथा उस नगर को शापित नगर घोषित कर दिया जाता था। असीरियन तथा पारसीक शासकों की भाँति वे शत्रु को कष्ट देने में आनन्द नहीं लेते थे।

सामाजिक संगठन

हित्ती समाज अभिजात, साधारण एवं दास तीन वर्गों में विभाजित था। अभिजात के अन्तर्गत शासक, सामन्त एवं पदाधिकारी आते थे। शासन-संचालन इन्हीं के हाथ में था। इनका सम्बन्ध भारोपीय वर्ग से था। हित्ती साधारण जन शासकों से जाति एवं भाषा दोनों दृष्टियों से पृथक् थे। सामाजिक दृष्टि से ये कृषक एवं शिल्पी दो वर्गों में विभाजित थे। कृपकों की संख्या अत्यधिक थी। शिल्पियों में बुनकर, चर्मकार, कुंभकार तथा लोहार प्रमुख थे। साधारण वर्ग के सदस्य स्वतंत्र अवश्य थे किन्तु उन्हें बेगार के लिए सदैव तैयार रहना पड़ता था। वे अपना स्थान अथवा व्यवसाय छोड़कर जा नहीं सकते थे। इस प्रकार कृषि-कर्म तथा उद्योग-धंधों में लगे लोगों की स्थिति भी एक प्रकार के दासों की ही थी। दासों की स्थिति यहाँ ठीक थी। यद्यपि वे पूर्णतया स्वामी के अधीन थे किन्तु उनके साथ अमानवीय व्यवहार नहीं किया जाता था। शारीरिक क्षति में उन्हें स्वतंत्र व्यक्तियों का आधा मुआवजा मिलता था। इतना ही नहीं स्वतंत्र व्यक्तियों की अपेक्षा उन्हें दण्ड भी कम मिलता था। विधानतः वे सम्पत्ति रख सकते थे

तथा स्वतंत्र स्त्रियों से विवाह भी कर सकते थे। इस प्रकार उनकी स्थिति कुछ उसी प्रकार थी जैसे बैबिलोन में मुस्केनुम् वर्ग के सदस्यों की।

प्रारंभ में हित्ती पारिवारिक गठन मातृसत्तात्मक था पर बाद में यहाँ पितृसत्तात्मक पारिवारिक व्यवस्था अस्तित्व में आ गई। पिता का अपनी संतति पर पूर्ण अधिकार रहता था। यदि कोई व्यक्ति किसी के पुत्र की हत्या कर देता था तो उसे दण्ड-रूप में अपने पुत्र को देने का अधिकार मिला था। स्त्रियों को भी दुराचारण के अपराध में वह स्वतन्त्रतापूर्वक दण्ड दे सकता था। वैवाहिक-संस्थाएँ विधि-संहिता से नियमित थीं। माँ, पत्नी की माँ एवं पुत्री से वैवाहिक सम्बंध स्थापित करने की छूट नहीं थी किन्तु भाई-बहन के मध्य विवाह अवैध नहीं माना जाता था। सगाई की प्रथा प्रचलित थी किन्तु कन्या उससे बाध्य नहीं थी। यदि वह चाहती थी तो माता-पिता की आज्ञा लेकर अथवा बिना आज्ञा के भी अपनी इच्छानुसार पति का वरण कर सकती थी। किन्तु इस स्थिति में उसे सगाई में प्राप्त भेंट वापस करनी पड़ती थी। कन्या का पिता विवाह में दहेज देता था। विवाह के बाद पति अथवा पत्नी दोनों में से यदि कोई सहवास से इन्कार करता था तो वैवाहिक सम्बंध विछिन्न हो जाते थे तथा दोषी को अर्थ दण्ड देना पड़ता था। वैवाहिक सम्बंध स्थापित हो जाने पर यदि कोई स्त्री व्यभिचार करती थी तो पति उसे मृत्यु-दण्ड दे सकता था। पति की मृत्यु हो जाने पर विधवा को पति के भाई, उसके अभाव में पिता और पिता के अभाव में भतीजे के साथ विवाह करना पड़ता था। थोड़े-बहुत अन्तर के साथ हिब्रुओं में भी यही प्रथा प्रचलित थी। पिता की मृत्यु के बाद पुत्र भी विमाता से सम्बन्ध स्थापित कर सकता था क्योंकि पिता की सम्पति का उत्तराधिकारी होने के कारण वह उसकी स्त्रियों का भी उत्तराधिकारी माना जाता था। हित्ती समाज में स्त्रियों की स्थिति अच्छी थी। वे शासिका बन सकती थीं तथा प्रधान पुजारिन के पद का उपभोग कर सकती थीं। पुदुहेपा नामक साम्राज्ञी पति के जीवन काल में सह-शासिका थी और उसकी मृत्यु के बाद राज-संरक्षिका के रूप में कार्य किया था।

आर्थिक संगठन

हित्तियों का आर्थिक गठन मूलतः कृषिपरक था। अधिकांश भूमि पर शासक या मन्दिर का अधिकार था। समय-समय पर शासक अपने कृपापात्रों में इसे वितरित करता था। साधारण जन शासक से किसी सेवा के बदले पुरस्कार रूप में या सैनिक सेवाओं के बदले भूमि प्राप्त करते थे। प्रथम विधि से प्राप्त भूमि को प्राप्तकर्ता हस्तान्तरित नहीं कर सकता था। प्राप्तकर्ता की मृत्यु के बाद वह भूमि पुनः शासकाधीन हो जाती थी। प्राप्तकर्ता को भूमि इस शर्त पर दी जाती थी कि

वह उस पर कृषि-कर्म करेगा। यदि कोई व्यक्ति अपने कर्त्तव्य का समुचित निर्वाह नहीं करता था तो उसे भूमि के अधिकार से वंचित कर दिया जाता था। शिल्पियों तथा श्रमिकों की भूमि पर उनकी मृत्यु के बाद ग्राम का अधिकार हो जाता था। दी गई भूमि के क्षेत्रफल तथा उससे सम्बन्धित शर्तों को लिख-पढ़ लिया जाता था। मुख्यत: जौ तथा गेहूँ की खेती की जाती थी। इसके अतिरिक्त अंगूर, बादाम, जैतून आदि के बाग लगाये जाते थे। कृषि के साथ-साथ पशुपालन भी प्रचलित था। मुख्यत: बैल, सूकर, बकरी तथा भेड़ें पाली जाती थीं। एशिया माइनर में सर्वप्रथम अश्व का प्रयोग हित्तियों ने किया। कृषि तथा पशुपालन दोनों से सम्बन्धित नियम इनकी विधि-सहिता में बनाये गये थे।

अनातोलिया खनिज की दृष्टि से समृद्ध था। पर्वतीय भागों में ताँबा, काँसा, चाँदी, लोहा तथा फूल निकाला जाता था। ताँबा और काँसा यहाँ प्रचुर मात्रा में मिलता था। इसी लिए इनका प्रयोग बहुत पहले से किया जाने लगा था। लोहा भी यहाँ पर्याप्त मात्रा में मिलता था। इनके लेखों में लोहे की मूर्तियों तथा तलवार का उल्लेख मिलता है जिनका उपयोग या तो मन्दिरों में किया जाता था या शासकीय उपहारों में। इस प्रकार का एक उल्लेख अनित्त (Anitta) के लेख में मिलता है जिसके अनुसार उसे पुरुसखण्ड (Puruskhand) नगर से एक लौह राजदण्ड तथा सिंहासन प्राप्त हुआ था। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि यहाँ लोहे का प्रयोग प्रचुरता से किया जाता था। वास्तव में कठोरता के कारण इसका सामान्य प्रयोग ही प्रचलित रहा। सामान्य प्रचलन ही सही किन्तु हम इतना जानते हैं कि हित्तियों ने लोहे के आविष्कार द्वारा पश्चिम एशिया में क्रान्ति मचा दी। इतना ही नहीं ऐसा माना जाता है कि प्राचीन विश्व में लोहे का आगमन हित्तियों द्वारा नियंत्रित उत्तरी सीरिया अथवा उत्तरी एशिया माइनर की खदानों से हुआ।[1]

कृषि-कर्म, पशुपालन तथा धातु-उद्योग के साथ-साथ यहाँ व्यापार का भी प्रचलन था। आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार के व्यापार प्रचलित थे। पड़ोसी देशों से इनके अच्छे व्यापारिक सम्बन्ध थे। प्रारम्भ में यहाँ से ताम्र का निर्यात किया जाता था किन्तु ऐसा लगता है कि आगे चल कर यहाँ ताँबे की कमी आ गई थी। बैबिलोनिया से वस्त्र तथा टिन मँगाए जाते थे। विनिमय के लिए चाँदी के टुकड़ों अथवा बालियों का प्रयोग करते थे। भार की इकाई शेकेल थी। साठ शेकेल का एक 'मीना' होता था। इस स्थल पर इस बात का संकेत किया जा सकता है कि बैबिलोनिया की अपेक्षा एशिया माइनर का शेकेल छोटा था। छोटे भार के लिए काँच के बाट बनाए जाते थे। विधि-संहिता द्वारा ज्ञात होता है कि मेष, अजा, खाद्यान्न, मांस तथा भूमि का मूल्य राज्य द्वारा निर्धारित किया जाता था। मेष, अजा, गाय, अश्व तथा एक

---

[1] L. Thorndike, A Short History of Civilization, p. 86

मीना ताँबे का मूल्य क्रमशः 1, 2/3, 7, 14 तथा 1/4 शेकेल था। ताँबे तथा चाँदी के बीच 1 : 240 का अनुपात था। इस सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि विनिमय मे चाँदी का प्रयोग तथा भार की इकाई शेकेल का प्रचलन बैबिलोनियन प्रभाव के अन्तर्गत हुआ था।

धर्म

देव-मण्डल

हित्ती धर्म एक प्रकार का प्राकृतिक धर्म था जिसमें पशु-पक्षी, वृक्ष, सरिता एवं पर्वतादि को ही देवता के रूप में स्वीकार कर उनके प्रति श्रद्धा एवं भक्ति प्रदर्शित की जाती थी। आगे चल कर देवताओं का मानवीकरण किया गया तथा प्रत्येक नगर एवं प्रदेश के विशिष्ट देवता स्वीकार कर लिये गये। इन देवी-देवताओं की संख्या सैकड़ों थी। इनमें से कुछ उनके निजी देवी-देवता थे, कुछ पड़ोसियों के थे तथा कुछ उन लोगों के थे जिन पर उन्होंने विजय प्राप्त की थी।[1] इन देवताओं में सर्वाधिक प्रतिष्ठित मेघ प्रभंजन के स्वामी ऋतुदेव अद्दु (Addu) थे। तोरुस पर्वत तथा उत्तरी सीरिया में उसे ही तेशुब (Teshub) के नाम से प्रसिद्धि मिली थी। वह सेरिस (Seris) तथा हर्रिस (Hurris) नामक बैल के रथ पर चलता था। उसका एक हाथ परशु तथा द्वितीय विद्युत् प्रभा के समान त्रिशूल से सुशोभित था। उसकी उपासना के लिए विविध प्रतिमाएँ बनायी जाती थीं। तेशुब की पत्नी के रूप में कल्पित हेबत (Hebat) देवी उसी के सदृश शक्ति की पुंज थी। देवी का वाहन सिंह था। वाहन रूप में वृषभ की उपस्थिति, हाथ में त्रिशूल तथा सिंहवाहिनी देवी की सन्निधि के कारण तेशुब का तादात्म्य भारतीय शिव से किया जा सकता है। हित्ती आख्यान के अनुसार तेशुब तथा हेबत से शरमा या शर्रुमा (Sharma or Sharruma) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। तेशुब तथा हेबत की उपासना विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न नामों तथा रूपों में की जाती थी। इसकी छोटी-बड़ी प्रस्तर तथा धातु प्रतिमाएँ बनायी जाती थीं।

हेबत के अतिरिक्त वे सपक्ष सिंहवाहिनी देवी की भी उपासना करते थे। इसे शौशका (Shaushaka) नाम दिया गया था। अरिन्ना नामक नगर में इसी नाम की एक सूर्या देवी की पूजा की जाती थी। हित्ती शासक इसे तीनों लोकों की स्वामिनी, राज्य की संरक्षिका एवं नेत्री मानते थे। इस देवी की बराबरी सत्य एवं न्याय के संरक्षक सूर्य देव भी नहीं कर सकते थे। सूर्य देव का प्रतीक मिस्र के समान सपक्ष बिम्ब था। सूर्यादेवी अरिन्ना के पतिरूप में मेघराज 'वुरुसेमु' (Wurusemu) की उपासना भी की जाती थी किन्तु देवी की अपेक्षा इसे कम महत्त्व मिला था। इन देवी-देवताओं के साथ-साथ कृषिदेव तेलिपिनु (Telipinu), भाग्यदेव, चन्द्रदेव

---

[1] W. N. Weech, History of the World, p. 66

कशक (Kashak), पातालदेव हेसुइ (Hesui), समुद्रतलदेव इया (Iea) को भी यहाँ महत्त्व मिला था और इनकी पूजा की जाती थी। बैबिलोनियन तथा सुमेरियन देवी-देवता अनु (Anu), अन्तु (Antu), एनलिल (Enlil) तथा निनलिल (Ninlil) को भी स्थान मिला था।

हित्ती शासकों की उदार नीति के फलस्वरूप ही उपर्युक्त बहुदेववाद को फलने-फूलने का अवसर मिला। यहाँ सभी को स्वतन्त्र रूप से अपनी इच्छानुसार देवी-देवता की उपासना करने की छूट थी। किन्तु जिस प्रकार हित्ती शासकों ने छोटे-छोटे राज्यों को मिला कर एक बड़े साम्राज्य के रूप में परिवर्तित अवश्य कर दिया लेकिन उनकी प्रादेशिक स्वतन्त्रता बनी रही उसी प्रकार स्थानीय देवताओं का अस्तित्व भी बना रहा। हित्ती शासकों ने प्रादेशिक सम्प्रदायों एवं देवताओं को उनके धार्मिक केन्द्रों में उपस्थित होकर, मन्दिरों की सहायता करके तथा शासकीय सुविधाओं एवं आदेशों से हर प्रकार से विकसित होने का अवसर दिया। लेकिन इससे यह नहीं कहा जा सकता कि यहाँ किसी प्रकार के राजधर्म का विकास नहीं हो सका था। साम्राज्य की सुरक्षा के लिए आवश्यक था कि शासक जिन देवताओं की उपासना करते थे प्रजाजन उनके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करें। अतः अनेक प्रादेशिक देवताओं को शासकीय देवताओं से समीकृत करने का प्रयास किया जाने लगा। इस प्रयास के फलस्वरूप प्रादेशिक देवी-देवताओं के अस्तित्व के बावजूद भी एक राजकीय धर्म का आविर्भाव हुआ। इस नवोदित राजधर्म में सर्वाधिक प्रतिष्ठा एवं श्रद्धा मातृशक्ति की अधिष्ठाता अरिन्ना की सूर्यदेवी को मिली थी। संकट इत्यादि के समय सबसे पहले इसी देवी की उपासन की जाती थी। आगे चलकर हुर्रियन प्रभाव के अन्तर्गत हित्तियों के राजधर्म में परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण योगदान महारानी पुदुहेपा का था। वह किज्जुवत्ना प्रान्त की राजकुमारी थी तथा हेबत देवी की उपासना करती थी। अतः उसके प्रभाव में अरिन्ना देवी का तादात्म्य हेबत देवी तथा अरिन्ना के स्वामी ऋतुदेव का हेबत के स्वामी तेशुब से कर दिया गया। हित्ती राजधर्म का पूर्ण विकास एवं प्रतिबिम्बन यजिलिकय दीर्घा के उत्कीर्ण-भास्कर में दिखाई पड़ता है। इसमें देवियों में प्रमुख स्थान हेबत तथा देवताओं में प्रथम स्थान तेशुब को मिला था।

उपासना-विधि

हित्ती अपने देवी-देवताओं की उपासना मंदिरों में करते थे। कभी-कभी वे इसे उन्मुक्त स्थलों तथा पर्वतों पर भी सम्पन्न कर लेते थे। मंदिर आकार-प्रकार में छोटे से छोटे तथा बड़े से बड़े थे। देवताओं की पूजा के लिए पुजारी नियुक्त रहते थे। छोटे मंदिरों में एक ही पुजारी से काम चल जाता था किन्तु बड़े मंदिरों में कई पुजारियों के रहने की व्यवस्था थी। पुजारियों के लिए कठोर अनुशासन का पालन आवश्यक था। एक लेख में इससे सम्बंधित आदेश पुरोहितों को दिए गये

हैं। पुजारी सदैव पवित्र रहते थे। अपवित्र होने अथवा किसी स्त्री के साथ सम्पर्क स्थापित करने के बाद जब तक वे पवित्रीकरण संस्कार नहीं कर लेते थे तब तक देवता की सेवा के योग्य नहीं माने जाते थे। मंदिर के प्रत्येक कर्मचारी को रात्रि में मंदिर में वापस आ जाना पड़ता था। यदि एक रात्रि भी वह पत्नी के साथ व्यतीत कर देता था तो उसे मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। देवता की मूर्ति एक ऊँचे आसन पर स्थापित कर दी जाती थी। प्रत्येक देवता के आयुध एवं प्रतीक निश्चित थे। छोटे मंदिरों में उनके प्रतीकों से भी काम चल जाता था। उदाहरणार्थ, तेशुब के स्थान पर बृषभ की मूर्ति पर्याप्त मान ली जाती थी। हित्ती देवता मानवीय गुणों एवं आवश्यकताओं से ऊपर नहीं थे। मनुष्यों की भाँति उन्हें भी भोजन, पेय, वस्त्रादि की आवश्यकता पड़ती थी। अतः भेंट के रूप में इसे वे उन्हें अर्पित करते थे। भोज्य पदार्थों में अन्न, फल-फूल, तथा पशु-मांस समर्पित किये जाते थे। पशु-बलि में बृषभ, मेष एवं अजा का स्थान विशेष था। कभी-कभी श्वान तथा सूकर भी चढ़ाये जाते थे। नरबलि का भी प्रचलन था किन्तु इसे लोकधर्म में ही विशेष प्रतिष्ठा मिली थी। राजधर्म में इसे अपनाया गया था अथवा नहीं प्रमाणों के अभाव में निश्चित कुछ कहना कठिन है। प्रति वर्ष वे कई प्रकार के धार्मिक उत्सवों एवं समारोहों का आयोजन करते थे। ऐसे अवसर पर धार्मिक आख्यान का पाठ किया जाता था। धार्मिक आख्यानों के साथ-साथ उक्त धार्मिक उत्सवों में नृत्य एवं गायन का आयोजन भी किया जाता था। कभी-कभी युद्ध का आयोजन भी होता था। देवताओं की रथ-यात्राएँ सम्पन्न की जाती थीं। रथों के आगे प्रकाश स्तंभ लिए हुई देवदासियों तथा अन्य स्त्रियों के दल शोभायमान रहते थे। ऐसे अवसरों पर शासक स्वयं उपस्थित होता था।

हित्ती देवताओं का उनसे वही सम्बन्ध था जो एक स्वामी तथा दास के बीच होता है। यद्यपि उपासना का उद्देश्य देवता की कृपा एवं उसकी सहायता प्राप्त करना था लेकिन यह आवश्यक नहीं था कि वह उपासना करने के बाद सहायता करे ही। उनकी दृष्टि में अभीष्ट की सिद्धि न मिलने के तीन कारण थे: देव-सेवा में किसी प्रकार की त्रुटि, प्रार्थना का देवता के समीप तक किसी कारण से न पहुँच सकना तथा स्वतः देवता की ओर से किसी प्रकार की असावधानी। हित्ती मानते थे कि उन्हें जो दण्ड मिल रहा है उससे मुक्ति तब तक नहीं मिल पायेगी जब तक वे देवता को सन्तुष्ट नहीं कर देंगे। वे देवताओं की इच्छाओं को जानने का प्रयास भी करते थे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि देवता स्वप्न में अथवा किसी उन्मत व्यक्ति की वाणी द्वारा अपनी इच्छा व्यक्त करते हैं। मेध्य-पशु के यकृत तथा पक्षियों की गतिविधियों से भी वे इसका अनुमान लगाते थे। बोगज कोई से बैबिलोनियन मृण्मयी यकृताकृतियों के समान एक मेष यकृत की आकृति मिली है। वृद्ध महिलाएँ तो देवता की इच्छा बताने में दक्ष मानी जाती थीं।

हित्ती धर्म अभिचारपरक था। यहाँ काले एवं सफेद जादू प्रचलित थे। काले जादू का सम्बन्ध आसुरी शक्तियों से था। इसका प्रयोग दण्डनीय था। सफेद जादू का उपयोग शुभकारी था तथा रोगमुक्ति, भूत-प्रेत तथा दुर्भाग्य दूर करने, उर्वरता बढ़ाने, सेना में महामारी दूर करने, शत्रुओं को शाप देने, मित्र के भाग्योदय तथा देवता की कृपा प्राप्त करने के लिए किया जाता था। जिस व्यक्ति पर इसका प्रभाव डालना होता था उसके केश, वस्त्र या इसी प्रकार की कोई दूसरी सामग्री लेकर अनुष्ठान किया जाता था।

पारलौकिक मान्यता

हित्तियों की परलोक सम्बन्धी धारणा स्पष्ट ज्ञात नहीं हैं। यद्यपि कुछ मुद्राओं पर ऐसे चित्र मिले हैं। जिससे पता लगता है कि न्याय के लिये परलोक में किसी न्यायाधीश के संमुख मृतात्माएँ उपस्थित होती थीं किन्तु इस न्याय की प्रक्रिया एवं स्वरूप के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। इनके मृतक संस्कार के विषय हमें थोड़ी जानकारी है। प्राचीन राज्य युग में यहाँ मृतकों को दफनाते थे किन्तु साम्राज्य युग में दाह-संस्कार की विधि प्रचलित हो गई थी। दाह-संस्कार में मृतकों को एक चिता पर रखकर जलाते थे। जल जाने के बाद चिता को पेय पदार्थों से ठंडा करते थे तथा अस्थि-संग्रह कर उसे तेल में रखते थे। इसके बाद उसे एक वस्त्र में लपेट कर किसी पाषाण-कक्ष में स्थापित कर देते थे। यहाँ शासकों एवं साम्राज्ञियों के अंतिम संस्कार में तेरह दिन लगते थे। हमारी परम्परा में भी ऐसा ही है।

कला

वास्तुकला

हित्तियों ने सर्वाधिक सफलता कला के क्षेत्र में प्राप्त की। इस क्षेत्र में तो उन्होंने कीर्तिमान स्थापित कर दिया। यद्यपि इसकी शुरुआत प्राचीन राज्य युग से ही हो गई थी किन्तु इसका वास्तविक विकास साम्राज्य युग में हुआ। हित्ती वास्तुकला का परिपाक हमें हत्तुसस नगर में मिलता है। यह नगर तत्कालीन एशिया का सबसे बड़ा, सुरक्षित तथा आकर्षक नगर था।[1] थार्नडाइक के अनुसार यह एशिया माइनर का ही नहीं अपितु विश्व का सबसे बड़ा नगर था।[2] समुद्र से इस पठार की ऊँचाई लगभग 915 मीटर थी जिस पर यह नगर स्थित था। यह 2,200 मीटर लम्बा तथा 1,100 मीटर चौड़ा था। यह नगर दोहरी प्राचीर से सुरक्षित था। मुख्य प्राचीर का

---

[1] J. H. Breasted, Ancient Times, p. 252

[2] Lynn Thorndike, A Short History of Civilization, p. 85

निर्माण दोनों ओर से पत्थर से किया गया था जिसके बीच-बीच में पत्थर के टुकड़े भरे थे। इस प्राचीर से छः मीटर दूर दूसरी प्राचीर थी। दोनों पर लगभग 30.5 मीटर की दूरी पर तोरण बनाए गये थे। मुख्य प्राचीर में तीन द्वार बनाए गये थे। शत्रु पर हमला करने के लिए गुप्तद्वार की व्यवस्था थी। हत्तुसस के अतिरिक्त यूयुक (Euyuka), आइकोनियन (Iconian), लयाना (Layana) तथा कोमना (Comana) अन्य प्रमुख नगर थे किन्तु इनका विस्तार छोटा था। अनातोलिया के बाहर कार्शेमिश, हमथ, कादेश तथा एलेप्पो नगर स्थित थे। विस्तार की दृष्टि से ये भी छोटे थे। नगर-निर्माण के पश्चात् हित्ती वास्तुकला के अन्तर्गत इनके राजप्रासादों एवं मंदिरों का उल्लेख किया जा सकता है। हित्ती स्थापतियों ने राजप्रासादों को दो स्तंभों पर आश्रित द्वार-प्रकोष्ठ द्वारा समलंकृत किया। इसके दोनों बगल समचौकोर मीनारें बनायी जाती थीं। स्तंभ को दो पशुमूर्तियों पर टिकाते थे। राजप्रासाद की शोभा-वृद्धि के लिए मुख्य द्वार पर बलिष्ठ द्वारपालों तथा द्वार-रक्षक सिंह की मूर्तियाँ बनायी गयी थीं। हत्तुसस नगर से हित्ती मंदिरों के अवशेष मिले हैं। इनमें एक केन्द्रीय प्रांगण बनाया जाता था जिसके चारों ओर छोटे-छोटे कमरे बनाए जाते थे। प्रांगण का विस्तार 200 वर्ग मीटर से 500 वर्ग मीटर तक होता था। गर्भगृह का प्रांगण में एक कोने पर होना तथा वातायन की उपस्थिति हित्ती मंदिरों की विशेषता थी।

उद्भृत कला

वास्तुकला से कहीं अधिक हित्ती कलाकार उद्भृत कला में सफल माने जा सकते हैं। इसके उदाहरण हमें इनके राजप्रासादों एवं मंदिरों के अलंकरण के प्रयास में मिलते हैं जिसकी परिणति यजिलिकय की विशाल दीर्घा में दिखाई पड़ती है। इस दीर्घा में उत्कीर्ण चित्रों में देवी-देवताओं को दो पंक्तियों में गत्यात्मक मुद्रा में दर्शाया गया है। देवियों की पंक्ति का नेतृत्व सिंहवाहिनी देवी कर रही है। इसके हाथ में धर्मचिह्न दिखाये गये हैं जिसकी पहचान कठिन है। देवी का नाम हेपत बताया गया है। देवी के पीछे एक परशुधारी सिंहारूढ़ देवता दिखाया गया है। इसके पीछे द्विमुखी चील पर खड़ी हुई दो देवियाँ उत्कीर्ण हैं। हेपत के दाएँ किरीटधारी पशु हैं तथा सामने एक प्रमुख देवता खड़ा है। इसके बांयी ओर भी वैसे ही पशु खड़े हैं जैसे हेपत के दायीं ओर। प्रमुख देवता का एक हाथ गदा तथा दूसरा धर्मचिह्न से अलंकृत है। वह दाढ़ी धारण किये है। इसका अनुसरण एक दाढ़ीरहित देवता कर रहा है जो दो शिलाओं पर खड़ा है। उसके पीछे एक अन्य देवता है जिसके हाथ में गेहूँ की बाली है। इस दृश्य के अतिरिक्त इस दीर्घा में अन्य बहुत से देवी-देवताओं को पंक्ति में गत्यात्मक मुद्रा में दिखाया गया है। लेकिन उनमें परस्पर इतनी अधिक समता है कि एक दूसरे को पहचानना कठिन हो जाता है।

यजिलिकय दीर्घा के इस अभिसारी शोभायात्रा के माध्यम से हित्ती कलाकार क्या कहना चाहते थे अद्यतन निश्चित नहीं हो सका है। इस सम्बन्ध में विशेषज्ञों का मत भिन्न-भिन्न है। टेक्सियर (C. Texier) के अनुसार, जिन्होंने सर्वप्रथम इस दीर्घा को खोज निकाला था, इस दृश्य में अमेजन्स (Amazons) अर्थात् वीरांगनाओं एवं पैफ्लागोनियन्स (Paphlagonians) का, जिसका उल्लेख यूनानी आख्यानों में मिलता है, मिलन दिखाया गया है। हैमिल्टन (Hamilton) इस दृश्य में मीडों तथा लीडियनों का मिलन प्रस्तावित करते हैं तो कीपर्ट (Kiepert) सीथियन एवं किम्मरियन जातियों का। गार्स्टांग (Garstang) के अनुसार इस दृश्य में या तो किसी पवित्र विवाह का प्रदर्शन है या फिर हित्ती ऋतुदेव का किज्जुवत्ना की देवी हेबत से मिलन जिसमें दोनों अपने-अपने अनुचरों के साथ दिखाए गये है। इसका उत्कीर्णन हत्तुसिलिस तृतीय एवं पुदुहेपा के विवाह के समय किया गया था। गुर्नी के अनुसार इस दृश्य में एक स्थल पर सहस्रों हित्ती देवी-देवताओं को दिखाने का प्रयास किया गया है।[1] यजिलिकय दीर्घा के उच्चित्रों के अतिरिक्त इनकी स्थापत्य कला के कुछ अन्य उदाहरण भी अत्यन्त आकर्षक हैं। इस दृष्टि से सर्वोत्तम कृति के रूप में बोगज कोई के एक द्वार के पार्श्व में बनी एक योद्धा की मूर्ति का उल्लेख किया जा सकता है। यह 'द्वार रक्षक' के नाम से प्रसिद्ध है। इस स्थापत्य में धड़ तो पूर्णतया दिखाया गया है किन्तु मुख एवं पैर पार्श्व से प्रदर्शित हैं। इस मूर्ति में स्तनों का उभार इतना अधिक है कि इसे स्त्री-योद्धा माना जा सकता है यद्यपि वास्तविकता यह नहीं है। पूर्णशिल्प में हित्ती कलाकार अधिक सफलता न अर्जित कर सके। इस दृष्टि से बोगज कोई तथा अलज हुयुक (Alaza Huyuk) से प्राप्त नारसिंही मूर्तियों (Sphinxs) का उल्लेख किया जा सकता है। यहाँ से कुछ धातु-मूर्तियाँ भी मिली हैं।

मुद्राएँ

हित्ती मुद्राओं पर वे ही आकृतियाँ मिलती हैं जिन्हें उन्होंने उच्चित्रों में अपनाया था। इनकी मुद्राएँ घनाकार, शंक्वाकार एवं बेलनाकार मिली हैं। मुद्राओं के मध्य भाग में चित्र-लिपि में लेख अथवा देवता या उसके प्रतीक को उत्कीर्ण कर दिया जाता था। कभी-कभी अधिकारी शासक के चित्र भी बना दिये जाते थे। शासकीय मुद्राओं पर सपक्ष सूर्यचक्र उत्कीर्ण किया जाता था। संभवतः इसे उन्होंने मिस्र से सीखा था। समयान्तर से ईरान के हखामनीशिय शासकों ने थोड़ा परिवर्तन करके इसे स्वीकार कर लिया।

---

[1] O. R. Gurney, The Hittites, p. 199

बौद्धिक उपलब्धियाँ

लिपि एवं भाषा

हित्तियों की बौद्धिक उपलब्धियों के अन्तर्गत सर्वप्रथम इनकी लिपि कला का उल्लेख आवश्यक है। इनकी लिपि हमें दो रूपों में मिलती है। प्रथम बैबिलोनियन कीलाक्षर-लिपि है तथा द्वितीय इनकी अपनी चित्र-लिपि। बैबिलोनियन कीलाक्षर-लिपि के प्रमाण बोगज कोई से प्राप्त लेखों में मिलते हैं। यद्यपि यह लिपि इनके लिए सुविधाजनक नहीं थी तथापि हित्तियों ने इसे क्यों अपनाया यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि कीलाक्षर-लिपि तत्कालीन पश्चिम एशिया में अत्यन्त लोकप्रियता प्राप्त कर चुकी थी अतएव हित्तियों द्वारा इसे अपनाया जाना सहज एवं स्वाभाविक था। हित्ती चित्र-लिपि के आविष्कर्ता वे स्वयं थे। संभव है इस पर मिस्र की चित्राक्षर-लिपि का भी कुछ प्रभाव पड़ा हो किन्तु दोनों में क्या सम्बन्ध था अभी ज्ञात नहीं हो सका है। चित्राक्षर प्रतीकों में अधिकता शरीर के विभिन्न अंगों, पशु-मुखों तथा साज-सज्जा के उपकरणों की है। इस लिपि का पाठ अभी तक नहीं प्रस्तुत किया जा सका है।

हित्ती कीलाक्षर लेखों में कम से कम आठ भाषाओं के प्रयोग के संकेत मिलते हैं। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि यहाँ आठों भाषाओं का आम प्रचलन था ही। वास्तव में यहाँ बहु प्रचलित भाषाएँ दो ही थीं— हित्ती एवं अक्कादी। इन भाषाओं के अतिरिक्त सुमेरियन, हुर्रियन (Hurrian), लूबियन (Lubian), पलाई (Palaic) तथा नेसाइट (Nesite) भाषाएँ प्रचलित थीं। इनमें लूबियन तथा पलाई का प्रयोग केवल यत्र-तत्र ही मिलता है। मितन्नियों की हुर्रियन भाषा का प्रचलन अपेक्षाकृत अधिक था।

साहित्य

साहित्यिक कृतियों के अन्तर्गत सर्वप्रथम शासकीय लेखों का उल्लेख किया जा सकता है। इनका राजनीतिक एवं ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से महत्त्व है। ये लेख एक प्रकार से शासकों के भाषण हैं जिनमें व्याख्यान के समय विगत की घटनाएँ भी संकेतित हैं। सामन्तों के पास पत्र-प्रेषण के समय भी विगत की घटनाओं का उल्लेख कर दिया जाता था। इसी प्रकार देवता को बलि देते समय भी अतीत की घटनाओं का वर्णन किया जाता था। शासकीय लेखों के पश्चात् साहित्य के अन्तर्गत इनके आख्यान साहित्य का उल्लेख किया जा सकता है। इसमें विदेशी आख्यानों को भी उचित स्थान मिला है। इस दृष्टि से गिल्गैमिश, सृष्टि एवं जल-प्रलय आख्यान विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन्हें प्राचीन बैबिलोनिया से ग्रहण किया गया था। हित्ती धार्मिक आख्यानों में 'नागदेव का वध' एवं 'लुप्तदेव' नामक आख्यान विशेष प्रसिद्ध हैं। 'नागदेव का वध' नामक आख्यान में एक देवता एवं

नाग के मध्य संघर्ष का वर्णन किया गया है। प्रारंभ में दोनों में संघर्ष छिड़ जाता है। देवता विजय पाने के लिए मनुष्य की सहायता लेता है। उसे एक ऐसा आदमी मिल जाता है जो एक दावत में नाग को सभी परिवार के सहित आमंत्रित करता है। नाग सपरिवार दावत में सम्मिलित होता है तथा सभी खूब भोजन करते हैं। भोजन की अधिकता से वे इतने मोटे हो जाते हैं कि बिल में घुस नहीं पाते। देवता अवसर पाकर उन सबकी हत्या कर देता है। 'लुप्तदेव' की कथा में ऋतुदेव के लुप्त हो जाने से पृथ्वी पर जीवन-शक्ति की कमी हो जाती है तथा अकाल पड़ने से देवता एवं मनुष्य सभी क्षुधा से मरने लगते हैं। दूसरे देवता एक मधुमक्खी की सहायता से उसका पता लगाते हैं तथा उसके क्रोध को शान्त करते हैं। इसके बाद अकाल दूर हो जाता है तथा समृद्धि फैल जाती है। उपर्युक्त शासकीय लेखों एवं आख्यानों के अतिरिक्त बौद्धिक क्षेत्र में अन्य किसी सफलता के विषय में जानकारी नहीं है। काव्य, दर्शन तथा विज्ञान की ओर से हित्ती पूर्णतया उदास. दिखायी पड़ते हैं।

महत्त्व एवं देन

हित्ती सभ्यता की ऐतिहासिक महत्ता दज़ला-फ़रात घाटी एवं तथाकथित निकट पूर्व के सूदूर पश्चिम की सभ्यताओं के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने की दृष्टि से है। इसी सम्बन्ध स्थापना के फलस्वरूप बहुत से मेसोपोटामियाई सांस्कृतिक तत्त्व कैनानाइट्स, हिक्सॉस तथा ईजियन प्रदेश के निवासियों तक पहुँचे। हित्तियों ने पूर्व से आने वाले बर्बरों को खाड़ी पर रोक दिया तथा सीरिया एवं मेसोपोटामिया की सभ्यताओं को फलने-फूलने का अवसर दिया। अपनी सैनिक कुशलता के बल पर उन्होंने मिस्र के साम्राज्य-प्रसार पर रोक लगायी तथा थुत्मोस तृतीय के साम्राज्य को बहुत कुछ क्षत-विक्षत कर दिया। इससे भी अधिक हित्तियों का योगदान विश्व इतिहास में लोहे के प्रचलन की दृष्टि से है। इसका यह आशय नहीं हैं कि प्राचीन विश्व के निवासी हित्तियों के पूर्व लोहे से परिचित ही नहीं थे। मिस्र तथा बैबिलोनिया से 2000 ई० पू० के पहले के लोहे के प्रमाण मिले हैं किन्तु हित्तियों ने ही सर्वप्रथम पिघला कर अपनी इच्छानुसार इसे आकार दिया। रथों में सर्वप्रथम अश्व का प्रयोग एशिया माइनर में हित्तियों ने ही किया। इनकी वास्तुकला का प्रभाव असीरियनों पर पड़ा जिन्होंने इनकी शैली पर अपने राजप्रासादों, द्वारमण्डपों, तोरणों एवं प्राचीरों का निर्माण किया। लेकिन इसका यह आशय नहीं है कि हित्ती सभ्यता केवल प्रभावक ही थी और इस पर किसी दूसरी समकालीन सभ्यता का प्रभाव नहीं पड़ा था। जहाँ हित्ती सांस्कृतिक तत्त्वों का प्रभाव अन्य सभ्यताओं पर पड़ा वहीं पर हित्ती भी स्वयं इनके प्रभाव से अछूते न रह सके। इनकी कला मिस्र से प्रभावित थी। सपक्ष सूर्यचक्र तथा नारसिंही मूर्तियाँ इसके उदाहरण हैं। इनकी चित्र-लिपि मिस्री चित्र-लिपि से प्रभावित

थी । व्यापार-प्रणाली, शकुन-विचार, पशु-बलि, गिल्गैमिश एवं 'लुप्तदेव' आख्यान इत्यादि पर मेसोपोटामियाई प्रभाव पड़ा था । बैबिलोनियन कीलाक्षर-लिपि को इन्होंने ज्यों का त्यों अपना लिया था । यदि ये लेख न मिले होते तो हमारा ज्ञान इस सभ्यता के विषय में अत्यल्प रहता । इनके धर्म पर हुर्रियन एवं भारतीय धर्म का प्रभाव दिखाई पड़ता है ।

10

ईजियन सभ्यता

•

क्लासिकल यूनानियों (Classical Greeks) के आक्रमण के पूर्व यूरोप में ऐतिहासिक सभ्यता का आविर्भाव विस्तृत ईजियन-प्रदेश तथा पार्श्ववर्ती देशों में हुआ। ईजियन प्रदेश भौगोलिक दृष्टि से—(i) यूनान (Greec), (ii) क्रीट (Crete), (iii) साइक्लेडीज (Cycladese) तथा (iv) एशिया माइनर के पश्चिमी तट—चार भागों में बाँटा जा सकता है। यूनान बाल्कन (Balkan) प्रायद्वीप का दक्षिणी-पूर्वी भाग है। यह ईजियन, एड्रियाटिक (Adriatic) एवं आयोनियन (Ionian) समुद्रों के बीच स्थित है। ईजियन समुद्र इसे पूर्व में एशिया माइनर से तो एड्रियाटिक तथा आयोनियन समुद्र पश्चिम में इटली (Italy) तथा सिसिली (Sicily) से पृथक् करते हैं। कोरिंथ (Corinth) तथा सारोनिक (Saronic) खाड़ियों द्वारा यूनान दो भागों में बँटा है। यहाँ की भूमि उर्वर है किन्तु ये उर्वर मैदान यत्र-तत्र फैले हैं तथा पर्वतों से घिरे हैं। क्रीट द्वीप ईजियन सागर तथा भू-मध्य सागर को एक दूसरे से पृथक् करता है। क्रीट की स्थिति एक प्रकार से एशिया, अफ्रीका एव यूरोप महाद्वीपों के मिलन-बिन्दु पर है। डेलोस (Delos) द्वीप के चारों ओर स्थित द्वीप-समूह साइक्लेडीज़ के नाम से जाने जाते हैं। इनमें पेरॉस (Peros), नक्सॉस (Naxos), मेलॉस (Melos), एण्ड्रॉस (Andros), सिफ्नॉस (Siphnos; इत्यादि विशेष प्रसिद्ध हैं। ये सभी एट्टिका (Attica) के पूर्व एवं क्रीट के उत्तर स्थित हैं। एशिया माइनर का पश्चिमी तटवर्ती भाग यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से एशिया महाद्वीप में स्थित है किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से प्राचीन काल में ईजियन एवं यूनानी सभ्यता के अन्तर्गत था। यह भाग अत्यन्त कटा-पिटा तथा अनेक द्वीपों से सुरक्षित है। इनमें इम्ब्रॉस (Imbros), लेमनॉस (Lemnos), कियोस (Chios), सेमॉस (Samos) इत्यादि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ईजियन सभ्यता के विकास काल

में यूनान में माइसीनी (Mycene), क्रीट में क्नोसॉस (Knossos) तथा एशिया माइनर के पश्चिमी तट में ट्रॉय (Troy) नामक नगरों ने विशेष ख्याति अर्जित की। ईजियन प्रदेश में 2500 ई० पू० या उससे पहले से 1100 ई० पू० तक विकसित सभ्यता ही ईजियन सभ्यता के नाम से प्रसिद्ध है। इसका सर्वप्रथम आविर्भाव क्रीट में क्नोसॉस में हुआ था इसी लिए इसे क्रीटन सभ्यता भी कहा जाता है। क्रीट के पौराणिक शासक माइनॉस (Minos) के आधार पर इसे माइनोअन (Minoan) सभ्यता भी नाम दिया गया है। माइसीनी नगर में विकसित सभ्यता माइसीनी (Mycenian) सभ्यता के नाम से विख्यात है। इसी लिए सामूहिक रूप से ईजियन सभ्यता को माइनोअन-माइसीनियन (Minoan-Mycenian) सभ्यता के नाम से भी जाना जाता है।

ईजियन प्रदेश के निवासियों को अपनी भौगोलिक स्थिति का विशेष लाभ मिला। मिस्र तथा मेसोपोटामियन सभ्यताओं के समीप स्थित होने के कारण इन सभ्यताओं के निकट सम्पर्क में आने का उन्हें पूर्ण अवसर मिला। तटीय भाग के कटे-फटे होने के कारण यहाँ प्रचुर संख्या में बन्दरगाह विकसित हुए। यहाँ सागर के प्रत्येक हिस्से में कोई न कोई द्वीप स्थित था जो मार्ग में प्रकाश-स्तम्भ का कार्य कर रहा था। समुद्र एवं स्थल की निकटता के कारण यहाँ निर्विघ्न यात्राएँ हो जाती थीं। नौका-चालन में वायु-प्रवाहों का विशेष महत्त्व था। इनके प्रतिकूल दिशागामी होने पर इन्हें सुरक्षा सम्बन्धी कठोर कदम उठाने पड़ते थे इसी लिए वे नौचालन विद्या में अत्यन्त निपुण हो गए। ईजियन सागर एक प्रकार से यहाँ के निवासियों के लिए बाल-विहार (Kinder-garten) था। भूमि की अनुर्वरता के कारण ईजियन प्रदेश के निवासियों का जीवन सागर पर अधिक आश्रित हो गया। इनके लिए डाँड़ का वही महत्त्व था जो कृषक के लिए हल तथा चरवाहे के लिए लाठी का।

ऐतिहासिक स्रोत

1870 ई० के पहले किसी ने कल्पना भी नहीं की थी कि यूनानी सभ्यता के आविर्भाव के पूर्व विस्तृत ईजियन प्रदेश में किसी समय एक समुन्नत एवं सुसंस्कृत सभ्यता का विकास हुआ था। यद्यपि यूनानी कवि होमर (Homer) के महाकाव्यों—इलियड (Iliad) तथा ओडिसी (Odyssey)—में ट्रॉय के राजकुमार द्वारा हेलेन (Helen) नामक सुन्दरी के अपहरण, यूनानियों द्वारा ट्रॉय के निवासियों को दण्डित करने एवं उनके नगरों को नष्ट कर देने जैसी घटनाएँ मिलती थीं लेकिन अन्य विश्वसनीय साक्ष्यों के अभाव में इन घटनाओं को कविकल्पनाजनित अतियुक्ति ही माना जाता था और आम धारणा यही थी कि यूनान के इतिहास का आरम्भ 1200 ई० पू० के आस-पास लोहे का प्रयोग करने वाली भारोपीय वर्ग की किसी शाखा के पदार्पण के साथ-साथ हुआ। किन्तु 1870 ई० के बाद हुए पुरातात्त्विक अनुसंधानों के फलस्वरूप इस मान्यता में परिवर्तन करना पड़ा। पुरा-

तात्त्विक दृष्टि से ईजियन सभ्यता के तत्त्व सर्वप्रथम हेनरिक श्लीमान (Heinrrich Schliemann, 1822-1890 A. D.) महोदय द्वारा प्रकाशित किए गए। श्लीमान का जन्म जर्मनी में 1822 ई० में हुआ था। उनके पिता को अतीत से बड़ा लगाव था। वे बराबर श्लीमान को ट्रॉय के घेरे की कथा सुनाया करते थे। अतः बचपन से ही श्लीमान का ध्यान प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्त्व की ओर आकृष्ट हो गया था। आठ वर्ष की अवस्था में उन्होंने विलुप्त ट्रॉय का पता लगाने की घोषणा कर दी थी। दस वर्ष की अवस्था में उन्होंने अपने पिता के सामने 'ट्रोजन वार' (Trojan War) पर एक लैटिन भाषा में निबंध लिख कर प्रस्तुत किया। 1836 ई० में विद्यालय की पढ़ाई समाप्त कर व्यापार में लग गये तथा शीघ्र ही एक समृद्ध व्यापारी बन गए। किन्तु पुरातत्त्व के प्रति उनका बपचन का आकर्षण धीरे-धीरे उनके मन पर प्रभाव जमाता गया। अन्त में छत्तीस वर्ष की अवस्था में अपने पेशे को छोड़कर वे पुरातत्त्व की ओर उन्मुख हुए। एक व्यापारी होने के कारण श्लीमान को विभिन्न देशों की भाषाओं एवं लिपियों का अच्छा ज्ञान हो गया था। इस सम्बन्ध में अंग्रेजी, फ्रांसीसी, डच, पुर्तगाली, इटैलियन, रूसी, स्पेनीज, स्वीडिस, पोलिस एवं अरबी भाषाओं एवं लिपियों का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। यूनानी भाषा एवं लिपि पर तो उनका विशेष अधिकार था। 1870 ई० में श्लीमान महोदय ट्रॉड गये तथा कठिन प्रयत्नों के बाद टर्की सरकार से ट्रॉय के उत्खनन की अनुमति प्राप्त कर ली। 1871 ई० में ट्रॉय का उत्खनन प्रारम्भ किया गया। एक वर्ष बाद उन्हें स्वर्ण एवं रजत आभूषणों का एक भंडार मिला जिसे अपने मित्रों को संदेश भेजते समय श्लीमान ने 'प्रियाम कोष' (Treasury of Priyam) कह कर सम्बोधित किया। इसके बाद उन्हें एक के बाद एक सफलता मिलती गई। 1876 ई० में उन्होंने एगमेम्नोन (Agamemnon) की ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिए माइसीनी में उत्खनन आरम्भ किया जिसमें उन्हें आशातीत सफलता मिली। 1884 ई० में टिरिंस की खुदाई की गई जहाँ से उन राजप्रासादों एवं प्राचीरों का पता लगा जिसका वर्णन इलियड[1] में किया गया है। यद्यपि जल्दबाजी में श्लीमान द्वारा कतिपय भ्रामक निष्कर्ष निकाल लिए गये थे जिसे बाद में पुरातत्त्व के विद्वानों ने अस्वीकृत किया तथापि इतिहास में पुरातत्त्व की दिशा में इनका योगदान सराहनीय है। श्लीमान के बाद फ्रांसीसी, अंग्रेज, जर्मन एवं यूनानी पुरातत्त्वविदों द्वारा इनके कार्य को आगे बढ़ाया गया। इस दृष्टि से सर्वाधिक यश आर्थर एवान्स (Arthur Evans) ने अर्जित किया। 1893 ई० में एवान्स को यूनानी महिलाओं द्वारा पहने हुए कुछ श्वेत पत्थर (Milkstone) प्राप्त हुए, जिन पर चित्र-लिपि में कुछ लिखा था, जिसे कोई पढ़ नहीं सकता था। एवान्स

---

1. Iliad, 2, 559

ने इनका सम्बन्ध क्रीट से बताया तथा वहाँ इनकी समानता ढूंढने के लिए वे घूमने लगे। उन्हें 1895 ई० में आंशिक तथा 1900 ई० में पूर्ण सफलता मिली। एवान्स महोदय के प्रयत्नों के फलस्वरूप प्राचीन क्नोसाँस का सही तादात्म्य प्रस्तुत किया गया। इसके बाद फेस्टस (Phaestus), वासिलिकी (Vasiliki), माँकलाँस (Mochlos), गूर्निया (Gournia) इत्यादि स्थलों से इस सभ्यता के बहुत से तत्त्व प्रकाश में आए।

जाति

ईजियन सभ्यता के निर्माता तथाकथित ईजियन कौन थे और कहाँ से आए थे अद्यतन निश्चित नहीं हो सका है। ईजियन संज्ञा तो इन्हें केवल इस प्रदेश में रहने के कारण मिली है। आज की कौन कहे स्वयं यूनानी भी यह नहीं निश्चित कर पाए थे कि ट्रॉय के निवासी यूनानी थे अथवा एशियाई। कुछ विद्वान् इन्हें आर्य अथवा भारोपीय वर्ग से सम्बन्धित करते हैं किन्तु इसे मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। ईजियन सभ्यता के विकास में पाषाण काल तथा काँस्य काल में कोई अन्तराल नहीं दिखाई पड़ता। अतः यदि काँस्यकालीन ईजियन सभ्यता के निर्माता भारोपीय थे तो यह मानना पड़ेगा कि वे नवपाषाण काल से ही यहाँ रह रहे थे। किन्तु इस प्रकार का निष्कर्ष ऐतिहासिक दृष्टि से भ्रामक होगा। इतना ही नहीं अपितु न्थॉस (nthos) तथा सॉस (ssos) शब्दांशों से अन्त होने वाले शब्द भारोपीय नहीं माने जा सकते।[1] अधिकांश विद्वान् इन्हें भू-मध्यसागरीय प्रजाति से सम्बंधित करते हैं। आर्थर एवान्स के अनुसार मेनीज के काल में उत्पन्न अव्यवस्था के कारण मिस्रियों की एक शाखा नील नदी के मुहाने वाले भाग से हटकर क्रीट में आकर बस गई। हाल (H. R. Hall), मेकेंजी (D. A. Mackenzie) इत्यादि ने एवान्स के मत का समर्थन किया है। स्पेंग्लर (Spengler) तो ईजियन सभ्यता को मिस्री सभ्यता का अंग मानते हैं। ब्रेस्टेड के अनुसार प्रारम्भिक ईजियन एशिया माइनर से आये थे किन्तु उनमें अधिकाँशतः भू-मध्यसागरीय समुदाय ही थे। इससे यह प्रतीत होता है कि ईजियनों का सम्बन्ध भू-मध्यसागरीय प्रजातियों के साथ-साथ एशिया माइनर की हित्ती जातियों से भी था।

ईजियन सभ्यता के प्रमुख केन्द्र क्रीट की संस्कृति को—(i) प्राचीन माइनोअन (Early Minoan, 3000-2000 B. C.), (ii) मध्य माइनोअन (Middle Minoan, 2000--1600 B. C.) एवं परवर्ती माइनोअन (Late Minoan, 1600-1150 B. C.); यूनान की संस्कृति को (i) प्राचीन हेलेडिक (Early Helladic, 3000-1900 B. C.), (ii) मध्य हेलेडिक (Middle Helladic,

---

[1] Hermann Kinder and Werner Hilgemann, The Penguin Atlas of World History, Vol. 1, p. 47

1900-1600 B. C.) तथा (iii) परवर्ती हेलेडिक (Late Helladic, 1600-1150 B. C.); साइक्लेडीज की संस्कृति को (i) प्राचीन साइक्लेडिक (Early Cycladic, 3000-2000 B. C.), (ii) मध्य साइक्लेडिक (Middle Cycladic, 2000-1600 B. C.) तथा परवर्ती साइक्लेडिक (Late Cycladic, 1500-1400 B. C.) तथा ट्रॉय की संस्कृति को ट्रॉय प्रथम (Troy I, 3000-2400 B. C.), ट्रॉय द्वितीय (Troy II, 2400-2200 B. C.), ट्रॉय तृतीय से पंचम (Troy, III-V, 2200-1900 B. C.) तथा ट्रॉय षष्ठ एवं सप्तम् (Troy VI-VII, 1900-1500 B. C.) —युगों में विभाजित किया जाता है। अग्रिम पंक्तियों में इन्हीं युगों के विकास पर विचार किया जायगा।

प्राचीन युग

तीन हजार ई० पू० के आस-पास क्रीट, ट्रॉय, मेलॉस तथा साइक्लेडीज सभी स्थानों पर नव पाषाण कालीन सभ्यता के स्थान पर ताम्रकालीन सभ्यता का उदय हुआ। क्रीट के प्राचीन माइनोअन, साइक्लेडीज के प्राचीन साइक्लेडीज, यूनान के प्राचीन हेलेडिक तथा ट्रॉय के प्रथम से पंचम स्तर इसी युग के अन्तर्गत आते हैं। प्राचीन माइनोअन को भी प्रथम (3000-2300 ई० पू०), द्वितीय (2300-2100 ई० पू०) एवं तृतीय (2100-2000 ई० पू०) तीन उपयुगों में विभाजित किया गया है। प्राचीन माइनोअन युग के अन्त तक क्रीट के निवासी कांस्य एवं चित्राक्षर-लिपि का आविष्कार कर चुके थे। यूनान में भी लगभग इसी समय नव पाषाण कालीन सभ्यता का स्थान धातुकालीन सभ्यता ने लिया। ट्रॉय के प्रथम स्तर में ट्रॉय नगर न होकर प्राचीर से सुरक्षित एक दुर्ग मात्र था। द्वितीय स्तर में भी कोई विशेष परिवर्तन न हुआ। तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम स्तरों में ट्रॉय नगर तीन बार बना और बिगड़ा।

मध्य युग

मध्य माइनोअन युग के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय तीन सांस्कृतिक स्तर प्राप्त हुए हैं। प्रथम एवं द्वितीय काल में फेस्टस तथा मल्लिया (Mallia) में अनेक प्रासाद, भाण्डार-गृह; उद्योगशालाएँ, देवालय तथा चाक की सहायता से अनेक प्रकार के भाण्ड बनाए गये एवं जल-निकास की समुचित व्यवस्था की गई। रेखीय लिपि 'अ' (Linear A) का विकास इसी समय में हुआ। किन्तु मध्य माइनोअन युग के द्वितीय स्तर के अन्त तक किसी विपत्ति के आगमन से फेस्टस, क्नोसॉस, तथा गूर्निया के भव्य-भवन अग्नि की ज्वाला में नष्ट हो गये तथा मिट्टी के वर्तनों में मलबा भर गया। ट्रॉय का यह षष्ठ स्तर का काल था। श्लीमान महोदय ने ट्रॉय के इस सांस्कृतिक स्तर को द्वितीय स्तर से जोड़ते हुए नगण्य लीडियन बस्ती मान कर उपेक्षित कर दिया था किन्तु बाद में

यहाँ जो उत्खनन हुए उसके आधार पर डर्पफेल्ड को यहाँ एक ऐसे नगर का पता लगा जो द्वितीय स्तर के नगर से बड़ा था। इसमें परिष्कृत पाषाण खण्डों द्वारा भवन बनाये गये थे तथा इसे चारों ओर से प्राचीर से सुरक्षित किया गया था। अब यह माना जाने लगा है कि होमर द्वारा वर्णित ट्रॉय नगर यही है तथा 'प्रियाम कोष' का तादात्म्य इसी से किया जा सकता है जिसे श्लीमान ने द्वितीय स्तर से सम्बन्धित किया था। मध्य युग में साइक्लेडीज सभ्यता पर क्रीट का प्रभाव था। मध्य हेलेडिक युग में ही यूनान में भारोपीय वर्ग की आयोनियन तथा एकियन शाखाओं का आगमन हुआ। यह आगमन कोई बड़ा सैनिक अभियान नहीं बल्कि एक घुसपैठ थी। एकियनों की शक्ति के केन्द्र माइसीनी, टिरिंस, पाइलॉस, थीब्ज, ईजिना तथा एथेन्स इत्यादि नगर थे। इनकी सभ्यता स्पष्टतः क्रीट से प्रभावित थी।

परवर्ती युग

परवर्ती माइनोअन युग को भी प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय तीन भागों में विभाजित किया गया है जिनमें प्रथम एवं द्वितीय काल का समय 1600 ई० पू० से 1500 ई० पू० तक तथा तृतीय का 1400 से 1150 ई० पू० तक स्वीकार किया गया है। इसी युग में क्नोसॉस, फेस्टस, टाइलिसस (Tylissus), हेगिया ट्रियाडा (Hagia Triada) तथा गूर्निया में शानदार प्रासाद बनाये गये। ये पाँच मंजिले तक थे। पेरिक्लीज युग के पूर्व यूनान में भी इस प्रकार की समृद्धि नहीं दिखाई पड़ती। किन्तु क्रीट के निवासी समृद्धि का उपभोग अधिक दिन तक न कर सके। 1450 ई० पू० में यहाँ के निवासियों को किसी भयंकर विपत्ति का सामना करना पड़ा। जिसकी प्रचण्ड ज्वाला में फेस्टस, हेगिया-ट्रियाडा तथा टाइलिसस का अस्तित्व न बच सका। उनके भव्य भवन उसी प्रकार विनष्ट हो गये जैसे किसी समय मध्य माइनोअन युग में विनष्ट हुए थे। क्नोसॉस पर माइसीनी के एकियनों का अधिकार स्थापित हो गया। 1400 ई० पू० के आस-पास क्नोसॉस भी नष्ट हो गया। क्नोसॉस के विनाश के कुछ दिन बाद ही गूर्निया, जैक्रो (Zakro), पेलिकास्ट्रो (Palaikastro) आदि भी नष्ट हो गए। क्नोसॉस के विनाश के बाद क्रीट की सभ्यता जीवित अवश्य रही किन्तु उसका क्रमशः ह्रास होता गया। बारहवीं शती ई० पू० के अन्त तक इस पर यूनानी डोरियन शाखा का प्रभुत्त्व स्थापित हो गया तथा ईजियन सभ्यता का क्रीट इतिहास से हट गया।

परवर्ती युग में हेलेडिक सभ्यता का अधिक विकास हुआ। इस युग में यूनान के माइसीनी नगर को पूर्ण विकसित होने का अवसर मिला इसी लिए इसे माइसीनी युग भी कहा जाता है। परवर्ती हेलेडिक को भी प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय तीन उपयुगों में विभाजित किया जाता है जिनका समय क्रमशः 1600-1500 ई० पू०, 1500-1400 ई० पू० तथा 1400-1150 ई० पू० तक स्वीकार किया गया है। सोलहवीं शती ई० पू० के अन्त तक माइसीनी पर जिन शासकों का प्रभुत्त्व

स्थापित हुआ था उनके वंश को 'गर्त समाधि वंश' (Shaft Grave Dynasty) नाम दिया गया है। श्लीमान महोदय को इन समाधियों से बहुमूल्य आभूषण, स्वर्ण-पत्र, मुकुट, कांस्य की सुवर्णजटित कृपाणें तथा स्वर्ण वक्षस्त्राण मिले थे। माइसीनी पर इस वंश के राजाओं का प्रभुत्त्व लगभग 1500 ई० पू० तक बना रहा। इनके पश्चात् जिन शासकों ने अधिकार ग्रहण किया उन्हें 'गुम्बदी समाधि वंश (Tholos Tomb Dynasty) से सम्बन्धित किया गया है। गुम्बदी समाधि वंश के शासकों का माइसीनी पर 1500 ई० पू० से 1400 ई० पू० तक प्रभुत्त्व बना रहा। इस युग में माइसीनी सभ्यता क्रीटन सभ्यता से प्रभावित थी। इसी युग में इन्होंने क्रीट की लिपि 'रेखीय अ' को अपना कर उसमें कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करके उसे 'रेखीय ब' (Linear B) के नाम से प्रचलित किया। 1500 ई० पू० में क्रीट में जो भूकम्प आया उसका लाभ इन्हें मिला क्योंकि उसी के बाद इन्होंने क्नोसॉस पर अधिकार कर लिया। इसके बाद से माइसीनी सभ्यता के बहुत से तत्त्व माइनोअन सभ्यता में मिलने लगते हैं। भित्तिचित्रों में प्रयुक्त माइसीनी प्रकार के स्तम्भों तथा माइसीनी परम्परा में निर्मित समाधियों का उल्लेख इस प्रसंग में किया जा सकता है। माइसीनियनों की 'रेखीय लिपि ब' में लिखे गये लेख भी यहाँ से प्राप्त हुए हैं। किन्तु क्नोसॉस पर स्थापित प्रभुत्व स्थायी न सिद्ध हुआ। 1400 ई० पू० के आस-पास क्नोसॉस पर पुनः विपत्ति का अथाह सागर उमड़ पड़ा। संभवतः यह विपत्ति स्थानीय विद्रोह के कारण उत्पन्न हुई थी। किन्तु यह गुम्बदी समाधि वंश के शासकों के लिए विशेष अहितकर न सिद्ध हुई। क्योंकि इसी समय (1350 ई० पू० के आस-पास) एक्रोपोलिस (Acropolis) दुर्ग तथा 7 मीटर मोटी एवं 18.28 मीटर ऊँची प्राचीर का निर्माण कराया गया। इस दुर्ग में दो द्वार थे जिसमें पश्चिमी द्वार सिंहद्वार (Lion Gate) नाम से प्रसिद्ध था। माइसीनी युग के शासकों में एट्रियस (Atreus), थाइस्टीज (Thystes) तथा एगमेम्नोन के विषय में स्फुट संकेत मिलते हैं। अन्तिम के नेतृत्व में ही एकियनों द्वारा ट्रॉय नगर विनष्ट किया गया था। यह घटना 1148 ई० पू० की है। थ्युसिडिडीज के अनुसार इस अधःपतन के 80 वर्ष बाद ही डोरियनों द्वारा दक्षिण यूनान पर अधिकार कर लिया गया। इसका नायक हेराक्लीड (Heracleidae) था। इस आक्रमण में नगर नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गए, शासक मार डाले गये। इससे माइसीनी संस्कृति को पर्याप्त आघात पहुँचा और उनका स्वतन्त्र इतिहास समाप्त हो गया।

राजनीतिक संगठन

ईजियन निवासियों के राजनीतिक संगठन के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है। समकालीन साक्ष्य इस विषय में मौन हैं केवल परवर्ती परम्पराओं से इस विषय में कुछ जानकारी मिलती है। यूनानी आख्यानों में माइनॉस को एक महान् समुद्राधीश की उपाधि दी गई है। थ्युसिडिडीज के अनुसार माइनॉस प्रथम व्यक्ति था जिसने

एक जलबेड़े का संगठन किया था। हेलेनिक (Hellenic) समुद्र के अधिकांश भाग पर उसका नियंत्रण था। उसने साइक्लेडोज पर शासन किया, उसके अधिकांश भाग पर पहली बार उपनिवेश स्थापित किया तथा केरियनों (.Carians) को बहिष्कृत कर अपने पुत्रों को गवर्नर नियुक्त किया। इसके मानने के लिए पर्याप्त आधार हैं कि उसने अपने राजस्व को सुरक्षित करने के लिए जल-दस्युता को समाप्त करने का पूर्ण प्रयास किया।"[1] इलियड में क्रीट के नब्बे नगरों का उल्लेख हुआ है।

माइनॉस क्रीट के शासकों की उपाधि थी। इसे क्रीट के निवासी उसी प्रकार धारण करते थे जिस प्रकार मिस्र के शासक फेराओ तथा रोम के शासक सीजर (Caesar) की उपाधि। राजा की शक्ति, जैसा कि भग्नावशेषों से प्रतिध्वनित होता हैं, शक्ति, धर्म एवं कानून पर आधारित थी। शासक ही राज्य का प्रधान पुजारी, धर्माधीश, प्रधान सेनापति तथा मुख्य न्यायाधीश था। उसके पुरोहित उसे वेल्कनॉस (Velchanos) का वंशज मानते थे। उसे कानून इसी देवता से मिले थे। प्रति नवें वर्ष देवता शासक के सक्षम एवं उदार रहने पर उसे दैवी शक्ति से पुनः अभिषिक्त करता था।

शासक की सहायता के लिए अनेक अधिकारी जैसे मंत्री, दफ्तरशाह तथा लिपिक नियुक्त किये जाते थे। शासक उपज के रूप में जनता से कर प्राप्त करता था। इस दृष्टि से अनाज, तैल तथा मद्य का विशेष महत्त्व था। इसे राजकीय कोषागार में बड़े-बड़े भण्डारों में सुरक्षित किया जाता था। इसी से प्रशासन का खर्च चलता था। एक न्यायाधीश के रूप में उसकी इतनी प्रतिष्ठा थी कि मृत्यु के बाद वह मृतकों की दुनिया के न्यायाधीश का पद प्राप्त करता था।[2] माइनॉस असीरियन अथवा पारसीक शासकों की भाँति न तो युद्ध का संचालन करता था न किसी बड़ी सेना का स्वामी था। उसकी सैनिक शक्ति बहुत कम थी। जलबेड़े का उपयोग बाह्याक्रमणों को रोकने तथा व्यापारिक नियंत्रण के लिए किया जाता था न कि जनता को आतंकित करने के लिए। सैनिक बरछियाँ, धनुष तथा ढाल धारण करते थे।

सामाजिक संगठन

मिस्र तथा मेसोपोटामिया की भाँति ईजियन कठोर वर्गभेद एवं सामाजिक असमानता में न बँध सके। प्रायः प्रत्येक वर्ग के सदस्य सुखी एवं समृद्ध जीवन-यापन कर रहे थे। समाज का कोई भी वर्ग ऐसा नहीं था जिसे पिछड़ा माना जा सके। दासता प्रायः नहीं थी। गूर्निया जैसे औद्योगिक नगरों के गरीबों के भवनों में भी छः से आठ कमरे होते थे। यह उनके सुखी जीवन का प्रमाण है। श्रीमन्तों का जीवन तो और आनन्दपूर्ण था। उनके राजप्रासाद इसके साक्ष्य हैं। इसमें वातायन, प्रकाशकूप एवं

---

1. Thucydides; The Peloponnesian War, p. 15
2. Will Durant, The Story of Civilization; Vol II, p. 11

नाट्यगृहों की व्यवस्था रहती थी। इनकी स्वच्छता का समुचित ध्यान रखा जाता था। श्रीमन्त सादा वस्त्र धारण करते थे। प्रायः जांघिए के ऊपर एक वस्त्र लपेट लेते थे। शरीर का ऊपरी भाग प्रायः खुला रहता था। इनके वस्त्र रंगीन तथा आकर्षक थे। ये भी हित्तियों के सदृश पैर में ऊँचे जूते धारण करते थे। लम्बे केश तथा आभूषण को अलंकरण का साधन तथा क्षीण कटि को सौन्दर्य का प्रतीक मानते थे।

सामाजिक संगठन पारिवारिक संस्था पर आधृत था। कई परिवार मिलकर समूह का निर्माण करते थे। एक परिवार में माता-पिता के अतिरिक्त पुत्र-पुत्री, बंधु-बांधव तथा सेवक रहते थे। इस तरह परिवार में सदस्यों की संख्या अधिक थी। सम्भवतः इसी कारण यहाँ के भवनों में कई कमरे बनाए जाते थे। वासिलिकी में माइनोअन काल के भवनों में दो-तीन मंजिलों के होने के प्रमाण मिले हैं। निचली मंजिल में लगभग बीस कमरे थे। धीरे-धीरे भवनों का आकार-प्रकार छोटा होता गया। इससे यह अनुमान लगाया गया है कि शनैः-शनैः संयुक्त पारिवारिक व्यवस्था का स्थान एकल पारिवारिक व्यवस्था लेती जा रही थी। समाज में स्त्रियों का स्थान महत्त्वपूर्ण था। यहाँ प्रधान दैवी शक्ति देवता के रूप में नहीं बल्कि देवी के रूप में प्रतिष्ठित थी। समाज में स्त्रियों को आदर मिलने का कारण यही था। प्लूटार्क के अनुसार क्रीट के निवासी अपने देश को पितृभूमि न कहकर मातृभूमि कहते थे। खेलों तथा उत्सवों में स्त्रियाँ पुरुषों के समान भाग लेती थीं। भित्ति-चित्रों में इन्हें बिना किसी भेद-भाव के पुरुषों के साथ रथ हाँकते, आखेट करते महिष-युद्ध तथा सार्वजनिक समारोहों में भाग लेते हुए दिखाया गया है। माइनोअन स्त्रियाँ आधुनिक वस्त्रों के समान वस्त्र धारण करती थीं तथा अठारहवीं शती ई० की यूरोपियन स्त्रियों के सदृश केश-विन्यास करती थीं।

आर्थिक संगठन

ईजियन सभ्यता के आर्थिक गठन में राजकीय हस्तक्षेप अधिक था। शासक ही राज्य का सबसे बड़ा पूंजीपति था। नगर की सभी उद्योगशालाएँ तथा कर्मशालाएँ राजप्रासाद से संलग्न रहती थीं। इन्हीं में भाण्ड, वस्त्र तथा धात्विक उपकरणों का उत्पादन होता था। उत्पादन का कुछ अंश शासक के व्यक्तिगत कार्य में लगाया जाता था तथा शेष का व्यापार किया जाता था। यद्यपि यहाँ व्यक्तिगत उद्योगों को पनपने की छूट थी किन्तु शासकीय उद्योगों की अपेक्षा सुविधाओं के अभाव में वे अधिक प्रगति नहीं कर सकते थे। राजधानी से दूर कुछ व्यक्तिगत उद्योगशालाएँ स्थापित थीं। कृषि तथा व्यापार पर भी व्यक्तिगत नियन्त्रण था। गूर्निया ताम्रोद्योग, थेरेशिया तेलशोधन तथा फेस्टस भाण्ड उद्योग में विशेष ख्याति अर्जित कर लिए थे। यहाँ कर्मशालाओं में पर्याप्त संख्या में श्रमिक कार्यरत थे।

सम्भवतः श्रम-विभाजन भी क्रियाशील था। साम्राज्ञी की निगरानी में वस्त्रोद्योग में शताधिक महिलाएँ कार्यरत थीं। इनके व्यापारिक सम्बन्ध दूर देशों से थे। राजप्रासादों के अलंकरण से सम्बन्धित सामग्रियों की तलाश में ईजियन व्यापारी समग्र ईजियन प्रदेश, इटली तथा मध्य यूरोप तक चक्कर लगाते थे। ईजियन भाण्डों की मिस्र में उपस्थिति इनके मिस्री सम्बन्ध की पुष्टि करती है।

धर्म

देव-मण्डल

ईजियनवासियों का धर्म एक प्रकार का मिश्रित धर्म था जिसमें सर्वाधिक प्रतिष्ठा मातृदेवी को मिली थी। वही समस्त ब्रह्माण्ड का अधिशासन करती थी। पृथ्वी, समुद्र तथा आकाश सभी उसके अधीन थे। सभी दृश्य वस्तुएँ उसी से प्रकट हुई थीं। मनुष्य, पशु तथा वनस्पतियों में वही प्राण संचारित करती थी। पण्डुक एवं नाग उसके प्रतीक थे। प्रजनन शक्ति की अधिष्ठात्री रूप में इसे प्रायः अनावृत स्तनवाली, एक बालक को धारण किये हुए तथा उसका पालन-पोषण करती हुई और कभी-कभी सिंह-रक्षित एवं पुष्पित वृक्ष के नीचे विराजमान दिखाया गया है। यद्यपि ईजियन देव-मण्डल में प्रथम स्थान मातृदेवी को मिला था किन्तु आगे चलकर उन्होंने इसके पुत्र एवं कुछ समय बाद पति के रूप में ज्यूस (Zeus) नामक एक युवा देवता की कल्पना की। यूनानी इसे वेल्कनॉस कहकर सम्बोधित करते थे। प्रारंभ में तो इस देवता की स्थिति साधारण थी किन्तु बाद में इसकी महत्ता बढ़ गई। इसे उर्वर-वृष्टि का प्रतीक मान लिया गया। मिस्र के ओसाइरिस की भाँति इसने भी मरकर पुनर्जन्म धारण किया। कभी-कभी कृषिदेव के रूप में इसे पवित्र वृष में अवतरित स्वीकार कर लिया जाता था। इसी पवित्र वृष से माइनॉस की पत्नी पैंसिफी (Pasiphae) से नरवृषभ (Minotaur) की उत्पत्ति हुई थी।

मातृदेवी एवं ज्यूस के साथ-साथ यहाँ पशु-पक्षी (वृष, नाग, पण्डुक), वृक्ष, पवित्र चिह्न जैसे द्विपरशु, स्तंभ, क्रास, पर्वत, गुफा, पाषाण, चन्द्र, सूर्य, तीन की संख्या इत्यादि की उपासना प्रचलित थी। इनके धर्म-विज्ञान से शायद ही कुछ बचा हो।[1] प्रत्येक ईजियन निवासी के गृह में एक स्तंभ स्थापित रहता था जिस पर पवित्र चिह्न रख दिये जाते थे।

कर्मकाण्ड

ईजियन धर्म में कर्मकाण्ड को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला था। मातृशक्ति की प्रधानता के कारण कर्मकाण्ड में स्त्रियाँ आगे थीं। शासक भी देवी अनुष्ठान में

---

[1] Will Durant, The Story of Civilization, Vol. II, p. 13

स्त्रियों के समान वस्त्र धारण करते थे। प्रारम्भ में यहाँ न तो मन्दिर थे, न उपासना गृह और न मूर्तियाँ। वे अभीष्ट देवी-देवताओं की उपासना उन्मुक्त आकाश में खुले स्थानों पर, वृक्षों के नीचे तथा पर्वत की चोटियों पर करते थे। बाद में पवित्रता की रक्षा तथा उपहारों के संग्रह के लिए उक्त उपासना-स्थलों को एक कक्ष का रूप दे दिया गया। इस प्रकार उपासना-गृह तथा मन्दिर अस्तित्व में आये। किन्तु इस प्रकार के मन्दिर सामूहिक उपासना के लिए ही थे। व्यक्तिगत उपासना अभी भी घरों में मूर्तियाँ बनाकर, स्तम्भ बनाकर या वेदिका बनाकर की जाती थी। उपासना में पवित्रीकरण संस्कार तथा भेंट का विशिष्ट महत्त्व था। किसी भी प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान के सम्पादन के पूर्व पवित्रीकरण संस्कार आवश्यक था। इसमें जल एवं तेल की सहायता ली जाती थी। देवता को प्रसन्न करने के लिए पेय, फल-फूल, पशु इत्यादि अर्पित किये जाते थे। पशु-बलि में वृष, गाय, मेष तथा अजा का उपयोग किया जाता था। विशिष्ट धार्मिक अवसरों पर मातृदेवी तथा उसके पुत्र के लिए सैकड़ों पशुओं की वलि दी जाती थी। विशिष्ट मौसमी त्योहारों जैसे बसन्त ऋतु, जैतून की फसल तथा शीत ऋतु के समय बड़े-बड़े प्रीतिभोजों, नृत्यों एवं समारोहों का आयोजन किया जाता था। वर्तमान समय में यह कहना कठिन है कि इन धार्मिक अनुष्ठानों से उन्हें किसी प्रकार की पापमुक्ति भी मिलती थी अथवा नहीं।

परलोकवाद

वास्तव में ईजियन धर्म न तो नैतिक था न आध्यात्मिक। पारलौकिक जीवन के विषय में भी उनकी मान्यताएँ अविकसित ही कही जा सकती हैं। मृत्यु के वाद परलोक में वे सुखमय जीवन अवश्य व्यतीत करना चाहते थे लेकिन इसके लिए इस लोक में नैतिक आचरण की आवश्यकता थी ऐसी किसी मान्यता का विकास उन्होंने नहीं किया था। इस सम्बन्ध में वे प्राचीन एवं मध्य राज्य युगीन मिस्रवासियों से वहुत पीछे थे। किन्तु परलोक में मृतकों की सुख-सुविधा के प्रति वे सजग अवश्य प्रतीत होते हैं। मृतकों को यहाँ अत्यन्त सावधानी से खाद्य-पदार्थ, पेय-सामग्री, प्रसाधनोपकरण, दीप, चाकू, दर्पण तथा क्रीड़ा सम्बन्धित विभिन्न उपकरणों के साथ दफनाया जाता था। इनकी मात्रा एवं संख्या का निश्चय मृतकों के स्तर के अनुरूप किया जाता था। मृतकों को दफ़नाते समय उसकी रुचि एवं उसके व्यवसाय का भी विशेष ध्यान रखा जाता था। जैसे शिकारी के साथ भाले, नाविक के साथ नौकाएँ तथा बच्चों के साथ खेल की सामग्रियाँ रखी जाती थीं। समय-समय पर समाधियों पर खाद्य पदार्थों की भेंट चढ़ाने की प्रथा भी थी।

कला

ईजियन सभ्यता के सर्वाधिक ज्ञात एवं सर्वोत्कृष्ट तत्त्व के रूप में इनकी कला का उल्लेख किया जा सकता है। इसी के माध्यम से हम ईजियनों के जीवन

शक्ति एवं स्वातन्त्र्य भावना से परिचित होते हैं। बर्न्स के अनुसार यूनान के अतिरिक्त प्राचीन विश्व में कहीं भी इसकी बराबरी नहीं मिलती।[1] ईजियन कला की कतिपय मूलभूत विशेषताएँ थीं। यह विश्व की कतिपय अन्य कलाओं, जैसे मिस्री एवं असीरियन, की भाँति परम्परा के बंधन में बँध कर घुटन की जिन्दगी नहीं व्यतीत कर रही थी। यह स्वतन्त्र विहार करती हुई सर्वजनीन बनी। इसमें शासकीय कला एवं लोक कला जैसा अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। यहाँ राजाओं की प्रतिमाएँ उतनी ही सजीव बनाई गईं जितनी सर्वसाधारण की। ईजियन कला-कृतियों में आश्चर्यजनक सजीवता एवं स्वाभाविकता है। देखने में ईजियन कलाकृतियाँ पूर्ण नैसर्गिक लगती हैं। इनमें गति, भाव एवं चेतना का अभूतपूर्व समन्वय है। इनके कुछ चित्र तो आशुचित्र के समान प्रतीत होते हैं। एक गड़ेरिये का बालक एक वृषभ के कान एवं सींग पकड़ने का उद्यम करता है किन्तु यह सब कार्य एक क्षण में सम्पन्न हो जाता है। इस एक क्षण में दोनों में जितनी भावनाओं एवं गतियों का संचार हुआ उन सबको कलाकार की तूलिका ने अत्यन्त सावधानी से प्रदर्शित किया है। इसी प्रकार शुष्क शाखाओं के भार से दबे हुए पत्रहीन पादप जिस आतुरता से बसन्त ऋतु की प्रतीक्षा कर रहे हैं उसका प्रदर्शन अत्यन्त सहज एवं स्वाभाविक है। ईजियन कला प्रकृतिवादी है। इसमें प्रकृति के विभिन्न उपादानों को चित्रण का विषय बनाया गया है। पत्र-पुष्प, पादप, लता-कुंज, जल, पशु-पक्षी इत्यादि सभी का इनकी कला में प्रयोग मिलता है। परम्परा के बंधन से मुक्त ईजियन कलाकारों द्वारा सृजित कलाकृतियाँ सभी के लिए सुग्राह्य बनीं। राजप्रासाद से सम्बन्धित उपकरणों से लेकर सर्वसाधरण जनों की सामान्य आवश्यकता की वस्तुओं तक का इसमें अंकन मिलता है। राज-सिंहासन पर विराजमान शासक का इनके लिए उतना ही महत्त्व था जितना समुद्र के किनारे विहार करते हुए अर्द्धनग्न धीवर का। इसी प्रकार शिकार की मुद्रा में बैठी बिल्ली तथा मदोन्मत वृषभ दोनों इनके लिए बराबर थे। ईजियन कलाकारों ने जीवन एवं कला के पारस्परिक सम्बन्ध को समझते हुए सिद्ध कर दिया कि कला ही जीवन है।

ईजियन कला में ग्रहणशीलता थी। अन्य समकालीन कला-शैलियों को ग्रहण करने में ईजियन कलाकारों को तनिक भी संकोच नहीं लगता था। बैबिलोनियन सिलिण्डरों तथा मिस्र के पाषाण-पात्रों की नकल इन्होंने की किन्तु ग्रहणशीलता के प्रवाह में मौलिकता में कोई बाधा न आयी। अन्य देशों से ग्रहण किये गए कला तत्त्व ईजियन कलाकारों के हाथ देशज बन गए। जैसे मिस्र के सपक्ष सिंह को ग्रहण तो किया गया किन्तु अपनी रुचि एवं स्वभाव के अनुरूप उन्हें क्षिप्र गति से उड़ते हुए दिखाया गया जबकि मिस्र में वे ऐसा नहीं दिखाये गये हैं। ईजियन कलाकार लघुता में विश्वास करते थे। यहां पिरामिड, कार्नाक तथा लक्जोर मंदिर एवं

---

[1] E. M. Burns, Western Civilization, Vol. I, p. 129

नारसिंही मूर्तियों के समान विशाल कलाकृतियाँ न बन पायीं। इनके भवनों, मूर्तियों, चित्रों इत्यादि में लघुता की प्रवृति दिखाई पड़ती है। प्यालों एवं तश्तरियों के निर्माण में इन्होंने उतनी ही रुचि ली जितनी राजप्रासादों के निर्माण में।

वास्तुकला

उक्त विशेषताओं से समलंकृत ईजियन कला के अन्तर्गत सर्वप्रथम वास्तुकला की चर्चा की जा सकती है। दुर्भाग्य से यहाँ से मोहन-जोदड़ों एवं हड़प्पा की बराबरी करने वाले नगर नहीं मिले हैं फिर भी क्नोसॉस, माइसीनी, टिरिंस, फेस्टस, ट्रॉय, हेगिया ट्रियाडा इत्यादि स्थलों से इनके नगरों एवं भवनों के जो अवशेष मिले हैं उसके आधार पर इसका परिज्ञान होता है। नगरों की आन्तरिक योजना, जिसमें जल-निकास एवं प्रशस्त मार्गों की समुचित व्यवस्था थी, के आलोक में प्रतीत होता है कि ईजियन नगरों का विकास अत्यन्त स्वच्छ एवं स्वस्थ वातावरण में हुआ था। ईजियन राजप्रासाद अलंकरण अथवा कला के सम्वर्द्धन के लिए नहीं बल्कि उपयोगिता के लिये बनाए गये थे। अधिकांश राजकीय कार्य शासक द्वारा सम्पन्न किये जाते थे अतएव राजप्रासदों का विस्तार आवश्यक था। ईजियन वास्तुकला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण के रूप में क्नोसॉस के राजप्रासाद को प्रस्तुत किया जा सकता है। माइनॉस शासकों का यह भवन क्नोसॉस पहाड़ी के ढाल पर 2.43 हेक्टेयर भूमि में बनाया गया था। दक्षिणी द्वार पर सीढ़ीदार द्वार-मण्डप बना था। यहीं पर फेस्टस से आने वाली सड़क मिलती थी। द्वार-मण्डप में प्रविष्ट होने पर एक विशाल प्रांगण मिलता था जिसका विस्तार लगभग 62 × 16 मीटर था। इस प्रांगण के चतुर्दिक् भण्डार-गृह, उद्योगशालाएँ, विद्यालय, राजकीय कार्यालय, सिंहासन-कक्ष तथा शाही परिवार के आवास के लिए भवन बने थे। राजप्रासाद की योजना में एकरूपता नहीं दिखाई पड़ती। कुछ भाग समुचित ढंग से बनाए गये थे जबकि शेष का निर्माण समय-समय पर आवश्यकतानुसार किया गया था। भूकम्प के कारण इस भवन को पर्याप्त क्षति पहुँची थी। 1600 ई० पू० में इसका जीर्णोद्धार किया गया था। इसी लिए देखने से यह भवन एक गाँव के समान लगता था। इस भवन में स्नानगृह, शौचालय, प्रकाशकूप इत्यादि उचित स्थान पर बनाये गये थे तथा जल-निकास की समुचित व्यवस्था थी। विशेषज्ञों का मत है कि इस प्रकार की जल-निकास की व्यवस्था बाद में उन्नीसवीं शती ई० के मध्य काल तक नहीं मिलती है।[1] राजप्रासाद के एक विशाल कक्ष में द्विपरशु का चित्र बना था। इसी लिए इसे 'हाल ऑव डबल ऐक्स' (Hall of Double Axe) नाम दिया गया था। राजप्रासाद से लगे हुए राजकुमार एवं पदाधिकारियों के भवन थे। इनमें भी उक्त सभी सुविधाएँ विद्यमान थीं। क्नोसॉस के पश्चात् क्रीट

---

1. H. A. Davies, An Outline History of the World, p. 92

का सबसे बड़ा भवन फेस्टस में बना था। हेगिया ट्रियाडा में बना ग्रीष्म-भवन भी महत्त्वपूर्ण था। माइसीनी युग के भवन टिरिंस एवं माइसीनी में बनाए गये थे। टिरिंस में बना राजप्रासाद इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण था कि इसमें स्त्रियों के आवास स्थल को पुरुषों से पृथक् रखा गया था। यह प्रथा बाद में यूनानी लोक वास्तुकला में मिलती है। इस भवन की एक विशेषता यह भी थी कि राजा एवं रानी के कक्ष एक दूसरे के निकट अवश्य स्थित थे किन्तु दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं था क्योंकि दोनों के मार्ग भिन्न-भिन्न थे। राजा एवं रानी के कक्षों की योजना वैसे ही थी जैसे ट्रॉय के पहाड़ी नगर के भवन की। माइसीनी का भवन पहाड़ की सबसे ऊँची चोटी पर स्थित था। इसकी योजना का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सका है। हम केवल इतना जानते हैं कि इसके कमरों की फर्श का निर्माण अच्छी सीमेण्ट द्वारा किया गया था। खुले प्रांगण में सीमेंट के साथ छोटे-छोटे गोल प्रस्तर भी मिले हैं। फर्श एवं दीवालें रंगी तथा चित्रों से सजायी गई थीं। क्रीट एवं फेस्टस और माइसीनी एवं टिरिंस के भवनों की योजना में कतिपय विभिन्नताएँ थीं। उदाहरणार्थ, क्रीट एवं फेस्टस के भवनों को दुर्गीकृत नहीं किया जाता था जब कि टिरिंस एवं माइसीनी के भवन सुदृढ़ प्राचीरों से सुरक्षित थे। क्रीट के सुहावने मौसम में कमरों को गर्म रखने के लिए सुबाह्य अंगार-पात्र ही पर्याप्त थे अतएव धूम-निर्गमन के लिए भवनों में छिद्र की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। इसके विपरीत माइसीनी तथा टिरिंस की जलवायु ऐसी थी कि यहाँ भवनों में स्थायी अग्नि-वेदिका रखना पड़ता था जिसके धूमनिर्गमन के लिए छत में एक रन्ध्र का निर्माण आवश्यक था। यह कक्ष इनके प्रासाद का एक महत्त्वपूर्ण अंग था।

मूर्तिकला

वास्तुकला से कहीं अधिक मूर्तिकला में ईजियन कलाकार सफल माने जा सकते हैं। इनकी यह कला हमें मिट्टी, हाथीदाँत एवं धातुओं की मूर्तियों में मिलती है। ईजियन कलाकारों की लघुता की प्रवृत्ति इनकी मूर्तिकला में ही दिखायी पड़ती है। मूर्तियों को जितना संभव हो सका इन्होंने छोटी बनाया। मिस्र एवं बैबिलोन के कलाकारों की भाँति दंभ प्रदर्शन इन्हें तनिक भी प्रिय नहीं था। इनका वास्तविक उद्देश्य तो प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करना था। यहाँ से प्राप्त सभी मूर्तियाँ चाहे वे देवता की हों अथवा मनुष्य की अपने स्वाभाविक आकार से भी छोटी हैं। प्रमुख मूर्तियों में सर्वोत्कृष्ट परवर्ती माइनोअन युग की एक नाग देवी अथवा उसकी पुजारिन की मूर्ति का उल्लेख कर सकते हैं। हाथीदाँत द्वारा बनी यह अर्द्ध नाग एवं अर्द्ध नारी की मूर्ति है। इसके हाथ नाग से सुशोभित हैं तथा इसने स्वर्ण-पत्र-निर्मित वस्त्र धारण किया है। वस्त्र का आकार-प्रकार आधुनिक स्कर्ट के समान है। वक्षस्थल एक वेष्टन तथा शीश उष्णीश से अलंकृत हैं। यह 16.47 सेंटीमीटर ऊंची है तथा सम्प्रति

बोस्टन संग्रहालय (Bostan Museum) में सुरक्षित है। ब्रेस्टेड के अनुसार इसके माध्यम से कलाकार ने अपने समय की एक आदर्श महिला की झलक प्रस्तुत किया है।[1] क्रीट के कलाकारों के हाथ निर्मित इस छोटी मूर्ति में जो ओजस्विता एवं सौम्यता है उसकी बराबरी यूनानी कलाकारों द्वारा निर्मित मूर्तियाँ भी नहीं कर सकती हैं।

उद्भृत कला

ईजियन उद्भुत कला के उदाहरण भी अत्यन्त आकर्षक एवं मनोहारी हैं। इस दृष्टि से परवर्ती माइनोअन युग से सम्बद्ध 'शस्य संग्राहक पात्र' (Harvester's Vase) का उल्लेख कर सकते हैं। यह कृति हेगिया ट्रियाडा से मिली है तथा इसका केवल ऊपरी भाग अवशिष्ट है। इसमें कृषकों के एक समूह को एक पुजारी के नेतृत्व में सम्भवत: खेत से लौटते हुए चित्रित किया गया है। उनके हाथ औजार से सुशोभित हैं तथा वे आनन्द विभोर गा रहे हैं। पुजारी खल्वाट है तथा हाथ में वाद्ययंत्र ग्रहण किये है। विल ड्यूरैण्ट इसे एक प्रकार का फसलों का उत्सव मानते हैं।[2] इसकी गणना विश्व के सर्वोत्तम कलाकृतियों में की जाती है। हेगिया ट्रियाडा से ही एक अन्य पात्र मिला है जिसे 'मुष्टि योद्धा का पात्र' (Boxer's Vase) कहा गया है। इसमें मुष्टि युद्ध की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण अत्यन्त ओजस्विता के साथ किया गया है। मुष्टिका प्रहार, उससे आत्मरक्षा के प्रयत्न, आघात से धराशायी होने तथा विजयोपरान्त आनन्द मनाने का पृथक्-पृथक् अत्यन्त सहज एवं स्वाभाविक चित्रण मिलता है। एक अन्य पात्र में, जिसे 'राज-पात्र' (King's Vase) नाम दिया गया है, एक शासक को एक योद्धा तथा उसके साथियों का स्वागत करते हुए अथवा विदा देते हुए चित्रित किया गया है। योद्धा शासक के समक्ष सावधान मुद्रा में खड़ा है तथा उसका अनुगमन पंक्तिबद्ध सैनिक कर रहे हैं। वाफियो (Vaphio) से माइसीनी युग के दो स्वर्ण-निर्मित कटोरे मिले हैं जिन पर कलात्मक ढंग से वन्य वृषभ की मूर्तियाँ तक्षित हैं।

चित्रकला

कला के क्षेत्र में ईजियन कलाकार चित्रकला में सर्वाधिक सफल माने जा सकते हैं। इनकी चित्रकला में भित्ति-चित्रों की अधिकता है। इनके अधिकांश चित्र लेप-चित्र शैली (Fresco Style) में बनाये गये थे जिसमें भित्ति पर गीले प्लास्टर पर चूने का लेप लगा कर चित्र बनाया जाता था। ये चित्र यहाँ की राजसमाधियों प्रासादों एवं व्यक्तिगत भवनों की भित्तियों पर मिलते हैं। इनमें प्राकृतिक दृश्यों,

---

1. J. H. Breasted, Ancient Times, p. 295
2. Will Durant, The Story of Civilization, Vol. II, p. 17

मृगया तथा समुद्रीय जीवन का चित्रण मिलता है। चित्रों को अति आकर्षक एवं रमणीय बनाने के लिए वास्तविकता से हटने में भी उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती थी। गुलाब को उसकी प्रकृति के विपरीत हरे रंग में रंगने तथा पौधों को उल्टा दिखाने में वे तनिक भी संकोच का अनुभव नहीं करते थे। परम्परया स्त्रियों को श्वेत अथवा पीत एवं पुरुषों को कृष्ण रंग में रंगते थे। ईजियन चित्रकला के आदर्श उदाहरण रूप में सर्वप्रथम उस चित्र का उल्लेख किया जा सकता है जिसे 'साकी' (Cup-bearer) नाम दिया गया है। यह चित्र सम्प्रति हेराक्लियम संग्रहालय (Heracleum Museum) में सुरक्षित है। इसमें एक स्वस्थ एवं लम्बे युवक को एक चषक धारण किये हुए दिखाया गया है। इसका वर्ण श्याम है। युवक एक हाथ से चषक के नीचे का आधार तथा दूसरे हाथ से ऊपरी भाग पकड़े है। अपने स्वभाव के अनुरूप ईजियन कलाकारों ने युवक की कटि को अत्यन्त क्षीण दिखाया है। इसके मणिबंध, बाहु, कण्ठ तथा कर्ण आभूषण से सुशोभित हैं। बहुमूल्य वेष्टन इसके प्रमाण हैं कि यह चित्र किसी दास का नहीं अपितु अभिजात का है। हेगिया ट्रियाडा से प्राप्त एक मार्जार का चित्र भी अत्यन्त आकर्षक है। मार्जार शनैः-शनैः तीतर की ओर बढ़ रहा है। शिलाओं के मध्य उड़ते हुए नील-पक्षी तथा उड़ती हुई मछली के चित्र भी कम आकर्षक नहीं हैं। समूह प्रदर्शन में तो ईजियन कलाकार और सफल थे। समूह को वे रेखाओं के माध्यम से व्यक्त करते थे। माइसीनी युग के भित्ति-चित्रों में समूह प्रदर्शन का उत्कृष्ट प्रयास दर्शनीय है।

मृद्भाण्ड कला

वास्तु, मूर्ति, उद्भृत एवं चित्रकला के अतिरिक्त ईजियन कलाकारों ने मृद्भाण्ड कला में अच्छी प्रगति की थी। प्राचीन माइनोअन युग में मृद्भाण्ड हाथ की सहायता से बनाए जाते थे इसी लिए कलात्मक दृष्टि से उनका विशेष महत्त्व नहीं है। मध्य माइनोअन युग तक वे चाक का आविष्कार कर चुके थे जिसके फलस्वरूप ईजियन मृद्भाण्ड कला का अत्यधिक विकास हुआ। कलाकारों ने काले एवं भूरे, श्वेत एवं लाल, नारंगी एवं पीले तथा क्रमिज एवं सिंदूरी रंगों को स्वच्छन्दतापूर्वक मिलाकर नया रूप दिया। इन्होंने इनकी सतह इतने विश्वास एवं दक्षता के साथ बनायी कि इनमें से कुछ की सतह एक मिलीमीटर तक पतली हो गई। इन्हें अण्डकवच (Egg-shell) नाम दिया गया है। परवर्ती माइनोअन (प्रथम) युग में इन्हें और अलंकृत एवं आकर्षक बनाया गया। अब मृद्भाण्डों की सतह को प्राकृतिक दृश्यों तथा जन-जीवन की सामान्य घटनाओं से अलंकृत किया गया। 'शस्य-संग्राहक-पात्र' तथा 'मुष्टि योद्धा पात्र' इसी युग की देन हैं। किन्तु इसके बाद ईजियन मृद्भाण्ड कला दुर्बल होने लगी और धीरे-धीरे उसकी रमणीयता समाप्त हो गई।

बौद्धिक उपलब्धियाँ

बौद्धिक क्षेत्र में ईजियनों की लिपि कला का उल्लेख किया जा सकता है यद्यपि अभी इसका पूरा-पूरा पाठ संभव नहीं हो सका है । सर एवांस के अनुसार यहाँ तीन—एक चित्राक्षरात्मक तथा दो रेखीय-लिपियाँ—प्रचलित थीं । प्रारंभ में यहाँ चित्र-लिपि का प्रयोग किया गया जिसका विकास संभवतः व्यापारिक आवश्यकताओं के निमित्त किया गया था । इसमें लगभग 135 चिह्न थे जिनमें वृषभ-सिर, अक्ष, द्वार, जलपात्र, पक्षी, जहाज एवं भवन के चित्रों की बहुलता थी । वृषभ सिर, द्वार तथा आँख एक ही शब्द को व्यक्त करते थे । इनमें से कुछ चित्र मिस्री चित्र-लिपि तथा कुछ हित्ती चित्र-लिपि के समान थे किन्तु ईजियन, हित्ती एवं मिस्री चित्र-लिपियों में कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं था । ईजियन चित्र-लिपि का प्रयोग बैबिलोनियन कीलाक्षर की भाँति मिट्टी की पाटियों पर शलाका की सहायता से किया जाता था । चित्रात्मक लिपि का एक उदाहरण क्रीट में फेस्टस से प्राप्त एक मिट्टी के चक्र (Disc) पर मिलता है । इसके दोनों ओर चित्राक्षरों की निर्बाध सर्पिल पंक्तियाँ बनी हैं । इसका उपयोग अक्ष के लिए किया जाता था और ऐसी मान्यता है कि लेख का सम्बन्ध किसी धार्मिक मन्त्र से है । बरी के अनुसार इसका सम्बन्ध क्रीट से नहीं था बल्कि संभवतः इसे लीसिया (Lycia) से मँगाया गया था ।[1]

चित्रात्मक लिपि ईजियनों के लिए असुविधाजनक थी । अतएव अठारहवीं शती ई० पू० में क्रीट में 'रेखीय' प्रतीकों के माध्यम से भाव व्यक्त किये जाने लगे । इसे रेखीय 'अ' (Linear A) नाम दिया गया है । इसका विकास एक प्रकार से चित्र-लिपि को ही सरल करके किया गया था ।[2] सी० एच० गार्डन (C. H. Gordon) प्रस्तावित करते हैं कि इस पर सेमिटिक प्रभाव था । रेखीय 'अ' के आधार पर बाद में माइसीनी युग में रेखीय 'ब' (Linear B) लिपि का विकास किया गया जिसमें लगभग 64 चिह्न थे । प्रारंभ में इसके लेख केवल क्नोसॉस से मिले थे किन्तु बाद में पाइलॉस तथा माइसीनी से सहस्रों की संख्या में इनकी प्राप्ति हुई । इस लिपि का स्वभाव कुछ-कुछ फीनिशियन वर्णमाला से मिलता-जुलता है । संभवतः इन्हीं से तथा इनके साथ-साथ मिस्रवासियों एवं सेमाइटों से फीनिशियनों ने अपनी वर्णमाला प्राप्त की थी ।

उक्त तीनों लिपियों में से प्रथम दो—चित्राक्षरात्मक एवं रेखीय 'अ'—का पाठ अभी तक नहीं प्रस्तुत किया जा सका है । 1953 ई० में एक अंग्रेजी विद्वान् माइकेल वेन्ट्रिस (Michael Ventris) ने रेखीय 'ब' के पाठ प्रस्तुत करने की विधि की

---

[1] J. B. Bury, A History of Greece, p. 9

[2] Will Durant, The Story of Civilization, Vol. II, p. 15

घोषणा की और यह लिपि पढ़ी गई। इस तरह ईजियनवासियों की तीन लिपियों में केवल एक का पाठ प्रस्तुत किया जा सका है। ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि इनकी भाषा क्या थी ? इसे भारोपीय नहीं माना जा सकता। अधिक संभव यही लगता है कि इसका सम्बन्ध लीसियन तथा एशिया माइनर के अन्य प्राचीन निवासियों की जबान से था। पूर्वी क्रीट में बहुत बाद तक एक आश्चर्यजनक भाषा प्रचलित थी जबकि शेष द्वीप का यूनानीकरण हो गया था। इस भाषा के कुछ लेख मिले हैं जिन्हें पढ़ तो लिया गया है लेकिन इनका भाव नहीं ज्ञात हो सका है। संभवत: यही वह भाषा थी जो प्राक्हेलेनिक युग में प्रचलित थी।[1]

लिपि के अनुद्घाचित होने के कारण ईजियनवासियों के साहित्य, दर्शन एवं विज्ञान सम्बन्धी प्रगति के विषय में हमारा ज्ञान न के बराबर है। माइसीनी रेखीय 'ब' के जो लेख पढ़े भी गये हैं उनमें अधिकांशत: भण्डारगृहों में रखी गयी वस्तुओं के विवरण हैं। अभिलेखों में प्रयुक्त अङ्क-चिह्नों के आधार पर हमें उनके गणित सम्बन्धी ज्ञान के विषय में कुछ ज़ानकारी होती है। लगता है वे दशमलव विधि से परिचित थे। भिन्न के लिए चिह्न बनाये गये थे। जिन लेखों में वस्तुओं एवं संख्याओं का अंकन अधिक है उन्हें संग्रह कक्ष का विवरण मान सकते हैं। क्रीट के निवासी भार-प्रणाली का विकास कर चुके थे। उनका मानदण्ड बैबिलोनियन हल्के टैलेंट (Light Talent) पर आधारित था। अत: हम कह सकते हैं कि इस मामले में वे बैबिलोनियनों के ऋणी थे यद्यपि वर्तमान समय में यह नहीं कहा जा सकता कि यह ऋण उन्हें किस माध्यम से प्राप्त हुआ था। विनिमय के माध्यम रूप में वे स्वर्ण, रजत एवं ताम्र खण्डों का प्रयोग करते थे। डोरियन परम्पराओं के अनुसार उनके पास एक पञ्चाङ्ग भी था। परवर्ती आख्यानों में उनके तकनीकी एवं अभियांत्रिकी ज्ञान की प्रशंसा की गयी है। एक आखयान में एक लैबिरिंथ (Labyrinth) के निर्माण का उल्लेख है। इसका रचनाकार देदालुस (Daedalus) था। मूलत: यह एथेंस का निवासी था किन्तु देश-निष्कासन का दण्ड मिलने के कारण इसने माइनॉस के दरबार में शरण ली और शीघ्र ही अपने गुणों के कारण शासक का प्रधान वास्तुकार एवं अभियन्ता बन गया। इसी ने शासक के निर्देशन में प्रसिद्ध लैबिरिंथ का निर्माण किया था। इसी में माइनॉस ने नरवृषभ को बंदी बनाया था। बाद में माइनॉस देदालुस से किसी कारणवश अप्रसन्न हो गया तथा उसे उसके पुत्र इकारस (Icarus) के साथ बंदी बनाकर उसी लैबिरिंथ में कैद कर दिया। किन्तु वहीं पर देदालुस अपने तथा अपने पुत्र के लिए पंख का निर्माण करके दीवाल लाँघ कर भाग निकला। देदालुस के मना करने पर भी इकारस इतने ऊँचे पहुँच गया कि सूर्य की निकटता से उसके मोम के पंख पिघल गये तथा वह समुद्र में गिर पड़ा। देदालुस सिसिली पहुँचा तथा वहाँ क्रीट की औद्योगिक एवं कलात्मक संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया। क्नो-

---

[1] J. B. Bury, A History of Greece, p. 9

सॉस में जल-निकास की उत्तम व्यवस्था उनके तकनीकी ज्ञान की पुष्टि करती है जिसके फलस्वरूप सत्रहवीं शती ई० पू० में क्रीटवासियों ने जिन सुविधाओं का उपभोग किया उसे सत्रहवीं शती ई० के समृद्ध शासक भी न कर सके ।

महत्ता एवं देन

ईजियन संस्कृति के प्रमुख केन्द्र क्नोसॉस, ट्रॉय एवं माइसीनी विनष्ट हो गए किन्तु इनकी सांस्कृतिक परम्पराएं जीवित रहीं तथा यूनानी सभ्यता के विकास के लिये आधार बनीं । जिस प्रकार भारत में आर्य आक्रमणकारियों ने सैंधव सभ्यता को नष्ट अवश्य कर दिया किन्तु उसके प्रभाव से अछूते न रह सके उसी प्रकार यूनानी आक्रमणकारियों ने ईजियन सभ्यता को विनष्ट अवश्य कर दिया किन्तु उनके प्रभाव से बच न सके । ईजियन समाज वर्गभेद, दासता, दण्ड की कठोरता, निरंकुशता, अनिवार्य सैनिक-सेवा तथा बेगार-प्रथा से मुक्त था । ये कुछ ऐसे तत्त्व थे जो एशियाई साम्राज्यों में प्रायः नहीं थे । अतएव यूनानी जगत् का इनसे अनुप्रेरित होना सहज एवं स्वाभाविक था । यूनान के माध्यम से इन तत्त्वों का प्रभाव यूरोप की अन्य संस्कृतियों पर पड़ा । डिओडोरस ने लिखा है कि क्रीटवासियों का यह दावा था कि उनकी उपासना विधियों एवं धार्मिक संस्कारों का प्रभाव परवर्ती विश्व पर पड़ा था । ईजियन विश्व की मातृ-शक्ति की अधिष्ठात्री मातृदेवी एट्टिका आर्केडिया तथा साइप्रस में प्रतिष्ठित हुई थी । संभवतः क्रीट के अनुकरण पर ही यूनान में पूजागृहों की स्थापना पर्वत शिखरों पर की गयी थी । क्रीटवासी सौंदर्य एवं मनोरंजन प्रिय थे । संगीत, वादन, नाटक, मल्लयुद्ध इत्यादि में उनकी विशेष रुचि थी । आगे चलकर हम देखते हैं कि ये सभी तत्त्व यूनानी सभ्यता में ग्रहण किये गये । प्लूटार्क ने तो यहाँ तक कहा है कि शारीरिक शिक्षा के अनेक नियम स्पार्टा में क्रीट के अनुकरण पर ही बनाए गये थे । नौ-विद्या का विकास सर्वप्रथम ईजियनवासियों ने किया । किस ऋतु में किस मार्ग से यात्रा की जानी चाहिए इसका सर्वप्रथम ज्ञान ईजियनवासियों को प्राप्त हुआ और इन्हीं से यूनानियों को मिला । ईजियनवासियों ने समुद्र-शास्त्र को ज्योतिष-शास्त्र से जोड़कर इसका पूर्ण विकास किया तथा बाद में इसे यूनानियों को दिया । ईजियनवासियों के सम्बन्ध साइप्रस, सीरिया, फिलिस्तीन, मिस्र आदि देशों से थे । इस सम्बन्ध के फलस्वरूप ईजियन सांस्कृतिक तत्त्वों को उन भागों में पहुंचने का अवसर मिला । मिस्रवासियों ने ईजियनों से कुछ औषधियों तथा यूनानियों ने कुछ सुरभित औषधियों एवं जड़ी-बूटियों जैसे पुदीना, नागदमन तथा दौकोस (Daukos) नामक एक विशिष्ट औषधि, जिसका उपयोग स्थूलता दूर करने के लिए किया जाता था, को प्राप्त किया ।

●

State Museum Library Lucknow 7153

11

यूनानी सभ्यता

•

भौगोलिक स्थिति एवं उसका प्रभाव

यूरोप के दक्षिण-पूर्व कोने का कटा-फटा और छोटे-छोटे द्वीपों से जुड़ा भू-भाग ही यूनान (Geece) कहा जाता है। यह एशिया माइनर के ठीक सामने पश्चिम की ओर स्थित है। यूनान तीन ओर—पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में—समुद्र से घिरा है। इसके उत्तर असीमित पर्वतमालाएँ तथा अरण्य हैं। तीन ओर से तटीय भाग के कटे-फटे होने के कारण समुद्र का जल आन्तरिक भाग तक चला गया है जिसके फलस्वरूप यूनान उत्तरी, मध्यवर्ती एवं दक्षिणी तीन भागों में विभाजित हो गया है। उत्तरी भाग में थेसली (Thessaly), मैसीडन (Macedon), एवं एपिरस (Epirus) सम्मिलित हैं। ये तीनों प्रदेश यूनान के अन्य प्रदेशों की अपेक्षा बड़े और संभवतः प्राचीन काल में पिछड़े भी थे। ओलिम्पस (Olympus) पर्वत श्रेणी मैसीडन तथा थेसली को परस्पर पृथक् करती है। मध्य यूनान के पूर्व यूबिया (Euboea) द्वीप स्थित है जिसका कैल्किस (Calcis) नामक नगर विशेष प्रसिद्ध था। यूबिया के दक्षिण-पश्चिम एट्टिका प्रदेश है। इतिहास प्रसिद्ध नगर एथेंस (Athens) इसी में स्थित था। एट्टिका से उत्तर-पश्चिम बिओशिया (Boeotia) स्थित था जिसका थीब्ज (Thebes) नगर अत्यन्त प्रसिद्ध था। बिओशिया के पश्चिम स्थित फोसिस (Phocis) प्रदेश का सुप्रसिद्ध नगर डेल्फी (Delphi) था। कोरिंथ की खाड़ी मध्य यूनान तथा दक्षिणी यूनान की विभाजक रेखा थी। दक्षिणी यूनान में कोरिंथ के दक्षिण आर्गोलिस (Argolis), प्रदेश था जिसके प्रसिद्ध नगर माइसीनी तथा टिरिंस थे। इसके पूर्व अर्केडिया (Arcadia) तथा दक्षिण लकोनिया (Laconia) प्रदेश थे। अंतिम का प्रसिद्ध नगर स्पार्टा (Sparta) था। पर्वतीय प्रदेश होने के कारण यूनान न तो कृषि उत्पादनों की दृष्टि से अधिक

समृद्ध था न खनिज पदार्थों से ही । यूनानी तो यहाँ के स्वच्छ प्राकृतिक वातावरण तथा सौंदर्य को ही अपनी सम्पत्ति समझते थे ।

कहा जाता है कि यूनानियों के भौगोलिक परिवेश का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा किन्तु साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में यह मत यौक्तिक नहीं प्रतीत होता । तीन ओर से जल से घिरे होने तथा तटीय भाग के कटे-फटे होने के कारण यहाँ अनेक बंदरगाह विकसित हुए जिसके फलस्वरूप यहाँ समुद्री व्यापार को पूर्णतया फलने-फूलने का अवसर मिला । जल-मार्गों के माध्यम से यूनानियों का दूर देशों से सम्बन्ध स्थापित हुआ तथा परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ । इसी के फलस्वरूप यहाँ जलसेना का समुचित विकास हुआ जो इनकी राजनीतिक प्रगति में सहायक बनी । तटीय भाग के कटे-फटे होने के कारण एक ओर यदि यूनानी नाविक बने तो दूसरी ओर पर्वतीय प्रदेश होने के कारण सैंकड़ों छोटे-छोटे स्वशासित राज्यों में भी बँट गए । यूनानी इन राज्यों को पोलिस (Polis) कहते थे । इसका आज अनुवाद नगर-राज्य (City State) किया जाता है किन्तु इसमें नगर के अतिरिक्त अन्य क्षेत्र भी सम्मिलित रहते थे । पहाड़ी प्रदेश होने के कारण इन राज्यों में परस्पर सम्बन्ध नहीं स्थापित हो पाता था इसी कारण इनका विकास स्वतंत्र रूप से होता था । समग्र यूनान का इतिहास किसी एक देश का इतिहास नहीं बल्कि विभिन्न नगर राज्यों का इतिहास है । प्रगति की धुन में मस्त इन नगरों में परस्पर विद्वेष हो जाते थे और युद्ध छिड़ जाते थे । बाह्याक्रमण के समय संगठित होना उनके लिए कठिन था । यद्यपि भौगोलिक विभिन्नता एवं अलगाव के कारण यूनानी नगर राज्यों में राजनीतिक एकता न स्थापित हो सकी किन्तु स्वतन्त्र विकास की होड़ में यहाँ जनतंत्रात्मक शासन-प्रणाली को विकसित होने का उपयुक्त अवसर मिला । राजनीतिक पृथक्ता के बावजूद भी यहाँ साहित्य, कला, विज्ञान एवं दर्शन का आदर्श एक-सा ही रहा ।

मूल स्थान, शाखाएँ एवं महाप्रवजन

यूनानी संभवतः बाल्कन प्रायद्वीप के उत्तरी-पश्चिम भाग में कहीं रहते थे और 2000 ई० पू० के आस-पास प्रलयकारी मेघ की भाँति ईजियन संसार पर छा गए । इनका सम्बन्ध भारोपीय समुदाय से था । इनकी कई शाखाएं जैसे एकियन (Achaean), डोरियन (Dorian), आयोनियन (Ionian) तथा एयोलियन (Aeolean) थीं । यूनान में इनका प्रवेश एक साथ नहीं हुआ । एकियनों का प्रवेश सर्वप्रथम उसी समय (लगभग 2000 ई० पू०) हुआ जिस समय हित्ती एशिया माइनर में प्रविष्ट हुए । इसके बाद आयोनियनों ने पूर्वी-मध्य यूनान को, जो ईजियन प्रायद्वीप तथा एशिया माइनर के पश्चिमी तट के मध्य भाग के मिलन-बिंदु के रूप में था, अपना आवास बनाया । 1100 ई० पू० के आस-पास डोरियनों ने दक्षिण ईजियन प्रदेश तथा एशिया माइनर के दक्षिणी-पश्चिमी तट पर प्रभुत्व स्थापित

कर पहले आए हुए एकियनों तथा आयोनियनों को यूनान के मुख्य भाग की ओर खदेड़ दिया। इसी महाप्रवजन के फलस्वरूप यूनान दो भागों में विभाजित हुआ था जैसा अधिकतर विद्वान् मानते हैं। पश्चिमी यूनान का केन्द्र स्पार्टा बना जबकि पूर्वी यूनान के केन्द्र एथेंस एवं एशिया माइनर के नगर बने।

प्रश्न है कि उक्त भारोपीय आक्रमणकारी सांस्कृतिक दृष्टि से कहाँ तक विकसित थे। जहाँ तक ज्ञात है हम यही कह सकते हैं कि अन्य भारोपीय आक्रमणकारियों के समान वे भी यायावर थे। कृषि-कर्म के विषय में उनकी जानकारी बहुत कम थी। कृषि-कर्म के प्रति उनकी अरुचि का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उनके पास कोई ऐसी मातृदेवी नहीं थी जिसका अस्तित्व अन्य प्राचीन कृषिपरक संस्कृतियों में देखा जाता है। वे समुद्र से भी अपरिचित लगते हैं क्योंकि उनकी भाषा में समुद्र के लिए भी कोई शब्द नहीं था। किन्तु इन कमियों के बावजूद भी उनमें कुछ विलक्षणताएँ थीं। उनमें इतनी ओजस्विता एवं उनकी भाषा में इतनी शक्ति थी कि वे कहीं भी जीवन-यापन करते हुए अपना विकास कर सकते थे। जिस समय यूनान में उनका प्रवेश हुआ ईजियन प्रदेश में एक सुविकसित सभ्यता विद्यमान थी। उन्होंने उनसे बहुत कुछ सीखा और उसके आधार पर क्लासिकल यूनानी सभ्यता का सृजन किया।

होमर काल

1100 ई० पू० के आस-पास भारोपीय वर्ग की डोरियन शाखा का यूनान आगमन अप्रत्याशित एवं बर्बरतापूर्ण था। एट्टिका तथा अर्केडिया को छोड़कर उन्होंने लगभग समस्त यूनान को अभिभूत कर लिया। यहीं से वे क्रीट तथा रोड्ज (Rhodes) के रास्ते एशिया-माइनर के दक्षिणी-पश्चिमी तट तक पहुँच गए। माइसीनी सभ्यता उनके आक्रमण के फलस्वरूप विनाश को प्राप्त हुई। नगर लूट-पाट लिया गया तथा उसे बर्बरतापूर्वक नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया। कुछ विद्वानों की धारणा है कि स्वतंत्र एवं प्रबुद्ध हेलेनिक विचारों के प्रादुर्भाव के लिए माइसीनी सभ्यता का अन्त एक प्रकार का मंगलाचरण था। माइसीनी-सभ्यता के अन्त के पश्चात् डोरियनों के नेतृत्व में विकसित यूनानी इतिहास एवं सभ्यता के युग को, जिसका अस्तित्व 750 ई० पू० तक बना रहा, मध्य काल की संज्ञा से अभिहित किया गया है। इसे ही अंधकार युग (Dark Age) भी कहा जाता है। मध्य काल की प्रारंभिक दो शतियों को वीरगाथा काल (Heroic Age) भी कहा गया है। वीरगाथा काल की अंतिम शती (850-750 ई० पू०) के होमर (Homer) तथा हेसिअड (Hesiod) नामक कवियों की रचनाओं से भी मध्य काल के विषय में सूचनाएँ मिलती हैं। इसमें होमर कृत इलियड (Iliad) एवं ओडिसी (Odyssey) का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें रचना काल की घटनाओं

एवं संस्कृतियों का वर्णन तो है ही साथ ही उसके पूर्ववर्ती संस्कृतियों का विवरण भी मिलता है। इसी लिए मध्यकाल को होमर काल (Homeric Age) के नाम से भी संबोधित किया जाता है। वास्तव में इस काल में प्राचीन राजनीतिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी तथा आर्थिक विपन्नता व्याप्त थी। कृषि, उद्योग एवं व्यापारिक ह्रास के कारण जनसाधारण में अशान्ति एवं असुरक्षा की भावना उत्पन्न हो गई थी। शक्ति एवं सम्पत्ति दोनों सशक्त एवं युद्धशील व्यक्तियों के हाथ आ गयी थी। अनेकानेक युद्धास्त्रों से सुसज्जित वे रणभूमि में अपने युद्ध का प्रदर्शन करते हुए विजित शत्रु के साथ क्रीड़ा करते थे। वे पराजित नगर को पूर्णतया विनष्ट कर ही दम लेते थे। कवि एवं चारण उनके सुकृत्यों का गुणगान करते थे। प्राचीन यूनान के ये गीत न केवल यूनान के बल्कि समस्त यूरोप के प्राचीनतम साहित्य हैं। इन्हीं को संग्रहीत कर बाद में होमर ने एक सूत्र में बाँध दिया। निस्संदेह होमर के ग्रंथ की बहुत-सी शब्दावली तथा पंक्तियाँ प्राचीन कवियों की कृतियों से ली गयी थीं किन्तु इस ग्रहणशीलता के बावजूद भी होमर के ग्रंथ पूर्णतः मौलिक प्रतीत होते हैं।[1]

यूनान में होमर के महत्त्व एवं प्रायशः नामोल्लेख को लेकर एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठाया जा सकता है कि वह कौन था, उसका निश्चित समय क्या था तथा उसका जन्म स्थान कहाँ था ? वर्तमान समय में यह कहना कि होमर काल्पनिक व्यक्ति था अथवा ऐतिहासिक उतना ही संदिग्ध है जितना उसकी प्रसिद्ध कृतियों का उससे सम्बन्ध स्थापित करना। अधिकतर विद्वान् यही मानते हैं कि इलियड तथा ओडिसी दो भिन्न कवियों की कृतियाँ हैं क्योंकि दोनों के वर्ण्य-विषय, भाव-प्रदर्शन एवं शैली में पर्याप्त अन्तर है। यह भी संभावना व्यक्त की गयी है कि यदि दोनों कृतियों का रचयिता एक ही व्यक्ति था तो वह कम-से-कम होमर नहीं था। इस कथन में जिस हद तक सच्चाई हो किन्तु इससे दोनों कृतियों का महत्व तनिक भी कम नहीं होता। आज हम भले इलियड तथा ओडिसी की रचना क, ख अथवा ग किसी द्वारा मान लें किन्तु यूनानी दोनों महाकाव्यों को होमर की कृतियाँ मानते थे तथा होमर को अपना देशगुरु स्वीकार करते थे। अनेक शताब्दियों तक इन महाकाव्यों का यूनानी जन-जीवन पर गहरा प्रभाव बना रहा। दोनों महाकाव्य शतियों तक विद्यालय की औपचारिक शिक्षा तथा साधारण नागरिकों के सांस्कृतिक जीवन के आधार बने रहे।[2] यूनानियों के लिए इलियड तथा ओडिसी की पंक्तियाँ उतनी ही महत्त्वपूर्ण थी जितनी भारतीयों के लिए वेदों की तथा हिब्रुओं के लिए ओल्ड टेस्टामेण्ट की। नैतिक अथवा व्यावहारिक समस्या

---

1. Homer, The Iliad Translated by E. V. Riev, Introduction, p. 24
2. H. D. F. Kitto, The Greeks, p. 44

उत्पन्न होने पर होमर के उद्धरण निर्णायक माने जाते थे । राजनय सम्बन्धी बातचीत में भी होमर को उद्धृत किया जाता था । इसी लिए होमर की कृतियों को यूनानी बाइबिल कहा गया है ।[1]

आयोनिक लेखक हेलानिकस (Hellanicus) के अनुसार होमर बारहवीं शती ई० पू० से सम्बन्धित था । किन्तु यह मत निराधार प्रतीत होता है । यह अवश्य सत्य है कि होमर द्वारा बारहवीं शती ई० पू० की घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है किन्तु इससे निर्विवाद रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि होमर बारहवीं शती ई० पू० से सम्बन्धित था ही । वास्तव में होमर के समय तक बारहवीं शती ई० पू० के गीत सुरक्षित थे । होमर ने उसे अपने महाकाव्य में स्थान दिया । अतएव उस काल की सांस्कृतिक गति-विधियों का समावेश इसमें हो गया । हेरोडोटस होमर को नवीं शती ई० पू० का मानता है । उसके अनुसार होमर उसके समय (484-425 ई० पू०) से चार सौ वर्ष पूर्व (अर्थात् 884-825 ई० पू०) हुए थे । होमर के समय के विषय में हेरोडोटस का कथन बहुत कुछ सही है । इसी कथन को थोड़ा बहुत परिमार्जित कर आधुनिक आलोचक होमर को आठवीं शती ई० पू० में रखते हैं । होमर के जन्म-स्थान के विषय में भी अनेक संभावनाएँ व्यक्त की गई हैं । अनुश्रुतियों से प्रतीत होता है कि वह अंधा था तथा उसका जन्म स्माइर्ना (Smyrna) अथवा कियोस (Chios) में हुआ था । पाँच अन्य नगरों को भी होमर के जन्म-स्थान के रूप में उल्लिखित किया जाता है । ये नगर कोलोफॉन (Cholophon), सालिमस (Salmis), रोड्ज़ (Rhodes), अर्गोस (Argos) तथा एथीना (Athenae) हैं किन्तु अधिक संभावना एशिया माइनर के आयोनियन भाग में उत्पन्न होने की है । होमर ने आयोनियन बोली का प्रयोग अपने काव्यों में किया है इससे उसके आयोनियन नगरों में रहने का समर्थन मिलता है ।[2]

होमर का उद्देश्य केवल अपने समय की घटनाओं को यूनानियों के समक्ष उपस्थित करना ही नहीं था और ऐसा वह कर भी नहीं सकता था क्योंकि उसके श्रोताओं के समक्ष चार सौ वर्ष पहले वाले आदर्श थे । इलियड में एकियन शासकों के शासन काल की घटनाएँ मिलती हैं । उदाहरणार्थ, होमर का सम्बन्ध लौह युग से था लेकिन उसके पात्र ताँबे की तलवार का प्रयोग करते हैं । होमर सम्भवतः माइसीनी सभ्यता से परिचित नहीं था क्योंकि मृतक संस्कार के सम्बन्ध में वह अग्निदाह का उल्लेख करता है जबकि माइसीनी युग में मृतकों को दफ़नाया जाता था । होमर के पात्र अशिक्षित रूप में हमें मिलते हैं जबकि माइसीनी के निवासी रेखीय लिपि 'ब' से परिचित थे । माइसीनी युग में लोहे का प्रयोग प्रचुरता से किया

---

[1] H. A. Davies, An Outline History of the World, p. 104

[2] Buckner B. Trawick, World Literature, Vol. I, p. 42

जाता था और इसकी गणना एक मूल्यवान धातु के रूप में थी । यहाँ तक कि इसकी सहायता से आभूषण भी बनाये जाते थे जबकि होमर इलियड में इसका उल्लेख कुठार एवं चाकू बनाने के लिए करता है ।

राजनीतिक संगठन

होमर कालीन यूनानियों में राजनीतिक चेतना का अभाव था । उनका राजनीतिक संगठन एक प्रकार से कुछ समूहों का शिथिल संगठन था । ग्राम समुदायों के सदस्य किसी पूर्वज से अपने को सम्बन्धित कर एक सामन्त के अधिशासन में रहते थे । सामन्तों में सर्वाधिक शक्तिशाली सामन्त शासक मान लिया जाता था । सैद्धान्तिक रूप से वही मुख्य न्यायाधीश, धर्माधीश तथा सेनापति होता था । किन्तु सुव्यवस्थित एवं लिखित कानूनों के अभाव में वह मुख्य न्यायाधीश के कर्त्तव्य का निर्वाह नहीं करता था । न्यायाधीश के रूप में तो वह केवल किसी वाद में मध्यस्थता करता था । अधिकांश मामलों का निपटारा दोनों पक्षों द्वारा स्वतः युद्ध एवं मारकाट के माध्यम से कर लिया जाता था । होमर कालीन यूनानी सैनिक संगठन सरल था । शासक अधिकतर सामन्तों की सेना पर आश्रित थे । विरोधी पक्षों की सेनाओं में परस्पर युद्ध कम होता था । प्रायः दोनों पक्ष के नायक ही परस्पर द्वन्द्व-युद्ध करके इसका निर्णय कर लेते थे । ऐसी स्थिति में प्रधान सेनापति के रूप में भी शासक को कोई विशेष महत्त्व अथवा अधिकार नहीं मिला था । इसी प्रकार धर्माधीश के रूप में भी उसे कोई विशेष महत्त्व नहीं मिला था । इससे तो यही प्रतीत होता है कि शासन के अतिरिक्त वह अन्य कार्यों में विशेष हस्तक्षेप नहीं करता था ।

यद्यपि शासक की सहायता के लिए यहाँ दो समितियों का गठन किया गया था जिसमें ब्यूल (Bule) सामन्त-परिषद् थी तथा एगोरा (Agora) स्वतन्त्र नागरिकों की सभा, किन्तु इनका प्रशासनिक महत्त्व अधिक नहीं था । न तो इन समितियों के अधिकार ही सुनिश्चित थे न कर्त्तव्य ही । इनकी निश्चित सदस्य संख्या के विषय में भी कुछ ज्ञात नहीं है । सामान्य रूप से प्रथम संस्था शासक की सहायता करने तथा समय-समय पर उसे सद्परामर्श देने के लिए थी । यदि शासक को अपदस्थ करने का कोई कुचक्र किया जाता था तो यही उसको बचाती थी । द्वितीय सभा एगोरा युद्ध-घोषणा की अभिपुष्टि करती थी तथा शान्ति-समझौते की स्वीकृति देती थी । होमर कालीन यूनानी राजनीतिक संगठन की शिथिलता की पुष्टि एक उदाहरण से हो जाती है । इथक (Ithaca) का शासक ओडिस्यूस (Odysseus) राज्य से बीस वर्ष तक अनुपस्थित रहा । किन्तु उसके स्थान पर न किसी प्रतिशासक (Regent) की नियुक्ति की गई न सभा अथवा परिषद् का अधिवेशन ही बुलाया गया । किसी ने यह अनुभव ही नहीं किया कि शासन से इतने समय तक शासक के अनुपस्थित रहने का कोई प्रभाव पड़ सकता है । प्रशासनिक शिथिलता के फलस्वरूप यहाँ की कर-व्यवस्था भी ढीली बनी रही । शासक की आय मुख्यतः प्रजा द्वारा प्राप्त भेंट एवं लूट-पाट से प्राप्त धन पर आधारित थी ।

सामाजिक संगठन

राजनीतिक संगठन की भाँति होमर कालीन यूनानियों का सामाजिक संगठन भी सरल था। यद्यपि महाकाव्यों में उल्लिखित विवरणों के आधार पर यहाँ अभिजात वर्ग का अस्तित्व माना जा सकता है; किन्तु इससे किसी प्रकार के वर्ग-विभाजन का समर्थन नहीं मिलता क्योंकि कोई भी पुरुष युद्ध-भूमि में शौर्य प्रदर्शित कर सामन्त-पद प्राप्त कर सकता था। समाज की सबसे छोटी इकाई परिवार था। इसका मुखिया पिता था। यह परिवार के सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वाधिकार सम्पन्न सदस्य के रूप में प्रतिष्ठित था। परिवार के सदस्यों का जीवन उसकी कृपा पर निर्भर था। आवश्यकता पड़ने पर वह किसी को भी कठोर से कठोर दण्ड दे सकता था। यहाँ तक कि अपने पुत्रों में से किसी को वह कभी भी देवार्पित कर सकता था। इसमें उसके समक्ष किसी प्रकार की वैधानिक, सामाजिक अथवा नैतिक अड़चन नहीं थी। किन्तु लगता है कि वह व्यवहार में ऐसा कम ही करता था। ऐसे बहुत से साक्ष्य हैं जिससे प्रकट होता है कि अपनी शक्ति का दुरुपयोग न करते हुए वह सन्तति के प्रति स्नेह एवं स्त्री के प्रति आदरपूर्ण भाव रखता था।

होमर कालीन यूनानी समाज में स्त्रियों की स्थिति समुन्नत थी। विल ड्युरैण्ट के अनुसार होमर कालीन स्त्रियाँ पेरिक्लीज युगीन यूनानी स्त्रियों से भी अधिक सम्मानित थीं।[1] रूपवती कन्याओं को यहाँ विशेष आदर मिला था। उनको लेकर इनके यहाँ प्रायः संघर्ष होते रहते थे। होमर कालीन यूनानी योद्धा संघर्ष के माध्यम से प्राप्त कन्या को अपने पराक्रम का पारितोषिक स्वीकार करते थे। ऐगमेम्नोन (Agamemnon) नामक योद्धा को जब क्राइसीज (Criseis) नामक सुन्दरी की, जिसे उसने पारितोषिक रूप में प्राप्त किया था, त्यागना पड़ा तो उसने ब्राइसीज (Briseis) को एकीलीज (Achilles) नामक योद्धा को छोड़ने तथा अपने साथ रहने के लिए बाध्य किया था। इसके फलस्वरूप दोनों में परस्पर विद्वेष पैदा हुआ। ट्रॉय के युद्ध में अन्य कारणों के साथ-साथ स्पार्टा नरेश मेनिलेयस (Menelaus) की पत्नी सुन्दरी हेलेन (Helen) का ट्रॉय के राजकुमार पेरिस (Peris) द्वारा अपहरण भी था। इनके पारिवारिक जीवन में वैवाहिक संस्कार का विशेष महत्व था। विवाह में कन्या-पिता वर पक्ष से धन प्राप्त करता था। किन्तु कन्या का पिता कन्या को दहेज में पर्याप्त धन देता था। विवाह-संस्कार एक प्रकार से कौटुम्बिक तथा धार्मिक था। इस अवसर पर भोजन, नृत्य तथा उन्मुक्त मनोरंजन की व्यवस्था की जाती थी। विवाह के बाद पत्नी गृहस्वामिनी मान ली जाती थी और इस रूप में उसे अतिशय सम्मान मिलता था किन्तु यह सम्मान सन्तान की संख्या के अनुसार घटता-बढ़ता रहता था। होमर कालीन यूनानी अकस्मात् मिलन अथवा भारतीय सावित्री-सत्यवान एवं शकुन्तला-दुष्यन्त के समान सहसा एक दूसरे के प्रति

---

1. Will Durant, The Story of Civilization, Vol. II, p. 50

आकृष्ट होने में विश्वास नहीं करते थे। वे एक दूसरे के साथ कुछ समय तक रह कर ही वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करते थे। प्रेम पहले नहीं विवाह के बाद किया जाता था। स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक स्वामिभक्त थीं। होमर तीन अन्य—गामिनियों—क्लाइटीम्नेस्ट्रा (Clytaemnestra), हेलेन (Helen) एवं एफ्रोडाइटि (Aphrodite)--का उल्लेख करता है किन्तु उनके कृत्यों की निन्दा की गई है। स्त्रियों को गृहस्थी के कार्यों में बराबर भाग लेना पड़ता था। अनाज पीसने, ऊन धुनने, कातने, बुनने; बेल-बूटे काढ़ने, सिलने तथा भोजन बनाने का काम उन्हें ही करना पड़ता था। पारिवारिक शिक्षा की जिम्मेदारी भी उन्हीं की थी। विद्यालय सम्बन्धी शिक्षा अविकसित थी। बालकों को शिकार, युद्ध तथा अन्य उपयोगी शिक्षाएँ दी जाती थीं जबकि बालिकाओं को गृहस्थी से सम्बन्धित प्रशिक्षण मिलता था। पिता के अभाव में उसका सबसे बड़ा लड़का गृहस्थी की जिम्मेदारी संभालता था।

होमर कालीन यूनानियों का सामान्य जीवन सरल था। स्त्री-पुरुष दोनों एक चौकोर वस्त्र ओढ़ते थे। यह कंधे से घुटने तक लटका रहता था। स्त्रियाँ कभी-कभी अवगुंठन डाल लेती थीं। पुरुष लुंगी पहनते थे। बाहर जाते समय स्त्री एवं पुरुष पैर में जूते या चप्पलें धारण करते थे। पुरुष लम्बी मूँछ तथा दाढ़ी रखने के भी शौकीन थे। स्त्री-पुरुष दोनों आभूषण पहनते थे।

आर्थिक संगठन

होमर कालीन यूनानियों का आर्थिक गठन मुख्यतः कृषि, पशुपालन एवं उद्योग-धन्धों पर आधारित था। होमर के वर्णन से ज्ञात होता है कि यहाँ कृषि होती अवश्य थी किन्तु कृषकों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। अधिकांश भूमि पहाड़ी तथा ऊबड़-खाबड़ थी जिससे जुताई में अनेक कठिनाइयाँ पड़ती थीं। फिर भी कठिन परिश्रम करके वे उपज प्राप्त कर लेते थे। इलियड में भूमि की जुताई, खेतों की सिंचाई तथा गेहूँ की ओसाई का उल्लेख मिलता है।[1] भूमि पर परिवार अथवा कुल का अधिकार था किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं। पिता इसकी देख-भाल करता था तथा इस पर नियंत्रण रखता था किन्तु वह इसे बेच नहीं सकता था। बड़े भू-भाग को शासक की परती (Kings Commons) कहा जाता था। इस पर सामूहिक अधिकार रहता था तथा कोई भी व्यक्ति इस पर अपने पशु चरा सकता था। गाँवों में जंगली पशुओं का भी भय बना रहता था। अतएव शिकार करना उनके लिए आवश्यक हो जाता था। कृषि के साथ-साथ पशुपालन भी प्रचलित था। विशेष रूप से बकरी, भेंड़, सूकर तथा अश्व पाले जाते थे। पशुपालन की व्यापकता का अनुमान हम इसी से लगा सकते हैं कि इरिक-

---

[1] Iliad, 18. 541; 21.257

थोनियस (Erichthonius) के पास 3,000 घोड़ियाँ अपने बछेड़ों के साथ थीं। भू-गर्भ से धातु प्राप्ति की सम्भावना थी किन्तु एकियन खनिज प्राप्ति के लिए भूमि खोदना उचित नहीं समझते थे। इसी कारण टिन, ताँबे, चाँदी तथा सुवर्ण का बाहर से आयात किया जाता था। इसका प्रभाव उद्योग-धन्धों पर पड़ा और वे अधिक विकसित न हो सके। केवल कुछ विशिष्ट शिल्पियों जैसे गाड़ी बनाने वाले, तलवार बनाने वाले, कुंभकार तथा स्वर्णकार को छोड़कर अन्य उद्योगों में कुशल शिल्पी नहीं थे। रथकार चार पहिए वाली गाड़ी बनाते थे। जिसमें तीलियाँ तथा लकड़ी के टायर लगे रहते थे। उक्त सभी शिल्पी यहाँ स्वतन्त्र वर्ग के अन्तर्गत थे।

यद्यपि मार्ग में जल-दस्युओं तथा तूफानों का बराबर भय बना रहता था तथापि समुद्री-मार्ग से व्यापार सम्पन्न हो सकता था। प्राकृतिक बन्दरगाहों की उपस्थिति इसमें और सहायक थी किन्तु होमर कालीन यूनानी व्यापारी न बन सके। इस काल में फिनिशियन यूनानियों से कहीं अधिक अच्छे व्यापारी तथा नाविक थे। यूनानी तो उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते थे।

अभी तक मुद्रा का आविष्कार नहीं हो सका था। लोहे, ताँबे अथवा सुवर्ण के टुकड़े विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयुक्त किए जाते थे। वृष या गाय को मूल्य का मानदण्ड माना जाता था। विनिमय के माध्यम रूप में गाय का प्रयोग हमारे यहाँ भी किया जाता था। ऋग्वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में गाय द्वारा वस्तुओं के क्रय-विक्रय का वर्णन मिलता है।

धर्म

होमर कालीन यूनानी धर्म लौकिक धर्म था। अन्य भारोपीय जातियों के सदृश इनके देवता भी एक प्रकार से प्राकृतिक शक्तियों के दैवीकरण थे। इनके धर्म का मुख्य उद्देश्य मनुष्य का प्राकृतिक शक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करना, आत्म-नियंत्रण एवं आत्मविश्वास की शक्ति पैदा करना तथा सौभाग्य, दीर्घायु, शिल्प-कौशल और समृद्धि प्राप्त करना था। इन्होंने इसे कभी भी पाप से बचने तथा आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त करने का साधन नहीं माना। धर्मपरायणता जैसी कोई चीज इनके यहाँ नहीं थी। इनके धर्म में न तो परवर्ती हिब्रू धर्म की भाँति आदेश थे, न सिद्धान्त और न धार्मिक संस्कार। इनके देवता मनुष्यों के समान गुण-दोष समन्वित थे। उन्हीं के समान आहार-विहार करते थे तथा प्रसन्नाप्रसन्न होते थे। उनका जीवन भी मनुष्य के समान संघर्षमय था। अपनी इच्छानुसार वे मनुष्यों से मिलते थे तथा मृत स्त्रियों से मिलकर सन्तान सृष्टि करते थे। होमर कालीन देवताओं तथा मनुष्यों में केवल यह अन्तर था कि देवता अमृतपान के कारण अमर्त्य थे जबकि मनुष्य उसके अभाव में मर्त्य। देवताओं का आवास आकाश अथवा नक्षत्र नहीं बल्कि ओलिम्पस पर्वत था। इसी पर्वत पर वे आनन्दित जीवन व्यतीत करते हुए

एक दूसरे के लिए षड्यन्त्र रचते और मनुष्यों के भाग्य-निर्धारण के लिए गोष्ठियों का आयोजन करते थे।

भारतीय वैदिक धर्म की भाँति होमर कालीन यूनानी धर्म भी बहुदेववादी था। किन्तु इस बहुदेववाद की प्रकृति भारतीय वैदिक बहुदेवाद से भिन्न थी। वैदिक ऋषि जिस देवता का स्तवन करते हैं उसी की प्रशस्ति में इतने आत्मविभोर हो जाते हैं कि उसके गुणों को असंगति की सीमा तक अतिरंजित कर देते हैं। वैदिक पुराकथा शास्त्र के इसी पक्ष को लेकर मैक्समूलर ने 'हीनोथीज्म' (Heno-theism) नामक सिद्धान्त को जन्म दिया है जिसके अनुसार अलग-अलग देवों को क्रम से सर्वश्रेष्ठ मानने के विश्वास द्वारा वैदिक ऋषि उस देवता को जिसे वे सम्बोधित कर रहे हों इस रूप में ग्रहण करके देवत्व के सभी श्रेष्ठतम गुणों को उसी पर आरोपित कर देते हैं मानों उस समय उनके मन में उपस्थित वही देवता सर्वत्र स्वतन्त्र और सर्वश्रेष्ठ है।[1] इसके विपरीत यूनानी बहुदेववाद में अनेक देवी-देवताओं की कल्पना तो की गई किन्तु किसी भी एक देवता को दूसरे की अपेक्षा बहुत अधिक श्रेष्ठ नहीं बताया गया। यहाँ सभी लगभग समान थे। प्रमुख देवी-देवताओं में आकाश देव ज्यूस (Zeus), समुद्र देव पासाइडन (Poseidon), सूर्यदेव अपोलो (Apollo), युद्धदेव एरीज (Ares), क्रोनोस (Cronos), डायोनिसस (Dionysus), मृतकों के देवता हेडीज (Hades), वास्तुविद् तथा शिल्प विशेषज्ञ हेफीस्टस (Hephaestus), देवताओं के दूत हर्मीज (Hermes), इरिस (Iris), जैनथस (Xanthus), तथा देवियों में प्रेमदेवी एफ्रोडाइटि (Aphrodite), अर्तेमिस (Artemis), एथेना (Athena), डिमीटर (Demeter), इलिथिया (Eileithiya), पर्सीफोनी (Persephone), हियर (Here) इत्यादि का उल्लेख किया जा सकता है। आकाश देव ज्यूस (वैदिक द्यौस[2]) विद्युत् नियंत्रक तथा मनुष्य एवं देवताओं के पिता रूप में प्रतिष्ठित थे। किन्तु समुद्रदेव पासाइडन तथा एफ्रोडाइटि या एथेना देवी को ज्यूस से कम महत्त्व नहीं मिला था। पारसीक धर्म की भाँति होमर कालीन यूनानी धर्म द्वैतवादी नहीं था, अर्थात् इसमें देवता के अतिरिक्त किसी शैतान की कल्पना नहीं की गई थी। किन्तु इसका यह आशय नहीं कि यहाँ अशुभकारी तत्त्वों का सर्वथा अभाव था। वास्तव में इस प्रकार के तत्त्वों की कल्पना तो यहाँ की गई लेकिन उनका अस्तित्व उन्हीं देवताओं में मान लिया गया जो दयालु तथा शुभकारी थे, अर्थात् शुभ एवं अशुभ दोनों प्रवृत्तियाँ एक ही देवता में विद्यमान थीं। वे ही समय-समय पर कभी मनुष्यों का हित करते थे और कभी उन्हें त्रुटि करने के लिए उत्प्रेरित करते थे। हेडीज (Hades) नामक एक दुष्ट देवता के विषय में अवश्य सूचनाएँ मिलती हैं किन्तु उसका सम्बन्ध लोकान्तर से बताया गया है। यद्यपि महाकाव्यों

---

[1] M. M. Macdonell, Vedic Mythology, p. 19

[2] Ibid., p. 13

में उसे कठोर, जिद्दी तथा मानवद्वेषी कहा गया है पर उसने पृथ्वीवासियों की कभी कोई क्षति नहीं पहुँचायी। न तो वह कभी भूकम्प, महामारी अथवा अकाल ही पैदा कर सका न मनुष्य तथा देवताओं के शुभकर्म में कभी बाधक ही बना।

होमर कालीन यूनानी देवताओं के लिए मन्दिर अवश्य बनाते थे किन्तु उनका उपयोग मिस्री अथवा ईसाई पूजागृहों की भाँति धार्मिक गोष्ठियों के लिए नहीं किया जाता था। होमर कालीन यूनानी मन्दिर उनके देवताओं के ऐसे आवास थे जहाँ वे आकस्मिक ही आते थे। प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत हित के लिए तथा शासक को राष्ट्रीय हित के लिए देवोपासना करनी पड़ती थी। उपासना मूलतः यज्ञ एवं हवियों पर आधारित थी। देवताओं को प्रसन्न तथा उनकी कृपा प्राप्त करने के लिए भेंट चढ़ाई जाती थी। न तो इसका उद्देश्य पाप से मुक्ति प्राप्त करना था न किसी प्रकार का आध्यात्मिक सुख प्राप्त करना ही। उपासना सरल तथा आडम्बर एवं अनुष्ठान रहित थी। इसमें ऐसा कुछ नहीं था जिसे रहस्यमय स्वीकार किया जा सके। पुजारियों को इनके धर्म में कोई स्थान नहीं मिला था।

होमर कालीन यूनानी धर्म का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं था जैसा मिस्र में मध्य राज्य युग में था। इस काल में यूनानियों ने देवताओं के जिस स्वरूप की कल्पना की तथा उनमें जिन गुणों को आरोपित किया उसके अनुसार वे सद्मार्ग के समर्थक अवश्य थे किन्तु यह समर्थन उन्होंने असत् का विरोध करके नहीं किया। वास्तव में उपासक देवता से उसको दी गयी भेंट तथा उनकी इच्छा के कारण ही कुछ प्राप्त कर सकता था। इसमें नैतिक आचरण को कोई महत्त्व नहीं मिला था। इस दृष्टि से केवल मिथ्या-शपथ को वे अपराध मानते थे। इनके नीतिशास्त्र में जिन गुणों की प्रशंसा की गई है उनमें पराक्रम, आत्म-नियंत्रण, देश-भक्ति, बुद्धिमता, मित्र-प्रेम एवं शत्रु से घृणा का उल्लेख किया जा सकता है। इन गुणों का अन्तिम लक्ष्य व्यक्ति को एक योद्धा के रूप में तैयार करना था। परोपकार या क्षमा जैसे गुण कभी भी इनके नीतिशास्त्र में श्रद्धेय स्थान न पा सके।

होमर कालीन यूनानी धर्म में परलोकवाद का अस्तित्व प्रायः नहीं मिलता है। परलोक में आनन्द तथा आध्यात्मिक शान्ति की प्राप्ति पाप से बचने तथा धर्माचरण से होती है इस प्रकार के विचार यहाँ कभी नहीं उत्पन्न हुए। पारलौकिक जीवन के सुख-दुख का निर्धारण लौकिक कर्मों के आधार पर भी किया जाता है ऐसा उन्होंने कभी नहीं सोचा। पौर्वात्य धर्मों में प्रतिष्ठित पाप-पुण्य की मान्यताएँ, ईश्वरीय आदेश, ईश्वर की कृपा द्वारा पाप-मुक्ति तथा मोक्ष के लिए कायाक्लेश इत्यादि अवलम्ब यहाँ नहीं मिलते। परलोक के देवता के रूप में इन्होंने हेडीज की कल्पना की थी किन्तु उसका स्थान प्रायः नगण्य ही बना रहा। परलोक में मृतात्मा थोड़े समय के लिए वैसे रहती थी जैसे पृथ्वी पर। हेडीज के लोक के अतिरिक्त 'इलिसियन प्लेन' (Elysian Plain) तथा तर्तरुस (Tartarus) नामक दो अन्य लोकों की कल्पना भी की गई थी जिसमें प्रथम में ईश्वर के विशेष कृपाभाजन

आनन्द प्राप्त करते थे। इसके लिए उन्हें कुछ करना नहीं पड़ता था। द्वितीय लोक में विद्रोही देवता बन्दी बनाये गये थे। परलोक से सम्बन्धित उदासीनता का प्रभाव उनके मृतक संस्कार पर पड़ा। होमर कालीन यूनानी इस ओर कोई ध्यान नहीं देते थे। इसे सरल दाह-क्रिया द्वारा सम्पन्न किया जाता था। वे न बड़ी समाधियाँ बनाते थे न परलोक में मृतकों की सुख-सुविधा की कोई व्यवस्था करते थे।

होमर काल का महत्त्व

यूनानी इतिहास एवं सभ्यता में होमर कालीन सभ्यता का विशेष महत्त्व है। होमर कालीन यूनानियों का जीवन-दर्शन आशावादिता से परिपूर्ण था। उनका दृढ़ विश्वास था कि जीवन जीवन के लिए है, मोक्ष के लिए नहीं। वे अहमन्य थे तथा स्वार्थों के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते थे। शारीरिक कष्ट एवं तपश्चर्या को इनके यहाँ कोई स्थान नहीं मिला था। उनके सामने कुंठा नामक कोई वस्तु थी ही नहीं। वे स्वतन्त्रता के उपासक थे। आगामी शतियों में जब स्वर्ण कालीन यूनान का उत्कर्ष हुआ तो ये सभी तत्त्व उनके लिए आदर्श एवं अनुकरणीय बने। वास्तव में होमर कालीन यूनानी संस्कृति ने क्लासिकल यूनानी सभ्यता के विकास के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

औपनिवेशिक प्रसार एवं नगर राज्यों का उत्कर्ष

होमर काल के अवसान से लेकर पाँचवीं शती ई० पू० के प्रथम चरण तक का यूनानी इतिहास समस्त भू-मध्यसागरीय क्षेत्रों में औपनिवेशिक प्रसार, नगर राज्यों के उत्कर्ष तथा क्लासिकल यूनानी सभ्यता के विकास का युग है। यूनान का सर्वप्रथम औपनिवेशिक प्रसार होमर काल में हुआ जब बहुत-सी यूनानी जातियाँ ईजियन सागर पार कर एशिया माइनर में बसी थीं किन्तु इस प्रथम औपनिवेशिक प्रसार की गति अत्यन्त मन्द थी। अभी तक यूनानी न तो काले सागर से परिचित थे न भू-मध्यसागर से। आठवीं शती ई० पू० के उत्तरार्द्ध से यह प्रसार तेजी पकड़ने लगा और अगली दो शतियों में वे काले सागर एवं लीबिया के तटीय भाग से लेकर स्पेन तक फैल गए। सिसिली तथा दक्षिणी इटली में तो इनकी संख्या इतनी अधिक हो गई कि रोमवासियों ने इसे 'बृहत्तर यूनान' (Magna Gracia), नाम दे दिया। रोमवासियों को यूनानी सभ्यता के प्रथम पाठ बृहत्तर यूनान से ही मिले थे।

औपनिवेशिक प्रसार के कारण

औपनिवेशिक प्रसार के प्रथम एवं महत्त्वपूर्ण कारण के रूप में यूनान में जनसंख्या की वृद्धि एवं उसके प्रभाव को प्रस्तुत किया जा सकता है। इस समय यहाँ की जनसंख्या का घनत्व इतना अधिक बढ़ गया जिससे नये आवास की तलाश में

यूनानियों को ऐसे पार्श्ववर्ती भू-भागों की ओर बढ़ना पड़ा जहाँ वे सुविधापूर्वक जीवन-यापन कर सकें। इतिहासकार किटो तो जनसंख्याधिक्य को ही उपनिवेशन का मुख्य कारण स्वीकार करते हैं।[1] जनसंख्या की अधिकता का प्रभाव औपनिवेशिक प्रसार पर अवश्य पड़ा किन्तु यदि यूनान की भूमि उर्वर तथा कृषि एवं खनिज की दृष्टि से उपयोगी होती तो शायद इसका इतना गंभीर प्रभाव न पड़ता। यूनानी ऐसे भू-क्षेत्र की खोज के लिए विवश थे जहाँ सुविधापूर्वक कृषि, उद्योग-धन्धे तथा व्यापार किए जा सकें। अतएव यूनान की अनुर्वरता ने इसे और उत्प्रेरित किया। जो कृषि योग्य भूमि थी भी उसकी उचित व्यवस्था नहीं थी। कौटुम्बिक सम्पत्ति से व्यक्ति-विशेष को पृथक् कर दिया जाता था। परिणामतः वे भूमि-विहीन होकर नये क्षेत्र की खोज करते थे। कृषि योग्य भूमि की कमी के कारण आठवीं शती ई० पू० के मध्य काल तक भूमि वितरण के लिए भी आवाज जोर पकड़ने लगी। अतएव शासकों को विवश होकर देश के बाहर बसने के लिए प्रोत्साहित करना पड़ा। यूनानी औपनिवेशिक प्रसार में व्यापार एवं वाणिज्य का भी महत्त्वपूर्ण योगदान था। पहले तो यूनान में जिन्हें कृषि योग्य भूमि न मिल पायी और जो बाहर न जा सके वे उद्योग तथा व्यापार में लग गये किन्तु कालान्तर से यही उद्योग एवं व्यापार औपनिवेशिक प्रसार का कारण बना। इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य लीडियन मुद्रा-प्रणाली ने किया। आयोनियन इस क्षेत्र में सबसे आगे बढ़ गये। मिलिटस (Mylitus) के ऊनी वस्त्र, मिट्टी के बर्तन तथा सुरा को दूर तक प्रसिद्धि मिल गयी। मिटिलीन (Mitylene) एक प्रसिद्ध औद्योगिक नगर के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। धीरे-धीरे अन्य नगर राज्यों का भी इस ओर ध्यानाकृष्ट हुआ। एथेंस, ईजाइना (Aegina), केल्सिस (Chalcis), कोरिंथ (Corinth) इत्यादि शीघ्र ही व्यापारिक एवं औद्योगिक केन्द्र बन गए। उद्योग-धन्धों के विकास के फलस्वरूप उत्पादित वस्तुओं की विक्री के लिए बाजार की आवश्यकता पड़ी तथा कच्चे माल के आयात का प्रश्न उपस्थित हुआ। दोनों के समाधान के लिए यूनानियों को पड़ोसी देशों की ओर बढ़ना पड़ा। द्वितीय शती ई० में दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय उपनिवेशन के भी यही करण थे।[2]

आठवीं शती ई० पू० के मध्य काल की यूनानी राजनीतिक स्थिति भी औपनिवेशिक प्रसार के लिए बहुत कुछ उत्तरदायी थी। इस समय यहाँ अभिजाततंत्रीय शासन प्रचलित था। शासक मुख्य पद पर विभूषित अवश्य था किन्तु उसकी हैसियत अभिजात से अधिक नहीं थी। इनमें कभी-कभी किसी वर्ग की शक्ति अधिक बढ़ जाती थी इसी लिए कहा जाता है कि यहाँ अभिजाततंत्र के बीच अभिजाततंत्र

---

1. H. D. F. Kitto, The Greeks, p. 81
2. See R. C. Majumdar, Hindu Colonies in Far East and Anceint Indian Colonisation in South-East Asia

(Aristocracy within Aristocracy) विद्यमान था। यहाँ शासक एवं शासित में पर्याप्त भेद था। शासक स्वार्थपूर्ति के लिए शासन करते थे। जनसाधारण के हितों के प्रति वे तनिक भी सचेत नहीं थे। कहा जाता है कि मिटिलीन का शासक दंड-ग्रहण कर गलियों में घूमता था और जो उसे पसन्द नहीं करते थे उन्हें पीटता था। ऐसे वातावरण में यूनानियों के मन में देश-प्रेम होते हुए भी देश-त्याग कर स्वस्थ वातावरण में बसने की इच्छा स्वाभाविक रूप से उठती थी। औपनिवेशिक प्रसार शासन के लिए हितकर था अतएव उन्होंने इसके लिए प्रेरणा प्रदान की। यूनानी प्रकृत्या साहसी तथा मनोरंजनप्रिय थे। समुद्रीय यात्राओं में उन्हें विशेष आनन्द मिलता था। इसके लिए वे दूर तक अनायास चले आते थे किन्तु वहाँ जाने के बाद जब उसकी सुख-सुविधा से परिचित हो जाते थे तो पुनः वापस आने का मन नहीं कहता था और फिर उस भाग में अपना उपनिवेश स्थापित ही कर लेते थे। यूनानी उपनिवेश स्थापना का तात्कालिक एक कारण और था। मिलिटस तथा दक्षिणी आयोनियन नगर केरिया (Caria) में नहीं बढ़ सकते थे क्योंकि वह सशक्त था। इसी प्रकार लीसिया की सशक्त उपस्थिति रोड्ज के लिए बाधक थी। यदि उक्त परिस्थिति न होती तो शायद मिलिटस तथा रोड्ज दोनों सूदूर देशों में अपने उपनिवेश न स्थापित करते।[1]

उपनिवेशों की प्रकृति एवं उसका प्रभाव

यूनानी उपनिवेशों तथा अठारहवीं शती ई० के पश्चात्य देशों के उपनिवेशों की प्रकृति में पर्याप्त अन्तर था। यूनानी उपनिवेशों का पैत्रिक नगर से कोई राजनीतिक सम्बन्ध नहीं रह जाता था और वे सर्वथा स्वतंत्र रहते थे। किसी नवीन उपनिवेश की स्थापना के लिए नगर शासक बसने वाले लोगों को संगठित कर उनमें एक नेता चुनता था और उसी के नेतृत्व में नवीन उपनिवेश स्थापित किया जाता था। बाद में भी उसका स्मरण उपनिवेश संस्थापक के रूप में किया जाता था। उपनिवेश स्थापना के पूर्व पोलिस (Polis) डेल्फी (Delphi) के आरकल (Orcle) से परामर्श लेता था। अन्य पोलिसों को भी इस आशय से आमंत्रित किया जाता था कि यदि वे चाहें तो उसमें सम्मिलित हो सकते हैं। यूनानी उपनिवेशों का अपने पितृ-नगर से राजनीतिक सम्बन्ध आवश्यक नहीं था किन्तु उनका धार्मिक एवं भावात्मक सम्बन्ध बना रहता था। कुछ कर्त्तव्यों का निर्वाह उनके लिए आवश्यक था। जैसे जहाँ कहीं भी वे गए अपनी भाषा एवं प्रथाओं को जारी रखा। वर्ष के धार्मिक उत्सवों में पितृ-नगर तथा उपनिवेश-नगर में बराबर सम्बन्ध बनाए रखने का प्रयास किया जाता था। पैत्रिक नगर के निवासियों का उपनिवेशों में खूब आदर-सत्कार होता था। यदि कोई उपनिवेश स्वयं कोई दूसरा उपनिवेश

---

[1] J. B. Bury, A History of Greece, p. 80

स्थापित करना चाहता था तो वह पैत्रिक नगर से नये उपनिवश के लिए शासक नियुक्त करने की सिफारिश करता था।

यूनानी औपनिवेशिक प्रसार यूनानी इतिहास की सामान्य घटना नहीं थी। इसका उसके इतिहास पर विशेष प्रभाव पड़ा। औपनिवेशिक प्रसार के पूर्व का यूनान आर्थिक दृष्टि से संकटग्रस्त था। उपनिवेशों की स्थापना से यह समस्या हल हो गई। इनकी जनसंख्या का प्रचुर भाग उपनिवेशों में चला गया। जिससे उनके अल्प आर्थिक साधन भी पर्याप्त सिद्ध हुए। औपनिवेशिक प्रसार का प्रत्यक्ष प्रभाव यूनानी व्यापार पर पड़ा और दिन-दिन वह बढ़ने लगा। उपनिवेशन से उनकी एकता भी बढ़ गई। एक ओर गैरयूनानियों के सम्पर्क में आने तथा दूसरी ओर उपनिवेशीकरण से विभिन्न यूनानी नगर स्वतः संगठित हो गए। इसी के फलस्वरूप यहाँ अनेक नगर राज्यों का विकास हुआ।

यूनानी नगर राज्यों का स्वरूप एवं उसका विकास

यूनानी पोलिस (Polis) के लिए 'नगर राज्य' शब्दावली का प्रयोग किया जाता है जो यद्यपि त्रुटिपूर्ण है किन्तु यूनानी पोलिस के लिए दूसरा कोई शब्द नहीं मिलता क्योंकि अब पोलिस जैसी कोई चीज नहीं रह गई है, अतएव इसके लिए 'नगर राज्य' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। वास्तव में यूनानी पोलिस तथा नगर राज्यों की प्रकृति में भिन्नता है। यूनानी साधारण पोलिस भी एक राज्य से बढ़कर था। इनका मुख्य नगर ही राज्य माना जाता था। पोलिस के आस-पास के ग्राम तथा दूसरे छोटे नगर उसी से सम्बद्ध रहते थे। विस्तार एवं जनसंख्या दोनों की दृष्टि से अधिकांश पोलिस छोटे थे। स्पार्टा तथा एथेंस का क्षेत्रफल क्रमशः सबसे अधिक 7,800 वर्ग किलोमीटर एवं 2752 वर्ग किलोमीटर था। एक तीव्रगामी पद-यात्री स्पार्टा को दो दिन में पार कर लेता था। अन्य नगर राज्यों का क्षेत्रफल इनकी अपेक्षा बहुत कम था। प्रसिद्ध व्यापारिक नगर कोरिंथ का क्षेत्रफल 758 वर्ग किलोमीटर था। कुछ नगरों का क्षेत्रफल तो 260 वर्ग किलोमीटर से भी कम था। क्षेत्रफल की भाँति इनकी जनसंख्या भी अधिक नहीं रहती थी। 20,000 से अधिक जनसंख्या वाले केवल तीन पोलिस—साइराक्यूज (Cyracuse), एक्रागास (Acragas) तथा एथेंस—थे। पेलोपोनेशियन (Peloponnesian) युद्ध के प्रादुर्भाव के समय एट्टिका की जनसंख्या संभवतः 3,50,000 थी। इसमें 1/2 एथेंसवासी (स्त्री-पुरुष तथा बच्चे सभी मिलाकर), 1/10 अन्य देशीय तथा शेष दास थे। कुछ पोलिस की जनसंख्या तो 5,000 से भी कम थी।

आठवीं शती ई० पू० के मध्य काल में छोटी-छोटी राजनीतिक इकाइयाँ बड़े-बड़े राजनीतिक संगठनों में परिवर्तित होने लगीं तथा उनकी सुरक्षा की समस्या उत्पन्न हो गई। इस उद्देश्य से एक ऊँचा स्थल चुनकर एक दुर्ग बनाया गया। जिसके चारों ओर आबादी बसने लगी। यही समयान्तर से नगर एवं राजनीतिक शक्ति

के केन्द्र के रूप में परिवर्तित हो गये । आर्थिक प्रगति तथा यूनानियों की मिलनसार प्रवृति का भी इस पर विशेष प्रभाव पड़ा । यूनानी अब अपने नगरों में ही रहने लगे तथा अवकाश का समय वहीं व्यतीत करने लगे । यूनानी नगर राज्यों के सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठाया जा सकता है कि इनका विकास छोटे पैमाने पर ही क्यों किया गया ? वास्तव में यहाँ यातायात के साधनों का अभाव था । समुद्री यात्राएँ होती थीं किन्तु सुरक्षित नहीं थीं । इनकी आवश्यकताएँ सीमित थी तथा ये आत्म-निर्भर थे । किन्तु नगर राज्यों के लघुत्व का लाभ इन्हें मिला । विस्तार में छोटे होने के कारण एक नगर राज्य के सभी सदस्य एक दूसरे से परिचित हो जाते थे तथा लोक-जीवन से उनका गहरा सम्बन्ध स्थापित हो जाता था ।

यूनानी नगर राज्यों के उत्कर्ष से हेलेनिक विश्व का लगभग समस्त भू-भाग प्रभावित हुआ । मुख्य भाग पर एथेंस, थीब्ज एवं मेगारा (Megara); पेलोपोनेसस (Peloponessus) में स्पार्टा एवं कोरिंथ; एशिया माइनर तट पर मिलिटस तथा ईजियन तट पर मिटिलीन, सैम्सन एवं केल्सिस विशेष रूप से प्रसिद्ध हुए ।

नगर राज्यों का राजनीतिक विकास

केवल स्पार्टा को छोड़कर अन्य सभी नगर राज्यों का राजनीतिक विकास एक ही रूप में हुआ । प्रारम्भ में सर्वत्र राजतंत्रात्मक (Monarchical) शासन-प्रणाली थी किन्तु आठवीं शती ई० पू० में राजतंत्र के स्थान पर कुलीनतंत्र (Oligarchy) की स्थापना हुई । कुलीनतंत्रात्मक व्यवस्था से यह उम्मीद की जाती थी कि यह कुछ दिन तक विद्यमान रहेगी पर ऐसा न हुआ । व्यापार तथा वाणिज्य की प्रगति के फलस्वरूप समाज में मध्यम वर्ग के सदस्य जैसे दस्तकार व्यापारी तथा सौदागर अस्तित्व में आ गये । इन्होंने भूमिहीनों के साथ साठ-गाँठ करके कुलीन तंत्र के विरुद्ध विद्रोह कर जनमत तैयार कर लिया । इससे वर्ग-संघर्ष तेजी पकड़ने लगा । किन्तु इसका लाभ अवसरवादी नेताओं को मिला । उन्होंने उचित अवसर पाकर मूर्ख जनता को बहका कर शस्त्र बल के आधार पर शक्ति अपने हाथ में ले ली । इन्हें यूनानी टाइरण्ट (Tyrant) कहते थे । प्रारम्भ में तो वे उदारवादी तथा लोकहितैषी बने रहे किन्तु बाद में वे भी शक्ति पाकर अत्याचारी हो गये तथा दमनात्मक नीति का अवलम्बन लेने लगे । इनका अत्याचार इतना अधिक बढ़ गया था कि बाद में टाइरण्ट को 'अत्याचारी शासक' के अर्थ में ही ग्रहण किया जाने लगा; किन्तु छठवीं शती ई० पू० में इन्हें भी हटा दिया गया तथा इनके स्थान पर जनतंत्रात्मक व्यवस्था लागू की गयी ।

स्पार्टा में जनतन्त्र के स्थान पर निरंकुश सैनिकवाद का विकास किया गया । किन्तु यह विकास आकस्मिक नहीं अपितु परिस्थितिजन्य था । उपयुक्त बन्दरगाहों की कमी तथा उत्तर-पूर्व एवं पश्चिम में पर्वतों से घिरे होने के कारण स्पार्टा शेष यूनान से पृथक् रहा । अतएव इनका एकाकी होना सहज एवं स्वाभाविक

था। बन्दरगाहों के अभाव में स्पार्टा को कभी एक व्यापारिक नगर के रूप में प्रतिष्ठित होने का सुयोग न मिला। ऐसी परिस्थित में यहाँ किसी ऐसे वर्ग का अभ्युदय न हो सका जो निरंकुश सैनिकवाद के विरुद्ध आवाज उठाता। स्पार्टा-वासियों द्वारा उक्त शासन-व्यवस्था को अपनाये जाने का एक अन्य कारण भी था। स्पार्टा के डोरियन शासकों ने एकियनों को अपना सर्फ या दास बना लिया। इन्हें हेलट (Helot) या हिलोटीज (Heilotes) कहा गया है। स्ट्रेबो के अनुसार यह नाम हेलस (Helus) के आधार पर किया गया है जहाँ के निवासी सर्वप्रथम सर्फ बनाये गये थे। इनकी संख्या पर्याप्त (2,24,000) थी। इनसे विद्रोह की संभावनाएँ अधिक थीं अतएव इन पर अंकुश रखना आवश्यक था। मेसेनिया (Messenia) अधिग्रहण के बाद उनकी शंका और बढ़ गई। अत: उन्होंने आवश्यक समझा कि वहाँ के निवासियों को सर्फ बना लिया जाय। इसके बाद लगभग सौ वर्षों तक शान्ति बनी रही। सातवीं शती ई० पू० में स्पार्टा को यूनानी नगर राज्यों के नेतृत्व का अवसर मिला। 640 ई० पू० में मेसेनिया ने विद्रोह किया। अर्गोलिद (Argolid) तथा अर्केडिया (Arcadia) ने विद्रोहियों की सहायता की। प्रारम्भ में तो स्पार्टा निवासियों को इस विद्रोह को दबाने में सफलता न मिली पर अन्त में वे सफल रहे। इसका श्रेय टाईटियस (Tyrteus) को दिया जा सकता है। इस विद्रोह से स्पार्टा-वासियों को विश्वास हो गया कि हाथ पर हाथ रख कर वे बहुसंख्यक हेलट पर शासन नहीं कर सकते। अतएव सांस्कृतिक विकास की ओर से विमुख होकर उन्होंने निरंकुश सैनिकवाद को अपनाना ही श्रेयस्कर समझा। इन्हीं कारणों से अन्य यूनानी राज्यों से भिन्न स्पार्टा में उक्त शासनतन्त्र का विकास किया गया। चूँकि स्पार्टा के अतिरिक्त अन्य सभी नगर राज्य एक ही शासनतन्त्र में विकसित हुए थे एतदर्थ यहाँ केवल स्पार्टा तथा अन्य नगर राज्यों में सर्वाधिक प्रतिष्ठित एथेंस का ही विस्तार से अध्ययन किया जायगा।

स्पार्टा

यूनानी नगर राज्यों में स्पार्टा का विशिष्ट स्थान है। यह यूनान के दक्षिणी प्रदेश लकोनिया (Laconia) में स्थित था। यह नगर पिटेनी (Pitane), मेसोआ (Messoa), लिमनी (Limanae), कोनौरा (Konoura) तथा डाइमी (Dyme) पाँच गाँवों का संघ था। यह तीन ओर—पूर्व, उत्तर एवं पश्चिम—से पहाड़ियों तथा दक्षिण समुद्र से घिरा था। यहाँ लगभग 161 किलोमीटर लम्बी एक मैदानी पट्टी थी जिससे इनकी खाद्य समस्या हल हो गई थी किन्तु बन्दरगाहों के अभाव में स्पार्टा व्यापारिक प्रगति न कर सका। स्पार्टा का प्राचीनतम उल्लेख होमर के काव्यों में मिलता है। इलियड में ट्राॅय के राजकुमार द्वारा स्पार्टा की परम सुन्दरी हेलेन के अपहरण, स्पार्टा नरेश द्वारा ट्राॅय पर आक्रमण एवं उसके विध्वंश तथा उसके बाद स्वदेश प्रत्यावर्तन का वर्णन मिलता है। इसी का उपसंहार ओडिसी में किया गया

है। एकियन राजकुमारों ने 1180 ई० पू० में ट्रॉय पर विजय प्राप्त की थी। उनके आगामी लगभग दो सौ वर्षों तक के इतिहास के विषय में कोई सूचना नहीं मिलती है। नवीं शती ई० पू० में इस पर डोरियनों का आक्रमण हुआ जिन्होंने यहाँ के मूल निवासियों को पराजित कर समस्त पेलोपोनेसस पर अधिकार कर लिया। इसके बाद लैसीडीमन (Lacedaemon) को मुख्य केन्द्र बनाया पर इससे वे सन्तुष्ट न रहे। टायगेटस पर्वत के पश्चिम स्थित मेसेनिया के उर्वर मैदानों के प्रति आकृष्ट होकर इस पर आक्रमण कर अधिकार कर लिया। इसी घटना के बाद स्पार्टा-वासियों ने घोर निरंकुश सैनिकवाद को अपनाया था।

शासन-तंत्र को व्यवस्थित रूप देने के लिए लाइकर्गस (Lycurgus) नामक संविधान विशेषज्ञ ने नया संविधान बनाया। लाइकर्गस की ऐतिहासिकता के विषय में मतैक्य नहीं है। पिण्डर के अनुसार लैसीडीमोनियन संस्थाएँ ईगिमियस (Aegimius) द्वारा बनायी गई थीं। यह डोरियन जाति का कोई पौराणिक पूर्वज था। हेलेनिकस (Helanicus) इस विधान को स्पार्टा के प्रथम दो शासकों, प्रोक्लीज (Procles) तथा युरीस्थीनीज (Eurysthenes) की कृति मानता है। थ्युसिडिडीज के अनुसार लैसीडीमोनियन विधान पेलोपोनेशियन युद्ध (Peloponnesian War) की समाप्ति तक चार सौ वर्ष पुराना हो चुका था। हेरोडोटस के अनुसार स्पार्टा निवासी लाइकर्गस को अपने एक प्रारम्भिक शासक का संरक्षक मानते थे। लाइकर्गस की ऐतिहासिकता से सम्बंधित उक्त मतों की समीक्षा करते हुए बरी प्रस्तावित करते हैं कि यदि प्राचीन कवि टाईटियस लाइकर्गस से परिचित होता और उसका उल्लेख एक विधि-निर्माता के रूप में किया होता तो निस्संदेह बाद में लेखकों द्वारा इसका उल्लेख मिलता। अतः यही कहा जा सकता है टाईटियस इससे परिचित नहीं था। इस तर्क में बरी के अनुसार लाइकर्गस मनुष्य नहीं देवता था।[1] प्रसिद्ध इतिहासकार ट्वायनबी भी लाइकर्गस को देवता मानते हैं।[2] लाइकर्गस की ऐतिहासिकता के विषय में जो भी शंका उठाई जाय किन्तु इसके नाम पर जो संविधान बना वह निरंकुश सैनिकवाद का आदर्श उदाहरण है। इसमें प्रशासनात्मक, सामाजिक तथा आर्थिक तीनों पक्षों का समावेश मिलता है।

राजनीतिक पक्ष—लाइकर्गस ने जिस संविधान की रचना की उसके अनुसार शासन शासक, कौंसिल, असेम्बली तथा एफोरेट (Aphorate) द्वारा संचालित किया जाता था। इसमें शासक का महत्त्व सर्वाधिक था। शासक के संदर्भ में तो स्पार्टा का संविधान भी राजतंत्रात्मक माना जा सकता है किन्तु वास्तविकता इससे भिन्न थी। यहाँ एक शासक के स्थान पर दो शासकों की व्यवस्था की गई थी। इसका कारण सम्भवतः दो जातियों का परस्पर मिलना था। एक शासक का सम्बन्ध अगीदी

---

1. J. B. Bury, A History of Greece, p. 129
2. A. J. Toyanbee, A Study of History, Vol. I, p. 151

(Agidae) तथा दूसरे का दक्षिणी लकोनिया के युरीपोण्टीडी (Eurypontidae) जाति से था। इन्हीं दो जातियों ने मिलकर विशाल स्पार्टा नगर का विकास किया था इसी लिए लाइकर्गस ने दोनों जातियों को महत्त्व देना उचित समझा। दो राजाओं की व्यवस्था से एक दूसरे पर पारस्परिक कुछ नियंत्रण अवश्य हो गया जिससे उनके अधिकारों में कुछ कमी आ गयी किन्तु ज्यूस के पुजारी के रूप में वे ही प्रतिमास देवता को भेंट चढ़ाते थे तथा सेना के मुख्य संचालक के रूप में प्रतिष्ठित थे। युद्ध का निर्णय करने, उसमें विघ्न पहुँचाने वाले को दण्डित करने तथा युद्ध-भूमि में किसी के जीवन एवं मृत्यु के निर्णय करने के अधिकारी वही थे। विधानतः शासक ही न्यायाधिकारी भी था किन्तु बच्चों को गोद लेने, पिता की मृत्यु के बाद उत्तराधिकारिणी से विवाह करने तथा सार्वजनिक सड़कों से सम्बंधित वाद ही उसके न्यायालय में तय किये जाते थे। वृद्ध-परिषद् (Council of Elders) प्रशासन की द्वितीय इकाई थी। इसे गेरुसिया (Gerusia) या गेरोंटिया (Gerontia) कहा गया है। यह स्पार्टा का सर्वोच्च न्यायालय तथा प्रशासनिक इकाई थी। यह कौंसिल एक प्रकार से वृद्ध जनों की सभा थी जिसमें सदस्यों की आयु साठ वर्ष से अधिक रहती थी। प्लूटार्क कौंसिल के सदस्यों की संख्या 28 बताता है। दोनों शासक इसके पदेन सदस्य थे। इस प्रकार इसकी कुल सदस्य संख्या तीस थी। इसके सदस्यों का चुनाव असेम्बली द्वारा किया जाता था। जब कोई पद रिक्त होता था तो प्रत्याशियों को असेम्बली के समक्ष एक-एक करके बुलाया जाता था। जिस प्रत्याशी का स्वागत ऊँची आवाज में होता था उसे ही निर्वाचित घोषित कर दिया जाता था। आयु-सीमा के साथ-साथ सदस्यों की योग्यता भी निश्चित रहती थी। सम्भवतः वे ही इसके सदस्य हो सकते थे जिनके पास लकोनिया में भूमि रहती थी तथा जो सेना में कार्य कर चुके रहते थे। इस प्रकार कौंसिल के सदस्यों के चुनाव की दृष्टि से लाइकर्गस का संविधान कुलीन तन्त्रात्मक माना जा सकता है। कौंसिल की सदस्यता एक प्रकार की योग्यता की सनद थी।[1] इसके अधिकार तथा कर्त्तव्य विविध थे। कौंसिल असेम्बली के लिए विचारणीय विषयों के प्रारूप तैयार करती थी, प्रशासन सम्बन्धित कार्य देखती थी तथा सर्वोच्च न्यायालय के रूप में कार्य करती थी। असेम्बली या अपेला साधारण जनों की सभा थी। तीस वर्ष से अधिक अवस्था वाले सभी नागरिक इसके सदस्य थे। 3,76,000 की जनसंख्या वाले नगर में असेम्बली के सदस्यों की संख्या 8,000 थी। इसकी बैठक प्रत्येक पूर्णिमा को बुलाई जाती थी। प्रारम्भ में इसकी अध्यक्षता शासक स्वयं करते थे किन्तु बाद में यह अधिकार एफोरेट को दे दिया गया था। असेम्बली के कर्त्तव्य विविध थे। यह कौंसिल के सदस्यों का निर्वाचन तथा उनके द्वारा प्रस्तावित विधेयक को स्वीकृत कर कानून का रूप देती थी। विधेयक पर बहस

---

[1] J. B. Bury, A History of Greece, p. 116

करने का अधिकार इसे नहीं था। यह केवल उस पर मतदान कर सकती थी। मतदान की विधि वही थी जो कौंसिल के सदस्यों के निर्वाचन की। इस प्रकार यदि असेम्बली के परिप्रेक्ष्य में विमर्श करें तो लाइकर्गस का संविधान प्रजातांत्रिक प्रतीत होता है।

लाइकर्गस के संविधान में सर्वाधिक महत्त्व पाँच सदस्यों के एक निदेशालय (Directorate) का था। इसे एफोरेट (Ahporate) तथा इसके सदस्यों को एफोर (Aphor) कहा जाता था। सदस्यों का निर्वाचन असेम्बली के सदस्य एक वर्ष के लिए करते थे। एफोरेट का अस्तित्व संभवतः लाइकर्गस के पहले भी था किन्तु इसे विशिष्ट राजनीतिक महत्त्व इसी काल में मिला। यूनानी-पारसीक युद्ध के बाद तो इनकी शक्ति और बढ़ गई। एफोरेट ही कौंसिल तथा असेम्बली की अध्यक्षता करती थी तथा शिक्षा-व्यवस्था, सम्पत्ति वितरण एवं नागरिकों के जीवन पर नियंत्रण रखती थी। इसके अतिरिक्त नवजात शिशु के भाग्य-निर्धारण, न्याय सम्पादित करने, सैनिक संचालन तथा शासक को आदेश देने, दोषमुक्त करने अथवा दण्ड देने जैसे उत्तरदायित्व का निर्वाह भी इसे करना पड़ता था। आवश्यकता पड़ने पर यह शासक को पदच्युत भी कर सकती थी।

सामाजिक पक्ष—लाइकर्गस के विधान के अनुसार स्पार्टा की जनसंख्या शासक, पेरिओसी (Perioeci) तथा सर्फ या हेलट तीन वर्गों में बँटी थी। प्रथम वर्ग की संख्या कुल स्पार्टा की आबादी का 1/20 थी किन्तु संख्या में कम होते हुए भी समस्त राजनीतिक अधिकार इन्हें ही प्राप्त थे। पेरिओसी की स्थिति शासक तथा हेलट के बीच की थी। व्यापार, वाणिज्य तथा उत्पादन पर इनका एकाधिकार था। हेलट वर्ग की स्थिति ठीक नहीं थी। वे बराबर स्पार्टा शासकों के प्रताड़न के विषय बने रहते थे। यद्यपि इनकी आर्थिक स्थिति बहुत खराब नहीं थी क्योंकि जिस जागीर में ये काम करते थे उनकी उपज का एक निश्चित भाग इन्हें मिल जाता था तथापि इनकी सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति हेय थी।

समाज को सुव्यवस्थित तथा स्वच्छ रूप देने के लिए यहाँ कुछ कठोर तथा अनिवार्य नियम बनाये गये थे। सर्वप्रथम लाइकर्गस का ध्यान नागरिकों के स्वास्थ्य पर गया था। पिता को स्वस्थ एवं बलिष्ठ सन्तान पैदा करने के लिए विवश कर दिया गया था। नवजात शिशु यदि कमजोर रहता था अथवा उसका शरीर किसी प्रकार दोषयुक्त रहता था तो पिता उसका वध करने का अधिकारी था। इससे बचने के बाद शिशु को एक राज्य-समिति के समक्ष उपस्थित किया जाता था। यह समिति उस बालक के स्वास्थ्य का निरीक्षण करती थी और यदि दोषी पाती थी तो उसे टायगेटस पर्वत की चोटी से फेंक देती थी। स्वस्थ बालक को भी तीन दिन तक जंगलों या पर्वत की गुफाओं में रहना पड़ता था जहाँ उनके वीरता की परीक्षा ली जाती थी। जो इस परीक्षा में सफल होते थे वही जीवित वापस आते थे। सात वर्ष की अवस्था से बालक राज्य की सम्पत्ति मान लिया जाता था तथा उसका

पालन-पोषण एवं शिक्षा-दीक्षा राज्य द्वारा सम्पन्न की जाती थी। इस अवधि में उन्हें राजकीय शिविरों में रहते हुए उसके नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करना पड़ता था। यहाँ वे घास-फूस के मैदान पर सोते थे, सार्वजनिक भोजनालयों में भोजन करते थे तथा सैनिक शिक्षा प्राप्त करते थे। यहाँ उन्हें कठिन से कठिन कष्ट सहने की आदत डाली जाती थी। यहाँ तक कि वे किसी किशोर की भाँति न स्नान कर सकते थे और न उबटन लगा सकते थे। उनका विश्वास था कि ऐसा करने से शरीर कोमल हो जायगा। इनके पाठ्यक्रम में साहित्य, दर्शन, विज्ञान, कला इत्यादि का कोई स्थान नहीं था। इन्हें केवल लिखना तथा पढ़ना बता दिया जाता था तथा सैनिक एवं शारीरिक शिक्षा दी जाती थी। प्लूटार्क के अनुसार लाइकर्गस मौखिक शिक्षा देने का पक्षपाती था। उसका कहना था 'उचित शिक्षा का अर्थ है उचित शासन'। वह नैतिक शिक्षा का समर्थक था और आचरण को ज्ञान से अधिक महत्त्व देता था। स्पार्टा के नवयुवकों को संयमित तथा कठोर बनाना शिक्षा का मुख्य उद्देश्य था। प्लूटार्क के अनुसार कुछ हेलटों को मद्यपान करने के लिए विवश किया जाता था ताकि स्पार्टा के नवयुवक उन्हें विक्षिप्त देखकर यह समझ सकें कि यह कितना हानिप्रद है। उन्हें अपने भोजन के प्रबन्ध के लिए चोरी करने की छूट थी किन्तु भेद खुल जाने पर कशाघात का दण्ड दिया जाता था। यदि शिक्षार्थी का आचरण ठीक और उसका व्यवहार उचित रहता था तो उसे नागरिकों के सार्वजनिक भोजनालयों में जाने की अनुमति मिल जाती थी ताकि राज्य की गति-विधियों से वह परिचित हो सके। बीस वर्ष की अवस्था में विवाह की अनुमति मिल जाती थी किन्तु वे गृहस्थ जीवन नहीं व्यतीत कर सकते थे। उन्हें राजकीय बैरकों में रहना पड़ता था। रात्रि में लुक-छिप कर ही वे अपनी पत्नी से सम्बन्ध स्थापित करते थे। ट्वायनबी लिखते हैं कि स्पार्टा के लड़कों की शिक्षा के अन्तिम दो वर्ष गुप्त-विभाग में काम करने में लगाये जाते थे। ये केवल हत्यारे थे। रात में गाँवों में घूमा करते थे और यदि कोई दास अविनयी होता था, उसमें चरित्र-दोष पाया जाता था या कोई अपनी इच्छा के अनुरूप कार्य करता था तो वह मौत के घाट उतार दिया जाता था।[1]

इस प्रकार तीस वर्ष तक कठोर अनुशासन में रहने के पश्चात् युवक को एक नागरिक के पूर्ण अधिकार एवं उत्तरदायित्व मिल जाते थे। इसके बाद वह उन शासकीय पदों पर नियुक्त किया जा सकता था जिसमें अवस्था की कोई सीमा नहीं रहती थी। किन्तु इसके बाद भी साठ वर्ष तक उसे सैनिक शिक्षा मिलती थी तथा उसका समय शान्ति काल में व्यायामशालाओं, सार्वजनिक भोजनालयों तथा मनोरंजन स्थलों में व्यतीत होता था। युद्ध के समय उसे सैनिक सेवा करनी पड़ती थी। लड़कियों का भरण-पोषण माता द्वारा घर में किया जाता था। किन्तु उन पर

---

[1] A. J. Toyanbee, A Study of History, Vol. I, p. 152

भी कुछ राजकीय नियंत्रण थे। उन्हें एक स्वस्थ माता बनने के लिए आवश्यक रूप से दौड़ने, मल्लयुद्ध, काइट फेकने इत्यादि में भाग लेना पड़ता था। सार्वजनिक नृत्यों एवं उत्सवों के अवसरों पर उन्हें नग्न उपस्थित होना पड़ता था। ऐसा इसलिए किया जाता था ताकि उनके शारीरिक दोष प्रकाश में आ जायँ और उन्हें दूर कर लिया जाय।

विवाह के लिए राज्य द्वारा निर्धारित अवस्था पुरुषों के लिए तीस वर्ष तथा स्त्रियों के लिए बीस वर्ष थी। वैवाहिक जीवन की कठोरता के बावजूद भी यहाँ विधानतः विवाह आवश्यक था। विधान के अनुसार अविवाहित व्यक्ति नागरिकता एवं मताधिकार से वंचित माने जाते थे। उन्हें उन समारोहों एवं उत्सवों में भी भाग लेने की अनुमति नहीं मिलती थी जिसमें स्त्री-पुरुष नग्न नृत्य करते थे। प्लूटार्क कहता है कि शीत-ऋतु में अविवाहित पुरुषों को, यह गाते हुए कि उन्हें अपने पाप का बदला मिल रहा है, लोगों के बीच नग्न घुमाया जाता था। अविवाहित की भाँति निसन्तान भी घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। वास्तव में विवाह का मुख्य उद्देश्य बालक पैदा करना था। इसे कठोर सुजनन नियमों द्वारा नियंत्रित किया गया था। दुर्बल व्यक्ति को यह छूट थी कि वह सन्तान पैदा करने के लिए अपने परिवार के किसी बलिष्ठ व्यक्ति को इस कार्य में लगा ले। प्लूटार्क लिखता है कि दूसरे मानव समाज में केवल अश्लीलता एवं झूठा अभिमान है जो अपनी कुत्तियों और घोड़ियों के लिए तो बच्चे उत्पन्न करने के लिए अच्छे जोड़े मोल या उधार लाते हैं पर अपनी स्त्रियों को तालों में बन्द रखते हैं कि केवल अपने पति से सन्तान उत्पन्न करे। मानो यह पति का कोई अधिकार है चाहे वह रोगी हो, पागल हो या बूढ़ा हो।[1] विधानतः यहाँ अप्राकृतिक मैथुन की भी छूट थी। प्रायः प्रत्येक वृद्ध का कोई न कोई शिशु प्रिय होता था। विवाह के पूर्व युवकों को पर्याप्त स्वतन्त्रता मिली थी अतएव यहाँ वेश्यावृत्ति एवं उपपत्नी के रखने जैसी मान्यताओं को कोई प्रोत्साहन न मिला।

आर्थिक पक्ष—लाइकर्गस के संविधान का मुख्य उद्देश्य स्पार्टावासियों को एक व्यावसायिक सैनिक बनाना था इसी लिए उन्हें कृषिकर्म, व्यापार अथवा व्यावसायिक कार्यों से अलग रखा गया। भूमि पर उसका अधिकार अवश्य था किन्तु उस पर वह स्वयं कार्य न करके हेलट द्वारा कार्य करवाता था। इसी प्रकार व्यापार एवं वाणिज्य पर भी पेरिओसी वर्ग के सदस्यों का अधिकार था जो शासकीय परिवार से पृथक् थे। पहले तो भूमि पर हस्तान्तरण का अधिकार नहीं था किन्तु बाद में यह अधिकार मिल गया जिससे कुछ नागरिक भूमि खरीद कर दूसरे से अधिक समृद्ध बन गये। अन्यथा यहाँ गरीब एवं अमीर में कोई विशेष अन्तर नहीं था। श्रमिक रूप में हेलट कार्य करते थे तथा इन्हें इसके बदले खाद्यान्न मिलता था। हेलटों

---

[1] Plutarch, Lycurgus, Chapter, 15; A. J. Toyanbee, op. cit. p. 152

की गति-विधियों पर नियंत्रण रखने के लिए गुप्त-पुलिस (Krypteia) का प्रबन्ध रहता था जो इच्छानुसार किसी हेलट का कभी भी वध कर सकते थे किन्तु इतना होते हुए भी उन्हें राज्य की सम्पत्ति स्वीकार किया जाता था। उन्हें राज्य से बाहर कोई बेच नहीं सकता था। विधानतः सम्पत्ति-संचय पर प्रतिबन्ध था। इसी उद्देश्य से लोहे की मुद्राएँ प्रचलित की गईं तथा सोने-चाँदी के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाया गया। लोहे की मुद्रा-प्रचलन का लाभ यह हुआ कि एक जोड़ी बैल खरीदने के लिए एक कमरा भरकर लौह-मुद्राओं का रखना कठिन हो गया। व्यापार को हतोत्साहित किया गया, विदेशी यात्रियों के आगमन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया तथा स्पार्टावासियों को विदेश जाने से रोक दिया गया। उनका विश्वास था कि विदेशियों के सम्पर्क में आने से स्पार्टावासी दुर्बल तथा विलासी हो जायेंगे। बर्न्स के अनुसार बहुत से आधुनिक इतिहासकार स्पार्टा के आर्थिक गठन को साम्यवादी मानते हैं किन्तु यह साम्यवाद की अपेक्षा फासिज्म से अधिक समता रखता है यद्यपि यह समता भी अपूर्ण है।[1]

स्पार्टा-संविधान की आलोचना—प्रशासनिक दृष्टि से यह संविधान राजतंत्र, प्रजातंत्र तथा कुलीनतंत्र तीनों का सम्मिश्रण था। शासक की शक्ति एवं उसके महत्त्व के परिप्रेश्य में यह राजतंत्रात्मक ही माना जा सकता है। जो व्यक्ति राजधानी में स्पार्टन शासक का सम्मान देखेगा उसे इस प्रशासन को राजतंत्रात्मक स्वीकार करने के लिए वाध्य होना पड़ेगा। किन्तु यदि शासक से पूछा जाय कि स्पार्टा में कौन सा शासनतंत्र है तो संभवतः वह अपने ऊपर विद्यमान कौंसिल, असेम्बली तथा एफोरेट के अंकुश को ध्यान में रखते हुए इसे प्रजातंत्रात्मक ही बताएगा। यदि कौंसिल के सदस्यों के निर्वाचन एवं उनकी योग्यता के परिप्रेक्ष्य में विमर्श करें तो इसमें कुलीनतंत्र की ध्वनि निकलती है। इस प्रकार स्पार्टन शासन-व्यवस्था रूप-रेखा की दृष्टि से राजतंत्रात्मक, सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रजातंत्रात्मक तथा यथार्थतः कुलीन तंत्रात्मक थी जिसका मूलाधार निरंकुश सैनिकवाद था। स्पार्टा के संविधान का मुख्य उद्देश्य नागरिकों को राज्य के लिये तैयार करना था। इसी भावना के परिणाम-स्वरूप कई शतियों तक स्पार्टा एक सैनिक शिविर बना रहा, जिसमें बौद्धिक विकास की अपेक्षा शारीरिक विकास पर ही विशेष ध्यान दिया गया। इसी कारण यहाँ 550 ई० पू० के पश्चात् हमें किसी कवि, कलाकार अथवा वास्तुविद् का नाम नहीं मिलता। लाइकर्गस ने स्पार्टावासियों को यंत्र बना दिया। लौकिक जीवन के सुखों से वंचित वे प्रकृत्या दंभी, उग्र, लोभी, कामुक तथा स्वार्थवृत्ति वाले बन गये। प्रारम्भ में तो यूनानियों ने उनके प्रति सम्मान प्रकट किया तथा उनकी प्रशंसा की किन्तु बाद में जब वे रक्षक के स्थान पर भक्षक बन गये तो सभी उनके अधः-

---

[1] E. M. Burns, Western Civilization, Vol. I, p. 151

पतन की कामना करने लगे। इसीलिए स्पार्टा के अधःपतन पर किसी को कष्ट नहीं हुआ।

एथेंस

यूनानी नगर राज्यों में सर्वाधिक यश अर्जित करने वाला नगर राज्य एथेंस था। एथेंस का महत्त्व केवल यूनान में ही नहीं अपितु समस्त विश्व में है। यूनानी सभ्यता का चरम विकास एथेंस में ही हुआ था। यह श्रेय एथेंस नगर को नहीं अपितु एथेंस के निवासियों को दिया जाना चाहिए। एथेंसवासी स्वतन्त्रता प्रेमी तथा प्रगतिशील थे। न तो वे स्पार्टा के निवासियों की भाँति कूपमण्डूक बने रहे न कोरिंथवासियों के समान अपनी शक्ति का दुरुपयोग ही किए। एट्टिका प्रदेश का यह नगर लगभग 305 मीटर लम्बी एवं 152 मीटर चौड़ी एक चट्टान पर बसा था। यहाँ मूल्यवान धातुओं तथा प्राकृतिक बंदरगाहों की अधिकता थी। इसी लिए यहाँ व्यापारिक उन्नति हुई।

एथेनियन कथाओं में उल्लेख मिलता है कि एथेनियन एट्टिका के मूल निवासी थे। एथेंस में पहले कोई माइसीनी नगर भी था किन्तु होमर के इलियड में इसे कोई महत्त्व नहीं मिला है। इसकी प्रसिद्धि तो उस समय से बढ़ी जब इसमें लगभग बारह छोटे-छोटे पोलिस मिलकर राजनीतिक एकता के सूत्र में बँध गये। 900 से 600 ई० पू० तक जिस समय स्पार्टा पेलोपोनेसस में अपनी शक्ति का विस्तार कर रहा था तथा हेलेनिक जाति के नेता के रूप में प्रतिष्ठित था एथेंस एक द्वितीय अथवा तृतीय दर्जे का नगर था। संभवतः इसी समय कुछ लोगों ने मिलकर एट्टिका संघ की स्थापना की। एथेंसवासियों की यह पहली उपलब्धि थी। इस सम्बन्ध में हमें थ्युसिडिडीज बताता है कि एट्टिका प्रारंभ में पृथक्-पृथक् समुदायों में विभाजित था जिसे थिसियस (Theseus) के शासन काल में संगठित किया गया था।[1] इसी समय से इसकी गणना यूनान के प्रमुख राज्यों में की जाने लगी। परम्परया यह घटना तेरहवीं शती ई० पू० की मानी जाती है किन्तु एट्टिका का एकीकरण सातवीं शती ई० पू० के पहले नहीं किया गया था।[2] अन्य राज्यों की भाँति यहाँ भी प्रारम्भ में राजतन्त्रात्मक शासन था जिसका अंतिम ज्ञात शासक कोड्रस (Codrus) था जिसने डोरियन आक्रमणकारियों के विरुद्ध लड़ते हुए वीरतापूर्वक आत्मदाह कर लिया था। उसके बाद कोई ऐसा उत्तराधिकारी नहीं था जो उसके पद को ग्रहण करता अतः शासन-सूत्र सामन्तों ने ग्रहण कर लिया। शासन का संचालन दो समितियों द्वारा किया जाने लगा। एक समिति नौ सदस्यों की

---

[1] Thucydides, The Peloponnesian War, p. 106

[2] Will Durant. The Story of Civilization, Vol. II, p. 109 ft.

थी जिन्हें आर्कन (Archon) कहा जाता था। इनका निर्वाचन प्रति वर्ष सामन्त करते थे। शासन-संचालन का प्रमुख उत्तरदायित्व इन्हीं पर था। इनमें एक का नाम घटनाओं की तिथियों के साथ जोड़ा जाता था, दूसरा राज्य-धर्म का प्रधान था तथा तीसरा सेनानायक। इन्हें क्रमशः एपोनिमॉस (Aponymos), वेसिलियस (Basileus) तथा पोलीमार्कोस (Polemarchos) कहा जाता था। अन्य छः आर्कन विधि-निर्माता थे इन्हें थेस्मोथेटाई (Thesmothetai) कहा जाता था। दूसरी समिति एरियोपेगस परिषद् (Council of Areopagus) थी। इसकी सदस्यता भूतपूर्व आर्कनों को मिलती थी। इस परिषद् का विशिष्ट महत्त्व था। यह आर्कनों की गति-विधियों पर नियन्त्रण रखने तथा हत्या, विद्रोह आदि से सम्बन्धित मुकदमों के निर्णय जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित करती थी। यह सभा यह भी देखती थी कि कानून का पूर्णरूपेण पालन हो रहा है अथवा नहीं। जो इसका उल्लंघन करता था उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। लेकिन इतना सब होते हुए भी अभी एथेंस में कानूनों का लिखित रूप नहीं था अतएव सामन्त कृषकों पर अत्याचार करते थे। इस समय यहाँ अंगूर एवं जैतून की खेती का खूब प्रचलन था। किन्तु फसल देर से मिलने के कारण इसका लाभ सामन्त और धनी वर्ग ही उठा पाते थे। फलतः निर्धन कृषक प्रतिदिन दुर्बल होते गये और उनके ऊपर ऋण लदता गया। प्रारम्भ में तो भूमि बंधक रखकर उन्होंने कुछ काम चलाया किन्तु जब इससे भी उनकी आवश्यकता की पूर्ति न हुई तो वे अपने को स्वयं बंधक रखने लगे। धीरे-धीरे वे स्वतन्त्र कृषक के स्थान पर दास बन गये। असन्तोष के इस वातावरण में कोई भी व्यक्ति लाभान्वित हो सकता था।

अतः 632 ई० पू० में साइलोन (Cylone) नामक एक कुलीन ने मेगारा के थीगनीज (Theagenes) नामक टाइरण्ट की पुत्री से विवाह कर उसी की सहायता से एथेंस पर अपना निरंकुश शासन स्थापित करना चाहा। डेल्फी के आर्कनों ने उसे ज्यूस-उत्सव के दिन थेक्रोपोलिस अधिग्रहण की परामर्श दी किन्तु एक बड़े खून-खराबे के बाद भी उसका प्रयास असफल रहा। इससे एथेंस की स्थिति बिगड़ गई तथा सुधार अपरिहार्य हो गया। अतः 621 ई० पू० में ड्रैकों (Dracon) नामक विधिविशेषज्ञ को एक विधि-संहिता की रचना का उत्तरदायित्व दिया गया। हम ड्रैकों के फौजदारी से सम्बन्धित कानूनों से परिचित हैं। उसके कानून अत्यन्त कठोर थे जिसका अनुमान हम इसी से लगा सकते हैं कि एक वक्ता को विनोदिका की एक प्रतियोगिता में इसलिए पुरस्कार मिला था क्योंकि उसने लिखा था कि ड्रैकों की संहिता स्याही से नहीं बल्कि रक्त द्वारा लिखी गयी थी। इसमें एक बंदगोभी चुराने के लिए मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था थी। इसमें संकल्पित एवं आकस्मिक हत्या में स्पष्ट अन्तर मिलता है। न्याय सम्पादन के लिए इसमें 51 न्यायाधीशों की व्यवस्था थी। इसे एफेटी (Aphetae) कहा जाता था। इनका चुनाव युपेट्रिड्स (Eupatrids) में किया जाता था। एरियोपेगस

परिषद् से इसका क्या सम्बन्ध था कहना कठिन है। एफेटी की बैठक समय-समय पर विभिन्न स्थानों पर होती थी। ड्रैकों के कानून अपनी निष्ठुरता के कारण एथेंस में अधिक सम्मान न प्राप्त कर सके। इससे न तो गरीबों की दशा सुधरी न उनका शोषण कम हुआ। इसके विपरीत धनपशुओं को और अधिक प्रोत्साहन मिलने लगा। धनी एवं निर्धन के बीच की खाइँ इतनी अधिक बढ़ गई कि एथेंस का सुधार असंभव-सा हो गया। अन्त में जब कोई विकल्प न मिला तो सोलन (Solon, 648-558 B. C.) नामक व्यक्ति को आर्कन चुना गया तथा उससे सुधार का आग्रह किया गया।

सोलन के संवैधानिक सुधार

सोलन का सम्बन्ध कोड्रस के परिवार से था। पिता का नाम एक्सेस्टिडीज (Execestides) था। माता पेसिस्ट्रेटस (Peisistratus) की चचेरी मौसी थी। सोलन एक दार्शनिक, राजनीतिज्ञ तथा कवि था। प्रारम्भ में तो वह व्यापार में लग गया तथा एक अच्छे व्यापारी के रूप में प्रतिष्ठित हुआ किन्तु पैंतालीस वर्ष की अवस्था में उससे आर्कन बनने; सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक सुधार करने एवं एक संविधान बनाने का आग्रह किया गया।

सोलन का सर्वप्रथम ध्यान आर्थिक संगठन पर गया। ऋण न चुका सकने के कारण बहुत से श्रमिक अब तक दास बन गये थे। इनकी संख्या प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। अतः सोलन ने सभी पुराने ऋणों को (जिसमें सामान्य व्यापारिक ऋण सम्मिलित नहीं थे) पूर्णतया समाप्त कर दिया और ऋण न अदा करने के कारण जो व्यक्ति दास बनाए गये थे उन्हें स्वतन्त्र कर दिया। भविष्य में ऋण न चुका सकने के कारण कोई दास न बनाया जा सके इसके लिए नियम बना दिया गया कि कोई भी ऋण के बदले अपने को बंधक नहीं रख सकता। बंधक में रखी भूमि भी मुक्त कर दी गई। मुद्रा तथा भार-प्रणाली को व्यवस्थित किया गया तथा विदेशी व्यापारियों को एथेंस में बसने के लिए प्रोत्साहित किया गया। इसी प्रकार अंगूर तथा जंतून की कृषि को भी प्रोत्साहन मिला। आय को ध्यान में रखते हुए सोलन ने एट्टिका की सम्पूर्ण जनसंख्या को चार भागों में विभाजित किया—(i) 500 बुशल (Bushel) से अधिक आय वाले (Pentacosiomedimnoi), (ii) 300 से 500 बुशल आय वाले (Hippeis), (iii) 200 से 300 बुशल आय वाले (Zeugitai) तथा (iv) स्वतन्त्र श्रमिक (Thetes)।[1] कर-संग्रह में आय-स्तर का बराबर ध्यान रखा जाता था। तृतीय वर्ग की अपेक्षा द्वितीय तथा द्वितीय की अपेक्षा प्रथम वर्ग के सदस्यों को अधिक कर देना पड़ता था। चतुर्थ वर्ग सीधे कर से मुक्त था। चारों वर्गों के अधिकार अलग-अलग थे। प्रथम वर्ग के सदस्य आर्कन होते थे अथवा

---

[1] William L. Langer, An Encyclopedia of World History, p. 51

सेना का संचालन करते थे। द्वितीय वर्ग के सदस्य छोटे-छोटे शासकीय कार्य करते थे तथा अश्व-सेना में भर्ती होते थे। तृतीय वर्ग के सदस्य सशस्त्र पदाति सेना का निर्माण करते थे। चतुर्थ वर्ग के सदस्य साधारण सिपाही का कार्य करते थे।

शारीरिक विकास के साथ-साथ सोलन बालकों के बौद्धिक विकास का समर्थक था। इसी लिए उसने व्यायाम के साथ-साथ काव्य-संगीत इत्यादि की शिक्षा की भी व्यवस्था की। सोलन स्वतः एक कवि एवं दार्शनिक था अतः वह जानता था कि अच्छा नागरिक वही हो सकता है जो स्वस्थ एवं बुद्धिमान हो। युद्ध में बहुत से सैनिकों के बच्चे अनाथ हो जाते थे अतएव उसने उनके पालन-पोषण का उत्तरदायित्व राज्य को दे दिया। राजकीय निरीक्षण में वेश्यावृत्ति को वैधानिक किन्तु बलात्कार को भीषण अपराध स्वीकार किया गया। आर्थिक व्यवस्था को सुधारने के लिए व्ययसाध्य धार्मिक उत्सवों पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया।

राजनीतिक सुधार की दृष्टि से सोलन एथेंस के प्रजातन्त्र का संस्थापक माना जा सकता है। यद्यपि प्राचीन एरियोपेगस को उसने नहीं छुआ किन्तु उसकी सदस्यता के नियम बदल दिए गये जिसके फलस्वरूप कोई भी प्रथम वर्ग का व्यक्ति उसकी सदस्यता प्राप्त कर सकता था। अब कौंसिल के सदस्यों की संख्या चार सौ कर दी गई इसी लिए इसे चार सौ सदस्यों की कौंसिल (Council of Four Hundred) नाम दिया गया। अब केवल स्वतन्त्र श्रमिक ही इसके सदस्य नहीं हो सकते थे बल्कि अन्य तीनों के लिए इसकी सदस्यता उन्मुक्त कर दी गई। असेम्बली के लिए विचारणीय विषयों का निर्धारण यही करती थी। असेम्बली की सदस्यता से सम्बन्धित नियमों में भी सुधार किया गया। अब श्रमिक वर्ग के व्यक्ति भी इसकी सदस्यता प्राप्त करने लगे। जो आर्कन पहले एरियोपेगस द्वारा चुने जाते थे अब असेम्बली द्वारा चुने जाने लगे। असेम्बली का कार्य केवल कौंसिल द्वारा भेजे गये विषयों पर विचार करना था। सोलन के प्रजातन्त्र का स्पष्ट प्रयोग उसकी न्याय-व्यवस्था में मिलता है। प्राचीन मान्यताओं तथा अभिजात वर्ग के विशेषाधिकारों पर बिना किसी प्रकार की चोट पहुँचाए अपने उद्देश्य में सोलन पूर्णतया सफल रहा। सोलन ने जिस न्यायालय का संगठन किया उसकी सदस्यता सभी वर्ग के व्यक्तियों के लिए खोल दी गई। यह न केवल आर्कनों के निर्णयों के विरुद्ध पुनरावेदन पर विचार करता था बल्कि न्यायाधीशों पर लगाए गये भ्रष्टाचार के आरोपों पर भी विमर्श करता था।

सोलन के सुधारों का महत्त्व—सोलन का मुख्य उद्देश्य एथेंस के सामाजिक भेद को दूर कर समन्वय स्थापित करना था। सोलन एक दूरदर्शी विचारक तथा राजनीतिज्ञ था। वह जानता था कि कब क्या करना चाहिए। एक ओर उग्रदल के नेता भूमि के सम-विभाजन की माँग कर रहे थे तो दूसरी ओर अनुदार नेता सर्व-साधारण को मताधिकार मिलने का विरोध कर रहे थे। किन्तु सोलन ने दोनों पक्षों की माँग को अस्वीकार कर दिया क्योंकि इससे राजनीतिक अव्यवस्था उत्पन्न होने का

भय था। आय के आधार पर किए गये सामाजिक विभाजन में अभिजात वर्ग के अतिरिक्त समृद्ध जन भी ऊँचे पद पर नियुक्त किए जाने लगे। इस प्रकार सोलन ने जिस शासनतन्त्र की स्थापना की वह एक प्रकार का धनिक-तन्त्र (Timocracy) था। किन्तु मताधिकार की व्यापकता से एथेंस में भावी जनतन्त्र के बीज अंकुरित हुए। 66 वर्ष की उम्र में 572 ई० पू० में सोलन राजनीतिक जीवन से संन्यास लेकर मिस्र तथा पूर्वी सभ्यताओं की जानकारी के लिए चल पड़ा। सबसे पहले वह मिस्र गया, उसके बाद साइप्रस। साइप्रस निवासियों के लिए उसने कानून बनाया। कुछ दिन बाद जब वह एथेंस वापस लौटा तो देखता है कि यहाँ से उसका संविधान हटा कर तानाशाही व्यवस्था लागू कर दी गई है।

पिसिस्ट्रेटस एवं उसके उत्तराधिकारी

सोलन के सत्ता से हटते ही है वे संघर्षरत दल शक्तिशाली हो गए जिन्हें सोलन ने काफी दिनों से दबा रखा था। इस समय तीन दल थे। एक दल व्यापारियों के नेतृत्व में सोलन का समर्थक था। इसे शोर (Shore) कहा गया है। दूसरा दल मैदानी लोगों का था जिसके नेता बड़े-बड़े जमींदार थे। इन्हें प्लेन (Plain) कहा गया है। ये सोलन से घृणा करते थे। तीसरा दल किसानों तथा श्रमिकों का था। इन्हें माउण्टेन (Mountain) कहा गया है। यह भूमि के पुनर्विभाजन की माँग कर रहा था। इन परिस्थितियों में सर्वसाधारण के नेता के रूप में हिप्पोक्रेटीज (Hippocrates) का पुत्र पिसिस्ट्रेटस (Peisistratus, 605-527 B.C.) एथेंस का टाइरण्ट बन बैठा। यह एथेंस का प्रथम टाइरण्ट था। इसने समृद्ध तथा महत्त्वाकांक्षी सामन्तों को देश-निष्कासन का दण्ड दिया। कृषकों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए इसने उनमें भूमि वितरित की, जरूरतमंद को रोजगार दिया तथा कृत्रिम जल-प्रणाल, सड़क एवं देवालयों का निर्माण करवाया। लौरियम (Laurium) में चाँदी के उत्खनन को प्रोत्साहित किया तथा नया स्वतन्त्र सिक्का चलाया। संवैधानिक दृष्टि से इसने सोलन के विधान में मामूली परिवर्तन करके उसे प्रजातांत्रिक ढाँचे में तानाशाही बना दिया। आर्कनों का चुनाव पूर्ववत् किया जाता रहा। असेम्बली, चार सौ की परिषद् तथा एरियोपेगस की कार्य-विधि वैसी ही बनी रही। केवल इसमें पिसिस्ट्रेटस की बात को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा था।

पिसिस्ट्रेटस के बाद 527 ई० पू० में इसके पुत्रों हिप्पियस (Hippias) तथा हिप्पार्कस (Hipparchus) के हाथ शक्ति आ गयी। लगभग तेरह वर्ष तक हिप्पियस पिता के पद-चिन्हों पर चलता हुआ अपने को एथेंस का एक योग्य शासक सिद्ध कर दिया किन्तु उसका छोटा भाई हिप्पार्कस कवि एवं विलासी था। वह हारमोडियस (Harmodius) नामक एक मध्यम वर्गीय किशोर के सौंदर्य पर आसक्त हो गया किन्तु वह किशोर अरिस्टोजाइटन (Aristogeiton) नामक एक व्यक्ति के प्रेम-पाश में पहले ही बंध गया था अतएव जब हिप्पार्कस ने उससे प्रणय-निवेदन

किया तो उसने उसे ठुकरा दिया। इसका बदला हिप्पार्कस ने एक अन्य विधि से लिया। उसने अपने भाई से मिलकर हारमोडियस की बहन को एक शोभा-यात्रा में एक डलिया लेकर चलने के लिए आमंत्रित किया किन्तु जब वह उपस्थित हुई तो उसे यह कहकर वापस कर दिया कि वह शोभा-यात्रा के योग्य नहीं है इसी लिए उसे आमंत्रित नहीं किया गया है। बहन के इस अपमान का बदला लेने के लिए हारमोडियस ने अरिस्टोजाइटन के साथ मिलकर एक षड्यन्त्र में हिप्पार्कस तथा हिप्पियस दोनों को समाप्त करने का निश्चय किया किन्तु जब उन्हें ज्ञात हो गया कि उनका भेद खुल गया है वे शीघ्रता में हिप्पार्कस पर टूट पड़े तथा उसकी हत्या में सफल हो गये। किन्तु बाद में हारमोडियस तथा अरिस्टोजाइटन भी मार डाले गये। हिप्पियस को जब इसकी सूचना मिली वह धीरे से बिना किसी को कुछ बताए शोभा-यात्रा में पहुँच गया तथा बड़ी चालाकी से उन लोगों का शस्त्र छीन लिया जो षड्यन्त्रकारियों के साथ थे।[1] इसके बाद उसका मन बदल गया। वह स्वभाव से निरंकुश तानशाह बन गया तथा नागरिकों को दण्ड देने लगा। स्वयं अपनी सुरक्षा के लिए तथा संकट के समय भाग निकलने के विचार से उसने मनीशिया (Manychia) को दुर्गीकृत किया तथा तट पर एक चौकी की स्थापना की। इसके बाद उसने फारस की ओर ध्यानाकृष्ट किया जहाँ एक नवीन शक्ति उदित होकर हेलेनिक विश्व पर अपना प्रभाव जमा रही थी। किन्तु हिप्पियस के व्यवहार तथा निरंकुश तानाशाही व्यवस्था से एथेंस के निवासी उससे घृणा करने लगे। अन्ततः 510 ई० पू० में सामन्तों ने मिल कर आइसोगोरस (Isogoras) के नेतृत्व में स्पार्टा की सहायता से हिप्पियस को अपदस्थ कर दिया। इससे प्रोत्साहित होकर वे अपनी प्राचीन प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील हो गये किन्तु सफल न हुए। क्लीस्थनीज (Cleisthenes) नामक एक सामन्त ने विद्रोहियों को संगठित कर विद्रोह कर दिया। उसने आइसोगोरस को पदच्युत कर स्वयं सत्ता ग्रहण कर ली। स्पार्टावासियों ने एथेंस पर आक्रमण करके आइसोगोरस को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा अवश्य की किन्तु सफलता न मिली। इसके बाद अपनी शक्ति सुदृढ़ कर क्लीस्थनीज ने एथेंस में प्रजातन्त्र की स्थापना की तथा तदनुसार संविधान निर्मित किया।

क्लीस्थनीज के संवैधानिक सुधार

शक्ति ग्रहण करने में एथेंसवासियों ने जिस प्रकार क्लीस्थनीज की सहायता की थी उसका बदला चुकाने के लिए उसने एथेंस के संविधान में आमूल परिवर्तन कर दिया। सर्वप्रथम उसका ध्यान सामन्तवादी व्यवस्था पर गया। सैकड़ों वर्षों से चली आ रही चार जातियों (Tribes) तथा तीन सौ साठ वंशों के अस्तित्व को समाप्त करना आवश्यक समझा गया। इस समय एट्टिका में सौ से दो सौ तक

---

[1] Thucydides, The peloponnesian War, pp. 403-4

छोटे-छोटे जिले विद्यमान थे जिनका अस्तित्व समाप्त करना आवश्यक था। इस उद्देश्य से उसने समस्त एट्टिका को—(i) नगर क्षेत्र (The region of the city), (ii) तटवर्ती क्षेत्र (The region of the coast) तथा (iii) अन्तर्वर्ती क्षेत्र (Inland)—तीन भागों में विभाजित किया। प्रत्येक क्षेत्र को दश समुदायों में बाँट दिया गया जिन्हें त्रित्तीज (Trittyes) कहा जाता था। इस प्रकार कुल तीस त्रित्तीज थे। इसके बाद इन तीसों को दश प्रादेशिक समुदाय में पुनः बाँटा गया लेकिन इस बात का ध्यान रखा गया कि एक क्षेत्र के दो से अधिक त्रित्तीज नहीं सम्मिलित किए जाते थे। प्रत्येक प्रादेशिक समुदाय एक कुल (Tribes) के बोधक हो गये। ये दश कुल—(i) एरेक्थीसिस (Erechthesis), (ii) एगीज (Aegeis), (iii) पेण्डियानिस (Pandianis), (iv) लियोंटिस (Leontis), (v) एकेमेनटिस (Acamantis), (vi) इनीज (Oeneis), (vii) सेक्रोपिस (Cecropis), (viii) हिप्पोथोंटिस (Hippothontis), (ix) इयांटिस (Aeantis) तथा (x) एंटिओकिस (Antiochis) थे।[1] जो जिस प्रादेशिक भाग में रहता था वही उसका सदस्य मान लिया जाता था। बाद में इसे वंशानुगत स्वीकार कर लिया गया।

शासन को जनतन्त्रात्मक बनाने के लिए कौंसिल में भी कतिपय महत्त्वपूर्ण सुधार किए गये। अभी तक इसके सदस्यों की संख्या 400 थी किन्तु इसे बढ़ा कर अब 500 कर दिया गया और इसका नाम कौंसिल ऑव फाइव हण्ड्रेड (Council of Five Hundred) हो गया। प्रत्येक प्रादेशिक समुदाय के पचास-पचास सदस्य इसमें भाग लेते थे। सदस्यों का निर्वाचन लाटरी द्वारा किया जाता था जो एक वर्ष के लिए मान्य था। इनका चुनाव नागरिकों की उस सूची से किया जाता था जिनकी आयु तीस वर्ष से अधिक थी तथा जो एक बार से अधिक सदस्य नहीं बने होते थे। इस प्रकार अब धन एवं कुल दोनों का महत्त्व कम हो गया। प्रत्येक व्यक्ति मत देने तथा पद-ग्रहण करने का अधिकारी था। सदस्यों की संख्या की अधिकता के कारण उनका वर्ष भर एक साथ बैठना असभव एवं कठिन था अतः उसे पचास-पचास की दश टुकड़ियों में विभाजित कर दिया गया था। प्रत्येक समिति 1/10 वर्ष अर्थात् लगभग 35-36 दिन शासन करती थी। यह समिति अपने समय की सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न परिषद् थी। यही अर्थ-व्यवस्था, विदेश-नीति-निर्धारण तथा प्रशासन सम्बन्धी कार्य सम्पन्न करती थी। सार्वजनिक कार्य सम्पन्न करने तथा युद्ध-मंत्रणा करने के अधिकार भी इसे ही मिले थे किन्तु युद्ध-घोषणा तथा संधि करने का अधिकार नहीं था।

असेम्बली को यह अधिकार प्राप्त था कि वह कौंसिल द्वारा प्रस्तावित विधेयक को स्वीकृत, अस्वीकृत अथवा सशोधित करे। यही युद्ध-घोषणा तथा

---

[1] J. B. Bury, A History of Greece, p. 201 ft.

संधि करती थी। नये नागरिकों के प्रवेश से इसका आकार बढ़ गया था। इसके सदस्यों की संख्या 30,000 तक पहुँच गयी थी। असेम्बली की बैठक दशवें दिन की जाती थी।

जनतन्त्रात्मक व्यवस्था को और अधिक सुदृढ़ करने के लिए 'निर्वासन' (Ostracism) का नियम बनाया गया। इस नियम के अनुसार जनसाधारण असेम्बली की इच्छा से किसी समय किसी भी व्यक्ति को राजद्रोह के अपराध में दश वर्ष के लिए देश से निष्कासित कर सकते थे किन्तु जिस बैठक में यह निर्णय लिया जाता था उसका कोरम (Quorum) 6,000 सदस्यों का था। मत गुप्त रूप से मृद्-भाण्ड खण्डों (Ostraka) पर लिख कर दिए जाते थे। निर्वासन-नियम के भय से विद्रोहियों की संख्या कम हो गई। यद्यपि यह नियम बना दिया गया था किन्तु इसे व्यवहार में कम लाया गया क्योंकि इसके प्रारंभ एवं अन्त के नब्बे वर्ष में केवल दश व्यक्तियों को निर्वासन का दण्ड मिला था। 501 ई० पू० में क्लीस्थनीज ने सेना का पुनर्गठन किया। प्रत्येक जाति अपना सेनापति चुनने लगी तथा इन्हीं सेनापतियों (Strategoi) को मिलाकर दश की एक समिति बनायी गयी जो बाद में राज्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समिति बन गयी।

यूनानी-पारसीक युद्ध[1]

छठवीं शती ई० पू० के उत्तरार्द्ध में जिस समय यूनान में स्पार्टा एवं एथेंस क्रमशः अपने निरंकुश सैनिकवाद तथा जनतन्त्र से समस्त यूनान पर अपना प्रभाव स्थापित करने में सन्नद्ध थे उसी समय फारस के हख़ामनीशिय शासक एशिया में अपनी शक्ति का विस्तार कर रहे थे। हख़ामनीशिय साम्राज्य के संस्थापक कुरुश् द्वितीय एवं उसके उत्तराधिकारी कम्बुजिय द्वितीय (Cambyses II) के शासन-काल तक उसकी शक्ति का पूर्ण विस्तार हो चुका था। अगले उत्तराधिकारी दारयवउश् प्रथम (Darias I) का थ्रेस (Thrace), मैसीडन तथा भारत के पश्चिमी सीमा प्रान्तों पर अधिकार हो चुका था। निकटवर्ती क्षेत्रों पर अधिकार कर लेने के पश्चात् स्वाभाविक रूप से उसका ध्यान यूनान के समृद्ध प्रदेशों पर गया। उचित अवसर देखकर 492 ई० पू० में उसने यूनान पर आक्रमण किया। बहुत से नगरों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली किन्तु एथेंस तथा स्पार्टा-वासियों ने वीरता के साथ आक्रमणकारियों का सामना किया। मैराथॉन (Marathon) के मैदान में यूनान तथा पारसीक सेनाएँ शक्ति-परीक्षा के लिए एकत्र हुईं। यद्यपि शत्रु की सेना कई गुनी अधिक थी किन्तु वीर, आत्मविश्वासी एवं स्वतन्त्रता के लिए प्राणोत्सर्ग करने वाले यूनानियों के समक्ष भाड़े के पारसीक सैनिक न टिक सके। विजयश्री एथेंसवासियों को मिली। दारयवउश् प्रथम

---

[1] For detail See Chapter 12

पराजित होकर अपने देश लौट गया और पुनः आक्रमण करने के पहले ही संसार से चल बसा। इस विजय के फलस्वरूप यूनानियों का उत्साह बढ़ गया। अब उन्हें दृढ़ विश्वास हो गया कि उन्हें कोई पराजित नहीं कर सकता है।

पराजय के प्रतिशोध के लिए पारसीकों का यूनान की ओर बढ़ना स्वाभाविक था किन्तु प्रथमतः दारयवउश् प्रथम की मृत्यु और द्वितीयतः मिस्र में उत्पन्न विद्रोह के कारण दश वर्ष तक वे इधर न उन्मुख हुए। ये दश वर्ष एथेंस के भविष्य के निर्णायक दिन थे। थिमिस्टोक्लीज (Themistocles) के नेतृत्व में एथेंस की स्थल-सेना को सुदृढ़ किया गया। 481 ई० पू० में स्पार्टा के नेतृत्व में कोरिंथ में उन राज्यों की, जो पारसीक आक्रमण के विरुद्ध थे, एक सभा बुलायी गई और इसमें निश्चय किया गया कि पारसीक सेना का मुँह तोड़ जबाब देने के लिए उसके जलबेड़े को नष्ट किया जाय तथा थर्मापिली (Thermopylae) के समीप ही उसका प्रतिरोध किया जाय। अतएव जब दारयवउश् प्रथम के उत्तराधिकारी खशयार्श (Xerxes) ने यूनान पर आक्रमण किया तो पूर्णतया सुसज्जित होकर स्पार्टा शासक लियोनिडैस (Leonidas) के नेतृत्व में दश हजार सैनिकों का एल दल थर्मापिली की सुरक्षा हेतु प्रेषित किया गया तथा जलबेड़े का नेतृत्व करता हुआ स्वयं थिमिस्टोक्लीज अर्तेमिसियम (Artemisium) की ओर बढ़ा। किन्तु दुर्भाग्य से इस बार यूनानी दोनों मोर्चों पर पराजित हो गए। कहा जाता है कि दश हजार यूनानी सैनिकों में केवल दो हजार जीवित बचे और अन्य ने स्वतन्त्रता की बलि-वेदी पर अपने प्राणों की आहुति चढ़ा दी। पारसीक सैनिक एथेंस तक बढ़ आए किन्तु वहाँ के निवासी सालमिस (Salamis) तथा ईजाइना की ओर जा चुके थे अतएव क्रोधित होकर उन्होंने एथेंस में आग लगाकर मैराथॉन की पराजय का बदला लिया।

किन्तु यूनानियों की यह पराजय विजय से कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी। अर्तेमिसियम की पराजय के बाद भी यूनानियों ने साहस न खोया। थिमिस्टोक्लीज की परामर्श पर यूनानी जलबेड़ा सालमिस की ओर बढ़कर पारसीक सेना का मुकाबल किया। यद्यपि अभी भी पारसीक सैनिकों की तुलना में इनकी शक्ति बहुत कम थी किन्तु इस बार इन्हें सफलता मिल गयी। इस युद्ध का विश्व-इतिहास में विशेष महत्त्व है। इस पराजय से खशयार्श को गहरा धक्का लगा और अपने तीन लाख सैनिकों को मर्दोनिअस (Mardonius) के नेतृत्व में छोड़कर स्वयं थेसली होता हुआ सर्डिस चला गया। खशयार्श के प्रत्यावर्तित होते ही पारसीक सैनिकों का उत्साह क्षीण हो गया। 479 ई० पू० में मर्दोनिअस भी प्लेटाई के युद्ध में पराजित हुआ। इसी समय माइकेल (Mycale) के युद्ध में भी पारसीक जलबेड़े को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया। सालमिस, प्लेटाई तथा माइकेल की पराजय से पारसीक सैनिकों के छक्के छूट गए और उनकी पुनः जल्दी आक्रमण करने की हिम्मत न पड़ी।

यूनानियों की सफलता के कारण

यद्यपि यूनानियों की शक्ति पारसीकों की तुलना में बहुत कम थी फिर भी वे उक्त संघर्ष में सफल रहे। इसके कई कारण थे। यूनानी राज्य हख़ामनीशिय साम्राज्य से बहुत दूर स्थित था अतएव पारसीक सैनिकों को अपने देश से बहुत दूर आना पड़ा था। ख्शयार्श की बहुत बड़ी शक्ति तो सैनिकों को युद्धस्थल तक पहुँचाने, यातायात के साधन प्रस्तुत करने तथा उनकी रसद के प्रबन्ध में ही खर्च हो जाती थी। इसके विपरीत यूनानियों के सामने ऐसी कोई समस्या नहीं थी। युद्ध उनके अपने देश में हो रहा था अतएव उक्त परेशानियों से वे अछूते थे। यूनानियों में जातिगत एवं भाषागत समानताएँ थीं जबकि पारसीकों का सैनिक संगठन भिन्न-भिन्न जाति, भाषा एवं धर्म के लोगों का समवाय था जिससे उनमें पूर्ण एकता कभी न स्थापित हो सकी। एक ओर यूनान के सैनिक स्वतंत्रता की भावना एवं देश-प्रेम से उत्प्रेरित होकर संघर्ष कर रहे थे तो दूसरी ओर पारसीक सैनिक दबाव में अनिवार्य सैनिक सेवा के बदले लड़ रहे थे। इस तरह एक के समक्ष नैतिक बंधन था तो दूसरे के समक्ष केवल शासकीय दबाव। ऐसी स्थिति में यूनानियों को सफलता मिलनी ही थी। यूनानी ऊबड़-खाबड़ जमीन में लड़ने के अभ्यस्त थे, जबकि पारसीक सैनिक मैदानी भाग में ही लड़ना जानते थे। चूँकि युद्ध यूनान में हुआ अतएव यूनानियों को इसका लाभ मिला।

यूनानी-पारसीक युद्ध के परिणाम

यूनानी-पारसीक युद्ध की प्रस्तुत घटना का विश्व-इतिहास में विशिष्ट महत्त्व है। यदि इस युद्ध में कदाचित यूनान पराजित हो गया होता तो वह एशियाई सभ्यता की प्रभाव परिधि में पूर्णतया आ जाता और उसका स्वतंत्र अस्तित्व सदा के लिए समाप्त हो जाता। यदि ऐसा हो जाता तो शायद यूनानी सभ्यता उस स्थान तक न पहुँच पाती जिसे वह पेरिक्लीज, सिकन्दर महान्, सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू की उपस्थिति से प्राप्त करने में सफल रही। इस विजय के बाद एथेंस की धाक यूनान में और यूनान की धाक समस्त विश्व में जम गई। इसी विजय के फलस्वरूप आने वाली शताब्दियों में यूनानी संस्कृति के जिस कलेवर का निर्माण हुआ उसने अपनी प्रकाश-रश्मि से पाश्चात्य जगत् को आलोकित किया।

डेलोस संघ की स्थापना

पारसीकों पर विजय प्राप्त करने के बाद यूनानियों के समक्ष दो प्रश्न उपस्थित हुए। पहला भावी पारसीक आक्रमण की संभावनाओं को ध्यान में रखते हुए सुरक्षात्मक कदम उठाने तथा दूसरा एशिया माइनर के यूनानी उपनिवेशों को स्वतंत्र कराने का था। दोनों कार्यों के लिए एक संयुक्त शक्ति की आवश्यकता

थी। अतः 477 ई० पू० में एथेंस, ईजियन द्वीपों तथा एशिया माइनर के नगरों को मिला कर एक संघ की स्थापना की गई। इस संघ की बैठक डेलोस (Delos) में हुई और वहीं अपोलो के मन्दिर में इसका कोष रखा गया। इसी लिए इसे डेलोस संघ (Confederacy of Delos) नाम दिया गया। यह एक प्रकार का समुद्री राज्यों का संघ था अतः इसके सदस्यों को अनिवार्यतः जलबेड़ा देना पड़ता था। इसमें कुछ ऐसे सदस्य थे जो जलबेड़ा नहीं दे सकते थे एतदर्थ ऐसी व्यवस्था की गयी कि छोटे राज्य सामूहिक कोष के लिए नियत धनराशि अदा करें। यह कहना कठिन है कि इस राशि का निर्णय कैसे किया जाता था। यह कार्य अत्यन्त कष्टसाध्य एवं उत्तरदायित्वपूर्ण था और अरिस्टाइडीज (Aristides) को सौंपा गया था। जिसने इस कार्य को इतनी जिम्मेदारी से किया कि लगभग पचास वर्ष तक उसका नियम चलता रहा। इस तरह प्रारम्भ से ही इसके दो प्रकार के सदस्य थे। एक जलबेड़ा देते थे तथा दूसरे उसके मूल्य के बराबर धन। लेकिन बाद वाले सदस्यों की संख्या अधिक थी। संघ का नेतृत्व एथेंस को मिला क्योंकि उसके पास सबसे अधिक शक्तिशाली जलबेड़ा था। धन का अधिकार दश एथेंसवासी अधिकारियों को दिया गया था। इन्हें 'यूनान का कोषाध्यक्ष' (Hellenotamiae--treasurer of Greek) कहा जाता था। बैठक की कार्यवाही पर नियंत्रण रखने के लिए एथेंस के पास अधिक मत थे। अतएव छोटे राज्यों पर उसका प्रभाव था। संघ के नेता के रूप में एथेंस को विशेष अधिकार मिले थे।

थिमिस्टोक्लीज

यद्यपि प्रारम्भ में संघ के संचालन में अरिस्टाइडीज ने महत्वपूर्ण कार्य किया किन्तु इसके विकास में विशेष सहयोग थिमिस्टोक्लीज (Themistocles, 527–460 B. C.) ने दिया। थिमिस्टोक्लीज एक बुद्धिमान राजनीतिज्ञ था। थ्युसिडिडीज[1] के अनुसार थिमिस्टोक्लीज में सुस्पष्ट वास्तविक प्रतिभा थी। इस दृष्टि से वह विलक्षण था कि बिना किसी विषय को भली-भाँति जाने अथवा उस पर बहस किए ही वह उसके फल के विषय में जान लेता था। उसकी भविष्यवाणियाँ किसी अन्य की भविष्यवाणी से अधिक सटीक उतरती थीं। जिस विषय से वह परिचित रहता था उस पर तो उसका पूर्ण अधिकार रहता ही था बाहरी विभागों के विषय में भी उसकी जानकारी बहुत अच्छी रहती थी। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि थिमिस्टोक्लीज को कब क्या करना चाहिए इसका सर्वोत्तम ज्ञान था। अतएव इसके संरक्षण एवं निदेशन में एथेंस की समुद्री शक्ति के रूप में अच्छी धाक जम गयी। किन्तु उपरोक्त अनेक अच्छाइयों के बावजूद भी उसे अन्त में जनसाधारण का समर्थन न मिला। कहा जाता है वह लोलुप तथा घूसखोर था। उसने कभी यह बताने की चिन्ता नहीं

---

[1] Thucydides, The Peloponnesian War, p. 90

की कि वह इतना समृद्ध कैसे हो गया। इसी समय एक अन्य प्रतिकूल परिस्थिति भी उपस्थित हो गयी। थिमिस्टोक्लीज की नीति उसके समकालीन एक अन्य नेता साइमन (Cimon) से भिन्न थी। थिमिस्टोक्लीज का विचार था कि एथेंस को स्पार्टा का साथ छोड़ कर फारस के साथ संधि कर लेनी चाहिए क्योंकि वह स्पार्टा-वासियों को संकीर्ण दृष्टिकोण वाला तथा रूढ़िवादी मानता था। किन्तु साइमन इस नीति के विरूद्ध था। उसका विश्वास था कि एथेंस की प्रगति यूनानी राज्यों से मैत्री स्थापित करके ही हो सकती है। वह यूनानी राज्यों के साथ कदम से कदम मिला कर चलना चाहता था। उसका विश्वास था कि फारस से स्थिर मैत्री सम्बन्ध नहीं स्थापित हो सकता क्योंकि कभी भी अवसर पाने पर वह धोखा दे सकता है। इस प्रकार एक तो थिमिस्टोक्लीज की कुछ व्यक्तिगत कमजोरियों से तथा दूसरे पारसीकों के प्रति उदार दृष्टिकोण रखने से एथेंस के निवासी उसके विरुद्ध हो गये तथा साइमन के नेतृत्व में उसे देश-निष्कासन (Ostracism) का दण्ड मिला। कहा जाता है जिस समय सभा में इस पर मतदान हुआ 6,000 मृद्पात्र खण्डों पर थिमिस्टोक्लीज का नाम लिखा था। संभवतः इसमें से एक आज भी विद्यमान है। देश-निष्कासन के दण्ड के बाद थिमिस्टोक्लीज अर्गोस पहुँचा किन्तु वहाँ भी शान्ति न मिली। इसके बाद पेलोपोनेसस के अन्य राज्यों में यात्रा करता हुआ वह कोरसिरा (Corcyra) गया लेकिन जब वहाँ उसे कोई मदद न मिली तो मोलोसी (Molossi) के शासक एडमेटस (Admetas) के यहाँ शरण ली। यहाँ से वह फारस गया जहाँ शासक ने उसका अत्यधिक सम्मान किया तथा उसे मैग्नेशिया (Magnesia) का शासन भार मिला। यहीं बीमारी के कारण उसकी मृत्यु हो गई। यद्यपि कुछ लोगों का विचार है कि अपने वादे को पूरा न कर सकने के कारण उसने आत्म-हत्या कर ली थी। उसकी मृत्यु के बाद मैग्नेशिया के बाजार में एक स्मारक बनवाया गया। कहा जाता है उसकी इच्छा के अनुसार उसकी अस्थियाँ गुप्त रूप से एट्टिका लायीं तथा दफनायी गई थीं।

साइमन

थिमिस्टोक्लीज के पश्चात डेलोस संघ के संचालन का गुरुतर भार साइमन (Cimon, 510-449 B. C.) के पुष्ट कंधों पर आया। साइमन मिल्टियाडीज का पुत्र था। 476 से 462 ई० पू० तक वह सेनापति के पद पर निरन्तर रहा। थिमिस्टोक्लीज को देश निष्कासित करने में इसी का हाथ था। पौसनियस (Pausanias) को सेस्टोस तथा बैजंतियम (Bazantium) से हटाने तथा इयोन (Eion) पर अधिकार करने में इसे सफलता मिली थी। इसके बाद स्काइरस द्वीप (Scyrus Island) को एथेंस का उपनिवेश बना लिया तथा केरिया (Caria), लीसिया (Lycia), केराइस्टस (Carystus) तथा नक्सॉस (Naxos) को संघ का सदस्य बनाया। 466 ई० पू० में साइमन को एशिया माइनर के दक्षिणी तट

पर युरीमिडॉन (Eurymedon) नदी पर पारसीक जलबेड़े को पराजित करने में सफलता मिल गयी। 465-63 ई० पू० में थेसाँस (Thasos) के विद्रोह को दबाया।

थेसाँस के निवासियों ने स्पार्टा से सहायता की याचना की। स्पार्टावासी एथेंस के विरुद्ध उसकी सहायता करने के लिए तैयार तो हो गये थे किन्तु इसी बीच वे स्वयं संकटग्रस्त हो गये। यहाँ एक भूकम्प आ गया जिसमें सम्पूर्ण नगर नष्ट-भ्रष्ट हो गया तथा अधिकांश नागरिक काल कवलित हो गए। उचित अवसर पाकर हेलटों ने विद्रोह कर दिया। स्पार्टा ने विद्रोहियों को दबाने के लिए प्लेटाई, ईजाइना तथा यहाँ तक कि एथेंस से भी सहायता की याचना की। यद्यपि एथेंस के जनतन्त्रवादी स्पार्टा की सहायता नहीं करना चाहते थे किन्तु साइमन की इच्छा पर वे सहायता करने के लिए तैयार हो गये। अत्यन्त कुशल एवं प्रशिक्षित 4,000 पदाति सैनिकों के साथ साइमन स्पार्टा पहुँचा किन्तु वे इथोम (Ithome) के दुर्ग को जहाँ हेलटों ने शारण ली थी, न भेद सके। इससे क्रुद्ध होकर स्पार्टावासियों ने साइमन को उसकी सेना के साथ यह कहते हुए वापस कर दिया कि अब उनको स्पार्टा की आवश्यकता नहीं है। साइमन नमक-नीबू चाटता हुआ वापस आ गया। एथेंसवासियों को उसकी यह नीति अच्छी न लगी। उन्होंने इसे अपना प्रत्यक्ष अपमान समझकर 461 ई० पू० में साइमन को देश-निष्कासन का दण्ड दिया। साइमन के बाद एफियाल्टीज (Ephialtes) जनतंत्र दल का नेता बना किन्तु वह अधिक दिन तक नेतृत्व न कर सका। उसकी उसी वर्ष हत्या कर दी गई तथा पेरिक्लीज (Pericles, 461-429 B. C.) नामक व्यक्ति ने उत्तराधिकार प्राप्त किया।

पेरिक्लीज

पेरिक्लीज पाँचवीं शती ई० पू० का सबसे बड़ा जनतन्त्रवादी था। पेरिक्लीज के समय में न केवल एथेंस का जनतन्त्र पूर्ण सफल हुआ बल्कि इसके साथ यूनान की इतनी सांस्कृतिक प्रगति हुई कि इसे स्वर्ण युग कहा जाने लगा। पेरिक्लीज के पिता जैनथिपस (Xanthippus) भूतपूर्व जल सेनापति थे। इन्होंने सालमिस के युद्ध में भाग लिया था, माइकेल के युद्ध में यूनानी जलवाहिनी का नेतृत्व किया था तथा हेलिसपाँट का अधिग्रहण किया गया था। विल ड्युरैण्ट[1] के अनुसार पेरिक्लीज की माता अगारिस्ट (Agariste) प्रसिद्ध संविधान सुधारक क्लीस्थनीज की पौत्री थीं जबकि बरी[2] के अनुसार उसकी भतीजी या भाँजी (Niece)। इस प्रकार मातृपक्ष से यह अल्कमिओनिड्स (Alcmaeonids) परिवार से सम्बन्धित था। प्रारम्भ से ही पेरिक्लीज की शिक्षा-दीक्षा की उचित व्यवस्था थी। एक ओर प्रसिद्ध संगीत-शिक्षक डेमन (Damon) ने उसे संगीत की शिक्षा दी तो दूसरी ओर पाइथोक्लीडीज

---

1. Will Durant, The Story of Civilization, Vol. II, p. 248
2. J. B. Bury, A History of Greece, p. 332

(Pythocleides) ने उसे संगीत तथा साहित्य में निष्णात् बना दिया। उसके ऊपर जेनो (Zeno) तथा एनेक्जेगोरस (Anaxagoras) के दार्शनिक विचारों की छाप पड़ी थी। प्रारम्भ से ही वह गंभीर तथा विचारशील पुरुष था। साधारण जनों से मिलना-जुलना उसे प्रिय नहीं था। विल ड्युरैण्ट तो उसे यूनान का सर्वोत्कृष्ट व्यक्ति मानते हैं।[1] पेरिक्लीज ने सर्वप्रथम संवैधानिक सुधारों की ओर ध्यानाकृष्ट किया क्योंकि वह जानता था कि आदर्श राज्य की स्थापना आदर्श संविधान द्वारा ही की जा सकती है। इस उद्देश्य से पेरिक्लीज ने जो संवैधानिक सुधार किया उसके फलस्वरूप एथेंस का जनतन्त्र अपनी पूर्णता पर पहुँच गया।

पेरिक्लीज के संवैधानिक सुधार—पेरिक्लीज ने सर्वप्रथम असेम्बली पर ध्यान दिया। इसकी सदस्यता अमीर-गरीब तथा छोटे-बड़े सभी प्रकार के नागरिकों के लिए स्वतन्त्र कर दी गई। असेम्बली को कौंसिल द्वारा रखे गये प्रस्तावों को स्वीकृत या अस्वीकृत करने के साथ-साथ युद्ध, संधि तथा उच्चाधिकारियों की नियुक्ति के अधिकार भी मिल गये। यह अपने नाम से विधेयक पेश कर उसे अधिनियम रूप में परिवर्तित कर सकती थी। किन्तु अधिनियम के रूप में आने के पूर्व उसे कौंसिल के पास विचार के लिए भेजा जाता था। कौंसिल उसे अस्वीकृत नहीं कर सकती थी किन्तु पुर्नविचार के लिए असेम्बली के पास भेज सकती थी। लागू हो जाने के एक वर्ष बाद भी यदि कोई विधेयक दोषयुक्त रहता था तो उसके प्रस्तुतकर्ता को दण्डित किया जाता था। इस प्रकार की व्यवस्था में अच्छी तरह बिना सोचे-समझे कोई किसी विधेयक को प्रस्तुत करने का साहस नहीं करता था। पेरिक्लीज के पूर्व आर्कन पद पर केवल उच्चवर्गीय व्यक्ति ही नियुक्ति पाते थे किन्तु इसने यह अधिकार सभी स्वतन्त्र नागरिकों को दे दिया। दश सेनापतियों की समिति (Strategos) को देश की सर्वाधिक-शक्ति सम्पन्न संस्था बना दिया। सेनापतियों का चुनाव एक वर्ष के लिए असेम्बली द्वारा किया जाता था पर वे पुनः चुनाव में भाग ले सकते थे। इसी नियम के अनुसार पेरिक्लीज इस समिति का अध्यक्ष लगभग तीस वर्षों तक बना रहा। ये सेनापति केवल सेना के स्वामी ही नहीं थे अपितु प्रधान विधायी तथा अधिशाषी अधिकारी थे।

पेरिक्लीज ने न्यायपालिका में भी महत्त्वपूर्ण सुधार किया। अभी तक सर्वोच्च न्यायालय के रूप में एरियोपेगस कार्यरत थी। किन्तु पेरिक्लीज ने इनका अधिकार ले लिया तथा इसे जन-न्यायालयों को दे दिया। न्यायालय की बैठक हेलिया (Halia) नामक स्थान में होती थी इसी लिए इसे हेलियास (Helias) कहा गया है। इसमें सभी प्रकार के मुकदमों के निर्णय किए जाते थे। इसमें 6,000 जूरी (Juror) थे। इनका निर्वाचन लाटरी द्वारा प्रति वर्ष जनता के प्रत्येक वर्ग में से किया जाता

---

[1] Will Durant, The Story of Civilization, Vol. II, p. 248

था। इन्हें कई समुदायों में बाँट दिया गया था। इनमें सदस्यों की संख्या 101 से 1001 तक रहती थी। इनकी अध्यक्षता एक अधिकारी करता था। मुकदमों का निर्णय जूरी बहुमत से करते थे। किसी प्रकार के अधिवक्ता की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। वादी एवं प्रतिवादी स्वयं अपने-अपने पक्ष में दावे उपस्थित करते थे। यद्यपि वादी तथा प्रतिवादी दोनों किसी व्यावसायिक भाषण-लेखक से अपने-अपने भाषण तैयार करवा लेते थे किन्तु इसे सीखकर वे स्वयं न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करते थे। जन-न्यायालयों का निर्णय अंतिम था। उनके निर्णय के विरुद्ध कहीं पुनरावेदन की व्यवस्था नहीं थी। यदि कोई वादी ऐसा मुकदमा जीत जाता था जिसमें अपराधी द्वारा किए गये अपराध के लिए दण्ड नियत नहीं रहता था तो दोनों अलग-अलग दण्ड सुझाते थे। इसमें से किसी एक को जूरी चुन लेते थे। चूंकि एक जूरी एक वर्ष के लिए चुना जाता था इसलिए इसमें सभी को अवसर मिल जाता था। 451 ई० पू० में और अधिक सहयोग प्राप्त करने के लिए पेरिक्लीज ने इसमें कुछ पारिश्रमिक की व्यवस्था भी कर दी। पेरिक्लीज द्वारा स्थापित जन-न्यायालय शायद विश्व में अपने ढंग के अद्वितीय थे। एथेंसवासियों में राष्ट्रीयता पैदा करने के लिए पेरिक्लीज ने नागरिकता से सम्बन्धित कुछ नियम भी बनाया। इस नियम के अनुसार एथेंस का नागरिक केवल वही व्यक्ति हो सकता था जिसके माता-पिता दोनों एथेंस के नागरिक हों। एथेंसवासियों तथा विदेशियों के पारस्परिक विवाह पर प्रतिबंध लगा दिया।

संवैधानिक सुधार के दोष—यद्यपि पेरिक्लीज के संरक्षण में एथेंस का जनतन्त्र पूर्णता पर पहुँच गया था फिर भी इसमें कुछ कमियाँ रह गईं थीं। विल ड्युरैण्ट ठीक ही कहते हैं कि प्रत्येक शासनतन्त्र स्वभावतः अपूर्ण, कष्टकर एवं नश्वर होता है। अतएव पेरिक्लीज की जनतन्त्रवादी व्यवस्था भी यदि दोषपूर्ण थी तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यद्यपि सिद्धान्ततः यह व्यवस्था जनतन्त्रवादी थी किन्तु व्यवहारतः इसमें एथेंसवासियों के केवल 1/7 भाग को ही नागरिकता के अधिकार मिले थे। दासों को सर्वथा इससे पृथक् रखा गया था। इसी प्रकार महिलाओं तथा विदेशियों को भी कोई विशेष प्रतिनिधित्व नहीं मिला था। जनतन्त्रवादी व्यवस्था में जनता अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से ही शासन में हिस्सा बटाती है किन्तु इसमें कौंसल के अतिरिक्त अन्यत्र प्रतिनिधियों की कोई व्यवस्था नहीं थी। पेरिक्लीज का जनतन्त्र समानता के सिद्धान्त पर आधारित था। उच्च पदों पर योग्य एवं निष्णात् व्यक्तियों के साथ ऐसे सर्वसाधारण भी चुनाव के द्वारा स्थान पा जाते थे जिनमें प्रशासनिक क्षमता कम रहती थी। अधिकारियों का कार्यकाल सीमित था। जूरी का चुनाव केवल एक वर्ष के लिए किया जाता था अतएव जब तक वे अनुभव प्राप्त कर योग्य बनते थे उनका कार्य-काल समाप्त हो जाता था। पेरिक्लीज की न्याय-व्यवस्था भी बहुमत पर आधारित थी। लाटरी द्वारा चुने गये

जूरी वाद के सत्यासत्य पर विवेकपूर्ण विचार किए बिना ही न्यायालयों में बहुमत से निर्णय दे देते थे। पेरिक्लीज के शासन काल में ही बलात् एनेक्जेगोरस को मृत्यु-दण्ड मिला था, फीडियस (Pheidias) पर चोरी का लांक्षन लगाया गया था तथा पेरिक्लीज की प्रेमिका एस्पेसिया (Aspasia), जिसकी एथन्स की सर्वाधिक ज्ञान-सम्पन्न एवं प्रतिभाशाली महिला के रूप में प्रसिद्धि थी और जिसके भाषण शैली की प्रशंसा सुकरात ने भी की थी, के ऊपर देवताओं को अपमानित करने का आरोप लगाया गया था। पेरिक्लीज के बाद तो और स्थिति बिगड़ गई क्योंकि सुकरात जैसे महान् दार्शनिक को इसी व्यवस्था में दण्ड मिला था।

राजनीतिक उपलब्धियाँ—संवैधानिक सुधार के बाद पेरिक्लीज का ध्यान साम्राज्य-विस्तार की ओर गया। वह एथेंस को एक अति विस्तृत साम्राज्य के रूप में परिवर्तित करना चाहता था किन्तु उसके सामने स्पार्टा राज्य की उपस्थिति बाधक थी। स्पार्टा राजनीतिक दृष्टि से सुदृढ़ था तथा यूनान में पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुका था। पेरिक्लीज साइमन की इस नीति के विरुद्ध था कि स्पार्टा के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित होना चाहिए। वह चाहता था कि स्पार्टा को मित्र विहीन करके एथेंस का प्रभाव समस्त दक्षिणी यूनान में स्थापित हो जाय। पेरिक्लीज का ध्यान सर्वप्रथम थेसली तथा अर्गोस राज्यों पर गया। दोनों राज्य बहुत दिनों से स्पार्टा के शत्रु बने थे। पेरिक्लीज ने इनसे मैत्री स्थापित करने में अपना हित समझा। अतः दोनों राज्यों को मित्र बना लिया। 460 ई० पू० में जब कोरिंथ ने मेगारा पर आक्रमण किया तो एथेंस ने उसकी रक्षा की और इस्थमस में अपनी स्थिति मजबूत की। कोरिंथ खाड़ी के पश्चिमी भाग के उत्तरी तट पर अधिकार स्थापित कर लिया। इस प्रकार धीरे-धीरे पेरिक्लीज का प्रभाव बढ़ता गया। लोक्रिस डेलोस संघ का सदस्य बना लिया गया तथा फोसिस, ईजाइना, ट्रोजन तथा एकिया मित्र।

केलियस-संधि—किन्तु इससे भी एथेंसवासियों का मन युद्ध की ओर न उन्मुख हुआ। उनके लिए यह असंभव था कि वे यूनानियों तथा उनके शत्रुओं से साथ-साथ युद्ध करें। अतएव उनके लिये शान्ति का मार्ग अपनाना आवश्यक था। किन्तु पेरिक्लीज एक कुशल राजनीतिज्ञ था। वह एथेंस के प्रभाव को समस्त यूनान पर फैलाना चाहता था। वह कदापि नहीं चाहता था कि उसके साम्राज्य का कोई भाग उससे निकल जाय। साइमन की मृत्यु से पेरिक्लीज को पारसीकों के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाने का अवसर मिला। उचित समय देखकर उसने एक संधि की जिसकी शर्तों के अनुसार पारसीक शासक अर्तख्शयार्श ने ईजियन प्रदेश में युद्ध-पोत न भेजने का वचन दिया तथा एथेंस ने पारसीक साम्राज्य के तटीय भागों पर आक्रमण न करने का वादा किया। इस संधि-वार्ता का मुख्य

दूत एथेंस का सबसे अधिक धनी व्यक्ति, साइमन का बहनोई केलियस (Callias) था इसी लिए इसे 'केलियस-संधि' (Peace of Callias) नाम दिया गया है। इस संधि के फलस्वरूप यूनानी-पारसीक संघर्ष कुछ दिनों के लिए रुक गया।

केलियस-संधि का प्रत्यक्ष प्रभाव डेलोस संघ पर पड़ा। इस संघ की स्थापना फारस की ओर से भावी आक्रमण की संभावनाओं को दूर करने के लिये की गई थी किन्तु जब केलियस-संधि से फ़ारस की ओर से एथेंस निश्चित हो गया तो डेलोस संघ की उपादेयता जाती रही। इस बीच इस संघ का स्वरूप बिल्कुल परिवर्तित हो गया। अब यह मित्र संघ न होकर एथेंस का साम्राज्य बन गया। जो राज्य पोत देते थे उन्हें धन देने के लिए विवश किया गया। अब कोई राज्य इसकी सदस्यता से अलग नहीं हो सकता था। नक्सॉस तथा थेसॉस ने जब इसके लिए विद्रोह किया तो उन्हें दबा दिया गया। इसी प्रकार बहुत से राज्यों को जो इसके सदस्य नहीं थे उन्हें सदस्यता के लिए विवश किया गया। अन्त में इसके कोष को डेलोस से हटा कर एथेंस में स्थापित किया गया और इसका उपयोग निर्माण-कार्यों में किया जाने लगा।

तीस वर्षीय संधि—केलियस-संधि से एथेंसवासियों का प्रभुत्त्व बढ़ने के बजाय घटने लगा। अभी हाल में जिन राज्यों को एथेंस में मिलाया गया था वे सर उठाने लगे। इस प्रयास में फोसिस, लोक्रिस, मेगारा तथा एकियन नगर राज्यों ने स्वतन्त्रता अर्जित कर ली। यह पेरिक्लीज की प्रथम महत्त्वपूर्ण पराजय थी। यद्यपि अभी भी उसका समुद्रीय साम्राज्य अक्षत बना था। 445 ई० पू० में पेरिक्लीज ने स्पार्टा से तीस वर्षीय संधि (Thirty Years Peace) की। इस संधि के अनुसार दोनों राज्य एक दूसरे के मित्र से न संधि कर सकते थे न उन्हें एक दूसरे के विरुद्ध भड़का सकते थे। इस संधि के फलस्वरूप कुछ समय तक एथेंस तथा स्पार्टा को शान्तिपूर्वक रहने तथा साम्राज्य को सुगठित करने का अवसर मिला।

पेलोपोनेशियन युद्ध—431 ई० पू० से 404 ई० पू० तक एथेंस एवं स्पार्टा के मध्य जो इतिहास प्रसिद्ध युद्ध हुआ उसे 'पेलोपोनेशियन युद्ध' (Peloponnesian War) के नाम से जाना जाता है। इस युद्ध का विस्तृत विवरण विश्रुत यूनानी इतिहासकार थ्युसिडिडीज के 'पेलोपोनेशियन वार' (The Peloponnesian War) नामक ग्रंथ में मिलता है। यह युद्ध यूनान की साधारण घटना नहीं है। इसका इतिहास में विशेष महत्त्व है। इस युद्ध के कारण अज्ञात नहीं हैं। पेरिक्लीज के संरक्षण में एथेंस राज्य एक विशाल साम्राज्य में परिवर्तित हो गया तथा बहुत से नगर राज्य उसके अधीन हो गये। पेरिक्लीज ने अधीनस्थ राज्यों के निवासियों को सब प्रकार से सन्तुष्ट करने की चेष्टा की। उन्हें सुख, शान्ति एवं सुरक्षा मिली किन्तु परतंत्रता में रहने के कारण उनमें असंतोष व्याप्त था। इतना ही नहीं बल्कि मेगारा, कोरिंथ, स्पार्टा इत्यादि तो एथेंस के सार्वभौमिक उत्कर्ष से

ईर्ष्या भी करने लगे थे। पारसीक आक्रमण की आशंका से बनाये गये डेलोस संघ को साम्राज्य में परिवर्तित कर देने से स्पार्टावासियों को संदेह हो गया कि शीघ्र ही एथेंस का प्रभुत्व समस्त यूनान पर छा जायगा। दोनों राज्यों की सामाजिक तथा सांस्कृतिक विषमताएँ भी उल्लेखनीय हैं। एक ओर एथेंसवासी प्रजातंत्र के समर्थक, प्रगतिशील, नागर, साम्राज्यवादी तथा बौद्धिक एवं कलात्मक दृष्टि से बढ़े-चढ़े थे तो दूसरी ओर स्पार्टा-निवासी तानाशाही, संकुचित दृष्टिकोण वाले, कृषिपरक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़े थे। एथेंसवासी स्पार्टा वालों को वर्बर एवं असभ्य समझते थे तथा स्पार्टा-निवासी एथेंसवासियों को हेलट का समर्थक समझ कर घृणा करते थे। एक ओर एथेंस की शक्ति जलबेड़े पर आधारित थी तो दूसरी ओर स्पार्टा की शक्ति स्थल सेना पर। इस समय कोरिंथ-खाड़ी का व्यापारिक मार्ग के रूप में विशेष महत्त्व था अतः एथेंसवासी इस पर अपना स्वत्व स्थापित करना चाहते थे। किन्तु कोरिंथ स्पार्टा का मुख्य सहायक था अतएव उसका नाराज होना स्वाभाविक था। इन स्थितियों में युद्ध अपरिहार्य था। वारनर उचित ही प्रस्तावित करते हैं कि यह युद्ध जनतन्त्रवादी एथेंस एवं उसके शत्रुओं के बीच नहीं था बल्कि दो ऐसी शक्तियों के बीच था जिनकी जीवन-पद्धति प्रतिकूल थी।[1]

संघर्ष को बिल्कुल निकट देखकर दोनों राज्य सैनिक तैयारियों में लग गये। पेरिक्लीज ने सभी यूनानी राज्यों का एक सम्मेलन बुलाया जिसका उद्देश्य उपस्थित संकट से छुटकारा पाना था किन्तु स्पार्टा इससे अलग ही न रहा बल्कि गुप्तरूप से अन्य नगर राज्यों को इसमें भाग न लेने के लिए समझाता रहा। इसके फलस्वरूप बहुत से राज्यों ने इस सम्मेलन में भाग न लिया और पेरिक्लीज की योजना निष्फल हो गयी। एथेंसवासी इससे आग बबूले हो गये। स्पार्टावासी भी पीछे हटने वाले नहीं थे। थ्युसिडिडीज के अनुसार एथेंस तथा पेलोपोनेसस के अनुभव विहीन नवयुवक शस्त्र उठाने के लिए व्याकुल हो गये थे। अन्ततः यह अवसर उपस्थित हो गया। 435 ई० पू० में कोरसिरा के एक अधीनस्थ उपनिवेश एपिडैम्नस (Epidamnus) में कुछ संकट पैदा हो गया। इसने अपने मातृ-राज्य कोरसिरा से सहायता की याचना की किन्तु उसने अस्वीकार कर दिया। अन्त में विवश होकर एपिडैम्नस ने कोरिंथ के समक्ष हाथ पसारा। कोरिंथ ने सैनिक सहायता दी। जब कोरसिरा को यह ज्ञात हुआ तो उसने कोरिंथ से अपनी सेना वापस बुलाने की सलाह दी किन्तु कोरिंथ ने जब ऐसा नहीं किया तो दोनों में युद्ध छिड़ गया। इसमें कोरिंथ पराजित हुआ। पराजित कोरिंथ पुनः युद्ध की तैयारी में लग गया। अभी तक कोरिंथ पेलोपोनेशियन संघ का सदस्य था जबकि कोरसिरा स्वतन्त्र था। अतः उसने एथेंस के पास निवेदन के लिए एक दूत भेजा। कोरिंथ ने भी एथेंस के पास एक दूत भेजा। दोनों के दूत

---

[1] Thucydides, The Peloponnesian War Introduction by Rex-Warner, p. 7

एथेंस में उपस्थित हुए। दोनों ने अपनी-अपनी मित्रता के लाभ की वकालत की।[1] किन्तु अन्त में निर्णय कोरसिरा के पक्ष में लिया गया और उसे एथेंस-संघ का सदस्य बना लिया गया। कोरिंथ का यह प्रत्यक्ष अपमान था। इसका बदला उसने दूसरे ढंग से लिया। एथेंस के एक उपनिवेश पोटिडेई (Potidaea), जिसके निवासी रक्त से कोरिंथियन थे, को एथेंस के विरुद्ध भड़का कर विद्रोह करवा दिया। एथेंस की ओर से विद्रोहियों को दबाने के लिए सेना भेजी गयी। लगभग दो वर्ष तक युद्ध चलता रहा। इससे एथेंस की सैनिक शक्ति तथा प्रतिष्ठा दोनों में कमी आयी। जब मेगारा ने कोरिंथ की सहायता की तो पेरिक्लीज ने मेगारा के उत्पादनों को एट्टिका एवं साम्राज्य के बाजारों में जाने से रोक दिया। उपस्थित संकट देखकर मेगारा तथा कोरिंथ ने स्पार्टा से सहायता माँगी। स्पार्टा ने एथेंस के समक्ष समस्या के समाधान का प्रस्ताव रखा किन्तु पेरिक्लीज की ओर से जो कड़ी शर्तें रखी गयीं उससे स्पार्टा सहमत न हुआ। अन्ततः स्पार्टा ने एथेंस से माँग की कि वह सभी यूनानी राज्यों को स्वतन्त्र कर दे किन्तु एथेंस ने इसे अस्वीकार कर दिया जिसके फलस्वरूप दोनों राज्यों ने युद्ध की घोषणा कर दी।[2]

पोटिडेई को लेकर एथेंस तथा स्पार्टा में जो युद्ध हुआ उसमें लगभग सभी यूनानी राज्यों ने भाग लिया। अर्गोस को छोड़कर अन्य समी पेलोपोनेसस राज्यों—कोरिंथ, मेगारा, बियोशिया, लोक्रिस तथा फोसिस—ने स्पार्टा की सहायता की एवं आयोनियन, यूकजाइन तथा ईजियन नगरों ने एथेंस का साथ दिया। प्रथम चरण में यह युद्ध एक प्रकार से समुद्री-शक्ति एवं स्थल शक्ति के बीच एक शक्ति-परीक्षण रूप में उपस्थित हुआ। एथेंस के जलबेड़े से पेलोपोनेसस के समुद्रतटीय नगर क्षतिग्रस्त हुए तथा स्पार्टा की स्थलवाहिनी से एट्टिका राज्य। पेरिक्लीज ने सभी को सीमा सुरक्षा का आदेश दिया। एथेंसवासियों ने प्राचीरों में छिप कर प्राण-रक्षा की किन्तु नगर में अग्नि देवता का ताण्डव नृत्य होता रहा। यदि खाद्य सामग्री की कमी के कारण आक्रमणकारियों को प्रत्यावर्तित न होना पड़ता तो एथेंस नेस्तनाबूद हो गया होता।

अगले वर्ष एथेंस पुनः आक्रमण का शिकार हुआ। दुर्भाग्य से इसी बीच यहाँ प्लेग (संभवतः मलेरिया[3]) फैल गया। थ्युसिडिडीज[4] के अनुसार इसका आविर्भाव सबसे पहले इथियोपिया (ऊपरी मिस्र) में हुआ। वहीं से यह मिस्र तथा लीबिया में पहुँचा। एथेंस नगर में इसका आविर्भाव अकस्मात् सर्वप्रथम पिरियस (Piraeus) में हुआ। उनका विश्वास था कि पेलोपोनेशियनों ने उनके जल-संग्रह स्थलों को विषाक्त कर दिया है। धीरे-धीरे इसका प्रसार चारों ओर हो गया तथा मृत्यु की संख्या बढ़ने

---

[1] Thucydides, The Peloponnesian War, pp. 30-38

[2] Ibid, p. 91

[3] W. H. S. Jones, Malaria and Greek History, p. 132

[4] Thucydides, The Peloponnesian War, p. 123

लगी। इसका प्रभाव तीन वर्ष तक बना रहा। इसमें बहुत से सैनिक तथा नागरिक काल- कवलित हो गये। विपत्ति की मारी एथेंस की जनता पेरिक्लीज से असंतुष्ट हो गई तथा उसे ही इसका कारण मानने लगी। अन्ततः उसे पदच्युत कर दिया गया तथा 50 टलेंट का अर्थ-दण्ड दिया गया। 429 ई० पू० में पेरिक्लीज के दो पुत्र भी महामारी के शिकार हो गये। अन्त में विवश होकर एथेंसवासियों ने पुनः पेरिक्लीज से आग्रह किया कि वह राज-सत्ता ग्रहण करे किन्तु वृद्ध राजनेता स्वयं प्लेग का शिकार हो चुका था जिससे प्रतिदिन उसका स्वास्थ्य क्षीण होता जा रहा था अतः कुछ महीने बीमारी की हालत में बिता कर एथेंस को निस्सहाय छोड़कर वह इस संसार से चल बसा।

पेरिक्लीज की मृत्यु के बाद राजसत्ता साधारण लोगों के हाथ आ गई। ये व्यापारी तथा स्वभावतः उदण्ड थे। उदाहरणार्थ, क्लियोन (Cleon) चमड़े का व्यापार करता था, युक्रेटीज (Eucrates) रस्सी बेचता था तथा हाइपरबोलस (Hyperbolus) चिमनी-निर्माता था। 414 ई० पू० में एल्सिबियाडीज (Alcibiades) जननेता बन गया और अपनी अच्छी धाक जमा ली। कहा जाता है कि एथेंस की जनता इसके संकेत पर चलती थी। इसके कहने पर एथेंस के जहाजी जलबेड़े ने सिसिली के डोरियन उपनिवेश साइराक्यूज (Syracuse) पर आक्रमण कर दिया। इसका विश्वास था कि साइराक्यूज पर आक्रमण करके उस पर अधिकार कर लेने के बाद पश्चिमी भू-मध्यसागरीय क्षेत्र पुनः इसके अधिकार में आ जायेंगे। किन्तु एल्सिबियाडीज का सोचना सही न हुआ। एथेंसवासी इस प्रयास में असफल ही न रहे बल्कि उन्हें बुरी तरह से ध्वस्त कर दिया गया। इससे एथेंस की नौ शक्ति की धाक समाप्त हो गई। इसका प्रत्यक्ष लाभ स्पार्टावासियों को मिला। उन्होंने एथेंस पर पुनः आक्रमण कर दिया और स्थल सेना नायक लाइसेण्डर (Lysander) ने पारसीक सहायता से एथेंस के जलबेड़े पर अधिकार कर लिया। एथेंस स्थल एवं समुद्र दोनों ओर से शत्रुओं से घिर गया। अतः उसके पास आत्म-समर्पण के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प न रह गया। अन्ततः 404 ई० पू० में उसने आत्म-समर्पण कर दिया। उसके सभी जलपोत स्पार्टा के अधीन हो गये, दुर्ग नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया तथा एथेंसवासियों को स्पार्टा के अधीन मान लिया गया। इस प्रकार सत्तर वर्ष के भीतर ही एथेंस की स्वतन्त्रता समाप्त हो गई। इसके बाद प्रतिदिन क्षत-विक्षत, भ्रान्त एवं आदर्श विहीन यूनान का अधःपतन होता गया और थोड़े समय में ही इसके स्वर्ण युग का अन्त हो गया।

पेलोपोनेशियन युद्ध का यूनानी इतिहास में ही नहीं अपितु विश्व-इतिहास में विशिष्ट महत्त्व है। अगर इस युद्ध में एथेंस सफल हो गया होता तो यूनान की सभ्यता एवं संस्कृति स्यात् दूसरे रूप में रहती। यदि एल्सिबियाडीज को सफलता मिल गयी होती तो सिंध प्रदेश तक हेलेनिक सभ्यता के प्रसार का कार्य मैसीडोनियनों के स्थान

पर एथेनियनों ने किया होता तथा यूरोप महाद्वीप को सभ्य बनाने का श्रेय रोम-वासियों के स्थान पर एथेंसवासियों को मिलता।[1] पेलोपोनेशियन युद्ध के फलस्वरूप न केवल एथेंस की संप्रभुता का अन्त हुआ बल्कि धीरे-धीरे समस्त यूनान दुर्बल होने लगा और सभी यूनानी राज्य स्वतन्त्रता खोने लगे। यूनान का नेतृत्व स्पार्टा के हाथ आ गया जो आगामी लगभग तीस वर्ष तक बना रहा यद्यपि थोड़े समय बाद एथेंस स्वतन्त्र हो गया था। 371 ई० पू० में थीब्ज के एपैमिनाँनडैस (Epaminondas) ने ल्युक्ट्रा (Leuctra) के युद्ध में स्पार्टा की सेना को पराजित कर अपनी प्रभुता स्थापित कर ली। किन्तु उसका कार्य काल भी अलोकप्रिय ही रहा। अन्त में 362 ई० पू० में मैंटिनिया (Mantinea) के युद्ध में एपैमिनॉनडैस की पराजय से उसकी शक्ति का भी अन्त हो गया। दीर्घ काल तक युद्ध में फँसे रहने के कारण यूनानी राजनीतिक दृष्टि से दुर्बल हो गये थे। इसी समय एक सजातीय मैसीडोनिया देश में फिलिप द्वितीय (Philip II) ने अपनी स्थिति मजबूत कर ली। साम्राज्य-विस्तार के प्रथम दौर में वह पूर्व में थ्रेस की ओर बढ़ा और वहाँ अधिकार स्थापित कर लेने के बाद अपनी शक्ति एवं नीति-चातुर्य के बल पर थेसली तथा मध्य यूनान पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। 338 ई० पू० में थीब्ज तथा एथेंस पर भी उसका अधिकार हो गया और इस प्रकार लगभग समस्त यूनान पर उसकी धाक जम गई। यूनानियों की सहायता से फिलिप फारस पर आक्रमण करना चाहता था किन्तु अपनी योजना पूरी कर पाने के पूर्व ही वह पारिवारिक संकट में फँस गया। उसके भाग्य का अन्त युद्ध भूमि में पराजय के कारण नहीं बल्कि अपनी प्रियतमा ओलिम्पियस (Olympias) से विमुख होने के कारण (356-323 ई० पू०) हुआ। ओलिम्पियस के कहने पर कि सिकन्दर (Alexander) उसका पुत्र नहीं है उसने उसको (ओलिम्पियस) छोड दिया। किन्तु सिकन्दर की सहानुभूति माता के साथ थी। अन्त में षड्यन्त्र करके पौसेनियस (Pausanias) नामक एक अधिकारी ने उसकी हत्या कर दी।

फिलिप द्वितीय के पश्चात् सिकन्दर ने 337 ई० पू० में सिंहासन प्राप्त किया। राज्य-ग्रहण के समय इसकी अवस्था केवल बीस वर्ष की थी। किन्तु अपने आकर्षक व्यक्तित्व, शौर्य एवं अप्रतिम चातुर्य के कारण शीघ्र ही यह मैसीडोनियनों का श्रद्धेय बन गया। लगभग दो वर्ष तक मैसीडन में अपनी स्थिति मजबूत करता रहा। इसके बाद यूनान की ओर बढ़ा। थीब्ज को छोड़कर सभी यूनानी राज्यों ने उसे अपना नायक स्वीकार कर लिया। 334 ई० पू० में उसने थीब्ज पर भी अधिकार कर लिया। इस प्रकार यूनान की ओर से निश्चित होकर सिकन्दर ने दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया और एशिया माइनर, सीरिया, ईरान, मिस्र, बैबिलोनिया, बैक्ट्रिया तथा सोग्डियाना पर अधिकार करता हुआ भारत भूमि में आ धमका। उत्तर-पश्चिम भाग में स्थित कुछ राज्यों ने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली किन्तु झेलम

---

[1] Thucydides, The Peloponnesian War, Introduction, pp. 7-8

तथा चेनाब के मध्य स्थित राज्य के स्वामी पोरस के साथ उसका भीषण संघर्ष हुआ। विदेशी साक्ष्यों से पता लगता है कि इस संघर्ष में सिकन्दर पूर्णतया विजयी रहा यद्यपि भारतीय साक्ष्यों में इस घटना की चर्चा नहीं मिलती। वीर पोरस की पराजय किसी प्रकार विजय से कम महत्त्वपूर्ण नहीं थीं। अतएव सिकन्दर ने उसका राज्य वापस कर दिया। इसके बाद सिकन्दर और आगे बढ़ना चाहता था किन्तु उसके सैनिकों ने साथ न दिया और वह जोड्रेशिया के रास्ते बैबिलोनिया वापस चला गया। दुर्भाग्य से जिस विस्तृत साम्राज्य की स्थापना उसने की थी उसका उपभोग न कर सका और तैंतीस वर्ष की अल्पायु में ग्यारह जून 323 ई० पू० को सन्निपात ज्वर से पीड़ित होने के कारण चिरशान्ति ले ली।

धर्म

होमर युगोपरान्त प्राचीन यूनानियों के धार्मिक विश्वासों एवं मान्यताओं को हेसिअड तथा अन्य महाकवियों ने स्पष्ट करने का प्रयास किया। होमर काल के यूनानी देवता प्राकृतिक शक्तियों के दैवीकरण तथा काम, क्रोध, मोह इत्यादि मानवीय गुण-दोषों से युक्त थे। देवता सम्बन्धी यह मान्यता बाद में भी बनी रही। किन्तु जहाँ होमर काल में देवता परस्पर लड़ते-झगड़ते हुए भी मनुष्यों के कार्यों में हस्तक्षेप करते थे वहाँ बाद में उनकी अपनी समस्याएँ ही इतनी अधिक हो गई कि उन्हें मानवीय कार्यों में हस्तक्षेप करने का अवसर ही नहीं मिलता था। यूनानी धर्म बहुदेववादी था। इनके देवी-देवताओं की संख्या अगणित थी। हेसिअड तो लिखता है कि उन सब का नाम लेना भी सामान्य मनुष्य के लिए संभव नहीं है। देवताओं की इतनी संख्या भारत तथा मिस्र के अतिरिक्त अन्यत्र शायद नहीं थी। देवाधिपति देव ज्यूस आकाश देव के रूप में प्रतिष्ठित था। उसका आयुध वज्र था। पसाइडन तथा हेडीज इसके दो भाई थे जिसमें प्रथम समुद्र तथा द्वितीय मृत्युलोक का देवता था। ज्यूस की पत्नियों के रूप में डिमीटर (Demeter), मेतिस (Metis) तथा हेरा (Hera) का उल्लेख मिलता है। ज्यूस अपनी पत्नी, बारह पुत्रों तथा परिवार के साथ ओलिम्पस पर्वत की बर्फीली चोटी पर निवास करता था। ज्यूस के पुत्र अपोलो को भी प्रतिष्ठा मिली थी। इसे संगीत, कला, काव्य, औषधि-शास्त्र इत्यादि का देवता माना गया था। डेल्फी तथा डेलोस में इसके सम्मान में विविध उत्सव मनाए जाते थे। डायोनिसस की उपासना सुरा देवता के रूप में की जाती थी। एरिस्टोफेनीज के अनुसार डायोनिसस मुख्यतः स्त्रियों का देवता था तथा वे इसके शिश्न रूप को स्वाभाविक या अस्वाभाविक मैथुन-क्रीड़ा, गायन एवं नृत्य द्वारा मंदिरोत्सव में प्रसन्न करती थीं। डायोनिसस का प्रतीक शिर आरोपित शिश्न था जिसकी स्थापना यहाँ स्थान-स्थान पर की गई थी। डी० डी० कोसम्बी के अनुसार ई० पू० चौथी शती में जब यूनानियों ने भारत पर आक्रमण किया तो देखा कि पर्वतीय प्रदेश में डायोनिसस की पूजा होती थी। यूनानियों का यह डायोनिसस प्रचण्ड योद्धा एवं पियक्कड़ इन्द्र ही हो

सकता है।[1] हमीर्ज पथ-प्रदर्शन, वाणिज्य, व्यवसाय तथा लेन-देन का देवता था। वह चोरों को आश्रय ही नहीं देता था बल्कि स्वयं चोरों का सरदार था। इसकी कल्पना भारतीय वैदिक रूद्र से मिलती-जुलती है।

देवताओं के साथ-साथ प्राचीन यूनानी अनेक देवियों की उपासना भी करते थे। इनमें एथेना, एफ्रोडाइटि, हेरा, डिमीटर, अर्तेमिस तथा हेफासटोस को विशेष प्रतिष्ठा मिली थी। अस्त्र-शस्त्र-युक्त एवं सामरिक गुणों से विभूषित, शान्तिदात्री, लोक-कल्याणकारिणी एवं ज्ञानदेवी एथेना का आविर्भाव आकाश देव ज्यूस के मस्तिष्क से हुआ था। एथेना ने ही आकाश में तूफानों का नाश किया तथा यूनान में जैतून बृक्ष की सृष्टि की। एफ्रोडाइटि प्रेम, काम, दाम्पत्य एवं प्रसव की देवी थी। यही देवी बाद में रोम में वीनस नाम से प्रतिष्ठित हुई। इसका आविर्भाव भारतीय लक्ष्मी के समान समुद्र से हुआ था। काम-वासना के उत्प्रेरक इरोस (Iros) की जननी यही थी। स्त्रियों की देवी के रूप में हेरा तथा पृथ्वी माता के रूप में डिमीटर का स्थान भी कम नहीं था। इन देवी-देवताओं के अतिरिक्त प्राचीन यूनानी अन्य विविध देवी-देवताओं एवं शक्तियों की उपासना भी करते थे। इनका सम्बन्ध गृह, कुल, ग्राम, नगर, कला, साहित्य, काव्य, नाटक, नृत्य, गान इत्यादि से रहता था।

यूनानी देवी-देवताओं की प्रकृति एक समान नहीं थी अतः उनकी उपासना भी वे भिन्न-भिन्न रूपों में करते थे। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए प्रतिदिन भोजन-ग्रहण करने के पूर्व उन्हें खाद्य एवं सुरा समर्पित करते थे। त्योहार के दिनों, सभाओं के प्रारम्भ में, न्यायालयों के खुलने के समय तथा जन्म-मृत्यु एवं विवाह जैसे महत्त्वपूर्ण अवसरों पर सार्वजनिक भेंट चढ़ाई जाती थी। इसमें मुख्यतः खाद्य, पेय, वस्त्र एवं आभूषण अर्पित किये जाते थे तथा नृत्य, गायन-वादन एवं क्रीड़ा का आयोजन किया जाता था। ज्यूस के सम्मान में आयोजित ओलिम्पिक एवं नेमियन, पासाइडन के सम्मान में इस्थमियन तथा अपोलो के सम्मान में पीथियन उत्सवों का विशेष महत्त्व था। कुछ उत्सवों में तो वे अत्यन्त कामुकता पूर्ण आचरण करते थे जैसे डायोनिसस के सम्मान में आयोजित उत्सवों में। प्राचीन यूनानियों की उपासना-विधि सरल थी। इसमें पुरोहितों की सहायता ली जाती थी किन्तु यहाँ मिस्र के समान व्यावसायिक पुरोहित नहीं थे। परिवार का स्वामी पिता ही सिद्धान्ततः तथा व्यवहारतः दोनों दृष्टियों से पुरोहित का कार्य करता था। कभी-कभी सामूहिक रूप से देवताओं की पूजा की जाती थी जिसमें विभिन्न नगर अपने-अपने प्रतिनिधि भेजते थे।

यूनानी धर्म में नैतिकता को कोई स्थान नहीं मिला। देवताओं से उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं था। इसी तरह इसमें आध्यात्मिक तत्त्व का विकास भी नहीं किया गया था। देवताओं की कल्पना किसी ऐसी अलौकिक सत्ता के रूप में नहीं

---

1. डी० डी० कोसम्बी, प्राचीन भारत की संस्कृति एवं सभ्यता, पृ० 147-48

की गई जिसमें अमरता के अतिरिक्त कोई अन्य वैशिष्ट्य हो। उपासना का मुख्य उद्देश्य अपनी इच्छाओं एवं आकांक्षाओं को पूर्ण करना, लोगों में परस्पर मैत्री-भाव की स्थापना करना तथा ईश्वर की कृपा प्राप्त करना था। उपासना का जो उद्देश्य व्यक्ति-विशेष का था वही राज्य का भी। यूनानी अंधविश्वासी थे तथा भूत-प्रेतादि की सत्ता मानते थे। अंधविश्वास के कारण तो उन्हें कभी-कभी भयङ्कर क्षति भी उठानी पड़ती थी। जैसे, जिस समय दारयवउश् प्रथम के सैनिक मैराथॉन में एकत्र हुए थे, स्पार्टा एथेंसवासियों की सहायता करना चाहता था किन्तु अंधविश्वास के कारण उसके सैनिक पूर्णिमा के पहले मैदान में नहीं उतर सकते थे अत: वे युद्ध-भूमि में तब पहुँचे जब युद्ध समाप्त हो चुका था। मेसोपोटामिया की भाँति यहाँ भी शकुन-विचार की प्रथा थी। इसके प्रमुख केन्द्र डेल्फी तथा डेलोस थे। यहाँ दूर-दूर से लोग आकर देवता को भेंट चढ़ाते थे तथा अपने प्रश्नों का उत्तर मंदिर में विद्यमान पुजारिणियों द्वारा प्राप्त करते थे जो अर्द्ध-चेतनावस्था में प्रश्नों का सांकेतिक उत्तर देती थीं। मंदिर के पुजारी उसकी व्याख्या करते थे। आश्चर्य है कि यूनान के बड़े-बड़े योद्धा, शासक तथा राजनीति विशारद इन भविष्यवाणियों पर विश्वास करते थे।

यूनानी धर्म में रहस्यात्मक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने वाली गुह्य संस्थाएँ (Mysteries) भी अस्तित्व में आ गईं थीं। अनुष्ठानों का सम्बन्ध विशेषकर उन देवताओं की कथाओं से था जो मर कर पुनर्जीवित हुए थे। इसमें सर्वाधिक प्रसिद्ध एल्युसिनियन संस्था (Eleusinian Mystery) थी। इसका सम्बन्ध डिमीटर तथा पर्सीफोन से था। यद्यपि अद्यतन इस संस्था के क्रिया-कलापों के विषय में अधिक जानकारी नहीं हो सकी है क्योंकि इसकी गति-विधियों को छिपाकर रखा जाता था केवल हम इतना जानते हैं कि इस संस्था के लोग भावना, विश्वास, श्रद्धा तथा आध्यात्मिक प्रयत्न द्वारा अमरत्व एवं देवत्व प्राप्त करने में विश्वास रखते थे। इसके लिए नृत्य, अभिनय इत्यादि का अवलम्बन लिया जाता था। पारलौकिक जीवन के विषयों में यूनानियों की धारण स्पष्ट नहीं हो पायी है। संम्भवत: इस दिशा में वे उदास थे। उनका केवल इतना विश्वास था कि मनुष्य मृत्यु के बाद अल्प काल के लिए हेडीज के लोक में जाता है किन्तु इसके बाद के विषयों में उनका ज्ञान प्राय: न के बराबर था। मिस्र के समान न तो यहाँ मृतक-संस्कार सम्पन्न किये गए न मृतकों की स्मृति में विशाल स्मारक ही बनाए गये। वास्तव में प्राचीन यूनानियों के समक्ष लौकिक विषय तथा लौकिक जीवन की समस्याएँ ही इतनी अधिक थीं कि परलौकिक जीवन के विषय में चिन्तन का उन्हें अवसर ही नहीं मिलता था।

कला

हेलेनिक सभ्यता की आत्मा हेलेनिक कला है। इसके द्वारा हम हेलेनिक यूनानियों के विषय में बहुत कुछ जान जाते हैं। प्राचीन विश्व की अन्य कलाओं

की भाँति यूनानी कला की भी कतिपय विशेषताएँ थीं। यूनानी भौतिकवादी थे। प्लेटो तथा कुछ रहस्यवादियों को छोड़कर शेष यूनानियों की धर्म के प्रति कोई विशेष आस्था नहीं थी। इसी लिए केवल भौतिक उपादन ही उनके आदर्श बने। यूनानी मनुष्य को विश्व में सर्वोत्कृष्ट मानते थे। मनुष्य उनकी दृष्टि में प्रकृति का प्रतीक था। उनका विश्वास था कि मनुष्य तथा देवताओं में केवल रूप का अन्तर है। इसी लिये मनुष्य का सौंदर्यपूर्ण चित्रण कर वे उसमें देवत्व आरोपित करना चाहते थे। यूनानी वस्तुकला एवं स्थापत्य कला में सन्तुलन, संगति, शैली एवं संयमन का अभूतपूर्व समन्वय है। अलंकारिक उच्छृङ्खलता तथा परम्परा के बंधन इसमें नहीं मिलते। थ्युसिडिडीज विश्रृंखलता विहीन सौंदर्य का प्रेमी था। अर्थात् यूनानी कला संयमित एवं मर्यादित थी। शरीर का जितना सूक्ष्म ज्ञान कलाकार को रहता था उतना ही वह उसमें आदर्शपूर्ण यथार्थता, भाव-भंगिमा एवं गति प्रदान करने की चेष्टा करता था। अद्वितीय सौंदर्य प्रदर्शन में उन्हें नग्न मूर्तियों के निर्माण में भी तनिक हिचक नहीं होती थी। यूनानी कला सार्वभौमिक थी। इसमें व्यक्ति-विशेष को कोई महत्त्व नहीं मिला था। मानवीय आकृतियाँ किसी व्यक्ति-विशेष की नहीं अपितु समस्त मानव जाति की उत्कृष्टता की द्योतक थीं।

वास्तुकला

यूनानी वास्तुकला का प्रारम्भिक रूप इनके मंदिरों में मिलता है। प्रारंभ में इनमें ईंट तथा लकड़ी प्रयुक्त की जाती थी। कलात्मक दृष्टि से इन्हें आकर्षक नहीं माना जा सकता। शनैः-शनैः जब पाषाण का ज्ञान हो गया तथा यूनानियों का मिस्र एवं क्रीट से सम्पर्क स्थापित हुआ तो यहाँ भी पाषाण का प्रयोग किया जाने लगा। इनके मंदिरों की योजना एवं रूपरेखा सरल थी। इनका निर्माण आयताकार आधार पर किया जाता था। मंदिरों के स्तम्भ पूर्णतया अलंकृत रहते थे। सत्यता तो यह है कि यूनानी स्तम्भों को भवनों की सौन्दर्य-वृद्धि का एक माध्यम स्वीकार करते थे। छठवीं शती ई० पू० तक यहाँ वास्तुकला में दो स्तम्भ शैलियाँ विकसित की जा चुकी थीं। इन्हें डोरिक (Doric) तथा आयोनिक (Ionic) नाम दिया गया है। डोरिक शैली में निर्मित स्तम्भ भारी-भरकम तथा धारी वाले होते थे। इनमें कोई आधार नहीं होता था। ये सीधे मंदिर के धरातल से जुड़े तथा नीचे से ऊपर पतले होते थे। इनका शीर्ष-भाग सादा होता था। इसके विपरीत आयोनिक शैली में निर्मित स्तम्भ तिहरे आधार पर टिके होते थे। डोरिक शैली के स्तम्भों की अपेक्षा ये हल्के, आकर्षक तथा सरल लम्बी धारी वाले होते थे। इनका शीर्ष-भाग मरगोल होता था। डोरिक शैली यूनान तथा पश्चिमी उपनिवेशों में प्रचलित थी जबकि आयोनिक शैली ईजियन प्रदेश एवं एशियाई उपनिवेशों में। एथेंस में सर्वाधिक प्रचलन डोरिक शैली का ही था किन्तु पारसीक आक्रमण के पश्चात् आयोनियन कलाकारों

के एथेंस आगमन से आयोनिक शैली भी प्रचलित हो गई। पाँचवीं शती ई० पू० तक दोनों शैलियाँ पूर्णता पर पहुँच गई थीं।

पेरिक्लीज की शिक्षा-दीक्षा ऐसे वातावरण में सम्पन्न हुई थी और वह ऐसे संस्कार में पाला-पोशा गया था जिसके फलस्वरूप वह एथेंस को केवल राजनीतिक शक्ति का प्रमुख केन्द्र ही नहीं अपितु सांस्कृतिक दृष्टि से उसे यूनान का सिरमौर बनाना चाहता था। शासन-ग्रहण करने के कुछ समय पूर्व खूंखार पारसीकों ने एथेंस नगर तथा उसकी सभ्यता बहुत कुछ नष्ट कर दी थी अतएव उसकी क्षतिपूर्ति आवश्यक समझ कर सर्वप्रथम पेरिक्लीज ने नगर-निर्माण की ओर ध्यान दिया। एथेंस नगर का पुर्ननिमाण किया गया। इसे पिरेयस (Piraeus) एवं फलेरम (Phalerum) से लगभग 13 किलोमीटर लम्बे मार्ग से जोड़ा गया तथा दोनों ओर सुरक्षित प्राचीर निर्मित की गई। इससे एक ओर नगर स्थल-मार्ग की ओर से आक्रमणों से सुरक्षित हो गया तो दूसरी ओर समुद्री-मार्ग से सम्बन्ध स्थापित हो गया जिसका उपयोग युद्ध-काल में किया जा सकता था। नगर में एक दूसरे को समकोण पर काटती हुई प्रशस्त सड़कें बनायी गयी थीं तथा स्वच्छता की समुचित व्यवस्था की गई थी।

नगर-निर्माण के पश्चात् पेरिक्लीज का ध्यान भवन-निर्माण की ओर गया। इस कार्य में डेलोस संघ के कोष का मुक्तहस्त से उपयोग किया गया। पेरिक्लीज के संरक्षण में निर्मित भवनों में सभा भवन, संगीत भवन तथा पार्थेनन मंदिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सभा भवन का उपयोग भाषण के लिए किया जाता था तथा संगीत भवन अपने शंक्वाकार गुम्बद के लिए प्रसिद्ध था। इसमें अधिकांशतः काष्ठ का उपयोग किया गया था। इसी भवन में वार्षिक संगीत एवं वाद्य-प्रतियोगिताएँ सम्पन्न होती थीं तथा डायोनिसियन नाटक खेले जाते थे। पार्थेनन मंदिर समस्त यूनानी मंदिरों में सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वाधिक प्रख्यात था।[1] 447 ई० पू० में निर्मित इस भवन के निर्माण का श्रेय इक्टिनस (Ictinus) तथा कैलिक्रेटीज (Callicrates) को दिया गया है। इसका सामान्य निरीक्षण फीडियस (Pheidias) तथा पेरिक्लीज करते थे। आयाताकार यह भवन पूर्णतः श्वेत संगमरमर द्वारा बनाया गया था। इसमें मशाले का प्रयोग नहीं किया गया था। लेकिन दो पाषाण-खंडों को एक दूसरे पर इतनी सावधानी से रखा गया था कि वे देखने में एक-से लगते थे। डोरिक शैली में निर्मित इस मंदिर का विस्तार 69.5 × 30.8 × 19.8 मीटर था। मंदिर के मध्य भाग में फीडियस द्वारा निर्मित एथेना देवी की प्रतिमा स्थापित की गई थी। त्रिकोणिका तथा चित्र-वल्लरी पर भव्य एवं आकर्षक चित्र उत्कीर्ण करने में यूनानी स्थपतियों को पूर्ण सफलता मिली थी। इनकी उपस्थिति से मंदिर की कलात्मकता और बढ़ गई थी। पार्थेनन के मंदिर में वास्तुकला एवं मूर्तिकला का अभूतपूर्व मिश्रण मिलता है।

---

1. Lynn Thorndike, A Short History of Civilization, p. 130

पेरिक्लीज के पश्चात् चतुर्थ शती ई० पू० में यूनान में पेलोपोनेशियन तथा यूनानी-पारसीक युद्धों के फलस्वरूप विशाल एवं भव्य वास्तुकृतियाँ न बन पायीं तथापि यह शती इस दृष्टि से उपेक्षणीय नहीं है । यूनानियों की स्वतन्त्रता की भावना इस युग की कलाकृतियों में विकसित हुई । धर्म के प्रभाव से दूर कोरिंथियन शैली का पूर्ण परिपाक इसी युग में मिलता है । यह एक प्रकार की अलंकरण-प्रधान शैली थी, जिसमें स्तम्भों को अत्यधिक अलंकृत किया जाता था । सिकन्दर के समय तक धार्मिक भवनों का निर्माण प्रायः समाप्त हो गया और उनकी रुचि प्रासाद, संग्रहालय, नृत्य-गृह, क्रीड़ा-भवन तथा प्रेक्षागृहों के निर्माण में अधिक हो गई ।

मूर्तिकला

यूनानी कलाकारों की प्रतिभा का वास्तविक एवं पूर्ण आयास इनकी मूर्तिकला में दिखायी पड़ता है । प्रारम्भ में मूर्तियों एवं उद्भृत चित्रों का उपयोग देवालयों के अलंकरण के लिए किया गया । इन्हें आकर्षक बनाने के लिए रँगा भी जाता था । इस प्रकार यूनानी वास्तुकला, मूर्तिकला, उद्भृतकला तथा चित्रकला अपृथक् रूप से एक दूसरे से जुड़ी थीं । छठवीं शती ई० पू० तक यहाँ काष्ठ प्रतिमाएँ बनायी जाती थीं और उन्हें बहुविधि स्वर्ण, हाथीदाँत एवं अन्यान्य बहुमूल्य धातुओं से अलंकृत किया जाता था । काष्ठ के बाद दूसरा स्थान काँसे को मिला था । समयान्तर से वे पाषाण मूर्तियाँ भी बनाने लगे । प्राचीनतर मूर्तियाँ मिस्री तथा एशियाई प्रभाव के अन्तर्गत बनायी गयीं जो पूर्णतया निर्जीव, निष्क्रिय तथा भावशून्य हैं । आगोनियन कलाकार सर्वप्रथम पारदर्शक वस्त्रों के प्रयोग द्वारा शारीरिक सौन्दर्य प्रदर्शित करने लगे थे । छठवीं शती ई० पू० तक इसमें सिलवट देकर शारीरिक सौंदर्य-प्रदर्शन का माध्यम मान लिया गया था । छठवीं शती ई० पू० की मूर्तियों में दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । प्रथम कोउरोस (Kouros) नाम से प्रसिद्ध युवकों की मूर्तियाँ हैं । इसमें युवक बायें पैर को आगे बढ़ाए हाथ लटकाये प्रदर्शित हैं । हाथ की मुट्ठियाँ बँधी हैं तथा शरीर नग्न है । मुख-मण्डल शान्त एवं भावविहीन मुद्रा में है । द्वितीय युवतियों की मूर्तियाँ है । इनके केश तथा वस्त्र-विन्यास आकर्षक हैं । युवतियाँ एक हाथ से वस्त्र सँभाल रही हैं तथा दूसरे से देवता को कुछ अर्पित कर रही हैं ।

यूनानी मूर्तिकला का चरम विकास पेरिक्लीज युग में किया गया । इनके देखने से थोड़ी देर के लिए भले ही कोई शंका में पड़ जाय कि ये मूर्तियाँ क्या कहना चाहती हैं किन्तु यह जानने में किसी को तनिक देर नहीं लगती कि इनके माध्यम से यूनानी क्या कहना चाहते थे । इस युग में मूर्तियाँ मुख्यतः स्वर्ण, काँस्य, हाथीदाँत एवं संगमरमर की बनायी गईं । कहीं पर काँस्य का प्रचलन अधिक था तो कहीं पर श्वेत संगमरमर का । एथेंस के कलाकार तो श्वेत संगमरमर का ही प्रयोग करते थे । कलाकारों के अभीष्ट विषय देवता तथा मनुष्य थे किन्तु मनुष्यों की मूर्तियों के निर्माण में वे अधिक सफल माने जा सकते हैं विशेषकर क्रीड़ारत पुरुषों

एवं नारियों के प्रदर्शन में। पेरिक्लीज युग में मूर्तिकला के कई सम्प्रदाय थे जिनमें रेजियम (Rhegium), सिसयोन (Sicyon), अर्गोस (Argos), ईजाइना (Aegina) तथा एट्टिका (Attica) प्रमुख थे। रेजियम सम्प्रदाय में सर्वाधिक यश पाइथागोरस (Pythagoras) ने अर्जित किया। इसकी कृतियों को देखने से एक बार हेलेनिस्टिक (Hellenestic) कला का स्मरण हो जाता है। अर्गोस सम्प्रदाय में सबसे अधिक प्रसिद्धि पॉलीक्लीटस (Polycleitus, 4th C. B. C.) को मिली। 422 ई० पू० में इसने सुवर्ण एवं हाथीदाँत की सहायता से हेरा की एक मूर्ति बनायी थी जो फीडियस द्वारा निर्मित एथेंना की बराबरी करती थी। कहा जाता है कि पॉलीक्लीटस ने एफेसस (Ephesus) में आयोजित एक प्रतियोगिता में फीडियस को भी पराजित कर दिया था। देवी-देवताओं तथा नारी मूर्तियों की अपेक्षा खिलाड़ियों की मूर्तियाँ बनाने में इसे अधिक आनन्द आता था। शरीर के अनुपातिक प्रदर्शन में इसे पूर्णतया सफल माना जा सकता है। विल ड्युरैण्ट के अनुसार यह एक प्रकार से मूर्तिकला का पाइथागोरस था। गोल शिर, प्रशस्त स्कंध, गठीला धड़, प्रशस्त नितम्ब तथा लघुपाद इसके मानदण्ड थे। इसने मूर्तिकला पर एक प्रबन्ध भी लिखा था तथा उसके अनुसार एक मूर्ति भी बनायी थी। इसे कुन्तधारी (Doryphoros) की मूर्ति के नाम से जाना जाता है। इसकी सर्वोत्तम कृति ब्रिटिश संग्रहालय में विद्यमान 'वेस्टमैकाट इफेबोस' (Westmacott Ephebos) नामक मूर्ति है।

पेलोपोनेशियन तथा एट्टिका सम्प्रदायों में मध्यस्थता का कार्य माइरन (Myron) ने किया। इसका जन्म इल्युथेरी (Eleutherae) में हुआ था। एथेंस में रहने के कारण एगिलेदेस (Ageladas) के साथ अध्ययन करके माइरन पेलोपोनेशियन पुरुषत्व के साथ आयोनियन लालित्य मिलाना अच्छी तरह जान गया था। मूर्तियों को गति प्रदान करने में इसे पूर्णतया सफलता मिली थी। क्रीड़ा-रत मनुष्य का चित्रण तो यह अत्यन्त कुशलतापूर्वक कर लेता था। माइरन के पूर्व पॉलीक्लीटस ने भी खिलाड़ियों का चित्र बनाया किन्तु इतना सफल न हो सका। 470 ई० पू० में माइरन ने इतिहास प्रसिद्ध 'चक्र-क्षेपक' (Discus Thrower) की मूर्ति बनायी। इसमें चक्र-क्षेपण के समय खिलाड़ी के प्रत्येक अंगों की गति-विधियों का अत्यन्त सूक्ष्म एवं सजीव चित्रण मिलता है। केवल हाथ, पैर तथा शरीर के अन्य अंगों की गतियों का ही नहीं अपितु मांस-पेशियों का उभार भी स्पष्टतः देखा जा सकता है। इसकी अन्य प्रसिद्ध कृतियों में एथेना और मर्स्यास (Athena and Marsyas) तथा लैड्स (Lads) का उल्लेख कर सकते हैं।

पेरिक्लीज युगीन मूर्तिकारों में सर्वाधिक प्रसिद्ध फीडियस (Pheidias, 490-432 B. C.) था। यह एक चित्रकार का पुत्र था अतएव प्रारम्भ में इसकी रुचि भी चित्रकला में थी किन्तु बाद में प्लेटो की भाँति, जो पहले नाटककार था पर

बाद में दार्शनिक बन गया, यह भी चित्रकार के स्थान पर मूर्तिकार बन गया। इसकी शिक्षा-दीक्षा पॉलीग्नोटस (Polygnotus) के संरक्षण में हुई थी। इसकी वास्तविक कलात्मक प्रतिभा का प्रदर्शन पार्थेनन के मन्दिर में मिलता है। इस मन्दिर के लिए इसने एथेना देवी की एक मूर्ति बनायी थी। यह 11.58 मीटर ऊँची थी। फीडियस की इच्छा थी कि वह इसे श्वेत पत्थर से बनाए किन्तु लोगों की इच्छानुसार उसने हाथीदाँत तथा स्वर्ण का प्रयोग किया। एथेंस की इस प्रसिद्ध मूर्ति के अतिरिक्त फीडियस ने इस देवी की दो अन्य कॉस्य प्रतिमाएँ बनायीं थीं इसमें एक लेम्नियन एथेना (Lemnian Athena) नाम से प्रसिद्ध है तथा फीडियस की सर्वोत्कृष्ट रचना मानी जाती है। दूसरी एथेनी प्रोमकोस (Athene Promachos) नाम से प्रसिद्ध है तथा अपनी विशालता (21.335 मीटर) के लिए विख्यात है। मूर्तियों के अतिरिक्त पार्थेनन मंदिर में उत्कीर्ण भित्ति-चित्र तथा चित्र-वल्लरी पर तक्षित नर-नारी के दृश्य भी अत्यन्त रमणीय हैं। उत्कीर्ण भास्कर का विस्तार 169 मीटर है। इसमें ट्रॉय के युद्ध तथा क्रीड़ा-रत खिलाड़ियों के दृश्य उत्कीर्ण हैं। त्रिकोणिका पर ज्यूस के शिर को प्रकट करते हुए एथेना देवी के चित्र बनाए गये हैं।

उक्त कलाकृतियों के निर्माण से फीडियस की कीर्ति दूर तक फैल गई। यदि छेनी एक ओर रखकर वह इससे अलग हो जाता तो शायद एथेंस के एक आदर्श कलाकार के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता किन्तु ऐसा न हो सका। जो यूनानी अरस्तू (Aristotle) तथा सुकरात (Socrates) को प्राण-दण्ड दे सकते थे वे फीडियस को कैसे छोड़ते। निर्माण-कार्य के लिए जो सुवर्ण तथा हाथीदाँत इकठ्ठा किया गया था उसमें से कुछ शिल्पशाला से गायब कर दिया गया। अतः फीडियस इसका समुचित विवरण न दे सका। इससे उस पर चोरी का आरोप लगा कर उसे कैद कर लिया गया किन्तु ओलिम्पियावासियों ने उसके लिए 40 टैलेंट देकर इस शर्त पर छुड़ा लिया कि वह ओलिम्पिया आकर ज्यूस के मंदिर के लिए एक भव्य प्रतिमा बनाये। निर्माण के लिए प्रचुर मात्रा में हाथीदाँत, सुवर्ण तथा एक कर्मशाला का प्रबंध किया गया। फीडियस के भाई पेनीनस (Panaenus) को प्रतिमा के सिंहासन तथा देवालय की दीवालों के अलंकरण का भार सौंपा गया। फीडियस तथा उसके सहयोगियों ने मिलकर ज्यूस की 18.29 मीटर ऊँची प्रतिमा बनायी। भव्यता, सौंदर्य एवं सजीवता के कारण इसकी गणना विश्व के सात आश्चर्यों में की जाती है। डायोक्रिसोस्टम (Dio Chrysostom) इसे पृथ्वी की सर्वोत्तम कृति मानता है।[1] फीडियस के जीवन के अंतिम दिनों के विषय में कोई प्रामाणिक सूचना नहीं है। कहा जाता है कि एथेंस के बंदीगृह में उसकी मृत्यु हुई थी।

---

1. Will Durant. The Story of civilization, Vol. II, p. 326

फीडियस के साथ पाँचवीं शती ई० पू० की फीडियस-कला भी समाप्त हो गई। इसके बाद यूनानी कला का विकास रुक-सा गया। चौथी शती ई० पू० में कलाकारों ने देवी-देवताओं की अपेक्षा मनुष्यों की मूर्तियों के निर्माण में अधिक रुचि ली। पाँचवीं शती ई० पू० में नग्न पुरुषों तथा वस्त्रावृत स्त्रियों की मूर्तियों को प्राथमिकता मिली थी किन्तु चतुर्थ शती ई० पू० में वस्त्रावृत पुरुषों एवं नग्न स्त्रियों की मूर्तियाँ बनायी जाने लगीं। पुरुषों की मूर्तियों में शिर तथा मुखाकृति को विशेष महत्त्व दिया जाता था। इस युग के प्रसिद्ध मूर्तिकारों में प्रैक्सिटीलीज (Praxiteles), लाईसिपस (Lysippus) तथा स्कोपस (Scopas) का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें प्रैक्सिटिलीज की ख्याति सर्वाधिक थी। शारीरिक सौन्दर्य एवं शान्त-मुद्रा के प्रदर्शन में इसे विशेष सफलता मिली थी। इसने काँस्य एवं संगमरमर की सहायता से मूर्तियों का निर्माण किया। इसकी सर्वश्रेष्ठ कृति 'शिशु डायोनिसस के साथ हर्मीज' की मूर्ति है। इसमें हर्मीज तनु एवं आकर्षक दिखाया गया है। प्रैक्सिटीलीज के पुराने मित्र स्कोपस को भावात्मक मूर्तियों के निर्माण में विशेष सफलता मिली थी। इसकी प्रसिद्ध कृति डायोनिसस के उपासक की है। लाईसिपस की मूर्तियों में आदर्शवाद, यथार्थवाद एवं व्यक्तिवाद का उचित समन्वय मिलता है। यथार्थिक मूर्तियों के निर्माण में यह विशेष प्रसिद्ध था। चौथी शती ई० पू० की कुछ गुमनाम मूर्तियाँ भी अत्यन्त आकर्षक हैं। इस दृष्टि से एक नवयुवक की मूर्ति, एण्ड्रोस के हर्मीज की मूर्ति तथा एक बालिका के शीश का उल्लेख किया जा सकता है।

चित्रकला

यद्यपि यूनानी चित्रकार मूर्तिकार की बराबरी न कर सके फिर भी इस क्षेत्र में उनका योगदान कम नहीं था। यूनानी चित्रकला के प्राचीन उदाहरण नहीं मिल पाये हैं किन्तु साहित्य में उनका उल्लेख मिलता है। प्लिनी के अनुसार आठवीं शती ई० पू० में चित्रकला का विकास इतना अधिक हो गया था कि लीडिया के शासक को एक चित्र के लिए उसके बराबर सुवर्ण देना पड़ा था। यूनानी चित्रकला के विकास के चार स्तर मिलते हैं। जिनमें तीन का सम्बन्ध हेलेनिक युग से तथा चौथे का हेलेनिस्टिक युग से है। विकास के प्रथम स्तर में इसका प्रयोजन भाण्डों को अलंकृत करना था। यह स्तर विकसित नहीं माना जा सकता। पाँचवीं शती ई० पू० तक यूनानी चित्रकला, वास्तुकला एवं मूर्तिकला से अपृथक् रूप से जुड़ गई। अब इसका उपयोग भवनों तथा मूर्तियों को अलंकृत करने के लिये किया जाने लगा। चौथी शती ई० पू० में इसका प्रयोग घरेलू तथा व्यक्तिगत उपयोग की वस्तुओं में किया गया जिससे इसका महत्त्व कम हो गया।

यूनानी चित्रकला का पूर्ण विकास पेरिक्लीज युग में किया गया। इस समय यहाँ चित्रकला की तीनों—(i) फ्रेस्को (Fresco), (ii) डिस्टेम्पर (Distemper) तथा (iii) एनकॉस्टिक (Encaustic) विधियाँ प्रचलित थीं। प्रथम विधि

में गीले प्लास्टर पर चित्र बनाये जाते थे। द्वितीय विधि में रंगों को अंडे की सफेदी के साथ मिलाकर गीले कपड़े अथवा बोर्ड पर चित्र बनाये जाते थे। तृतीय विधि में रंग को पिघली मोम के साथ मिश्रित कर प्रयुक्त किया जाता था। पेरिक्लीज युगीन चित्रकारों में सर्वाधिक प्रसिद्ध पॉलीग्नोटस (Polygnotus) था। यह थेसॉस का निवासी था। चित्रकला में इसका वही स्थान था जो मूर्तिकला में फीडियस तथा इक्नीटस का। 472 ई० पू० में हम इसे एथेंस में प्राप्त करते हैं। इसने अपने जीवन काल में अनेक चित्रों का निर्माण किया जिनमें 'ट्रॉय का विनाश' (Sack of Troy), 'रेप ऑव द ल्युसिपिडाई' (Rape of the Leucipidae) तथा ओडिस्यूस इन हेडीज' (Odysseus in Hades) विशेष प्रसिद्ध हैं। ट्रॉय के विनाश के चित्र में एक ओर विजय-रात्रि में हुए हिंसा एवं रक्तपात का अत्यन्त सजीव प्रदर्शन मिलता है तो दूसरी ओर प्रातःकाल युद्ध-भूमि को विजेताओं द्वारा खाली कर दिए जाने पर अजीब-सी शान्ति दिखाई पड़ती है। पॉलीग्नोटस के बाद पेरिक्लीज युगीन चित्रकारों में ज्यूक्सिज (Zeuxis) तथा पर्रेसियस (Parrhasius) का उल्लेख किया जा सकता है। ज्यूक्सिज अपोलोडोरस (Apollodorus) का शिष्य था तथा 424 ई० पू० में हेराक्लिया (Heracleia) से एथेंस लाया गया था। इसका सर्वाधिक प्रसिद्ध चित्र हेलेन का है। कहा जाता है इसके लिए इसने क्रोटोना नगर की पाँच सर्वाधिक सुन्दर स्त्रियों को नग्न करवा कर उनके अंग-सौष्ठव का अध्ययन किया था। ज्यूक्सिज का एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी पर्रेसियस था। पर्रेसियस बड़ा अभिमानी था तथा स्वयं को चित्रकारों का राजकुमार कहता था। इसके द्वारा चित्रित 'धावक' (Runner) का चित्र अत्यन्त स्वाभाविक है। इसे देखने से ऐसा लगता है कि धावक के शरीर से स्वेद गिरने वाला ही है। प्रोमेथियस (Prometheus) के चित्र-निर्माण के लिए इसने एक मनुष्य की खूब पिटाई की थी ताकि मुखाकृति पर विद्यमान दुःख की रेखाओं का अंकन अच्छी तरह हो सके। ज्यूक्सिज तथा पर्रेसियस के मध्य एक प्रतियोगिता भी हुई थी। ज्यूक्सिज ने अंगूरों का एक गुच्छा बनाया जिसकी स्वाभाविकता के कारण पक्षी उसे खाने के लिए आने लगे। निर्णायकों तथा स्वयं ज्यूक्सिज को विश्वास हो गया कि पर्रेसियस पराजित हो जायगा। किन्तु जब पर्रेसियस द्वारा चित्रित इफेसियन (Ephesian) के चित्र का आवरण हटाने की चेष्टा की गई तो हाथ चित्र से टकरा गया। वास्तव में यह आवरण, आवरण नहीं बल्कि चित्र का ही अंग था। ज्यूक्सिज ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली। इसी पराजय के बाद उसने उपर्युक्त हेलेन की प्रसिद्ध मूर्ति बनायी थी।

साहित्य

होमर काल के पश्चात् प्राचीन यूनान में पेरिक्लीज युग के पूर्व सर्वाधिक सम्मान हेसिअड (Hesiod, 846-777 B. C.) को मिला। यह बियोशिया (Boeotia) के एस्क्रा (Ascra) का निवासी था। इसके पिता सिमी (Cyme) के निवासी थे जो बाद में एस्क्रा चले आए थे। इसने थियोगोनी (Theogony) तथा 'द वर्क्ज एण्ड डेज' (The Works and Days) नामक ग्रंथों की रचना की थी। थियोगोनी में देवताओं के वंशवृक्ष तथा उनके कृत्यों का वर्णन किया गया है। इसका धार्मिक दृष्टि से वही महत्त्व है जो ऐतिहासिक दृष्टि से शासकीय वंशावली का। 'द वर्क्ज एण्ड डेज' में निर्धन एवं कृषकों की कठिनाइयों का वर्णन है। इसमें पूंजीपतियों तथा भू-स्वामियों के अत्याचारों के प्रति गंभीर रोष व्यक्त किया गया है। सर्वप्रथम हम किसी यूरोपीय कवि से जनहित का समर्थन प्राप्त करते हैं। हेसिअड का यह असन्तोष तत्कालीन परिवर्तनशील परिस्थितियों का परिणाम था। बाद में इसी असन्तोष के कारण विषाद-गीतों (Elegy) की रचना की गई।

विषाद-गीत

विषाद-गीत परम्परा के कवियों में सोलन (Solon), मिम्नेर्मस (Mimnermus, 630-600 B. C.)तथा अर्कीलोकस(Archilochus, 714-676 B. C.) विशेष प्रसिद्ध हैं। अर्कीलोकस के पिता एक समृद्ध सामन्त थे तथा माता एक दासी। इसकी रचनाओं में जीवन का अत्यन्त मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी वर्णन मिलता है।

गीति-काव्य

छठवीं शती ई० पू० के अन्त एवं पाँचवीं शती ई० पू० के प्रारम्भ तक विषाद गीतों के स्थान पर गीति-काव्य का आविर्भाव हुआ। इन्हें बाँसुरी की सहायता से गाया जाता था इसी लिए इन्हें गीति-काव्य (Lyric Poetry) कहा गया। इन गीतों में युद्ध, प्रणय, घृणा, मद्यपान इत्यादि का भावप्रधान वर्णन मिलता है। गीति-काव्य परम्परा में सर्वाधिक यश. कवि एलिसयस (Alcaeus, 620-580 B. C.) तथा कवियित्री सैफो (Sappho, 7th century B. C.) ने अर्जित किया। एलिसयस लेस्बोस (Lesbos) द्वीप का निवासी था। इसका सम्बन्ध अभिजात परिवार से था। इसने राजनीति, प्रणय तथा मद्यपान तीनों पर अपनी लेखनी उठाई लेकिन सर्वाधिक सफलता अंतिम में मिली। इसकी दृष्टि में ग्रीष्म-ऋतु में हृदय को शैत्य तथा शीत ऋतु में उष्णता प्रदान करने के लिए मद्यपान आवश्यक था। इसी से मिलते-जुलते विचार एनैक्रियोन (Anacreon) नामक कवि ने व्यक्त किया था। गीति-काव्य परम्परा की कवियित्री सैफो तो केवल यूनान की ही नहीं अपितु प्राचीन विश्व की सर्वश्रेष्ठ कवियित्री थी। स्ट्रैबो के अनुसार हमारे पास जिन युगों के साक्ष्य हैं उनमें काव्य के क्षेत्र में सैफो की बराबरी करने वाली कोई महिला नहीं है। जैसे प्राचीन काल में कवि शब्द होमर के लिए रूढ़ हो गया था वैसे सैफो के लिए कवियित्री। एयोलिक भाषा में उसका नाम सैप्फा (Psappha) था। इसका जन्म भी लेस्बोव द्वीप में हुआ था।

बाल्यावस्था में ही इसे परिवार के साथ मिटिलीन आना पड़ा था । उन्नीस वर्ष की अवस्था में यह राजनीति एवं कविता के माध्यम से जन-जीवन में भाग लेने लगी । शारीरिक दृष्टि से दुर्बल होते हुए भी यह बौद्धिक दृष्टि से सुदृढ़ थी । यद्यपि इसके नेत्र, केश तथा वर्ण यूनानियों की पसन्द के नहीं थे किन्तु मुखाकृति पर विद्यमान सुकुमारता एवं सौजन्य से इसका व्यक्तित्व मुखरित हो उठा था । काव्य-जगत् में सैफो की प्रसिद्धि इतनी अधिक थी कि कहा जाता है कि सोलन को उसके एक गीत सुनने के बाद मरने में कोई आपत्ति नहीं थी । सैफो की प्रशंसा करते हुए प्लेटो इसकी गणना दशवीं प्रेरक देवी के रूप में करता है । सैफो के गीतों में भावाभिव्यक्ति, कल्पना की स्वच्छन्दता तथा उपयुक्त शब्द चयन का अद्वितीय समन्वय मिलता है ।

पेरिक्लीज युग में भी गीति-काव्य की परम्परा जारी रही । इस दृष्टि से पिण्डर (Pinder, 522-448 B. C.) ने विशेष ख्याति अर्जित की । मूलतः इसका सम्बन्ध थीबियन परिवार से था किन्तु कवि मति होने के कारण यूनान के अनेक राज्यों में इसे राजकवि के पद पर प्रतिष्ठित किया गया था । संगीत सम्बन्धी अधिकांश ज्ञान इसे चाचा से मिला था । उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए पिण्डर एथेंस गया और यहाँ लासुस (Lasus) तथा एगैथोक्लीज (Agathocles) के संरक्षण में भजनों की रचना सम्बन्धी जानकारी प्राप्त की । बीस वर्ष के पूर्व ही यह थीब्ज वापस आ गया और कवियित्री कोरिन्ना (Corinna, 5th century B. C.) के संरक्षण में अध्ययन प्रारम्भ किया । एक कवि के अतिरिक्त पिण्डर कुशल गायक एवं वीणा वादक भी था । इसी लिए इसकी रचनाओं पर इसके संगीत प्रेम की गहरी छाप पड़ी । पिण्डर के गीतों में स्वतः इसकी व्याकुलता, देशभक्ति तथा धर्मनिष्ठा की यथोचित अभिव्यक्ति है । स्वाभावतः यह प्रतिक्रियावादी तथा धार्मिक पर राजनीति में कुलीन वर्ग का समर्थक था । पिण्डर द्वारा रचित ओलिम्पिया के खेलों के यशस्वी विजेताओं के गुणानुवाद उतने ही मार्मिक हैं, जितने धनियों के सुखमय जीवन एवं उनके उत्तरदायित्व के वर्णन । कवि के रूप में पिण्डर की ख्याति इतनी अधिक थी कि उसकी मृत्यु के बाद एथेंसवासियों ने उसकी प्रतिमा स्थापित की थी तथा रोडियनों ने उसकी सातवीं ओलिम्पियन संबोधि-गीत को एक देवालय की दीवाल पर स्वर्णाक्षरों में अंकित कराया था । 335 ई० पू० में जब सिकन्दर की विजयवाहिनी थीब्ज नष्ट-भ्रष्ट करने लगी तो पिण्डर के आवास को छोड़ दिया था ।

नाटक

पेरिक्लीज युगीन साहित्य के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण के रूप में नाटकों का उल्लेख किया जा सकता है । यूनानी नाटकों की उत्पत्ति धार्मिक कारणों से हुई थी । संस्कृत के मूर्धन्य कवि कालिदास विनोद के अतिरिक्त नाटक को देवताओं का प्रिय चाक्षुष यज्ञ मानते थे । यूनानियों की भी यही मान्यता थी । इसी लिए यूनानी नाटकों

की उत्पत्ति देवोपासन से हुई। यूनानी वसन्त एवं सुरा के देवता डायोनिसस (Dionysus) के प्रति श्रद्धा एवं सम्मान प्रकट करने के लिए समारोह मनाया करते थे। इसमें गायक वृन्द वनदेवता अथवा छाग का रूप धारण कर वेदिका के चारों ओर नाचते एवं गाते थे तथा आवेशपूर्ण गीत एवं समवेत भजनों के माध्यम से देवता के व्यक्तित्व के विविध पक्षों को अपने हाव-भाव के द्वारा जन-समुदाय के समक्ष प्रस्तुत करते थे। इसी बीच एक नायक गायक-वृन्द से पृथक् होकर कथानक के मुख्य भाग का पाठ करता था। पाँचवीं शती ई० पू० में ईस्किलस (Aeschylus, 525-456 B. C.) ने एक के स्थान पर दो नायकों को प्रस्तुत किया तथा गायक-वृन्द को पार्श्व में स्थित कर दिया। यही यूनानी नाटकों का प्रारम्भिक रूप है। इसी लिए ईस्किलस को यूनानी नाटकों का जन्मदाता स्वीकार किया जाता है।

अन्य देशों के नाटकों से यूनानी नाटक कई अर्थों में भिन्न थे और इनकी अपनी कतिपय विशिष्टताएँ थीं। यूनानी नाटकों का मुख्य उद्देश्य उनको रंगमंच पर प्रस्तुत करना नहीं था। अभिनेता केवल कथानक से सम्बन्धित घटनाओं को अपने मुख से प्रस्तुत करता था। उनका ज्ञान दर्शक श्रोताओं को पंहले से ही रहता था क्योंकि उनके कथानक प्राचीन धार्मिक आख्यानों से ग्रहण किए जाते थे। लोक प्रिय धर्म कथाओं पर आधारित होना यूनानी नाटकों की ही नहीं बल्कि भारतीय नाटकों की भी विशेषता थी। यूनानी नाटक आदर्शवादी थे। इनका नायक पुण्यकर्मा था पाप कर्मा नहीं। पुण्यकर्मा को भी अपने दुष्कर्मों का फल भोगना पड़ता था। इसी लिये यूनानी नाटकों में पुण्यात्माओं को पुरस्कृत तथा पापात्माओं को दण्डित करने का विधान मिलता है। यूनानी नाटकों में पात्रों का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व नहीं होता था। वे विशिष्ट प्रकार के मनुष्यों के प्रतिनिधि थे। यूनानी नाटकों में नारी-प्रेम प्रायः वर्जित था। इसी लिये प्रणयिनी स्त्रियों के व्यक्तित्व के प्रदर्शन केवल अपवाद स्वरूप ही मिलते हैं। ईस्किलस तो इस सिद्धान्त को इतना अधिक मानता था कि वह स्वयं कहा करता था कि उसके नाटकों में नारी-प्रेम का एक भी उदाहरण नहीं है। यूनानी नाटक अधिकांशतः दुखान्त (Tragedy) होते थे जबकि भारतीय संस्कृत नाटक सुखान्त (Comedy) होते थे। वास्तव में यूनानी नाटकों में वैयक्तिक संघर्ष को किंचित् भी महत्त्व नहीं दिया गया। समाज अथवा देवता के नियमों के विरूद्ध मनुष्य जब कोई आचरण करता था तो समझा जाता था कि वह विश्व के शाश्वत नैतिक नियमों की अवहेलना कर रहा है। एतदर्थ न्याय के मानदण्ड को सन्तुलित बनाए रखने के लिए दण्ड अनिवार्य समझा गया था। दुखान्त नाटकों का उद्देश्य प्रेक्षक के मानस-पटल पर न्याय की महत्ता अङ्कित करना था। यूनानी नाटकों में संगीत, नृत्य, काव्य, स्थापत्य, चित्रकला इत्यादि का भी सम्मिश्रण मिलता है। दुखान्त नाटककारों में ईस्किलस (Aeschylus), सॉफोक्लीज (Sophocles, 496–406 B. C.) तथा युरिपिडीज (Euripides, 480–406 B. C.) के नाम विशेष श्रद्धा के साथ लिए जा सकते हैं।

ईस्किलस—यूनानी नाटकों का संस्थापक ईस्किलस था। इसने अपने प्रथम नाटक की रचना छब्बीस वर्ष की अवस्था में की थी। एक वर्ष बाद मैराथॉन के मैदान में अपने दो भाइयों के साथ शौर्य प्रदर्शित करके अतुल कीर्ति अर्जित कर ली। इसके सुकृत्यों के स्मरणार्थ एथेंस में चित्र बनाया गया था। 484 ई० पू० में इसे डायोनिसस के उत्सव के उपलक्ष में प्रथम पुरस्कार मिला। 480 ई० पू० में ईस्किलस ने अपनी सामरिक क्षमता का परिचय सालमिस तथा अर्तेमिसियम और 479 ई० पू० में प्लेटाई के युद्धों में दिया। इसके पश्चात् युद्ध से मुख मोड़कर मुख्यत: नाटक रचना की ओर उन्मुख हुआ। इसके द्वारा लिखे गये नाटकों की संख्या के विषय में मतैक्य नहीं है। कुछ के अनुसार इसने कुल 70 नाटकों की रचना की थी जबकि कुछ के अनुसार 80 नाटकों की। अन्यत्र यह संख्या 90 बताई गई है। लिखित नाटकों की संख्या जो भी रही हो, उपलब्ध नाटक सात हैं। इसमें 'प्रमीथ्यूस बाउण्ड' (Prometheus Bound), 'द पर्शियन' (The Persian), 'सेवेन अगेन्स्ट थीब्ज' (Seven Against Thebes) तथा 'ओरेस्टिया' (Oresteia) विशेष प्रसिद्ध हैं। प्रमीथ्यूस बाउण्ड में भाग्य के समक्ष प्रमीथ्यूस विवश दिखाया गया है। इसे देखकर दर्शक अनायास ही सहानुभूति से द्रवित हो जाता है। उन्नीसवीं शती के एक प्रसिद्ध आलोचक श्लेगल (August Wilhelm Schlegel) इसे दुखान्त नाटक का साक्षात रूप स्वीकार करते हैं। ओरेस्टिया की रचना प्रमीथ्यूस बाउण्ड के दो वर्ष बाद की गई थी। इसे यूनानी नाटकों में ही नहीं वरन् विश्व के नाटकों में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है।

सॉफोक्लीज—सॉफोक्लीज कोलोनस का निवासी था। इसके पिता तलवार बनाने का व्यवसाय करते थे जिससे यूनानी-पारसीक तथा पेलपोनेशियन युद्ध में इसे अतुल सम्पत्ति अर्जित करने का अवसर मिला। लक्ष्मी के साथ-साथ इसे सौंदर्य एवं शक्ति भी मिली थी। संगीत तथा मल्लयुद्ध में तो इसे पारितोषिक भी मिल चुका था। पेरिक्लीज के शासन काल में इसे शासन में उच्च पद भी मिला था। 440 ई० पू० में सेमॉस (Samos) के विरुद्ध सामरिक अभियान में इसने सेनापति का कार्य भी किया था। किन्तु इन गुणों के होते हुए भी पेरिक्लीज इसे युद्ध-विशारद की अपेक्षा एक कवि के रूप में अधिक देखना चाहता था। इसकी इच्छा पूर्ण हुई। कहा जाता है कि सॉफोक्लीज ने कुल 113 (एक अन्य मतानुसार 123) नाटकों की रचना की थी किन्तु वर्तमान समय में केवल सात उपलब्ध हैं। इनमें एण्टिगोन (Antigone), फिलॉक्टीटीज (Philoctetes), ईडिपस कालोनस (Oedipus at Colonus), एजैक्स (Ajax), द ट्रेकिनियन विमिन (The Trachinian Women), ईडिपस टाइरेनस (Oedipus Tyrranus) तथा इलेक्ट्रा (Electra) विशेष प्रसिद्ध हैं। सॉफोक्लीज प्रजातंत्र का समर्थक था। यह मानवीय दुर्बलताओं को मनुष्य की सहज प्रवृत्ति का अंग मानता था अत: उन पर उदारतापूर्वक विचार करने का पक्षपाती था। सॉफोक्लीज निराशावादी था। इसकी कृतियों में संसार के प्रति विरक्ति व्यक्त

है। जीवन की क्षणभंगुरता से इसे विशेष कष्ट था। अपनी कृतियों पर सॉफोक्लीज को अठारह बार पुरस्कार मिला था।

युरिपिडीज—युरिपिडीज एट्टिका के एक समृद्ध परिवार से सम्बंधित था। माता भी किसी कुलीन परिवार की कन्या थी। एक अन्य विवरण से ज्ञात होता है कि उसके पास एक किराना की दुकान थी तथा वह गलियों में फल-फूल की फेरी लगाती थी। प्लेटो नाटककार बनना चाहता था किन्तु दार्शनिक बना पर युरिपिडीज दार्शनिक बनना चाहता था किन्तु नाटककार बना। युरिपिडीज पर सॉफिस्ट सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा था। स्वाभावत: यह संशयवादी, व्यक्तिवादी एवं मानवतावादी था। इसने प्राचीन अनैतिक मान्यताओं एवं धार्मिक कुरीतियों का जमकर विरोध किया। यूनानी नाटककारों में यह प्रथम व्यक्ति था जिसने, सर्वसाधारण यहाँ तक कि कृषकों एवं दासों, के ऊपर अपनी लेखनी उठाई तथा उन्हें अपनी रचनाओं में सम्मानपूर्ण स्थान दिया। दासों के ऊपर किए जाने वाले अत्याचारों तथा युद्धों की इसने कटु आलोचना की। युरिपिडीज ने सर्वप्रथम नारी-प्रेम को अपने नाटक में स्थान दिया। यह आदर्शवादी कम यथार्थवादी अधिक था। इसी लिए मानवीय चरित्र को आदर्श रूप में न प्रस्तुत कर यथार्थ रूप में प्रस्तुत करना चाहता था। कहा जाता है कि युरिपिडीज ने कुल 75 नाटकों की रचना की थी किन्तु उनमें से अब केवल 18 ही उपलब्ध हैं। इनमें कालक्रम की दृष्टि से एलसेस्टिस (Alcestis), मीडिया (Medea), हिपॉलिटस (Hippolytus), एण्ड्रॉमकी (Andromache), हेक्युबा (Hecuba), ईलेक्ट्रा (Electra), द ट्रोजन विमिन (The Trojan Women) इफिजिनाइ इन टारिस (Iphigenia in Tauris), आरेस्टीज (Orestes), इफि जिनाइ इन आलिस (Iphigenai in Aulis) तथा द बैकी (The Bacchae) विशेष प्रसिद्ध हैं।

एरिस्टोफेनीज—यूनानी सुखान्त नाटक दुखान्त नाटकों की बराबरी न कर पाये। सुखान्त नाटककारों के विषय में हमें बहुत कम सूचनाएँ भी हैं। इस दृष्टि से सर्वप्रथम एरिस्टोफेनीज (Aristophanes, 448–380 ? B. C.) का उल्लेख किया जा सकता है। इसका सम्बन्ध एक सुसंस्कृत एवं सुसम्पन्न परिवार से था। ईजाइना में इसकी अपनी जागीर थी। पेलोपोनेशियन युद्ध के आरम्भ के समय यह नवयुवक ही था। इस घटना से इसके नाटको को विषय सामग्री मिली। यद्यपि व्यक्तिगत जीवन में इसके आचरण में दोष दिखायी पड़ते हैं किन्तु सार्वजनिक मंच से इसने सच्चरित बनने की शिक्षा दी। एरिस्टोफेनीज की कृतियों द्वारा तत्कालीन यूनानियों के बिषय में बहुत जानकारी मिलती है। जीवन की साधारण घटनाओं से लेकर राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक कुरीतियों पर इसने लेखनी उठायी। एक राजनीतिक चिंतक की दृष्टि से यह राजतंत्र का विरोधी था। स्वार्थ लोलुप राजनीतिक, दंभी दार्शनिक तथा मूर्ख जनता तीनों इसके लिये उपहास के विषय थे। कहा जाता है कि इसने कुल 42 नाटकों की रचना की थी किन्तु उनमें अब केवल 11 ही उपलब्ध हैं जिनमें 'द

फ्राग्ज' (The Frogs), 'द बर्ड्ज' (The Birds), 'द क्लाउड्ज' (The Clouds), 'द वास्प्स' (The Wasps), 'द लाइसिस्ट्रेटा' (The Lysistrata) तथा 'द पीस' (The Peace) विशेष प्रसिद्ध हैं।

इतिहास-शास्त्र

नाटक एवं काव्य के अतिरिक्त पेरिक्लीज युगीन यूनान ऐतिहासिक ग्रंथों की रचना के लिए भी प्रसिद्ध है। प्लूटार्क (Plutarch) तथा एथीनियस (Athenaeus) तो लगभग सौ यूनानी इतिहासकारों का संकेत करते हैं किन्तु इनमें से केवल हेरोडोटस तथा थ्युसिडिडीज ने ही निरतिशय ख्याति प्राप्त किया। अन्य के तो केवल कुछ अनुच्छेद ही इतस्ततः मिलते हैं।

हेरोडोटस--यूनानी इतिहास-शास्त्र का वास्तविक जन्मदाता हेरोडोटस (Herodotus, 484-425 B. C.) था। इसी लिए इसे इतिहास-पिता (Father of History) की उपाधि से विभूषित किया गया है। हेरोडोटस का जन्म हेलिकारनेसस (Halicarnassus) के एक समृद्ध परिवार में हुआ था। इसका सम्बन्ध राजनीतिक गति-विधियों से अधिक था। हेरोडोटस के चाचा राजनीति में बहुत आगे बढ़ गये थे जिसके फलस्वरूप हेरोडोटस को बत्तीस वर्ष की अवस्था में देश-निष्कासन का दण्ड मिला। किन्तु यह दण्ड हेरोडोटस के लिए अभिशाप न होकर वरदान सिद्ध हुआ। देश-निष्कासन की अवधि में हेरोडोटस ने विभिन्न देशों की यात्रा की। दक्षिण में एलेफेण्टाइन, पश्चिम में सीरीन, पूर्व में सूसा तथा उत्तर में काला सागर तट पर स्थित यूनानी नगरों तक वह पहुँचा। जहाँ कहीं भी हेरोडोटस जाता था एक वैज्ञानिक की पैनी दृष्टि तथा शिशु की जिज्ञासा से वहाँ के इतिहास एवं रीति-रिवाजों के विषय में जानने का प्रयत्न करता था। 447 ई० पू० में वह ऐतिहासिक सामग्रियों के विपुल संग्रह के साथ एथेंस वापस लौटा। अपने व्यक्तिगत परिश्रम से अर्जित उक्त सामग्री तथा हेकटियस (Hecataeus) एवं अन्य पूर्ववर्ती लेखकों की कृतियों की साहित्यिक चोरी के आधार पर हेरोडोटस ने विश्व प्रसिद्ध 'इतिहास-ग्रंथ' (Histories) की रचना की ? जिसमें मिस्र, निकट पूर्व तथा पौराणिक काल से पारसीक युद्ध तक के यूनानी इतिहास से सम्बन्धित सामग्री भरी पड़ी है। इसी लिए इसे विश्व-जनीन इतिहास (Universal History) नाम दिया गया है।

यद्यपि हेरोडोटस का उद्देश्य युद्ध एवं वीरोचित कृत्यों का विवरण प्रस्तुत करना था किन्तु स्थान-स्थान पर इसमें नैतिक आदर्श, रहन-सहन, वेश-भूषा, कला, साहित्य, दर्शन एवं विज्ञान सम्बन्धित विषयों का वर्णन भी मिल जाता है। इसके माध्यम से हम यह जान जाते हैं कि मिस्र की बिल्लियाँ किस प्रकार आग में कूदती थी, डैन्यूबियन किस प्रकार सुगंध पर उन्मत्त होते थे, बैबिलोनियन दीवाल कैसे बनी थी तथा किस प्रकार पेडेसस में एथेना की पुजारिणियाँ एक दैवी दाढ़ी धारण

करती थीं। हेरोडोटस के ग्रंथ में राजाओं एवं रानियों के वर्णन के साथ-साथ सर्वसाधारण का वर्णन भी मिलता है।

हेरोडोटस में जहाँ अनेक अच्छाइयाँ थीं वहीं पर उसमें कुछ कमियाँ भी थीं। स्ट्रेबो तो यहाँ तक कह देता है कि हेरोडोटस में मूर्खता की कमी नहीं थी। किन्तु वह उतना ही मूर्ख था जितना ज्ञानी तथा उतना ही आशु-विश्वासी था जितना तार्किक। वह इस आख्यान में विश्वास करता था कि लैसिडिमोनियनों ने युद्ध में इसलिए सफलता प्राप्त कर ली थी क्योंकि उनके पास ओरेस्टीज (Orestes) की एक अस्थि थी। इसी प्रकार खशयार्श के सैनिकों की संख्या, पारसीक सैनिकों की मृत-संख्या तथा बिना आघात के यूनान की निर्णायक विजय इत्यादि के विवरण भी विश्वसनीय नहीं हैं। ऐसा इसलिए नहीं लिखा गया कि हेरोडोटस यूनान का निवासी था एतदर्थ उसका पक्षपाती था। इन सामग्रियों के तथ्यों की छान-बीन किए बिना ही उसने अपने इतिहास ग्रंथ में सम्मिलित कर लिया था। कर्ण-परम्परा से प्राप्त सामग्रियों को संकलित कर उसने कतिपय अन्य हास्यास्पद वर्णन प्रस्तुत कर दिया। उदाहरणार्थ, नेबुकद्रेज्जर को वह स्त्री मान बैठा तथा आल्पस पर्वत को एक नदी। इसी प्रकार किओप्स का शासन काल रैमिसीज तृतीय के बाद मानता था।

थ्युसिडिडीज--यदि हेरोडोटस 'इतिहास-पिता' था तो उसका अनुगामी थ्युसिडिडीज (Thucydides, 460–396[1] B. C.) एक वैज्ञानिक इतिहासकार। इसका जन्म एथेंस के एक समृद्ध परिवार में हुआ था। इसके पिता ओलोरस (Olorus) थ्रेस की एक सोने की खान के स्वामी थे। माता भी थ्रेस के एक कुलीन परिवार से सम्बन्धित थी। प्रारम्भ से ही थ्युसिडिडीज की शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था कर दी गई थी। इसके पास पोलोपोनेशियन युद्ध की प्रतिदिन की घटनाएँ संग्रहीत थीं। दैवयोग से 430 ई० पू० में थ्युसिडिडीज प्लेग का शिकार हुआ पर थोड़े समय में ही उसके प्रभाव से मुक्त हो गया। छत्तीस वर्ष की अवस्था में इसे थ्रेस के विरुद्ध एक सैनिक अभियान का नेतृत्व सौंपा गया जिसमें दुर्भाग्य से असफल हो गया क्योंकि इसकी सेना एम्फीपोलिस(Amphipolis) देर से पहुंची। इस असफलता के कारण इसे भी देश-निष्कासन का दण्ड मिला। इसके बाद लगभग बीस वर्ष तक थ्युसिडिडीज भी हेरोडोटस की भाँति विभिन्न देशों में भ्रमण करता रहा। इस अवधि में इसका अधिकांश समय पेलोपोनेसस में व्यतीत हुआ जिससे पेलोपोनेशियन युद्ध से सम्बन्धित इसकी जानकारी और बढ़ गई। 404 ई० पू० में हुए कुलीनतंत्रात्मक विद्रोह के फलस्वरूप इसे पुनः एथेंस आने का अवसर मिला। कहा जाता है कि 396 ई० पू० या उससे कुछ पहले ही इसकी हत्या कर दी गई। इस समय यह अपने प्रसिद्ध ग्रंथ

---

[1] (455-400 B. C.) Thucydides, The Peloponnesian War, Introduction by Rex Warner, p. 8

'द पेलोपोनेशियन वार' (The Peloponnesian War) की रचना में व्यस्त था जो दुर्भाग्य से अपूर्ण ही रही। यदि कुछ दिन तक यह और जीवित रहता तो निश्चित ही इस युद्ध से सम्बन्धित अन्य महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ देता।

थ्युसिडिडीज अपने ग्रंथों का समारम्भ वहीं से करता है जहाँ से हेरोडोटस ने अपने ग्रंथ का समापन किया था। इसके ग्रन्थ का प्रारम्भ पेलोपोनेशियन युद्ध से होता है। वह स्वयं कहता है कि मैं अपने इतिहास का प्रारम्भ युद्ध के बिल्कुल प्रारम्भ से करता हूँ। क्योंकि मेरा विश्वास है कि यह एक बड़ा युद्ध था एतदर्थ प्राचीन काल में लड़े गये सभी युद्धों में सबसे अधिक लिखने योग्य है।[1] थ्युसिडिडीज की प्रगति पूर्ववर्ती लेखकों से भिन्न एवं वैज्ञानिक थी। हेरोडोटस ने जो कुछ जहाँ से सुना उसे उसी रूप में बिना सोचे-समझे अपने ग्रंथ में स्थान दे दिया। किन्तु थ्युसिडिडीज इस सिद्धान्त के विरुद्ध था। उसने ज्ञात तथ्यों की आलोचना करते हुए उस पर निष्पक्ष भाव से विधिवत् विमर्श कर उसमें सत्यासत्य का विवेचन कर ही उसे ग्रहण करने की चेष्टा की। हेरोडोटस ने होमर की परम्परा में सरल एवं सुग्राह्य शैली में अपने ग्रंथ की प्रस्तुति की जबकि थ्युसिडिडीज पूर्ववर्ती एवं समकालीन नाटककारों, भाषणकर्ताओं तथा दार्शनिकों से पूर्णतया प्रभावित था। इसी लिए इसका ग्रंथ संक्षिप्त, सारगर्भित एवं अर्थपरक बन गया। हेरोडोटस के ग्रंथ में घटनाएँ स्थान एवं काल के अनुसार निबद्ध हैं जबकि थ्युसिडिडीज ने इन्हें स्थिर तैथिक अनुक्रम में रखने का सफल प्रयत्न किया है। हेरोडोटस के ग्रंथ में व्यक्तिगत चरित्र भी स्थान पा गए हैं किन्तु थ्युसिडिडीज के ग्रंथ में वे केवल अपवाद स्वरूप ही हैं। वास्तव में थ्युसिडिडीज का उद्देश्य घटना के कारण, विकास तथा परिणाम को प्रस्तुत करना था। यह मानवीय ऐतिहासिक घटनाओं को दैवयोग का परिणाम नहीं बल्कि ऐतिहासिक कारणों पर अवलम्बित स्वीकार करता था। हेरोडोटस के ग्रंथ में स्त्रियों को कोई महत्त्व नहीं मिला किन्तु थ्युसिडिडीज ने इनका भी वर्णन किया है। थ्युसिडिडीज ने कर्ण-परम्परा से घटनाओं को न प्राप्त कर स्वयं देखा था अथवा किसी वक्ता द्वारा प्रामाणिक रूप से सुना था। थ्युसिडिडीज के पूर्ववर्ती इतिहासकार लौकिक या अलौकिक घटनाओं को एकत्र तो कर लेते थे। किन्तु उनके तथ्यातथ्य की आलोचना कर उन पर कोई निजी विचार नहीं व्यक्त करते थे। किन्तु थ्युसिडिडीज इस दिशा में सचेष्ट था। एक विवेकी की भाँति यह ऐतिहासिक घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करते हुए उन्हें प्रस्तुत करने का प्रयास करता था। इसलिए एक वैज्ञानिक इतिहासकार के रूप में थ्युसिडिडीज ने जो कुछ लिखा वह पूर्ण प्रामाणिक, यथार्थ एवं निष्पक्ष है। लेकिन इसका यह आशय नहीं है कि थ्युसिडिडीज एक इतिहासकार के रूप में सर्वथा दोष-मुक्त था। वह थ्रेसवासियों के समान प्रचण्ड तो था किन्तु एथेंसवासियों के सदृश उसमें न वाग्विदग्धता थी न सजीवता। इसके इतिहास ग्रंथ में कहीं

---

[1] Thucydides, The Peloponnesian War, I. 1-1

भी परिहास अथवा मनोविनोद को स्थान नहीं मिला। थ्युसिडिडीज तो केवल राजनीतिक एवं सामरिक घटनाओं से ही सन्तुष्ट रहा। इसके ग्रंथ के पृष्ठ सामरिक घटनाओं से भरे पड़े हैं। कहीं भी कला, साहित्य, दर्शन इत्यादि पर इसने लेखनी नहीं उठाई। यद्यपि यह चाहता था कि इसके इतिहास ग्रंथ का बाद में महत्त्व हो किन्तु कहीं भी इसमें इसने यूनानी राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं की चर्चा नहीं की। थ्युसिडिडीज के समय एथेंस की सभ्यता अपने पूर्ण विकास पर थी वह उसके विषय में हमें अधिकाधिक सूचनाएँ दे सकता था किन्तु इसने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया।

जेनफन—पेरिक्लीज के बाद यूनान में काव्य तथा नाटक अवश्य नहीं लिखे गये किन्तु इतिहास-लेखन की दिशा में कोई कमी नहीं आयी। चौथी शती ई० पू० में जिन विद्वानों ने इतिहास लेखन अपनाया उनमें जेनफन (Xenophon, 445-355 B. C.) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। जेनफन पर सुकरात जैसे महान् दार्शनिक का प्रभाव पड़ा था। दोनों के प्रथम परिचय के सम्बन्ध में एक आख्यान प्रचलित है। एक बार टहलते समय किसी तंग गली में जेनफन की भेंट सुकरात से हो गई। सुकरात ने उससे पूछा कि अच्छी वस्तुएँ कहाँ मिलती हैं? जेनफन ने अपनी समझ से उसका समुचित उत्तर दे दिया। सुकरात ने दूसरा प्रश्न किया कि अच्छे मनुष्य कहाँ मिलते हैं? इस पर जेनफन निरुत्तर हो गया। सुकरात ने उससे अपना अनुसरण करने के लिए कहा। इसी घटना के बाद जेनफन सुकरात का अनन्य भक्त बन गया। तीस वर्ष की अवस्था में नौकरी मिली तथा एक-दो युद्धों में भी सम्मिलित हुआ। जेनफन स्पार्टा शासक एजेसिलौस द्वितीय (Agesilaus II) का मित्र एवं प्रशंसक था। लैसिडिमोनियनों की ओर से कोरोनिया (Coronea) के युद्ध में भाग लेने के फलस्वरूप इसे इलिस (Elis) में एक जागीर मिली थी जहाँ बीस वर्ष तक यह कृषक, शिकारी, लेखक तथा शिक्षक रूप में जीवन व्यतीत किया।

जेनफन ने मेमरबिलिया (Memorabillia), हेलेनिका (Hellenica), एनाबेसिस (Anabasis), बैंक्विट (Banquet), इकोनामिकस (Oeconomicus) तथा साइरोपीडिया (Cyropaedia) नामक ग्रंथों की रचना की थी किन्तु इन सब में हेलेनिका का स्थान सर्वोपरि है। इसमें यूनानी इतिहास का समारम्भ वहीं से किया गया है जहाँ से थ्युसिडिडीज ने समाप्त किया था। इसके बाद से इसमें मैंटिनी के युद्ध तक का विवरण मिलता है। इसी में इसके पुत्र ग्रीलस (Gryllus) को वीरगति प्राप्त हुई थी। जेनफन का यह ग्रंथ एक प्रकार से निरानन्द इतिवृत्त है जिसमें युद्धों की अविछिन्न शृंखला तथा विजयों एवं पराजयों का वर्णन किया गया है। मेमरबिलिया में सुकरात के जीवन-वृत्त पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

भाषणकला

चौथी शती ई० पू० में यूनान में इतिहास-लेखन के साथ-साथ भाषण-लेखन भी एक व्यवसाय बन गया था। इस दृष्टि से आइसॉक्रटीज (Isocrates, 436-338 B. C.), डिमॉस्थनीज (Demosthenes, 384-322 B. C.) तथा थियोपोम्पस (Theopompas) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आइसॉक्रटीज का जन्म एक समृद्ध परिवार में हुआ था। एक उद्योग के माध्यम से पिता ने अच्छी-खासी सम्पत्ति अर्जित कर ली थी। अतएव पुत्र की शिक्षा-दीक्षा में कोई कसर न छोड़ी गई। वाग्मिता की शिक्षा प्राप्त करने के लिए इसे थेसली-निवासी गॉर्गियस के पास भेजा गया किन्तु विधि के विधान को कौन टाल सकता है। भाग्य ने पलटा खाया। पेलोपोनेशियन युद्ध के परिणामस्वरूप व्यापार में पर्याप्त क्षति उठानी पड़ी। आइसॉक्रटीज के समक्ष लेखनी के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प न था। अतः उसने इसी के माध्यम से धन अर्जित करना प्रारम्भ किया। 391 ई० पू० में उसने एथेंस की प्रसिद्ध वाग्मिता-संस्था की स्थापना की। इस के अधिकांश भाषण-लेख प्रतीत होते हैं। इसके द्वारा लिखित भाषणों में अगेंस्ट द सॉफिस्ट्स (Against the Sophists), पैनेजिरिकस (Panegyricus), ऑन द पीस (On the Peace), एरियोपेजिटिकस (Areopagiticus) तथा पनैथिनैकस (Panathenaicus) विशेषतः उल्लेखनीय हैं। आइसॉक्रटीज यूनानी संस्कृति की विश्वजनीनता में विश्वास करता था। फारस के विरुद्ध वह यूनान की राष्ट्रीय एकता का समर्थक था। डिमॉस्थनीज ने मैसीडन के शासक फिलिप तथा सिकन्दर के कृत्यों का विरोध किया। थियोपोम्पस ने अपने भाषाण-ग्रंथ हेलेनिका (Hellenica) तथा फिलिप्पिका (Philippica) में बताया कि यूनान को यूरोप में अपनी शक्ति का प्रसार करना चाहिए। दोनों ग्रंथों की समकालीन लेखकों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

दर्शन

किसी समय यह धारणा प्रचलित थी कि प्राचीन विश्व में दर्शन का सर्वप्रथम आविर्भाव यूनान में हुआ लेकिन वर्तमान अनुशीलन के परिप्रेक्ष्य में यह कथन यौक्तिक नहीं प्रतीत होता। यूनानी दर्शन के आविर्भाव के बहुत पहले भारत तथा मिस्र में इसका जन्म हो चुका था। विश्व के स्वरूप तथा मानवीय, सामाजिक एवं नैतिक समस्याओं से सम्बन्धित प्रश्नों के हल ढूंढ़ने के प्रयास मिस्र तथा भारतीय मनीषियों द्वारा यूनानियों से पहले ही किए गये। यूनानियों ने तो इसे केवल व्यापक बनाया। यूनानी दर्शन का जन्म छठवीं शती ई० पू० में हुआ। इसके पूर्व वे मानते थे कि विश्व की सृष्टि देवताओं द्वारा हुई और इसका नियंत्रण भी उसकी इच्छानुसार होता है। इस प्रकार के विचार हेसिअड की कृतियों में मिलते हैं। छठवीं शती ई० पू० में सर्वप्रथम मिलिटस के तीन दार्शनिकों ने इस मान्यता के विरुद्ध आवाज उठाई तथा नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

मिलिशियन सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के दार्शनिकों का सम्बन्ध मिलिटस से था इसी लिए इसे मिलिशियन सम्प्रदाय (Militian School) नाम दिया गया है। छठवीं शती ई० पू० में एशिया माइनर का यह नगर यूनानी दुनिया का सर्वाधिक समृद्ध नगर था। आयोनियनों ने जब विभिन्न भू-भागों में अपना औपनिवेशिक प्रसार किया तो मिलिटस भी इसमें पीछे न रहा। कहा जाता है इसने अस्सी उपनिवेशों की स्थापना की थी। आर्थिक सम्पन्नता के परिवेश में यहाँ के निवासियों को दर्शन एवं विज्ञान की ओर प्रगति करने का उपयुक्त अवसर मिला। दर्शन के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान थेलीज (Thales, 640-546 B. C.), एनेक्सिमेण्डर (Anaximander, 410-546 B.C.) तथा एनेक्सिमिनीज (Anaximenes) का था।

थेलीज—थेलीज का जन्म संभवतः फीनिशियन परिवार में हुआ था। अधिकांश शिक्षा-दीक्षा मिस्र तथा निकट पूर्व के देशों में सम्पन्न हुई। प्रारंभ में थेलीज भी भौतिक समृद्धियों के प्रति आकृष्ट होकर व्यापार में लगा और शीघ्र ही अच्छी स्थिति बना ली। थेलीज की धनार्जन की कहानी प्रसिद्ध है। अरस्तू के अनुसार उसे ज्योतिष का अच्छा ज्ञान था जिससे उसने ज्ञात कर लिया कि जैतून की फसल कब अच्छी होगी। उसने सभी तेल पेरने वाली मशीनें रख ली तथा फसल अच्छी होने पर किराये पर देकर उससे प्रचुर लाभ कमाया। किन्तु थेलीज भौतिक समृद्धियों से सन्तुष्ट न हुआ और अपना शेष समय दर्शन एवं विज्ञान के अध्ययन में लगाया। थेलीज केवल मिलिशियन सम्प्रदाय का संस्थापक ही नहीं था बल्कि यूनानी दर्शन का वास्तविक जन्मदाता भी था। थेलीज ने सभी वस्तुओं का स्रोत जल को स्वीकार किया। उसका कहना था कि सभी पदार्थ जिन तीन रूपों--गैस, तरल एवं ठोस —में परिवर्तित होते है उसके मूल में जल ही प्रधान है। प्रश्न है थेलीज के सिद्धान्त कितने महत्त्वपूर्ण थे? वास्तव में थेलीज के विचार इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं थे कि उसने सभी वस्तुओं की उत्पत्ति जल से बतायी बल्कि इसलिए महत्त्वपूर्ण थे कि उसने सर्वप्रथम सभी वस्तुओं की उत्पत्ति प्राकृतिक तत्त्व से बताकर पश्चिमी जगत् में दर्शन की नींव डाली तथा सभी वस्तुओं की उत्पत्ति का स्रोत एक तत्व को स्वीकार कर एकत्ववाद की स्थापना की। भारतीय ऋषियों ने ऋग्वेद में इसी प्रकार सभी का स्रोत पुरुष को बताया है। थेलीज विश्व के प्रत्येक कण को सजीव मानता था। उसका विचार था कि प्रकृति तथा जीव एक दूसरे से अविछिन्न रूप से जुड़े हैं। वह मानता था कि मनुष्य, पौध और यहाँ तक कि धातुओं में भी एक ही शाश्वत आत्मा विद्यमान है। जैव शक्ति केवल अपना स्वरूप बदलती है। उसका कभी विनाश नहीं होता। थेलीज मृत तथा जीवित में कोई विशेष भेद नहीं मानता था। जब कुछ लोग उसे यह कह कर चिढ़ाते थे कि वह जीवन की अपेक्षा मृत्यु को क्यों नहीं पसन्द करता तो वह उन्हें यह कह कर निरुत्तर कर देता था

कि दोनों में कोई भेद न होने के कारण ही वह ऐसा करता है। थेलीज की दृष्टि में सबसे कठिन कार्य आत्म-ज्ञान तथा सबसे सरल कार्य परामर्श देना है। ईश्वर के विषय में वह कहता था कि न तो उसका आदि है न अन्त। वह मानता था कि अच्छा जीवन तभी व्यतीत किया जा सकता है जब हम दूसरों के साथ वह व्यवहार न करें जो स्वयं को अच्छा नहीं लगता। वृद्धावस्था में इसे इतना अधिक सम्मान मिला कि इसे सॉफोस (Sophos) कहकर संबोधित किया गया। सात बुद्धिमानों की गणना के समय यूनानियों ने उसे प्रथम स्थान दिया।

एनेक्सिमेण्डर—थेलीज के सिद्धान्तों को आगे बढ़ाने का कार्य उसके शिष्य एनेक्सिमेण्डर ने किया। विल ड्युरैण्ट के अनुसार एनेक्सिमेण्डर ने उसी सिद्धान्त का प्रतिदापन किया था जिसे 1860 ई० में हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer, 1820-1903 A. D.) ने किया।[1] एनेक्सिमेण्डर अव्यक्त अनन्त को सृष्टि का आदि कारण मानता था। एनेक्सिमेण्डर के अनुसार सभी वस्तुएँ विनाश को प्राप्त कर वहीं पहुँचती हैं जहाँ से उनका उद्भव होता है। इसने बताया कि मनुष्य की उत्पत्ति मत्स्य से हुई थी।

एनेक्सिमिनीज—एनेक्सिमेण्डर के शिष्य एनेक्सिमिनीज ने सृष्टि का मूल कारण वायु को बताया। जैसे मनुष्य वायु के अभाव में जीवित नहीं रह सकता वैसे कोई भी वस्तु वायु के अभाव में अस्तित्वमान नहीं रह सकती। सभी तत्त्व वायु के विरलन एवं संघनन से ही प्रकट होते हैं। विरलन से ही अग्नि तथा संघनन से मेघ, जल, पृथ्वी तथा पाषाण की सृष्टि होती है।

पाइथागोरियन सम्प्रदाय

छठवीं शती ई० पू० के समाप्त होने के पूर्व यूनानी दर्शन में नया मोड़ आया। अब विचारकों का एक दल विश्व के विभिन्न अंगों एवं सत्ताओं के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करने लगा। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम कार्य पाइथागोरस (Pythagoras, 6th century B. C.) ने किया इसी लिए इस सम्प्रदाय को पाइथागोरियन सम्प्रदाय (Pythagrian School) नाम दिया गया है। पाइथागोरस का जन्म 580 ई० पू० के आस-पास सेमॉस में हुआ था। प्रारम्भ में पाइथागोरस ने अरब, सीरिया, फिनिशिया, कैल्डिया, भारत, मिस्र आदि देशों की यात्रा की। इसमें उसकी कैल्डिया तथा मिस्र की यात्रा विशेष महत्त्वपूर्ण रही। थेलीज की भाँति इस पर भी मिस्र तथा बैबिलोन की विद्याओं का प्रभाव पड़ा था। लगभग पचास वर्ष की अवस्था में क्रोटोना में स्थायी रूप में बस कर वहीं एक विद्यालय की स्थापना की तथा विद्यार्थियों को शिक्षा देनी प्रारम्भ कर दी। इसके विद्यालय के नियम बड़े कठोर थे। गणित तथा खगोल-शास्त्र पर विचार व्यक्त करने के बाद पाइथागोरस

---

[1] Will Durant, The Story of Civilization, Vol. II, p. 138

ने दर्शन पर दृष्टि डाली जिसमें इसकी ख्याति इतनी अधिक बढ़ गई कि छठवीं शती ई० पू० में दार्शनिक शब्द तथा पाइथागोरस एक दूसरे के लिए उसी प्रकार पर्याय बन गये[1] जैसे किसी समय होमर तथा कवि शब्द ।

मिलिशियन सम्प्रदाय के अनुयायी सभी वस्तुओं का मूल द्रव्य को मानते थे किन्तु पाइथागोरस ने इसे फार्म (Form) में देखने की चेष्टा की। पाइथागोरस ने सृष्टि का आदि कारण संख्या (Number) में देखने का प्रयत्न किया। इसने प्रतिपादित किया कि प्रत्येक पदार्थ परिमेय है और उसे तौला जा सकता है। अतएव संख्या का महत्त्व प्राकृतिक वस्तुओं से अधिक है। इसका विश्वास था कि रूप-रंग विहीन विश्व की कल्पना संभव है किन्तु संख्याविहीन विश्व की कल्पना नहीं की जा सकती। यह मानता था कि किसी पदार्थ का अंतिम रूप उसके अंगों के संख्यात्मक सम्बन्धों में देखा जा सकता है। स्वास्थ्य को यह विभिन्न तत्त्वों के आंकिक सम्बन्ध का परिणाम मानता था। संख्या में पाइथागोरस एकत्व की सत्ता स्वीकार करता था। जैसे सात के अंक में सात इकाइयों का समूह है किन्तु इकाइयाँ विकीर्ण न होकर एक हैं। विश्व में जो क्रम एवं सामञ्जस्य है उसका भी सम्बन्ध संख्या से है। जीव-प्रकृति, संगति-विसंगति तथा उचित-अनुचित में विभेद संख्या के द्वारा ही स्थापित होता है। पाइथागोरस आत्मा के तीन भाग ज्ञान, अन्तर्ज्ञान एवं तर्क मानता था। प्रथम को यह हृदयस्थ मानता था जब कि अन्य दो मस्तिष्क में रहते थे। ज्ञान तथा अन्तर्ज्ञान मनुष्यों तथा पशुओं में समान रूप से मिलते हैं किन्तु तर्क मनुष्यों में ही मिलता है। यह शाश्वत है। पाइथागोरस मानता था कि मृत्यु के बाद आत्मा विशुद्ध होने के लिए हेडीज-लोक में प्रवेश करती है और कुछ काल बाद पुनः वापस आ जाती है। यह क्रम निरन्तर गतिमान रहता है। इससे मुक्ति सदाचारपूर्ण जीवन-व्यतीत करने से ही मिल सकती है। पाइथागोरस काया-क्लेश का समर्थक एवं निवृतमार्गी था। इसका विश्वास था कि आचरण की शुद्धता दुर्वासनाओं के परिमार्जन से ही प्राप्त हो सकती है। पाइथागोरस के दार्शनिक विचार भारतीय दर्शन से प्रभावित प्रतीत होते हैं।

एलियाटिक सम्प्रदाय एवं नित्यवाद

इस सम्प्रदाय का जनक जेनफनीज (Xenophanes, 572-480 B. C.) एलिया (Elea) का निवासी था इसी लिए इसे एलियाटिक सम्प्रदाय (Eleatic School) नाम दिया गया है। पाइथागोरस के एकत्ववाद की छाप इस पर भी पड़ी थी। जेनफनीज के ईश्वर का स्वरूप भिन्न था। इसने ईश्वर की कल्पना अनन्त, अनश्वर, एकरस एवं नित्य आध्यात्मिक सत्ता के रूप में की तथा ईश्वर एवं विश्व

---

[1] R. W. Livingston, Legacy of Grecce, p. 59

में एकरूपता स्थापित की। इसने बताया कि सभी वस्तुओं यहाँ तक कि मनुष्य, की उत्पत्ति प्राकृतिक नियमानुसार पृथ्वी एवं जल से होती है। इसके अनुसार किसी समय सर्वत्र जल व्याप्त था और भविष्य में फिर कभी उसका साम्राज्य होगा। जेनफनीज के बाद उसके मत का समर्थन पार्मेनिडीज (Parmenides, 6th century B. C.) ने किया। इसने भी सभी वस्तुओं को एक तथा अपरिवर्तनीय बताया। पार्मेनिडीज से मिलते-जुलते सिद्धान्त जेनो (Zeno, 490-430 B. C.) ने प्रतिपादित किया।

हेराक्लाइटस एवं अनित्यवाद

अनित्यवाद का प्रतिपादक एफेसस नगर का हेराक्लाइटस (Heracleitus) था। इसका सम्बन्ध एक कुलीन परिवार से था। यह पार्मेनिडीज के इस मत से कि 'सभी वस्तुएँ एक हैं' सहमत था। किन्तु गंभीर प्रश्न इस 'एक' की व्याख्या का था। इसे हेराक्लाइटस ने अग्नि स्वीकार किया। इसके अनुसार विश्व की सृष्टि ईश्वर द्वारा नहीं बल्कि अग्नि द्वारा हुई। इसका स्वरूप आदि काल से ही अग्निवत् रहा और भविष्य में रहेगा। सम्भवतः इस पर पारसीक धर्म का प्रभाव पड़ा था। जिसमें अग्नि पूजा को विशिष्ट महत्त्व मिला था। अग्नि की सत्ता स्वीकार करते हुये हेराक्लाइटस ने विश्व के अविराम परिवर्तन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। यह परिवर्तन को ही सत्य मानता था। स्थायित्व तो इसकी दृष्टि में भ्रम मात्र था। इसका कथन था कि एक ही जलधारा में दो बार प्रवेश संभव नहीं हैं क्योंकि वह अविछिन्न प्रवाहित है। जो एक क्षण है वह दूसरे क्षण नहीं रह सकता। यह कहना कि 'मनुष्य जन्म-धारण करने के कुछ समय बाद मरता है' भ्रम है। सत्यता तो यह है कि मनुष्य प्रतिक्षण शरीर-धारण करता है और प्रतिक्षण मरता है। यह परिवर्तन अग्नि की प्रकृति के अनुकूल है। हेराक्लाइटस रात्रि-दिन, शीत-ग्रीष्म, युद्ध-शान्ति तथा क्षुधा-तृप्ति को ईश्वर का रूप मानता था। वह सत् एवं असत् में किंचित् भेद नहीं मानता था। इसी प्रकार जन्म-मृत्यु तथा जागरण एवं निद्रा में भी इसे किसी प्रकार का भेद नहीं दिखाई पड़ता था।

परमाणुवादी सम्प्रदाय

छठवीं शती ई० पू० में यूनान में नित्यवादी एवं अनित्यवादी विचारधाराओं का बोलबाला था किन्तु अगली शती में यूनानी विचारकों ने इसमें परिवर्तन लाने का प्रयास किया। इस प्रयास की प्रक्रिया में सर्वप्रथम परमाणु (Atom) की महत्ता प्रतिपादित की गई। इसी लिए इस नवीन सम्प्रदाय को परमाणुवादी सम्प्रदाय (Atomist School) नाम दिया गया। इस सम्प्रदाय का जनक मिलिटस का निवासी ल्युसिपस (Leucippus, 5th century B. C.) था। इसकी प्रारम्भिक शिक्षा एलिया के जेनो के संरक्षण में हुई थी किन्तु बाद में थ्रेस में अब्देरा (Abdera) में रहने लगा।

ल्युसिपस प्रत्येक घटना को सकारण मानता था। वह विश्व को परमाणुओं का समूह मानता था। सभी वस्तुएँ परमाणुओं के संगठन से प्रकट होती हैं यहाँ तक कि आत्मा भी परमाणु निर्मित है। यह सही है कि परमाणुवादी विचारधारा का जनक ल्युसिपस था किन्तु इसे विकसित कर सुव्यवस्थित रूप देने का सराहनीय कार्य इसके शिष्य डिमॉक्रिटस (Democritus, 460-362 B. C.) ने किया। इनके पिता अब्देरा के एक समृद्ध एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। एक अप्रमाणिक स्रोत से पता चलता है कि डिमॉक्रिटस ने मिस्र, इथियोपिया, बैबिलोन, फारस तथा भारत की यात्रा की थी। भले ही इसमें पूर्ण सत्यता न हो किन्तु उसकी पर्यटन-प्रवृत्ति का अनुमान हम स्वयं उसके उस कथन से लगा सकते हैं, जिसमें वह कहता है कि अपने समकालीन व्यक्तियों में उसने सबसे अधिक यात्रा की थी। अपनी सम्पत्ति का अधिकांश अथवा सम्पूर्ण भाग यात्राओं में व्यय करने के बाद डिमॉक्रिटस दर्शन की ओर उन्मुख हुआ। उसने बताया कि विश्व की रचना परमाणुओं से हुई है। परमाणु प्रकृत्या शाश्वत, असंख्य एवं अविभाज्य है। परस्पर आकार, रूप एवं माप में भिन्न होते हुए भी वे समान हैं। विश्व की प्रत्येक वस्तुओं की सृष्टि इन्हीं परमाणुओं के आपातिक सम्मिलन से होती है। मनुष्य एवं वृक्ष में जो अन्तर दिखायी पड़ता है वह परमाणुओं की संख्या एवं व्यवस्था के कारण है। किसी वस्तु का उद्भव एवं विनाश परमाणुओं के संघठन एवं विघटन के कारण होता है।

डिमॉक्रिटस आत्मा की अमरता तथा अध्यात्मिक जगत् की सत्ता में नहीं विश्वास करता था। नैतिक मूल्यों के प्रति उसकी आस्था थी। उसका विचार था कि बुरा न करने की अपेक्षा बुरा करने की इच्छा न रखना ही अधिक श्रेयस्कर होता है। सत्कार्य दबाव के कारण नहीं बल्कि विश्वास के कारण करना चाहिए। डिमॉक्रिटस कथन में ही नहीं बल्कि कार्य में भी विश्वास करता था। इसी लिए उसने जो कुछ कहा उसका जीवन में अनुसरण भी किया। डिमॉक्रिटस के सिद्धान्तों का विरोध एशिया माइनर के एनेक्सेगोरस (Anaxagoras, 500-428 B. C.) ने किया। यह पेरिक्लीज का मित्र था। एनेक्सेगोरस परमाणुओं को एक न मान कर अनेक मानता था। विभिन्न पदार्थों में उन्हें संघठित करने के लिए उसने बुद्धि का पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया। डिमॉक्रिटस चेतन तथा अचेतन सत्ता में भेद मानता था। इसकी इसी प्रवृत्ति के कारण इसके सम्बन्ध में अरस्तू ने कहा था कि अंधों में वह अकेला ही देखने वाला था।

सॉफिस्ट सम्प्रदाय

पाँचवीं शती ई० पू० का मध्य-काल यूनान में बौद्धिक क्रान्ति का युग है। अभी तक यूनानी दार्शनिक भौतिक संसार की व्याख्या में ही लगे थे किन्तु इस समय वे पुरातन दार्शनिक मान्यताओं के विपरीत नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित करने लगे। यह एक प्रकार से राजनीतिक दर्शन की शुरुआत थी। इसके आरम्भकर्ता

सॉफिस्ट (Sophist) थे। यूनानी भाषा में यह शब्द 'बुद्धिमान' का द्योतक है। पाँचवी शती ई० पू० में यह नाम उन गुरुओं को दिया जाता था जो अन्य यूनानी नगरों से आकर एथेंस के कुलीन एवं समृद्ध युवकों को दर्शनशास्त्र, तर्कशास्त्र इत्यादि की शिक्षा देते थे। वे एक नगर से दूसरे नगर में घूमते हुये सशुल्क अपने मत का प्रचार-प्रसार करते थे। इस प्रकार वे एक तरह के ज्ञानपण्य वणिक् थे। इनका शुल्क वहुत अधिक था। कहा जाता है, कि प्रोटेगोरस (Protagoras, 481-411 B. C.) तथा गॉर्जियस (Gorgias, 485-380 B. C.) ने एक व्यक्ति को शिक्षित करने के लिये दस हजार डैक्मा की माँग की थी। छोटे-मोटे सॉफिस्ट कम पैसे से ही संतुष्ट हो जाते थे। जैसे प्रोडीकस (Prodicus, 5th century B. C.) का शुल्क केवल पचास डैक्मा ही था।

प्रोटेगोरस—सॉफिस्ट सम्प्रदाय (Sophists Schoal) का प्रधान दार्शनिक प्रोटेगोरस था। इसकी जन्म-भूमि अब्देरा थी किन्तु शिक्षा-दोक्षा एथेंस में सम्पन्न हुई थी। इसका कार्य-क्षेत्र भी एथेंस ही बना। प्रोटेगोरस ने बताया कि सभी विद्यमान तथा अविद्यमान वस्तुओं का मापदण्ड मनुष्य है। ऐसी स्थिति में यदि मनुष्यों के विचारों में भेद होता है तो हमारे पास ऐसी कोई आत्मनिष्ठ (Objective) कसौटी नहीं है जिसके आधार पर हम उसमें से एक को सही तथा दूसरे को गलत बता सकें। इसका अर्थ यह हुआ कि सत्य, न्याय एवं आदर्श मनुष्य के हितों एवं आवश्यकताओं के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं तथा स्थान एवं काल के अनुसार बदलते रहते हैं। प्रोटेगोरस का मत था कि कोई विचार अंतिम या ऐकान्तिक सत्य नहीं है। जो आज सत्य है कल असत्य हो सकता है। जो एक स्थान पर सत्य है दूसरे स्थान पर असत्य हो सकता है। इसी प्रकार जो एक के लिए नैतिक आदर्श है वही दूसरे के लिये निंद्य हो सकता है। उदाहरणार्थ, स्पार्टा में स्त्री-पुरुषों को परगमन की छूट थी किन्तु एथेंसवासी इससे घृणा करते थे। अब यह कहना कठिन है कि कौन मापदण्ड सही है? प्रोटेगोरस के अनुसार इनमें कोई मापदण्ड सत्य नहीं है क्योंकि इसके निर्णय करने के लिए कोई मापदण्ड नहीं है। वास्तव में इस पर अंतिम निर्णय मनुष्य ही दे सकता है क्योंकि वही इसका मापदण्ड है। देवताओं के विषय में प्रोटेगोरस कहा करता था "मैं निश्चित रूप से नहीं जानता कि वे हैं या नहीं हैं या उनका स्वरूप किस प्रकार का है, क्योंकि इस विषय में निश्चित ज्ञान प्राप्ति में अनेक बाधाएँ हैं तथा यह विषय अत्यन्त दुर्बोध है।" प्रोटेगोरस राज्य को शिक्षा देने वाली संस्था स्वीकार करता था। उसका कथन था कि जैसे शिक्षक शिष्यों को उत्तम कवियों के संदर्भ प्रस्तुत कर और उसे रटा कर शिक्षित करता है वैसे राज्य भी नागरिकों के सामने आदर्श कानून रखकर उन्हें शिक्षित करता है।

गॉर्जियस—प्रोटेगोरस के शङ्कावाद को लियोन्तिनी (Leontini) के निवासी गॉर्जियस (Gorgias, 485-380 B.C.) ने अपने बुद्धि-कौशल के द्वारा आगे बढ़ाया। एम्पिडोक्लीज (Empedocles) के सान्निध्य में दर्शन एवं वाग्मिता

की ऐसी शिक्षा प्राप्त की कि एक व्याख्याता एवं अध्यापक के रूप में इसकी पर्याप्त ख्याति फैल गई। 427 ई० पू० में इसे एक राजदूत के रूप में एथेंस में उपस्थित होने का अवसर मिला। गॉर्जियस नगर-नगर में घूम-घूम कर ललित एवं काव्यात्मक शैली में अपने सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार करता था। गॉर्जियस के विचार इसकी ऑन नेचर (On Nature) नामक कृति में व्यक्त हैं। गॉर्जियस ने बताया कि विश्व में किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। यदि है भी तो उसे जाना नहीं जा सकता और यदि जान भी लिया जाय तो उसे दूसरे पर प्रकट नहीं किया जा सकता। अस्तु उसका प्रकाशन असंभव है। अतः भौतिक दर्शन का अध्ययन सर्वथा व्यर्थ है।

थ्रेसीमेकस--प्रोटेगोरस के व्यक्तिवाद को निष्ठुर शक्तिवाद में परिवर्तित करने का कार्य सॉफिस्ट सम्प्रदाय के थ्रेसीमेकस (Thrasymachus, 5th century B.C) ने किया। इसने न्याय तथा शक्ति में तादात्म्य स्थापित किया। थ्रेसीमेकस के अनुसार नियम और कानून शक्तिशाली लोग व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए बनाते हैं। इसके अनुसार न्याय अधिक शक्तिशाली व्यक्ति के स्वार्थ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[1] प्रत्येक सरकार अपने स्वार्थ के अनुसार कानून बनाती है। लोकतंत्र लोकतंत्रीय नियम बनाता है जबकि निरंकुश निरंकुश कानून बनाता है। जो इसके अनुरूप आचरण नहीं करता उसे दण्ड मिलता है। इसका विचार था कि न्याय जैसी कोई वस्तु नहीं है। जो व्यवस्था शक्तिशाली लोगों द्वारा लागू कर दी जाय वही न्यायोचित अधिकार है। थ्रेसीमेकस हॉब्स के इस सिद्धान्त से पूर्णतः सहमत था कि सर्वोच्च शक्ति द्वारा स्थापित न्याय-व्यवस्था ही उचित है।

यह सही है कि सॉफिस्ट सम्प्रदाय के दार्शनिक दोष-मुक्त नहीं थे तथापि वे यूनानी इतिहास एवं संस्कृति के आवश्यक अंग बन गए। प्रारम्भिक शतियों में यूनान में जो महत्त्व होमर, हेसिअड तथा गीति-काव्य के कवियों का था वही महत्त्व पाँचवीं शती ई० पू० के अंतिम काल में सॉफिस्टों का था।[2] सॉफिस्ट प्रगतिवादी तथा दृढ़तापूर्वक स्वतन्त्र विचारों का प्रदिपादन करते थे। वे किसी वर्ग-विशेष के अधिकार के नहीं, बल्कि मानवीय अधिकारों के समर्थक थे। युद्ध की मूर्खता वे समझते थे तथा हास्यास्पद अंध-राष्ट्रीयता का उपहास करते थे। सॉफिस्टों ने दर्शन को भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत् की संकुचित सीमा से हटाकर उसे नैतिक एवं राजनीतिक स्तर तक पहुँचाने का प्रयास किया। सिसरो के अनुसार सॉफिस्टों ने दर्शन को स्वर्ग से मनुष्य के घर तक पहुँचाया। सॉफिस्ट यूनान में तर्कवाद एवं व्याकरण-शास्त्र के जन्मदाता थे। विचार-विनिमय की विधि एवं इसकी प्रेरणा इन्हीं से मिली। इनके प्रयास से गद्य को साहित्य में स्थान मिला तथा पद्य दर्शन

---

1. Plato, Republic (Hindi), p. 100
2, Paul J. Alxander, The Ancient World to A. D. 300, p. 124

का एक साधन बना। किन्तु सॉफिस्टों में जहाँ इतनी अच्छाइयाँ थीं वहीं कतिपय दोष भी थे। सामाजिक उत्तरदायित्व से हटाकर उन्होंने चिरसंचित आदर्शों पर कुठाराघात किया। यद्यपि उन्होंने यूनान में प्रबल बौद्धिक क्रान्ति पैदा कर दी किन्तु उनके संशयवाद, बुद्धिवाद तथा सापेक्ष सत्यवाद से तत्कालीन प्रचलित धर्म, राज्य एवं नैतिकता को कड़ा आघात पहुँचा। जैलर के शब्दों में उन्होंने जितनी समस्याएँ हल कीं उससे अधिक पैदा कर दीं।[1] ऐसी स्थिति में पुरातन मान्यताओं की पुनर्स्थापना की आवश्यकता समझी गई और इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए यहाँ नवीन दार्शनिकों का आविर्भाव हुआ। इस दृष्टि से सुकरात (Socrates, 469-399 B.C.), प्लेटो (Plato, 427-349 B. C.) तथा अरस्तू (Aristotle 385-322 B.C.) का उल्लेख किया जा सकता है।

सुकरात

एथेंस के महान् दार्शनिकों की परम्परा में सुकरात का उल्लेख सर्वप्रथम किया जा सकता है। अभी तक जिन दार्शनिकों ने अपने-अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था वे मूलतः एथेंस-निवासी नहीं थे, किन्तु सुकरात के आविर्भाव से यूनान का दर्शन एथेंस का दर्शन बना। एथेंस दार्शनिकों की जन्म एवं कर्म-भूमि दोनों बना। सुकरात की गणना इतिहास के उन विख्यात व्यक्तियों में की जानी चाहिए जिनके विषय में हम बहुत कुछ जानते हुए भी कुछ नहीं जानते। सुकरात के विषय में प्रो० रसेल[2] का कथन पूर्णतया सत्य है कि कुछ व्यक्तियों के विषय में यह निश्चित होता है कि हम उनके सम्बन्ध में बहुत थोड़ा जानते हैं और कुछ व्यक्तियों के विषय में हम निश्चित रूप से बहुत अधिक जानते हैं। किन्तु सुकरात के सम्बन्ध में यह निश्चय नहीं है कि हम अधिक जानते हैं या कम जानते हैं। सुकरात के विषय में प्लेटो, जेनफन तथा एरिस्टोफेनीज ने जो कुछ लिखा है, यद्यपि उनमें परस्पर मेल नहीं बैठता फिर भी, उसके आधार पर जो जानकारी मिलती है, उससे सुकरात के जीवन के विषय में कुछ कहा जा सकता है।

सुकरात का आविर्भाव एथेंस के एक प्रस्तर-शिल्पी के घर में 469 ई० पू० में हुआ था। उसकी माता फेनरीट (Phainrete) धात्री का कार्य करती थी। प्रारम्भ में तो सुकरात ने पिता का ही व्यवसाय अपनाया। उसने एक हर्मीज तथा तीन ग्रेसेज की मूर्तियाँ बनाई थीं। किन्तु थोड़े समय बाद उससे ऊब कर दार्शनिक चिन्तन प्रारम्भ किया। वास्तव में उसने पिता का व्यवसाय छोड़कर माता का व्यवसाय अपना लिया क्योंकि वह भी लोगों के वैचारिक

---

[1] Zeller Ernest, Outlines of the History of the Greek Philosophy, p 93

[2] Bertrand Russell, History of Western Philosophy, p. 102

प्रसव में सहायता करता था। सुकरात की युवावस्था पेरिक्लीज कालीन स्वर्णयुग तथा वृद्धावस्था पेलोपोनेशियन युद्ध में व्यतीत हुई थी। प्रारम्भ में सुकरात की रुचि प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन में बढ़ी किन्तु जब इससे उसे सन्तोष न मिला तो वह दर्शन की ओर उन्मुख हुआ। लेकिन वह दार्शनिक ही नहीं था। प्रारम्भ में वह थ्रेस में एथेंस की ओर से एक सैनिक के रूप में भाग लिया था। 424 ई० पू० में डेलियम (Delium) तथा 422 ई० पू० में एम्फिपोलिस के युद्धों में सम्मिलित हुआ था। सुकरात का विवाह जैनथिपी (Xanthippi) के साथ हुआ था जिसने परिवार की उपेक्षा करने पर सुकरात को बहुत फटकारा था। युद्धों के फलस्वरूप पुरुषों की कमी के कारण जब यहाँ बहु-विवाह को अस्थायी मान्यता मिल गयी तो सुकरात ने एक विवाह और कर लिया। स्वभाव से वह शान्त एवं एकान्तप्रिय था। नगर और यहाँ तक कि घर की चहारदीवारी से बाहर जाना उसे कदापि स्वीकार्य्य नहीं था। उसकी सरलता का अनुमान हम इसी से लगा सकते हैं कि जूते-चप्पल पहनने की अपेक्षा नंगे पाँव रहना उसे अधिक प्रिय था। बाजार में बिकने वाली वस्तुओं की बहुलता से ऊब कर वह कहने लगा था, 'कितनी ऐसी वस्तुएँ हैं जिनकी आवश्यकता हमें नहीं है।' यह सही है कि सुकरात आर्थिक दृष्टि से अन्त तक दुर्बल रहा किन्तु उस दुर्बलता में भी वह अपने को ऐश्वर्यवान मानता था। प्लेटो ने सुकरात के विषय में ठीक ही कहा है कि जिन लोगों के विषय में उसे जानकारी थी उसमें सुकरात सबसे अधिक बुद्धिमान, न्यायी एवं श्रेष्ठ था। सुकरात स्वयं इस बात को स्वीकार करता था कि वह दूसरों की अपेक्षा अधिक ज्ञानी था किन्तु इसका कारण यह नहीं था कि वह दूसरों से अधिक जानता था बल्कि यह था कि वह अपने अज्ञान को जानता था जबकि दूसरे इसे नहीं समझते थे।

यह कहना कठिन है कि एक दार्शनिक रूप में सुकरात की शिक्षा-दीक्षा कैसे सम्पन्न हुई किन्तु इतना हम जानते हैं कि उस पर पूर्ववर्ती तथा समकालीन दार्शनिकों का प्रभाव पड़ा था। प्रारम्भ में सुकरात सॉफिस्ट सम्प्रदाय से प्रभावित हुआ था। पार्मेनिडीज, प्रोटेगोरस, गॉर्जियस, हिप्पियस एवं थ्रेसीमेकस से उसकी भेंट हुई थी अथवा नहीं निश्चित ज्ञात नहीं है किन्तु जेनो से उसकी मुलाकात अवश्य थी। एनेक्सेगोरस को वह व्यक्तिगत रूप से तो नहीं जानता था किन्तु उसके सिद्धान्तों से परिचित था क्योंकि उसके शिष्य अर्कीलियस (Archelaus) ने सुकरात को कुछ समय तक पढ़ाया था। सुकरात ने जो कुछ कहा उसे लिपिबद्ध नहीं किया। अतएव इस विषय में हमें प्लेटो के डायलाग्ज (Dialogues) तथा जेनफन के मेमरबिलिया द्वारा ही सूचना मिलती है।

सुकरात न तो विशुद्ध दर्शन का प्रतिपादन करना चाहता था न जटिल धार्मिक सिद्धान्त का। जब कोई उससे देवताओं के विषय में पूछता था तो वह अपनी अज्ञानता बता कर टाल देता था। वह कहा करता था कि देवताओं के विषय में वह कुछ नहीं जानता। अपने अनुयायियों से वह कहता था कि उन्हें इस

झगड़े में नहीं पड़ना चाहिए। चीनी दार्शनिक कन्फ्यूशियस (Confucius) की भाँति वह भी कहता था कि लौकिक कार्य ही इतने अधिक हैं कि उनकी जानकारी हमें नहीं हो पाती अतः देवताओं के विषय में हम कैसे जान सकते हैं ? सुकरात का विचार था कि सबसे अच्छा कार्य अपनी अज्ञानता जान लेना है । वह मूलतः आचारशास्त्र का समर्थक था। ईश्वरपरक (Theologicol) तथा तत्त्व-ज्ञान (Metaphysics) जैसे विषयों पर वह मौन रहा। वह मनुष्य के जीवन का लक्ष्य ऐसे सत्य की खोज में निहित स्वीकार करता था जो सार्वभौम एवं शाश्वत हो। इस लिए सत्य-मार्ग का अनुसरण आवश्यक बताया। उसका विश्वास था कि मनुष्य बुद्धि एवं तर्क के द्वारा आंशिक सत्य एवं भ्रामक विचारों का खण्डन करके शुद्ध, व्यापक एवं सत्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसलिए ज्ञान से बढ़ कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है। उसका कहना था कि यदि कोई मनुष्य जान जाय कि अमुक कार्य गलत है तो वह उसका सम्पादन नहीं करेगा।

राजनीतिक विचारक की दृष्टि से सुकरात कुलीनतंत्र को सर्वश्रेष्ठ शासन-व्यवस्था मानता था। वह प्रजातंत्र का विरोधी था। प्रजातंत्र को तो वह मूर्खों की सरकार स्वीकार करता था। वह कहता था कि लाटरी द्वारा अधिकारी की नियुक्ति मूर्खता है। शासन-संचालन के लिए वह एक विशेष प्रकार का प्रशिक्षण अनिवार्य मानता था। वह कहता था कि जब हम अपना जूता मोची से ठीक कराते हैं तथा फर्नीचर की मरम्मत के लिए बढ़ई बुलाते हैं तो राज्य-संचालन में भी दक्ष व्यक्तियों को लगाना चाहिए। लाटरी द्वारा चुने जाने वाले सेनापतियों के लिए सुकरात का संदेश था कि वे पहले सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करें। उसकी धारणा थी कि बुद्धि द्वारा शासित शासनतंत्र ही एथेंस को अधःपतन से बचाएगा। किन्तु इन तमाम अच्छाइयों के होते हुए भी सुकरात एथेंसवासियों को खुश न कर सका। एथेंसवासी सुकरात को शंका की दृष्टि से देखते थे तथा उसके विचारों को एथेंस के लिए घातक समझते थे। विरोध की यह भावना उस समय और बढ़ गई जब पेलोपोनेशियन युद्ध के बाद के निराश वातावरण में सुकरात ने प्रचलित मान्यताओं का विरोध किया। अन्त में 501 न्यायाधीशों के न्यायालय में सुकरात को अधार्मिकता तथा युवकों को पथ-भ्रष्ट करने के आरोप में विषपान द्वारा प्राण-दण्ड दिया गया। अधिकांश विद्वानों का मत है कि सुकरात पर उसके लोकतंत्रीय विरोधी विचारों के कारण अभियोग चलाया गया था। अपनी सफाई देते हुए सुकरात ने एक अत्यन्त जोशीला भाषण दिया। उसने कहा कि मैंने युवकों और वृद्धों को केवल यह कहने के अतिरिक्त कि, तुम अपने शरीर एवं सम्पत्ति की ओर ध्यान देने के बजाय मुख्य रूप से आत्मा के सबसे बड़े सुधार पर ध्यान दो और कुछ नहीं किया। मैं कहता हूँ कि भलाई धन से नहीं, बल्कि धन भलाई से उत्पन्न होता है। यदि यह सिद्धान्त युवकों को पथभ्रष्ट करता है तो मैं दोषी हूँ। हे एथेंसवासियों ! चाहे मुझे मुक्त करो या न करो, किन्तु यह भली-भाँति जान लो कि

मैं अपना मार्ग बदलने वाला नहीं हूँ चाहे मुझे अनेक बार क्यों न मरना पड़े। अन्तिम समय में सुकरात ने कहा प्रस्थान का समय उपस्थित है। हम अपने मार्ग पर चलते हैं मैं मृत्यु-मार्ग पर और आप जीवन-मार्ग पर, पर यह ईश्वर ही जानता है कि कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है, सुकरात ने मृत्यु का वरण स्वेच्छा से किया। यदि वह चाहता तो अपने सिद्धान्तों का प्रचार बन्द कर जीवन-रक्षा कर लेता किन्तु उसे यह अभीष्ट नहीं था। विष का प्याला उसके लिए अमृत का प्याला था। किन्तु मरकर भी वह अमर हो गया।

प्लेटो

पाश्चात्य जगत् में आदर्श काल्पनिक राज्य की योजना प्रस्तुत करने वाले महान् दार्शनिक प्लेटो का जन्म एक सभ्रान्त परिवार में 427 ई० पू० में हुआ था। प्लेटो के पिता का नाम अरिस्तौन था जो एथेंस के प्राचीन राजवंश से सम्बन्धित थे। पितृकुल की वंशावली एथेंस के प्राचीन राजाओं में होती हुई पासाइडन देवता तक पहुँच जाती थी। माता पैरिक्तियौने पाँचवी शती ई० पू० के एक दार्शनिक कार्मिडीज (Charmides) की बहन तथा एथेंस के प्रसिद्ध व्याख्याता, राजनीतिज्ञ एवं लेखक क्रिटियस की भतीजी थी। इस प्रकार पितृ-पक्ष से एथेंस के प्राचीन राजवंश तथा मातृ-पक्ष से प्रसिद्ध विधि-निर्माता एवं संविधान-सुधारक सोलन से सम्बन्धित होने से कारण प्लेटो की पारिवारिक पृष्ठभूमि बहुत अच्छी थी। उच्च कुल के साथ-साथ प्लेटो को वैभव, अद्वितीय सौंदर्य, स्वास्थ्य एवं तीक्ष्ण बुद्धि भी प्राप्त थी। प्लेटो का प्रारम्भिक नाम एरिस्टोक्लीज (Aristocles) था। बाद में इसके किसी मल्ल-विद्या गुरु ने इसके स्वस्थ शरीर को देख कर इसे प्लेटोन (Platon) उपाधि दे दी जो बाद में प्लेटो रूप में प्रचलित हुई।

प्लेटो स्वयं कहता है कि अधिकांश युवकों की भाँति वह भी सोचता था कि वयस्क होने पर सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करेगा। इससे उसकी राजनीति के प्रति आस्था का अनुमान लगाया जा सकता है। इस प्रेरणा से प्लेटो प्रारम्भ में राजनीति में प्रविष्ट हुआ। 18-20 वर्ष की अवस्था में वह सुकरात के सम्पर्क में आ गया। लगभग दश वर्ष तक उसके साथ रहने का इसे अवसर मिला किन्तु जब 399 ई० पू० में सुकरात को मृत्यु-दण्ड मिला तो प्लेटो की आस्था राजनीति से उठ गई। इतना ही नहीं बल्कि सुकरात का समर्थक होने के कारण उसका एथेंस में रहना कठिन हो गया। अतः वह मेगारा चला गया। इसके बाद बारह वर्ष तक वह कहाँ और कैसे रहा ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है। परम्परया कहा जाता है कि इस बीच वह मिस्र, इटली और यहाँ तक कि भारत की यात्रा की थी।[1] 387 ई० पू० में वह सिसिली तथा इटली गया। सिसिली में साइराक्यूज के शासक डायोनिसियस प्रथम (Dionysias I)

---

1. Will Durant, The Story of Philosophy, p. 20

तथा एक शिष्ट व्यक्ति डायोन (Dion) के सम्पर्क में आया। वहाँ वह शासक को गणतन्त्र (Republic) के सिद्धान्त पढ़ाने के लिए तैयार तो हो गया किन्तु पढ़ाते समय निरंकुश शासन की निन्दा करने पर शासक ने उसे स्पार्टा के राजदूत के हवाले कर दिया जिसने उसे ईजाइना में बेच दिया। यहीं पर उसके एक पुराने साथी अनीकैरिस ने उसे खरीद कर स्वतंत्र किया तथा एथेंस भेज दिया। प्लेटो के अनुयायियों ने धन-संग्रह कर उसका रुपया वापस करना चाहा किन्तु जब उसने लेने से इन्कार कर दिया तो उसी धन से एथेंस के बाहर एकडेमिकस (Academicus) का उद्यान खरीदा गया और उसी उद्यान में प्लेटो ने 383 ई० पू० में इतिहास प्रसिद्ध अकादमी (Academy) की स्थापना की। यह यूरोप का प्रथम विश्वविद्यालय था जो 529 ई० में रोमन सम्राट् जस्टीनियन (Justinian, 527-565 A. D.) द्वारा बन्द किये जाने तक नौ सौ वर्ष तक चलता रहा। प्लेटो के जीवन के अगले चालीस वर्ष यहीं अध्यापन में व्यतीत हुए। इस बीच वह दो बार डायोनिसियस द्वितीय (Dionysias II) को दार्शनिक शासक बनाने की शिक्षा देने के लिए साइराक्यूज गया था। कहा जाता है कि 81 वर्ष की अवस्था में एक दिन एक शिष्य के आग्रह पर एक विवाह समारोह में भाग लेने के बाद रात्रि में विश्राम के लिए वह एक कमरे में गया किन्तु प्रातः लोगों को ज्ञात हुआ कि वह चिर-निन्द्रा में विलीन हो चुका है।

यद्यपि प्लेटो ग्रंथ-रचना का समर्थक नहीं था फिर भी उसके द्वारा लिखे गये ग्रंथों की संख्या 36-38 बतायी जाती है। इसमें आठ-दस की प्रामाणिक संदिग्ध है। प्रामाणिक ग्रंथों में एपोलोजी (Apology), प्रोटेगोरस (Protagoras), फियड्रस (Pheadrus), टिमियस (Timaeus) एवं रिपब्लिक (Republic) विशेष प्रसिद्ध हैं। जीवन के अन्तिम दिनों में वह लाज़ (Laws) की रचना में व्यस्त था किन्तु दुर्भाग्य से उसके आकस्मिक निधन से यह अपूर्ण ही रही। इन सभी कृतियों में रिपब्लिक (Greek Politeia) सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

प्लेटो का दर्शन मूलतः विचारों का दर्शन है। प्लेटो भौतिक एवं आध्यात्मिक जगत् की सत्ता मानता था। दोनों की प्रकृति भिन्न-भिन्न थी। भौतिक जगत् सापेक्ष, अविछिन्न, परिवर्तनशील एवं इन्द्रियग्राह्य था जबकि आध्यात्मिक जगत् शाश्वत, उत्कृष्ट एवं बुद्धि-ग्राह्य। उसका विचार था कि आध्यात्मिक जगत् की सृष्टि विचारों से होती है। वह मानता था कि मनुष्य, वृक्ष, आकार-प्रकार, रूप-रंग, सौंदर्य, न्याय इत्यादि के विचार होते हैं किन्तु सत् का विचार (Idea of God) इनमें सर्वश्रेष्ठ है। जिस प्रकार सूर्य सभी दृश्य वस्तुओं के देखने में सहायता करता है उसी प्रकार सत् के विचार से सभी वस्तुओं को समझा जा सकता है। प्लेटो पर सुकरात की गहरी छाप थी। सुकरात की भाँति प्लेटो भी मानता था कि सत्गुण ज्ञानाश्रित हैं किन्तु इन्द्रियजनित ज्ञान को वह सीमित तथा विविध मानता था। उसका कथन था कि सतगुण सत्य एवं न्याय के आन्तरिक विचारों के तार्किक बोध से प्राप्त हो सकता है। वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति में वह शरीर को बाधक

मानता था। यद्यपि वह मानवीय इच्छाओं एवं उनके मनोवेगों का पूर्णतया दमन करना नहीं चाहता था किन्तु उन पर तर्क का नियंत्रण आवश्यक मानता था। वह तर्कसम्मत कार्य ही आवश्यक समझता था।

प्लेटो के ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान अस्पष्ट है। एक राजनीतिक दार्शनिक के रूप में प्लेटो की कल्पना का समाज व्यैक्तिक एवं वर्गगत् स्वार्थ, भ्रष्टाचार, निरंकुशता दारिद्रय तथा द्वेष से मुक्त था। इसकी स्थापना जनतंत्र अथवा स्वतंत्रता के बल पर नहीं बल्कि सौहार्द एवं सामर्थ्य के बल पर हो सकती है। प्लेटो का आदर्श समाज निम्न, मध्यम एवं उच्च तीन वर्गों में विभाजित था। निम्न वर्ग में कृषक, शिल्पी तथा दास सम्मिलित थे। इनका कार्य उत्पादन एवं वितरण था। मध्यम वर्ग के अन्तर्गत सैनिकों की गणना की जाती थी। इनका कार्य युद्ध एवं रक्षा करना था। उच्च वर्ग दार्शनिकों का था जिनका कार्य शासन करना था। वर्ग-विभाजन जन्म अथवा सम्पत्ति के आधार पर नही बल्कि क्षमता के आधार पर किया गया था। इसी लिए निम्न वर्ग में बौद्धिक दृष्टि से अक्षम व्यक्ति ही रखे गये थे जबकि इसके विपरीत दार्शनिक बौद्धिक क्षेत्र में बहुत आगे थे। इस प्रकार प्लेटो दार्शनिकों द्वारा शासित राज्य को आदर्श राज्य मानता था। प्रो० डर्विक ने अपनी पुस्तक में यह बतलाया है कि प्लेटो ने त्रैवर्गिक समाज का विचार भारतीय वर्ण-विभाजन से प्रभावित होकर किया।[1] प्लेटो द्वारा कल्पित आदर्श राज्य भी व्यक्ति की भाँति बुद्धिमत्ता, साहस, संयम एवं न्याय चार गुणों से युक्त था। उसके विचार में राज्य व्यक्ति की विशिष्टताओं का विशद् रूप है। इन चार गुणों में तीन, तीन सामाजिक वर्गों के हैं केवल न्याय बचता है। न्याय के विषय में प्लेटो कहता है कि अपने निश्चित स्थान में अपने कर्त्तव्यों का पालन करना तथा दूसरे के कर्त्तव्यों में हस्तक्षेप न करना ही न्याय है। न्याय को वह राज्य का प्राण मानता था।

अरस्तू

पाश्चात्य जगत् में प्लेटो के राजनीतिक दर्शन को वैज्ञानिक रूप उसके शिष्य अरस्तू ने दिया। प्लेटो की अकादमी का वास्तविक उत्तराधिकारी यही था किन्तु विदेशी होने के कारण वह उसे प्राप्त नहीं कर सका था क्योंकि प्लेटो की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार उसके भतीजे स्प्यूसिप्पस को मिला था। अरस्तू प्लेटो की मंडली का सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्ति था। प्लेटो की मृत्यु पर एक वेदिका बनवा कर उसने उसे दैवी सम्मान दिया था। अरस्तू का जन्म एथेंस के उत्तर स्थित थ्रेस के स्टेगीरस (Stageirus) नामक एक लघु नगर में हुआ था। इसके पिता निकोमाखस सिकन्दर के पितामह एमाइन्टास द्वितीय (Amyntas II) के दरबार में राजवैद्य के पद पर थे। पिता से बचपन में ही अरस्तू को रोग-विषयक कुछ जानकारी मिल

---

[1] Plato, Republic (Hindi), p. 66

गई थी। इसी सम्बन्ध में जीवशास्त्र का भी प्रारम्भिक परिचय हो गया था। सत्तरह वर्ष की अवस्था में अरस्तू प्लेटो की अकादमी में भर्ती होने के लिये एथेंस आ गया। यहीं उसके जीवन के आगामी बीस वर्ष व्यतीत हुये। कहा जाता है कि अरस्तू ने प्लेटो की लाज़ की रचना में सहायता की थी। इस पर लाज़ की गहरी छाप है।

प्लेटो की मृत्यु से इसे अतिशय कष्ट हुआ। साथ ही इसे एथेंस छोड़ने के लिए वाध्य कर दिया गया। इसके वाद यह एशिया माइनर के एसस (Assus) नगर में चला गया और वहीं पर अकादमी की एक शाखा स्थापित की। अरस्तू को यहाँ बुलाने वाला व्यक्ति अर्तनियस (Aterneus) का शासक हर्मियस (Hermeias) था। यह प्लेटो की अकादमी में अरस्तू के साथ शिक्षा प्राप्त कर चुका था। यहीं पर अरस्तू का हर्मियस की दत्तक कन्या पीथियस (Pythias) के साथ विवाह हो गया। किन्तु इसी बीच पारसीको ने हर्मियस की हत्या कर दी अतः अरस्तू को पीथियस के साथ लेस्बोस की ओर भागना पड़ा। वहाँ उसने अपना कुछ समय प्राकृतिक इतिहास के अध्ययन में व्यतीत किया। 343 ई० पू० में मैसीडन के शासक फिलिप के निमंत्रण पर सिकन्दर को प्रशिक्षण देने के लिए अरस्तू उसकी राजधानी पेला (Pella) पहुँचा किन्तु 336 ई० पू० में पुनः प्रचुर धन के साथ एथेंस वापस आ गया। यहाँ पशुपालकों के देवता अपोलो लाइसियम (Apollo Lyceum) के मंदिर के समीप स्थित उद्यान में एक विद्यापीठ की स्थापना की जहाँ प्रातः एवं अपराह्न में विद्यार्थियों को शिक्षा दी जाती थी। यहाँ एक विशाल पुस्तकालय, उद्यान तथा प्राकृतिक इतिहास से सम्बद्ध एक संग्रहालय की स्थापना की गई। यही बाद में लाइसियम विद्यापीठ (Lyceum School) नाम से प्रसिद्ध हुआ। यहाँ विद्यार्थियों के साथ घूमते हुये उन्हें शिक्षित किया जाता था तथा उनके प्रश्नों का उत्तर दिया जाता था। इसी लिए इस विद्यापीठ को पर्यटक विद्यापीठ (Peripatetic School) भी नाम दिया गया था। अरस्तू का शेष जीवन प्रायः इसी विद्यापीठ में अध्ययन-अध्यापन में ब्यतीत हुआ। अन्तिम दिनों में सिकन्दर की मृत्यु के फलस्वरूप उत्पन्न अराजकता की स्थिति में प्राणरक्षा के लिए युबिया (Euboea) द्वीप में स्थित कैल्सिस (Chalcis) चला गया और यहीं विषपान द्वारा आत्महत्या कर ली।

अरस्तू दर्शन, राजनीति, काव्य, आचार-शास्त्र, अर्थशास्त्र, शरीर-रचना विज्ञान, औषधिशास्त्र, ज्योतिष, भौतिकशास्त्र इत्यादि विषयों की अच्छी जानकारी रखता था। दर्शन एवं विज्ञान का तो उसे विशिष्ट ज्ञान था। इस प्रकार वह सर्वतोन्मुखी प्रतिभा का विलक्षण व्यक्ति था। विविध विषयों पर लिखे गये उसके ग्रंथों की संख्या 400 बतायी गई है। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने सभी ग्रंथों को 3500 पृष्ठों में बारह जिल्दों में प्रकाशित किया है। अरस्तू की कृतियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध पॉलिटिक्स (Politics) है। अरस्तू प्लेटो के इस विचार से सहमत था कि विचार (Ideas) सत्य हैं तथा इन्द्रियजनित ज्ञान सीमित एवं अपूर्ण होता है। किन्तु वह भौतिक जगत् को विचार जगत् की छाया न स्वीकार कर उसे यथार्थ

मानता था। अरस्तू 'विचार' जिसे वह फार्म (Form) कहता था, तथा भौतिक जगत् में अविच्छेद्य सम्बन्ध मानते हुए दोनों की बराबर महत्ता स्वीकार करता था। उसका कहना था कि दोनों के मिश्रण से ही सृष्टि का निर्माण होता है और दोनों शाश्वत हैं। वह शारीरिक तथा आध्यत्मिक पक्षों का विकास मानवीय उन्नति के लिए आवश्यक मानता था। इसी कारण उसने बुद्ध की मज्झिम प्रतिपदा की भाँति मध्यम मार्ग के अनुसरण का उपदेश दिया। वह कहता था कि मध्यम मार्ग का अनुसरण करने वाला जीवन ही अनिवार्यत: श्रेष्ठ जीवन है। इस मध्यम मार्ग को वह गोल्डेन मीन (Golden Mean) कहता था।

एक राजनीतिक दार्शनिक के रूप में अरस्तू राज्य (State) को सर्वाधिक उपयुक्त संस्था मानता था जिसके द्वारा मनुष्यों का जीवन सुखी बनाया जा सकता था। किन्तु अरस्तू की राज्य-संस्था कृत्रिम (Artificial) न होकर प्राकृतिक थी, अर्थात् इसे वह मनुष्य के स्वाभाव का अंग मानता था। राज्य-संस्था को प्राकृतिक बताकर अरस्तू ने मनुष्य को राजनीतिक प्राणी (Political Animal) कहा। उसका विश्वास था कि राज्य से पृथक् कोई व्यक्ति अपना विकास नहीं कर सकता। जो ऐसा समझता था कि वह राज्य से पृथक् रह सकता है उसे अरस्तू पशु मानता था। उसका कहना था कि राज्य का यह परम उत्तरदायित्व है कि वह व्यक्तियों को गुणी बनाकर उनका सर्वतोन्मुखी विकास करे। यद्यपि अरस्तू दास-प्रथा का समर्थक था किन्तु उसने कुछ ऐसे सिद्धान्त प्रतिपादित किए जिससे दासों पर होने वाले अन्यायों को रोका जा सके। अरस्तू के विचार में सर्वोत्तम राज्य पालिटी (Polity) है। यह न राजतन्त्र है, न जनतन्त्र, न अभिजाततन्त्र। इसका अस्तित्व कुलीनतन्त्र एवं जनतन्त्र के बीच में है। अरस्तू व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन अवश्य करता था किन्तु उतने का ही जो तर्कणापूर्ण जीवन यापन के लिए पर्याप्त हो। वह कहता था कि धनिकों को अपने धन का उपयोग सार्वजनिक कार्यों में करना चाहिये। वह गरीबों को कृषि-योग्य भूमि खरीदने, पशुपालन तथा व्यापार के लिये शासन की ओर से धन दिये जाने का समर्थक था।

विज्ञान

प्राचीन यूनानियों ने अधिकांश वैज्ञानिक प्रगति हेलेनिस्टिक युग (Hellenistic Age) में की। पेरिक्लीज युग तथा उसके कुछ काल बाद तक तो उनका ध्यान विशेष रूप से दर्शन एवं कला में ही लगा रहा। इसी लिए केवल गणित, जीव विज्ञान एवं औषधिशास्त्र को छोड़कर अन्य क्षेत्रों में उनकी प्रगति प्राय: मन्द रही।

गणित

प्राचीन यूनान में गणितशास्त्र का जन्मदाता मिलिटस-निवासी थेलीज था। अनुश्रुतियों से पता चलाता है कि उसने पिरामिड तथा मनुष्य की छाया के आधार

पर पिरामिड की ऊँचाई ज्ञात करने का सिद्धान्त आविष्कृत कर लिया था। मिस्र में रहकर थेलीज ने गणित शास्त्र और विशेषकर ज्यामिति का अध्ययन किया। जिसके आधार पर उसने कई ज्यामितीय सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इन सिद्धान्तों को बाद में युक्लिड (Euclid) ने अपनाया। कहा जाता है कि थेलीज ने बीज गणित के कुछ सिद्धान्तों को भी विकसित कर लिया था। गणित के क्षेत्र में थेलीज से भी आगे बढ़कर पाइथागोरस ने कार्य किया। इसने संख्या के सिद्धान्त का आविष्कार किया तथा इसे सम, विषम, अभाज्य, यौगिक, पूर्ण आदि श्रेणियों में विभाजित किया। पाइथागोरस का ज्यामितीय सिद्धान्त 'किसी समकोण त्रिभुज के कर्ण पर का वर्ग शेष दो भुजाओं के वर्गों के योग के बराबर होता' है आज तक प्रसिद्ध है। ज्यामितिशास्त्र को कियोस के हिप्पोक्रेटीज (Hippocrates) ने पूर्ण वैज्ञानिक बना दिया। इसने ज्यामिति पर एक ग्रंथ रचना की तथा अर्द्धचन्द्र के वर्ग-माप की समस्या हल की। लगभग इसी समय इलिया के हिप्पियस ने क्वड्रैटिक कर्व (Quardratic Curv) द्वारा किसी कोण के समत्रिभाजन की विधि आविष्कृत की। अब्देरा के डिमॉक्रिटस ने ज्यामिति में अच्छी सफलता प्राप्त कर ली थी। वह स्वयं कहा करता था कि दी गई शर्तों के अनुसार रेखाओं की रचना में उसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता। यहाँ तक कि मिस्री ज्यामितिविद् भी इसमें उससे पीछे रह जायेंगे। डिमॉक्रिटस ने ज्यामिति शास्त्र पर चार पुस्तकें लिखी थीं। और शंकु तथा पिरामिड के क्षेत्रफल निकालने की विधि आविष्कृत की थी। सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि यूनानी ज्यामिति शास्त्र में बहुत आगे थे। विल ड्युरैण्ट उचित ही कहते हैं कि यूनानी जितना गणित में पीछे थे उतना ही ज्यामिति में आगे।

ज्योतिष

पाँचवीं शती ई० पू० के पहले यूनानी वैज्ञानिकों ने ज्योतिष में कोई विशेष प्रगति न की। यद्यपि प्रसिद्ध दार्शनिक एवं गणितज्ञ थेलीज का अधिकांश समय दर्शन एवं गणित के क्षेत्र में ही व्यतीत हुआ किन्तु ज्योतिष की तरफ से वह पूर्णतया उदास नहीं था। उसके एक-दो ज्योतिष सम्बन्धी सिद्धान्त विशेष प्रसिद्ध हैं। मिस्री अभिलेख एवं बैबिलोनियन गणनाओं के आधार पर उसने सूर्य-ग्रहण के समय का पता लगा लिया था। यह 28 मई 585 ई० पू० को हुआ था। थेलीज पृथ्वी की उत्पत्ति जल से स्वीकार करता था। पाँचवीं शती ई० पू० में यूनानियों ने ज्योतिष में अधिक प्रगति की। इम्पिडोक्लीज ने बताया कि प्रकाश को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचने में समय लगता है। उसने विश्व को पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि-निर्मित बताया। एलिया के पार्मेनिडीज ने पृथ्वी को गोल बताया और सिद्ध किया कि चन्द्रमा का प्रकाशित भाग सदा सूर्य की ओर रहता है अर्थात् वह सूर्य से ही प्रकाशित होता है। यह सिद्धान्त आज भी प्रचलित है। थीब्ज-निवासी

फिलॉलौस (Philolaus) ने पृथ्वी की कल्पना एक ग्रह के रूप में की। ल्युसिप्पस ने सितारों की उत्पत्ति पर प्रकाश डालने का प्रयास किया। डिमॉक्रिटस ने आकाश-गंगा को लघु सितारों का समूह बताया। कियोस के ईनोपिडीज (Oenopedes) ने कान्ति-वृत्त (Ecliptic) की तिर्यकता (Obliquity) का अन्वेषण किया। एथेंस के एनेक्सेगोरस ने इस क्षेत्र में विशेष प्रगति की। आज से लगभग 2400 वर्ष पूर्व उसने बताया कि चन्द्रमा पृथ्वी के सबसे निकट है तथा इसमें मैदान, पर्वत-श्रेणियाँ तथा खड्ड हैं। एनेक्सेगोरस पार्मेनिडीज के इस सिद्धान्त से सहमत था कि चन्द्रमा सूर्य से प्रकाशित होता है। एनेक्सेगोरस ने सूर्य एवं चन्द्र-ग्रहण के ठीक-ठीक कारण का पता लगा लिया था। वह विश्व को पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश से निर्मित मानता था। इसमें भारतीय पंच-तत्त्व के सिद्धान्त की समता देखी जा सकती है।

जीव विज्ञान

यूनान में जीव विज्ञान के अध्ययन की प्रथम प्रेरणा एनेक्सिमेण्डर द्वारा मिली थी। उसने जीवों के विकासवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसके अनुसार प्रारम्भ में सर्वत्र जल व्याप्त था तथा प्रारम्भिक जीव इसी में रहता था। जैसे-जैसे जल घटता गया कुछ नवीन जीव वातावरण में रहने के लिए अपने को उपयुक्त बनाते गये। यही बाद में स्थलीय प्राणी बने। मनुष्य का विकास इन्हीं प्राणियों से हुआ। एनेक्सिमेण्डर मनुष्य एवं स्थलीय प्राणियों का विकास मत्स्य से मानता था। वह कहता था कि मनुष्य जैसे आज है वैसे पहले नहीं था क्योंकि उस समय उसे भोजन नहीं मिल पाता था और बिना भोजन के वह जीवित न रहता। एनेक्सेगोरस मनुष्य का विकास पशुओं से मानता था। यूनान में जीव विज्ञान की वास्तविक स्थापना अरस्तू ने की। अपने जीवन के अनेक वर्षों में श्रम-साध्य परिश्रम करके उसने कतिपय महत्त्वपूर्ण जीव वैज्ञानिक सिद्धान्त प्रतिपादित किये। इनमें से बहुत से सत्रहवीं शती ई० पू० तक नहीं विकसित किये गये थे। उसके विभिन्न कीट-पतंगों के रूपान्तरण, सर्पमीन की प्रजनन प्रकृति तथा डाग-फिसेज (Dog-Fishes) के भ्रूणीय विकास से सम्बन्धित सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि जीवशास्त्र पर अधिकार रखते हुए भी अरस्तू ने इससे सम्बन्धित कुछ गलत सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर दिया था। उदाहरणार्थ, वह पौधों की मैथुनिक प्रवृत्ति नहीं स्वीकार करता था। इसी प्रकार सिद्धान्ततः वह विकासवादी था किन्तु कुछ कीट-पतंगों की नैसर्गिक सृष्टि पर विश्वास करता था।

औषधि शास्त्र

यूनान में ई० पू० की पाँचवीं शती औषधि शास्त्र के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती है। औषधिशास्त्र का वास्तविक जन्मदाता इम्पिडोक्लीज था। उसने पृथ्वी, वायु, अग्नि एवं जल चार तत्त्वों की कल्पना की तथा

बताया कि रक्त हृदय से और उसकी ओर प्रवाहित होता है तथा त्वचा के सूक्ष्म छिद्र श्वास-क्रिया में सहायक होते हैं। क्रोटोना के अल्कमेयन (Alcmaeon) ने इस क्षेत्र में और प्रगति की। उसने प्रतिपादित किया कि विचारों का केन्द्र मस्तिष्क है। उसने दृक्-तंत्रिका तथा निद्रा-प्रक्रिया का पता लगाया तथा पशुओं की शल्य चिकित्सा प्रचलित की। औषधिशास्त्र से सम्बन्धित उसकी कृति 'ऑन नेचर' (On Nature) विशेष प्रसिद्ध है। लगभग इसी समय एशिया माइनर के नीडस (Cnidus) के यूरीफ्रोन (Euryphron) ने प्लूरिसी (Pleurisy) को फेफड़े की व्याधि तथा कब्ज को अनेक व्याधियों का कारण बताया। एक प्रसूति विज्ञान विशेषज्ञ के रूप में उसकी निरतिशय ख्याति थी। कोस (Cos) का हिप्पोक्रेटीज (गणितज्ञ हिप्पोक्रेटीज से भिन्न) भी औषधिशास्त्र में विशेष प्रसिद्ध था। यह डिमॉक्रिटस का परम मित्र था। इसकी शिक्षा-दीक्षा हेरोडिकस (Herodicus) के सान्निध्य में सम्पन्न हुई थी। एक चिकित्सक के रूप में विशेष प्रसिद्ध होने के कारण हिप्पोक्रेटीज को मैसीडन के शासक पार्डिकस (Pardicus) तथा हखामनीशिय सम्राट् अर्तखशयार्श (Artaxerxes) की चिकित्सा करने का भी सुअवसर मिला था। हिप्पोक्रेटीज तथा उसके अनुयायियों का विशिष्ट योगदान इस दृष्टि से है कि इन्होंने औषधिशास्त्र को धर्म एवं दर्शन से पृथक् किया। हिप्पोक्रेटीज ने औषधिशास्त्र पर लगभग साठ पुस्तकों की रचना की थी तथा अपने शिष्यों को भी इस कार्य में लगाया था। हिप्पोक्रेटीज रोगों का कारण प्राकृतिक मानता था। उसका कहना था कि शरीर, रक्त (Blood), श्लेष्मा (Phlegm), पीत पित्त (Yellow bile) तथा कृष्ण पित्त (Black bile) नामक चार रसों (Cardinal humors) से बना है। इनमें परस्पर सन्तुलन है। जब यह संतुलन बिगड़ जाता है तभी मनुष्य बीमार पड़ता है। उचित एवं संतुलित आहार करने पर इनका सन्तुलन बना रहता है। उपचार में आराम, खुली हवा तथा औषधियों का प्रयोग किया जाता था एवं स्नान, अंगमर्दन, व्यायाम, वस्ति (Clyster) इत्यादि का आश्रय लिया जाता था। हिप्पोक्रेटीज को अनेक संक्रामक रोगों की जानकारी थी। सर्वप्रथम इसी ने ही एक व्यावसायिक सपथ प्रचलित की जिसे हिप्पोक्रेटीज-शपथ (Hippocrates Oath) नाम दिया गया। इसे आज भी श्रद्धेय स्थान मिला है।

यूनानी सभ्यता की महत्ता एवं देन

इससे प्रायः सभी सहमत हैं कि यूनानी सभ्यता का यूनान में ही नहीं अपितु समस्त विश्व में महत्त्व है। यद्यपि उनकी परिस्थितियाँ प्रतिकूल थीं फिर भी जीवन के साथ संघर्ष करते हुए यूनानी प्राचीन काल में आदर्श सभ्यता के संस्थापक बने। यूनानियों ने सर्वप्रथम मनुष्य की श्रेष्ठता स्थापित की तथा लौकिक जीवन को अभिराम बनाने का सफल प्रयास किया। उनकी गवेषणा के अधिकांश विषय लौकिक थे।

पाश्चात्य जगत् में सर्वप्रथम जनतंत्र के बीज यहीं अंकुरित हुए। प्रशासन की इकाई के रूप में अनेक सभाओं, निर्वाचन-प्रणाली, मताधिकार, व्यवस्थापिका तथा न्याय-संस्था का उचित विकास यूनानियों ने ही किया। शासन-तंत्र में संविधान की अनिवार्यता उन्होंने ही अनुभव की तथा देश, समाज एवं शासन को तदनुसार चलाने का सफल प्रयास किया। यूनानियों की वैज्ञानिक प्रगति का प्रभाव यूरोप के परवर्ती वैज्ञानिकों पर पड़ा। उनके दार्शनिक सिद्धान्त परवर्ती दर्शन के आधार बने। यूनानी गीति-काव्य, नाटक (विशेषकर दुखान्त) एवं इतिहास शास्त्र का प्रभाव परवर्ती साहित्य पर स्पष्टतः देखा जा सकता है। यूनानी सभ्यता के प्रभाव के सम्बन्ध में शेली प्रस्तावित करता है कि हम सभी यूनानी हैं, हमारे साहित्य, कानून, धर्म, कला इत्यादि की जड़ें यूनान में है। किन्तु शेली का यह कथन निष्पक्ष एवं यौक्तिक नहीं है।

●

12

पारसीक सभ्यता

•

एशिया महाद्वीप के मध्य-पूर्व में स्थित ईरान प्राचीन काल में पर्शिया (Persia) अथवा फारस के नाम से प्रसिद्ध था। 1935 ई० पू० में इसका नाम परिवर्तित कर ईरान कर दिया गया। दक्षिणी-पश्चिमी एशिया के देशों में क्षेत्रफल की दृष्टि से यह अरव के बाद सबसे बड़ा है। इसके उत्तर-पश्चिम टर्की, पश्चिम ईराक, दक्षिण फारस एवं ओमन की खाड़ियाँ, पूर्व बलूचिस्तान एवं अफगानिस्तान तथा उत्तर रूस एवं कैस्पियन सागर स्थित हैं। दक्षिण-पश्चिम एशिया के अन्य देशों के समान इसका भी अधिकांश भाग पठारी है। यह त्रिभुजाकार पठार फारस की खाड़ी तथा कैस्पियन सागर के बीच स्थित है। इसका दक्षिणी-पश्चिमी भाग सबसे ऊँचा है। यहाँ तट के समानान्तर उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम पर्वत श्रेणियाँ फैली हैं। उत्तरी भाग में अपेक्षाकृत अधिक ऊंचे पहाड़ हैं जिनमें कैस्पियन तट पर स्थित एलबुर्ज (Elburz) की ऊँचाई सबसे अधिक है। इसके शिखर सदैव हिमाच्छादित रहते हैं। आन्तरिक प्रदेश एक विशाल पठार (Table Land) है जिसका अधिकतर भाग 915 से 1523 मीटर तक ऊँचा है। ईरान के दक्षिणी किनारे के पर्वत समुद्र के अत्यन्त निकट हैं। पठार के दक्षिण-पश्चिम जग्रोस (Zagros) पर्वत स्थित है। इसमें अनेक ऊँची श्रेणियाँ तथा मध्य में घाटियाँ हैं। दक्षिण का तटीय भाग, केवल कुछ क्षेत्रों को छोड़कर, जहाँ सिंचाई की सुविधा के कारण कृषि होती है, शेष शुष्क तथा उजाड़ है। कैस्पियन सागर के मैदान उपजाऊ हैं।

ऐतिहासिक स्रोत

प्राचीन ईरानियों के इतिहास एवं सभ्यता के अध्ययन में हमें साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों से सहायता मिलती है। साहित्यिक साक्ष्यों में

सर्वाधिक उपयोगी ईरानियों का पवित्र ग्रंथ अवेस्ता (Avesta) है। ईरानी साहित्य एवं सभ्यता में इस ग्रंथ का वही महत्त्व है जो भारतीय साहित्य एवं सभ्यता में वैदिक संहिताओं का। इस पर सविस्तार हम पृष्ठान्तर से विमर्श करेंगे। वर्तमान संदर्भ में इतना कहना ही पर्याप्त है कि अवेस्ता के माध्यम से हमें प्राचीन ईरानियों के विषय में बहुत-सी जानकारी मिलती है। अवेस्ता के अतिरिक्त प्राचीन यूनानी लेखकों द्वारा भी पारसीक सभ्यता से सम्बन्धित सूचनाएँ मिलती हैं। इस संदर्भ में हेरोडोटस के विवरण अतीव उपादेय हैं। पुरातात्त्विक साक्ष्यों में हखामनीशिय शासकों के लेख विशेष उपयोगी हैं। हखामनीशिय शासकों की राजधानी पेसारगेदाय (Pasargadae[1]), जिसे यूनानियों ने पर्सिपोलिस (Persipolis) कहा है तथा इसके आस-पास हमदन (Hamadan) में बेहिस्तून की चट्टान, सूसा (Susa) तथा कुछ अन्य स्थलों से दारयवउश् प्रथम (Darius I) ख्शयार्श (Xerxes) तथा अर्तख्शयार्श (Artaxerxes) के अभिलेख मिले हैं। इनकी भाषा ईरान के पश्चिमी भाग की तत्कालीन लोक प्रचलित भाषा है। इसे ही मध्य तथा आधुनिक फारसी की जननी माना गया है। अभिलेखों की भाषा तथा अवेस्ता की भाषा में अत्यधिक साम्य है। इन लेखों से हखामनीशिय शासकों के इतिहास-निर्माण में सहायता मिलती है। दारयवउश् प्रथम का बेहिस्तून लेख तो उसकी सफलताओं का पूरा-पूरा विवरण प्रस्तुत करता है।

प्रजातियाँ

वर्तमान समय में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि प्रागैतिहासिक युग में यहाँ किस प्रजाति से सम्बन्धित मनुष्य रहते थे। हम केवल इतना जानते हैं कि द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में यहाँ भारोपीय वर्ग की किसी शाखा का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। प्रारम्भ में इस वर्ग के सदस्य काला सागर के पश्चिमी किनारे से वर्तमान दक्षिण रूस तथा दक्षिण साइबेरिया से मंचूरिया तक विस्तृत भू-भाग पर फैले हुए भ्रमणशील जीवन-यापन कर रहे थे। इस भू-भाग के उत्तर यूरोप तथा एशिया के दुर्गम अरण्य तथा दक्षिण उर्वर प्रदेश थे। सेमिटिक जातियों की भाँति इनका जीवन भी पशु-पालन पर आश्रित था जिसमें मेष, अश्व एवं गाय का विशेष महत्त्व था। गाय का पालन तो मिस्र तथा सैंधव क्षेत्रों में भी प्रचलित था किन्तु अश्व पर इनका एकाधिकार था। इसकी क्षिप्र गति से ही वे आक्रमणात्मक युद्धों में सफलता प्राप्त कर लेते थे। जलवायविक परिवर्तनों के फलस्वरूप तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य भाग के आस-पास किसी समय इन्हें मध्य यूरेशिया के घास के मैदानों से वंचित होना पड़ा जिससे इनका जीवन कठिन हो गया। अतएव

---

1. Now the ruins of Marghob, Encyclopaedia Britannica, Vol. xxiii, p. 987.

दक्षिणी सेमिटिक जातियों की भाँति इन्हें हरे-भरे घास के मैदान की खोज में आगे बढ़ना पड़ा। कुछ डैन्यूब क्षेत्र की ओर बढ़कर फ्रांस, स्पेन, जर्मनी एवं ब्रिटेन में फैल गए। दूसरा समुदाय समय-समय पर भारत, एशिया माइनर, यूनान तथा इटली की ओर बढ़ा। इनका एक जत्था वंक्षु के उत्तरी भाग में बस गया लेकिन जब उस पर पीछे से आने वाले समूहों का दबाव पड़ा तो उसे और दक्षिण की ओर बढ़ना पड़ा। इसके बाद वे दो शाखाओं में बँट गये। एक शाखा का प्रवेश भारत में हुआ जो आर्य-अभिधान से प्रसिद्ध हुई तथा ईरान में पहुँचने वाली दूसरी शाखा ईरानी-आर्य कहलाई। इन्होंने ईरान के प्राचीन इतिहास एवं सभ्यता की स्थापना की तथा हखामनीशिय युग में इतनी प्रगति की कि उनका प्रभाव सिंधु-प्रदेश से यूनान तथा वहाँ से मिस्र तक फैल गया।

राजनीतिक इतिहास

प्राचीन पारसीकों के राजनीतिक इतिहास को प्राक्हखामनीशिय (Pre-Achaemenian) तथा हखामनीशिय (Achaemenian) दो युगों में विभाजित किया जा सकता है। इन दोनों युगों की राजनीतिक गति-विधियों का पृथक्-पृथक् अध्ययन आवश्यक है।

प्राक्हखामनीशिय युग

अवेस्ता, हखामनीशिय लेख तथा हेरोडोटस के सम्मिलित साक्ष्य से प्रतीत होता है कि वैदिक आर्यों की भाँति ईरानी आर्य भी अनेक शाखाओं में विभक्त थे। इनमें मीड्स (Medes), पर्शियन (Persian), पार्थियन (Parthian), बैक्ट्रियन (Bactrian), एराकोशियन (Arachosian), मार्जियन (Margian), सोग्डियन (Sogdian), कोरास्मियन (Chorasmians), ड्रैंजियन (Drangians), सैगार्टियन (Sagartians) तथा हाइरकेनियन (Hyrcanians) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[1] इनके साथ-साथ हित्ती, मितन्नी तथा लीडियनों का भी संकेत किया जा सकता है। प्राक्हखामनीशिय युग में इन शाखाओं में सर्वाधिक यश मीडियन शाखा ने अर्जित किया। प्राचीन ईरान के ऐतिहासिक साम्राज्य की आधारशिला रखने वाले यही थे। मितन्नी वर्ग के सदस्य काकेशिया पार कर फ़रात के उत्तरी मोड़ पर बस गए तथा पद्रहवीं शती ई० पू० के मध्य तक अपनी शक्ति का पर्याप्त विस्तार कर लिया। पश्चिम एशिया में इनका महत्त्व केवल मिस्र की सर्वाधिक विरोधी जाति के रूप में ही नहीं अपितु सर्वप्रथम प्रभुता स्थापित करने की दृष्टि से भी है। इनके उपास्य देवता भारतीय वरुण, इन्द्र, मित्र आदि के समान थे। मितन्नियों ने अपनी शक्ति का विस्तार करना चाहा किन्तु हित्तियों ने उन्हें दबा दिया। जग्रोस पर्वतमाला की

---

[1] Encyclopaedia Britannica, Vol. xvii, p. 549

घाटियों में बसने वाले भारोपीय समुदायों को दबाने के लिए असीरियनों ने कोई कसर न छोड़ी किन्तु मीडों तथा पारसीकों का वे कुछ न बिगाड़ पाये। मीडों का क्रीड़ा-क्षेत्र हमदन था तथा पारसीकों का उर्मिया झील (Lake Urmia) के पश्चिम स्थित था। धीरे-धीरे पारसीक शुस्तर (Shustar) के पूर्व पर्वतीय भाग में बस गये। इस भू-भाग को वे पर्सुअस (Parsuas) अथवा पर्सुमिश (Parsumash) कहते थे।

पौराणिक काल—यद्यपि प्राक्हखामनीशिय ईरानी इतिहास का प्रारम्भ मीडों के अभ्युदय से होता है किन्तु प्रसङ्गतः मीडों के इतिहास पर विमर्श करने के पूर्व इनके पौराणिक इतिहास का अनुशीलन आवश्यक है। इसका उल्लेख यश्त ग्रंथों में मिलता है जिन्हें फिरदौशी नामक कवि ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'शाहनामा' में संकलित किया है। इस कृति से प्रतीत होता है कि ईरान का प्राचीनतम वंश पिशदादी (Peshadady) था जिसमें सर्वाधिक ख्याति जमशेद ने अर्जित की थी। पञ्चाङ्ग का अविष्कार, पर्सिपोलिस नगर का निर्माण तथा सोम पेय का प्रचलन इसी ने किया था। कहा जाता है कि बाद में शासकों की अपेक्षा सेनापतियों ने अधिक ख्याति अर्जित की। सीस्तान के योद्धा साम तथा उसके वंशज इस दृष्टि से विशेष प्रसिद्ध हैं। साम का पुत्र जाल तथा पौत्र रुस्तम तो उससे भी आगे बढ़ गया था।

मीडों का उत्कर्ष : डिओसीज—मीडों का क्रीड़ा-क्षेत्र मीडिया ईरान का उत्तरी-पश्चिमी भाग था। असीरियनों के निकट स्थित होने के कारण उन्हें निरन्तर उनकी क्रूर एवं लोलुप दृष्टि का शिकार बनना पड़ता था। असीरियन शासकों ने उन्हें हर तरह से दबाने का प्रयत्न किया तथा विकास में बाधा उपस्थित की किन्तु सफलता की आशा में वे अन्त तक प्रयत्नशील रहे। अन्त में डिओसीज (Deioces) अथवा दायौक्कु के नेतृत्व में उन्होंने असीरियनों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अत्यन्त कठिन संघर्ष के वाद अन्त में उन्हें सफलता मिल गई। जनमत द्वारा डिओसीज को शासक चुन लिया गया। उसने केवल मीडियनों को स्वतन्त्र ही नहीं किया बल्कि उन्हें संगठित भी किया। उसने एकबतना (Ecbatana) में राजधानी की स्थापना की। इसके कोषागार तथा राजभवन सात दीवालों से घिरे दुर्ग में स्थित थे। कहा जाता है कि डिओसीज ऐसी सुरक्षित जगह में रहता था कि लोग उसे देख तक नहीं पाते थे। उससे मिलने के लिए लिखित अनुमति लेनी पड़ती थी। सारगोन द्वितीय के एक लेख से ज्ञात होता है कि उसके राज्य-काल में मीडिया के बहुत से सरदारों ने उरर्तु के शासक रूसस के साथ समझौता करके एक संघ स्थापित किया था। इन सरदारों में दायौक्कु का नाम भी मिलता है।

फ्रवर्तिश—डिओसीज के पश्चात् उत्तराधिकार उसके पुत्र फ्रवर्तिश (Phraortes, 650-625 B. C.) को मिला। जिसे असीरियन लेखों में ख्शाथ्रित (Khshathrita) के नाम से उल्लिखित किया गया है। सेनैकरिब को ईलम, मिस्र तथा जूडा के साथ व्यस्त देखकर फ्रवर्तिश ने अपनी शक्ति का पर्याप्त विस्तार कर लिया जिसके फलस्वरूप एक नगर के गवर्नर के रूप में प्रारम्भ कर वह एक बड़ी शक्ति का स्वामी

बन गया। सेनैकरिब के उत्तराधिकारी एसरहद्दोन ने उसके पास एक दूत-मंडल भेजा था। मीडों के बीच अपनी स्थिति सुदृढ़ कर तथा सिम्मिरियनों (Cimmirians) तथा सीथियनों (Scythians) को अपने अधीन करके उसने असीरिया के विरुद्ध एक संघ की स्थापना की। हेरोडोटस के अनुसार इसके बाद उसने निनिव के विरुद्ध सैनिक प्रयाण कर दिया किन्तु इसमें असफ़ल ही नहीं रहा अपितु इसी में वीरगति भी प्राप्त (653 ई० पू०) कर ली। यह सीथियनों को आगे बढ़ने का उचित अवसर था। अतः उन्होंने मीडियनों पर आक्रमण कर अधिकार स्थापित कर लिया। हेरोडोटस के अनुसार सीथियनों का मीडिया पर अट्ठाईस वर्ष (653-625 B. C.) तक अधिकार बना रहा।

उवखशत्र—सीथियन आधिपत्य से मुक्ति दिलाने तथा मीडियन राज्य को एक साम्राज्य के रूप में परिवर्तित करने का गौरवपूर्ण कार्य फ़्रवर्तिश के पुत्र एवं उत्तराधिकारी उवखशत्र (Cyaxares) ने किया। यदि मीडियनों ने अट्ठाईस वर्षों के लिए स्वतन्त्रता खोई तो उन्होंने कुछ प्राप्त भी किया। सीथियन युद्ध-विद्या में कुशल थे तथा अश्व का प्रयोग करते थे। मीडियन इससे लाभान्वित हुए। अपनी सैनिक शक्ति सुदृढ़ कर लेने के बाद उवखशत्र ने उर्मिया झील के आस-पास के प्रदेशों पर अधिकार स्थापित कर लिया। इसके बाद उसने सीथियनों को चुनौती दी तथा उन्हें मीडिया से खदेड़ दिया। सीथियनों की ओर से निश्चिंत होकर उवखशत्र ने पुराने शत्रु असीरिया पर दृष्टि डाली। पिता द्वारा असीरिया पर आक्रमण एवं उसमें मृत्यु की घटना उसे विस्मृत नहीं हुई थी। अतः असीरियनों पर आक्रमण करने के उद्देश्य से उसने सैनिक तैयारी प्रारम्भ कर दी। सौभाग्य से इसी बीच कैल्डिया का शासक नेबोपोलस्सर भी असीरियनों को समाप्त करने का यत्न कर रहा था। इस आशय से उसने उस पर आक्रमण भी किया किन्तु मिस्रवासियों की सहायता से शायद उन्होंने अपनी रक्षा कर ली थी। उचित समय देखकर 615 ई० पू० में उवखशत्र ने असीरिया पर आक्रमण करके क्षसुर पर अधिकार कर लिया। उवखशत्र की विजय से नेबोपोलस्सर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने बढ़कर उवखशत्र को बधाई दी। उवखशत्र एक दूरदर्शी एवं नीति-निपुण शासक था। वह जानता था कि नेबोपोलस्सर की मैत्री उसके लिए अत्यन्त उपयोगी हो सकती है। अतः उसने असीरिया के विरुद्ध कैल्डियन शासक से एक संधि की तथा सम्बन्ध को सुदृढ़ करने के लिए अपनी पौत्री का विवाह कैल्डियन युवराज नेबुकद्रेज्जर के साथ कर दिया। किन्तु इसके पहले की वह असीरिया के विरुद्ध सैनिक प्रयाण करता उसे एक गंभीर विपत्ति का सामना करना पड़ा। उपयुक्त अवसर देखकर सीथियनों ने पूर्ण दल-बल के साथ मीडिया पर आक्रमण कर दिया। इस प्रकार की अनेक घटनाएँ प्राचीन इतिहास में घटित हुई हैं। उवखशत्र के साहस एवं शक्ति के परीक्षण की यह संकटमय घड़ी थी। सौभाग्य से इसमें वह सफल हो गया तथा सीथियनों को बुरी तरह से पराजित कर दिया। उवखशत्र ने छद्म द्वारा सीथियनों के नेता की हत्या कर दी तथा उन्हें उल्टे

पैर वापस जाने के लिए विवश किया। इससे मुक्ति मिलने के बाद उसने पुनः असीरिया की ओर ध्यान दिया। 612 ई० पू० में दोनों ने मिलकर असीरिया पर आक्रमण कर निनिव पर अधिकार कर लिया। दो वर्ष बाद असीरिया के स्वतन्त्र इतिहास का दीप बुझ गया।

असीरिया पर अधिकार स्थापित कर लेने के बाद उवख्शत्र का मार्ग प्रशस्त हो गया। 590 ई० पू० में उसने लीडिया पर आक्रमण कर दिया। पाँच वर्ष तक तुमुल संघर्ष के बाद अन्त में 5 मई 585 ई० पू० को अकस्मात् सूर्य-ग्रहण पड़ने के कारण दोनो देशों ने इसे ईश्वरीय आदेश समझ कर युद्ध बंद कर दिया तथा बैबिलोनिया शासक नेबुकद्रेज्जर की मध्यस्थता में दोनों पक्षों में एक संधि की गई। इस संधि के फलस्वरूप हालिस (Halys) नदी को दोनों राज्यों की सीमा स्वीकार किया गया। मैत्री सम्बन्ध को और मजबूत करने के लिए लीडियन शासक एलिएत्तीज (Allyattes) ने अपनी पुत्री का विवाह मीडियन राजकुमार इश्तुवेग (Astyages) के साथ कर दिया। इस प्रकार उवख्शत्र ने केवल मीडिया को स्वतन्त्र ही नहीं किया अपितु असीरियन प्रभुता समाप्त कर सर्वप्रथम विशाल पारसीक साम्राज्य की स्थापना की जिसमें मीडिया, असीरिया तथा फारस सम्मिलित थे। किन्तु दुर्भाग्य से वह उसका उपयोग न कर सका और दो वर्ष बाद ही उसकी मृत्यु ही गई।

इश्तुवेग एवं मीडों का अन्त—उवख्शत्र के बाद 584 ई० पू० में उत्तराधिकार उसके पुत्र इश्तुवेग को मिला। वास्तव में राजतन्त्र ऐसा जुआ है जिसका भविष्य सदैव अनिश्चित रहता है। इसमें उत्तराधिकार वाग्विदग्ध तथा उन्मत दोनों को मिलता है। इश्तुवेग के सम्बन्ध में यह कथन पूर्णतया सत्य है। उत्तराधिकार रूप में उसे जो साम्राज्य मिला था यदि चाहता तो उसे और अधिक विस्तृत कर अधिक कीर्ति अर्जित कर लेता किन्तु उसने ऐसा नहीं किया। शस्त्र एक ओर रखकर वह शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए वैभव में ही मस्त हो गया। शासक तथा कुलीन वर्ग के सदस्य दोनों आरामतलब हो गये तथा शान-शौकत की ओर अधिक ध्यान देने लगे। किसी समय लकड़ी की भद्दी गाड़ी का प्रयोग करने वाले अब रथों की सवारी करने लगे। प्रसाधन की ओर इतना अधिक ध्यान दिया जाने लगा कि मनुष्यों की कौन कहे घोड़े भी स्वर्णाभूषणों से अलंकृत किए जाने लगे। प्रारम्भिक शासक अपनी न्यायप्रियता के लिए प्रसिद्ध थे किन्तु इश्तुवेग इससे विमुख हो गया। इस दुर्विनीत शासक ने एक व्यक्ति से रुष्ट होकर उसके पुत्र के शरीर को कई टुकड़ों में कटवा कर उसे खाने के लिए विवश किया था। कहा जाता है कि उस वेचारे ने यह कह कर आज्ञा स्वीकार कर ली कि शासक की आज्ञा सर्वथा शिरोधार्य है। किन्तु हम जानते हैं कि क्रूरता एवं विलासिता के बल पर किसी साम्राज्य का अस्तित्व अधिक दिन तक नहीं रह सकता। हखामनीशिय वंश के कुरुश् द्वितीय, जो स्वयं इसका दौहित्र था, के हाथों इसे गहरी पराजय मिली तथा अधीन कर लिया गया। इश्तुवेग के साथ-साथ मीडिया का स्वतन्त्र इतिहास भी समाप्त हो गया।

यह अवश्य सत्य है कि इश्तुवेग की पराजय से मीडिया का स्वतन्त्र अस्तित्व मिट गया किन्तु उनकी सांस्कृतिक परम्पराओं का परवर्ती पारसीक सभ्यता पर अमिट प्रभाव पड़ा । ईरानी आर्य-भाषा, छत्तीस अक्षर वाली वर्णमाला, लेखन-सामग्री के रूप में चर्म-पत्रों, मसि तथा लेखनी, वास्तुकला में स्तंभ के प्रयोग, कृषिकर्म, युद्ध में असीम साहस प्रदर्शन के गुण, अहुर मज्द एवं अह्रिमन की द्वैत प्रवृत्ति पर आधृत जरथुश्त्र धर्म, पितृसत्तात्मक पारिवारिक संस्थाएँ तथा अन्यान्य सामाजिक विधान पारसीकों को इन्हीं से मिले थे ।

हख़ामनीशिय युग

ईरानी आर्यों की विभिन्न शाखाओं में सर्वाधिक यश पर्शियन शाखा ने अर्जित किया । जिस समय मीडिया में मीड शासक अपनी शक्ति का विस्तार कर रहे थे उसी समय पर्सुमश में पर्शियन शाखा अपनी स्थिति सुदृढ़ करने में संलग्न थी । मीड़ों की शक्ति प्रसार के समय इनके कई कबीले अस्तित्व में आ गए थे । इसमें पेसारगेदाय का हख़ामनीशिय कुल विशेष प्रतिष्ठित था । प्रारम्भ में इन्होंने भी ईलम की अधीनता में जीवन प्रारम्भ किया किन्तु असीरिया के साथ संघर्ष में फँस जाने के फलस्वरूप जब ईलम की शक्ति क्षीण हो गई तो सातवीं शती ई० पू० के आस-पास इन्होंने हख़ामनिश् (Achaemenes) के नेतृत्व में स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली । दारयवउश् प्रथम के बेहिस्तून स्तभं लेख में इसे ही हख़ामनीशिय वंश का संस्थापक स्वीकार किया गया है ।[1] हख़ामनिश् के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है इसी लिए बहुत से विद्वान् इसकी ऐतिहासिकता संदिग्ध मानते हैं यद्यपि समर्थन में किसी ठोस प्रमाण का आधार नहीं लिया जाता । हख़ामनिश् के पश्चात् उत्तराधिकार उसके पुत्र चिशपिश् (Chishpisph, 6754-60 B.C.) को मिला । हख़ामनिश् ने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना अवश्य कर लिया था । किन्तु अभी ईलम की प्रभुता समाप्त नहीं हुई थी । इसका श्रेय चिशपिश् को ही दिया जा सकता है । ईलम की प्रभुता अस्वीकार करने के साथ-साथ चिर्शपिश् ने अन्सान (Ansan) प्रान्त पर भी अधिकार स्थापित कर लिया । हेरोडोटस के अनुसार चिशपिश् लीडियन शासक फ्रवर्तिश की अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया गया था । चिर्शपिश् के विषय में भी अधिक ज्ञात नहीं है । उसकी मृत्यु के बाद उसका राज्य इसके दो पुत्रों में बाँट दिया गया । कुरुश् प्रथम (Cyrus I, 640-600 B. C.) को अन्सान एवं पर्सुमश का राज्य मिला तथा अरियाम्र्न (Aryarmna, 640-590 B.C.) को फ़ार्स (Fars) का राज्य । किन्तु साम्राज्य विभाजन का यह स्वरूप अधिक दिन तक दोनों पक्षों के लिए मान्य न रहा । कुरुश् प्रथम के उत्तराधिकारी कम्बुजिय प्रथम (Cambyses I, 600-559 B.C.) ने अरियाम्र्न के उत्तराधिकारी अर्शम् (Arsames) को पदच्युत

---

[1] Behistun Inscriptoin 6. 8

कर पुनः संयुक्त राज्य की स्थापना की। अर्शम् तथा उसके उत्तराधिकारियों को गवर्नर के रूप में शासन करने की अनुमति दे दी गई। संयुक्त राज्य-स्थापना से कम्बुजिय प्रथम की ख्याति दूर तक फैल गई। जिससे प्रभावित होकर मीडिया के शासक इश्तुवेग ने अपनी पुत्री का विवाह इसके साथ कर दिया। इससे हख़ामनीशिय कुल की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई तथा दोनों राज्यों की प्रतिष्ठा एक शासक के अधीन हो गई।[1]

कुरुश् द्वितीय

कम्बुजिय प्रथम के विषय में भी अधिक ज्ञात नहीं है। इसके बाद उत्तराधिकार इसके पुत्र कुरुश् द्वितीय (Cyrus II, 559-529 B.C.) को मिला। हख़ानीशिय साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक यही था। उत्तराधिकार रूप में प्राप्त एक छोटे से राज्य को बीस वर्ष के भीतर एक बड़े साम्राज्य में परिवर्तित कर देने में इसे अभूतपूर्व सफलता मिली। साम्राज्य की स्थापना एवं उसके निर्माण में जो महत्त्व प्राचीन भारत में चन्द्रगुप्त मौर्य एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य', यूनान में सिकन्दर महान् तथा बैबिलोन में हम्मूराबी का है वही प्राचीन ईरान में कुरुश् द्वितीय का। स्वयं मीडों की प्रभुता में शासन प्रारम्भ कर शीघ्र ही अपने बाहुबल से जिस विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की उसमें मीडिया, लीडिया, असीरिया के अधिकांश भाग, उरर्तु, पूर्वी एशिया माइनर, पार्थिया, ड्रेन्जियाना (Drangiana) एराकोशिया (Arachosia), मार्जियाना (Margiana), बैक्ट्रिया (Bactria), बैबिलोनिया, सीरिया, फोनिशिया इत्यादि सम्मिलत थे।

मीडिया अधिग्रहण—शासन ग्रहण करने के तत्काल बाद कुरुश् द्वितीय का ध्यान मीडिया पर गया। टीसियस (Ctesias) एवं हेरोडोटस के अनुसार मीडिया का अधिग्रहण शान्तिपूर्वक किया गया था किन्तु हेरोडोटस यह भी बताता है कि इसमें कुरुश् द्वितीय को मीडियन सरदारों का सहयोग भी मिला था। बर्न्स की धारणा है कि मैत्रीभाव से ही दोनों राज्य परस्पर मिलाए गए थे।[2] कुरुश् द्वितीय का मीडिया पर अधिकार स्थापित होना एक प्रकार का वंश-परिवर्तन ही माना जा सकता है। वास्तव में कुरुश् द्वितीय अधिक दिन तक मीडिया की प्रभुता स्वीकार नहीं करना चाहता था इसी लिए उसने ऐसा करने का निश्चय किया। मीडिया अधिग्रहण से कुरुश् द्वितीय की भावी योजनाओं के मार्ग निर्विघ्न हो गए। इसके बाद उसने साम्राज्य-विस्तार की योजना बनायी।

लीडिया अधिग्रहण—साम्राज्य-विस्तार के प्रथम चरण में उसकी टक्कर लीडिया से हुई। यह एशिया माइनर का वह पश्चिमी भाग था जो हालिस नदी

---

1. R. Ghirshman, Iran, p. 125
2. E. M. Burns, Western Civilization, Vol. I, p. 84

द्वारा मीडिया से पृथक् था। 561 ई० पू० से यहाँ समृद्ध एवं युद्धप्रिय शासक क्रीसस (Croesus) शासन कर रहा था। क्रीसस को भय था कि कुरुश् द्वितीय की वर्द्धमान शक्ति का सामना उसे एक दिन अवश्य करना पड़ेगा। कुरुश् द्वितीय द्वारा मीडिया अधिग्रहण से उसकी शंका और बलवती हो गई। इश्तुवेग के सिंहासन से हटते ही क्रीसस का क्रोध उबल पड़ा। उसे विश्वास हो गया कि यदि वह अपने बहनोई को पुनर्स्थापित करने का प्रयास नहीं करता तो निश्चित ही पारसीक एशिया माइनर पर भी अधिकार कर लेंगे। इस आशय से तथा एशिया के आन्तरिक भाग में अपनी प्रभुता स्थापित करने के उद्देश्य से क्रीसस ने पूर्व की ओर बढ़ने का निश्चय किया। इस सम्बन्ध में उसने डेल्फी के आरकलों से भी परामर्श ली। कहा जाता है कि आरकलों ने उसे यह परामर्श दी थी कि यदि वह हालिस नदी पार कर आक्रमण करे तो एक शक्तिशाली साम्राज्य का नाश कर सकता है। अनुमान लगाया गया है कि क्रीसस को इस प्रकार प्रोत्साहित कर आकरल उसे कुरुश् द्वितीय के साथ एक दीर्घकालीन युद्ध में व्यस्त करना चाहते थे। जो भी हो, पूरी तैयारी के साथ आरकलों की भविष्यवाणी एवं सद्परामर्श के अनुसार क्रीसस ने हालिस नदी पार कर कैप्पाडोशिया पर आक्रमण कर दिया। उधर से पारसीक सेना भी कैप्पाडोशिया की ओर बढ़ी। दोनों सेनाओं में मुठभेड़ हुई। पहला युद्ध तो अनिर्णीत रहा किन्तु बाद में पारसीकों के ऊँटों के समक्ष लीडियन अश्व-सैनिक न टिक सके क्योंकि अभी तक उनका पाला इतने भयकंर एवं विशाल जानवर से नहीं पड़ा था। अन्ततः वे पराजित हुए तथा क्रीसस को लीडिया की ओर भागना पड़ा। पारसीक सैनिकों ने उसका पीछा किया। क्रीसस की राजधानी सर्डिस नष्ट-भ्रष्ट कर दी गई किन्तु कुरुश् द्वितीय के आदेशानुसार क्रीसस को बचा लिया गया। कहा जाता है कि अनजाने में जब एक योद्धा उसे मारने के लिए आगे बढ़ा तो उसके एक जन्मना मूक पुत्र ने उसे ऐसा न करने के लिए कहा। इसके बाद हेरोडोटस हमें बताता है कि क्रीसस को चौदह लीडियन युवकों के साथ जंजीर में बाँध कर एक चिता पर रखा गया। उसी समय दैवयोग से उसे सोलन, जिससे कभी जीवन की अनिश्चितता एवं ईश्वर की अकृपा के विषय में उसकी बात हुई थी, की याद आ गई तथा उसका हृदय रोमांचित हो गया। उसने आर्तस्वर में तीन बार सोलन का नाम लिया। कुरुश् द्वितीय के कान में जब उसकी आवाज पहुँची उसने क्रीसस से इसका रहस्य पूछा और जानकर उसे छोड़ देने की आज्ञा दे दी। किन्तु तब तक चिता प्रज्वलित हो चुकी थी और अनेक प्रयत्न करने के बाद भी न बुझाई जा सकी। कहा जाता है कि क्रीसस की प्रार्थना पर अपोलो देवता द्वारा आकाश मेघाच्छादित किए जाने तथा वृष्टि करने पर चिताग्नि शान्त हुई तथा क्रीसस की प्राण रक्षा हुई। क्रीसस का शेष जीवन मीडिया में व्यतीत हुआ।

एशिया माइनर के तटीय यूनानी उपनिवेशों का अधिग्रहण—एशिया माइनर के तटवर्ती प्रदेश में यूनानियों के समृद्ध उपनिवेश स्थित थे। वे लीडिया के शासक

क्रीसस के अधीन थे। क्रीसस को फारस के साथ व्यस्त देखकर उनके मन में भी स्वतन्त्र होने की बात उठने लगी। इसी लिए जब क्रीसस ने कुरुश् द्वितीय के विरुद्ध सैनिक अभियान किया तो उन्होंने उसकी कोई सहायता न की। यदि वे क्रीसस की सहायता किए होते तो शायद लीडिया का इतनी शीघ्रता से पराभव न होता। पुनश्च क्रीसस की ओर से जो आयोनियन सैनिक लड़ रहे थे उनके समक्ष जब कुरुश् द्वितीय ने पक्ष-परिवर्तन का प्रस्ताव रखा तो उन्होंने अस्वीकार कर दिया। इसका कारण यह नहीं था कि वे लीडिया नरेश के प्रति अत्यधिक स्वामिभक्त थे बल्कि यह था कि उन्हें यह कभी विश्वास नहीं था कि लीडिया के शासक का इतनी शीघ्रता से अन्त हो जायगा। जो भी हो, उन्होंने लीडियन निवासियों तथा कुरुश् द्वितीय दोनों की सहानुभूति खो दी। आयोनियनों के नकारात्मक उत्तर से कुरुश् द्वितीय का खून खौल गया था। अतएव लीडिया से निपटने के बाद उसने आयोनियनों से बदला लेने का निश्चय किया। लीडिया के पतन से यूनानी नगर पहले ही धैर्य खो चुके थे। वे कुरुश् द्वितीय की कृपा के आकांक्षी अवश्य थे किन्तु उसके हृदय में क्षमा का कोई स्थान नहीं था। केवल मिलिटस जो लीडिया तथा फारस के संघर्ष से पृथक् था को छोड़कर, अन्य सभी नगरों को कुरुश् द्वितीय की विजयवाहिनी का सामना करना पड़ा। पारसीक सेनापति हार्पेगस (Harpagus) को एक-एक करके उन्हें पराजित करने में तनिक भी कठिनाई न हुई। उन्हें करद राज्य बना लिया गया तथा पारसीक सेना में अनिवार्य रूप से सेवा करने के लिए बाध्य किया गया। किन्तु उनकी व्यापारिक स्वतन्त्रता बनी रही क्योंकि अधिकांश व्यापारी हखामनीशिय-साम्राज्य से मधुर-व्यापारिक सम्बन्ध बनाए रखना चाहते थे। फारस को उत्तर-पूर्व में स्थित मध्य-ऐशियाई बर्बर जातियों से बराबर भय बना रहता था। साम्राज्य को इस ओर से सुरक्षित करने के लिए इनका प्रतिरोध आवश्यक था। अतः पश्चिमी सीमा से लौटने के बाद कुरुश् द्वितीय का ध्यान पूर्व की ओर गया। सर्वप्रथम हाइरकेनिया (Hyrcania) तथा पार्थिया (Parthia) पर विजय प्राप्त की तथा वहाँ अर्शम् के पुत्र विस्तास्प (Hystaspes) को गवर्नर नियुक्त किया। इसके बाद ड्रेन्जियाना, एराकोशिया तथा बैक्ट्रिया को एक-एक करके पारसीक साम्राज्य में मिला लिया गया। इसके बाद वंक्षु नदी (Oxus) पार कर जक्सर्तीज (Jaxartes) तक बढ़ा जो उसके साम्राज्य की उत्तरी-पूर्वी सीमा थी। यहाँ पर उसने दुर्गीकृत नगरों का निर्माण करवाया। पश्चिमी भारतीय सीमा पर उसे कितनी सफलता मिली थी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि सम्बन्धित साक्ष्य परस्पर विरोधी हैं। नियार्कस (Nearchus) एवं मेगास्थनीज़ (Megasthenes) दोनों बताते हैं कि कुरुश् द्वितीय ने भारत पर कभी आक्रमण नहीं किया। स्ट्रैबो के अनुसार कुरुश् द्वितीय ने जोड्रेशिया के मार्ग से एक सेना भारत विजय के लिए भेजी थी जो मार्ग की कठिनाईयों के कारण नष्ट हो गई और उसे सात व्यक्तियों के साथ उल्टे पाँव वापस

होना पड़ा था। एरियन के अनुसार सिंध एवं कोफेन नदियों के मध्य का भाग प्राचीन काल में असीरियनों, मीडों तथा अन्ततः पारसीकों के अधिकार में था तथा कुरुश् द्वितीय को इससे कर मिलता था। प्लिनी के अनुसार कुरुश् द्वितीय ने गोरबंद (Gorband) एवं पंजशिर (panjashir) के संगम के निकट प्रसिद्ध नगर कापिसी (Kapisi) नष्ट किया था। इडवर्ड मेयर के अनुसार कुरुश् द्वितीय को हिन्दुकुश एवं काबुल की घाटी की भारतीय जातियों को पराजित करने में सफलता मिली थी।

बैबिलोन तथा पश्चिमी प्रान्तों का अधिग्रहण—पूर्वी प्रान्तों से निपटने के बाद कुरुश् द्वितीय ने बैबिलोन पर दृष्टि डाली। इस समय यहाँ पुरातत्त्व प्रेमी शासक नेबुनैद राज्य कर रहा था। प्रारम्भ में दोनों राज्यों के सम्बन्ध अच्छे थे। सम्भवतः मीडिया अधिग्रहण के समय बैबिलोन का शासक कुरुश् द्वितीय के लिए हितकर सिद्ध हुआ था किन्तु मीडिया, लीडिया, एशिया माइनर के यूनानी उपनिवेशों एवं अन्य उत्तरी-पूर्वी राज्यों पर अधिकार स्थापित करने के बाद कुरुश् द्वितीय में इतनी शक्ति आ गई थी कि वह बैबिलोन के विरुद्ध शस्त्र उठा सके। इसके साथ ही पूर्व से पश्चिम तक स्थित विशाल साम्राज्य के बीच वह बैबिलोनिया को कंटक के रूप में रहने नहीं देना चाहता था। इस विश्वास एवं निश्चय के साथ उसने 539 ई० पू० में बैबिलोन पर आक्रमण कर दिया। घटनाओं का क्रम ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है किन्तु हम इतना जानते हैं कि नगर के बाहर ही उसका सामना बैबिलोनियन सेना से हुआ। बैबिलोनियन सेना का नेतृत्व बेलशज्जर (Belshajjar) कर रहा था। इसमें बैबिलोनियन पराजित हुए तथा कुरुश् द्वितीय त्राता के रूप में नगर में प्रविष्ट हुआ। अपने स्वभाव के अनुरूप कुरुश् द्वितीय ने बैबिलोनियनों के साथ अत्यन्त उदारता प्रदर्शित की। उसने उनके देवता बेल-मार्दुक की उपासना की तथा स्वयं 'बैबिलोनियन शासक' (King of Babylone) की सम्मानित उपाधि धारण की। बैबिलोनियनों के साथ-साथ उसने हिब्रुओं के साथ भी अत्यन्त उदारता दिखाई। जो हिब्रू यहाँ बहुत दिनों से दासता का जीवन व्यतीत कर रहे थे उन्हें कुरुश् महान् ने मुक्त कर दिया तथा वे अपने देश जाने और वहाँ मन्दिर-निर्माण की आज्ञा पा गये।

बैबिलोनियन-अधिग्रहण की घटना कुरुश् द्वितीय के साम्राज्य-विस्तार की एक साधारण घटना नहीं है बल्कि विश्व इतिहास में इसका विशिष्ट महत्त्व है। इस विजय के पूर्व बैबिलोन पश्चिमी एशिया में एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक एवं व्यापारिक केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित था किन्तु कुरुश् द्वितीय की विजय से उसकी प्रतिष्ठा धूल में मिल गयी तथा उसका स्थान पर्सिपोलिस, सूसा एवं एकबतना ने ले लिया। बैबिलोन का अधःपतन किसी एक नगर का अधःपतन नहीं बल्कि एक ऐसी जाति एवं सभ्यता का अन्त था जिसका गत लगभग डेढ़ हजार वर्षों से पश्चिमी एशिया में दबदबा बना था। सुमेरियनों से पृथक् पश्चिमी एशिया के इतिहास में बैबिलोनिया,

असीरिया, फीनिशिया, कैल्डिया इत्यादि का इतिहास इसी जाति का इतिहास है। द्वितीय सहस्त्राब्दी ई० पू० में हित्तियों, मितन्नियों तथा कैसाइटों ने इसका भरसक प्रतिरोध किया किन्तु वे कुछ न बिगाड़ पाए। बैबिलोनिया पर कुरुश् द्वितीय की विजय को पश्चिमी एशिया में आर्य-प्रभुत्व की स्थापना की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास माना जा सकता है। बैबिलोनिया पर अधिकार स्थापित हो जाने से सीरिया तथा फीनिशिया भी, जो किसी समय बैबिलोनियन प्रभुता में थे, पारसीक साम्राज्य के अंग बन गये।

बैबिलोन की ओर से निश्चित होने के बाद कुरुश् द्वितीय का ध्यान मिस्र की ओर गया तथा उस पर आक्रमण करने की आवश्यक तैयारियाँ प्रारम्भ कर दी गईं किन्तु इसी बीच उत्तर-पूर्व की बर्बर जातियों ने उपद्रव खड़ा कर दिया। कुरुश् द्वितीय मिस्र के विरुद्ध सैनिक प्रयाण का उत्तरदायित्व अपने पुत्र कम्बुजिय द्वितीय को सौंप कर पूर्व की ओर बढ़ा। वहाँ उसकी टक्कर कैस्पियन सागर के दक्षिणी किनारे पर स्थित सीथियन वर्ग की मेसागेटी (Messagetae) नामक जाति से हुई। घटनाओं का क्रम यहाँ भी ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है किन्तु हम इतना जानते हैं कि इसी संघर्ष में कुरुश् द्वितीय की मृत्यु हुई थी। क्रूर रानी ने उसका शिर एक रक्त-कुण्ड में डाल दिया। कहा जाता है कि सीथियन वंश की उसकी एक रानी तोमाश्रिस ने बदला लेने के लिए उसे धोखे से फँसा दिया जिसके कारण उसकी मृत्यु हुई। जो भी हो, कुरुश् द्वितीय की मृत्यु से हखामनीशिय वंश का गौरवसूर्य थोड़े दिन के लिए मेघाच्छादित हो गया।

कुरुश् द्वितीय का मूल्यांकन—कुरुश् द्वितीय प्राचीन विश्व इतिहास के उन शासकों में है जिसके राज्य-ग्रहण से जनता प्रसन्नता व्यक्त करती है। स्वयं एक अधीन शासक के रूप में शासन प्रारम्भ कर अपने बाहुबल, अदम्य उत्साह एवं नीति-निपुणता के आधार पर एक अति विस्तृत साम्राज्य की स्थापना कर ली। कुरुश् द्वितीय के अभ्युदय में तत्कालीन परिस्थितियों का भी विशेष योगदान था। यदि एक ओर उसे निकट पूर्व के साम्राज्यों की जर्जरता का लाभ मिला तो दूसरी ओर कैल्डियन साम्राज्य के पारस्परिक संघर्ष का। आर्थिक दृष्टि से भी ईरान समृद्ध नहीं था जबकि उसके पड़ोसी देश सम्पन्न थे। अतः पारसीक साम्राज्य की मौलिक सीमा बढ़ाने के लिए उसे उचित अवसर मिला। असीरियन परम्परा पर संगठित कुशल पारसीक सेना इस कार्य में अतीव उपयोगी सिद्ध हुई।

कुरुश् द्वितीय एक कुशल विजेता, सेनानायक, उदार एवं धर्म सहिष्णु शासक था। एक छोटे से पारसीक राज्य को एक विस्तृत साम्राज्य में परिवर्तित करने में उसने अद्वितीय पराक्रम का परिचय दिया। एक के वाद एक राज्य को इस प्रकार अभिभूत करता गया जैसे उसकी विजय-पिपासा कभी शान्त नहीं हुई। उसकी सफलता का रहस्य उसका कुशल सैनिक संगठन था। क्रीसस के साथ युद्ध करते समय उसने अभूतपूर्व सामरिक योजना के ज्ञान का परिचय दिया। एक उदार शासक

के रूप में भी कुरुश् द्वितीय विश्व इतिहास में कम प्रसिद्ध नहीं है। बैबिलोनिया-अधिग्रहण के पश्चात् हिब्रुओं को स्वतंत्र करके उसने निरतिशय कीर्ति एवं सम्मान अर्जित कर लिया। उदारतावश ही उसने लीडिया नरेश को जलती हुई चिता से बचा कर उसे सम्मानित स्थान दिया था। बैबिलोनिया पर अधिकार करने के बाद उसने वहाँ के देवता के प्रति जो सम्मान प्रदर्शित किया वह उसकी धार्मिक सहिष्णुता का परिचायक है। किन्तु इतना सब होते हुए कुरुश् महान् ने जिस विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की सिकन्दर महान् की भाँति न तो उसका उपयोग कर सका न उसके संगठन के लिए जीवित ही रहा। नेपोलियन की भाँति महत्त्वाकांक्षा के कारण ही उसका भी अन्त हुआ।[1]

कम्बुजिय द्वितीय

कुरुश् द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार उसके ज्येष्ठ पुत्र कम्बुजिय द्वितीय (Cambyses II, 529-522 B. C.) को मिला। पारसीक इतिहास में इसका आगमन उस मेघ के समान है जो तेज गड़गड़ाहट, चमक एवं झंझावात के साथ आकाश तो आच्छादित कर लेता है, जिसमें बहुत से पेड़-पौधे विनष्ट हो जाते हैं, लेकिन थोड़ी देर बाद हट जाता है तथा आकाश निर्मल हो जाता है। कम्बुजिय द्वितीय पिता के समान पराक्रमी एवं विजेता तो था पर अत्यन्त क्रूर, असहिष्णु तथा मानसिक दृष्टि से असन्तुलित था। पिता के जीवन काल के अन्तिम आठ वर्षों में उसके कार्यों में इसका विशेष सहयोग रहता था। उसके जीवन काल में ही इसे 'बैबिलोन के शासक' की उपाधि मिल गई थी। कुरुश् द्वितीय ने कम्बुजिय द्वितीय के साथ-साथ कनिष्ठ पुत्र बर्दिय (Bardiya or Smerdis) को भी पूर्वी प्रान्तों के प्रशासन का उत्तरदायित्व दे दिया था। ऐसा लगता है कि कुरुश् द्वितीय की मृत्यु होते ही साम्राज्य के आन्तरिक भाग में विद्रोह की आग फैल गई। सम्भवतः इसमें बर्दिय का भी कुछ हाथ था। अतः बर्दिय रूपी काँटे को रास्ते से हटाने के लिए उसने उसकी गुप्त रूप से हत्या करवा दी। लीडिया के शासक क्रीसस, जिसे कुरुश् द्वितीय ने बचा लिया था, भी कम्बुजिय द्वितीय की क्रूरता का शिकार बना। कहा जाता है कि उसने अपनी पत्नी, बहन तथा पुत्र की भी हत्या करवा दी थी।

इसके बाद पिता द्वारा दिये गये उत्तरदायित्व को पूर्ण करने एवं पारसीक साम्राज्य की सीमा को नील नदी तक फैलाने के उद्देश्य से कम्बुजिय द्वितीय मिस्र की ओर बढ़ा। मिस्री शासक सामतिक (Psmatic) ने प्रतिरोध करने का निश्चय किया। यद्यपि उसे अपने मित्रों से कोई सहायता न मिली फिर भी वह अपनी सेना लेकर पेल्युसियम (Pelusium) में पारसीक सेना का सामना किया किन्तु निर्णायक रूप से सफलता कम्बुजिय द्वितीय को मिली। पचास-साठ वर्ष बाद हेरोडोटस ने

---

1. Will Durant, The Story of Civilization, Vol. I, p. 353

स्वयं इस युद्ध-स्थल का निरीक्षण किया था और यहाँ उसे जो नर-कंकाल मिले थे उनके आधार पर उसने पारसीकों को दुबला बताया था।[1] इस विजय से मेम्फिस से नूबिया तक का भाग उसके अधिकार में आ गया। कहा जाता है, इसके बाद उसकी इच्छा समस्त विश्व पर अधिकार स्थापित करने की हुई। इसी उद्देश्य से एक सैनिक अभियान कार्थेजिनियन (Carthaginian), दूसरा आमन (Ammon) के मरुद्वीप तथा तीसरा इथियोपिया के विरुद्ध भेजा गया किन्तु दुर्भाग्य से तीनों में पारसीक सैनिकों को सफलता न मिली। कार्थेज के विरुद्ध तो आगे बढ़ने से स्वयं फीनिशियनों ने ही अनिच्छा प्रकट की क्योंकि उनके कार्थेजियन उपनिवेश से अच्छे सम्बन्ध थे। यूनानी साक्ष्यों से पता चलता है कि 50,000 सैनिकों का जो दल आमन के विरुद्ध भेजा गया था वह भी निष्फल रहा किन्तु लीबिया (Lybia), सीरीन (Cyrene) तथा बार्का (Barka) ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इसी प्रकार इथियोपियनों के विरुद्ध भी कम्बुजिय द्वितीय सफलता न प्राप्त कर सका। कहा जाता है कि इसी बीच उसे राजधानी के आन्तरिक विद्रोहों की सूचना मिली तथा विवश होकर वापस लौटना पड़ा।

कम्बुजिय द्वितीय की अनुपस्थिति का लाभ उठाते हुए साम्राज्य के बाहर कैल्डियन, ईलमी तथा यहाँ तक कि मीड भी अपनी-अपनी स्वतन्त्रता के लिए दौड़ पड़े तथा आन्तरिक भाग में गउमात (Gaumata) नामक एक मागी, जिसका रूप-रंग बर्दिय से मिलता-जुलता था, तथाकथित बर्दिय के रूप में सिंहासन पर अधिकार कर लिया (522 ई० पू०)। कम्बुजिय द्वितीय के आमानुषिक कार्यों से पारसीक आग बबूले थे अतः उन्होंने बर्दिय का उन्मुक्त भाव से स्वागत किया। कम्बुजिय द्वितीय सूचना पाते ही मिस्र से राजधानी की ओर तेजी से बढ़ा किन्तु सूसा पहुँचने के पहले ही उसकी मृत्यु हो गई। कहा जाता है कि उसने स्वयं आत्म-हत्या कर ली थी।

दारयवउश् प्रथम

राज्य-ग्रहण एवं प्रारम्भिक सफलताएँ—हम देख चुके हैं कि चिशपिश् के बाद पारसीक साम्राज्य का जो विभाजन हुआ था उसमें एक भाग पर कुरुश् प्रथम का अधिकार स्थापित हुआ था तथा दूसरे पर अरियाम्र्न का। किन्तु कुरुश् प्रथम के उत्तराधिकारी कम्बुजिय प्रथम ने अरियाम्र्न के उत्तराधिकारी अर्शम् को पराजित कर उसे गवर्नर के रूप में रहने के लिए बाध्य किया था। तभी से इस पक्ष के उत्तराधिकारी गवर्नर के रूप में रह रहे थे। अर्शम् के बाद उत्तराधिकार इसके पुत्र विस्तास्प (Hystaspes) को मिला था। जिस समय कम्बुजिय द्वितीय की अनुपस्थिति

---

[1] H. G. Wells, A Outline of History, p. 306

में तथाकथित बर्दिय ने फारस का सिंहासन हस्तगत किया यदि विस्तास्प चाहता तो उसे, जिसका वह वैध उत्तराधिकारी था, ग्रहण कर लेता किन्तु उसने वैसा नहीं किया। दारयवउश् प्रथम स्वयं अपने बेहिस्तून लेख में कहता है कि उसके पहले किसी पारसीक अथवा मीड़ शासक का साहस हखामनीशिय सिंहासन ग्रहण करने का नहीं हुआ। इस कार्य को सर्वप्रथम दारयवउश् प्रथम ने किया तथा पारसीक साम्राज्य को पूर्ववर्ती किसी भी शासक से अधिक विस्तृत किया।

जब दारयवउश् प्रथम ने देखा कि हखामनीशिय साम्राज्य किसी अवैध व्यक्ति के अधिकार में जा रहा है तो उसने उसे रोकने का निश्चय किया तथा किसी प्रकार छः पारसीक सरदारों की सहायता से बर्दिय की हत्या करवा कर उसे रास्ते से हटा दिया तथा स्वयं 522 ई० पू० में सिंहासन प्राप्त कर लिया। प्राचीन राजतन्त्रों में राज्याधिकार प्राप्त करने के लिए राजघराने में ही संघर्ष नहीं होते थे बल्कि अधीनस्थ प्रान्त भी यदि नवीन शासक की शक्ति का यथोचित मूल्यांकन नहीं कर पाते थे तो विद्रोह कर स्वतन्त्रता प्राप्ति का प्रयास करने लगते थे। दारयवउश् प्रथम भी इस स्थिति का अपवाद नहीं था। किन्तु उसने अत्यन्त सफलतापूर्वक उन परिस्थितियों पर विजय पा ली। तथाकथित बर्दिय की हत्या से उसने पारसीकों की सहानुभूति प्राप्त की तथा कुरुश् द्वितीय की पुत्री एवं कम्बुजिय द्वितीय की बहन तथा विधवा पत्नी अतोसा (Atossa) से विवाह कर शासकीय परम्परा से निकटता स्थापित कर ली। अभी दारयवउश् प्रथम आन्तरिक मामलों में ही व्यस्त था कि लीडिया तथा मिस्र के अधीनस्थ शासकों ने पारसीक प्रभुता मानने से असहमति प्रकट कर दी। इन्हीं के अनुकरण पर बैबिलोनिया, मीडिया, असीरिया, अर्मीनिया आदि ने भी विद्रोह कर दिया। किन्तु दारयवउश् प्रथम को इन सभी शक्तियों को दबाने में सफलता मिल गई। एक दीर्घकालीन घेरेबन्दी के बाद उसका बैबिलोन पर अधिकार स्थापित हुआ था। बैबिलोनियनों को आतंकित करने के लिए 3,000 प्रमुख बैबिलोनियन नागरिकों को मौत के घाट उतार दिया गया था। यह सब कार्य दारयवउश् प्रथम ने तीन वर्ष के भीतर समाप्त कर लिया। पार्थिया तथा हाइरकेनिया ने भी शिर उठाने की कोशिश की किन्तु दारयवउश् प्रथम के पिता विस्तास्प ने उन्हें दबा दिया। बैक्ट्रिया तथा एराकोशिया पर भी उसका अधिकार स्थापित हुआ। कहा जाता है कि इसी बीच बैबिलोनिया में फिर कुछ विद्रोह हुए किन्तु दारयवउश् प्रथम के किसी उपराज्यपाल को उसे दबाने में सफलता मिल गई। दारयवउश् प्रथम के शासन काल के प्रथम दो वर्ष इन्हीं शक्तियों से निपटने में लग गये। उन्नीस युद्धों में उसने नौ राजाओं को पराजित किया। इसका प्रभाव पश्चिम में भी पड़ा। मिस्र के क्षत्रप आर्यनडीज (Aryandes) ने स्वतन्त्रता घोषित कर दी किन्तु दारयवउश् प्रथम ने उसे भी दबा दिया तथा विद्रोही क्षत्रप की हत्या करवा दी। इसी बीच एशिया माइनर के क्षत्रप ओरीटीज (Oroetes) ने भी विद्रोह कर दिया किन्तु दारयवउश् प्रथम उसे भी दबाने में सफल रहा।

यूनान पर आक्रमण करने का संकल्प—कुरुश् द्वितीय को भू-मध्यसागर के पूर्वी तट तथा कम्बुजिय द्वितीय को दक्षिणी तट पर अधिकार स्थापित करने में सफलता मिल गई थी किन्तु उत्तरी भाग तथा थ्रेस अछूते थे। अतः दारयवउश् प्रथम के समक्ष इनके अधिग्रहण का सामान्य प्रश्न था। इसके साथ ही यूरोप महाद्वीप के निकटवर्ती भू-भाग का एशिया माइनर के स्वामी के लिए अधिग्रहण उतना ही आवश्यक था जितना सीरिया के स्वामी के लिए अफ्रीका महाद्वीप के निकटवर्ती भू-भागों का। दारयवउश् प्रथम के साम्राज्य से संलग्न यूनानी राज्य थे जिन पर स्पार्टा तथा एथेंस का वरद हस्त था। अपने साम्राज्य की सीमा काला सागर तक बढ़ा कर इन पर अधिकार कर लेने तथा उसके बाद यूनान के दो प्रसिद्ध राज्य एथेंस तथा स्पार्टा के विरुद्ध प्रयाण करने की इच्छा दारयवउश् प्रथम में स्वाभाविक थी। हेरोडोटस के अनुसार यूनान पर आक्रमण करने की प्रेरणा दारयवउश् प्रथम को उसकी पत्नी से मिली थी। इन सबसे अधिक दारयवउश् प्रथम को आशंका थी कि यूनानी नगर-राज्य तथा उपनिवेश कभी भी उसके साम्राज्य के लिए संकट का कारण बन सकते हैं तथा पश्चिम एशिया में उसके एकछत्र आधिपत्य को चुनौती दे सकते हैं।

इन परिस्थितियों में दारयवउश् प्रथम ने यूनान पर आक्रमण करने का निश्चय किया किन्तु इस निश्चय को कार्य रूप में परिणित करने में कुछ सामयिक कठिनाइयाँ थीं। उसे भय था कि यदि यूनानियों से युद्ध करते हुए उसके सैनिक दूर तक फैल जायेंगे तो कारपेथियन (Carpathian) एवं काकेसस (Cacasus) के बीच स्थित सीथियन जाति के संचरणशील समूह उस पर आक्रमण कर देंगे। अतः यूनान पर आक्रमण के पूर्व थ्रेस का अधिग्रहण आवश्यक समझा गया। दारयवउश् प्रथम थ्रेस पर अधिकार कर साम्राज्य की सीमा उत्तर की ओर डैन्यूब नदी तक तथा पश्चिम में मैसीडन तक बढ़ाना चाहता था। अतः 512 ई० पू० में बासफोरस (Bosphorus) पार कर उसने यूरोप पर आक्रमण कर दिया। एशियाई शक्ति का यूरोप पर प्रथम आक्रमण होने के कारण विश्व इतिहास में इस घटना का विशेष महत्त्व है। थ्रेस निवासी युद्धप्रिय थे तथा पहाड़ियों से घिरे होने के कारण अत्यधिक सुरक्षित थे। इन्हें पराजित करना कोई साधारण कार्य नहीं था। किन्तु दारयवउश् प्रथम पहले से अच्छी तरह तैयार था। उसकी सेना की संख्या 70,000 बतायी गयी है। उसके आतंक से बहुत-सी जातियों ने बिना युद्ध के ही समर्पण कर दिया। केवल गेटी (Getae) नामक जाति इससे अलग रही। कहा जाता है कि डैन्यूब के उत्तर थ्रेस-वासियों ने दारयवउश् प्रथम को रोकने की चेष्टा की किन्तु उन्हें पराजित कर दिया गया। थ्रेस की दशा देख कर मैसीडन ने भी उसकी प्रभुता स्वीकार कर ली। इस प्रकार दारयवउश् प्रथम का थ्रेस एवं मैसीडन पर अधिकार हो गया।

थ्रेस एवं मैसीडन विजय एक प्रकार से यूनानी आक्रमण का प्रथम चरण था। थ्रेस से वापस होने के बाद लगभग बीस वर्ष तक दारयवउश् प्रथम यूनान की

ओर से उदास रहा। इस बीच उसका ध्यान भारत की ओर गया। उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर कुरुश् द्वितीय का अधिकार संदिग्ध माना गया है। उसके उत्तराधिकारी कम्बुजिय द्वितीय का सम्पूर्ण समय आन्तरिक कलह को दूर करने तथा मिस्र से निपटने में बीत गया। अतएव उत्तरी-पश्चिमी भारत में पारसीक प्रभुत्व स्थापित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य दारयवउश् प्रथम के लिए शेष था। पर्सिपोलिस तथा नखश-ए-रुस्तम लेख एवं हेरोडोटस के विवरण हमें बताते हैं कि गांधार, कम्बोज, पश्चिमी पंजाब तथा सिन्ध-प्रान्त पर उसका अधिकार था। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि उसके बेहिस्तून लेख में जिन प्रान्तों का उल्लेख है उसमें भारतीय प्रान्तों का नाम नहीं मिलता। अतः यह प्रतीत होता है कि इस लेख के निबन्धन के समय भारत का उक्त भाग उसके अधिकार में नहीं था।

यूनान पर आक्रमण—इन विजयों के फलस्वरूप दारयवउश् प्रथम के साम्राज्य में फारस, अफगानिस्तान, मेसोपोटामिया, उत्तरी अरेबिया, मिस्र, साइप्रस, पेलेस्टाइन, सीरिया, एशिया माइनर, पूर्वी ईजियन, थ्रेस एवं मैसीडन सम्मिलित कर लिए गये। इस विस्तृत साम्राज्य के संगठन के लिए समस्त साम्राज्य को बीस प्रान्तों में विभाजित कर दिया गया था। इसमें बैबिलोन तथा मिस्र नहीं सम्मिलित थे। प्रत्येक प्रान्त के शासन के लिए क्षत्रप नियुक्त कर दिये गये। अभी तक यूनान पर उसका अधिकार नहीं स्थापित हो सका था। दारयवउश् प्रथम अवसर की प्रतीक्षा में बैठा था। संयोग से यह अवसर भी उपस्थित हो गया। 506 ई० पू० में हिप्पियस नामक टाइरण्ट को एथेंस से निष्कासित कर दिया गया। हिप्पियस ने भाग कर सर्डिस के क्षत्रप-अर्तफर्नीज के यहाँ शरण ली तथा उसे यूनान पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया। उसने वादा किया कि यदि वह एथेंस में पुनर्स्थापित हो गया तो एट्टिका को पारसीक साम्राज्य का अंग बना देगा। दारयवउश् के भाई अर्तफर्नीज (Artaphernes) ने एथेंस को डराया-धमकाया किन्तु उसका कोई प्रभाव न पड़ा। इसके विपरीत एथेंस वाले लड़ने के लिए तैयार हो गए। इसी के साथ-साथ एक और घटना घटी। प्रजातन्त्र की वृद्धि के कारण नक्सॉस के कुछ कुलीन शासक पदच्युत कर दिए गये। इन्होंने मिलिटस के शासक एरिस्टेगोरस (Aristagoras) के यहाँ शरण लिया और उससे सहायता माँगी। उन्होंने एरिस्टेगोरस को सद्परामर्श दी कि वह समृद्ध नक्सॉस नगर को हाथ से न जाने दे। एरिस्टेगोरस एक महत्त्वाकांक्षी शासक था। इस प्रस्ताव से उसकी भी साम्राज्य-विस्तार की इच्छा बढ़ गई किन्तु वह जानता था कि इस कार्य में पारसीक सहायता के बिना सफलता नहीं मिल सकती। अतः उसने सर्डिस के शासक अर्तफर्नीज से अपनी योजना बतायी तथा उससे सहायता की इच्छा व्यक्त की। दारयवउश् प्रथम की आज्ञा लेकर अर्तफर्नीज ने मेगाबेटीज (Megabates) के नेतृत्व में दो सौ जलपोत भेज दिया किन्तु कुछ कारणों से मेगाबेटीज तथा एरिस्टेगोरस के बीच अनबन हो गई। फलतः योजना असफल रही। इस कार्य से एक ओर एरिस्टेगोरस ने पारसीक

शक्ति का दुरुपयोग किया तो दूसरी ओर उनकी सहानुभूति खो दी । अब उसके पास केवल एक विकल्प था कि यूनानी उपनिवेशों को जो एशिया के अधीन थे भड़काये । उसने वही किया । आयोनियनों ने विद्रोह कर दिया । पारसीक टाइरण्ट को वहाँ से निष्कासित कर आयोनियन संघ (Ionian league) की पुनर्स्थापना की तथा यूरोपीय यूनानियों से सहायता माँगी । एरिस्टेगोरस ने सबसे पहले स्पार्टा के सामने हाथ पसारा किन्तु उसने इन्कार कर दिया । इसके बाद वह एथेंस के पास गया । एथेंस ने बीस जहाज देकर उसकी सहायता की । एथेंस तथा इरेटिया (Eretia) की सहायता से एरिस्टेगोरस ने सर्डिस पर आक्रमण कर दिया तथा नगर पर अधिकार कर लिया किन्तु अभी वह दुर्ग पर अधिकार स्थापित नहीं कर सका था। इसी बीच यहाँ आग लग गई तथा नगर नष्ट-भ्रष्ट हो गया । यूनानी नगर छोड़कर तट की ओर बढ़े किन्तु इफेसस के निकट उनका सामना पारसीक सेना से हुआ जिसमें उन्हें पराजित होना पड़ा । इसी बीच यूनान में आपसी झगड़े खड़े हो गये तथा यूनानी नौ सेना को वापस जाना पड़ा । इस प्रकार आयोनिया के विद्रोह, सर्डिस के विनाश तथा थ्रेस एवं मैसीडन की स्वतन्त्रता से दारयवउश् प्रथम बौखला उठा । अब उसके मन में यूनान पर आक्रमण करने का संकल्प दृढ़ हो गया । कहा जाता है उसने एक दास को यह आदेश दे रखा था कि प्रतिदिन भोजन के समय वह तीन बार यह कहे कि 'श्रीमन् एथेंसवासियों को याद रखिये ।'

7153

दारयवउश् प्रथम ने अपना प्रतिशोधात्मक सैनिक अभियान 492 ई० पू० में प्रारम्भ किया और अपने दामाद मर्दोनियस (Mardonius) के नेतृत्व में थ्रेस एवं मैसीडन पर पुनः अधिकार स्थापित करने लिए एक विशाल नौ-सेना प्रेषित की । मार्ग में थेसॉस पर अधिकार करती हुई पारसीक सेना थ्रेस तथा मैसीडन तक पहुँच गई तथा दोनों को अधीनता मानने के लिए विवश किया गया । पारसीक सेना यहीं से यूनान की ओर बढ़ना चाहती थी किन्तु एक भीषण तूफान में उनके बहुत से जलपोत नष्ट हो गये । अतः मर्दोनियस को वापस आना पड़ा । किन्तु इससे दारयवउश् प्रथम के निश्चय पर कोई प्रभाव न पड़ा । उसका उद्देश्य तो एथेंस तथा इरेट्रिया को दण्डित करना था क्योंकि दोनों सर्डिस के अग्निदाह के लिए पूर्णतया उत्तरदायी थे । एथेंस का निष्कासित टाइरण्ट हिप्पियस भी दारयवउश् प्रथम को यूनान पर आक्रमण करने के लिए भड़का रहा था । अतः निश्चय किया गया कि आक्रमण कर दिया जाय । समुद्र तटीय राज्यों को सहायता के लिए चेतावनी दे दी गई तथा यूनानी राज्यों से आत्मसमर्पण की माँग की गई । दारयवउश् प्रथम को उम्मीद थी कि शायद भय से यूनानी राज्य आत्म-समर्पण कर दें । बहुत से राज्यों, जैसे थीब्ज, अर्गोस, ईजाइना इत्यादि ने तपते हुए सूर्य रूपी दारयवउश् प्रथम के प्रताप के समक्ष शिर झुका दिया । किन्तु एथेंस तथा स्पार्टा ने सामना करने का निश्चय किया । 491 ई० पू० में 600 जहाजों के साथ पारसीक सेना दतिस (Datis) एवं अर्तफर्नीज के नेतृत्व में वृद्ध हिप्पियस के साथ आगे बढ़ी । सबसे पहशे नक्सॉस तदनन्तर

साइक्लेडीज पर अधिकार स्थापित किया गया। इसके बाद 2,00,000 सैनिकों के साथ यह प्रयाण यूबिया पहुँचा। शीघ्र ही उसने भी आत्म-समर्पण कर दिया। इसके बाद खाड़ी पार कर पारसीक सेना एट्टिका पहुँची। इरेट्रिया पर अधिकार कर नगर पूर्णतः नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया। एथेंस तथा स्पार्टावालों ने उसकी कोई विशेष सहायता न की। इरेट्रिया को जलाकर पारसीकों ने सर्डिस का बदला लिया। इसके बाद पारसीक सेना हिप्पियस की परामर्श पर मैराथॉन के मैदान में एकत्र हुई। अभी तक दारयवउश् प्रथम निर्बाध रूप से सफलता प्राप्त करता गया था। यदि शस्त्र एक ओर रख कर अब वह शान्त हो गया होता तो उसे अजेय दारयवउश् प्रथम के नाम से प्रसिद्धि मिलती किन्तु नियति को यह अभीष्ट न था।

दावाग्नि की लपकों की भाँति बढ़ते हुए पारसीक सैनिकों को देखकर यूनानी बौखला उठे। अभी तक एशियाई साम्राज्य के इस विजेता को कोई रोक नहीं सका था। यूनान के सदृश बिखरे राष्ट्र के लिए भी इसे रोक पाना सरल कार्य नहीं था। उत्तरी यूनानी नगर-राज्य इसके विरुद्ध सहायता करने के लिए तैयार नहीं थे। स्पार्टा सहायता अवश्य करना चाहता था किन्तु उसके सैनिक पूर्णिमा के पूर्व मैदान में नहीं उतर सकते थे अतः वह भी समय से न पहुँच सका। प्लेटाई ने शीघ्रता की और 1,000 सैनिकों को भेज दिया। किसी प्रकार 9,000 सैनिकों को इकट्ठा कर एथेंस मैराथॉन के मैदान में उपस्थित हुआ। पारसीक तथा यूनानी सेना में तुलनात्मक पर्याप्त अन्तर था। एथेंस के सैनिकों की कुल संख्या 10,000 थी जबकि पारसीक सैनिकों की संख्या 30,000 से 1,00,000 आँकी गई है। किन्तु क्षमता की दृष्टि से यूनानी सैनिक ही आगे थे। पारसीक सैनिक डटकर मुकाबला करना नहीं जानते थे जबकि यूनानी इसमें कुशल थे। मैराथॉन के युद्ध में यूनानी सैनिकों ने अभूतपूर्व साहस एवं शौर्य का परिचय दिया। विशाल पारसीक सैनिक उनका कुछ न बिगाड़ पाये। हेरोडोटस के अनुसार इस युद्ध में पारसीकों के 64,000 सैनिक मारे गये थे जबकि यूनानियों के केवल 198। इस प्रकार पूर्ण तैयारी के बाद भी दारयवउश् प्रथम की इच्छा पूरी न हुई और मैराथॉन का पारसीक-यूनानी युद्ध यूनान के पक्ष में समाप्त हुआ।

पारसीक-यूनानी युद्ध में पारसीकों की पराजय से एशियाई शक्ति का प्रवाह पश्चिम की ओर रुक गया। यदि दारयवउश् प्रथम इसमें सफल हो गया होता तो यूरोप में उसके निरंकुशवाद का हौसला बुलन्द हो जाता। किन्तु इस क्षणिक पराजय से दारयवउश् प्रथम साहस खोने वाला नहीं था। इस पराजय को तो सीमा-प्रान्त पर लड़े गये ऐसे युद्ध की पराजय मानता था जिसमें केवल सेनापतियों के अकुशल नेतृत्व के कारण असफलता मिलती है। अप्रत्याशित ढंग से पराजित दारयवउश् प्रथम पुनः यूनान पर आक्रमण की तैयारी करने लगा। किन्तु यूनान पर आक्रमण करने के पूर्व ही मिस्रवासियों ने विद्रोह कर दिया जिससे उसका ध्यान यूनान से हट कर मिस्र की ओर चला गया। लेकिन मिस्र के विरुद्ध बिना किसी प्रकार की सफलता प्राप्त किए अकस्मात् 486 ई० पू० में वह इस संसार से चल बसा।

दारयवउश् प्रथम का मूल्यांकन—दारयवउश् प्रथम की गणना फारस के ही नहीं अपितु विश्व के महान् शासकों में की जाती है। उसके व्यक्तित्व में वीरता, राजनीतिमत्ता, दृढ़ता, विचक्षणता, बुद्धिमता, मानवता एवं मृदुता का अद्वितीय समन्वय था। एक विजेता के रूप में साधारण गवर्नर की स्थिति से उठ कर वह जिस विस्तृत साम्राज्य का स्वामी बना उसमें फारस के अतिरिक्त अफगानिस्तान, उत्तरी-पश्चिमी भारत, मेसोपोटामिया, मिस्र, साइप्रस, पेलेस्टाइन, सीरिया, एशिया माइनर, पूर्वी ईजियन प्रदेश, थ्रेस एवं मैसीडन सम्मिलित थे। दारयवउश् प्रथम के पूर्व किसी एशियाई शासक ने यूरोप पर अधिकार नहीं स्थापित किया था। एक के बाद एक विजय करते हुए दारयवउश् प्रथम ने सिद्ध कर दिया कि उसमें विजय की कितनी अधिक क्षमता थी। एक विजेता के साथ-साथ दारयवउश् प्रथम एक कुशल शासन संगठनकर्ता भी था। वह जानता था कि इतने बड़े भू-भाग पर वह अकेले शासन नहीं कर सकता है इसी लिए उसने साम्राज्य को प्रान्तों में विभाजित कर शासन की नयी विधि प्रचलित की, जिसका अनुसरण पश्चिम एशिया में ही नहीं बल्कि अन्यत्र भी किसी न किसी रूप में किया गया।[1]

क्षयार्श

दारयवउश् प्रथम की मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार उसके पुत्र क्षयार्श (Xerxes, 486-565 B. C.) को मिला। यह दारयवउश् प्रथम की अतोसा (Atosa) नामक रानी का पुत्र था। इसकी योग्यता में तो कोई कमी नहीं थी किन्तु यह आवश्यकता से अधिक विलासी था। राज्य-ग्रहण करते ही क्षयार्श के समक्ष कठिनाइयाँ उपस्थित हो गयीं। दारयवउश् प्रथम को यूनान के साथ व्यस्त देखकर मिस्र ने विद्रोह कर दिया था। किन्तु इसी बीच उसकी मृत्यु हो गई थी अतएव विद्रोह को दबाने का गुरुतर भार क्षयार्श के ही कंधों पर आया। संयोग से उसे इसमें सफलता मिल गई। मिस्र के साथ क्षयार्श को उलझा देखकर बैबिलोन ने भी विद्रोह कर दिया किन्तु उसे दबाने में भी पारसीक शासक सफल रहा। बैबिलोन पर आक्रमण कर वहाँ के मन्दिर नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये तथा बेल देवता की स्वर्ण-प्रतिमा पिघला दी गई। इसके बाद उसने बैबिलोन के शासक (King of Babylon) की उपाधि धारण की। बैबिलोन तथा मिस्र में शान्ति स्थापित कर क्षयार्श राजदरबार की शान-शौकत बढ़ाने तथा भवनों एवं स्मारकों के निर्माण में दत्तचित हुआ। कहा जाता है कि उसकी युद्ध जारी रखने की तनिक भी इच्छा नहीं थी किन्तु पारसीक युद्ध समर्थकों एवं एथेंस से निष्कासित टाइरेण्टों की प्रेरणा एवं उनके दबाव से अन्ततः उसने यूनान पर आक्रमण करने का निश्चय किया। एक विशाल सेना के साथ जल एवं स्थल मार्गों से यूनान के विरुद्ध

---

1. द्रष्टव्य : राजनीतिक संगठन

सैनिक अभियान चल पड़ा। इसकी सेना में 46 राष्ट्रों के सैनिक थे जिनका नेतृत्व 29 पारसीक सेनानायक कर रहे थे।[1] हेरोडोटस के अनुसार पारसीक सैनिकों की संख्या 2,17,000 थी। थ्रेस एवं मैसीडन के कुछ सैनिक इसमें बाद में और बढ़ गये थे। योद्धाओं के अतिरिक्त बहुत संख्या में दास, अभियन्ता, व्यापारी इत्यादि भी थे जिनको मिला कर इनकी कुल संख्या 50,00,000 हो गई थी। इसमें हिजड़ों तथा रखैलों की संख्या सम्मिलित नहीं है। हेरोडोटस आगे कहता है कि जब खशयार्श की सेना किसी नदी में पानी पीती थी तो उसका जल सूख जाता था। नाव द्वारा बने एक पुल को पार करने में उसे सात दिन लग गये थे। बरी[2] इस संख्या को अतिरंजित मानते हुए अधिकतम 3,00,000 स्वीकार करते हैं। इनकी संख्या जो भी रही हो हम इतना जानते हैं कि यह पंचमेल थी। इसमें पदाति, रथारोही, गजारोही तथा जहाजी बेड़े सम्मिलित थे। इस बड़ी सेना को देख कर थेसली तथा मैसीडोनिया के छक्के छूट गये। उन्होंने तनिक भी प्रतिरोध न किया। उत्तरी यूनानियों ने भी आत्म-समर्पण कर दिया। अफ्रीका तथा एशियाई यूनानियों को मिलाकर लगभग आधा यूनान उसका हो चुका था। यूनानियों ने आक्रमणकारियों को रोकने के लिए थर्मापिली (Thermopylae) के दर्रे में अपनी सेना एकत्र की। किन्तु इस संघर्ष में खशयार्श सफल रहा। पारसीक सैनिकों ने एथेंस को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। किन्तु प्लेटाई, माइकेल तथा सालमिस में यूनानियों ने पारसीक सेना का डटकर मुकाबला किया तथा इन्हें पीछे हटने के लिए विवश कर दिया। इसी समय अकस्मात् तूफान के कारण बहुत-सी पारसीक सेना नष्ट हो गई। विवश होकर पारसीकों को यूनान से वापस आना पड़ा। खशयार्श स्वभावतः क्रोधी, क्रूर एवं प्रमादी था। यूनान से पराजित होने के बाद उसका आतंक नष्ट हो गया अतएव अवसर पाकर उसके प्रधान अंगरक्षक अर्तवेनस ने 285 ई० पू० में उसकी हत्या कर दी।

अर्तखशयार्श प्रथम--खशयार्श के पश्चात् उत्तराधिकार इसके पुत्र अर्तखशयार्श प्रथम (Artaxerxes I, 465-424 B. C.) को मिला। इसका शासन काल हत्याओं एवं प्रतिहत्याओं से पूर्ण था। राज्य-ग्रहण करते ही इसके किसी भाई, जो बैक्ट्रिया का शासक था, ने विद्रोह कर दिया। अर्तखशयार्श को उसे दबाने में सफलता मिल गई तथा इसी में सभी भाइयों की हत्या कर दी। इसके बाद इसका ध्यान मिस्र की ओर गया। नील के मुहाने वाले भाग से यूनानियों को खदेड़ कर उसने पुनः पारसीक प्रभुता स्थापित की। किन्तु 424 ई० पू० में उसकी मृत्यु के बाद से 330 ई० पू० तक किसी पारसीक शासक ने साम्राज्य का विवर्द्धन न किया फलतः धीरे-धीरे वह संकुचित होता गया।

---

1. R. Ghirshman, Iran, p. 191
2. J. B. Bury, A History of Greece, p. 256

दारयवउश् द्वितीय--अर्तख्शयार्श प्रथम के बाद उत्तराधिकार अल्पकाल के लिए ख्शयार्श द्वितीय (Xerxes II, 424-423 B. C.) को मिला किन्तु कुछ सप्ताह के भीतर ही उसके सौतेले भाई सोग्डियनस (Sogdianus) अथवा सेसीडियनस (Secydianus, 424-423 B. C.) ने उसकी हत्या करके राजपद प्राप्त कर लिया। सोग्डियनस भी अधिक दिन तक राजसुख न भोग सका क्योंकि उसके भाई दारयवउश् द्वितीय नोथस (Darias II Nothus, 423-404 B. C.) ने छः माह बाद ही उसकी भी हत्या करके राजपद ग्रहण कर लिया। इसके समय में लीडिया तथा मिस्र में विद्रोह हुए जिसे इसने शक्तिपूर्वक दबा दिया। मिस्र तथा लीडिया के साथ दारयवउश् द्वितीय को व्यस्त देख कर सीरिया ने सिर उठाया जिसे दुर्भाग्य से पारसीक शासक न दबा सका। यह यूनान के पेलोपोनेशियन युद्ध के अन्तिम आठ वर्ष थे जिसमें फारस तथा पेलोपोनेसस के बीच संधि स्थापित हुई थी। इस संधि के फलस्वरूप दारयवउश् द्वितीय का पुनः एशिया के यूनानी उपनिवेशों पर अधिकार स्थापित हो गया। दारयवउश् द्वितीय की मृत्यु 504 ई० पू० में हुई तथा उत्तराधिकार अर्तख्शयार्श द्वितीय नेमन (Artaxerxes II Mnemon, 405-358 B. C.) को मिला।

अर्तख्शयार्श द्वितीय नेमन--अर्तख्शयार्श द्वितीय नेमन का शासन काल भी गृहकलह एवं रक्तपातों से परिपूर्ण है। इसकी सर्वप्रथम टक्कर अपने भाई कुरुश् कनीयस् (Cyrus the younger) से हुई। यद्यपि कुरुश् कनीयस् में वे सभी गुण विद्यमान थे जो कुरुश् द्वितीय तथा दारयवउश् प्रथम में थे किन्तु खेद है कि यह पारसीक इतिहास में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य न कर सका। कहा जाता है कि अपनी माता पेरीसतिस (Perysatis) के कहने पर कुरुश् कनीयस् ने राजसत्ता-ग्रहण करने का प्रयास किया किन्तु उसे मुँहकी खानी पड़ी। उसे एशिया माइनर जाने के लिए बाध्य किया गया तथा तिसफर्नीज (Tissaphernes) को उसकी निगरानी के लिए रख दिया गया। किन्तु कुरुश् कनीयस् के मन में भाई से बदला लेने तथा उसका सिहासन प्राप्त करने की बात रह-रह कर उठ रही थी। अन्ततः उसने यूनानियों की सहायता से एक विशाल सेना एकत्र कर सूसा के लिए प्रयाण कर दिया। बैबिलोन के समीप उसे अर्तख्शयार्श द्वितीय नेमन की सेना पर निर्णायक रूप से सफलता मिली। किन्तु आगे बढ़ने पर क्यूनेक्सा (Cunaxa) के युद्ध में उसे विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। कुरुश् कनीयस् यह जानता था कि यदि वह अर्तख्शयार्श द्वितीय नेमन को समाप्त कर दे तो उसे शीघ्र विजय मिल जायगी। इसी उद्देश्य से वह सीधे भाई की ओर बढ़ा। पहले तो भाई को आघात पहुँचाने में कुरुश् कनीयस् को सफलता मिल गई किन्तु बाद में वह स्वयं एक केरियन (Carian) सिपाही द्वारा घायल कर दिया गया और इसी में उसकी मृत्यु हो गई। उसके सैनिकों को या तो बंदी बना लिया गया या मार दिया गया। केवल 10,000 यूनानी सैनिकों की एक टुकड़ी बैबिलोनिया-मीडिया के रास्ते प्रत्यावर्तित हुई। इसे इतिहास में 'दस हजार का

प्रत्यावर्तन' (Retreat of ten thousand) के नाम से जाना जाता है। कहा जाता है इसके बाद अर्तख्शयार्श द्वितीय नेमन ने दीर्घकाल तक राज्य किया। इसके एक पुत्र ने जब इसके विरुद्ध षड्यन्त्र करना चाहा तो इसने उसे समाप्त कर दिया। किन्तु जब इसे ज्ञात हुआ कि इसका दूसरा पुत्र अर्तख्शयार्श द्वितीय ओकस (Artaxerxes Ochus) इसके विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहा है तो इसका दम टूट गया। इसके बाद अर्तख्शयार्श द्वितीय ओकस ने लगभग बीस वर्ष (358-338 ई० पू०)तक राज्य किया किन्तु उसके किसी सेनापति बागोस (Bagoas) ने उसको विष दे दिया। इसके बाद बागोस की सहायता से अर्तख्शयार्श द्वितीय ओकस का पुत्र अर्सीज (Arses, 338-336 B. C.) सिंहासन पर बैठा। भावी षड्यन्त्र की संभावनाओं को दूर रखने के के लिए बागोस ने उसके सभी भाइयों को मौत के घाट उतार दिया। किन्तु क्रूर बागोस अर्सीज को भी अधिक दिन तक न स्वीकार कर सका और अन्त में छोटे बच्चों सहित उसकी भी हत्या कर दी तथा सिंहासन पर अपने एक मित्र कोडोमनस (Codomannus) को प्रतिष्ठित किया। कोडोमनस ने दारयवउश् तृतीय के नाम से शासन प्रारम्भ किया।

दारयवउश् तृतीय—दारयवउश् तृतीय (336-330 ई० पू०) हखामनीशिय वंश का अंतिम ज्ञात शासक है। दारयवउश् तृतीय के राज्य-ग्रहण के समय परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं थीं। पारसीक साम्राज्य अत्यन्त दुर्बल हो चुका था। आक्रमणात्मक युद्धों की कौन कहे रक्षात्मक युद्धों में भी सफलता प्राप्त करना कठिन हो गया था। इसके साथ ही जिस दिन ख्शयार्श प्रथम सालमिस से पराजित होकर लौटा था उसी दिन यह शकुन मिल गया था कि यूनानी कभी-न-कभी संगठित होकर फारस पर आक्रमण करेंगे। दारयवउश् तृतीय बहादुर, मृदुभाषी तथा अनुभवी शासक था। अपने गुणों के कारण ही उसे अर्मीनिया के प्रशासन का उत्तरदायित्व मिला था। अपनी वीरता का परिचय उसने राज्य-ग्रहण के पश्चात् अनेक विद्रोहों के दबाने में दे दिया। किन्तु इतना सब होते हुए भी उसमें दूरदर्शिता नहीं थी। यदि वह दूरदर्शी होता तो इसे अच्छी तरह समझ जाता कि सिकन्दर जैसे महान्, पराक्रमी तथा रण-कुशल शासक का विरोध करना उसके लिए उचित एवं समयानुकूल नहीं है। यदि वह ऐसा करता तो संभवतः पारसीक साम्राज्य को वह दुर्दिन न देखना पड़ता जो उसने दारयवउश् तृतीय के समय में देखा।

लगता है, मैसीडोनिया के शासक फिलिप द्वितीय की मृत्यु में दारयवउश् तृतीय का भी कुछ हाथ था जिससे उसके पुत्र सिकन्दर के मन में उससे बदला लेने की भावना बैठ गई थी। कोरिंथियन लीग के पुराने नेता सिकन्दर को फारस पर आक्रमण करने के लिए बराबर भड़काते रहते थे। इतना ही नहीं जब सिकन्दर के साथ युद्ध करते हुए एथेंसवासियों ने दारयवउश् तृतीय से सहायता माँगी तो इसने कोई ध्यान न दिया। इससे एथेसवासियों की श्रद्धा उसके प्रति बिल्कुल समाप्त हो गई थी और वे भी इसे नीचा दिखाने का प्रयास कर रहे थे। सिकन्दर का जब

यूरोपीय अभियान समाप्त हो गया तो उसने फारस पर दृष्टि डाली और इस पर आक्रमण करने के निश्चय से 30,000 पदाति तथा 5,000 अश्वारोही सैनिकों के साथ हेलिसपॉण्ट पार कर लिया। 40,000 पारसीक सैनिकों ने ग्रेनिकस (Granicus) में आक्रमणकारियों को रोकने की चेष्टा की। युद्ध के स्वरूप से ऐसा लगा कि पारसीक जीत जायेंगे। एक बार तो सिकन्दर चोट खाते-खाते बच गया। किन्तु अन्त में आक्रमणकारी सफल रहे। पारसीक सैनिक तो प्राण बचा कर भाग गये पर उनके यूनानी सहयोगियों का सफाया कर दिया गया। इस युद्ध में पारसीक सेना के 20,000 योद्धा वीरगति प्राप्त किए जबकि यूनानियों के केवल 115। किन्तु इस पराजय से दारयवउश् तृतीय निराश होने वाला नहीं था। ईसस (Issus) के मैदान में अपेक्षाकृत विशाल सेना लेकर उसने यूनानी शक्ति को चुनौती दी। कहा जाता है कि उसकी सेना में इस बार 6,00,000 सैनिक थे। इसे फ़रात नदी पर बने एक पुल पार करने में पाँच दिन लग गये थे।[1] 600 खच्चरों तथा 300 ऊँटों पर शासकीय कोष लदा था। सिकन्दर की सेना की संख्या 30,000 बतायी गई है।

युद्ध की योजना बनाने में दारयवउश् तृतीय ने थोड़ी भूल की। उसने युद्ध के लिए ऐसा स्थल चुना जहाँ उसकी सेना का कुछ भाग ही आ पाता था। सिकन्दर ने एक बार फिर अश्वारोहियों को आक्रमण तथा पदाति को रक्षा में लगा दिया। दुर्भाग्य से इस संघर्ष में भी दारयवउश् तृतीय पराजित हो गया। इस युद्ध में पारसीकों के 1,10,000 सैनिक कालकवलित हो गये जबकि सिकन्दर के केवल 450 सैनिक ही वीरगति प्राप्त किये। कहा जाता है कि शीघ्रता में सिकन्दर ने पारसीकों की लाश से बने एक पुल से एक धारा पार की थी। पराजित दारयवउश् तृतीय किसी प्रकार प्राण बचा कर भागने में सफल हो गया किन्तु उसकी माता, पत्नी तथा दो पुत्रियाँ दमिश्क में सिकन्दर के अधिकार में आ गयीं। सिकन्दर ने इनके साथ सौजन्यता का व्यवहार किया किन्तु वापस नहीं जाने दिया। दारयवउश् तृतीय की माता सिकन्दर से इतना अधिक प्रभावित थी कि कहा जाता है कि उसकी मृत्यु के बाद उसने खाना-पीना छोड़कर प्राण त्याग दिया था।

जिस समय सिकन्दर जीते हुए प्रान्तों की व्यवस्था में लगा था दारयवउश् तृतीय ने उसके पास एक-एक करके तीन प्रस्ताव भेजा। उसने कहा कि यदि सिकन्दर युद्ध बन्द कर शान्ति स्थापित कर दे और उसकी माता, स्त्री तथा पुत्रियों को छोड़ दे तो वह उसे 10,000 टैलेंट सुवर्ण देगा, अपनी एक कन्या का विवाह कर देगा तथा फ़रात के पश्चिम स्थित एशियाई राज्य दे देगा। किन्तु सिकन्दर ने तीनों शर्तों को अस्वीकार करते हुए कहला भेजा कि यदि दारयवउश् तृतीय संधि करना चाहता है तो वह स्वयं शासक के समक्ष उपस्थित हो। सिकन्दर के रूखे जवाब से शान्ति की आशा छोड़कर पुनः पारसीक सम्राट् सैनिक तैयारी में लग

---

[1] Will Durant, The Story of Civilization, Vol. I, p. 383

गया । बूमोस नदी पर अरबेला (Arbela) के समीप गोगमेला (Gaugmela) के निकट एक बार फिर पारसीक एवं यूनानी सैनिक एकत्र हुए । 10,00,000 पदाति तथा 40,000 अश्वारोही सैनिकों से युक्त एक विशाल सेना लेकर एक बार पुनः बूढ़ें एशिया ने शिशु यूरोप से रक्षा का प्रयास किया । कहा जाता है कि सिकन्दर की सेना में इस बार भी 40,000 पदाति तथा 7,000 अश्वारोही ही थे । दुर्भाग्य से इस प्रयास में भी दारयवउश् तृतीय असफल रहा । प्राण बचाकर युद्ध-स्थल से भागकर उसने एकबतना में शरण ली । सिकन्दर ने उसका पीछा किया । यदि इस समय दारयवउश् तृतीय संधि का प्रस्ताव रखता तो सिकन्दर उसे स्वीकार कर लेता । जब सिकन्दर को यह सूचना मिली कि दारयवउश् तृतीय एकबतना में है तो वह उसकी ओर तेजी से बढ़ा किन्तु इसके पहले कि दारयवउश् तृतीय तथा सिकन्दर की भेंट होती, एकबतना के क्षत्रप बेसस (Bassus) ने षड्यन्त्र करके दारगवउश् तृतीय की हत्या कर दी । सिकन्दर को इस घटना से बड़ा धक्का लगा । उसने बेसस तथा उसके सहयोगियों को प्राण-दण्ड दिया । सिकन्दर की इस विजय से दारयवउश् तृतीय तथा छः सौ वर्षों के लिए पारसीक साम्राज्य का अन्त हो गया ।[1]

पारसीक साम्राज्य के अधः पतन के कारण

मीडिया के अधीन एक अत्यन्त छोटे राज्य से उठकर पश्चिम एशिया में एक अति विस्तृत एवं अत्यन्त सशक्त साम्राज्य के रूप में प्रतिष्ठित हख़ामनीशिय साम्राज्य लगभग ढाई सौ वर्षों में ही ढह गया । प्रश्न है इस विशाल साम्राज्य का अधःपतन कैसे हुआ ? पारसीक इतिहास एवं तत्कालीन परिस्थितियों के सम्यक् अनुशीलन से प्रतीत होता है कि यह अधःपतन आकस्मिक नहीं बल्कि अनेक कारणों से हुआ था ।

साम्राज्य की विशालता—पूर्व से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण पारसीक साम्राज्य की सीमाएँ अत्यधिक विस्तृत थीं । साम्राज्य की विशालता के कारण इसका अधिक समय तक एक सूत्र में बँधा रहना कठिन कार्य था । इसके लिए आवश्यक एवं ठोस कदम उठाने की आवश्यकता थी । किन्तु आश्चर्य है कि हखामनीशिय शासक इस दिशा में प्रायः उदास रहे । कुरुश् द्वितीय तथा दारयवउश् प्रथम ने इस दिशा में कुछ सक्रियता प्रदर्शित की । दारयवउश् प्रथम सफल तो रहा किन्तु यह सफलता भी अस्थायी सिद्ध हुई । हखामनीशिय शासक पारसीक साम्राज्य को एक राज्य मान कर ही उस पर शासन करते रहे । उन्होंने कभी सोचा भी नहीं कि इतने बड़े भू-भाग पर केन्द्र से शासन करना संभव न होगा और यही हुआ । अवसर पाने पर साम्राज्य के विभिन्न भागों में विद्रोह प्रारम्भ हो गये तथा पारसीक साम्राज्य दुर्बल होने लगा ।

सांस्कृतिक पृथकता एवं सैन्य संगठन के दोष—विस्तृत पारसीक साम्राज्य में जाति, धर्म एवं आचारगत विषमता थी । इसका प्रभाव इनके सैन्य संगठन पर विशेष

---

[1] T. R. Glover, The Ancient World; p. 206

रूप से पड़ा। यह सत्य है कि अनिवार्य सैनिक सेवा के कारण पारसीक शासकों के पास अत्यधिक संख्या में सैनिक विद्यमान थे किन्तु उनमें जाति, भाषा, धर्म, आचार इत्यादि की दृष्टि से परस्पर मेल नहीं था। यूनान पर आक्रमण करने के समय खशयार्श की सेना में पारसीको के अतिरिक्त मीड, बैबिलोनियन, अफगानी, भारतीय, बैक्ट्रियन, सोग्डियन, सेसियन, असीरियन, अर्मीनियन, सीथियन, पायोनियन, माइसियन, पफलागोनियन, फ्रीजियन, थ्रेसियन, थेसलियन, लोक्रियन, सिलियन, फीनिशियन, सीरियन, अरबियन, मिस्री, इथियोपियन, लीबियन इत्यादि छियालीस राज्यों के सैनिक विद्यमान थे। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इनमें परस्पर कितनी सांस्कृतिक विषमताएँ थीं। हखामनीशिय शासक के आदेश पर ये सैनिक युद्ध-भूमि में उतरते अवश्य थे किन्तु उनकी युद्ध-पद्धति, उनके आयुध इत्यादि भिन्न भिन्न थे। वे शत्रु का सामना करते थे और साधारण संगठित सैनिकों को पराजित भी कर देते थे किन्तु जब उनका सामना किसी सुगठित सेना से पड़ता था तो वे विचलित हो जाते थे। यूनानियों से प्लेटाई, मैराथॉन, सालमिस, थर्मापिली, ग्रेनिकस, ईसस तथा गोगमेला के मैदान में पराजय का यही कारण था। संख्या की अधिकता के कारण इनका प्रबन्ध कठिन हो जाता था। दारयवउश् तृतीय की सेना को नाव से बने एक पुल से फ़रात नदी पार करने में पाँच दिन लग गये थे। ईसस के मैदान में दारयवउश् तृतीय की सेना का कुछ भाग ही आ सका था। संख्या में अधिक होने तथा सांस्कृतिक दृष्टि से परस्पर भिन्न होने के साथ-साथ पारसीक सैनिक एक प्रकार के किराये के टट्टू थे। उनमें देशभक्ति और स्वामिभक्ति जैसी भावनाएँ नहीं थीं। वे युद्ध केवल राजाज्ञा के पालन के निमित्त करते थे। जैसे ही उन्हें अवसर मिलता था वे भाग जाते थे। इसके विपरीत उनके शत्रु यूनानी देशभक्त थे और इसी पर उनके राष्ट्र का भविष्य आधारित था। ऐसी स्थिति में यूनानियों के समक्ष उनका टिक पाना असंभव था।

प्रशासनिक दोष—पारसीक साम्राज्य के अधःपतन के लिए इनकी प्रशासन-व्यवस्था भी उत्तरदायी थी। दारयवउश् प्रथम के समय में संपूर्ण साम्राज्य को बीस प्रान्तों में विभाजित कर दिया गया था। प्रान्तों में शासक की ओर से नियुक्त क्षत्रप शासन करते थे। क्षत्रप पर केन्द्रीय शासन का कड़ा अंकुश था और उसके लिए सभी आवश्यक प्रबन्ध कर लिया गया था। किन्तु आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्र होने के कारण क्षत्रप प्रान्तों की जनता के साथ अपनी इच्छानुसार व्यवहार करते थे। इससे प्रान्तों की जनता केन्द्रीय शासन के प्रति अनास्थावान हो जाती थी। इतना ही नहीं अपितु केन्द्रीय शक्ति के सुदृढ़ रहने पर प्रान्तों के स्वामी अच्छी तरह शासन सँभालते थे और उसके प्रति स्वामिभक्त बने रहते थे। किन्तु जब उन्हें यह आभास हो जाता था कि केन्द्रीय सिंहासन हिल गया है तो वे विद्रोह कर देते थे तथा प्रान्तों की जनता के सहयोग से शासक को अपदस्थ करने का प्रयास करने

लगते थे। बैक्ट्रिया के शासक बेसस ने तो दारयवउश् तृतीय की हत्या ही कर दी थी।

उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम का अभाव—साम्राज्य के स्थामित्व के लिए राजवंशों में उत्तराधिकार सम्बन्धित नियमों का होना आवश्यक हो जाता है क्योंकि इसके अभाव में राजकुल के अनेक सदस्यों द्वारा उत्तराधिकार के लिए दावे प्रस्तावित किये जाने लगते हैं एवं अभीष्ट की सिद्धि के लिए खून-खराबे तथा षड्यंत्र का सहारा लिया जाने लगता है। पारसीक साम्राज्य के साथ भी यही हुआ। केवल कम्बुजिय द्वितीय के समय को छोड़कर प्रारम्भ से लेकर ख्शयार्श प्रथम तक यहाँ इसके लिए कोई संघर्ष न हुआ किन्तु इसके बाद जब इसका क्रम प्रारम्भ हुआ तो अन्त तक चलता रहा। इसके लिए यहाँ अनेक हत्याएं एवं प्रतिहत्याएँ हुईं। विल ड्युरैण्ट के शब्दों में राजभवन के षड्यंत्रों एवं हत्याओं की दृष्टि से फारस की बराबरी केवल बाद का रोम ही कर सकता है।[1] इस हत्या एवं षड्यंत्र के वातावरण में जन-जीवन कैसे सुरक्षित रह सकता था? शासक को साम्राज्य की रक्षा की अपेक्षा अपनी गद्दी की रक्षा के लिए अधिक सजग होना पड़ता था। अतः साम्राज्य का शनैः-शनैः दुर्बल होना स्वाभाविक था।

आयोग्य उत्तराधिकारी—शासकीय परम्परा में अयोग्य उत्तराधिकारियों के आने से साम्राज्य दुर्बल हो जाता है। योग्य, अनुभवी एवं चारित्रिक दृष्टि से आदर्श उत्तराधिकारी ही शासन संभाल पाते हैं। फारस में कुरुश् द्वितीय तथा दारयवउश् प्रथम ने जो आदर्श प्रस्तुत किया उसका अनुसरण उसके उत्तराधिकारी न कर सके। कुरुश् द्वितीय यदि उदार तथा धर्म सहिष्णु था तो उसका उत्तराधिकारी कम्बुजिय द्वितीय अत्यन्त क्रूर सिद्ध हुआ जिसे अपनी पत्नी, पुत्री तथा भाई की हत्या करने में भी कोई कष्ट नहीं हुआ। दारयवउश् प्रथम की योग्यता उसके उत्तराधिकारियों में नहीं मिलती। ख्शयार्श प्रथम अत्यन्त विलासी सिद्ध हुआ। विस्तृत साम्राज्य की समृद्धि ने पारसीक शासकों को प्रमत्त, ऐयास एवं व्यभिचारी बना दिया। सर्वत्र सुरा-सुन्दरी का बाजार गर्म हो गया। शासक ही नहीं बल्कि उनके सहयोगी भी ऐश-आराम का जीवन व्यतीत करने लगे। इन सबका प्रभाव जन-साधारण पर पड़ा और उनका चरित्र गिरने लगा। इससे फारस दुर्बल हो गया तथा उसका अधः पतन हुआ।

यूनान का अभ्युदय एवं सिकन्दर का आविर्भाव—पारसीक साम्राज्य के अधःपतन के लिए यूनान के अभ्युदय एवं सिकन्दर महान् के आविर्भाव को भी बहुत कुछ उत्तरदायी माना जा सकता है। यदि फारस का यूनान से संघर्ष न प्रारंभ हुआ होता तो शायद उसका अस्तित्व कुछ दिन तक और बना रहता। दारयवउश् प्रथम की मैराथॉन में पराजय से यूनानियों का उत्साह बढ़ गया किन्तु पारसीकों

---

[1] Will Durant. The Story of Civilization, Vol. I, p. 381

का उत्साह कम हो गया। अभी तक वे अपने को अजेय समझे बैठे थे किन्तु इस पराजय से उन्हें विश्वास हो गया कि अब उनका भविष्य उज्ज्वल नहीं है। दारयवउश् प्रथम के बाद ख्शयार्श के समय में उन्हें पहले कुछ सफलता मिली किन्तु बाद में प्लेटाई, माइकेल तथा सालमिस के युद्धों में वे यूनानियों से पराजित हुए जिससे उनका रहा-सहा उत्साह भी जाता रहा। इसके बाद मैसीडोनिया के सिकन्दर का अभ्युदय हुआ। दारयवउश् तृतीय हख़ामनीशिय वंश का अंतिम शासक था। इसकी सिकन्दर से टक्कर हुई तथा पूर्णतया पराजित हुआ। यदि सिकन्दर का आविर्भाव कुछ दिन बाद हुआ होता तो शायद हख़ामनीशिय साम्राज्य कुछ दिन तक और अपना अस्तित्व बनाये रखने में सफल हो जाता।

राजनीतिक संगठन

विस्तृत पारसीक साम्राज्य के प्रशासन के मुख्य आधार कुरुश् द्वितीय द्वारा निर्धारित किए गये थे। दारयवउश् प्रथम ने इन्हें पूर्णतया विकसित कर सम्पूर्ण साम्राज्य पर लागू किया। दारयवउश् प्रथम के प्रयास के फलस्वरूप पारसीक साम्राज्य विश्व साम्राज्य (Universal Empire) का रूप धारण कर सका।[1] इस विस्तृत साम्राज्य में फारस के अतिरिक्त बैबिलोन, फिलिस्तीन, सीरिया, मिस्र एवं एशिया माइनर के साथ-साथ भारतीय एवं यूनानी संस्कृति से प्रभावित क्षेत्र सम्मिलित थे। रोमन साम्राज्य के पूर्व प्राचीन विश्व का यह सबसे बड़ा साम्राज्य था जिस पर उनका दो सौ वर्षों तक नियंत्रण बना रहा।[2] इस विशाल साम्राज्य का अधिपति शासक स्वयं था। वही विधि-निर्माता, मुख्य न्यायाधीश एवं प्रधान सेनापति था। उसकी आज्ञा एवं निर्णय का पालन आवश्यक था। फारस का स्वामी कोई ऐसा-वैसा व्यक्ति नहीं बल्कि दैवी प्रभुता सम्पन्न शासक था। दारयवउश् प्रथम अपने लेख में स्वतः इसकी घोषणा करता है कि उसे राजपद अहुर मज्द (Ahuramazda) की कृपा से मिला है। उसी ने शासक बना कर उसे यह साम्राज्य दिया है।[3] महान् हख़ामनीशिय सम्राट् के अधीन अनेक छोटे छोटे शासक थे इसी लिए वह राजाधिराज (King of Kings) की उपराधि धारण करता था। बेहिस्तून लेख में दारयवउश् प्रथम अपने को इसी उपाधि से उल्लिखित करता है। शक्ति-सम्पन्न शासक के रूप में वह कभी भी कुछ कर सकता था। निष्कारण वह किसी को कैद कर सकता था अथवा मौत के घाट उतार सकता था। यह अधिकार कभी-कभी वह अपनी माता अथवा प्रधान महिषी को दे देता था जो इस अधिकार का उपयोग अत्यन्त स्वच्छन्दता एवं निर्दयतापूर्वक करती थीं। यदि शासक किसी व्यक्ति के समक्ष उसके

---

1. Encyclopaedia Britannica, Vol. xvii, p. 551
2. T. R. Glover, The Ancient World, p. 89
3. Behistune Inscription, Lines, 13-17; Naqshi-i-Rustam 14/30

पुत्र को खेल-खेल में अपने वाण से वेध देता था तो उसका पिता शोक न व्यक्त करके शासक की धनुर्विद्या की प्रशंसा करता था। इसी प्रकार सजा-प्राप्त बंदी शासक के प्रति आभार प्रदर्शित करना नहीं भूलता था। प्रारम्भ में तो शासक शासन की देख-भाल स्वयं करते थे किन्तु वाद में जब वे विलासी तथा आरामतलब हो गए तो शासन का बहुत कुछ उत्तरदायित्व सामन्तों पर छोड़ दिया गया। इसके फल-स्वरूप राजमहल में उपस्थित राजकर्मचारियों तथा नपुंसक रक्षकों का महत्त्व बढ़ गया तथा वे शासकीय षड्यंत्रों में भाग लेने लगे।

सिद्धान्त: शासक निरंकुश था किन्तु व्यवहारत: उस पर किंचित् नियंत्रण था। ईरान तथा मीडिया की प्राचीन परम्पराओं का उसे बराबर भय बना रहता था। इसके साथ-साथ प्रशासन में कुलीन परिवारों को भी विशेष महत्त्व मिला था। वास्तव में वे शासक तथा शासित के मध्य कड़ी का कार्य करते थे। इस दृष्टि से पेसार-गेदाय के छः कबीले विशेष प्रतिष्ठित थे। इन्होंने नकली बर्दिय के विरुद्ध षड्यंत्र करने तथा उसे समाप्त करने में दारयवउश् प्रथम का साथ दिया था। ये शासक से कभी भी मिल सकते थे। इनके पास बड़ी-बड़ी जागीरें रहती थीं तथा शासक की भाँति ये भी जनता से कर वसूल सकते थे। इन्हें न्यायिक अधिकार भी मिले थे तथा आवश्यकतानुसार ये शासक की धन-जन से सहायता भी कर सकते थे। इनके साथ शासक को मिला कर यूनानी इन्हें सात पारसीक (Seven Persians) कहते थे। छः कुलों के अतिरिक्त प्रजा में से भी कुछ नेता चुन लिये जाते थे जो क्षत्रपों की सभाओं तथा सेना में अधिकारी नियुक्त किए जाते थे। इस दृष्टि से मीडों को विशेष सम्मान मिला था। दारयवउश् प्रथम अपने लेख में पारसीकों के बाद मीडों का उल्लेख करता है। मीडों के बाद हिब्रुओं को महत्त्व मिला था क्योंकि उन्होंने कैल्डियनों को अपदस्थ करने में पारसीकों की सहायता की थी।

प्रान्तीय शासन

प्रशासन की सुविधा के लिए सम्पूर्ण साम्राज्य को बीस प्रान्तों में बाँट दिया गया था। यह महत्त्वपूर्ण कार्य दारयवउश् प्रथम के समय में किया गया। इसमें मिस्र तथा बैबिलोन नहीं सम्मिलित थे क्योंकि उन पर शासक का शासन था। इनमें पार्स; मीडिया तथा ईलम को राजनीतिक वरीयता मिली थी। पार्थिया, अर्मीनिया, तथा कैप्पाडोशिया सैनिक शक्ति की दृष्टि से समृद्ध थे। मिस्र, बैबिलोन तथा भारत आर्थिक दृष्टि से पारसीक साम्राज्य के समृद्ध प्रान्त थे। प्रान्तों की सीमा समय-समय पर घटती-बढ़ती रहती थी। प्रान्त का शासन प्रान्तपतियों के अधीन था। इन्हें क्षत्रप कहा गया है। प्रान्तपतियों का चयन अत्यन्त सावधानी से शासकीय परिवार के राजकुमारों, कुलीन वर्गों एवं उच्च श्रेणी के सैनिक अधिकारियों में से किया जाता था। वास्तव में यह पद उन व्यक्तियों को पुरस्कार रूप में मिलता था जो शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध में अभूतपूर्व शौर्य प्रदर्शित करते थे। कभी-कभी पराजित

शासक को क्षत्रप के रूप में नियुक्त कर दिया जाता था। क्षत्रप अपने-अपने प्रान्त के प्रशासक, न्यायाधीश तथा सेनानायक थे। इसके साथ ही वे शान्ति-स्थापना, समीपस्थ राज्यों से राजनयिक सम्बन्ध बनाने, आवश्यकतानुसार युद्ध करने, केन्द्र को भेंट देने के लिए कर संग्रह करने इत्यादि जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य भी सम्पादित करते थे। क्षत्रपों का व्यय प्रान्तीय आय से चलता था। सम्राट् के पास भेजे जाने वाले कर का संग्रह भी जनता द्वारा किया जाता था। हख़ामनीशिय शासकों को प्रान्तों से पर्याप्त मात्रा में कर मिलता था। दारयवउश् प्रथम को बैबिलोनिया, मिस्र, भारत तथा एशिया माइनर के चार क्षत्रपों से जो कर मिलता था उसमें सबसे अधिक भारत भेजता था। हेरोडोटस के अनुसार यह 360 टैलेंट (स्वर्ण धूलि) था।[1] डी० डी० कोसम्बी[2] इसे लगभग नौ टन मानते हैं जबकि जयशंकर मिश्र[3] लगभग चार करोड़ रुपये के बराबर। इसके अतिरिक्त मिस्र प्रति वर्ष 1,20,000 व्यक्तियों की खाद्य-सामग्री, मीडिया 10,00,00 भेड़ें, अर्मीनिया 30,000 मुर्गियाँ तथा बैबिलोन 500 युवा हिजड़े भेजता था। इस आय से प्रतिदिन हख़ामनीशिय साम्राज्य का केन्द्रीय कोष समृद्ध होता जा रहा था। इस समृद्धि का अनुमान हम इसी से लगा सकते हैं कि सिकन्दर के आक्रमण के समय दारयवउश् तृतीय द्वारा शासकीय कोष से 8,000 टैलेंट लेकर भाग जाने पर भी उसमें 1,80,000, टैलेट बचा था।

यद्यपि क्षत्रप अपने-अपने प्रान्त में स्वतन्त्र थे किन्तु शासक इन-पर बराबर निगरानी रखता था। दारयवउश् प्रथम ने इनके निरीक्षण के लिए प्रत्येक प्रान्त में मंत्री एवं एक सेनाध्यक्ष नियुक्त कर रखा था। इन पर क्षत्रपों का कोई नियंत्रण नहीं था। इनके अतिरिक्त समय-समय पर प्रान्तों की गति-विधियों के निरीक्षण के लिए विशेष गुप्तचर भी भेजे जाते थे। इन्हें 'शासक के नेत्र एवं कान' (King's eyes and ears) कहा जाता था। गुप्तचर किसी समय भी प्रान्तपतियों के कार्यों का निरीक्षण कर शासक को उसकी सूचना दे सकते थे। शासक इनकी सूचना के आधार पर ही प्रान्तपतियों को दण्डित करता था। कभी-कभी तो अभियोग की पुष्टि के बिना भी प्रान्तपतियों को पदच्युत कर दिया जाता था तथा सेवकों से विष दिला दिया जाता था। प्रान्तीय व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए एक प्रान्त का दूसरे से अभिन्न सम्बन्ध बनाए रखने का प्रयास किया जाता था। इसी आशय से दारयवउश् प्रथम ने सर्डिस से सूसा तक लगभग 2,400 किलोमीटर लम्बी एक सड़क बनायी थी। इसे पद-यात्रा द्वारा तीन मास तथा शासकीय दूतों द्वारा

---

[1] H. C. Raychaudhuri, Political History of Ancient India, p. 241

[2] डी० डी० कोसम्बी, प्राचीन भारत की संस्कृति एवं सभ्यता, पृ० 170

[3] जयशङ्कर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ. 545

एक सप्ताह में तय किया जाता था। इसके बीच-बीच में विश्राम-स्थल बनाए गये थे। नील नदी को लाल सागरसे मिलाकर भी यातायात को बढ़ावा दिया गया। दारयवउश् प्रथम के नौ-सेनाध्यक्ष स्काइलैक्स ने ईरान तथा भारत के बीच एक सामुद्रिक मार्ग का पता लगा लिया था। इससे स्पष्ट है कि भारत और फारस के बीच जल-मार्ग का उपयोग किया जाता था।

विधि-संहिता एवं दण्ड-विधान

दारयवउश् प्रथम के प्रशासन में काननों को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला था। वास्तव में दारयवउश् प्रथम बैबिलोन के हम्मूराबी की भाँति विश्व में एक विधि-निर्माता के रूप में प्रतिष्ठा चाहता था। हम्मूराबी की प्रसिद्ध विधि-संहिता दारयवउश् प्रथम के साम्राज्य की दूसरी राजधानी सूसा से मिली थी अतएव संभवतः दारयवउश् प्रथम उससे परिचित था और यदि ऐसा है तो उससे वह निस्संदेह प्रभावित हुआ होगा। यदि हम्मूराबी की विधि-संहिता में संग्रहीत कानूनों तथा दारयवउश् प्रथम के कानूनों की परस्पर तुलना की जाय तो दोनों में अनेक समानताएँ दिखलाई पड़ती हैं। यदि हम्मूराबी अपने कानूनों को शमश देव की कृपा का परिणाम मानता था तो दारयवउश् प्रथम अहुर मज्द की कृपा का। यदि हम्मूराबी अपना मूल कर्त्तव्य प्रजा की सेवा करना स्वीकार करता था तो दारयवउश् प्रथम की भी यही मान्यता थी। हम्मूराबी की इच्छा थी कि उसके बाद विधान-तंत्र का अनुसरण किया जाय तो दारयवउश् प्रथम भी यही चाहता था।

उक्त समीक्षा से दोनों कानूनों में परस्पर विद्यमान समानताओं का ज्ञान हो जाता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि दोनों राज्यों के कानून एक समान ही थे। वास्तव में दोनों शासकों के कानूनों में अनेक मौलिक अन्तर थे। हम्मूराबी को कानूनों को एक विधि-संहिता में संग्रहीत कर उसे प्रतिष्ठित करने का अवसर मिला तथा भारतीय अशोक के आदेशों की भाँति वे स्थायी हो गये जबकि दारयवउश् प्रथम के कानून इतस्ततः बिखरे मिलते हैं। वे किसी विधि-संहिता में संग्रहीत न किये जा सके। इस प्रकार हखामनीशिय कानून, कानून न होकर एक प्रकार की शासक की इच्छा थी। हम्मूराबी के कानूनों की अपेक्षा दारयवउश् प्रथम के कानून अधिक कठोर थे।

हखामनीशिय साम्राज्य में न्याय-व्यवस्था में शासक मुख्य न्यायाधीश था। और उसका न्याय अन्तिम था किन्तु उसकी सहायता के लिए उसके अधीन बहुत छोटे-छोटे न्यायालय थे जो समस्त राष्ट्र में फैले थे। इनसे ऊपर एक उच्च न्यायालय था जिसमें सात सदस्य होते थे। सामान्यतः न्यायाधीश पद पर नियुक्त व्यक्ति मृत्यु पर्यन्त बना रहता था किन्तु अन्याय करने तथा उत्कोच इत्यादि लेने की स्थिति में उन्हें निष्कासित या पदच्युत कर दिया जाता था। इसके लिए उन्हें कठोरातिकठोर दण्ड मिलता था। एक न्यायाधीश द्वारा अन्याय करने पर कम्बुजिय प्रथम ने उस

शासक की त्वचा निकलवा ली और उससे एक कुर्सी बनवा कर उसी पर उसके पुत्र को न्यायाधीश बनाकर बैठा दिया। इस प्रकार की कठोर दण्ड-व्यवस्था में न्यायाधीश अन्याय कैसे कर सकते थे ? न्याय-विधि विकसित थी। वादी तथा प्रतिवादी दोनों अपनी-अपनी बात न्यायालय के समक्ष रखते थे। कभी-कभी वाद के निर्णय के लिए पंच की भी व्यवस्था की जाती थी। अनावश्यक विलम्ब रोकने के लिए प्रत्येक वाद के लिए समय निर्धारित कर दिया जाता था। कानूनों की वृद्धि के साथ-साथ एक ऐसा वर्ग भी अस्तित्व में आ गया था जिसे आधुनिक शब्दावली में एडवोकेट कहा जा सकता है। न्यायालय किसी अभियुक्त के अपराध पर विचार करते समय उसके विगत जीवन तथा उसकी सेवाओं को भी ध्यान में रखता था। दण्ड-व्यवस्था कठोर थी। साधारण अपराध में कोड़े लगाये जाते थे। जैसे यदि किसी चरवाहे के कुत्ते को कोई विष दे देता था तो अपराधी को 200 कोड़े लगाये जाते थे। अर्थ-दण्ड करके इसे क्षमा भी किया जा सकता था। अन्य अपराधों में कठोर शारीरिक दण्ड, जैसे दागना, हाथ-पैर तोड़ देना, आँख निकालना इत्यादि तथा प्राण-दण्ड दिया जाता था। जिन अपराधों के लिए प्राण-दण्ड नियत था उनमें देशद्रोह, बलात्कार समलिंगी मैथुन, राजा के एकान्त स्थल में प्रवेश, उसकी रखैलों के साथ अनुचित सम्बन्ध स्थापित करने, त्रुटि से सिंहासन पर बैठ जाने इत्यादि का उल्लेख किया जा सकता है। प्राण-दण्ड के लिए विषपान, सूली पर चढ़ाने, उल्टा लटका देने, नदी में डुबोने, गर्म राख में भूनने, पत्थरों से चोट पहुँचाने, जीवित दफनाने, दो पत्थरों के बीच रखकर कुचल देने तथा नाव चढ़ाने[1] की विधियाँ प्रचलित थीं। अन्तिम विधि में एक लकड़ी के बाक्स पर अपराधी को लिटा कर उसके ऊपर दूसरा बाक्स इस तरह कस दिया जात था जिससे उसका केवल शिर बाहर रहता था। उस पर मधु तथा दूध डाल दिया जाता था ताकि मक्खियाँ बैठ सकें। इसी स्थिति में वह मल-मूत्र विमोचित करता हुआ क्रमशः सड़ता जाता था। इस विधि द्वारा एक सैनिक को मरने में सत्रह दिन लगे थे। इस प्रकार की कठोर दण्ड-व्यवस्था में अपराध की संभावना नहीं रहती थी।

सैन्य-संगठन

हखामनीशिय शासक भलीभाँति जानते थे कि उनका विस्तृत साम्राज्य सैनिक संगठन पर ही टिक सकता है। इसी लिए इस ओर वे विशेष सजग दिखायी पड़ते हैं। यहाँ सैनिक-सेवा अनिवार्य थी। युद्ध-काल में पन्द्रह वर्ष से पच्चीस वर्ष तक के व्यक्तियों को अनिवार्यतः इसमें लगा लिया जाता था। इससे कोई व्यक्ति छूट नही पाता था। जो इसका प्रयास करता था उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। एक बार एक व्यक्ति ने दारयवउश् प्रथम से अपने तीन पुत्रों में से एक के लिए सैनिक-सेवा की छूट

---

[1] Will Durant, The Story of Civilization, Vol. I, p. 363

माँगी तो दारयवउश् प्रथम ने उसके तीनों पुत्रों का वध करवा दिया। इसी प्रकार खशयार्श प्रथम यूनान के विरुद्ध सैनिक अभियान के समय शरत में मार्ग में अपना पड़ाव कैप्पाडोशिया में क्रिटेला (Crittalla) में डाल दिया। वहाँ पर पिथियस (Pythius) ने उसका भरपूर स्वागत किया। कहा जाता है कि पिथियस साम्राज्य का सबसे बड़ा धनी व्यक्ति था। शासक की कृपा से वह बहुत प्रसन्न हुआ। जब खशयार्श ने अपनी यात्रा प्रारम्भ की तो पिथियस ने उससे अपने पाँच पुत्रों में से एक (सबसे छोटे) के लिए छूट माँगी। किन्तु खशयार्श ने उसके पुत्र के शरीर को दो टुकड़ों में बाँट कर सर्डिस के द्वार पर दोनों किनारे उस स्थान पर रख दिया जहाँ से उसकी सेना मार्च कर रही थी। जमीनदार घोड़े पर बैठकर तथा साधारण पदाति सेना के रूप में कार्य करते थे। प्रत्येक प्रान्त निश्चित संख्या में केन्द्र को सैनिक भेजता था। इस व्यवस्था के कारण उन्हें दश-पाँच लाख सैनिकों को एकत्र करने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। प्रयास करने पर यह संख्या बीस लाख तक पहुँच जाती थी। सैनिकों में पदाति, अश्वारोही, रथारोही एवं गजारोही थे। 20,000 गजारोही तथा 20,000 अश्वारोहियों का एक दल था जिसे अंगरक्षक कहा जाता था। मीडों तथा पारसीकों को मिलाकर 10,000 सैनिकों का एक चुना दल था जो सम्राट् की रक्षा में प्राणों की बाजी लगा देता था। इसे अमरदी (Immortals) कहा गया है। चतुरंगिणी स्थल सेना के साथ-साथ 1,200 जहाजों का बेड़ा भी सदैव साम्राज्य की रक्षा के लिए तत्पर रहता था। इसमें विशेष रूप से मिस्री, फीनिशियन तथा एशियाई-यूनानी सैनिक थे।

अनेक अच्छाइयों के बावजूद भी पारसीक सैनिक संगठन दोष-मुक्त नहीं था। इसमें विभिन्न जाति, भाषा एवं धर्म के सैनिक थे जिनके लड़ने के तौर-तरीके, औजार एवं पहनावे सभी भिन्न थे। परिणामतः इनमें कभी भी एकता न स्थापित हो सकी। संख्या की अधिकता के कारण इन पर नियंत्रण कठिन हो जाता था। पीछे हटने के आदेश पर इनमें भगदड़ मच जाती थी। यदि इन्हें सही-गलत भी सूचना मिल जाती थी कि इनका सेनापति या शासक आहत हो गया है अथवा वीरगति प्राप्त कर लिया है तो ये भागने की तैयारी करने लगते थे। संख्या की अधिकता के कारण छोटे-छोटे युद्धों में तो इनकी विजय हो जाती थी किन्तु जब किसी सुसंगठित एवं सुनियोजित सेना से इनका सामना पड़ता था तो ये पराजित हो जाते।

उपरोक्त समीक्षा से हखामनीशिय प्रशासन की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। इसका मूल्यांकन करते हुए विल ड्यूरैण्ट[1] उचित ही कहते हैं कि रोमन-साम्राज्य के उदय के पूर्व भू-मध्यसागरीय क्षेत्र में अन्य किसी देश ने प्रशासन में उतनी सफलता न प्राप्त की जितनी हखामनीशिय साम्राज्य ने प्राप्त कर ली थी। रोमन साम्राज्य

---

[1] Will Durant, The Story of Civilization, Vol. I, p. 363

के अनेक शासनतंत्र सम्बन्धी सिद्धान्त हख़ामनीशिय साम्राज्य से ग्रहण किये गये थे। दारयवउश् प्रथम का शासन राजनीतिक गठन का आदर्श रूप था।

सामाजिक संगठन

पारसीक समाज चार श्रेणियों में विभाजित था। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत शासक तथा उसके कुल के सदस्यों की गणना की जाती थी। इनका स्थान सर्वोत्कृष्ट था। द्वितीय श्रेणी में वंशानुगत भू-स्वामी तथा पदाधिकारी आते थे। तृतीय श्रेणी पुरोहितों की थी किन्तु समाज में इन्हें विशेष प्रतिष्ठा मिली थी। चतुर्थ श्रेणी में साधारण जन-समुदाय था जैसे कृषक, व्यापारी, श्रमिक इत्यादि। इनकी सामाजिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। इन पर द्वितीय श्रेणी के भू-स्वामियों का सदैव अंकुश बना रहता था। सामाजिक गठन कौटुम्बिक था पर यह कहना कठिन है कि यह पितृसत्तात्मक था अथवा मातृसत्तात्मक। किन्तु हम इतना जानते हैं कि माता के रूप में यहाँ स्त्रियों को विशेष प्रतिष्ठा मिली थी। विवाह को समाज में विशेष महत्त्व मिला था। सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए विवाह एवं संतति-सृष्टि दोनों को आवश्यक माना गया था। वर-कन्या दोनों को वे अधिक दिन तक अविवाहित नहीं रख सकते थे। इसे धर्म-विरुद्ध माना गया था। विवाह का निर्णय माता-पिता करते थे। कम से कम मगों में भाई-बहन, पिता-पुत्री एवं माता-पुत्र के बीच वैवाहिक सम्बन्ध होते थे। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में विवाह करना वे उचित समझते थे। बहु-विवाह निंद्य अवश्य था किन्तु शासकों तथा धनपशुओं के हरम में उपपत्नियों का जमघट लगा रहता था। शासक तो इसके बिना युद्ध-भूमि में भी नहीं जाते थे। अन्तिम दिनों में तो यहाँ राजदरबारों में तीन सौ उन्नीस से तीन सौ साठ रानियों के रहने के प्रमाण मिले हैं।

जरथुश्त्र के समय यहाँ स्त्रियों की स्थिति अच्छी थी। बिना पर्दे के वे सार्वजनिक स्थलों में विचरण कर सकती थीं। सम्पत्ति की देख-भाल करती हुई वे जमींदारी भी रख सकती थी। किन्तु दारयवउश् प्रथम के समय उनकी स्थिति में कुछ परिवर्तन हुआ। अब धनी वर्ग की स्त्रियाँ बिना पर्दावाली गाड़ी के बाहर नहीं निकलती थीं। इसी प्रकार पुरुषों से स्वतन्त्रतापूर्वक मिलने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। विवाहित स्त्रियाँ अपने भाई तथा पिता से भी नहीं मिल सकती थीं। इसी कारण प्राचीन लेखों तथा स्मारकों में कहीं उनका उल्लेख नहीं मिलता। सामान्य स्त्रियों की अपेक्षा वीरांगनाओं को अधिक सम्मान मिला था। वे स्वामी के साथ-साथ उसके अतिथियों को भी प्रसन्न करती थीं। सन्तानोत्पत्ति का उत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता था किन्तु यह पुत्र-जन्म तक ही सीमित था। कन्या के जन्म को तो वे अभाग्य का सूचक मानते थे तथा ऐसे अवसरों पर शोक प्रकट कर दुःख शान्त करते थे। बहु-पुत्रता को प्रोत्साहित किया जाता था। ऐसे पिता के लिए शासन की ओर से पुरस्कार की व्यवस्था थी। गर्भपात या भ्रूणहत्या पर मृत्यु-

दण्ड दिया जाता था। पारसीकों का सामान्य जीवन सुखी, आडम्बरहीन तथा नैतिक दृष्टि से ऊँचा था। विद्याभ्यास में इनकी विशेष रुचि नहीं थी। सात वर्ष से बालक धर्माधीशों द्वारा संचालित विद्यालय में प्रवेश करता था। विद्यालय या तो मन्दिरों में स्थित थे या पुरोहितों के घरों में। इसका वे विशेष ध्यान रखते थे कि विद्यालय किसी शोरगुल वाले स्थान में न हो। विद्यालय में विद्यार्थियों को अवेस्ता तथा उसके भाष्य पढ़ाये जाते थे। इसके साथ-साथ धर्म, कानून तथा औषधि-विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। इसके अतिरिक्त साधारण बालकों को अश्वारोहण, वाणक्षेपन एवं सत्य बोलने की शिक्षा दी जाती थी, जबकि धनिकों के बालकों को शासकीय कार्यों में दक्ष बनाया जाता था। युद्ध-विद्या की शिक्षा सबके लिए अनिवार्य थी। शिक्षा-व्यवस्था कठोर थी। विद्यार्थियों के धैर्य की परीक्षा ली जाती थी। इनकी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालक को शिष्ट, विनयी, व्यवहार-कुशल, वीर, स्वाभिमानी एवं पुरुषार्थी बनाना था।

व्यावहारिक दृष्टि से पारसीक अतिथि-सेवी, मृदुभाषी तथा पवित्रता-प्रेमी थे। शिष्टाचार में तो वे प्रसिद्ध चीनियों की समता करते थे। जब दो व्यक्ति परस्पर मिलते थे तो छोटे बड़े के प्रति सम्मान तथा बड़ा छोटे के प्रति स्नेह प्रदर्शित करता था। पवित्रता का वे विशेष ध्यान रखते थे। प्रायः एक बार दिन में भोजन करते थे। वे मद्यपान से बचने का प्रयास करते थे। नाखून कटवाने, बाल कटवाने और यहाँ तक कि जँभाई एवं डकार लेने तक को वे अपवित्र मानते थे और ऐसा करने पर विशिष्ट संस्कारों द्वारा पवित्र होते थे। मार्ग में खाना-पीना, नाक साफ करना तथा थूकना निषिद्ध था। शारीरिक दृष्टि से पारसीक पश्चिमी एशिया के प्राचीन निवासियों में शायद सबसे अधिक स्वस्थ एवं सुन्दर थे। इसका पता प्राचीन स्मारकों पर उत्कीर्ण चित्रों से लगता है। उन्होंने वस्त्र-विन्यास मीडों से ग्रहण किया था। मुख के अतिरिक्त शरीर का शेष भाग वस्त्रावृत रहता था। शिर पर उष्णीश या टोपी तथा पैर में जूता धारण करते थे। समृद्ध पुरुषों के वस्त्र आकर्षक तथा कढ़े रहते थे। स्त्रियों तथा पुरुषों के वस्त्रों में कोई विशेष अन्तर नहीं था। सामान्यतः पुरुष दाढ़ी तथा बाल रखते थे। बाद में कृत्रिम बाल 'विग' भी धारण किया जाने लगा। वे अलंकरण तथा प्रसाधनप्रिय थे। मादक द्रव्य, अंगराग एवं विभिन्न प्रकार की सौंदर्यवर्द्धक वस्तुओं का प्रयोग किया जाता था। युद्ध में जाते समय भी इन उपकरणों को वे साथ रखते थे।

पारसीक नैतिकता एवं सदाचार के प्रति विशेष सजग थे। चारित्रिक दोष के लिए यहाँ कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। व्यभिचार तथा वेश्यावृत्ति दोनों के लिए मृत्युदण्ड दिया जाता था। इसे कार्यान्वित करने के लिए पूछ-ताछ की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु हेरोडोटस के वर्णन से पता लगता है कि यहाँ कथनी-करनी में परस्पर अन्तर था। वह कहता है कि यहाँ किसी स्त्री को भगा ले जाने को अपराध तो माना जाता था किन्तु यह भी कहा जाता था कि ऐसे मामले में किसी

से बदला नहीं लेना चाहिए। इसी प्रकार वह आगे कहता है कि यूनानियों के समान पारसीकों में भी समलिंगी मैथुन प्रचलित था। इस प्रथा के प्रचलन का समर्थन अवेस्ता में भी मिलता है क्योंकि इसमें इसकी निंदा की गई है तथा इसे अक्षम्य अपराध स्वीकार किया गया है।[1]

आर्थिक संगठन

पारसीकों का आर्थिक जीवन कृषिपरक था। इसी लिए अवेस्ता में इसकी महत्ता प्रतिपादित है।[2] कृष्य भूमि का विभाजन कई प्रकार से किया गया था। कुछ भूमि पर कृषकों का प्रत्यक्ष अधिकार था जबकि कुछ पर सामूहिक कृषि की जाती थी। कुछ भूमि पर सामन्तों एवं जमींदारों का अधिकार था। इसे कृषक लगान पर प्राप्त करते थे। लगान के रूप में कृषि-उत्पादन का एक निश्चित भाग दिया जाता था। सामन्तों की जमींदारी में दास द्वारा भी खेती कराई जाती थी किन्तु इस कार्य में पारसीक दास नहीं लगाये जाते थे। जुताई बैलों द्वारा की जाती थी तथा सिंचाई के लिए वर्षा या नदी के जल पर आश्रित होना पड़ता था। नहरों द्वारा पहाड़ियों तथा नदियों से जल खेत तक पहुँचाया जाता था। दलदल भूमि का पानी निकाल कर भूमि सुखाकर कृषि योग्य बना लिया जाता था। इसका अनुकरण दूसरे देशों में भी किया गया। मुख्यतः गेहूँ तथा यव पैदा किए जाते थे। किन्तु उर्वर भूमि की कमी के कारण अन्न की कमी पड़ती थी जिसकी पूर्ति फलों से करते थे। यहाँ बाग लगाने का बड़ा शौक था। फलों के वृक्षों का आयात भी किया जाता था। पारसीक मांसाहारी तथा मद्यसेवी थे। मांस के लिए मछलियों का शिकार करते थे। 'हौम' नामक एक मदिरा देवताओं को बहुत प्रिय थी। उनका विश्वास था कि इसके सेवन से शान्ति एवं पवित्रता मिलती है। कुरुश् द्वितीय तो सैनिकों के लिए भी मदिरा की व्यवस्था करता था। कृषि के साथ-साथ पशु-पालन भी प्रचलित था। मुख्य रूप से गाय, बैल, भेड़ तथा बकरी पालते थे। बन्दर, अश्वतरी तथा अश्व को भी पाला जाता था। मधुमक्खी पालने का यहाँ आम रिवाज था। पारसीक चीनी के स्थान पर शहद का उपयोग करते थे।

खनिज पदार्थों की दृष्टि से हख़ामनीशिय साम्राज्य समृद्ध था। साइप्रस में प्रभूत मात्रा में चाँदी, ताँबा तथा लोहा मिलता था। एशिया माइनर ताँबे एवं चाँदी की दृष्टि से धनी था। ताँबे तथा लोहे का लेबलान तथा ऊपरी दज़ला एवं फ़रात से आयात भी किया जाता था। इसी प्रकार कर्मान (Kerman) से स्वर्ण

---

[1] Avesta, Vendidad, Fargard 85.32, Sacred Books of the East, Vol. IV, pp. 101-102

[2] Avesta, Vendidad, Fargard, 3.23-25, Ibid, p. 28

तथा चाँदी तथा सीस्तान (Seistan) से टिन मिलता था। इससे उद्योग-धंधों को पूर्ण रूप से विकसित होने का अवसर मिल था किन्तु आवश्यकता की अधिकांश वस्तुएँ वे पड़ोसी देशों से मँगा लेते थे अतः उद्योग-धंधों का अधिक विकास न हुआ। ये केवल दैनिक उपयोग की कुछ वस्तुओं के उत्पादन तक ही सीमित रह गये। नगरों में वे मुख्य रूप से वस्त्र सिलते थे तथा जूते, फर्नीचर, भाण्ड एवं आभूषण बनाते थे। कुरता-पायजामा बनाने का उद्योग बड़े पैमाने पर चलता था। धनिकों के लिए स्वर्ण, रजत तथा कांस्य के भाण्ड बनाए जाते थे। स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार के आभूषण तथा सौंदर्यवर्द्धक द्रव्यों का उपयोग करती थीं अतएव इनका भी निर्माण किया जाता था।

साम्राज्य की स्थापना के साथ-साथ यहाँ व्यापार एवं वाणिज्य की दिशा में विशेष प्रगति हुई। इनके व्यापारिक सम्बन्ध एशिया, अफ्रीका तथा यूरोप के विभिन्न देशों से स्थापित हुए। जिन देशों में पहले व्यापारिक सम्बन्ध नहीं थे जैसे, यूनान तथा बैबिलोन, उनमें भी परस्पर सम्बन्ध स्थापित हुए। किन्तु इस सम्बन्ध में ध्यातव्य है कि पारसीक व्यापार को घृणा की दृष्टि से देखते थे क्योंकि उनके विचार से बाजार झूठ के केन्द्र थे। अतएव पारसीक व्यापार पर मीडियनों, बैबिलोनियनों तथा हिब्रुओं का एकाधिकार स्थापित हो गया। व्यापार मुख्यतः दैनिक एवं गृहोपयोगी वस्तुओं से सम्बन्धित था तथा विदेशी व्यापार की अपेक्षा आन्तरिक व्यापार अधिक विकसित था। व्यापारियों को अर्थ की सुविधा के लिए यहाँ बैंकों की स्थापना की गई थी। प्रारम्भ में इन पर युवराज अथवा मन्दिर का नियंत्रण था किन्तु हख़ामनीशिय युग में व्यक्तिगत बैंकों की स्थापना की गई। इनका कार्य ऋण देना तथा जमा करना था। चालू खाता की व्यवस्था थी तथा चेक द्वारा लेन-देन होता था। व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिए यातायात एवं सुरक्षा का उचित प्रबन्ध किया गया था। एक राजधानी को दूसरी से मिलाने के लिये यहाँ कई सड़कें बनायी गई थीं। सूसा से सर्डिस जाने वाला मार्ग तो लगभग 2,400 किलोमीटर लम्बा था। प्रति 450 किलोमीटर पर चिह्न लगे थे तथा प्रति चौथे चिन्ह पर विश्रामालय बनाया गया था। पूरी सड़क बस्ती तथा सुरक्षित स्थानों से हो कर गई थी। प्रत्येक विश्राम-स्थल पर पत्र ले जाने के लिए घोड़ों को बदलने की व्यवस्था रहती थी। पैदल इसे तीन मास तथा घोड़े द्वारा एक सप्ताह में तय किया जाता था। नदियों को पार करने के लिए नावों की व्यवस्था थी। इसके साथ पारसीक अभियन्ता इतने कुशल थे कि जब वे चाहते थे नाव की सहायता से बड़ी नदियों पर ऐसे पुल बना लेते थे जिस पर सैकड़ों हाथी पार हो जाते थे। इनकी कुछ सड़कें तो अफगानिस्तान पार कर भारत तक आयी थीं प्रारम्भ में तो निस्संदेह इनका उद्देश्य राजनीतिक था, किन्तु बाद में इनका उपयोग व्यापारिक कार्यों में किया जाने लगा। जल यात्रा तथा जलबेड़े का अधिक विकास वे नहीं कर सके। यहाँ तक कि उनके पास अपना कोई जहाजी बेड़ा नहीं था। नील नदी

को लाल सागर से जोड़ने के लिए दारयवउश् तृतीय ने एक नहर का निर्माण करवाया था किन्तु बाद में वह बालू से पट गई ।

दारयवउश् प्रथम के शासन काल में लीडिया के अनुकरण पर यहाँ भी सोने-चाँदी के सिक्के प्रचलित किये गये । इसे डेरिक (Daric) कहा गया है । इसमें सोने एवं चाँदी का अनुपात 1: 13.5 था । इसमें असाधारण शुद्धता थी ।[1] नाप, माप तथा तौल के लिए नियम तथा साधन बनाये गये थे । ऋण, व्याज तथा भुगतान इत्यादि के लिए भी नियम बने थे । पहले तो इसे कृषि उत्पादनों तथा पशुओं द्वारा सम्पन्न किया जाता था किन्तु मुद्रा-प्रणाली के विकास से यह कम हो गया । पारसीक ऋण में रहना नहीं पसन्द करते थे । उनका कहना था कि ऋणग्रस्त मनुष्य मिथ्या भाषण करता है । श्रमिकों के वेतन का उचित प्रबन्ध रहता था । पहले तो उनके पारिश्रमिक का 1/3 भाग मुद्रा तथा शेष खाद्यान्न एवं पेय के रूप में दिया जाता था किन्तु मुद्रा के प्रचलन से श्रमिकों को उनके पारिश्रमिक का 2/3 भाग मुद्रा के रूप में दिया जाने लगा ।

धर्म

पारसीक संस्कृति में इनके धर्म का सर्वाधिक महत्त्व है । इसका प्रारम्भ से अन्त तक तीन क्रमों में विकास हुआ । प्राचीनतम काल से लेकर जरथुश्त्र के आविर्भाव तक इसका स्वरूप कुछ अन्य था । जरथुश्त्र के आविर्भाव से इसमें नवीनता आयी तथा अनेक नये सिद्धान्तों का समावेश किया गया किन्तु जरथुश्त्र के बाद पुनः इसका स्वरूप बदल गया । पारसीक धर्म का अनुशीलन इन्हीं परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में किया जा सकता है । प्राक्जरथुश्त्र युगीन पारसीक धर्म बहुत कुछ भारतीय ऋग्वैदिक धर्म के समान था क्योंकि दोनों का मूलस्रोत एक ही था । ऋग्वैदिक धर्म की भाँति यह भी बहुदेववादी था । इसमें प्रमुख स्थान अहुर को मिला था । यही देव ऋग्वैदिक देवों में वरुण नाम से प्रसिद्ध थे । आगे चलकर यही जरथुश्त्र के समय में अवेस्ता में अहुर मज्द नाम से प्रसिद्ध हुए । अवेस्ता के अहुर मज्द और वरुण में नामगत तो नहीं किन्तु चरित्रगत समानता अवश्य है ।[2] कहा जाता है कि यही देवता बाद में यूनान में ज्यूस नाम से प्रतिष्ठित हुए । अहुर की कल्पना आकाश देव के रूप में की गई थी । इसके साथ मिथ्र (मित्र), वाह्यु, (वायु) अपाम् नपात (अपां नपात्), अर्त (ऋत), यिम (यम), गन्ददेव (गंधर्व) इत्यादि देवताओं की उपासना की जाती थी । इन देवताओं के अतिरिक्त अनाहिता, किरिरिश इत्यादि देवियों की भी प्रतिष्ठा थी । इनकी उपासना विधियाँ लगभग वैसे ही थीं जैसे ऋग्वैदिक

---

1. T. R. Glover, The Ancient World, p. 90
2. A. A. Macdonell, Vedic Mythology, p. 12

युग में। अवेस्ता में इससे सम्बन्धित बहुत से ऐसे शब्द हैं जो वैदिक शब्दों की सदृशता उपस्थित करते हैं। इस दृष्टि से यस्न (यज्ञ), जओतर (होतृ) आथ्र्वन् (अथर्वन्) हओम (सोम) मन्थ्र (मंत्र) आजूइति (आहुति) इत्यादि का उल्लेख किया जा सकता है।

जरथुश्त्र : अभिधान समय एवं जन्म-स्थान

उपरोक्त धार्मिक मान्यताओं एवं विश्वासों में जरथुश्त्र नामक सन्त ने अनेक महत्त्वपूर्ण सुधार किया। जरथुश्त्र के जीवन तथा शिक्षाओं पर विचार करने के पूर्व इसके नाम, अभिजन तथा समय के विषय में थोड़ी चर्चा आवश्यक है। बर्थोलोमी (Bartholomae) जरथुश्त्र शब्द जरन्त तथा उष्ट्र दो शब्दों से निष्पन्न मानते हैं जिसका अर्थ है, ऐसा व्यक्ति, जिसके ऊँट वृद्ध हो गए हों। एक अन्य मतानुसार जिसके पास पर्याप्त उष्ट्र हों।[1] किन्तु इस निष्पत्ति से मूल अभिधान का लक्षित अर्थ उपर्युक्त संदर्भ में उचित नहीं प्रतीत होता। हाग (Haug) जरथुश्त्र का अर्थ उत्कृष्ट हृदय वाला अथवा 'प्रशंसा का अच्छा गायक' मानते हैं। हाग के अनुसार कई जरथुश्त्र थे जिनमें आलोच्य जरथुश्त्र सर्वश्रेष्ठ था। तारापोरवाला (Taraporewala) इसका अर्थ स्वर्णिम प्रकाश मानते हैं। मेहेंदले (M. A. Mehendale) इसका अर्थ 'प्राचीन बैलों का रक्षक' मानते हैं तथा प्रस्तावित करते हैं कि यह शब्द जरद्, उक्षन् तथा त्र शब्दों से बना है। प्रश्न है, क्या यह जरथुश्त्र का पैत्रिक नाम था अथवा उसने इसे बाद में धारण किया। जैकसन के अनुसार यह उसका पैत्रिक नाम था जबकि तारापोरवाला तथा मेहेंदले के अनुसार उसने इसे बाद में धारण किया था।[2]

अभिधान के समान जरथुश्त्र के समय के विषय में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। विद्वानों का एक समुदाय जरथुश्त्र को दशवीं शती ई० पू० में रखने का प्रयत्न करता है। इस मत के प्रबल समर्थक इडवर्ड मेयर हैं।[3] समर्थन में कहा जाता है कि हखामनीशिय शासकों के शासन काल में जरथुश्त्र एवं उसके सिद्धान्तों को पर्याप्त सम्मान दिया जाता था। हखामनीशिय शासक दारयवउश् प्रथम अपने लेख में अपने को अहुर मज्द का उपासक बताता हैं किन्तु जरथुश्त्र का उल्लेख नहीं करता। हखामनीशिय शासकों का जरथुश्त्री (Zoroastrian) धर्म मूल जरथुश्त्र धर्म से भिन्न

---

1. William L. Langer, An Encyclopedia of World History, p. 39
2. For detail See, M. A Mehendalae. The Significance of the Name of the Zarathustra, Proceedings of the All India Oriental Confrence, 26th Session, Uzzain, 1972, pp. 159-164.
3. Eduard Meyer, Ancient Persia; H. A. Davies, An Outline History of the World, p. 64.

था। जरथुश्त्र की गाथाओं की भाषा हख़ामनीशिय लेखों की भाषाओं से भिन्न है। भाषाशास्त्री इसे अभिलेखों की भाषा से पाँच सौ वर्ष प्राचीन मानते हैं। यदि जरथुश्त्र कुरुश् द्वितीय अथवा विस्तास्प का समकालीन था तो दारयवउश् प्रथम के लेखों में उसका संकेत क्यों नहीं किया गया ? इन तर्कों के परिप्रेक्ष्य में जरथुश्त्र को दशवीं शती ई० पू० में रखा जाता है। इसके विपरीत अधिकांश विद्वान जैसे थार्नडाइक श्लेफर, घर्शमन, विल ड्युरैण्ट, हीम, बर्न्स इत्यादि जरथुश्त्ररों को सातवीं शती ई० पू० के अन्त तथा छठवीं शती ई० पू० के प्रारम्भ में रखने का प्रयत्न करते हैं[1]। अर्द विराफ (Ard Viraf) के अनुसार जरथुश्त्र का आविर्भाव सिकन्दर से 300 वर्ष पूर्व हुआ था। आख्यानों में कहा गया है कि जरथुश्त्र को कपि विस्तास्प का संरक्षण मिला था। यह कपि विस्तास्प दारयवउश् प्रथम के पिता विस्तास्प ही थे। इस सम्बन्ध में यह भी महत्त्वपूर्ण है कि छठवीं शती ई० पू० ईरान के लिए ही नहीं अपितु समस्त एशिया में धार्मिक आन्दोलन की शती है। भारत में महावीर एवं गौतम बुद्ध, चीन में लाओत्से तथा कन्फ्यूशियस एवं फिलिस्तीन में हिब्रू सन्त अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार कर रहे थे। अतएव यदि ईरान में जरथुश्त्र का आविर्भाव इस शती में हुआ तो कोई आश्चर्य नहीं है। इन तर्कों के आलोक में जरथुश्त्र को छठवीं शती ई० प० में रखना अधिक यौक्तिक प्रतीत होता है।

अभिधान एवं आविर्भाव काल के समान जरथुश्त्र के जन्म स्थान के विषय में भी मतभेद है। अवेस्ता[2] के अनुसार जरथुश्त्र का जन्म दैत्य (Daitya) नदी पर स्थित अरियनेम वेजो (Ariyanem Vaejo) में हुआ था। जरथुश्त्र के पिता का निवास स्थान ईरान वेज (Airan Veja) प्रान्त में दरेजा नदी पर स्थित था। बंदहिश (Bundahish) के अनुसार ईरान वेज की स्थिति अर्तोपटेन (Artopaten) की ओर थी। अरियनेम वेजो का समीकरण एरान्न (Aranna) से किया गया है। अन्य परम्परा के अनुसार जरथुश्त्र का जन्म रागा (Ragha) में हुआ था क्योंकि यस्न[3] के अनुसार जरथुश्त्र पुरोहित सर्सैनियनों के काल में यहाँ रहता था। अरबी लेखक शाहरस्तानी (Shaharastani) के अनुसार जरथुश्त्र के पिता तो अर्तोपटेन के

---

1. Lynn Thorndike, A Short History of Civilization, p. 96; Robert O. Schlaifer, An Encyclopedia of World History, p. 39, R. Ghirshman, Iran, p. 162; Will Durant, The Story of Civilization, Vol. I, p. 365; Albert Hyme, An Outline of Ancient History, p. 54; E. M. Burns, Western Civilization, Vol. I. p. 90, etc.
2. Avesta, Yasna, 9-17, Encyclopaedia Britannica, Vol. xxiii, p. 987
3. Ibid, Yasna, 19-18

रहने वाले थे किन्तु माता रागा या राय (Rai) की निवासिनी थी। एल० एच० मिल्स जरथुश्त्र का जन्म स्थान रागा मानते हैं।

आविर्भाव एवं प्रारम्भिक जीवन

जरथुश्त्र के माता का नाम दुग्दोवा (Dughdova) तथा पिता का नाम पौरुशस्प (Paurushasp) था। जरथुश्त्र की जन्म-गाथा में अलौकिक तत्वों को समाविष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। कहा जाता है कि एक संरक्षक देवदूत एक हौमवृक्ष (सोमवृक्ष) में प्रविष्ट हुए। इसके रस का पान पौरुशस्प नामक किसी पुरोहित ने किया। इसी समय एक स्वर्गिक आभा दुग्दोवा नामक उपर्युक्त कुमारी के उदर में प्रविष्ट हुई। बाद में दोनों के संसर्ग से जरथुश्त्र का जन्म हुआ। प्लिनी[1] के अनुसार जन्म धारण करते ही जरथृश्त्र जोर से हंसा था जिससे जन्म के समय बालक को घेरे रहने वाली दुष्टात्माएँ भयभीत हो कर भाग गई थीं। प्रारम्भ से ही जरथुश्त्र विचारशील, चिन्तन एवं एकान्त प्रिय थे। पन्द्रह वर्ष तक किसी प्रकार शिक्षा-दीक्षा समाप्त कर चिन्तन एवं ज्ञान के लिए सुदूर एक पहाड़ी पर स्थित एकान्त स्थान में चले गये और जंगली फल-फूलों पर जीवन आश्रित करते हुए ज्ञान की खोज में लग गये। जरथुश्त्र की ज्ञाननिष्ठा तथा साधना देखकर दुष्टात्माएँ इनसे ईर्ष्या करने लगीं तथा इन्हें विनष्ट करने का कुचक्र रचने लगीं। जरथुश्त्र को विविध प्रकार की यातना दी गई तथा मार डालने का हर संभव प्रयत्न किया गया। उनके वक्षस्थल में तलवार भोंकी गई तथा पिघला शीशा पिलाया गया किन्तु जरथुश्त्र पर इन सब का किंचित् प्रभाव न पड़ा। लौह पुरुष सन्त का शरीर एक ओर अनेक यातनाएँ सह रहा था तो दूसरी ओर आत्मा सत्य-ज्ञान की खोज में लगी थी। अन्ततः दस वर्ष की अविछिन्न एवं अगाध साधना के पश्चात् अवेतक नदी पर उसे वोहु-मनो (Vohu-Mano) देवता का दर्शन मिला। वोहु-मनो जरथुश्त्र को अहुर मज्द के पास ले गये। अहुर मज्द ने जरथुश्त्र को ज्ञान की किताब 'अवेस्ता' दी तथा उसमें निहित शिक्षाओं के प्रचार-प्रसार का आदेश दिया।

ज्ञान प्राप्त कर तथा अहुर मज्द की आज्ञा शिरोधार्य कर जरथुश्त्र ज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए निकल पड़ा। किन्तु प्रचार-प्रसार के प्रयास के प्रारम्भिक दस वर्ष व्यर्थ सिद्ध हुए। जहाँ कहीं भी जरथुश्त्र गया उसका उपहास किया गया तथा अनेक प्रकार से नीचा दिखाने का प्रयास किया गया। किसी संरक्षक की खोज में वह इधर-उधर विभिन्न राज्यों में भटकता रहा। अन्त में निराश होकर पश्चिमी ईरान से पूर्वी ईरान चला गया। यहाँ उसकी भेंट कपि विस्तास्प से हुई। जरथुश्त्र ने कपि विस्तास्प को अपनी शिक्षाओं एवं सिद्धान्तों से प्रभावित कर लिया। कहा

---

[1] Pliny, Natural History, vii 15; Encyclopaedia Britannica, Vol. xxiii, 989

जाता है कि अहुर मज्द ने विस्तास्प के पास तीन देवदूतों को भेजा था जिन्होंने उसे जरथुश्त्र को गुरु मानने तथा शिक्षाओं को स्वीकार करने की सद्परामर्श दी थी । उन्होंने कहा था कि यदि वह ऐसा कर लेता है तो उसे 125 वर्ष की दीर्घायु मिलेगी । किन्तु यदि वह इसे नहीं स्वीकार करेगा तो उसका विनाश हो जायेगा । जो भी हो, कपि विस्ताप ने जरथुश्त्र को अपना गुरु स्वीकार कर लिया । कपि विस्तास्प के संरक्षण में जरथुश्त्र धर्म ईरान का एक महत्त्वपूर्ण धर्म बन गया । कहा जाता है कि इसके बाद जरथुश्त्र ने तीन विवाह किया था । इसका परिवार भरा-पूरा था । इसके ह्वरचिथ्र (Hvarechithra), इसत्वास्त्र (Isadvastra) तथा उर्वतत् नर (Urvatatnara) नामक तीन पुत्र एवं फ्रेनी (Freni), श्रिति (Sriti) तथा पोउरुचिस्ता (Pouruchista) नामक तीन पुत्रियाँ थी । जरथुश्त्र अपने धर्म-सिद्धान्तों का अधिक दिन तक प्रचार-प्रसार न कर सका । दुष्ट एवं अनिष्टकारी अह्रिमन (अङ्रो मइन्युश्) बराबर इसके विरुद्ध षड्यन्त्र करता रहा । कहा जाता है कि उसके बहकाने पर पड़ोसी राज्यों ने मिलकर विस्तास्प पर आक्रमण कर दिया । इसमें विस्तास्प तो सफल रहा किन्तु तूरानियों (Turanians) ने उचित अवसर पाकर जरथुश्त्र तथा उसके साथ आठ पुजारियों की हत्या कर दी । एक अन्य परम्परा के अनुसार विद्युत् गिरने के कारण उससे मिलकर वह स्वर्ग पहुँचा था ।[1]

जरथुश्त्र-धर्म

एकेश्वरवाद---ईरान में जरथुश्त्र के आविर्भाव के समय बहुदेववाद का बोलबाला था । लोग अनेक देवी-देवताओं, प्राकृतिक शक्तियों जैसे--पृथ्वी, अग्नि, सूर्य इत्यादि तथा पूर्वजों की उपासना करते थे । देवताओं को पशुओं की वलि दी जाती थी । तत्कालीन प्रचलित बहुदेववाद तथा परम्परागत कर्मकाण्ड के विरुद्ध जरथुश्त्र ने एकेश्वरवाद एवं सरल उपासना विधि का उपदेश दिया । सन्त आइजाइ की भाँति जरथुश्त्र ने कहा कि ईश्वर एक है तथा वही समस्त ब्रह्माण्ड का नियंता है । वह अहुर मज्द है । वही जन्म, पालन एवं मृत्यु का कारण है । गाथाओं में अहुर मज्द को सत्य एवं नैतिकता का रक्षक तथा असत्य एवं अनैतिकता का विनाशक कहा गया है । जरथुश्त्र ने अहुर मज्द का सम्बन्ध सात अमर शक्तियों अमेश·स्पेंता (Amesha Spenta)–वोहु मनो (Vohu Mano), अश-वहिस्त (Asha-Vahista) ख्शथ्र वइर्य (Khshathra Vairya), स्पेन्ता अरमइति (Spenta-Armaiti), हउर्वतत् (Haur-Vatat) एवं अमेरेतत (Ameretat) से बताया । प्रथम स्थान सदैव अहुर मज्द का था । अहुर मज्द के साथ मिलकर ये सात शक्तियाँ पवित्रता, प्रभुता, दैवीनिष्ठा, स्वास्थ्य एवं अमरता की द्योतक थीं । प्रस्तुत प्रसङ्ग में इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि भारतीय-ईरानी देव अहुर भी सप्तगुण सम्पन्न थे ।

---

[1] Encyclopaedia Britannica, Vol. xxiii,, p. 987

वैदिक पुराकथा में यह मान्यता सूर्य एवं आदित्यों के साथ मिलती है। किन्तु यहाँ इस संख्या को सात से बढ़ाकर बारह करके द्वादश आदित्यों की कल्पना की गई। किन्तु ध्यातव्य है कि भारतीय आदित्यगण, जिनकी संख्या कभी सात मानी जाती थी एवं अमेश स्पेन्ता में एक भी नाम-साम्य नहीं मिलता। यद्यपि कुछ इसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।[1]

सात अमर शक्तियों से सम्बन्ध स्थापित होने के बाद तो अहुरमज्द की महत्ता और बढ़ गई। इसी की कृपा से अग्नि, जल एवं वायु क्रमशः उष्णता, शैत्य एवं प्रवाह प्राप्त करते हैं। जरथुश्त्र स्वयं अपने अभीष्ट देव से पूछता है—हे अहुर मज्द मैं तुमसे निवेदन करता हूँ कृपया सत्यतापूर्वक बताइए कि सूर्य एवं ग्रह नक्षत्रों का मार्ग कौन निश्चित करता है? चन्द्रमा में प्रकाश एवं शैत्य का कारण कौन है? पृथ्वी को देखने वाला तथा वनस्पतियों का सृजनहार कौन है? मेघ एवं वायु को गति कौन देता है? सदेच्छा का प्रेरक कौन है?[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन सबका कर्ता अहुर मज्द स्वयं था। जरथुश्त्र की एकेश्वरवादी प्रवृत्ति का समर्थन दारयवउश् प्रथम के बेहिस्तून लेख में भी मिलता है। सम्पूर्ण लेख में वह अहुर मज्द के अतिरिक्त किसी दूसरे देवता की प्रशंसा नहीं करता। अहुर मज्द की प्रतिष्ठा के कारण ही जरथुश्त्र धर्म मज्दवाद (Mazdeism) एक अन्य नाम से भी प्रसिद्ध है।

द्वैतवाद—एकेश्वरवाद के साथ-साथ जरथुश्त्र धर्म द्वैतवाद (Dualism) से भी प्रभावित था। जरथुश्त्र धर्म की यही विशिष्टता इसे समकालीन अन्य धर्मों से पृथक् करती है। सुमेरियन, बैबिलोनियन और यहाँ तक कि होमरकालीन यूनानी धर्मों में द्वित्व की कल्पना तो की गई किन्तु इसका सन्निवेश एक ही शक्ति में स्वीकार किया गया और एक ही देवता के दो रूपों की कल्पना की गई। अपने भिन्न-भिन्न रूपों में एक ही देवता शुभ एवं अशुभ दोनों का कारण था। अर्थात् सत् एवं असत् दोनों गुण एक ही देवता में विद्यमान थे। किन्तु जरथुश्त्र धर्म में दोनों तत्त्वों को पृथक्-पृथक् देवताओं में स्वीकार किया गया। इसमें सत् का नियंता अहुर मज्द तथा असत् का नियंता अह्रिमन (Ahriman) था। अहुर मज्द सत्, ज्ञान, प्रकाश इत्यादि का नियंत्रक था तो अह्रिमन असत्, अज्ञान, अंधकार इत्यादि का। जिस प्रकार अनन्त काल से सत्-असत्, ज्ञान-अज्ञान एवं प्रकाश-अंधकार के बीच निरन्तर संघर्ष चला आ रहा है। उसी प्रकार अहुर मज्द तथा अह्रिमन में भी संघर्ष चला आ रहा है। अहुर मज्द की सहायता देवदूत करते हैं जबकि अह्रिमन की दुष्टात्माएँ। प्रश्न है इस संघर्ष का कभी अन्त भी होगा या नहीं? यदि अन्त होगा तो सफलता किसे मिलेगी? जरथुश्त्र इन प्रश्नों के उत्तर के प्रति उदास नहीं था। वह एक आशावादी सन्त था तथा अंतिम सुख, शान्ति एवं न्याय में विश्वास करता था। वह मानता था कि पृथ्वी की

---

1. A. A. Macdonell, Vedic Mythology, p. 83
2. तुलनीय : शुक्ल यजुर्वेद, अध्याय 23

सम्पूर्ण आयु 12,000 वर्ष है। 9,000 वर्ष बाद पुनः उसका आविर्भाव होगा तथा सर्वत्र आनन्द की किरण फैल जायगी। इसके बाद एक मसीहा का आविर्भाव होगा जो सर्वत्र शुभ का संचार करेगा। अन्त में अहुर मज्द अह्रिमन को पराजित कर देगा। सभी मृतक पुनर्जीवित हो जाएँगे। सत्कर्मी स्वर्ग का भोग करेंगे तथा दुष्कर्मी नरक। विश्व में नवीन व्यवस्था स्थापित होगी तथा सर्वत्र सुख एवं शान्ति का साम्राज्य होगा। इस प्रकार जरथुश्त्र धर्म में युगान्त विषयक मान्यताओं को पर्याप्त स्थान मिला था। अंतिम न्याय की मान्यता का यह एशिया में प्रथम उदाहरण है।[1] इस तरह हम देखते हैं कि अंतिम न्याय एवं सत्-असत् के बीच संघर्ष की कल्पना करके जरथुश्त्र ने द्वैतवाद की स्थापना की किन्तु घर्शमन महोदय इस द्वैतवाद को केवल ऊपरी दिखावा मानते हुए जरथुश्त्र को एक प्रकार से अपूर्ण द्वैतवादी मानते हैं।[2]

कर्मकाण्ड एवं मागी

जरथुश्त्र धर्म में बाद में कर्मकाण्ड को भी महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। प्रारम्भ में यह कर्मकाण्ड सरल एवं संयत था। किसी ऊँचे स्थान पर एक अग्निवेदिका बनाकर पुजारी दिन में पाँच बार सुगंधित पदार्थ छोड़ता था। यह अग्नि सदैव प्रज्वलित रहती थी। इस वेदिका के अतिरिक्त प्रत्येक जरथुश्त्र-धर्म के अनुयायियों को अपने घर में सदैव अग्नि प्रज्वलित रखना पड़ता था। अग्नि की पवित्रता का वे विशेष ध्यान रखते थे। यहाँ तक कि इसे मुख से जलाते भी नहीं थे। यह प्रथा आज भी पूर्वी ईरान में प्रचलित है। हमारे यहाँ मनु ने भी मुख से अग्नि जलाने का निषेध किया है।[3] अग्नि की पवित्रता अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए वे शव की दाह-क्रिया भी नहीं करते थे। अग्नि के साथ-साथ पृथिवी, वायु तथा जल को भी वे पवित्र मानते थे और इनकी पवित्रता सदैव बनाए रहते थे। इसी लिए मृतकों को न तो दफनाते थे न जल में प्रवाहित करते थे। उनका विश्वास था कि ऐसा करने से ये तत्त्व अपवित्र हो जाएंगे। हेरोडोटस के अनुसार ईरान में न तो मन्दिर थे न देवताओं की मूर्तियाँ ही। किन्तु इस सम्बन्ध में ध्यातव्य है कि हेरोडोटस का कथन यूनानी दृष्टि से ही सही हो सकता है, पारसीक दृष्टि से नहीं। क्योंकि हम जानते हैं कि यहाँ मन्दिर थे। वास्तव में बाद में यहाँ अग्निवेदिकाओं के स्थान पर अग्नि-मन्दिरों की स्थाना की गई। हखामनीशिय युग के तीन मन्दिरों के विषय में सूचनाएँ हैं। जिसमें से दो (एक पेसारगेदाय में तथा दूसरा नक्शी रुस्तम में) का निर्माण कुरुश् द्वितीय ने तथा एक का संभवतः अर्तखशयार्श द्वितीय ने

---

[1] H. A. Davies, An Outline History of the World, p. 64

[2] R. Ghirshman, Iran, p. 162

[3] Manusmriti, 4-53; Sacred Books of the East, Vol. xxv, p. 137

(सूसा में) करवाया था। इन मन्दिरों में देवताओं को नाना प्रकार की भेंट चढ़ाई जाती थी तथा यज्ञ किए जाते थे।

जरथुश्त्र धर्म में मागियों का विशेष महत्त्व था। मार्केलिनस (Marceilinus 41h Century A. D.) के अनुसार मागी नामक मीडिया का कुल परम्परागत पुरोहिती पेशा करता था। स्ट्रैबो भी मागी का सम्बन्ध पवित्र कुल से जोड़ता है। हेरोडोटस हमें बताता है कि मीड जिन कई कुलों में बँटा था उसमें मागी कुल भी एक था। इन साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में इसमें संदेह नहीं रह जाता कि मागी पुरोहित मागी कुल से ही सम्बन्धित थे तथा बाद में कुल नाम के आधार पर ही उन्हें इस नाम से संबोधित किया जाने लगा।[1] अपने सदाचार एवं संयमित जीवन तथा बुद्धि के बल पर इन्होंने हख़ामनीशिय शासकों पर अच्छा प्रभाव डाल रखा था। पारसीक शासक को मागियों की शिष्यता स्वीकार करना पड़ता था। सेना के साथ इन्हें धार्मिक अनुष्ठानों के सम्पादन के लिए रखा जाता था तथा पेसारगेदाय के मन्दिर में आयोजित किये जाने वाले राज्याभिषेक संस्कार में इनकी उपस्थिति आवश्यक मानी जाती थी। नवयुवकों की शिक्षा का भार भी इन्हीं मागी पुजारियों पर था। जैसा कि कहा गया है, मागी सरल जीवन व्यतीत करते हुए एकपत्नी व्रत का पालन करते थे। ये निरामिष थे तथा इनकी वेश-भूषा सरल थी। अपने इसी ज्ञान सम्मत एवं सरल जीवन के कारण ये न केवल ईरान में बल्कि यूरोप में भी प्रसिद्ध थे। यूनानी इनके बड़े प्रशंसक थे। मागी पुजारी स्वप्नों की व्याख्या करके भविष्यवाणियाँ भी करते थे इसी कारण प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व इनकी सद्परामर्श ली जाती थी। इनमें से कुछ अभिचार के भी ज्ञाता थे। अंग्रेजी के मैजिक (Magic) शब्द की उत्पत्ति मागी से ही हुई है।

नैतिक आदर्श

जरथुश्त्र नैतिकवादी था इसी लिए उसका धर्म नैतिक धर्म बन गया। जरथुश्त्र की दृष्टि में पुण्य एवं पाप साथ-साथ है। यह मनुष्य की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह पुण्य करता है अथवा पाप। किन्तु जो कुछ वह करेगा उसका फल उसे मिलेगा। पुण्य करने वाला परलोक में सुख प्राप्त करेगा तथा पाप करने वाला कष्ट। यह सिद्धान्त कुछ उसी प्रकार है जैसे हमारे यहाँ उपनिषदों में प्रतिपादित है जिसके अनुसार श्रेय तथा प्रेय दोनों साधन अपने-अपने ढंग से मनुष्य को आकृष्ट करते हैं। इसमें जो श्रेय का वरण करता है वह परमपद एवं मोक्ष प्राप्त करता है और जो प्रेय का वरण करता है उसे अनित्य भोग मिलते हैं जो दुख रूप ही हैं, अतः

---

[1] James Darmesteter, The Zend Avesta, Part I, Sacred Books of the East, Vol. iv, pp. xivi-vii

वह वास्तविक सुख से वंचित हो जाता है ।[1] जरथुश्त्र ने मनुष्य को सदाचारी एवं पुण्य-कर्मा बनाने के लिए जीवन को भी शुभ एवं अशुभ शक्तियों का रणक्षेत्र स्वीकार कर लिया। जिस प्रकार दैवी जगत् में शुभ एवं अशुभ शक्तियों के प्रतिनिधि अहुर मज्द तथा अह्रिमन में संघर्ष होता है उसी प्रकार मानवीय जगत् भी शुभ एवं अशुभ का संघर्ष है । इसमें शुभ का अनुसरण करने वाला अहुर मज्द की सहायता करता है तथा अशुभ का अनुसरण करने वाला अह्रिमन की । जिस प्रकार अहुर मज्द एवं अह्रिमन के संघर्ष में सत् के प्रतीक अहुर मज्द की असत् के प्रतीक अह्रिमन पर विजय मिलती है वैसे सत् का अनुकरण करने वाला भी असत् के अनुयायी पर विजय प्राप्त कर सकता है ।

अवेस्ता में सदाचार विषयक जो आदर्श प्रतिपादित किये गये उसके अनुसार मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य शत्रु को मित्र बनाना, दुष्ट को पुण्यात्मा बनाना अज्ञानी को ज्ञानी बनाना है । इनके साथ-साथ जिन अन्य गुणों की प्रशंसा की गई है उनमें कर्मिष्ठता, शासकों की आज्ञा मानने तथा भूमि की जुताई इत्यादि का उल्लेख कर सकते हैं । इनकी दृष्टि में अभिमान, अतिभोजिता, आलस्य, लोलुपता, क्रोध, कामुकता, बलात्कार, भ्रूणहत्या, मिथ्यापवाद इत्यादि निंद्य एवं त्याज्य थे । ब्याज लेना भी पाप माना गया था । ज़रथुश्त्र अधिक सम्पत्ति-संचय का विरोधी तथा निवृत्तमार्गी था । इसके धर्म में काया-क्लेश, व्रत, उपवास एवं तपश्चर्या को कोई महत्त्व नहीं मिला था । उसका विश्वास था कि इससे शरीर तथा मस्तिष्क क्षीण हो जाता है तथा मनुष्य कृषि-कर्म एवं अन्य कर्त्तव्यों के सम्पादन के योग्य नहीं रह जाता ।

परलोकवाद—जरथुश्त्र आत्मा तथा शरीर को दो भिन्न-भिन्न तत्त्व स्वीकार करता था । लौकिक शरीर उसकी दृष्टि में आत्मा के लिए बंधन था । मृत्यु के बाद शरीर विनष्ट हो जाता है तथा आत्मा का अस्तित्व बना रहता है । स्वर्ग एवं नरक के भोग इसे भोगने पड़ते हैं । इन अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में जरथुश्त्र की परलोक विषयक मान्यता स्पष्ट हो जाती है । इसका स्पष्ट उल्लेख वेंदीदाद[2] में मिलता है । इसके अनुसार मृत्यु होने पर मृतात्मा तीन दिन तक शरीर के आस-पास या घर में भ्रमण करती रहती है । इसके बाद उसे चिनवद् परेतु (Chinavad Paretu) से होकर इतर लोक में जाना पड़ता है । इस पुल का निर्माण अहुर मज्द करता है । पुण्यात्माओं के जाते समय यह पुल नौ जबलिन चौड़ा हो जाता है और मृतात्मा स्वर्ग पहुँच जाती है जहाँ अत्यन्त स्वस्थ एवं लम्बी कद की एक कुमारी उसका स्वागत करती है । यहाँ मृतात्मा अहुर मज्द एवं अन्य के साथ आनंदित जीवन व्यतीत करती है । किन्तु मृतात्मा के पापकर्मा होने पर यह पुल सूत तुल्य

---

[1] कठोपनिषद् 2. 1. 2.

[2] Vendidad, XIX, 28-29, Sacred Books of the East, Vol. iv, p. 212

संकरा हो जाता है जिससे मृतात्मा नीचे, शैतान के लोक में गिर पड़ती है। यहाँ उसे नाना प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं किन्तु नरक की यातनाएँ भी शाश्वत नहीं थीं। क्योंकि उनका विश्वास था कि एक समय ऐसा आयेगा जब सभी मृतात्माएँ पुनर्जीवित हो जायेंगी।

जरथुश्त्र धर्मावलम्बियों की पारलौकिक मान्यता केवल आत्मा तक ही सीमित थी। मृत शरीर के विषय में वे कोई विशेष चिन्ता नहीं करते थे। सिद्धान्ततः जरथुश्त्र समाधीकरण, अग्निदाह एवं जलप्रवाह तीनों के विरुद्ध था। शव को किसी ऊँचे स्थान पर दखमस (Dakhmas) नामक एक विशेष प्रकार का निर्माण कर छोड़ देते थे। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि शायद जरथुश्त्र के इस सिद्धान्त को पूर्ण मान्यता नहीं मिली थी क्योंकि पारसीकों में समाधीकरण की प्रथा प्रचलित थी।

जरथुश्त्र धर्म का महत्त्व एवं अन्त

विल ड्युरैण्ट[1] के अनुसार कुल मिलाकर यह एक अच्छा धर्म था तथा अपने समकालीन अन्य धर्मों की तुलना में कहीं अधिक उदार, अहिंसक एवं मूर्तिपूजारहित था। किन्तु विद्वान् लेखक का विचार पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं है। जरथुश्त्र धर्म का समकालीन भारतीय जैन तथा बौद्ध धर्म किसी प्रकार इससे कम उदार; अहिंसक एवं मूर्तिपूजारहित नहीं था। जरथुश्त्र धर्म में तो पशुवलि तक प्रचलित थी जबकि जैन तथा बौद्ध धर्म सर्वथा इससे मुक्त थे। दोनों धर्मों में मूर्ति-पूजा का भी विधान प्रारम्भ में नहीं था। डिक्रूज[2] के अनुसार जरथुश्त्र धर्म विश्व को ईरान की एक महान् देन है। हखामनीशिय साम्राज्य के संगठन के लिए इसने वही कार्य किया जो समकालीन कन्फ्यूशियसवाद ने चीनी साम्राज्य तथा ईसाई धर्म एवं मुस्लिम धर्म ने क्रमशः परवर्ती यूरोप एवं अरब देशों के लिए। बर्न्स[3] उचित ही कहते हैं कि प्राचीन पारसीक प्रभावक तत्त्वों में धर्म का स्थान सर्वोपरि है। जरथुश्त्र प्रथम व्यक्ति था जिसने सत् एवं असत् के बीच पारस्परिक संघर्ष का अनुभव किया तथा नैतिकता को तर्क की कसौटी पर कसने की चेष्टा की।[4] जरथुश्त्र धर्म में राजधर्म एवं लोक धर्म जैसा कोई अन्तर नहीं था। घर्शमन[5] महोदय प्रस्तावित करते हैं कि जरथुश्त्र धर्म का विकास बौद्ध धर्म की भाँति प्राचीन आर्य-धर्म के यज्ञों एवं हिंसात्मक संस्कारों के विरोध में किया

---

[1] Will Durant, The Story of Civilization, Vol. I, 371

[2] Edward D'cruz, A Survey of World Civilization, p. 74

[3] E. M. Burns, Western Civilization, Vol. I, p. 90

[4] Nietzsche, Thus Spoka Zarathustra. Translated by R. J. Hollingdale, p. 30

[5] R. Ghirshman Iran, p. 163

गया था। किन्तु दोनों का भविष्य एक-सा न रहा। जरथुश्त्र धर्म केवल कुछ सीमित समुदायों में प्रचलित है जबकि बौद्ध धर्म का प्रर्याप्त प्रसार है। घर्श्मन महोदय के कथन का अंतिम भाग कि बौद्ध धर्म अनुयायी जरथुश्त्र के धर्म अनुयायियों से अधिक हैं तो सही प्रतीत होता है किन्तु यह कहना कि बौद्ध धर्म का विकास भी क्रूर एवं हिंसात्मक संस्कारों के विरोध में हुआ था उचित नहीं प्रतीत होता। वैदिक यज्ञों में पुरुषमेध एवं अश्वमेध प्रचलित अवश्य थे किन्तु प्रथम को तो केवल विशिष्ट अवसरों पर ही सम्पन्न किया जाता था। उपनिषदों में अहिंसा की महत्ता पर ही बल दिया गया है।[1] वर्तमान समय में यह नहीं कहा जा सकता कि बौद्ध धर्म का विकास वैदिक यज्ञों की क्रूर एवं हिंसात्मक प्रवृति के विरोध में ही हुआ था।[2]

यह एक सार्वभौम सिद्धान्त है कि सामान्य मनुष्य का झुकाव तर्क की अपेक्षा पौराणिकता की ओर अधिक होता है। इसलिये किसी ऐसे धर्म का जो विशुद्ध तर्क पर आधारित हो अधिक दिन तक टिक पाना कठिन हो जाता है। अनेक अच्छाइयों के बावजूद भी जरथुश्त्र धर्म अधिक दिन तक अपने मूलरूप में न रह सका। बाद में इसमें अनेक शाखाएँ-प्रतिशाखाएँ उत्पन्न हुईं तथा मूल जरथुश्त्र धर्म इसी में विलीन हो गया। वास्तव में जरथुश्त्र जिन दोषों को दूर करना चाहता था वे समूल नहीं नष्ट हो सके थे। जरथुश्त्र के बाद वे पुनः सम्मान पाने लगे। इस दृष्टि से अंधविश्वास, मंत्र-तंत्र तथा पुरोहितों का उल्लेख किया जा सकता है। समय के साथ-साथ जरथुश्त्र धर्म में भी कुछ विदेशी धार्मिक तत्त्व स्थान पा गये। इस दृष्टि से विशेष रूप से कैल्डियन धर्म का उल्लेख किया जा सकता है। दोनो धर्मों के परस्पर मिलने से पारसीक द्वैतवाद तथा मसीहावाद को कैल्डियन भाग्यवाद एवं निराशावाद से घुलने-मिलने का अवसर मिला। इस मिश्रण के फलस्वरूप ईरान में जिन धार्मिक सम्प्रदायों का उदय हुआ उनमें मित्थ्र, मनीची (Manichi) तथा ग्नोस्टिक (Gnostic) सम्प्रदायों का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें मित्थ्र सम्प्रदाय ही हमारे अधेतव्य काल से सम्बन्धित है। अन्य दो इसके बाद के हैं।

मित्थ्र का अस्तित्व प्राचीन काल से ही चला आ रहा था। जरथुश्त्र के समय में इसे अहुर मज्द का सहायक माना गया जो अह्रिमन के साथ संघर्ष में उसकी सहायता करता था किन्तु अहुर मज्द की प्रतिष्ठा के कारण इसका प्रभाव प्रायः क्षीण ही था। जरथुश्त्र के हटते ही मित्थ्र की महत्ता बढ़ने लगी तथा इससे सम्बन्धित बहुत से आख्यान गढ़ लिये गये। अनाहिता देवी, मित्थ्र तथा अहुर मज्द के त्रिगुट को बाद में विशेष महत्ता मिल गई। हखामनीशिय लेखों में मित्थ्र का

---

1. मुण्डकोपनिषद् 1: 2-7: छान्दोग्योपनिषद् 3.17.4
2. For detail See Dr. G. C. Pande Studies in the Origins of Buddhism

उल्लेख अर्तखशयार्श द्वितीय के समय से मिलने लगता है। मित्र सम्प्रदाय में धार्मिक अनुष्ठानों को विशेष महत्त्व मिला था। इसका उद्देश्य ईश्वर की निकटता प्राप्त करना था। इसमें मद्यपान किया जाता था तथा 25 दिसम्बर को पुनीत अवसर के रूप में मानते थे। इसे बाद में ईसाइयों ने ग्रहण किया।

कला

प्राचीन पारसी जैसे स्वस्थ एवं सुन्दर थे वैसे कला के प्रति भी उनकी रुचि थी। वे स्वच्छ एवं आकर्षक भवनों में रहते तथा उसे विविध साज-सज्जा के उपकरणों से सजाते थे। लेकिन यह उनकी विशुद्ध मौलिक उपलब्धि नहीं थी। इसके लिए उन्हें बहुत कुछ विदेशियों पर आश्रित होना पड़ता था। इसका प्रभाव उनकी कला पर पड़ा जिससे उनकी मौलिकता जाती रही। डिओडोरस के अनुसार पारसीकों ने मिस्री कलाकारों से सहायता ली थी। प्लिनी के अनुसार वास्तुकृतियों के सम्वर्द्धन में यूनानी कलाकार नियोजित किये गये थे। यदि कलाकृतियों का अध्ययन किया जाय तो पारसीक कला में मिस्री एवं यूनानी कला विशेषताओं के साथ-साथ लीडियन, असीरियन तथा बैबिलोनियन कला तत्त्व भी प्रयुक्त दिखायी पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, कुरुश् द्वितीय का स्मारक लीडियन शैली का प्रतिनिधित्व करता है तो इनके पाषाण स्तम्भों पर असीरियन शैली का प्रभाव स्पष्टतः दिखायी पड़ता है। प्रस्तर-चित्रों पर मिस्री प्रभाव है तो उस पर बनी मूर्तियाँ निनिव तथा बैबिलोनियन प्रभाव के अन्तर्गत निर्मित दिखाई पड़ती हैं। किन्तु पारसीक कला की ग्रहणशीलता के सम्बन्ध में यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इन्होंने जिन विदेशी तत्त्वों को ग्रहण किया उन्हें इतना अधिक आत्मसात् कर लिया कि उनकी विदेशियता जाती रही तथा वे मौलिक बन गये। यूनानी कलाकारों ने पारसीक कला-कृतियों की अनुकृति पर अपने यहाँ इसका विकास किया। पर्सिपोलिस तथा एथेंस के भवनों में केवल सीढ़ी का अन्तर दिखायी पड़ता है। पारसीक कला धर्म के प्रभाव से सर्वथा मुक्त रही। यह लोक कला न होकर दरबारी कला थी, अर्थात् इसका सम्वर्द्धन शासकीय संरक्षण में और उन्हीं के लिए हुआ था। जनसाधारण को इसमें कोई महत्त्व न दिया गया। कलाकारों का उद्देश्य केवल पारसीकों को प्रसन्न करना था। इसलिए यहाँ सार्वजनिक भवन तथा जनसाधारण की मूर्तियाँ जो किसी समय यूनान में बनी थी स्थान न पा सकीं। इस प्रकार की कला हमारे यहाँ मौर्यकाल में विकसित हुई थी। विभिन्न देशों एवं प्रदेशों पर विजय प्राप्त करने के बाद लूट-पाट से जो धन मिला उसका उपयोग नगर-निर्माण तथा भवनों की रचना में किया गया। इसी कारण पारसीक कला मुख्यतः वास्तुकला तक ही सीमित रह गई। मूर्तिकला, चित्रकला इत्यादि का विकास प्रायः नहीं दिखाई पड़ता। पारसीक वास्तुकला के अन्तर्गत इनके भवनों एवं समाधियों का उल्लेख किया जा सकता है।

वास्तुकला के आदर्श उदाहरण के रूप में पर्सिपोलिस के एक चबूतरे का उल्लेख कर सकते हैं जिसे आजकल 'तख्ते जमशेद' नाम से जाना जाता है। लगभग 457 × 27.5 × 12.2 मीटर विस्तृत इस चबूतरे का निर्माण चूना-पत्थर द्वारा किया गया है। इस चबूतरे के दोनों ओर प्रशस्त एवं आकर्षक सीढ़ियाँ बनायी गई हैं। संभवतः इनका निर्माण मेसोपोटामिया के जिकुरत के आधार पर किया गया था। ये सीढ़ियाँ इतनी प्रशस्त हैं कि इन पर दश अश्वारोही सफलतापूर्वक चल सकते हैं। जहाँ सीढ़ियाँ मिलती हैं वहाँ एक आकर्षक द्वार बनाया गया है। इसी से खशयार्श का विशाल कक्ष (Hall of Xerexes) मिलता है। सोपान सीढ़ी के बायें दीवाल में शासक के अंगरक्षकों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। दाहिनी ओर विभिन्न प्रान्तों से उपहार लाकर भेंट प्रस्तुत करती हुई जनता का दृश्य है। खशयार्श का विशाल कक्ष वर्गाकार 45 मीटर विस्तृत है। इसमें कुल 72 स्तम्भ प्रयुक्त किये गये थे किन्तु अब मात्र 13 ही शेष हैं। यूनानी तथा मिस्री स्तम्भों की अपेक्षा ये पतले हैं। इनकी ऊँचाई लगभग 19.8 मीटर है। इनका निचला भाग अधोमुख कमल अथवा घण्टे की आकृति के समान है तथा शीर्ष भाग पर परस्पर संयुक्त दो बैलों की मूर्तियाँ बनायी गई हैं। बहुत दिनों तक विदेशी एवं भारतीय विद्वानों की यह आम धारणा बनी थी कि मौर्यकालीन स्तम्भों का विकास इन्हीं स्तम्भों से किया गया था।[1] किन्तु डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अत्यन्त तर्कपूर्ण ढंग से इसे अस्वीकार करते हुए भारतीय मौर्यकालीन स्तम्भों को सर्वथा देशज स्वीकार किया है।[2] स्तम्भों के संगमरमरनिर्मित भाग नष्ट हो गये हैं किन्तु जो शेष हैं वे देखने में काफी आकर्षक है। ये नखलिस्तान में उगे हुए ताड़ के वृक्ष के समान लगते हैं। खशयार्श के इस कक्ष के पीछे सौ स्तम्भों वाला कक्ष (Hall of Hundred Columns) स्थित था। किन्तु अब केवल एक स्तम्भ, द्वार-मण्डप तथा आधार-योजना के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं है। द्वार-मण्डप पर सिंहासनस्थ शासक अङ्कित है। शासक की रक्षा सपक्ष अहुर मज्द कर रहा है। शासक की मूर्ति में उसके शक्ति, प्रभाव एवं दर्पपूर्ण व्यक्तित्व को स्पष्टतः अङ्कित करने में पारसीक कलाकार को पूर्ण सफलता मिली है। विल ड्युरैण्ट के अनुसार ये भवन विश्व के सबसे सुन्दर भवन थे।[3]

पर्सिपोलिस के अतिरिक्त हखामनीशिय शासकों के काल में बने एकबतना तथा सूसा के भवन पूर्णतः कालकवलित हो गये हैं। अर्तखशयार्श द्वितीय नेमोन के प्रासाद के कुछ अवशेष मिले हैं। इसका निर्माण ईंटों की सहायता से किया गया था तथा उत्तम कोटि की चमकीली टाइल्स (Glazed Tiles) लगी थीं। यहीं से प्रसिद्ध धनुर्धरों की

---

1. Percy Brown, Indian Architecture, pp. 8-9; C. Sivarammurti, Indian Sculpture, p. 17 etc.
2. V. S. Agrawal, Studies in Indian Art, pp. 70-74
3. Will Durant, The Story of Civilization, Vol. I, p. 380

चित्र-वल्लरी (Friez of Archers) मिली है जिसमें सम्राट् के रक्षकों को चित्रित किया गया है। इनके वस्त्र अत्यन्त आकर्षक हैं। इनकी भाव-भंगिमा से स्पष्ट हो जाता है कि ये शासक की रक्षा के प्रति कितने सजग हैं।

भवनों के बाद पारसीक वास्तुकला के अन्तर्गत हख़ामनीशिय शासकों की समाधियों का उल्लेख आवश्यक है। इनका निर्माण दो प्रकार से किया गया था। कुछ समाधियाँ ईंट एवं पत्थर की सहायता से बनायी गईं थीं तथा कुछ पर्वतों को काट कर गुहा-समाधियों के रूप में। पेसारगेदाय में कुरुश् द्वितीय की प्रस्तर-समाधि का उल्लेख प्रथम प्रकार की समाधि के रूप में किया जा सकता है। यह सिकन्दर के आक्रमण से बच गयी थी। इसका निर्माण संभवत: यूनानी कलाकारों द्वारा किया गया था। निस्संदेह अपने समय में यह बहुत आकर्षक रही होगी किन्तु अब इसकी सुन्दरता का कोई अंश शेष नहीं है। गुहा-समाधियों में दारयवउश् प्रथम की समाधि का उल्लेख किया जा सकता है। इसका निर्माण पहाड़ी को काट कर किया गया था। इसका विस्तार 6×1.82 मीटर है। इसके प्रवेश द्वार पर चार स्तम्भ हैं जो एक छत को सहारा दे रहे हैं। इसमें सम्राट् को अहुर मज्द की पूजा करते हुए चित्रित किया गया है तथा पारसीकों की मूर्तियाँ बनायी गई हैं।

बौद्धिक उपलब्धियाँ

हख़ामनीशिय सम्राट् साम्राज्य-विस्तार एवं उसके संगठन में ही अधिक व्यस्त रहे एतदर्थ बौद्धिक क्षेत्र में पारसीकों को अधिक प्रगति करने का अवसर न मिला। इनका मुख्य उद्देश्य नागरिकों को वीर सेनानी तथा योद्धा बनाना था, साहित्यकार अथवा वैज्ञानिक नहीं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस क्षेत्र में वे बिल्कुल पीछे ही रह गये। असीरियन कीलाक्षर लिपि को पारसीकों ने किंचित् संशोधन एवं परिवर्द्धन के साथ अपनालिया। यहाँ चित्रों की संख्या घटा कर छत्तीस कर दी गई। इस लिपि के अतिरिक्त यहाँ एरेमियन लिपि भी प्रचलित थी। एशिया माइनर के निवासियों के सम्पर्क में आने के पूर्व इनकी कोई लिखित भाषा नहीं थी। हख़ामनीशिय युग में बड़े घरों में प्राचीन फारसी (Old Persian) बोली जाती थी। इसका संस्कृत से निकट का सम्बन्ध था क्योंकि दोनों ही प्राचीन भाषाएँ थीं तथा दोनों का मूलस्रोत (भारोपीय वर्ग की भाषा) एक था। प्राचीन फ़ारसी से ही बाद में जेन्द (Zend) एवं पह्लवी भाषाएँ प्रकट हुईं। जेन्द का प्रयोग अवेस्ता के लिये किया गया तथा पह्लवी से परवर्ती फ़ारसी का विकास हुआ। हख़ामनीशिय लेखों में प्रयुक्त भाषा ईरान के पश्चिमी भाग की तत्कालीन लोक प्रचलित भाषा है। इसे ही मध्य तथा आधुनिक फ़ारसी की जननी माना जा सकता है। यद्यपि अभिलेखों की इस भाषा तथा अवेस्ता की भाषा में बहुत समानता है। किन्तु दोनों में कुछ अन्तर है। जैसे अवेस्ता का ज् यहाँ द् हो गया है। इसी प्रकार अवेस्ता का जस्त

प्राचीन फ़ारसी में दस्त बन गया। इन अभिलेखों में हमें प्राचीन फ़ारसी के मध्य कालीन फ़ारसी की ओर ढलने के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। इसमें जो प्राचीन लेख हैं उनमें प्राचीन आर्य भाषाओं की-सी रूप बहुलता है किन्तु 400 ई० पू० के आस-पास के लेखों में यह प्रवृत्ति कम होने लगती है तथा शब्द-रूप के प्रयोग में अनेक अनियम प्रकट होने लगते हैं।

साहित्य : अवेस्ता

प्राचीन ईरानियों का विश्वास था कि लिखित भाषा केवल व्यापारियों के लिए है। इसी लिए वे साहित्य रचना की ओर उन्मुख न हुए। अनेक पौराणिक आख्यान वे बना चुके थे किन्तु उन्हें लिखित रूप न दे सके। प्रणय गीत में भी पारसीक रुचि लेते थे किन्तु दुर्भाग्य से उसका भी कोई उदाहरण नहीं मिला है। इनकी कहानियों के कुछ संकेत द अरबियन नाइट्स (The Arabian Nights) में मिलते हैं। प्राचीन पारसीकों की साहित्यिक रचना के रूप में अच्छी तरह हम केवल अवेस्ता से परिचित हैं। जिस पर कुछ विस्तार से चर्चा आवश्यक है।

अवेस्ता नाम पह्लवी अविस्ताक (Avistak) का परवर्ती रूप है। इसके वास्तविक अर्थ के विषय में ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है। वेदों की भाँति इसका आशय भी संभवतः ज्ञान या ज्ञान के ग्रंथ से है। अवेस्ता का ईरानी साहित्य में वही स्थान है जो भारतीय साहित्य में वेदों का। यह जरथुश्त्र के मंत्र-सूक्तों का वैसा ही संग्रह है जैसी हमारी वैदिक संहिताएँ। अरबी इतिहासकार तबरी एवं मसूदी के अनुसार अवेस्ता 12,000 गोचर्म-पत्रों पर लिखा गया था। एक अन्य पह्लवी अनुश्रुति से पता चलता है कि इसमें 1,200 अध्याय थे। प्लिनी हर्मिपस (Hermippus) के उस कथन की ओर संकेत करता है जिससे पता लगता है कि जरथुश्त्र की किताब में 20,00,000 पंक्तियाँ थीं।[1] अवेस्ता का आज जो रूप हमें मिलता है वह मूल अवेस्ता न होकर उसका बचा-खुचा अंश ही है। कहा जाता है कि मूल अवेस्ता की दो प्रतियाँ विस्तास्प ने तैयार करवाई थीं। सिकन्दर के आक्रमण के फलस्वरूप जब पर्सिपोलिस नगर जला दिया गया तो वहाँ का विशाल ग्रंथागार भी जल गया। इस अग्निकाण्ड में अवेस्ता की एक प्रति जल कर राख हो गई तथा दूसरी भी किसी प्रकार विनष्ट हो गई। पारसीकों के अनुसार दूसरी प्रति यूनानी अपने साथ उठा ले गये तथा उसका अनुवाद कर उन्होंने समस्त वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त कर लिया। मूल अवेस्ता के नष्ट हो जाने से केवल कुछ अंश ही श्रुति परम्परा से बचे रहे। खोस्रव अनोशर्वन (Khosrava Anosharvan, 531-579 A.D.) द्वारा ज्ञात होता है कि अवेस्ता के संकलन का कार्य अर्सेकिडीज (Arsacides) वंश के शासक बोलोगेसीज (Vologases or Balkhash) के शासन काल में प्रारम्भ हुआ। इसके बाद तृतीय शती ई० पू० के

---

[1] Zend Avesta, Part I, Sacred Books of the East, Vol. IV, p. 42

प्रथम चरण में ससैनियन शासक अर्देशिर बाबगान (Ardeshir Babgan) सिंहासन पर बैठा। इसके समय में भी संकलन का कार्य जारी है किन्तु इसमें विशेष प्रगति इसके पुत्र शापुर प्रथम (Shapur I) तथा शापुर द्वितीय के शासन काल में की गई। इसकी पूर्णता अंतिम के समय में ही हुई। शापुर द्वितीय के मंत्री आदरबाद मेरेस्पेन्द (Adarbad Mahraspand) ने इसे शुद्ध किया तथा नस्कों की संख्या नियत की। यद्यपि वर्तमान समय में यह नहीं कहा जा सकता कि इन अनुश्रुतियों में कितनी सत्यता है। किन्तु इतना हम जानते हैं कि आज जो अवेस्ता का रूप है वह आदरबाद मेरेस्पेन्द का ही दिया हुआ है। अवेस्ता का जो रूप हमारे पास है उसे निम्न भागों में विभाजित किया गया है :—

1. यस्न तथा गाथाएँ (Yasna and Gathas)
2. विस्पेरेद (Visparad)
3. यश्त (Yast)
4. न्याइश गाह (Nyayish Gah)
5. वेन्दीदाद (Vendidad)
6. हादोख्त नस्क आदि (Hadhokht Nosk etc.)

यस्न से लेकर वेन्दीदाद तक की सामग्री को मोटे तौर पर दो वर्गों में विभाजित किया गया है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत यस्न, विस्पेरेद तथा वेन्दीदाद रखे जाते हैं। यही अवेस्ता का मुख्य भाग है। इसमें धार्मिक क्रिया-कलापों से सम्बन्धित सामग्री है। अवेस्ता की पाण्डुलिपि में यह वर्ग दो रूपों में मिलता है : प्रथम में पह्लवी अनुवाद के साथ ज्यो का त्यों तथा द्वितीय में धार्मिक कृत्यों की आवश्यकताओं के अनुरूप एक अंश दूसरे के साथ मिश्रित रूप में। द्वितीय रूप को वेन्दीदाद सादह (Vendidad Sadah) या शुद्ध वेन्दीदाद कहा जाता है। द्वितीय वर्ग में यश्त, न्याइश गाह अंश आते हैं। इसे खोर्द अवेस्ता (Khord Avesta) या लघु अवेस्ता (Small Avesta) नाम दिया गया है। यस्न में सूक्तों तथा स्तुतियों का संग्रह है। इसमें कुल 72 अध्याय हैं। इन्हें तीन भागों में बाँट दिया गया है। प्रथम से लेकर सत्ताईसवें अध्याय तक अहुर मज्द तथा अन्य देवताओं के आवाहन, जओथ्र (Zaothra) तथा वरेस्म के समर्पण मंत्र, सोम के अभिसवन तथा समर्पण मंत्र तथा पुरोडाश एवं मांस के समर्पण-मंत्र हैं। अध्याय 28 से अध्याय 52 तक गाथाओं का संग्रह है। इसमें जरथुश्त्र के उपदेश, आदेश तथा दार्शनिक विचार संग्रहीत हैं। इन्हीं के अन्तर्गत यस्न हप्तङ्हाइति (Haptanghaiti, अध्याय 35 से 42 तक) के सात अध्याय भी हैं। इसमें अहुर मज्द, देव, पार्षद, अग्नि, जल तथा पृथ्वी की स्तुति एवं सूक्त हैं। 53वें से 72वें अध्याय तक को अपर यस्न कहा जाता है। इनमें देवताओं की स्तुतियों एवं विसर्जन के मंत्र संग्रहीत हैं। विस्पेरेद में कुल 24 अध्याय हैं। इनमें विश्वेदेव की स्तुतियाँ हैं। इनका उपयोग यस्न के साथ किया जाता है। यश्त में पारसीक धर्म के यजतो तिश्त्र्य, जल देवता अर्दविसुर (Ardvisura), मित्थ्र, वेरेथ्रग्न,

आदि की प्रशंसा में इक्कीस सूक्त हैं। न्याइश गाह में दैनिक संध्या के मंत्र संग्रहीत हैं। वेन्दीदाद के 22वें अध्याय में पुरोहितों के लिए उपयोगी निर्देश संकलित हैं। प्रथम में सृष्टि रचना, द्वितीय में यम के राज्य, जाड़े का आगमन, तृतीय में कृषि तथा चतुर्थ में कानूनी बातें हैं। 20वें अध्याय में थ्रित तथा औषधियों की उत्पत्ति निरूपित है। 21वें में जल एवं प्रकाश की प्रशंसा है तथा 22वें में अङ्ग्रमइन्युश् द्वारा निर्मित 99,999 रोगों का उल्लेख है। हादोख्त नस्क इत्यादि में कोश तथा अनुक्रमणिका है।

विज्ञान

युद्ध के वातावरण में विज्ञान की ओर पारसीकों का ध्यान न गया। उनके पाठ्यक्रम में केवल उन्हीं विषयों का समाहार था जो उनके लिए उपयोगी थे। वास्तव में विज्ञान सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति वे बैबिलोन से कर लेते थे। हम उनके औषधि विज्ञान से परिचित हैं। जो वैज्ञानिक कम आभिचारिक अधिक था। वे रोग की उत्पत्ति का कारण शैतान को मानते थे। वेन्दीदाद के अंतिम अध्याय में रोगों की संख्या 99,999 बताई गई है। रोगों का उपचार पुरोहितों के पास था। इसके लिए आभिचारिक क्रियाओं का अवलम्बन लिया जाता था इसी लिए यहाँ विज्ञान तथा अभिचार में स्पष्ट अन्तर नहीं मिलता। आगे चल कर अभिचार के साथ-साथ रोगमुक्ति के लिए औषधियों का प्रयोग भी किया जाने लगा। अर्तख्शयार्श द्वितीय के समय यहाँ चिकित्सकों एवं शल्यकों की संख्या पर्याप्त हो गई थी। यहाँ चिकित्सकों की क्षमता बढ़ाने के लिए उसी प्रकार नियम बनाए गये थे जैसे हम्मूराबी की विधि-संहिता में। चिकित्सकों को कुशल बनने के लिए प्रारम्भ में इसका अभ्यास करना पड़ता था। जब अहुर मज्द से पूछा गया कि चिकित्सक को इस कला का अभ्यास कैसे करना चाहिए तो अहुर मज्द ने बताया कि चिकित्सक को सर्वप्रथम दीवा के उपासक पर चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए। यदि तीन बार परीक्षा करने पर दीवा--उपासक की मृत्यु हो जाय तो चिकित्सक को सदैव के लिए इसे छोड़ देना चाहिए। चिकित्सकों का शुल्क निर्धारित था।[1] पुरोहितों को वरीयता प्राप्त थी तथा उनकी चिकित्सा निशुल्क की जाती थी। ऐसा करने से चिकित्सक पवित्र हो जाता था तथा स्वर्ग प्राप्त करता था। गृहस्वामी की चिकित्सा का शुल्क एक साधारण बैल था। नगर-स्वामी की चिकित्सा इससे कुछ मँहगी पड़ती थी। किसी बड़े नगर के स्वामी की चिकित्सा और मँहगी पड़ती थी। प्रान्तपतियों की चिकित्सा में एक रथ तथा 70 स्टिर (Stir) मिलता था। उपरोक्त व्यक्तियों की पत्नियों की चिकित्सा में क्रमशः एक गधी, एक गाय, एक घोड़ी तथा एक ऊंटनी मिलती थी।[2]

---

[1] Avesta, Vendidad, VII, 7 B, 41-44

[2] Ibid, VII, 7 B, 41

पारसीक सभ्यता की महत्ता एवं देन

यह सत्य है कि हख़ामनीशिय शासकों ने अपनी विजिगिष्णु नीति तथा अभूतपूर्व शौर्य के बल पर विश्व-साम्राज्य की कल्पना चरितार्थ कर दी तथा एक ऐसे साम्राज्य की स्थापना की जो इसके पहले कभी नहीं स्थापित हो सका था किन्तु शासनतंत्र, धर्म तथा कला के कतिपय तत्त्वों को छोड़कर शेष अर्थों में परवर्ती विश्व पर उनका कोई विशेष प्रभाव न पड़ा। पारसीक शासनतंत्र रोमन शासनतंत्र के लिए आदर्श बना। उन्होंने केवल राजनीतिक पक्ष का ही अनुकरण नहीं किया अपितु निरंकुशता को भी अपनालिया। डिओक्लिशियन (Dioclitian, 184-395 B. C.) तथा कांस्टेन्टाइन प्रथम (Constantine I, 305-357 B. C.) ने जब अपनी स्वच्छन्द निरंकुशता स्थापित की तो उन्होंने पारसीक शासकों की भाँति दैवी अधिकारों का प्रतिपादन किया। दारयवउश् प्रथम की भाँति वे भी समूचे राष्ट्र को एक धर्म के अन्तर्गत बँधा देखना चाहते थे। सिकन्दर की पूर्वी विजय के संगठन के सम्बन्ध में पारसीक शासनतंत्र के तौर-तरीके अपनाये गये तथा पारसीक सरदारों की नियुक्ति गई।[1] पारसीक दरबार की शान-शौकत का प्रभाव एक ओर यूनान पर पड़ा तो दूसरी ओर रोम पर। हख़ामनीशिय सम्राटों द्वारा निर्मित मार्ग बाद में पश्चिमी एशिया को जीतने वाले यूरोपियनों के लिए आदर्श बने।

ईसाई धर्म में विद्यमान शुभ एवं अशुभ के मध्य संघर्ष तथा परलोक सम्बंधी मान्यताएँ पारसीक मान्यताओं के समान हैं। प्रश्न है कि ईसाइयों को ये तत्त्व कहाँ से प्राप्त हुए थे? हिब्रुओं ने परलोक की कल्पना शियोल नामक लोक के रूप में अवश्य की थी किन्तु उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं था। यूनानियों ने इसे हेडीज लोक स्वीकार किया किन्तु उनकी धारणा भी लगभग वैसी ही थी जैसी हिब्रुओं की। इसके विपरीत पारसीक पारलौकिक जीवन के विषय में स्पष्ट थे अतः यही कहा जा सकता है कि पारसीकों के प्रभाव में ही परवर्ती हिब्रुओं में शुभ एवं अशुभ के बीच संघर्ष की मान्यताएँ तथा परलोकवाद की स्पष्ट भावनाएँ विकसित हुईं। ईसाइयों की लौकिक मान्यताओं पर भी पारसीक प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ईसाई धर्म पर कुछ प्रभाव पारसीक धर्म का था तो कुछ हिब्रू धर्म का।[2] बर्न्स तो हेलेनिस्टिक दर्शन पर भी पारसीक प्रभाव मानने के पक्ष में हैं।[3] पारसीक कला का प्रभाव यूनानी कला पर पड़ा था। किसी समय तो पारसीक स्तम्भ कला का प्रभाव भारतीय मौर्यकला पर भी स्वीकार किया जाता था किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं अब इसे नहीं माना जाता।

●

---

1. W. N. Weech, History of the World, p. 268
2. A. Hyme, An Outline of Ancient History, p. 55
3. E. M. Burns, Western Civilization, Vol. I, p. 92

13

चीन की सभ्यता

प्राचीन चीन के निवासी अपने देश को मध्य-राज, अधोस्थित राज्य, तंग-जेन (Tang-Zen), हन-जेन (Hun-Zen) इत्यादि संज्ञाओं से ही सम्बोधित करते थे । इसे कोई विशिष्ट नाम नहीं दिया गया था । तृतीय शती ई० पू० में यहाँ प्रसिद्ध चिन वंश (Chin Dynasty) की स्थापना हुई । इसी आधार पर विदेशियों ने इसे चीन नाम दे दिया । काल-क्रम की दृष्टि से चीन में सभ्यता का जन्म मेसोपोटामिया, मिस्र तथा भारत के बाद हुआ किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से इसका महत्त्व कम नहीं है । भारत के अतिरिक्त संस्कृति का निरन्तर प्रवाह चीन में ही दिखायी पड़ता है ।

भौगोलिक दृष्टि से चीन को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(i) मुख्य चीन तथा (ii) बहिर्वर्ती प्रान्त । मुख्य चीन को तीन विशाल नदियों—सी क्यांग (Hsi Kiang), यांगटि सि क्यांग तथा हांग हो (Huang Ho)—की जलधाराओं से प्रक्षालित होने का सुयोग मिला है । ये नदियाँ पश्चिमी पर्वतों से निकलती हैं तथा चीन के मुख्य भाग से होकर अन्ततः प्रशान्त सागर में विश्राम लेती हैं । इनमें हांग हो लगभग 4,845 किलो मीटर लम्बी है । इसका बेसिन चीन की कुल भूमि के लगभग 8% भाग पर फैला है, जो लगभग 7,71,000 वर्ग किलो मीटर है । लोयस के पठार से होकर बहने के कारण इसके साथ पठार की पीली मिट्टी भी बह कर चली आती है इसी लिए इसे पीत नदी (Yellow River) भी कहा जाता है । हांग हो अपनी बाढ़ के लिए प्रसिद्ध है । बाढ़ के समय यह चीन के एक बड़े भू-भाग को अपनी गोद में समेट लेती है । हांग हो द्वारा चीन की जो क्षति होती है उसी कारण इसे 'चीन का दुःख' (Chinese's Sorrow) कहते हैं । किन्तु जहां हांग हो चीनवासियों के लिए अभिशाप है वहीं वरदान भी । इस नदी के उर्वर मैदान विश्व के सबसे अधिक उपजाऊ मैदानों में है । चीनी-सभ्यता के विकास में इस नदी का वही

महत्त्व है जो मिस्र में नील, मेसोपोटामिया में दज़ला-फ़रात तथा भारत में सिंधु का। यांगटि सी क्यांग तिब्बत के तंगला श्रेणी से निकल कर चीन के मध्य भाग में बहती हुई अन्ततः चीन सागर में विश्राम लेती है। यह 5557 किलोमीटर लम्बी है तथा चीन की नदियों में यह सबसे बड़ी है। लगभग 19,50,000 वर्ग किलोमीटर विस्तृत इसका बेसिन चीन के 20% भाग पर फैला है। हांग हो नदी यातायात के लिए उपयोगी नहीं है किन्तु यांगटि सी क्यांग इस दृष्टि से उपयोगी है। सी क्यांग 2,655 किलो मीटर लम्बी है तथा दक्षिण चीन में बहती है। चीन के बहिर्वर्ती प्रान्तों में मंचूरिया, मंगोलिया, सिक्यांग तथा तिब्बत की गणना की जाती है। ये प्रदेश कभी भी चीनी सभ्यता के अभिन्न अंग न बन सके। भौगोलिक स्थिति के फलस्वरूप अन्य देशों से पृथक् होने के कारण यहाँ बाह्य प्रजातियों का प्रवेश कम हो सका इसी लिए यहाँ विजातियों के मिश्रण के साक्ष्य नहीं मिलते। मूलतः प्राचीन चीनवासी मंगोलायड वर्ग से सम्बन्धित थे जिनकी मुखाकृति गोल, गण्डास्थि उदग्र, नेत्र अवनमित, केश स्थूल तथा कृष्ण, दाढ़ी तथा हाथ-पैर छोटे और शरीर स्थूल होता था।

ऐतिहासिक स्रोत

. प्राचीन चीन साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध था किन्तु दुर्भाग्य से बाँस की पाटियों तथा रेशमी वस्त्रों पर लिखे जाने के कारण वे कालकवलित हो गये एतदर्थ उनका अंशमात्र ही हम तक पहुँच सका है। यदि तृतीय शती ई० पू० के एक असाहित्यिक एवं दुर्विनीत शासक शी-हॉग-ती (Shih-Hang-Ti) ने उनके विशाल ग्रंथागार को जला कर राख न कर दिया होता तो शायद हमें चीनी साहित्य का विपुल भंडार मिल जाता। साहित्यिक साक्ष्यों में प्राचीन चीन के पौराणिक आख्यान उल्लेखनीय हैं। इसके अनुसार सर्वप्रथम पन-कू (Pan-ku) ने पृथ्वी तथा आकाश को पृथक् किया। उसी ने सूर्य, चन्द्रमा, वनस्पतियों एवं पशुओं की सृष्टि की। पन-कू के अनन्तर बारह या तेरह स्वर्गिक शासकों—तिएन हांग (Tien Huang), ग्यारह पार्थिव शासकों—ति-हांग (Ti-Huang) तथा नौ मानवीय शासकों—जेन-हांग (Jen-Huang) ने राज्य किया। प्रथम दो समूहों के शासकों में प्रत्येक ने 18,000 वर्ष तथा तृतीय वर्ग के शासकों ने 45,600 वर्ष तक शासन किया।[1] अन्य ग्रंथों में इन तीन समूह के शासकों के स्थान पर फू सी (Fu Hsi), नु कुआ (Nu Kua) तथा शेन नुंग (Shen Nung) का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि फू सी ने चीनवासियों को मछली पकड़ने, पशुपालने, संगीत, लिपिकला एवं शकुन-विचार से सम्बन्धित पा कुआ (Pa Kua) की शिक्षा दी थी। नू कुआ का योगदान विवाह-संस्था को व्यवस्थित करने की दृष्टि से विशेष था। शेन नुंग ने कृषि-

---

[1] K. S. Latourette, The Chinese, Their History and Culture, p. 27

कर्म तथा औषधिशास्त्र का ज्ञान कराया। कहा जाता है कि इन तीनों के बाद पाँच सम्राटों वू ती (Wu ti) ने शासन किया जिनका प्रथम शासक हांग ती (Hang ti) था। चीनी सभ्यता के विकास में इसका योगदान कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। बर्बर आक्रमणकारियों को पराजित करने में तो यह सफल ही रहा इसके साथ-साथ इसी के समय में अधिकारिक रूप से इतिहास लिखने का कार्य प्रारम्भ किया गया। बैल-गाड़ियाँ बनायी गयीं, पञ्चाङ्ग का निर्माण किया गया तथा भूमि को चिंग-तिएन (Ching-Tien) विधि द्वारा वितरित किया गया। कहा जाता है कि इसकी पत्नी ने चीनवासियों को रेशम उत्पादन की शिक्षा दी थी।

हांग ती के पश्चात् क्रमशः चुआन शियु (Chuan Shiyu), खू (Khu), याओ (Yao) तथा शुन (Shun) ने राज्य किया। शुन के बाद उत्तराधिकार उसके एक अधिकारी यु (Yu) को मिला। इसके द्वारा स्थापित राजवंश शिया (Hsia) नाम से प्रसिद्ध है। इस वंश का शासन काल 1989 ई० पू० 1557 ई० पू० तक स्वीकार किया गया है। एक अन्य परम्परा से यह तिथि 2205 ई० पू० से 1766 ई० पू० तक मानी जाती है। कहा जाता है कि शिया वंश का अन्तिम शासक चिएह (Chieh) एक रूपवती किन्तु चरित्रभ्रष्ट स्त्री के आकर्षण में पड़कर अत्यन्त क्रूर एवं लम्पट हो गया। इसे चीनवासी सहन नहीं कर सकते थे अतः विद्रोह हो गया। विद्रोह का नायक तंग (Tang) नामक व्यक्ति था। चिएह के बाद चीन में जिस वंश की स्थापना हुई उसे शांग वंश (Shang Dynasty) नाम से प्रसिद्धि मिली। इस वंश का शासन काल 1550 से 1050 ई० पू० अथवा एक अन्य परम्परा के अनुसार 1766 से 1122 ई० पू० तक स्वीकार किया गया है। शांग वंश के शासकों के नाम यहाँ की साहित्यिक कृतियों में मिलते हैं किन्तु इस वंश के अन्तिम शासक चाऊ सिन (Chou Sin) को छोड़ कर अन्य के विषय में हमें कोई जानकारी नहीं है। चाऊ सिन के विषय में कहा ज़ाता है कि वह अत्यन्त वीर, कुशल किन्तु क्रूर था। चाऊ सिन की पत्नी ता की (Ta Ki) तो व्यभिचार तथा क्रूरता की साकार रूप थी।[1] कहा जाता है कि उसके दरबार में कामुकतापूर्ण नृत्य सम्पन्न किये जाते थे तथा उद्यान में नग्न स्त्री-पुरुष क्रीड़ा करते थे। किन्तु शासक तथा रानी के क्रूर एवं कामुकतापूर्ण आचरण से ऊब कर चाऊ नामक पश्चिमी राज्य के आक्रमणकारियों ने विद्रोह कर दिया। इसका नेता वेन वांग (Wen Wang) था। प्रारम्भ में तो वेन वांग के विरुद्ध चाऊ सिन को सफलता मिल गई तथा पराजित चाऊ शासक बंदी बना लिया गया, जिसे बाद में पैसा देकर छुड़ा लिया गया था, किन्तु उसके पुत्र वू वांग (Wu Wang) के हाथो चाऊ सिन को मुंहकी खानी पड़ी तथा उसके वंश का अन्त हो गया। इसके बाद चीन में प्रसिद्ध चाऊ वंश की स्थापना हुई।

---

[1] Will Durant, The Story of Civilization, Vol. I, p. 645

उपर्युक्त साहित्यिक साक्ष्यों के साथ-साथ प्राचीन चीन के इतिहास-निर्माण में हमें पुरातात्त्विक साक्ष्यों से भी पर्याप्त सहायता मिलती है। वर्तमान शती ई० के द्वितीय चरण में सम्पन्न प्रागैतिहासिक शोधों एवं उत्खननों के आधार पर ज्ञात हो गया कि पुरापाषाणकाल से ही चीन आदि मानव का क्रीड़ा-केन्द्र था। इसी प्रकार नव पाषाण कालीन सभ्यता पर प्रकाश डालने वाले साक्ष्य भी प्रचुर मात्रा में मिले हैं जिससे ज्ञात होता है कि यहाँ कृषिकर्म, पशुपालन, भाण्ड-निर्माण इत्यादि का विकास किया गया।

शांग युगीन सभ्यता

प्राचीन चीन में शांग युगीन सभ्यता का विस्तार आधुनिक होपेई (Hopei), शांतुंग (Shantung) तथा अनहुई (Anhui) के उत्तरी भागों में हुआ था। इनकी कई राजधानियाँ थीं जिनमें सर्वाधिक प्रतिष्ठित अन्यांग (Yin-Shui) थी। इसका उत्कर्षकाल लगभग 1384 ई० पू० से शांग वंश के अधःपतन काल तक स्वीकार किया गया है।

राजनीतिक संगठन

शांग युग में राजनीतिक संगठन राजतंत्रात्मक था जिसमें शासक को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त था। इसकी सम्मानित उपाधि ती (Ti) थी। इसका प्रयोग देवाधिदेव के लिए भी किया जाता था। यहाँ राजत्व एवं देवत्व में परस्पर सम्बन्ध स्वीकार कर लिया गया था। शासक के अतिरिक्त राजा ही धर्माध्यक्ष भी था। उसकी सहायता के लिए पुरोहितों की नियुक्ति की जाती थी। राज्य के मुख्य प्रान्त का शासक वही था किन्तु अन्य प्रान्तों के अलग-अलग शासक थे जो युद्ध के समय शासक का अनुसरण करते थे, अपने-अपने राज्य की सीमा की रक्षा करते थे तथा आवश्यकता पड़ने पर शासक की जन-बल से सहायता करते थे। शासक एवं साधारण वर्ग के बीच एक ऐसा वर्ग भी था जो शिक्षित था तथा शासकीय लेखों को सुरक्षित रखता था। युद्ध में शांग युगीन सैनिक अश्व-चालित रथों का प्रयोग करते थे। वर्तमान समय में यह नहीं कहा जा सकता है कि अश्व-चालित रथों का आविष्कार इन्होंने स्वयं किया था अथवा पश्चिम एशिया के प्रभाव के कारण इसका विकास हुआ था। इस स्थल पर हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि पश्चिम एशिया में इसका प्रचलन पहले से था।

सामाजिक एवं आर्थिक संगठन

शांग युगीन सामाजिक संगठन अभिजाततंत्रीय प्रतीत होता है जिसमें शासक तथा कुलीन वर्ग के सदस्य सर्वाधिक प्रतिष्ठित थे। पारिवारिक संगठन पितृसत्तात्मक था। यदि कुटुम्ब में गृह के स्वामी की मृत्यु हो जाती थी तो

स्वामित्व उसके भाई तथा उसके अभाव में पुत्र को मिल जाता था। शांग युगीन चीनी मनोरंजन प्रिय थे। मृगया आनन्द एवं युद्ध-अभ्यास के लिए किया जाता था। शांग युगीन आर्थिक गठन कृषिपरक था। मुख्यतः गेहूँ, यव एवं बाजरे की खेती की जाती थी। चावल का उत्पादन किया जाता था अथवा नहीं निश्चित ज्ञात नहीं है किन्तु उत्पादन की सम्भावना को सर्वथा अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। कृषि के साथ-साथ पशुपालन भी प्रचलित था। विशेष रूप से हाथी, अश्व, बैल, सूकर, मुर्गी, भेड़ एवं कुत्ते पाले जाते थे। रेशम का अभाव था किन्तु सन की सहायता से वस्त्र बनाते थे। चमड़े के वस्त्र भी बनाए जाते थे। काँसा, टिन, जिस्ता तथा चाँदी का ज्ञान उन्हें था। धातुओं से भाण्ड तथा अन्यान्य उपकरण बनाते थे। साधारण कार्यों में मिट्टी के बर्तनों का उपयोग किया जाता था। व्यापार एवं वाणिज्य का विकास भी किया गया था। विनिमय के रूप में कौड़ियाँ उपयोग में लायी जाती थीं।

धर्म

शांग युगीन चीनियों की धार्मिक मान्यताएँ विकसित थीं। यहाँ देवी-देवताओं के साथ पितृ-पूजा भी प्रचलित थी। इन देवताओं की प्रकृति स्थान-स्थान पर भिन्न थी। स्वर्गिक देवताओं में सर्वाधिक प्रतिष्ठित ती या शांग ती (Ti or Shang Ti) था। शांग ती का स्वरूप कुछ उसी प्रकार था जिस प्रकार मनुष्यों का। शांग ती की प्रतिष्ठा सृष्टिकर्ता एवं संरक्षक देवता के रूप में थी। पृथ्वी पर मनुष्यों तथा वनस्पतियों का जन्मदाता वही था किन्तु बाद में वह पृथ्वी से उठ कर आकाश में चला गया। एक अन्य मान्यता के अनुसार शांग ती के शरीर के विविध अवयवों से पृथ्वी, पर्वत, घाटियों तथा वनस्पतियों को समीकृत किया गया है। शांग ती के अतिरिक्त पार्थिव देवताओं में पृथ्वी देव तू (Tu) या शे (She), पर्वत देव, नदी देव तथा चारों दिशाओं के देवताओं की उपासना भी की जाती थी। इन्होंने ब्रह्माण्ड में स्वर्गिक, अधस्थ तथा दोनों के मध्य स्थित तृतीय लोक की कल्पना की थी। इसमें तृतीय लोक ही मनुष्यों के आवास के लिए था। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पूजा, बलि, नृत्य, संगीत इत्यादि का अवलम्बन लिया जाता था। इसका सम्पादन पुरोहित करते थे। वलि विशेष रूप से मनुष्यों एवं पशुओं की दी जाती थी। नरबलि में युद्ध में पकड़े गये बन्दी तथा भूले-भटके व्यक्तियों का उपयोग किया जाता था। पूजन एवं मद्यार्पण के पश्चात् नृत्य तथा गायन का आयोजन करते थे। उनका विश्वास था कि मृत्यु के बाद उनके पूर्वज स्वर्ग में निवास करते हैं। जहाँ उन्हें उन वस्तुओं की आवश्यकताएँ पड़ती हैं जिसे वे लौकिक जीवन में चाहते हैं। उनका यह भी विश्वास था कि अप्रसन्न तथा असन्तुष्ट होने पर वे उनकी हानि कर सकते हैं अतः उनको प्रसन्न रखने का पूर्ण प्रयत्न किया जाता था। इसके लिए उन्हीं विधियों का अवलम्बन लिया जाता था जिन विधियों का अवलम्बन वे

देवताओं को प्रसन्न करने के लिए लेते थे। पूर्वजों को सन्तुष्ट करने के लिए तो कभी-कभी सैंकड़ों पशुओं की वलि दी जाती थी।

बौद्धिक उपलब्धियाँ

शांग युगीन चीनियों की बौद्धिक उपलब्धियों के अन्तर्गत इनकी लिपि का उल्लेख किया जा सकता है। कहा जाता है कि लिपिकला का आविष्कार एक चतुर्मुखी व्यक्ति ने किया था।[1] चीनी लिपि का विकास धार्मिक कारणों से किया गया। उनका विश्वास था कि स्वर्गस्थ देवता उनकी प्रार्थना नहीं सुनते अतः वे इसे लिपिबद्ध करके उनके पास तक पहुँचाते थे। जब कोई व्यक्ति अपने घर से कहीं बाहर जाना चाहता था तो अपने पूर्वज की आज्ञा लेता था तथा वापस आ जाने पर उनको सूचना देता था। इसी प्रकार संधि के समय संधिपत्र की तीन प्रतियाँ लिपिबद्ध कर दो वे अपने पास रख लेते थे तथा एक मेध्य पशु के साथ भूमि में गाड़ देते थे। विश्व की अन्य प्राचीन लिपियों की भाँति प्राचीनतम चीनी लिपि भी चित्रात्मक थी। इनके चित्रों की संख्या लगभग 2,000 थी। इसमें मुख्य रूप से वृक्ष, सूर्य, चन्द्र, पशुओं तथा पक्षियों के चित्र थे। आगे चलकर वस्तु-चित्रों में किंचित् परिवर्तन कर अमूर्त भावों को भी व्यक्त किया जाने लगा। वस्तु-चित्रों से आगे बढ़ कर वे दो चित्रों को परस्पर मिलाकर भाव व्यक्त करने लगे। जैसे आँख के चित्र के साथ हाथ का चित्र बनाकर वे देखने का भाव व्यक्त करने लगे। भाव-चित्रों के बाद ध्वनिबोधक चित्रों का विकास किया गया।

प्रामाणिक रूप से चीन में लेखन-सामग्रियों में मसि तथा ब्रुश का प्रयोग बहुत बाद में छिन वंश के समय किया गया। इसके पूर्व वे बाँस, लकड़ी या हाथी-दाँत पर शलाका की सहायता से खरोंच कर लिखते थे। किन्तु प्राचीन साहित्य में लिखे हुए रेशमी वस्त्रों का उल्लेख मिलता है जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शायद ब्रुश का प्रयोग बहुत पहले से प्रारम्भ हो गया था। शांग युगीन अधिकांश लेख कर्पर अथवा अस्थियों पर उत्कीर्ण किए गये थे। अस्थियों पर लिखे गये लेख एक प्रकार से आप्त वचन थे। इनका उपयोग यज्ञों तथा मौसम, फसल, युद्ध, सैनिक अभियान, मृगया, यात्रा, अस्वस्थता इत्यादि की जानकारी के लिए किया जाता था। अस्थियों पर प्रश्न लिख कर पहले उसे अग्नि में तपाते थे उसके बाद ठंडा किया जाता था। इस क्रिया में जो टूट-फूट होती थी उसके आधार पर ही अभीष्ट प्रश्न का उत्तर प्राप्त किया जाता था। कर्पर एवं अस्थि के अतिरिक्त रेशम, बाँस तथा काष्ठ पाटियों पर भी शासकीय लेख लिखे जाते थे। कभी-कभी कांसे का उपयोग भी किया जाता था।

---

[1] Lynn Thorndike, A Short History of Civilization, p. 242

चाऊ युग

चाऊ युग के आविर्भाव काल से चीन का प्राचीन इतिहास अधिक स्पष्ट एवं ज्ञात है। इससे सम्बन्धित साक्ष्य प्रचुर तथा विश्वसनीय है। विद्वानों की धारणा है कि चाऊ वंश मूलतः तुर्कों का था।[1] इसके विपरीत कुछ विद्वान् चाऊ वंश तथा आर्यों में समानता ढूँढ़ने की चेष्टा करते हैं क्योंकि दोनों कांस्य कालीन रथ-योद्धा तथा समकालीन थे।[2] चीनी साक्ष्यों के अनुसार उन्हें चीनी ही बताया जाता है। एक अन्य मतानुसार इनका सम्बन्ध नोमड्स से था किन्तु बाद में शांग वंश को पराजित कर उनकी सांस्कृतिक विशेषताओं को अपनालिया। प्रसिद्ध चीनी इतिहासकार लातुरे के अनुसार चाऊ वंश का सम्बन्ध उत्तरी चीन के मैदान में रहने वाले चीनियों से था किन्तु जातीय तथा सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से उनसे भिन्न थे। चाऊ जो भी रहे हों तथा जहाँ से भी आए रहे हों हम इतना जानते हैं कि उन्होंने शीघ्र ही अपनी शक्ति का विस्तार कर लिया। शांग युग में चीनी संस्कृति पीत तथा हुआई नदियों की घाटियों अर्थात् वर्तमान होनान (Honan), होपेई (Hopei) एवं शान्तुंग (Shantung) तक ही सीमित थी किन्तु चाऊ शासकों के संरक्षण में इसे विस्तृत होने का सुयोग मिला। समस्त चाऊ युगीन इतिहास को प्रारंभिक चाऊ युग (1122 अथवा 1050 ई० पू० से 750 ई० पू०) तथा परवर्ती चाऊ युग (750-249 ई० पू०) दो भागों में विभाजित किया गया है।

प्रारंभिक चाऊ युग में चाऊ शासक अत्यधिक शक्तिशाली थे। इनकी राजधानी पश्चिम में वेई की घाटी में चंगान (Changan)[3] के निकट स्थित थी। इसी लिए इस युग को पश्चिमी चाऊ युग की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। किन्तु इनकी प्रारंभिक शक्ति शनैः-शनैः घटने लगी तथा आठवीं शती ई० पू० के मध्य काल के आस-पास राजधानी पश्चिम से हटाकर पूर्व में आधुनिक होनानफू के समीप लोयंग में स्थापित की गई। इस राजधानी परिवर्तन से परवर्ती चाऊ युग का इतिहास प्रारंभ होता है। पूर्व में राजधानी की स्थापना के कारण ही परवर्ती चाऊ युग को पूर्वी चाऊ युग भी कहा जाता है।

कुछ विद्वान् परवर्ती चाऊ युग की स्थिति की तुलना मध्यकालीन यूरोप से करते हैं क्योंकि दोनों युग राजनीतिक शक्ति के विस्तार तथा बौद्धिक प्रगति की दृष्टि से समान थे।[4] परवर्ती चाऊ युग कई राज्यों में विभक्त था। इनमें चि (Chi),

---

1. राम प्रसाद त्रिपाठी, विश्व इतिहास, पृ० 346
2. Carrington, Goodrich, A Short History of the Chinese People p. 19
3. Modern Hsianfu.
4. K. S. Latourette, The Chinese Their History and Culture p. 36; Henry Lucus, A Short History of Civilization. p. 122.

चिन (Chin), छिन (Chhin) सुङ्ग तथा चू (Chu) नामक पाँच राज्य विशेष प्रतिष्ठित थे। इनमें से चार सीमा प्रान्तों पर स्थित होने के कारण अपना बाह्य प्रसार करने में पूर्ण समर्थ थे। पाँचवीं शती ई० पू० से तृतीय शती ई० पू० तक संघर्षरत राज्यों में छिन, चू, येन, हान, वेई, चाऊ तथा ची राज्यों का महत्त्व बढ़ गया। किन्तु राजनीतिक भाग-दौड़ में अन्ततः छिन शासक सफल रहे। उन्होंने 249 ई० पू० में चाऊ वंश के अंतिम शासक को पराजित कर धीरे-धीरे अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। 221 ई० पू० तक चाऊ वंश एवं उनका इतिहास चीन से हट जाता है तथा छिन वंश के साम्राज्य का उदय प्रारम्भ होता है।

राजनीतिक संगठन

चाऊ युगीन शासन तंत्र में सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न अधिकारी शासक था। वह वेंग (Weng) की उपाधि धारण करता था। शासक का पद केवल पूर्वजों की इच्छा, व्यक्तिगत गुणों तथा देव-कृपा से ही प्राप्त होता था। प्रारम्भ में तो शासक की शक्ति बहुत अधिक थी किन्तु बाद में वे केवल नामधारी शासक ही रह गये तथा उनका महत्त्व केवल पैत्रिक प्रतिष्ठा तथा धार्मिक कृत्यों के सम्पादन मात्र के कारण ही बना रहा। शासक की सहायता के लिए एक मुख्य मंत्री तथा छः अवर मंत्री की नियुक्ति की जाती थी। इनका कार्य कृषि, सेवा, सार्वजनिक-निर्माण, धार्मिक-कार्य एवं सेना की निगरानी रखना था। इन्होंने आकाश में तीन सौ साठ नक्षत्रों की कल्पना की थी तथा उसी आधार पर तीन सौ साठ अधिकारियों की नियुक्ति भी की। प्रत्येक अवर मंत्री के विभाग में साठ अधिकारी थे।

चाऊ युगीन राजनीतिक संगठन सामन्तों को संगठित करने की दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वू वॉग ने सबसे पहले सामन्तों को पाँच श्रेणियों में विभाजित किया। यह विभाजन उनके अधिकृत क्षेत्र के क्षेत्रफल के आधार पर किया गया था। सामन्तों का चयन चाऊ वंश तथा स्थानिक सरदारों में से किया जाता था। सामन्त अपने-अपने क्षेत्र का अधिशासन करते थे। उनका निवास दुर्ग रहता था। इसे सेनाओं से सुरक्षित किया जाता था। शासक की अधीनता की स्वीकृति ज्ञापित करने के लिए उन्हें केन्द्र को कर तथा सैनिक भेजने पड़ते थे। राज्य का एक विशिष्ट भाग शासक के व्यक्तिगत अधिकार में था। चाऊ काल में राज्य की लगभग 210 रियासतें नौ प्रदेशों में विभक्त थीं। कहा जाता है कि यहाँ साम्राज्य के छोटे-बड़े सामन्तों की कुल संख्या 1703 थी। विभिन्न पदाधिकारी छोटी-छोटी बस्तियों का निरीक्षण करते थे। सामन्तीय व्यवस्था से चाऊ शासक का प्रशासनिक उत्तरदायित्व कुछ कम हो गया था। सामन्तों एवं जनता के बीच निकट सम्बन्ध स्थापित होने के फलस्वरूप देश में पारस्परिक सहयोग, सहानुभूति इत्यादि की वृद्धि हुई। सामन्तों पर शासक का कड़ा अंकुश था। उनके प्रशासन के निरीक्षण के लिए निरीक्षकों की नियुक्ति की गई थी। सामन्तों को स्वतः शासक के समक्ष उपस्थित होकर अपना हिसाब-

किताब देना पड़ता था। सय-समय पर शासक स्वयं भी रियासतों का दौरा करता था।

इस युग में कानूनों का सम्बन्ध दण्ड से अधिक था। आधुनिक दण्ड-विधान के संदर्भ में भले ही इन्हें कठोर मान लिया जाय किन्तु प्राचीन दण्ड-विधान के संदर्भ में इसे अधिक कठोर नहीं माना जा सकता क्योंकि असीरियन तथा पारसीक दण्ड-विधान इनसे अधिक कठोर थे। इनके यहाँ मृत्यु-दण्ड, अण्डोछेदन, पादविच्छेदन, नासिकाछेदन, चेहरे को गोदने जैसे कुछ दण्ड प्रचलित अवश्य थे किन्तु अर्थ-दण्ड करके इन्हें माफ किया जा सकता था। यहाँ अनुबंध नियमित बनाये जाते थे तथा उन्हें स्वीकार करना पड़ता था। चाऊ युगीन सैनिक संगठन सुदृढ़ था। सैनिक युद्धों में अतुल शौर्य प्रदर्शित करते थे। युद्ध में रथों का प्रयोग बहुलता से किया जाता था। सुरक्षा के लिए नगरों एवं बस्तियों की शरण ली जाती थी। युद्ध-क्षेत्र में भी चाऊ युगीन सैनिक अतिशय क्रूरता प्रदर्शित करते थे। बर्बर जातियों से युद्ध करते समय विजयोत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता था। इस प्रकार के युद्धों में तो उन्हें मृतशत्रुओं के मांस-भक्षण में भी आनन्द आता था। सामन्तीय व्यवस्था के विकास के साथ-साथ सैनिक-सेवा के नियमों में भी कुछ परिवर्तन कर दिया गया तथा इसे कुछ अधिक कठोर कर दिया गया। राज्य के बीस से साठ वर्ष तक के व्यक्तियों को अनिवार्यतः सैनिक शिक्षा दी जाती थी। अनुमान लगाया गया है कि राज्य की जनसंख्या लगभग 51,00,000 थी। प्रति पाँच से बारह घरों से एक रथ, चार घोड़े, तीन सारथी बहत्तर पदाति, पचीस कार्यवाहक तथा बारह बैल लिए जाते थे। इस प्रकार उनके पास विपुल संख्या में सैनिक एकत्र हो जाते थे। पदाति की संख्या 72,000 तक पहुँच जाती थी। राज्य की कुल सैनिक संख्या 75,000 बताई गई है। इसे छः भागों में बाँट दिया गया था। प्रत्येक भाग में 12,500 सैनिक थे। इनका एक प्रधान सेनाध्यक्ष होता था। प्रत्येक प्रधान सेनाध्यक्ष के अधीन छः सहायक सेनाध्यक्ष नियुक्त किये जाते थे। इनके अधीन 500 सैनिकों के सेनापति तथा उनके अधीन 100 सैनिकों के सरदार होते थे। सरदार के अधीन 25 सैनिकों के नायक थे। अंतिम इकाई पाँच सैनिकों की थी। पाँच सौ सैनिकों और उससे नीचे वाले अधिकारियों के पद प्रायः विद्वानों को मिलते थे।

सामाजिक संगठन

चाऊ युगीन चीनी समाज मोटे तौर पर अभिजात एवं कृषक दो वर्गों में विभाजित था। अभिजात वर्ग में शासकीय परिवार के सदस्य जागीरदार, सामन्त, राजकर्मचारी, ज्योतिषी, पुरोहित तथा लिपिक आते थे। इनका जीवन-स्तर कृषकों से ऊँचा था। ये अनेक कुलों में बँटे थे। प्रत्येक कुल अपना सम्बन्ध किसी काल्पनिक पूर्वज, देवता, शासक या योद्धा से स्थापित कर लेता था। पारिवारिक संगठन कौटुम्बिक था। यहाँ संयुक्त पारिवारिक व्यवस्था थी। पिता कुलपति माना जाता

तथा परिवार के भरण-पोषण के उत्तरदायित्व का निर्वाह करता था। कौटुम्बिक जीवन को मधुर तथा स्थिर बनाने के लिए यहाँ विनय एवं शिष्टाचार के नियम अत्यन्त सावधानी से बनाये जाते थे। कुल एवं परिवार को सुव्यवस्थित रखने के लिए वैवाहिक संस्कार को भी महत्त्व दिया गया था। वैवाहिक उत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाए जाते थे। एक ही कुल में वैवाहिक सम्बन्ध निषिद्ध थे। किन्तु कई पीढ़ियों के अन्तर से तथा मातृकुल से विवाह सम्बन्ध स्थापित हो सकते थे। दो कुलों में कई पीढ़ियों तक वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होते रहते थे। विवाह के समय वधू का वर के पिता तथा पूर्वजों से भली-भाँति परिचय कराया जाता था। शिशु के भाग्य का निर्णय उसके जन्म-दिन के मुहूर्त के अनुसार किया जाता था। अशुभ क्षणों में उत्पन्न शिशु त्याग दिये जाते थे।

चाऊ युग में शिक्षा की उचित व्यवस्था थी। प्रारम्भिक शिक्षा प्राथमिक विद्यालयों में सम्पन्न होती थी। इसकी स्थापना पचीस ग्रामीण कुटुम्बों के बीच में की जाती थी। माध्यमिक शिक्षा अपेक्षाकृत कुछ ऊँचे विद्यालयों में दी जाती थी। उच्च शिक्षा के लिये प्रति 2,500 परिवारों के लिए एक विद्यालय स्थापित था। सर्वोच्च विद्यालय राजधानी में था। बालकों की शिक्षा छः वर्ष से प्रारम्भ हो जाती थी तथा बीस वर्ष तक चलती रहती थी। पाठ्यक्रम में मुख्यतः विनय, आचार, नैतिकता, वाण-विद्या, संगीत, गणित, साहित्य, इत्यादि विषयों का समाहार रहता था। बालिकाओं को दश से बीस वर्ष तक गृहशिक्षा दी जाती थी। इसमें उन्हें मधुर-भाषी, विनयी एवं व्यवहार कुशल बनाया जाता था तथा पाकशास्त्र, वस्त्र-निर्माण एवं रेशम द्वारा धागे बनाने की दीक्षा दी जाती थी।

आर्थिक संगठन

शांग युग की भाँति चाऊ युगीन आर्थिक संगठन भी कृषिपरक था। मुख्य रूप से गेहूँ, यव, बाजरा, चावल तथा फलों की खेती की जाती थी। बैलों की सहायता से हल चलाते थे। कृषि को सुसम्पन्न बनाने के लिए सिचाई की व्यवस्था भी की गई थी। चावल एवं बाजारे की सहायता से एक प्रकार का किण्वक द्रव (Fermental Liquor) बनाया जाता था। रेशम के कीड़े पालने के लिए शहतूत की खेती की जाती थी। यहाँ कृषकों एवं उच्चवर्गीय सदस्यों में आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त अन्तर था। कृषक भूमि की जुताई और बुवाई करते थे जबकि उच्चवर्ग के सदस्य उस पर केवल निगरानी रखते थे। सिद्धान्ततः समस्त भूमि शासक के अधीन थी। किन्तु कृषि के लिये उसके वितरण की समुचित व्यवस्था की गई थी। इसे चिगं-चिएन (Ching-Tien) विधि द्वारा विभाजित किया गया था। इस विधि में प्रत्येक 866 वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र को नौ बराबर भागों में इस प्रकार विभाजित कर दिया जाता था कि एक भाग मध्य में तथा शेष आठ अगल-बगल स्थित होते थे। मध्यभाग पर आठ परिवार मिलकर सामूहिक कृषि करते थे। इससे जो उत्पादन

होता था उससे शासकीय कर अदा किया जाता था। शेष आठ भागों पर प्रत्येक परिवार व्यक्तिगत कृषि करते थे। अच्छी फसल प्राप्त करने तथा भूमि की उर्वरता बनाये रखने के लिए यहाँ भी हिब्रूओं की भाँति एक निश्चित समय तक फसल लेने के बाद भूमि को खाली छोड़ दिया जाता था। प्रत्येक कृषक पच्चीस वर्ष की अवस्था में कृषि-योग्य भूमि पर अधिकार प्राप्त करता था तथा साठ वर्ष की अवस्था तक उस पर उसका अधिकार बना रहता था। इसके बाद उससे भूमि लेकर युवकों को दे दी जाती थी। कृषिकर्म मुक्त इस प्रकार के वृद्धों के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व राज्य पर था। इसी प्रकार अशक्त, वधिर, मूक एवं पागल का जीवन भी राज्य द्वारा चलता था। चाऊ युगीन शासकों ने कृषि उत्पादनों को बढ़ाने के लिए कुछ सराहनीय कार्य किया। इस दृष्टि से दलदली भाग को सुखाने तथा नहरों के निर्माण द्वारा सिंचाई की व्यवस्था करके अकृष्य भूमि को कृषि योग्य भूमि में परिवर्तित करने जैसे कार्यों का उल्लेख किया जा सकता है।

कृषि के साथ-साथ व्यवसाय एवं व्यापार का भी प्रचलन था। मुख्य रूप से काष्ठ, धातु, चर्म तथा रंगसाजी का उद्योग प्रचलित था। व्यावसायिक प्रगति का प्रभाव नगरों के विकास पर पड़ा जिससे व्यापार एवं वाणिज्य की प्रगति हुई। नमक, अन्न, अश्व, रेशम इत्यादि का व्यापार किया जाता था। लगभग 1,000 ई० पू० तक यहाँ मुद्रा-प्रणाली विकसित हो गई थी। इसका इनके आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। सिक्कों के अतिरिक्त क्रय-विक्रय में रेशमी वस्त्र, स्वर्ण-पिण्ड, मोती एवं रत्न का प्रयोग किया जाता था।

धर्म

शांग युग की भाँति चाऊ युग में भी चीनी बहुदेववादी बने रहे। देवी, देवताओं एवं पूर्वजों के अतिरिक्त गृह, नदी, जल, आकाश इत्यादि सभी उनके लिए श्रद्धेय एवं उपास्य थे। यद्यपि सिद्धान्ततः समस्त देश में एक ही प्रकार की धारणा एवं विश्वास का प्रचलन था किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से देवताओं की प्रकृति एवं स्वरूप में स्थानीय अन्तर दिखाई पड़ता है। भारतीय वैदिक देवताओं की भाँति यहाँ भी छोटे-बड़े देवताओं की कल्पना की गई थी। पृथ्वी स्थानीय देवताओं में होऊ-तू (Hou-Tu) तथा द्युस्थानीय देवताओं में ति-एन प्रतिष्ठित थे। तिएन शांग युग का शांग ती ही है। इन दोनों में सर्वाधिक शक्तिमान ति-एन था। देवता की कृपा प्राप्ति के लिए उनकी पूजा की जाती थी तथा उन्हें अन्न, मांस तथा अन्य पदार्थ अर्पित किये जाते थे। प्रारम्भ में नरवलि की प्रथा भी थी किन्तु बाद में जब धर्म का सदाचार से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया तो यह बंद कर दी गई। देवी-देवताओं की उपासना नगरों के समीप मैदानों में निर्मित वेदी पर की जाती थी ताकि अधिक से अधिक जनता उसमें सम्मिलित हो सके। पूर्वजों की उपासना मन्दिर में या घर के भीतर ही किसी कमरे में की जाती थी। पूर्वजों को किसी

प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त करते थे। गृह अनुष्ठान गृहपति तथा राज्यानुष्ठान शासक सम्पन्न करते थे। सहायता के लिए उच्च कुल के अनुष्ठान एवं कर्मकाण्ड-विशेषज्ञ बुला लिए जाते थे। समाज एवं मानवीय कल्याण के लिए अनुष्ठानों का सम्पादन आवश्यक था। कुछ अनुष्ठान ऐसे थे जिनमें वांग की उपस्थिति आवश्यक थी। शेष को सामन्तों की देख-रेख में ही सम्पन्न किया जाता था। यहाँ किसी ऐसे वर्ग का आविर्भाव नहीं हुआ था जिसे सही अर्थ में पुरोहित माना जा सके किन्तु कर्मचारियों की सहायता के लिए अनुष्ठान-विशेषज्ञ, ज्योतिषी तथा दैवज्ञों का एक वर्ग अस्तित्व में आ गया था। इनकी नियुक्ति समय-समय पर उच्च वर्ग से की जाती थी। कभी-कभी देवी-देवता किसी व्यक्ति पर अपना प्रभाव दिखा देते थे। इस स्थिति में वह भविष्य की जानकारी देता था। इस वर्ग के सदस्य वू (Wu) कहे जाते थे। चाऊ युगीन चीनियों की पारलौकिक मान्यताओं के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है। शांग युग की भाँति समृद्ध परिवार के मृतकों को दफनाते समय उनके साथ सेवकों के शीर्ष भी दफना दिये जाते थे। उनका विश्वास था कि वे परलोक में मृतकों की सेवा-सुश्रूषा करेंगे किन्तु बाद में यह प्रथा बन्द हो गई।

कला

कलात्मक उपलब्धियों की दृष्टि से चाऊ युग समृद्ध नहीं था। वास्तु स्थापत्य एवं चित्रकला के उदाहरण प्रायः नहीं मिलते। शायद इस ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। चाऊ युगीन चीनियों की कलात्मक प्रगति हमें केवल भाण्डकला में दिखाई पड़ती है। इस युग में विशेषकर काँस्य भाण्ड बनाए गये। उत्खनन द्वारा यहाँ से बहुत संख्या में प्याले, कटोरियाँ, तश्तरियाँ, घट तथा अन्य प्रकार की पशु आकृतियाँ मिली हैं। इनकी प्रारम्भिक कृतियाँ शांग युगीन कलाकृतियों के समान हैं किन्तु नवीं शती ई० पू० के प्रारम्भ से ही यहाँ इस क्षेत्र में कुछ प्रगति हुई तथा नवीन शैलियाँ प्रतिष्ठित हुईं। छठवीं शती ई० पू० से एक बार पुनः प्राचीन कलाकृत्तियों को अपनाया गया तथा उनमें अंलकरण की मात्रा बढ़ा दी गई। चाऊ युगीन जेड की बनी बहुत-सी कलाकृतियाँ अत्यन्त आकर्षक हैं। कलाकृतियों में अलंकरण की मात्रा इतनी अधिक है कि कहीं-कहीं तो धातु की सतह भी नहीं देखी जा सकती।

बौद्धिक उपलब्धियाँ

चाऊ युगीन बौद्धिक उपलब्धियों के अन्तर्गत सर्वप्रथम इनकी लिपि का उल्लेख किया जा सकता है। इन्होंने शांग युगीन चित्राक्षर लिपि को उसी रूप में अपना लिया। लिखने के लिए लकड़ी अथवा बाँस की पाटियों तथा स्याही का प्रयोग किया जाता था। इनका प्रारम्भिक साहित्य धार्मिक था। इनके मंत्र एवं गीत भोजों, यज्ञों एवं पूर्वजों के सम्मान में आयोजित प्रीति-भोजों एवं नृत्यों के समय गाए

जाते थे। गद्य-खण्ड पूर्वजों के मन्दिरों में आयोजित मूकाभिनय के समानान्तर पढ़े जाते थे। वर्णन आवश्यक रूप के परिसंहत, सूक्ष्म तथा शुष्क होता था। कभी-कभी भाषण तैयार कर अभिनयकर्ता को प्रदान कर दिया जाता था ऐसे अवसर पर लिपिकार की स्वतन्त्रता को मुखरित होने का उचित अवसर मिल जाता था। शासकीय लेख उत्कृष्ट भाषा में लिखे गये थे। इनका सम्बन्ध प्रशासन से था। चाऊ युगीन साहित्यिक कृतियों में निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(i) शू-चिंग (Shu-Ching)—प्राचीन गद्यांशों के बहुत से लेख जिस संग्रह में सुरक्षित हैं उसे शू-चिंग अथवा क्लासिक ऑव हिस्ट्री (Classic of History) नाम दिया गया है। परम्परया इसका सम्पादक कन्फ्यूशियस माना जाता है लेकिन यह मत यौक्तिक नहीं प्रतीत होता। जिन अंशों को शांग युगीन माना जाता है वे भी चाऊ युग में लिखे गये थे। ऐसा लगता है कि ग्रंथ को वर्तमान रूप तृतीय शती ई० में दिया गया।

(ii) शी-चिंग (Shi-Ching) शी-चिंग को 'क्लासिक ऑव पोयट्री' (Classic of Poetry) कहा जाता है। इसमें 311 कविताएँ तथा गीत संग्रहीत हैं। परम्परया इन्हें भी कन्फ्यूशियस की रचना स्वीकार किया गया है। इनमें से कुछ को शांग युगीन रचना माना जाता है किन्तु सत्यता यह है कि ये भी चाऊ युग से ही सम्बन्धित हैं। इनमें प्रहसन, प्रेम-प्रसङ्ग, उत्सवों एव विशिष्ट अवसरों पर गाये जाने वाले गीतों, धार्मिक अनुष्ठानों से सम्बन्धित गीतों इत्यादि का संकलन किया गया है।

(iii) चुन-चिउ (Chun-Chiu) चुन-चिउ जिसे 'बसन्त एवं शरत्' (Spring and Autumn) भी कहा जाता है, की रचना शासकीय अभिलेखों के आधार पर ऐतिहासिक ग्रंथ के रूप में की गई थी। परम्परया इसे भी कन्फ्यूशियस की रचना स्वीकार किया जाता है किन्तु यह उचित नहीं है।

(iv) बैम्बू एनाल्स (Bamboo Annals)—तृतीय शती ई० पू० की एक समाधि से बाँस की पाटियों पर लिखे कुछ लेख मिले थे। इनमें चिन तथा वेई राज्यों का इतिवृत्त मिलता है। बाँस की पाटियों पर लिखे होने कारण ही इन्हें उक्त संज्ञा से अभिहित किया गया।

(v) त्सो-चुआन (Tso-Chuan)—चुन-चिउ की टीका के रूप में इस ग्रंथ की रचना 468 ई० पू० से 200 ई० पू० के बीच में किसी समय सम्पन्न हुई थी। इसकी रचना तत्कालीन राज्यों के अधिकृत इतिवृत्तों को आधार मान कर की गई थी। इसमें 722 ई० पू० से लेकर 468 ई० पू० तक की ऐतिहासिक सामग्री मिलती है। परम्परया तो इसे भी कन्फ्यूशियस द्वारा रचित माना गया है पर इस मत को स्वीकार करना कठिन है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रंथ अतीव उपादेय है।

(vi) ई-चिंग (I-Ching) ई-चिंग मूलतः एक शकुन-परीक्षण ग्रंथ है। इसे क्लासिक ऑव चेंज' (Classic of Change) के नाम से प्रसिद्धि मिली है। शांग

युग में शकुन परीक्षण के लिए अस्थि एवं कर्पर की सहायता ली जाती थी। किन्तु चाऊ युग में इनके स्थान पर प्रतीकों का विकास किया गया। आलोच्य ग्रंथ के एक भाग में सामान्य शकुन परीक्षणों तथा शेष में आठ रहस्यमय प्रतीकों, जिन्हें पाकुआ (Pakua) कहा गया है, का वर्णन किया गया है। प्रत्येक में छः पंक्तियाँ मिलती हैं। किसी में तीन अखण्ड पंक्तियाँ हैं तथा तीन खण्डित; किसी में दो अखण्ड हैं और चार खण्डित। इसी प्रकार किसी में खण्डित पंक्तियाँ ऊपर हैं और किसी में नीचे। वे अखण्ड रेखाओं को यांग (Yang) तथा खण्डित रेखाओं को यिन (Yin) का प्रतीक मानते थे। उनका विश्वास था कि विश्व का समस्त ज्ञान इन्हीं प्रतीकों में छिपा हैं। इसलिए विश्व के रहस्य को समझने के लिए इनका ज्ञान आवश्यक है। परम्परया माना जाता है कि इसकी रचना चाऊ शासक वेन वांग ने अपने जीवन में की थी। बाद में कन्फ्यूशियस ने इसमें दश परिशिष्ट जोड़कर इसका सम्पादन किया।

(vii) कुओ-यु (Kuo-yu)—कुओ-यु की रचना तृतीय अथवा चतुर्थ शती ई०पू० में की गई थी। बाद में इसमें बहुत से प्रक्षिप्त अंश भी जोड़ दिए गये। इस ग्रंथ में प्राचीन नैतिक आदर्श संग्रहीत हैं इसी लिए इसे 'डिस्कोर्सेज ऑन द स्टेट्स (Discourses on the Stats) नाम दिया गया है।

(viii) चान-कुओत्से (Chan-Kuotse)--चान-कुओत्से अथवा 'डाक्युमण्ट्स ऑव द फाइटिंग स्टेट्स' (Documents of the Fighting States) में चाऊ युग के समय की अशान्त परिस्थितियों का वर्णन किया गया है।

(ix) लि-शाओ (Li-shao)—अंतिम शतियों में बर्बरों के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप यहाँ नवीन कविताएँ लिखी गईं। लि-शाओ इसी का परिणाम है। इस काव्य का स्थान चीनी साहित्य में विशेष महत्त्वपूर्ण है। चु-युआन (Chu-Yuan) को इसकी रचना का श्रेय दिया जाता है यद्यपि इसे निर्विवादतः नहीं स्वीकार किया जा सकता।

दर्शन

बौद्धिक क्षेत्र में चाऊ युगीन चीनियों ने सर्वाधिक प्रगति दर्शन के क्षेत्र में किया। इसका विकास छठवीं शती ई० पू० के बाद हुआ। यह शती चीन में ही नहीं अपितु विश्व इतिहास में धार्मिक आन्दोलन एवं दार्शनिक प्रगति की दृष्टि से विश्रुत है। भारत, ईरान, यूनान आदि देशों में भी इसी शती में दार्शनिक विचारधारा प्रवाहित हुई थी। परवर्ती चाऊ युग इस दृष्टि से विशेष प्रसिद्ध है। इसमें कई दार्शनिक सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ था जिनमें सर्वाधिक महत्ता कन्फ्यूशियस सम्प्रदाय को मिली थी।

कन्फ्यूशियस का जीवन चरित—छठवीं शती ई० पू० के दार्शनिकों में कन्फ्यूशियस (Confusias, 351-479 B.C.) का स्थान महत्त्वपूर्ण है। कन्फ्यूशियस

अभिधान कुंग-तु-त्जे (Kung-Tu-Tze) का लैटिन रूप है। कुंग उपाधि थी तथा तु-त्जे इसका मूल अभिधान। इसका आदि पूर्वज कुंग फांग्त्सी (Kung Faungtsi) था जिससे इसने कुंग उपाधि धारण की थी। बाद में इसे कन्फ्यूशियस नाम से ही प्रसिद्धि मिल गई और इतिहास में इसका उल्लेख इसी नाम से किया जाने लगा। कन्फ्यूशियस का जन्म लू राज्य (वर्तमान शान्तुंग) के कु फु (Chu-fu) में हुआ था। इनके पिता हो (Ho) एक प्रतिष्ठित परिवार से सम्बन्धित थे। माता का सम्बन्ध येन (Yen) परिवार से था। कहा जाता है कि माता ने निचुइ (Nichui) की पहाड़ियों में प्रार्थना करके वरदान रूप में प्राप्त कर कन्फ्यूशियस को जन्म दिया था। जन्म के समय पिता वृद्ध हो चुके थे। दुर्भाग्य से जब कन्फ्यूशियस तीन वर्ष के थे तभी इन्हें पिता के उर्ध्वलोकगामी होने के फलस्वरूप पितृ-वियोग का असह्य कष्ट सहना पड़ा। पिता की मृत्यु से कन्फ्यूशियस का लालन-पालन माता को करना पड़ा जिससे उसका प्रारम्भिक जीवन संकट एवं दारिद्र्य में व्यतीत हुआ। कन्फ्यूशियस बचपन से ही धार्मिक अनुष्ठानों, खेलों तथा अध्ययन में रुचि रखता था। वयस्क होने पर विद्याध्ययन के साथ-साथ इसे धनार्जन भी करना पड़ता था। किन्तु इस बीच इसने धनुर्विद्या तथा संगीत की अच्छी जानकारी प्राप्त कर ली। संगीत में तो इसकी इतनी अधिक रुचि थी कि इसके लिए एक बार इसने तीन माह तक मांस नहीं ग्रहण किया। कन्फ्यूशियस इस विचार से असहमत था कि दर्शन एवं विवाह में विसंगति है। कन्फ्यूशियस ने उन्नीस वर्ष की अवस्था में विवाह किया तथा शीघ्र ही एक पुत्र के पिता बन गये। किन्तु चार वर्ष बाद ही पत्नी को तलाक देने से वैवाहिक सम्बन्ध टूट गया। कन्फ्यूशियस ने पुर्नविवाह नहीं किया।

गृहस्थ जीवन से विरत होने के बाद कन्फ्यूशियस ने एक स्वतन्त्र विद्यालय की स्थापना कर विद्यार्थियों को शिक्षा देना प्रारम्भ कर दी। यह विद्यालय उसका अपना ही घर था। पाठ्यक्रम में इतिहास, काव्य एवं नैतिकता का समाहार किया गया था। विद्यार्थी अपनी इच्छानुसार उसे शुल्क देते थे। शिक्षण-विधि की सरलता तथा विषय प्रतिपादन की सुगम शैली के कारण धीरे-धीरे कन्फ्यूशियस के शिष्यों की संख्या बढ़ती गई। कन्फ्यूशियस ने सगर्व कहा था कि उसने तीन हजार विद्यार्थियों को शिक्षित किया था जो उसके विद्यालय से निकलकर विश्व के विभिन्न भागों में उच्च पद प्राप्त करने में सफल रहे। कन्फ्यूशियस की शिष्य परम्परा बहुत लम्बी थी। कुछ उसके अनन्यतम शिष्य थे। इसमें से लू राज्य के मंत्री माँग हि (Mang Hi) के पुत्र भी थे। इन्हीं के माध्यम से कन्फ्यूशियस लू शासक के सम्पर्क में आया था। लेकिन अन्त में उसकी गड़बड़ी तथा नागरिक विद्रोहों से ऊब कर वह पड़ोसी त्सी (Tsi) राज्य में चला गया। कहा जाता है कि जिस समय वह एक पर्वतीय मार्ग से जा रहा था उसे आर्तस्वर में विलाप करती हुई एक महिला दिखलाई पड़ी। जब कन्फ्यूशियस ने अपने साथ चलने वाले शिष्य को उसके विषय में जानने के लिए भेजा तो उसने बताया कि उसके श्वसुर, पति तथा पुत्र को

एक चीता ने मार डाला इसी लिए वह दुखी है। कन्फ्यूशियस ने उससे पूछा कि इस प्रकार के असुरक्षित स्थान में वह क्यों रहती है ? उसने उत्तर दिया कि यहाँ कोई अत्याचारी सरकार नहीं है, इसलिए वह यहाँ रहती है। इस पर कन्फ्यूशियस ने अपने शिष्यों से कहा कि अत्याचारी सरकार चीते से भी अधिक कठोर होती है। कहा जाता है कि त्सी के शासक ने उसके एक उत्तर से प्रभावित होकर उसे लिन-क्यु (Lin-Kew) नामक नगर की आमदनी खर्च के लिए देने का प्रस्ताव रखा था किन्तु कन्फ्यूशियस ने उसे अस्वीकार कर दिया था। त्सी का शासक कन्फ्यूशियस को अपना सलाहकार बनाना चाहता था। किन्तु मंत्री की परामर्श पर उसने ऐसा नहीं किया। इसके बाद कन्फ्यूशियस लू राज्य से वापस आकर विद्यार्थियों को शिक्षा देने लगा। पन्द्रह वर्ष बाद कन्फ्यूशियस को लू राज्य में चुङ्ग-तू (Chug-Tu) नगर का मुख्य नगर अधिकारी बना दिया गया जिस पद का निर्वाह उसने अत्यन्त कुशलता से किया। कहा जाता है कि उसका शासन इतना कठोर था कि यदि मार्ग में किसी की कोई वस्तु गिर जाती थी तो, या तो वह पड़ी रहती थी या फिर उसे उसके स्वामी के पास पहुँचा दिया जाता था इसके बाद कन्फ्यूशियस सार्वजनिक निर्माण विभाग का कार्यवाहक अधीक्षक, तदन्तर अपराध विभाग का मंत्री बना। किन्तु अंतिम पद पर वह अधिक दिन तक बना न रह सका। त्सी के शासक ने लू राज्य के शासक के पास एक नर्तकी भेजी जो राजकार्य की परवाह किए बिना ही उसके साथ तीन दिन तक पड़ा रहा। इसे देखकर कन्फ्यूशियस का मन विक्षुब्ध हो गया तथा उसने अपने पद से त्याग पत्र दे दिया। इस समय कन्फ्यूशियस की अवस्था लगभग 53 वर्ष की थी। इसके बाद कन्फ्यूशियस एक राज्य से दूसरे राज्य में इस आशय से भ्रमण करता रहा कि उसे कोई शासक मिल जाय जो उसके सिद्धान्तों को कार्य रूप में परिणत करने में सहायता करे किन्तु अन्त तक वह असफल ही रहा। उसके जीवन के अंतिम वर्ष लू राज्य में व्यतीत हुये। इस बीच कन्फ्यूशियस ग्रंथों का अध्ययन एवं उनकी व्याख्या करता रहा। यहीं 479 ई० पू० में इसकी मृत्यु हो गई। मृत्यु के समय कन्फ्यूशियस ने कहा था कि वह अपने सिद्धान्त को प्रशासन में कार्य-रूप में परिणत न कर सका।

कन्फ्यूशियस के सिद्धान्त— कन्फ्यूशियस परम्परावादी, धर्मनिष्ठ तथा आचार का पोषक था। अतीत के सिद्धान्त तथा विचार उसके लिए श्रद्धेय थे और उन्हीं के आचरण से समाज, राज्य एवं राष्ट्र का कल्याण संभव था। पूर्वजों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने तथा उनकी उपासना को वह परम कर्त्तव्य समझता था। कन्फ्यूशियस की कल्पना का समाज मनुष्य-निर्मित नहीं बल्कि देव-निर्मित था। अतः उसका विश्वास था कि इसका शासक भी देवता ही हो सकता है। उसका कथन था कि समाज का निर्माण शासक-प्रजा, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, अग्रज-अनुज एवं मित्र-मित्र के पारस्परिक सम्बन्धों द्वारा होता है। कोई समाज तभी उन्नति कर सकता है जब इन सम्बन्धों में परस्पर माधुर्य हो। यदि सम्बन्धों में परस्पर माधुर्य नहीं है तो समाज

भ्रष्ट हो जायगा। इस प्रकार का समाज अधिक दिन तक चल नहीं सकता। उसका अन्त सुनिश्चित है। कन्फ्यूशियस समाज की इकाई परिवार तथा परिवार की इकाई व्यक्ति को मानता था। अतः समाज को सुधारने के लिए व्यक्ति का सुधारना आवश्यक था। कन्फ्यूशियस की दृष्टि में आदर्श मनुष्य वही है जो अपनी उन्नति के साथ समाज की उन्नति का भी प्रकृष्ट प्रयत्न करे। व्यक्तिगत उन्नति नैतिक आचरण से ही हो सकती है। कन्फयूशियस वर्गवाद का समर्थक था। वह मानता था कि शासक, अधिकारी, सामन्त, कृषक तथा श्रमिक को अपने-अपने वर्ग में रहकर अपने-अपने कर्त्तव्य का समुचित निर्वाह करना चाहिये। वह कहता था कि कौन व्यक्ति ऊँचा है, कौन नीचा है, इसका निर्णय जन्म के आधार पर नहीं बल्कि कर्म के आधार पर करना चाहिये। हमारे यहाँ भी गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैंने गुण-कर्म के आधार पर चारों वर्णों की सृष्टि की है।[1] कन्फ्यूशियस की दृष्टि में मनुष्य का चरम लक्ष्य अपनी परिधि में रह कर अपने कर्त्तव्य का समुचित पालन करना है। वर्ग के अतिक्रमण से सामाजिक व्यवस्था बिगड़ जाती है। किन्तु कन्फयूशियस वर्ग परिवर्तन का विरोधी नहीं था। वह कहता था कि वर्ग परिवर्तन किया जा सकता है किन्तु मनुष्य जिस वर्ग में जाय उसे उसी के अनुसार आचरण करना चाहिए। कन्फ्यशियस मानता था कि व्यक्ति समाज से पृथक् होकर अपनी उन्नति नहीं कर सकता।

प्रश्न है उन्नति से कन्फ्यूशियस का तात्पर्य क्या था? यह उन्नति आर्थिक भी हो सकती है, बौद्धिक तथा नैतिक भी। किन्तु कन्फ्यूशियस इन तीनों में नैतिक उन्नति का समर्थक था। बौद्धिक ज्ञान की अपेक्षा वह सदाचार को अधिक महत्त्व देता था। उसका विश्वास था कि नैतिक बल के समक्ष शस्त्र-बल भी निर्बल पड़ जाता है। नैतिक उन्नति के लिए वह बुद्धिमता, साहस तथा परोपकार की भावना को आवश्यक मानता था। वह कहता था कि जब कोई मनुष्य किसी को अपने से अधिक गुणी देखता है तो वह उसके समान बनने की चेष्टा करता है। इसी प्रकार दोष देखकर अपने में दोष ढूंढ़ने का प्रयत्न करता है। उसकी दृष्टि में कोई व्यक्ति सदाचारी तभी हो सकता है जब उसमें दया, करुणा, ईमानदारी, विवेक, नम्रता तथा आत्म-सम्मान की भावना कूट-कूट कर भरी हो। वह कहता था कि मनुष्य को छोटी-छोटी बातों जैसे, उठने-बैठने, खाने-पीने, पहनने इत्यादि में शिष्टाचार का पालन करना चाहिए। मनुष्य अपने अधिकार की रक्षा करे किन्तु कर्त्तव्य का समुचित निर्वाह करते हुए ही। कन्फ्यूशियस कहता था कि जिस प्रकार के आचरण की अपेक्षा हम दूसरों से नहीं करते हमें वैसा आचरण नहीं करना चाहिए। कन्फ्यूशियस लौकिकवादी था। पारलौकिक चिन्तन में वह तनिक भी रुचि नहीं लेता था। आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक इत्यादि जैसे गंभीर विषयों के विवाद से वह सदैव अपने को बचाने की चेष्टा करता था। गौतम बुद्ध की भाँति वह भी देवताओं के विषय में

---

[1] गीता, 4-3

नहीं पड़ना चाहता था। जब एक बार कन्फ्यूशियस के किसी शिष्य ने मृत्यु के विषय में उससे पूछा तो कन्फ्यूशियस ने कहा कि जब तुम जीवन के विषय में नहीं जानते तो मृत्यु के विषय में कैसे समझ सकते हो।

कन्फ्यूशियस के राजनीतिक विचार भी आचार शास्त्र पर आधारित थे। कन्फ्यूशियस मानता था कि जो व्यवस्था विश्व तथा प्रकृति पर नियन्त्रण करती है वही समाज एवं व्यक्ति पर लागू होती है। जैसे ब्रह्माण्ड एवं प्रकृति पर ति-एन का शासन है वैसे समाज पर उसके प्रतिनिधि का। शासक, मंत्री तथा अधिकारियों की स्थिति विश्व-व्यापार के अनुरूप है। वह मानता था कि कोई भी शासन शस्त्र-बल पर नहीं चल सकता। इसके लिए लोकमत आवश्यक है। लोकमत तभी मिल सकता है जब शासक चरित्रवान तथा प्राचीन अनुष्ठानों का पालन करने वाला हो। दुराचारी होने पर शासक शासन की दैवी अनुमति खो देता है। शासक के सदाचारी होने पर ही राज्य की सार्वभौमिक उन्नति होती है। शासक के साथ-साथ अधिकारियों के चरित्रवान एवं अनुशासित होने का वह समर्थक था। राजा के अनैतिक कार्यों से ऊबकर ही कन्फ्यूशियस ने अपना पद छोड़ा था।

मेंसियस—कन्फ्यूशियस के अनुयायियों एवं समर्थकों में मेंसियस (Mencius, 371-289 B. C.) का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका मूल अभिधान मांग-को (Mang-Ko) था जिसे बाद में बदलकर मांग-त्जे (Mang-Tze) कर दिया गया था। नामांश का पूर्व भाग मांग इसके परिवार का नाम है। बाद में यूरोपीय विद्वानों ने कन्फ्यूशियस की भाँति इसका भी नाम बदल कर मेंसियस रख दिया। इसके बाद फिर यह दार्शनिक इसी नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसकी माता मातृत्व की साकार रूप थी जो मेंसियस पर प्रारम्भ से ही निगरानी रखती थी। कहा जाता है कि मेंसियस को एक अच्छा व्यक्ति बनाने के लिए उसने तीन बार निवास-स्थान बदला था। पहले वह एक श्मशान के समीप रहती थी जिससे मेंसियस अत्येष्टि प्रबन्धक से प्रभावित होकर उसी प्रकार का आचरण करता था। इससे ऊबकर वह एक मांस विक्रेता के पड़ोस में चली गई किन्तु यहाँ मेंसियस वधे जाते हुए पशुओं के आर्तस्वर की नकल कर चिल्लाता था। इसके बाद वह एक बाजार के पास चली गई किन्तु यहाँ मेंसियस व्यापारी बनने का प्रयास करने लगा। अन्त में कहा जाता है कि वह एक विद्यालय के पास गई जहाँ उसे शान्ति मिली। जब मेंसियस पढ़ाई-लिखाई से मुख मोड़ने लगा तथा इधर-उधर घूमने लगा तो उसे रास्ते पर लाने के लिए एक दिन माता ने उसकी ढरनी का तागा काट दिया। जब मेंसियस ने इसका कारण पूछा तो उसने बताया कि उसने ऐसा मेंसियस की पढ़ाई बंद करने के कारण किया है। इस घटना का मेंसियस के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसके बाद वह अध्ययन में लग गया तथा शीघ्र ही दर्शन का अच्छा विद्वान् बन गया। इसके बाद मेंसियस ने भी कन्फ्यूशियस की भाँति एक विद्यालय की स्थापना की तथा शिष्यों को शिक्षा देना प्रारम्भ कर दी। मेंसियस की

प्रसिद्ध कृति बुक ऑव मेंसियस (Book of Mencius) का चीनी दार्शनिक ग्रंथों में विशिष्ट स्थान है।

कन्फ्यूशियस की भाँति मेंसियस भी मानता था कि शासक के सुचरित के आधार पर ही सुशासन की स्थापना हो सकती है। इसके लिए शासक को सही मार्ग पर लाना आवश्यक है। मेंसियस प्रजातंत्र की अपेक्षा राजतंत्र को श्रेष्ठ मानता था। क्योंकि राजतंत्र में एक व्यक्ति अर्थात् शासक को शिक्षित करने से काम चल सकता है किन्तु प्रजातंत्र में सभी को शिक्षित करना पड़ता है। कन्फ्यूशियस की भाँति मेंसियस भी तर्कशास्त्र, ज्ञानमीमांसा तथा तत्त्वमीमांसा में किंचित् भी रुचि नहीं रखता था। उसका दर्शन मुख्यत: आचार-शास्त्र एवं सद्गुणों पर आधारित था। वह शुभ व्यक्तियों द्वारा शुभशासन की स्थापना करना चाहता था। मेंसियस की धारणा थी कि मनुष्य प्रकृत्या अच्छा होता है। अत: शासन का यह परम उत्तरदायित्व है कि शुभाचरण द्वारा वह उनके गुणों को विकसित करे। इसे संगीत, कला तथा शासकों की दयालुता द्वारा विकसित किया जा सकता है। वह शासक को मनुष्य की अपेक्षा गौण मानता था। उसने कहा कि यदि शासक दुराचरण का अवलम्बन लेता है तो शासित को अधिकार है कि वह उसे पदच्युत कर दे। मेंसियस सुव्यवस्था के लिए दण्ड आवश्यक मानता था किन्तु कहता था कि इसे नियत एवं निश्चित अपराध के लिए दिया जाना चाहिए। वह युद्ध का विरोधी था और कहता था कि जो यह कहते हैं कि "मैं युद्धवीर कुशल सेनानायक हूँ" वे अपराधी हैं। मेंसियस की दृष्टि में युद्ध मानव के लिए विनाशक होता है। उसका विचार था कि अच्छे शासक को दूसरे देशों से युद्ध करने की अपेक्षा निर्धनता से लड़ना चाहिए क्योंकि निर्धनता तथा अशिक्षा से ही अव्यवस्था उत्पन्न होती है। शासित के कल्याण की जिम्मेदारी शासक की है। जब एक शासक ने उससे कहा कि वह अकाल को रोक नहीं सकता तो मेंसियस ने कहा कि उसे पद त्याग देना चाहिए।

सुन-त्जू—कन्फ्यूशियस सम्प्रदाय का तृतीय दार्शनिक सुन-त्जू या सुन कुआंग (Hsun-Tzu or Hsun Kuang, 305-235 B. C.) था। कन्फ्यूशियस तथा मेंसियस की भाँति सुन-त्जू ने भी सुशासन का समर्थन किया। सुन-त्जू के समय में चीन की राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति अस्त-व्यस्त हो गई थी तथा सर्वत्र हिंसा का वातावरण उत्पन्न हो गया था। इससे उसका मन बदल गया। वह मनुष्य को स्वभाव से बुरा मानने लगा। सद्गुण उसकी दृष्टि में बनावटी होता है अर्थात् इसका मनुष्य के साथ जन्म नहीं होता बल्कि इसे शिक्षा के द्वारा उसमें उत्पन्न किया जाता है। वह कहता था कि मनुष्य को प्रकृत्या बुरा मानते हुए ही प्राचीन काल में उनको सुधारने के लिए नियम तथा कानून बनाये गये थे। मनुष्य की प्रकृति को सुधारने के लिए प्रयत्न, अभ्यास, अनुष्ठान के नियमित एवं उचित संपादन, सुयोग्य शासकों के आदर्श तथा कानूनों का अवलम्बन लेना चाहिए। मेंसियस की भाँति इसने भी युद्ध की निंदा की और बताया कि शासक यदि चाहे तो शत्रु की प्रजा को अपने आदर्श

व्यक्तित्व तथा व्यवहार से प्रभावित कर उस पर विजय प्राप्त कर सकता है। प्राचीन परम्पराओं तथा आर्ष वचनों में इसकी आस्था थी किन्तु भूत-प्रेतादि तथा शकुन परीक्षण के प्रति किंचित् विश्वास नहीं था। स्वर्ग को वे एक ऐसा विधान मानते थे जहाँ यंत्रवत् सद् को पुरस्कृत तथा असद् को दण्डित किया जाता है।

ताओवाद

चाऊ युगीन चीनी दार्शनिक सम्प्रदायों में कन्फ्यूशियसवाद के पश्चात् ताओवाद का उल्लेख किया जा सकता है। इसका जन्मदाता लाओ-त्से (Lao-Tse, 604-517 B. C.) था। यदि इसकी परम्परागत तिथि सही है तो इसे कन्फ्यूशियस का समकालीन मान सकते हैं। लाओ-त्से का मूल अभिधान लि (Li) था। लाओ-त्से नाम तो इसकी उपाधि थी जिसका अर्थ है 'वृद्ध गुरु' जिसे इसने बाद में धारण किया था। लाओत्से के प्रारम्भिक जीवनवृत्त के विषय में ठीक-ठीक नहीं ज्ञात हो सका है। अनुश्रुतियों से पता चलता है कि जन्म के समय ही वह अत्यन्त प्रौढ़ एवं विद्वान् हो चुका था क्योंकि उसका आविर्भाव अस्सी वर्ष तक माता के गर्भ में रहने के बाद हुआ था। जन्म से सम्बन्धित विलक्षणताओं के कारण कुछ लोग, लाओ-त्से की ऐतिहासिकता में शङ्का प्रकट करते हैं किन्तु अधिकांश विद्वान् उसे ऐतिहासिक मानते हुए प्रस्तावित करते हैं कि उसका जन्म होनान प्रान्त के किसी निर्धन परिवार में हुआ था। अपने बुद्धि-बल तथा परिश्रम के आधार पर लाओ-त्से चाऊ राज्य के राजकीय अभिलेखागार का अध्यक्ष बन गया। संभवतः कन्फ्यूशियस से किसी स्तर पर उसकी भेंट हुई थी क्योंकि कन्फ्यूशियस लाओ-त्से का समर्थक था तथा उसके व्यक्तित्व से घबड़ाता था। लाओ-त्से के विचार ताओ-ते-चिंग (Tao-Te-Ching) नामक ग्रंथ में मिलते हैं। इसकी रचना चाऊ राज्य छोड़ते समय लाओ-त्से ने यिन-शि (Yin-Shi) नामक एक सीमा रक्षक के आग्रह पर की थी। कुछ विद्वान् लाओ-त्से के समान उसकी कृति की प्रामाणिकता भी संदिग्ध मानते हैं। प्रो॰ गाइल[1] इसे द्वितीय शती ई॰ पू॰ के बाद की रचना मानते हैं जबकि लातुरे[2] इसे तृतीय शती ई॰ पू॰ की स्वीकार करते हैं।

लाओ-त्से के सिद्धान्त कन्फ्यूशियस की अपेक्षा अधिक रहस्यवादी, अस्पष्ट एवं दुर्ग्राह्य थे। उसके सिद्धान्त ताओवाद नाम से प्रसिद्ध हुए। ताओं (Tao) का शाब्दिक अर्थ है मार्ग (Way), किन्तु लाओत्से ने इसे शाश्वत तत्त्व के अर्थ में ग्रहण किया। लाओ-त्से की ताओ सम्बन्धी अवधारणा कुछ उसी प्रकार थी जैसे पाश्चात्य

---

1. Will Durant, The Story of Civilization, Vol. I, p. 653
2. K. S. Latourette, The Chinese, Their History and Culture, p. 56

दार्शनिकों की 'परमतत्त्व' (Absolut) की। भारतीय वेदान्तियों ने इसे ब्रह्म स्वीकार किया है। लाओ-त्से के अनुसार ताओ ही यंग (Yang) एवं यिन (Yin) दो तत्त्वों का कारण है। यंग तत्व प्रकाश, पुरुषत्व एवं क्रियाशीलता का बोधक है तथा यिन अंधकार, स्त्रीत्व तथा निष्क्रियता का। किन्तु दोनों की सृजनात्मक शक्ति ताओ है, एतदर्थ परमतत्त्व वही है। लाओ-त्से ने प्रतिपादित किया कि मनुष्य को ताओ का अनुसरण करने के लिये उससे तादात्म्य स्थापित करना चाहिए। इसके लिए बुद्धि, तर्क शक्ति तथा धार्मिक अनुष्ठानों का अवलम्बन लेना ही पर्याप्त एवं उचित न होगा। इसके लिये आत्म-चिन्तन एवं सरल जीवन आवश्यक है। लाओ-त्से कृत्रिम जीवन की अपेक्षा स्वाभाविक एवं सरल जीवन का पक्षपाती था। प्रकृति का ताओ से तादात्म्य स्थापित करते हुए उसने कहा कि जैसे अनन्त काल से ताओ के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं हुआ उसी प्रकार मनुष्य को भी कृत्रिमता से दूर रहते हुए प्राकृतिक नियमों को ज्यों के त्यों बने रहने देना चाहिए। प्राकृतिक व्यवस्था को छोड़कर कृत्रिमता अंगीकृत करने का अर्थ प्रकृति एवं ताओ का विरोध करना है। ज्ञान, विज्ञान एवं विधान के अवलम्बन से मनुष्य ताओ के मार्ग से हट जाता है।

लाओ-त्से ज्ञान, कर्म, इच्छा, सम्पत्ति, पद, ऐन्द्रिय सुख-दुख, जीवन-मरण इत्यादि को स्वप्नवत् भ्रम मानता था। उसका विश्वास था कि धर्म, ज्ञान, विज्ञान, शिक्षा-दीक्षा, आचार-व्यवहार, स्वार्थ एवं परमार्थ की मिथ्या आंकाक्षाओं को त्यागने तथा ताओ के आश्रय से ही सुख मिल सकता है। सुकरात एवं प्लेटो के विपरीत उसने ज्ञान को मिथ्या बताया। वह मानता था कि शिक्षा के प्रचार-प्रसार से मूख की संख्या बढ़ती है। बुद्धिवादियों को वह राज्य के लिए अहितकर मानता था। क्योंकि वे प्राकृतिक नियमों से हटकर समाज को नियम एवं कानूनों में बाँधने का प्रयत्न करते हैं। इससे जिस समाज का निर्माण होता है वह ज्यामिति के समा होता है। लाओ-त्से अज्ञानी व्यक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति मानता था। वह श्लथ समाज का पक्षपाती था। उसका कथन था कि आदर्श राज्य वह है जिसके सदस्य उस राज्य के दर्शन भी न किये हों जो उनके इतना निकट हो कि वहाँ हुए बाँग तथा कुत्ते की आवाज उन्हें सुनाई पड़ती हो।[1] लाओ-त्से नम्रता का समर्थक था। वह कहता था कि मार्ग में बाधा पहुँचाने वाले का अहित नहीं करना चाहिए। क्षमा, प्रेम, धैर्य एवं शान्ति को वह सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करता था। इसमें संदेह नहीं है कि लाओ-त्से कृत्रिमता से दूर एक प्राकृतिक आदर्श समाज की स्थापना करना चाहता था किन्तु रहस्यवादी, गूढ़ एवं दुर्ग्राह्य होने के कारण इसे व्यवहार में न लाया जा सका।

---

[1] Arther Waley, The Way and its Power--A Study of The Tao-Ching, pp. 241-42.

चुआंग-त्जू—लाओ-त्से के ताओवाद को चुआंग-त्जू (Chuang-Tzu) ने आगे बढ़ाने का प्रयास किया। चुआंग-त्जू चौथी शती ई० पू० का दार्शनिक था। इसका जन्म सुंग प्रदेश में हुआ था। यह कुछ दिन तक खि-यून (Khi-Yun) नगर में किसी पद पर कार्य भी कर चुका था। कहा जाता है कि इसके लिए दो बार कोई उच्च पद प्रस्तावित किया गया था किन्तु इसने अस्वीकार कर दिया था। जब वी (Wie) के शासक ने इसके लिए प्रधान मन्त्री का पद प्रस्तावित किया तो संवाददाता को इसने फटकारते हुए लौटा दिया क्योंकि यह किसी दरबार की चाहरदीवारी में बँधना नहीं चाहता। चुआंग-त्जू आदर्शवादी था तथा ताओ को ही परम सत्य स्वीकार करता था। राज्य एवं दार्शनिक चिन्तन को यह असत्य मानता था। यह कहता था कि शासक एवं गवर्नर के बहुत से गुण चोरों से मिलते-जुलते हैं।

अन्य सम्प्रदाय

परवर्तीय चाऊ युग में कन्फ्यूशियसवाद एवं ताओवाद के अतिरिक्त कुछ अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों का भी उदय हुआ था। इसमें मो-ती सम्प्रदाय का संस्थापक मो-ती विशेष प्रसिद्ध है।

मो-ती—मो-ती अथवा मो-त्जू (Mo-ti or Mo-Tzu, 500-420 B.C.) लू राज्य का निवासी था। कहा जाता है कि मो-ती सुंग राज्य में सैनिक विभाग में प्रतिरक्षा मन्त्री तथा अर्थशास्त्र विशेषज्ञ पद पर भी रह चुका था। कन्फ्यूशियस के अव्यावहारिक सिद्धान्तों की भर्त्सना करते हुए मो-ती ने विश्व-बन्धुत्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। मो-ती विश्व-बन्धुत्व को ही सर्वोत्तम स्वीकार करता था। उसका कहना था कि इसी से कुल, वंश तथा परिवार का कल्याण हो सकता है। विश्व-बन्धुत्व प्राप्त करने के लिए ईश्वर की इच्छा के अनुरूप जीवन व्यतीत करना चाहिए। वह कहता था कि ईश्वर सभी से प्रेम करता है तथा सबकी भलाई करता है इसी लिए मनुष्य को भी सभी से प्रेम करना चाहिए तथा सभी का हित करना चाहिए। इसके लिए स्वार्थ-त्याग अनिवार्य है। मो-ती स्वार्थ को सभी दुर्गुणों का कारण मानता था। मो-ती को यह देखकर आश्चर्य होता था कि सुअर चुराने वाला व्यक्ति निन्दा का पात्र बनता है तथा दण्ड पाता है जबकि पड़ोसी राज्य पर आक्रमण तथा उसका अधिग्रहण करने वाला प्रशंसा का पात्र बनता है। वह युद्ध का विरोधी था किन्तु केवल साम्राज्य प्रसार तथा अधिग्रहणात्मक युद्धों का ही। रक्षात्मक युद्ध का वह समर्थक था। भूत-प्रेतादि के अस्तित्व में उसका विश्वास था किन्तु वह कहता था कि इन्हें प्रसन्न करने के लिए विस्तृत एवं व्ययसाध्य अनुष्ठान व्यर्थ हैं। मो-ती के सिद्धान्तों की मेंसियस ने तीव्र आलोचना की तथा कहा कि ये सिद्धान्त समाज के लिए घातक हैं।

यांग-चू—चतुर्थ शती ई० पू० के आविर्भूत यांग-चू (Yaug-Chu) ने कन्फ्यूशियस तथा मो-ती के सिद्धान्तों का निराकरण किया तथा नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित किया। यांग-चू स्वार्थवादी, भाग्यवादी तथा निराशावादी था। इसने बताया कि जीवन दुःखों से भरा है तथा इसका मुख्य उद्देश्य आनन्द प्राप्त करना है। इसमें किसी व्यक्ति के विचारों तथा भावनाओं को ध्यान में नहीं रखना चाहिए। यांग-चू मानता था कि दुःख भाग्यवश मिलते हैं। यह मनुष्य को प्रकृति के हाथ की कठपुतली मानता था। यांग-चू ने बताया कि शून-यू तथा चाऊ-कुंग ने अपना सब कुछ राज्य कल्याण के लिए अर्पित कर दिया किन्तु उन्हें एक दिन भी सुख न मिला। इसके विपरीत चि-एह, तथा चाऊ-सिन के भ्रष्टाचरणों द्वारा उनके वंश का विनाश हुआ किन्तु उन्होंने आनन्दित जीवन व्यतीत किया। मृत्यु अच्छे-बुरे दोनों की होती है। इस लिए जिस रूप में जीवन मिला है उसका उपयोग कर लेना ही उचित है। निन्दा तथा प्रशंसा का इसकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं था। यांग-चू के सिद्धान्त कुछ-कुछ भारतीय चार्वाक दर्शन से मिलते-जुलते हैं।

प्रकृतिवाद

सन्यांग निवासी त्सू-येन (Tsu-Yen) ने प्रकृतिवाद की स्थापना की। इसने काष्ठ, अग्नि, जल-मिट्टी तथा धातु पाँच तत्वों की कल्पना की और इनके संयोजन एवं विघटन को क्रमशः सृष्टि एवं विनाश का कारण बताते हुए सृष्टि तथा विनाश को ज्योतिष तथा राजनीति से जोड़ कर उसकी सत्यता सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

विधिवाद

उपयुक्त सम्प्रदाओं के अतिरिक्त चाऊ युग में विधिवादियों का भी एक सम्प्रदाय था। इसके समर्थकों में सर्वाधिक प्रसिद्ध हान-फेई-त्जू (Han-Fei-Tzu) था। विधिवादियों का विश्वास था कि मनुष्य प्रकृत्या दुष्ट होता है अतएव उसका सुधारना आवश्यक हो जाता है। इसमें केवल कानून ही सहायक हो सकता है। वे मानते थे कि मनुष्य परिवर्तित होता रहता है किन्तु कानून एक समान सदैव बना रहता है। समाज, कुल तथा राज्य को व्यवस्थित करने के लिए कानून का ही अवलम्ब लिया जा सकता है। सबसे पहले तो शुभ शासक ही नहीं मिल सकता। यदि किसी प्रकार मिल जाय तो वह वैसा सदैव बना ही रहेगा यह निश्चित नहीं है किन्तु कानून के द्वारा उसे ऐसा बनाया जा सकता है क्योंकि वे स्थायी हैं।

14

सिंधुघाटी की सभ्यता

लगभग सवा सौ वर्ष पूर्व भारत सरकार मे कराँची से लाहौर तक के बीच रेल पथ-निर्माण में सिंधु सभ्यता के खण्डहरों की ईंटों का उपयोग किया किन्तु उस समय किसी को विश्वास नहीं था कि वे ईंटें किसी उत्कृष्ट सभ्यता की प्रतीक हैं। सर्वप्रथम 1921 ई० में रायबहादुर दयाराम साहनी ने पाकिस्तान के माण्टगोमरी जिले में हड़प्पा (Harappa) तथा 1922 ई० में स्व० राखाल दास बनर्जी ने सिंध के लरकाना जिले में मोहनजोदड़ो[(Mohanjodaro) सिंधी रूप मुहे-जो-दड़ो—मरे हुओं का टीला] की आद्यैतिहासिक महत्ता प्रतिपादित की। इनके प्रतिवेदन के फलस्वरूप भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और इसके प्रयास से सिंधुघाटी की सभ्यता के एक-एक करके अनेकों स्थल प्रकाश में आ गये। इसका श्रेय विशेष रूप से सर्वश्री दयाराम साहनी, जान मार्शल, ननीगोपाल मजूमदार, ऑरल स्टाइन, माधो स्वरूप वत्स, रायबहादुर के० एन० दीक्षित, स्टुअर्ट पिगट, मार्टीमर ह्वीलर, मैके इत्यादि विद्वानों को दिया जा सकता है।

विस्तार

प्रारम्भ में इस सभ्यता के अवशेष हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो से ही मिले थे अस्तु इसे हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो की सभ्यता नाम दिया गया था। किन्तु वर्तमान शती के द्वितीय एवं तृतीय पाद में सम्पन्न उत्खननों से यह प्रमाणित हो गया कि सिंधु घाटी की सभ्यता सिंधु-उपत्यका के अतिरिक्त गंगा-यमुना, नर्मदा एवं ताप्ती की उपत्यका में भी प्रसरित थी। जिन स्थलों के विषय में पता चला है उनमें हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो के अतिरिक्त चन्हुदड़ो (Chanhudaro), अली मुराद (Ali Murad); कोटदीजी (Kotdiji), रूपड़ (Rupar), बाड़ा (Bara), संघोल (Sanghol); राखीगढ़ी (Rakhigarghi), बाणावली (Baravali), मीत्ताथल (Mittathal),

कालीबंगां (Kalibangan), आलमगिरपुर (Alamgirpur), रंगपुर (Rangpur), लोथल (Lothal), रोजदि (Rojdi), सुरकोटड़ा (Surkotara), भगतराव (Bhagat-rav) मालवण (Malavara), सुत्कागेन्डोर (Sutkagendor), सोत्काकोह (Sotka-koh) तथा डाबरकोट (Dabarkota) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कुछ समय तक इसकी उत्तरी सीमा रूपड़ मानी जाती थी किन्तु प्रो० दानी सुलेमान पर्वत के पूर्वीघाट में गोमल घाटी में कई स्थल प्राप्त करने में सफल रहे जिनमें प्राचीनतम गुमला है। तक्षशिला के समीप सरायकेला नामक स्थल का पता भी चला है। दक्षिण में किसी समय तक सिंधुघाटी की सभ्यता का प्रसार भगत्राव तक था किन्तु अब उससे भी दक्षिण मालवण तक इसके अवशेष मिले हैं। इसकी पूर्वी सीमा किसी समय आलमगिरपुर थी किन्तु अब इससे भी पूर्व बड़गाँव से कतिपय अवशेष मिले हैं। पश्चिम में यह सभ्यता मकरान के समुद्री तट पर सुत्कागेनडोर तक फैली थी। अब तक जो साक्ष्य मिले हैं उनके परिप्रेक्ष्य में प्रो० रंगनाथराव सिंधुघाटी की सभ्यता का विस्तार पूर्व से पश्चिम 1,600 किलोमीटर तथा उत्तर से दक्षिण 1,100 किलोमीटर प्रस्तावित करते हैं।

निर्माता

सुविस्तृत एवं उन्नतिशील सिंधुघाटी की सभ्यता के निर्माताओं के विषय में अद्यतन निश्चित रूप से नहीं ज्ञात हो सका है। यहाँ से प्राप्त अस्थियों एवं प्रतिमा मस्तकों के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर इसमें आद्य आस्ट्रेलायड (Proto-Australiod) भू-मध्यसागरीय (Mediterrenean), अल्पाइन (Alpine) तथा मंगोलियन (Mangoliod) प्रजातियों के अस्तित्व का समर्थन मिलता है किन्तु यह कहना कठिन है कि इनमें से कौन सी जाति इस सभ्यता की प्रमुख जन्मदाता थी? सिंधुघाटी की सभ्यता के निर्माताओं में जिनकी चर्चा की जाती है उनमें द्रविड़, ब्रहुई, सुमेरियन, पणि, असुर, व्रात्य, वाह्लीक, दास, नाग एवं आर्य का उल्लेख किया जा सकता है। सिंधुघाटी एवं द्रविड़-सभ्यता में विद्यमान पारस्परिक सांस्कृतिक विषमताओं के आधार पर इन्हें द्रविड़ नहीं माना जा सकता। ब्रहुई सिंधुघाटी की सभ्यता के स्रष्टा नहीं हो सकते। वांशिक दृष्टि से ब्रहुई लोग ईरानी मालूम पड़ते हैं।[1] यदि सुमेरियन सभ्यता एवं सिंधुघाटी की सभ्यता में कतिपय समानताएँ हैं तो विषमताएँ भी हैं। इस दृष्टि से दोनों सभ्यताओं की लिपि को प्रस्तुत किया जा सकता है। सुमेरियन लिपि पढ़ ली गई है जबकि सिंधुघाटी की लिपि अभी भी रहस्य बनी है। इसी प्रकार नगर-योजना इत्यादि में भी दोनों संस्कृतियों में स्पष्ट अन्तर है। अस्तु सुमेरियन सिंधुघाटी की सभ्यता के जनक नहीं माने जा सकते। डॉ० राज-बली पाण्डेय वैदिक एवं पौराणिक साक्ष्यों के आधार पर सिंधुघाटी की सभ्यता

---

[1] रामाधारी सिंह 'दिनकर', संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 42

के निर्माण का श्रेय असुरों को देते हैं। आपके अनुसार आर्यों को पश्चिमोत्तर भारत में असुरों से युद्ध करना पड़ा था और यह जाति भाषा एवं संस्कृति में आर्य के समान थी। आर्यों से पराजित होकर ही यह ईरान, सुमेर इत्यादि में जाकर बस गई। किन्तु असुरों के ठीक-ठीक समीकरण न हो सकने के कारण यह मत मान्य नहीं हो सका है। पिगट[1] ऋग्वेद में उल्लिखित दास एवं दस्युओं को हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो के निवासियों से समीकृत करते हैं। उनका कहना है कि ऋग्वेद में इन्हें कृष्णवर्णीय, लिंगोपासक तथा यज्ञविरोधी कहा गया है। किन्तु यह मत भी उचित नहीं प्रतीत होता। डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डे ऋग्वेद के दास एवं दस्यु शब्दों की अनार्यपरक व्याख्या समीचीन नहीं मानते।[2] कुछ विद्वानों की धारणा है कि सिंधुघाटी की सभ्यता के निर्माता मूलतः वैदिक आर्य ही थे। किन्तु दोनों संस्कृतियों में विद्यमान आधारभूत अन्तरों के परिप्रेक्ष्य में इसे स्वीकार करना उचित नहीं है। सिंधुघाटी की सभ्यता नगर सभ्यता थी जबकि आर्य सभ्यता विशुद्ध ग्राम्य सभ्यता थी। सिंधुघाटी के निवासी प्रायः अश्व से अपरिचित प्रतीत होते हैं जबकि आर्यों के लिए इस पशु का विशिष्ट महत्त्व था। आर्य गाय को अघन्या मान कर उसकी पूजा करते थे किन्तु सिंधुघाटी के निवासियों के लिए उसका कोई महत्त्व नहीं था। इसी प्रकार यह अस्वाभाविक लगता है कि नगर सभ्यता के जनक सिंधुघाटी के निवासी क्यों और कैसे ग्राम्य संस्कृति में बदल गये। इस तर्क से बचने के लिए कुछ विद्वानों ने सिंधुघाटी की सभ्यता को वैदिकोत्तर सभ्यता स्वीकार कर लिया किन्तु वर्तमान साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में इसे नहीं माना जा सकता। अब प्रायः मान लिया गया है कि आर्य सभ्यता सिंधुघाटी की सभ्यता के बाद की है तथा दोनों सभ्यताओं का स्रोत एक नहीं है।[3] बलूचिस्तान के सर्वेक्षण के आधार पर फेयरसर्विस (W. H. Fairservis) सिंधुघाटी की सभ्यता का उद्‌भव एवं प्रसार बलूची तथा सिंधुघाटी की आखेटप्रिय एवं कृषक संस्कृतियों के पारस्परिक सम्पर्क के कारण मानते हैं। इसका मुख्य आधार प्राक्सैंधव मृद्‌पात्रों तथा बलूचिस्तान के राना घुण्डाई (Rana Ghundai) तथा पेरियानों (Periano) से प्राप्त मृद्‌पात्रों में विद्यमान समता है। किन्तु यह मत भी मौलिक नहीं प्रतीत होता।

प्रश्न है यदि सिंधुघाटी की सभ्यता के निर्माता द्रविड़, ब्रहूई, असुर, दास, दस्यु, आर्य एवं बलूचिस्तान के निवासी नहीं थे तो फिर वे कौन थे जिन्होंने इसका ताना-बाना तैयार किया।

---

1. Stuart, Piggot, Prehistoric India, p. 261
2. गोविन्द चन्द पाण्डे, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास पृ० 3; द्रष्टव्य K. C. Chattopadhyaya, 'Das and Dasyus in Rigveda', Proceedings of 19th International Congress of Orientalist, Rome.
3. उदय नारायण राय, प्राचीनभारत में नगर तथा नगर जीवन, पृ० 12

कोटदीजी के उत्खनन से स्पष्ट हो गया है कि यहाँ सिंधुघाटी की नगर सभ्यता के विकास के पूर्व ग्राम्य सभ्यता विद्यमान थी जिसका सम्बन्ध हड़प्पा से नहीं था। पहले इनका सम्बन्ध बलूचिस्तान के राना घुण्डाई से प्रस्तावित किया गया किन्तु प्रो० घोष को 1953 ई० में सरस्वती नदी की घाटी में सोथी (Sothi) नामक स्थल से एक विशेष प्रकार के भृद्भाण्ड मिले जिससे उक्त मत में परिवर्तन करना पड़ा। घोष ने पहले तो सोथी मृद्भाण्डों को विशेष महत्त्व न दिया किन्तु जब कालीबंगा से भी प्राक्सैंधव सांस्कृतिक स्तरों से इस प्रकार के मृद्भाण्ड मिले तो इसका महत्त्व बढ़ गया और घोष महोदय ने प्रस्तावित किया कि वास्तव में सिंधुघाटी-सभ्यता के निर्माता इसी सोथी संस्कृति के लोग थे। सोथी मृद्भाण्डों के प्रतिरूप कालीबंगा तथा हड़प्पा के प्राक्सैंधव सांस्कृतिक स्तरों से मिलते हैं। इस तरह अब कहा जा सकता है कि सिंधुघाटी की सभ्यता के विकास के पूर्व इस भू-भाग में ही एक ऐसी अविकसित संस्कृति विद्यमान थी जो सोथी के समान भृद्भाण्ड बनाती थी। सिंधु घाटी की सभ्यता के जनक यही थे। लेकिन इस सम्बन्ध में यह नहीं भूलना चाहिए कि सिंधुघाटी के सांस्कृतिक विकास में स्थानीय तत्त्वों के साथ-साथ विदेशी तत्त्वों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान था। ह्वीलर उचित ही कहते हैं कि सिंधुघाटी के निवासियों ने, उन सभी संस्कृतियों से जो उसके समय में विद्यमान थीं, सांस्कृतिक प्रभाव ग्रहण किया।

प्राचीनता

लिखित साक्ष्यों के अभाव में सिंधुघाटी की सभ्यता की तिथि का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सका है। सुमेरियन तिथियों के परिप्रेक्ष्य में मार्शल मोहनजोदड़ो के संस्कृति की अवधि पाँच सौ वर्ष स्वीकार करते हुए सिंधुघाटी की सभ्यता की तिथि 3250 ई० पू० से 2750 ई० पू० तक स्वीकार करते थे। किन्तु अब यह मत नहीं माना जाता। वास्तव में मार्शल ने जिस समय इस तिथि को प्रस्तावित किया था सुमेरिया के सारगोन की तिथि 2800 ई० पू० मानी जाती थी किन्तु अब इसे चौबीसवीं शती ई० पू० माना जाता है। मैके (E. J. H. Mackay) मोहनजोदड़ो के अंतिम काल को 2500 ई० पू० मानते हुए सिंधुघाटी की सभ्यता का प्रारम्भ 2800 ई० पू० से स्वीकार करते हैं। वत्स हड़प्पा नगर के प्रारम्भ की तिथि 3500 ई० पू० तथा सिंधु सभ्यता की अंतिम तिथि 2700 ई० पू० स्वीकार करने के पक्ष में हैं। सुमेरिया से प्राप्त कतिपय मुद्राओं, जिनमें 12 विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनका पता सर्वप्रथम 1932 ई० में श्री सी० जे० गैड (C. J. Gadd) ने लगाया था, के आधार पर ह्वीलर सिंधुघाटी की सभ्यता की तिथि 2500 ई० पू० से 1500 ई० पू० तक स्वीकार करते हैं। मुद्राओं के अतिरिक्त ह्वीलर अन्य साक्ष्यों का भी अवलम्बन लेते हैं। आपके अनुसार सुमेरिया में प्रारम्भिक राजवंशों के समय लाजवर्द (Lapis Lazuli) का प्रयोग प्रचुरता से होता था किन्तु बाद में सारगोनी युग में कम

हो गया । सिंधु सभ्यता में भी बाद में इसका प्रयोग कम दिखाई पड़ता है । इस कमी का कारण दोनों स्थलों पर एक-सा ही प्रतीत होता है जो इनकी समकालीनता का द्योतक है । अपने मत के समर्थन में ह्वीलर साहित्यिक साक्ष्यों का उपयोग भी अत्यन्त बुद्धिमता से करते हैं । आपके अनुसार ऋग्वेद के कुछ मंत्रों में अनार्यों के दुर्गरक्षित नगरों का उल्लेख मिलता है जिन्हें विजेता आर्यों ने ध्वस्त किया था । इसी लिए आर्य अपने देवता के लिए 'पुरन्दर' उपाधि प्रयुक्त करते हैं । ह्वीलर की धारणा है कि ये दुर्ग सिंधुघाटी के निवासियों के अतिरिक्त किसी दूसरे के नहीं हो सकते । फेयर-सर्विस सिंधुघाटी की सभ्यता की तिथि 2000 ई० पू० से 1500 ई० पू० तक स्वीकार करते हैं । प्रो० अल्चिन एवं श्रीमती अल्चिन कोटदीजी तथा कालीबंगा के आधार पर सिंधुघाटी की सभ्यता की तिथि 2150 से 1750 ई० पू० तथा श्री धर्म पाल अग्रवाल एवं श्री पन्ना लाल अग्रवाल 2300 से 1700 ई० पू० स्वीकार करते हैं । आधुनिक शोधों से जो रेडियो कार्बन तिथियाँ मिली हैं उनके आधार पर भी सिंधुघाटी की सभ्यता का प्रसार 2500 ई० पू० से 1500 ई० पू० के बीच माना गया है ।[1]

शासन-तन्त्र

लिपि के अपाठ्य होने के कारण सिंधुघाटी के निवासियों के राजनीतिक संगठन के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता । इस सम्बन्ध में विद्वानों ने केवल अनुमान द्वारा ही कुछ कहने का यत्न किया है । हड़प्पा के साक्ष्यों के आधार पर ह्वीलर मध्यवर्गीय जनतन्त्रात्मक व्यवस्था की उपस्थिति प्रस्तावित करते हैं । हंटर की भी यही धारणा है । स्टूअर्ट पिगट का विचार है कि सैंधव नगरों का प्रशासन हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो दो राजधानियों द्वारा निरंकुश पुरोहित करते थे । पिगट हमारा ध्यान ऐतिहासिक युग की ओर आकृष्ट करते हैं जब शक एवं कुषाण उत्तरी पश्चिमी भारत में दो राजधानियों से शासन करते थे ।[2] प्रो० अल्चिन एवं श्रीमती अल्चिन के अनुसार सैंधव संस्कृति में राजकीय कुलीनतंत्र प्रचलित था जो अर्थ-व्यवस्था, नगर-शासन तथा राजकीय धार्मिक अनुष्ठानों पर नियंत्रण रखता था ।[3] गार्डन चाइल्ड का विचार है कि सुनियोजित सड़कों एवं जल-निकास की व्यवस्था इत्यादि से यहाँ नगरपालिका की उपस्थिति प्रमाणित होती है ।[4]

---

[1] द्रष्टव्य : धर्म पाल अग्रवाल एवं पन्ना लाल अग्रवाल, भारतीय पुरैतिहासिक पुरातत्त्व

[2] Piggot, Stuart, Prehistoric India, p. 150

[3] Bridget and Raymond Allchin, The Birth of Indian Civilization, p. 137

[4] V. G. Child, What Happened in History, P. 127

सामाजिक जीवन—सिंधुघाटी की सभ्यता की लिपि के अपाठ्य होने से इसके सामाजिक संगठन का भी ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सका है। ऐसा लगता कि यहां मुख्य रूप से अधिकारी, पुरोहित, ज्योतिषी, अभिचारक, चिकित्सक, कृषक, कुम्भकार, वर्द्धकि, नाविक, वणिक् तथा श्रमिक वर्ग की प्रधानता थी। इनमें अधिकारी पुरोहित, ज्योतिषी तथा अभिचारक अपेक्षाकृत अधिक प्रतिष्ठित थे। कुछ लोग सिंधुघाटी के निवासियों को बुद्धिजीवी, योद्धा, व्यापारी, शिल्पी तथा श्रमिक वर्गों में विभाजित करते हुए उनकी समता वैदिक वर्ण-व्यवस्था से प्रस्तावित करते हैं। भवनों की योजना में पारस्परिक अन्तर के कारण कुछ लोग यहाँ दासों का अस्तित्व भी स्वीकार करते हैं। ह्वीलर प्रस्तावित करते हैं कि हड़प्पा के श्रमिक भवनों में रहने वाले लोग दास ही थे।[1] डी० एच० गार्डन हड़प्पा से प्राप्त कुछ मूर्तियों की वेशभूषा के आधार पर यहाँ दास-प्रथा का अस्तित्व प्राप्त करते है।[2] गार्डन तो कुछ दासों को वलि के लिए भी प्रयुक्त मानते हैं। चाइल्ड के अनुसार सिंधुघाटी का समाज धनी एवं निर्धन वर्गों में विभाजित था।[3]

सिंधुघाटी के निवासियों का सामान्य जीवन सुखी एवं शान्तिपूर्ण था। समृद्ध लोग विलासिता का जीवन व्यतीत करते थे जबकि निर्धनों का जीवन कठिनाई से युक्त था। खाने-पीने, वस्त्र एवं अंलकरण के वे शौकीन थे। स्त्री-पुरुष दोनों आभूषण धारण करते थे। इनका निर्माण सोने-चाँदी तथा हाथीदांत की सहायता से किया जाता था। गरीब मिट्टी तथा घोंघे के आभूषण पहनते थे। उत्खनन से दर्पण एवं कंघियों के अवशेष मिले हैं। स्त्रियाँ शिर के बीच से माँग निकालती थीं तथा केश पीछे छोड़ देती थीं। कभी-कभी शिर पर जूड़ा बाँधा जाता था। मछली पकड़ना तथा शिकार करना इनके मनोरंजन का मुख्य साधन था। पशु-पक्षियों का परस्पर युद्ध भी होता था। पाँसे का खेल वे जानते थे तथा नृत्य के शौकीन थे।

आर्थिक संगठन—सिंधु-नदी की उर्वरघाटी में वे समुन्नत कृषि करते थे। जुताई के लिए ताम्र एवं प्रस्तर के उपकरण तथा सिंचाई के लिए नहरों एवं बाँधों का उपयोग किया जाता था। मुख्य रूप से गेहूँ, जौ, मटर, तिल, सरसों एवं खजूर की खेती करते थे। लोथल तथा रंगपुर से चावल के प्रमाण भी मिले हैं। अनाजों का संग्रह बड़े-बड़े अन्नागारों में किया जाता था। इनकी देख-भाल के लिए विविध पदाधिकारी नियुक्त रहते थे। अनाज पीसने की कुछ चक्कियाँ मिली हैं किन्तु संकालिया इनका सम्बन्ध सिंधु सभ्यता से नहीं मानते। कृषि के साथ-साथ पशु-पालन भी

---

1. डॉ० उदय नारायण राय, प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन, पृ० 3; M. Wheeler, The Indus Civilization, pp. 27-30
2. D. H. Gordon, The Prehistoric Background of Indian Culture, pp. 87-88
3. V. G. Child, Man Makes Himself (Hindi), p. 151

प्रचलित था। उत्खनित मृद्भाण्डों, मुद्रांकनों तथा खिलौनों के माध्यम से पता लगता है कि सिंधुघाटी के निवासी मेष, अजा, बैल, भैंसे, सूकर, ऊँट, बारहसिंहा, हाथी, हरिण, गैंडे इत्यादि से परिचित थे। इनका उपयोग मांस, ऊन, चमड़ा तथा भार वाहन के लिए किया जाता था। अश्व से परिचय विवादास्पद है। मैके को तो इसमें भी संदेह है कि सिंधुघाटी के निवासी ऊँट से परिचित थे।[1] कृषि एवं पशु पालन के साथ-साथ कुछ उद्योग-धंधे भी प्रचलित थे। वस्त्र बनाने के लिए कपास की कृषि की जाती थी। सिंधुघाटी की सभ्यता के वस्त्र मेसोपोटामिया भेजे जाते थे। वर्तन तथा आभूषण बनाने का व्यवसाय भी प्रचलित था। मोहनजोदड़ो से तो कुंभकारों की एक बस्ती के साक्ष्य भी मिले हैं। आभूषण-निर्माण में स्वर्णकार दक्ष थे। धातु को गलाकर उसकी सहायता से विविध प्रकार की वस्तुएँ बनाई जाती थीं। शंख सीप, हाथीदाँत इत्यादि से भी विविध प्रकार के उपकरण बनाये जाते थे। टिन तथा ताम्रके मिश्रण से कांस्य तैयार जाता था जिसकी सहायता से कुल्हाड़ी, छुरी, आरी इत्यादि उपकरण बनाते थे। शीशे की सामग्रियाँ भी बनायी जाती थीं। कच्चा माल वे बाहर से मँगाते थे। इसमें नावों तथा बैलगाड़ियों की सहायता ली जाती थी।

उद्योग-धंधों के साथ-साथ यहाँ व्यापार का भी प्रचलन था। राजपूताना तथा बलूचिस्तान से तांबा, अफगानिस्तान तथा ईरान से टिन एवं सोना-चाँदी और दक्षिण भारत से बहुमूल्य पत्थर मँगाया जाता था। इनके व्यापारिक सम्बन्ध बाह्य देशों से भी थे। इस दृष्टि से मिस्र तथा मेसोपोटामिया का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। मेसोपोटामिया के विभिन्न नगरों से ऐसी मुद्राएँ, मनके तथा मृद्माण्ड मिले हैं जो सुमेरियन नहीं लगते। इनकी समता तत्कालीन सिंध तथा पंजाब के नगरों से प्राप्त मुद्राओं, मनकों तथा मृद्भाण्डों से मिलती है। इससे दोनों देशों के बीच व्यापारिक सम्पर्क की पुष्टि होती है। प्रो० चाइल्ड के अनुसार प्राचीन काल में उर तथा किश में भारतीय व्यापारिक उपनिवेश थे।[2] व्यापार में बड़े-बड़े मार्गों का उपयोग किया जाता था। जिस पर स्थान-स्थान पर विश्रामस्थल बने होते थे। पिगट अमीलानो नामक स्थान को ऐसा ही एक विश्रामस्थल स्वीकार करते हैं। व्यापारिक लेन-देन के लिए माप एवं नाप-तौल की आवश्यक विधियों का आविष्कार कर लिया गया था। मोहनजोदड़ो से एक सीप तथा लोथल से हाथीदाँत का पैमाना मिला है। यहाँ जितनी संख्या में बाट मिले हैं संभवत विश्व में कहीं से नहीं मिले। विविध बाटों की तौल का अनुपात 1, 2, 8/3, 4, 8, 16, 32, 64, 160, 200, 320, तथा 640 था। इकाई सम्भवत: 16 के अनुपात में थी।

---

[1] E. J. H. Mackay, The Indus Civilization, p. 44

[2] V. G. Child, Man Makes Himself (Hindi), p. 135

धर्म

मातृशक्ति की उपासना—यद्यपि लिखित साक्ष्यों के अभाव में सिंधुघाटी के निवासियों के धार्मिक विश्वासों के विषय में अधिक जानकारी नहीं है किन्तु मुहरों, मुद्राओं तथा मृद्भाण्डों पर उत्कीर्ण एवं प्रस्तर इत्यादि साधनों से निर्मित शिश्न एवं चक्रवत आकृतियों, कुछ विशिष्ट प्रकार के भवनों एवं स्मारकों से इसके विषय में कुछ जानकारी मिलती है। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि सिंधु सभ्यता में सर्वाधिक महत्व मातृदेवी को मिला था। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा तथा अन्यान्य स्थलों से पंखाकार शिरोभूषाहार, चूडियाँ तथा कर्णाभरण धारण किए हुए नारी मूर्तियाँ मिली हैं। किसी-किसी मूर्ति के साथ शिशु भी प्रदर्शित है। एक मुद्रा पर, जो हड़प्पा से मिली है, एक नारी शिर के बल खड़ी है तथा उसके जनन स्थल से एक पौध निकलते हुए दिखाया गया है। संभवतः इसका सम्बन्ध उत्पादन देवी से था। एक अन्य चित्र में एक स्त्री पलथी मारे बैठी है। उसके दोनों ओर पुजारी हैं तथा ऊपर पीपल की पत्तियाँ हैं। मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक मूर्ति पर एक पक्षी पर फैलाए बैठा है। ये सभी साक्ष्य सिंधुघाटी के निवासियों को निर्विवादतः मातृशक्ति का उपासक बताते हैं। सिंधुघाटी के निवासियों के लिए यह कोई नई बात नहीं थी। प्रागैतिहासिक काल में मातृपूजा का प्रसार भू-मध्य सागर से भारत तक था। कुछ विद्वानों की धारणा हैं कि मातृदेवी की उपासना अनातोलिया से प्रारम्भ हुई।

पशुपति उपासना—मोहनजोदड़ो से एक विचित्र किन्तु विचारणीय मुद्रा मिली है। इस पर योगासन मुद्रा में एक पुरुष आकृति उत्कीर्ण है। पुरुष त्रिमुखी है तथा उसके शीर्ष पर श्रृंगमुकट सुशोभित हैं। मणिबंध से भुजा तक हाथ चूड़ियों से अलंकृत हैं। आकृति के दायें व्याघ्र एवं हाथी तथा बाएँ गैंडा तथा महिष विराजमान हैं। आसन के नीचे दो हरिण की आकृतियाँ है ,जिनमें एक खडितावस्था में है। मार्शल, डी० डी० कोसम्बी, बाशम, वासुदेव शरण अग्रवाल इत्यादि विद्वान् इस मुद्रा पर उत्कीर्ण आकृति को पशुपति शिव का प्राक्रूप स्वीकार करते हैं। किन्तु सालेतोर तथा रायचौधुरी इससे सहमत नहीं हैं। केदार नाथ शास्त्री तो इसे महिष शिरवाला देवता मानते हैं। किन्तु परवर्ती हिन्दू धर्म में शैव धर्म के विकास तथा ऋग्वैदिक युग में उसके अप्रचलन के कारण मार्शल इत्यादि विद्वानों का मत उचित प्रतीत होता है और इस तर्क के आलोक में हम दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि सिंधुघाटी के निवासी पशुपति शिव की उपासना करते थे।

चक्र एवं शिश्नोपासना—मातृशक्ति के प्रतीक रूप में यहां एक विशेष प्रकार के चक्र की उपासना भी की जाती थी। इसके मध्य भाग में एक छिद्र बना होता था जिसे प्रजनन शक्ति का प्रतीक मानते थे। कुछ चक्रों पर वृक्ष, पशु एवं नग्न नारी की आकृतियाँ भी मिलती हैं। ये चक्र छोटे-बड़े दोनों मिले हैं। अनुमान लगाया गया

है कि बड़े चक्रों की पूजा एक स्थान पर रख कर की जाती थी जब कि छोटे चक्रों को ताबीज रूप में धारण करते थे। परवर्ती हिन्दू धर्म में शिवलिंग की स्थापना के लिए परिकल्पित पीठ के आकारों में इसकी उपस्थिति देखी जा सकती है। हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, लोथल आदि स्थलों से कुछ ऐसी आकृतियाँ भी मिली हैं जिनका समीकरण शिश्न से किया जाता है। इनका निर्माण प्रस्तर, सीप तथा काँचली मिट्टी द्वारा किया गया है। इनकी ऊँचाई 1.27 सेन्टीमीटर से एक मीटर तक है। इससे पता लगता है कि सिंधुघाटी के निवासी शिश्नोपासक थे। फूट महोदय को तो दक्षिण भारत में प्रागैतिहासिक युग में इसकी उपस्थिति के प्रमाण मिले हैं। ऑरल स्टाइन को राना घुण्डाई से भी इसके साक्ष्य मिले हैं। वर्तमान हिन्दू धर्म में भी इसका प्रचलन है। आज इसका सम्बन्ध अपृथक् रूप से शैव सम्प्रदाय से जोड़ दिया गया है किन्तु सिंधुघाटी के निवासी ऐसा करते थे अथवा नहीं निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। प्रस्तुत स्थल पर ध्यातव्य है कि आज इसका निर्माण न करके इसे महेश्वर पर्वत, अमरेश्वर, कन्या-तीर्थ तथा नर्मदा से संग्रहीत किया जाता है। इन्हें बार्णलिग कहा जाता है किन्तु सिंधुघाटी के निवासी इनका निर्माण करते थे।

पशु-पूजा—सिंधु सभ्यता के विविध स्थलों से मूर्तियों के रूप में, मुद्राओं पर तथा मुद्रा छापों पर विविध प्रकार की पशु आकृतियाँ मिली हैं। इनमें कुछ तो सामान्य पशुओं जैसे भैंस, वृषभ, हस्तिन्, गैंडा, व्याघ्र तथा लघुश्रृंगी बैल किन्तु कुछ विलक्षण तथा काल्पनिक पशुओं की है। इस दृष्टि से एकश्रृंगी, अर्द्धमानवी एवं अर्द्धपाशविक आकृतियों का उल्लेख किया जा सकता है। एक मुद्रा पर एक-श्रृंगी पशु के तीन सिर दिखाये गये हैं। एक अन्य मुद्रा में तीन बाघों के शरीर परस्पर संलग्न हैं। इन पशुओं का अङ्कन निसंदेह धार्मिक कारणों से किया गया था। वे इनकी किसी न किसी प्रकार से उपासना करते थे यद्यपि वर्तमान समय में यह नहीं कहा जा सकता कि इसका स्वरूप क्या था ? इनमें से कुछ का सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार की पुराकथा से भी रहा होगा किन्तु लिपि के अपाठ्य होने के कारण हमें उसका ज्ञान नहीं हो सका है।

नागोपासन—मृद्भाण्डों पर नाग के चित्र मिले हैं। मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक मुद्रा पर देवता के दोनों ओर नाग दिखाये गये हैं। एक ताबीज पर एक नाग को चबूतरे पर लेटा दिखाया गया है। मैके का विचार है कि चबूतरे पर नागों को दूध पिलाया जाता था। यह प्रथा आज भी प्रचलित है। इससे प्रतीत होता है कि सिंधु-घाटी के निवासी नाग की पूजा भी करते थे।

वृक्षोपासना—सिंधु-सभ्यता के अवशेषों में बहुत-सी वृक्षों की आकृतियाँ मिली हैं। कुछ मुद्राओं पर तो वृक्षों को वेष्टनियों से निकलते हुए प्रदर्शित किया गया है। मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक मुद्रा पर एक वृक्ष, जो संभवतः पीपल का है, के दो तनों के संगम स्थल से एक एकश्रृंगी पशु का शिर निकलते हुए

दिखाया गया है। एक अन्य मुद्रा पर एक नग्न देवता वृक्ष की शाखाओं के मध्य खड़ा अङ्कित किया गया है। इसके केश बड़े हैं तथा यह भुजबंध धारण किये है। सामने एक व्यक्ति हाथ जोड़े बैठा है। उसके पीछे एक अन्य आकृति है जिसका मुख पुरुष, शरीर का कुछ भाग अजा तथा शेष बैल का है। इसके बाद घुटने तक वस्त्र धारण किए सात स्त्रियाँ एक पंक्ति में बनी हैं। इनके शिर पर पीपल की शाखाएँ हैं। अन्यत्र एक वृक्ष के साथ पूजा-पदार्थ दो बकरे तथा दो व्यक्ति चित्रित दिखाये गये हैं। मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक मुद्रा पर दो व्यक्ति हाथ से एक-एक वृक्ष धारण किये हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ वृक्ष-पूजा भी प्रचलित थी। इसमें पीपल को विशेष महत्त्व मिला था। पीपल के साथ-साथ नीम तथा बबूल की पूजा भी की जाती थी। सिंधुघाटी के निवासियों के लिए वृक्ष-पूजा कोई नई बात नहीं थी। विश्व की अन्य प्राचीन सभ्यताओं में भी इसका प्रचलन था। मातृशक्ति, पशुपति शिव, चक्र, शिश्न, नाग, पशु तथा वृक्ष के साथ-साथ यहाँ अन्य विविध प्रतीकों की उपासना भी की जाती थी। इस दृष्टि से वृषभ शृंग, स्तंभ, स्वस्तिक-चिह्न, चक्र तथा क्रास इत्यादि प्रतीकों का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें से कुछ प्रतीकों को ईजियन सभ्यता में भी धार्मिक महत्त्व प्राप्त था।

उपासना विधियाँ—सिंधु-सभ्यता के अवशेषों में ऐसा कोई भवन नहीं है जिसे निर्विवादतः मन्दिर स्वीकार किया जा सके। कम से कम हड़प्पा में तो ऐसा कोई भवन नहीं है। हाँ, मोहनजोदड़ो के दो-तीन भवनों को ह्वीलर अवश्य मन्दिर मानने के पक्ष में हैं। मोहनजोदड़ो में गढ़ी में एक स्थल को, जहाँ बाद में कुषाण काल में एक स्तूप बनाया गया था, धार्मिक स्वीकार किया जाता है। कुछ लोगों की धारणा है कि यहाँ काष्ठ की सहायता से मन्दिर बनाया गया था जो नष्ट हो गया किन्तु इस कथन में सच्चाई नहीं प्रतीत होती। सिंधुघाटी के निवासी भवनों का निर्माण ईंट की सहायता से करते थे, अतएव यदि वे मन्दिर बनाने की बात सोचते तो निस्संदेह उसका निर्माण भी ईंटों की सहायता से ही किया गया होता। ऐसी स्थिति में यही कहा जा सकता है कि यहाँ मन्दिर नहीं बनाए गये थे। देवी-देवताओं की उपासना खुले स्थलों पर ही सम्पन्न की जाती थी। पूजा में धूप-दीप, पुष्प, गायन-वादन, पशुवलि और संभवतः नरबलि का अवलम्बन लिया जाता था।[1] पूजा के पहले शायद वे स्नान सम्पन्न करते थे। इसे अधिकतर मोहनजोदड़ो के विशाल स्नानागार जैसे पवित्र एवं धार्मिक महत्त्व के स्थलों पर किया जाता था।

---

1. D. H. Gordon, Prehistoric Background of Indian Culture, pp. 87-88

अभिचार—सिंधुघाटी के निवासी अभिचारपरक थे तथा भूतप्रेत आदि आसुरी शक्तियों के अस्तित्व में विश्वास करते थे। वे मानते थे कि ये शक्तियाँ उनका अहित कर सकती हैं। अतएव इनसे बचने के लिए जादू-टोने एवं आभिचारिक क्रियाओं का अवलम्बन लेना आवश्यक समझा जाता था। इसके लिये वे अनेक प्रकार की तावीजें धारण करते थे।

परलोकवाद—प्राचीन विश्व की अन्य परलोकवादी संस्कृतियों की भाँति सिंधुघाटी के निवासी भी मृतकों के प्रति सजग थे तथा उन्हें विविध उपकरणों के साथ विशिष्ट मुद्रा में दफनाते थे। उनका विश्वास था कि मृतात्मा इन वस्तुओं का उपभोग करती है। यहाँ शवोत्सर्ग की—पूर्ण समाधीकरण, आंशिक समाधीकरण तथा दाहकर्म—तीन विविधाँ प्रचलित थीं। पूर्ण समाधीकरण में शव को विविध उपकरणों के साथ भूमि में दफना दिया जाता था। इस प्रकार की विधियाँ प्राचीन काल में मिस्र तथा मेसोपोटामिया में भी प्रचलित थी। स्वयं हमारे यहाँ वदिक काल में भी यह विधि प्रचलित थी। ऋग्वेद के एक सम्पूर्ण सूक्त में इससे सम्बन्धित संस्कारों का वर्णन है।[1] पूर्ण समाधीकरण का प्रमाण हड़प्पा का श्मशान क्षेत्र (R 37) है जहाँ सर्वप्रथम वत्स और उसके बाद ह्वीलर ने उत्खनन किया था। यहाँ से कुल अट्ठारह समाधियाँ मिली हैं। इनमें शव को पूर्णतः लिटा दिया गया है यद्यपि कुछ में मोड़ा भी गया है। इनके शिर उत्तर तथा पैर दक्षिण हैं। शवों के साथ मृद्भाण्ड, दीप, आभूषण, दर्पण, चाकू इत्यादि उपकरण मिलते हैं। हड़प्पा से एक ऐसी समाधि भी मिली है जिसमें शव को एक काष्ठ-पेटिका में रखा गया था। वैदिक काल में भी यह प्रथा प्रचलित थी। अथर्ववेद में शव रखने की पेटी का उल्लेख मिलता है।[2] पेटी के चारों ओर राख के अवशेष मिले हैं जिससे पता लगता है कि दफनाते समय शायद सरकण्डे का भी प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार की प्रथा सुमेरिया में भी प्रचलित थी। अतः संभावना व्यक्त की गई है कि यह समाधि किसी सुमेरियन व्यापारी की थी। पिगट के अनुसार इससे दोनों देशों के बीच सम्पर्क की पुष्टि होती है। प्रायः एक समाधि में एक ही शव दफनाया जाता था किन्तु कुछ में दो शव भी मिले हैं। स्त्री-पुरुषों के शव को साथ-साथ दफनाने की क्रिया में राव महोदय सती-प्रथा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं।[3] किन्तु संकालिया इससे सहमत नहीं हैं क्योंकि सतीप्रथा में दाह-कर्म किया जाता था न कि शवाधान।[4] आंशिक शवाधान में पशु-पक्षियों द्वारा खाये जाने के बाद बचे अंश को संग्रहीत कर दफना दिया जाता था। मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा से कुछ ऐसे भूमिगत

---

1. Macdonell and Kieth, Vedic Index, Vol. 1, p. 10
2. अथर्ववेद 18-2-25; Vedic Index, Vol. I, p. 10
3. Ancient India, Report, 1958-59, p. 14
4. H. D. Sankalia, Indian Archaeology Today

मृद्भाण्ड मिले हैं जिनमें कुछ मछलियों की हड्डियाँ, मृद्भाण्ड, आभूषण इत्यादि हैं। मार्शल तथा मैके इन्हें समाधियाँ मानते हैं। उनका कहना है कि शव को जलाने के बाद अस्थियाँ विसर्जित कर दी जाती थीं तथा राख को एक मृद्भाण्ड में रखकर दफना दिया जाता था। किन्तु ह्वीलर तथा पिगट इससे सहमत नहीं है। ह्वीलर के अनुसार ये पात्र निकास नालियों के शोषगर्त हैं। शवोत्सर्ग की दाह-कर्म विधि में शव को जला दिया जाता था। हड़प्पा में एक नरकंकाल के समीप बकरे की अस्थियाँ मिली हैं। इसके आधार पर कुछ लोगों ने प्रस्तावित किया है कि मृतक-संस्कार के समय यहाँ बकरे की बलि भी दी जाती थी।

परवर्ती हिन्दू धर्म पर प्रभाव

(i) सिन्धु-सभ्यता के उपरोक्त धार्मिक विश्वासों में से बहुत से परवर्ती हिन्दू धर्म में दिखाई पड़ते हैं। इस दृष्टि से सर्वप्रथम हम शैव सम्प्रदाय का उल्लेख कर सकते हैं। परवर्ती हिन्दू धर्म में पशुपति शिव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देवता बन गये। रुद्र के रूप में इनकी प्रतिष्ठा ऋग्वेदोत्तर काल से चली आ रही है। ऋग्वैदिक काल में रुद्र का स्थान नगण्य था। केवल तीन सम्पूर्ण सूक्तों में, अंशतः एक में तथा दूसरे में सोम के साथ सम्मिलित रूप में इनकी प्रख्याति है। किन्तु यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में रुद्र का स्थान महत्त्व संवलित है। यजुर्वेद का तो एक सम्पूर्ण अध्याय इसके लिए समर्पित है। इसमें रुद्र को पशुपति कहा गया है तथा वनस्पतियों एवं त्रिशूल से सम्बन्धित किया गया है। प्रश्न है, परवर्ती हिन्दू धर्म में शिवोपासना का विकास किस प्रभाव के अन्तर्गत हुआ। मार्शल इस पर सैंधव धर्म के पशुपति का प्रभाव स्वीकार करते हैं।

(ii) परवर्ती शैव-सम्प्रदाय में लिंगोपासना को विशिष्ट महत्त्व मिला। किन्तु वैदिक काल में इसका प्रचलन नहीं था। ऋग्वेद में शिश्न उपासकों की निन्दा की गई है तथा इन्हें यज्ञस्थल तक न आने देने के लिए इन्द्र की प्रार्थना की गई है। अन्यत्र इन्द्र को शिश्न देवों का वध करने वाला स्वीकार किया गया है। दूसरी ओर सिंधु-सभ्यता में लिंगोपासना प्रचलित थी। अतः यही प्रतीत होता है कि परवर्ती लिंगोपासना पर सिंधु-सभ्यता का प्रभाव पड़ा था। परवर्ती शैव धर्म में लिंगोपासना के साथ लिंगपीठ का महत्त्व भी बढ गय। शास्त्रों में लिंगपीठ की विभिन्न आकृतियों का वर्णन मिलता है; इनमें चतुरस्त्रा, आयत, वर्तुल, अष्ट-कोण, षोडश-कोण आदि सभी प्रसिद्ध एवं अनुमेय आकृतियों में पीठ प्रकल्प हैं।[1] वैदिक काल में इस प्रकार के तत्त्व नहीं मिलते किन्तु सिंधुघाटी के निवासी विविध प्रकार की चक्रिकाओं की उपासना प्रजनन शक्ति के प्रतीक रूप में करते थे। ऐसा लगता है कि इसी के फलस्वरूप परवर्ती हिन्दू धर्म में लिंगपीठ की कल्पना की गई। इसी प्रकार

---

[1] द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल, भारतीय स्थापत्य, पृ० 480

परवर्ती हिन्दू धर्म में पीपल वृक्ष की उपासना की गई तथा इसका सम्बन्ध शिव से जोड़ा गया। वैदिक युग में पीपल की उपासना का कोई विशेष महत्त्व नहीं था जबकि सिंधुघाटी के निवासी पीपल वृक्ष की उपासना करते थे। अतः यह स्वाभाविक लगता है कि इसका विकास सिंधुघाटी के निवासियों के विश्वासों के प्रभाव के अन्तर्गत किया गया।

(iii) परवर्ती हिन्दू धर्म में शाक्त-सम्प्रदाय का पूर्ण विकास हुआ। वैदिक काल में पृथ्वी, अदिति, वाक् इत्यादि का वर्णन मिलता है किन्तु देव-मण्डल में इन्हें कोई विशिष्ट स्थान न मिला। इसके विपरीत सिंधुघाटी के निवासी सर्वाधिक मातृशक्ति के उपासक थे। ऐसी स्थिति में यही प्रतीत होता है कि परवर्ती हिन्दू धर्म के शाक्त सम्प्रदाय का विकास सिंधु-सभ्यता की मातृशक्ति की उपासना से ही हुआ।

(iv) परवर्ती हिन्दू धर्म में मूर्ति पूजा का प्रचुर विकास दिखाई पड़ता है। वैदिक काल में मूर्ति पूजा अप्रचलित ही कही जा सकती है। यद्यपि इन्द्र की प्रतिमा का उल्लेख मिलता है लेकिन इसका प्रयोजन संभवतः उपासना से नहीं था। दूसरी ओर सिंधुघाटी के निवासी मूर्तिपूजापरक थे। अतः यही कहा जा सकता है कि इसका विकास भी सिंधुघाटी के प्रभाव के अन्तर्गत हुआ। इसी प्रकार परवर्ती हिन्दू धर्म में नाग की उपासना भी प्रचलित हुई। ऋग्वैदिक युग में इसे कोई महत्त्व नहीं मिला था। स्वयं इन्द्र को नागों का वध करने वाला कहा गया है। सिंधुघाटी के निवासी नागोपासक थे अतः इसे भी हम इन्हीं का प्रभाव मान सकते हैं।

(v) परवर्ती हिन्दू धर्म में योगाभ्यास का पर्याप्त प्रचलन हुआ। ऋग्वैदिक युग में इसके अस्तित्व नहीं मिलते, जबकि सिंधुघाटी के निवासियों को इसका ज्ञान था। अतः परवर्ती योगाभ्यास को आर्येतर तत्त्व मानते हुए इसे सिंधुघाटी के निवासियों का प्रभाव स्वीकार कर सकते हैं।

(vi) परवर्ती हिन्दू धर्म में ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश को मिलाकर त्रिमूर्ति की कल्पना की गई। एलीफेण्टा से प्राप्त महेश की मूर्ति त्रिमुखी है। निस्संदेह इसकी मूल प्रेरणा योगस्थ त्रिमुखी देवता से ग्रहण की गई थी। डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डे के अनुसार योग-विद्या की प्राचीनता का यह संकेत बौद्ध धर्म के अभ्युदय की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।[1]

(vii) श्री० आर० पी० चन्दा सिंधु-लिपि के एक प्रतीक को खड़े हुए चतुर्भुजी देवता का प्रतिरूप मानते हैं। कुछ मुद्रा पर कायोत्सर्ग नामक योगासन में खड़े हुए देवताओं का संकेत है। इस प्रकार की मुद्रा जैन योगियों की तपश्चर्या में मिलती हैं। आदिनाथ के प्रतीक ऋषभ (बैल) की तलाश भी सिंधुघाटी की मुहरों में प्राप्त एक बैल के चित्र में की जाती है। यदि यह सही है तो मानना पड़ेगा कि जैन धर्म पर सिंधुघाटी के निवासियों के धर्म का प्रभाव पड़ा था।

---

[1] डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डे, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० 3

(viii) परवर्ती हिन्दू धर्म में अभिचार को विशेष महत्त्व मिल गया। वैदिक काल में इसकी प्राचीनता अथर्ववेद काल तक ही मानी जा सकती है क्योंकि ऋग्वैदिक युग में इसका प्रचलन नहीं था। इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं है कि अथर्ववैदिक अभिचार आर्येतर तत्त्व है तथा इस पर सिंधुघाटी के निवासियों की आभिचारिक प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ा था।

उक्त विमर्श के आधार पर हम दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि परवर्ती हिन्दू धर्म के बहुत से तत्त्व सैंधव संस्कृति के धर्म से ग्रहण किए गए। डॉ० पाण्डे उचित ही कहते हैं कि इसका प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता कि परवर्ती भारतीय धार्मिक जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्व सिंधु-सभ्यता से लिए गये जिनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—पशुपति, योगीश्वर तथा कदाचित् नटराज के रूप में शिव की पूजा, मातृशक्ति की पूजा, अश्वत्थ पूजा, वृषभादि अनेक पशुओं का देव-सम्बन्ध, लिंगपूजा, जल की पवित्रता, मूर्तिपूजा तथा योगाभ्यास, जो आसन और मुद्रा के अंकन से प्रतीत होता है।[1]

कला

वास्तुकला : सामान्य विशेषताएं—सिंधुघाटी की सभ्यता कलात्मक विकास की दृष्टि से समृद्ध मानी जा सकती है। यहाँ से वास्तु एवं मूर्तिकला के पर्याप्त उदाहरण प्रकाश में आए हैं। सिंधुघाटी की कला का विकास उपयोगिता को ध्यान में रखकर किया गया था। इनके एक भी भवन के अवशेष नहीं मिले हैं जो उनके लिए उपयोगी न रहे हों। इनके अंलकरण के प्रति वे तनिक भी सजग नहीं थे। हड़प्पा, मोहनजोदड़ो तथा अन्य स्थलों से उत्खनन द्वारा जो साक्ष्य मिले हैं उससे प्रतीत होता है कि यहाँ नगर तथा उसमें स्थित भवनों को एक निश्चित योजना के अनुसार बनाया जाता था। हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो दोनों नगरों की योजना लगभग समान थी। दोनों में पूर्व में नगर तथा पश्चिम में गढ़ी स्थिति थी। गढ़ी का आकार सामानान्तर चतुर्भुज के समान था। दोनों नगरों में इसका विस्तार उत्तर से दक्षिण 365.6 मीटर तथा पूर्व से पश्चिम 182.8 मीटर था। हड़प्पा में धरातल से इसकी ऊँचाई लगभग 15.25 मीटर तथा मोहनजोदड़ो में 10.7 या 12.2 मीटर थी। सुरक्षात्मक दृष्टि से नगर को चारों ओर से प्राचीर से घेर दिया जाता था। हड़प्पा में इसके लिए कच्ची ईंटों का प्रयोग किया गया था। नगर-योजना में सड़कों को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला था। इनका निर्माण उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम किया गया था। ये एक दूसरे को समकोण पर काटती थीं जिसके फलस्वरूप नगर कई भागों में बंट जाता था।

---

[1] डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डे, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३; द्रष्टव्य, J. Marshal, Mohanjodaro and the Indus Civilization, Vol. I, pp. 77-78; Wheeler, Indus Civilization, pp. 82-84

लोथल नगर छः खण्डों में विभाजित था। हड़प्पा से सड़कों के अवशेष कम मिले हैं, क्योंकि इनमें प्रयुक्त ईंटों को लोगों ने समय-समय पर निकाल कर प्रयुक्त कर लिया। किन्तु मोहनजोदड़ो तथा लोथल से इसके प्रचुर प्रमाण मिले हैं। मोहनजोदड़ो में मुख्य सड़कों की चौड़ाई 9.15 मीटर तथा सहायक सड़कों की लगभग 3 मीटर तक थी। सड़कों की स्वच्छता का विशेष ध्यान रखा जाता था। इसके किनारे-किनारे या तो गड्ढे बने रहते थे या कूड़ादान रखा रहता था। इसी में सड़क का कूड़ा डाल दिया जाता था। मोहनजोदड़ो की एक सड़क के दोनों किनारे पर कुछ ऊँचे-ऊँचे चबूतरे मिले हैं। इनका ठीक-ठीक उपयोग ज्ञात नहीं हो सका है। अनुमान है या तो ये सामान वेचने के लिए बनाए गये थे या विश्राम करने के लिए।

भवनों की योजना सरल थी। इनका निर्माण कच्ची तथा पक्की ईंटों की सहायता से किया जाता था। केवल नींव को छोड़कर शेष भाग में पूर्ण ईंटे प्रयुक्त की जाती थीं। मकान एक मंजिले तथा दो मंजिले बनाए जाते थे। दो मंजिले भवनों की नींव गहरी बनायी जातो थी तथा ऊपर जाने के लिये सीढ़ियों का निर्माण किया जाता था। सभी भवन एक ही योजना में बनाए जाते थे। आकार-प्रकार का योजना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। बड़े भवनों में अतिथि तथा विश्राम कक्ष भी बनाए जाते थे। प्रायः प्रत्येक भवनों में स्नानागार होते थे जिनकी स्थिति गली की ओर होती थी; ताकि जल सुविधापूर्वक निकल जाय। स्नानागार की फर्श का निर्माण अच्छी तरह पकाई गई ईंटों की सहायता से किया जाता था। सामान्यतः स्नान के लिए पृथक् कक्ष बनाए जाते थे किन्तु कभी-कभी एक कमरे के कोने में ही इसका प्रबंध कर दिया जाता था। स्नान के समय प्रयुक्त किए जाने वाले झावें में से कुछ प्रयोग के कारण बहुत घिस गये हैं।

इनकी वास्तुकला में जल-निकास व्यवस्था का विशेष महत्त्व था। जल निकास की इतनी अच्छी व्यवस्था किसी समकालीन संस्कृति में नहीं मिलती।[1] बाहर की कौन कहे स्वयं भारत में कई सदियों तक इस प्रकार की जल-निकास की व्यवस्था न की जा सकी। कुछ नालियाँ कम गहरी थीं किन्तु कुछ 1/2 मीटर तक गहरी थी। बड़ी नालियों को पत्थर के टुकड़े तथा छोटी को बड़ी-बड़ी ईंटों से ढंक देते थे। एक भवन की प्रत्येक नाली को, जो कमरों, भोजनालयों, स्नानागारों तथा शौचालयों से निकलती थीं किसी बड़ी नाली से जोड़ दिया जाता था जिसे किसी दूसरी और बड़ी नाली से सम्बद्ध कर देते थे। जहाँ एक नाली दूसरे से मिलती थी

---

1. R. C. Majumdar, Vedic Age, p. 175; D. H. Gordon, Prehistoric Background of Indian Culture, p. 73; A. L. Basham, The Wonder that was India, p. 16, D. D. Kosambi, Culture and Civilization of Ancient India in Historical Background, p. 69;

वहाँ गड्ढा बना दिया जाता था। ऊपर की मंजिल से भी जल निकलने का उचित प्रबंध किया गया था। गंदा पानी दीवाल के सहारे गिरता था। इसके लिये या तो दीवार से ईंट हटाकर रास्ता बना लेते थे या पाइप का प्रयोग किया जाता था। पहले छोटे-छोटे पाइप बनाए जाते थे फिर बाद में उन्हें जोड़कर बड़ा कर लिया जाता था। इस प्रकार के पाइप क्नोसॉस तथा मिस्र में भी प्रयुक्त मिले हैं। कालीबंगा में लकड़ी के पाइप, जिनका निर्माण पेड़ के तने को खोखला करके किया जाता था, के प्रयोग के प्रमाण भी मिले हैं। निकास-नालियों की स्वच्छता का बराबर ध्यान रखा जाता था। इनके किनारे मिले रेत के अम्बर इसके प्रमाण हैं। सफाई के लिए बीच-बीच में बरमोखे (Mainhole) बनाए जाते थे। मोहनजोदड़ो तथा अन्य स्थलों से कुछ ऐसी नालियाँ भी प्रकाश में आयी हैं जिनका सम्बन्ध किसी बड़ी नाली से न होकर किसी गर्त से होता था। इसमें नीचे एक छिद्र बना होता था जिसकी सहायता से गंदा पानी जमीन में चला जाता था किन्तु कचड़ा इकट्ठा होता रहता था। इसे समय-समय पर निकाल दिया जाता था। जहाँ नालियाँ ढाल से होकर गुजरती थीं। उनके वेग को कम करने के लिए सीढ़ियाँ बना दी जाती थीं। कूड़े तथा जल को अलग करने के लिए नालियों में भी बीच-बीच में जालियाँ लगी होती थीं।

कतिपय महत्त्वपूर्ण भवन—सिंधु-सभ्यता के महत्त्वपूर्ण भवनों में सर्वप्रथम मोहनजोदड़ो के विशाल स्नानागार का उल्लेख किया जा सकता है। पूर्व से पश्चिम यह भवन 32.91 तथा उत्तर से दक्षिण 54.86 मीटर विस्तृत है। इसके मध्य में निर्मित कुण्ड का विस्तार 11.89 × 7 × 2.44 मीटर था। कुण्ड में उतरने के लिए सीढ़ियाँ बनायी गई थीं। इनकी चौड़ाई 2.43 मीटर थी। कुण्ड की दीवालें अत्यन्त सुदृढ़ बनायी गई थीं। मार्शल ने इनकी सुदृढ़ता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। प्रांगण के चारों-ओर बरामदे बने थे तथा बरामदे के पीछे कमरे। कक्ष नं० 16 में एक कुँआ बना था जहाँ से इसमें जल आता था। प्रत्येक कमरे में सीढ़ियाँ बनी थी जिससे लगता है कि इन कमरों को दो मंजिला बनाया गया था। विशाल स्नानागार के प्रयोजन के विषय में विभिन्न मत हैं। मैके का विचार है कि स्नानागार के ऊपरी भाग में पुरोहित रहते थे जो स्नान करने के लिए नीचे उतरते थे। बाशम भी प्रस्तावित करते हैं कि हिन्दू मंदिरों के तालाबों की भाँति इसका भी धार्मिक महत्व था तथा कमरे पुरोहितों के आवास थे। डी० डी० कोसम्बी के अनुसार निश्चय ही इस स्नानागार का सम्बन्ध ऐसी किसी विस्तृत संस्कार-विधि से रहा होगा जिसका वहाँ के निवासियों के लिए विशेष महत्त्व था। आप इसकी तुलना परवर्ती पुष्कर से करते हैं। जो भी हो इतना निश्चित है कि इस भवन का सार्वजनिक एवं धार्मिक महत्त्व था जहाँ विशिष्ट अवसरों पर लोग इकठा होकर स्नान करते थे तथा देव-कार्य सम्पन्न करते थे।

मोहनजोदड़ो में ही गढ़ी के दक्षिण वर्गाकार 27.43 मीटर विस्तृत एक भवन के अवशेष मिले हैं। इसकी छत बीस स्तंभों पर टिकी थी। इनका निर्माण पाँच-

पाँच की चार पंक्तियों में किया गया था। इसमें बैठने के लिए चौकियाँ बनायी गई थीं। सबसे बड़ी चौकी पश्चिम की ओर मध्य भाग में बनी थी। मार्शल इसकी तुलना परवर्ती बौद्ध गुफा मंदिरों से करते हैं। मैके इसे बाजार का हाल स्वीकार करते हैं। ह्वीलर इसकी समता पारसीक सभा भवन से प्रस्तावित करते हैं। मोहनजोदड़ो में विशाल स्नानागार के पश्चिम पक्की ईंटों के बने एक चबूतरे पर एक अन्य भवन के अवशेष मिले हैं जिसका विस्तार पूर्व से पश्चिम 45.72 तथा उत्तर से दक्षिण 22.86 मीटर था। इसमें कुल सत्ताईस खण्ड थे। ह्वीलर इसे अन्नागार मानते हैं।

हड़प्पा के मुख्य भवन गढ़ी 'ए' तथा 'बी' में स्थित थे। गढ़ी के उत्तर माउण्ड 'एफ' में तीन प्रकार के भवन मिले थे। प्रथम प्रकार में पन्द्रह भवन दो पंक्तियों में बनाये गये थे। प्रत्येक का विस्तार 17 × 7.5 मीटर था। प्रत्येक में तीन कक्ष तथा एक प्रांगण बनाया गया था। इनके समीप सोलह आग की भट्ठियाँ मिली हैं। ह्वीलर का विचार है कि यहाँ शायद ताम्रकर रहते थे। इनके आकार-प्रकार से लगता है कि ये श्रमिक आवास थे। इस प्रकार के श्रमिक आवास पश्चिमी देशों में भी बनाये जाते थे।[1] श्रमिक आवास के उत्तर में वृताकार अट्ठारह चबूतरे मिले हैं। इनका व्यास 3.2 मीटर है। इनका निर्माण ईंटों की सहायता से किया गया था। बीच में एक छिद्र बनाया जाता था। जिसमें लकड़ी की एक ऊखल लगी थी। छिद्र से अनाज के छिलके मिले हैं। अनुमान लगाया गया है कि इसका उपयोग चक्की के रूप में किया जाता था।

मूर्तिकला

मूर्तिकला में सिंधुघाटी के निवासियों ने प्रगति अवश्य किया किन्तु वास्तुकला से पीछे रह गये। यहाँ से मूर्तिकला के जो उदाहरण मिले हैं उनमें धातुमूर्तियाँ, पाषाण-मूर्तियाँ तथा ताबीजों एवं मुद्राओं पर उत्कीर्ण आकृतियाँ हैं। पाषाण मूर्तियों में मोहनजोदड़ो से प्राप्त लकड़ी की एक खण्डित मूर्ति का उल्लेख कर सकते हैं। अब इसके शिर से वक्षस्थल तक का भाग ही अवशिष्ट है। इसके नेत्र अधखुले तथा दृष्टि नासाग्र पर केन्द्रित है। नासिका का आकार मध्यम प्रतीत होता है। केश-विन्यास की दृष्टि से यह मूर्ति विशेष रोचक है। शिर के बाल संवारे गये हैं। दाढ़ी कटी है पर मूँछें नहीं हैं। आकृति शाल ओढ़े है। मोहनजोदड़ो से ही सेलखड़ी की 29.5 सेंटीमीटर ऊँची एक बैठे आदमी की मूर्ति मिली है जिसके कटि में पारदर्शी वस्त्र लिपटा है। हड़प्पा से प्राप्त दो पाषाण मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें एक लाल बलुए पत्थर का 9 सेंटीमीटर ऊँचा मानवीय धड़ है जो वत्स को

---

[1] डॉ० उदय नारायण राय, प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन, पृ० 3

मिला था इसमें शरीर के विभिन्न अंगों को अत्यन्त सावधानी से दिखाया गया है जिससे देखने में मूर्ति बड़ी स्वाभाविक लगती है। कुछ विद्वान् इसे तीर्थंकरों की कायोत्सर्ग मुद्रा का प्राक्रूप मानते हैं। दूसरी 10 सेंटीमीटर ऊंची एक नृत्य करती हुई नारी की मूर्ति है जिसे दयाराम साहनी ने खोज निकाला था। इसमें शिर तथा बाहु को पृथक्-पृथक् बना कर जोड़ दिया गया था। आकृति दाएँ पैर पर खड़ी है तथा बाएँ पैर को आगे की ओर ऊपर उठाए है। ऐसा लगता है कि मूर्ति ताल के साथ संगत कर रही है। पैर के उठने से शरीर के पृष्ठभाग में जो स्पन्दन हुआ, उसका अङ्कन अत्यन्त सूक्ष्मता से किया गया है। मार्शल, मैंके, ह्वीलर इत्यादि इसे पुरुष की आकृति स्वीकार करते हैं। मार्शल इसे नटराज शिव का प्राक्रूप मानते हैं। किन्तु डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल प्रशस्त नितम्ब (पृथुश्रोणि), क्षीणकटि तथा अन्य स्त्रियोचित गुणों के कारण इसे नारी मूर्ति स्वीकार करते हैं।

धातुमूर्तियाँ—धातु मूर्तियों में मोहनजोदड़ो से प्राप्त कांस्य-निर्मित नर्तकी की मूर्ति विशेष प्रसिद्ध है। इसकी ऊँचाई 14 सेंटीमीटर है। मूर्ति पूर्णतया नग्न है। बायें हाथ में कोई पात्र है तथा दाँया हाथ कमर पर रुका है। केशों को सँवार कर एक वेणी में बाँध कर दाहिने कंधे पर लटका दिया गया है। कंठ में आभूषण सुशोभित हैं। मार्शल इसे आदिवासी युवती की मूर्ति मानते हैं, जबकि पिगट का विचार है कि इसका अंकन बलूचिस्तान की नर्तकियों के आधार पर किया गया था। मोहनजोदड़ो से कांस्य की कतिपय पशु आकृतियाँ भी मिली हैं जिसमें एक भैंसे की आकृति विशेष प्रसिद्ध है।

मृण्मूर्तियाँ—मिट्टी की सुलभता तथा प्रयोग की सरलता के कारण यहाँ पाषाण एवं धातु दोनों की अपेक्षा मृण्मूर्तियों का निर्माण अधिक किया गया। हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो दोनों स्थलों से पर्याप्त संख्या में मृण्मयी मानवीय एवं पशुमूर्तियाँ मिली हैं। इनमें से केवल कुछ को छोड़कर शेष सभी का निर्माण हाथ की सहायता से किया गया था। इन मूर्तियों में नारी मूर्तियों की अधिकता है। इनका कमर से घुटने तक का भाग ढका है, शेष नग्न है। शिर पर पंखाकार शिरोभूषा तथा गले में हार सुशोभित है। अधिकांश के हाथ-पैर टूटे हैं किन्तु जो बच गई हैं उनके हाथों में भुजवंद तथा पैर में कड़ा दिखाया गया है। इन्हें मातृदेवी की मूर्ति माना जाता है। केवल कुछ अपवादों को छोड़कर पुरुषाकृतियाँ भी नग्न हैं। यहाँ कुछ विदेशी आकार-प्रकार की मूर्तियाँ भी बनाई गईं। इस प्रकार की एक मूर्ति मोहनजोदड़ो से मिली है जिसमें सेमिटिक लक्षण मिलते हैं। पुरुष मूर्तियों को भी आभूषण धारण किये हुए दिखाया गया है।

---

1. V. S. Agrawal, Studies in Indian Art, p. 36; भारतीय कला, पृ० 26

मुद्राएँ एवं ताम्रपट्ट

वास्तु एवं मूर्तिकला के साथ-साथ मुद्रा तथा ताम्रपट्टों के निर्माण में भी सिंधु-घाटी के निवासी काफी आगे थे। मुद्राओं तथा ताम्रपट्टों पर पशु आकृतियों एवं चित्रलेखों का अंकन किया जाता था। कुछ मुद्राओं का उपयोग सामान भेजते समय पैकेट के ऊपर लगाने के लिए किया जाता था। अन्य का उपयोग आभिचारिक था। ये मुद्राएँ बेलनाकार, वर्गाकार, चतुर्भुजाकार, घनाकार तथा गोलाकार मिली हैं। ताम्रपट्टों का प्रयोग संभवतः ताबीज रूप में किया जाता था। कुछ लोग तो इन्हें सिक्के के रूप में प्रयुक्त मानते हैं किन्तु यह उचित नहीं है।

मृद्भाण्ड कला

मृद्भाण्डों का निर्माण यहाँ व्यावसायिक दृष्टि से किया जाता था। अधिकांश भाण्ड चाक निर्मित थे। इन्हें भट्टियों में पकाया जाता था। जिसमें धुआँ निकलने का उचित प्रबन्ध रहता था ताकि बर्तन काले न हों। इस प्रकार की भट्टियाँ पश्चिमी एशिया में भी मिली हैं। इन पर चित्रकारी की जाती थी। शायद यह कार्य स्त्रियाँ करती थी। चित्रणाकृतियों में त्रिकोण, शंकु, चेक डिजाइन, अर्द्धचन्द्र तथा लहरदार रेखाएँ मिलती हैं। कुछ पर वनस्पतियों तथा पशुओं की आकृतियाँ भी मिलती हैं। चित्रण में लाल तथा काले रंग का प्रयोग किया जाता था। आकार-प्रकार की विविधता सिंधुघाटी के बर्तनों की विशेषता है। यहाँ से मुख्यतः मटके, प्याले, तश्तरियाँ टोटीदार बर्तन, ढक्कन तथा घट मिले हैं। कुछ छिद्रयुक्त भाण्ड भी मिले हैं जिनका उपयोग सम्भवतः सिगड़ी के रूप में किया जाता था। सुगंधित पदार्थों को रखने के लिए छोटे-छोटे भाण्ड भी बनाये जाते थे।

अन्य उपकरण

यहाँ से हाथीदाँत, प्रस्तर एवं धातु की सहायता से बनाये गये कुछ अन्य गृहोपयोगी उपकरणों के अवशेष भी मिले हैं। युद्धोपयोगी उपकरणों में भाले, चाकू, कुल्हाड़ी तथा वाणाग्र का उल्लेख किया जा सकता है। मोहनजोदड़ो से तो ताम्र-उपकरणों का एक खजाना मिला है। धातु-निर्मित आरी-छेनी भी मिली है। इनके अतिरिक्त बहुत संख्या में मनके, केश-विन्यास में काम आने वाली कंघी तथा शंख की चूड़ियाँ भी प्राप्त हुई हैं।

बौद्धिक उपलब्धियाँ

लिपि के अपाठ्य होने के कारण हम यह नहीं कह सकते कि बौद्धिक क्षेत्र में सिंधुघाटी के निवासी कितना आगे थे। इनकी चित्रलिपि की समता सुमेरियन लिपि से प्रस्तावित की जाती है किन्तु अभी तक इसका पाठ नहीं हो सका है, जबकि

सुमेरियन लिपि पढ़ ली गई है । स्मिथ, प्राणनाथ, हण्टर, फादर हेरास, स्वामी शंकरानन्द तथा फतेसिंह प्रभृति विद्वानों ने इसके प्रतीकों को समझने का प्रयास किया किन्तु अभी तक कोई परिणाम नहीं निकल सका । केवल हम इतना जानते हैं कि यह चित्र लिपि थी तथा इसे बायें से दायें एवं दायें से बायें लिखा जाता था । कुछ में बूस्ट्रोफेदन शैली (Boustrophedon), जिसमें लेख की प्रथम पंक्ति दाँयें से बाँयें तथा द्वितीय पंक्ति बाँयें से दाँयें लिखी जाती थी, का प्रयोग मिलता है । लिपि के अपाठ्य होने के कारण इन लेखों की सामग्री का भी ज्ञान नहीं हो सका है । लेखों के आकार-प्रकार से पता लगता है कि इनका उपयोग व्यापारिक कार्यों में किया जाता था इसलिए यदि भविष्य में इनका पाठ भी हो गया तो भी हम इनसे कोई महत्त्वपूर्ण सूचना सम्भवतः न प्राप्त कर सकेंगे । नाप-तौल तथा माप के जो मापदण्ड मिले हैं उससे पता लगता है कि सिंधुघाटी के निवासियों को गणित का अच्छा ज्ञान था । भवनों की योजना बिना ज्यामितीय ज्ञान के सम्भव न हो सकी होगी, किन्तु यह सब अभी अनुमान तक ही सीमित है ।

अन्त

प्राचीन विश्व में अनेक सभ्यताएँ प्रकट हुईं, विकसित हुईं और अन्त में अधपतन को प्राप्त हुईं । मिस्र, मेसोपोटामिया, ईजियन इत्यादि सभ्यताएँ इसकी साक्षी हैं । अतः सिंधु सभ्यता का अन्त कोई आकस्मिक घटना नहीं थी । इस अन्त के लिए प्राकृतिक तथा मानवीय दोनों कारणों को उत्तरदायी माना जाता है । प्राकृतिक कारण की व्याख्या भी विद्वान् भिन्न-भिन्न ढंग से करते हैं । घोष की मान्यता है कि आर्द्रता के ह्रास तथा शुष्कता के प्रभाव-विस्तार से सिंधु-सभ्यता का अन्त हुआ । वत्स की धारणा है कि हड़प्पा का अन्त रावी नदी के मार्ग परिवर्तन के कारण हुआ । रावी पहले हड़प्पा के निकट से बहती थी किन्तु अब इससे लगभग 9.6 किलो मीटर दूर है । इसी प्रकार डेल्स कालीबंगां के अन्त का कारण भी घग्घर तथा उसकी सहायक नदियों के मार्ग-परिवर्तन को स्वीकार करते हैं । मार्ग-परिवर्तन के साथ-साथ बाढ़ के आगमन से भी सिन्धु-सभ्यता का अन्त हुआ था । इस ओर सर्वप्रथम प्रो० साहनी ने हमारा ध्यानाकृष्ट किया था । सिंधु सभ्यता के विविध स्थलों के उत्खनन से यह बात स्पष्ट हो गई है कि यहाँ के निवासी बाढ़ की विभीषिका से बचने के लिए सतत् यत्नशील रहते थे । मार्शल को मोहनजोदड़ो में बाढ़ के प्रमाण मिले हैं । बाढ़ आने पर साधारण लोग तो अपना निवास छोड़ देते थे और बाढ़ समाप्त हो जाने पर पुनः अपने स्थान पर आकर बस जाते थे किन्तु समृद्ध लोग परेशानी से बचने के लिए सदैव के लिए उस स्थान को छोड़ देते थे । मैके का सुझाव है कि चन्हुदड़ो के निवासियों ने उस स्थल को बाढ़ के भय से ही छोड़ दिया था । इसी प्रकार राव को लोथल तथा भगत्राव में भी बाढ़ के प्रमाण मिले हैं ।

मानवीय कारणों में बाह्याक्रमण को उत्तरदायी बताया जाता है। सर्वप्रथम 1934 ई० में प्रो० चाइल्ड ने प्रस्तावित किया कि सिंधु-सभ्यता का अन्त आर्यों के आक्रमण के कारण हुआ। ह्वीलर को 1946 ई० में मोहनजोदड़ो के अन्तिम स्तर से कुछ ऐसे अस्थि अवशेष मिले जिन पर घाव के चिह्न बने थे। ऐसा लगता है जैसे इनका सामूहिक वध कर दिया गया था। ह्वीलर इसका कारण आर्याक्रमण को स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि इन्द्र 'पुरन्दर' ने जिन दुर्गों को नष्ट किया था वे सिंधु सभ्यता के दुर्गों के अतिरिक्त दूसरे नहीं हैं। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल प्रस्तावित करते हैं कि आर्यों एवं हड़प्पा निवासियों में दो बड़े संग्राम, एक हड़प्पा (हरियूपीया) में रावी (परुष्णी) के तट पर तथा दूसरा पश्चिम में झाव नदी के क्षेत्र में हुआ था। इस प्रकार आर्य एवं सिंधुघाटी के निवासियों के बीच जो संघर्ष हुआ उसमें आर्य विजयी रहे तथा सिंधघाटी के निवासी पराजित हुए। यही पराजय उनके अन्त का कारण बनी। इस तरह सिंधु-सभ्यता का अन्त प्राकृतिक एवं मानवीय दोनों कारणों से हुआ।

महत्ता एवं देन

सैंधव सभ्यता के नगर, भवन, विशाल स्नानागार इत्यादि सब अतीत के विषय बन गये। किन्तु भारतीय जीवन पर इसका अमिट प्रभाव पड़ा। सैंधव धर्म को तो परवर्ती हिन्दू धर्म का प्राक्रूप ही स्वीकार कर लिया गया। धर्म के अतिरिक्त इनके साम्राज्यवाद, दुर्ग-विन्यास, मृद्भाण्ड, अनेक प्रकार के पवित्र प्रतीक जैसे स्वस्तिक, वृषभ एवं हस्तिन् चिह्न, नाप-तौल इत्यादि का प्रभाव भी परवर्ती हिन्दू सभ्यता पर पड़ा। डॉ० गोविन्द चन्द पाण्डे उचित ही प्रस्तावित करते हैं कि यह कहना कि केवल आध्यात्मिक तत्त्व ही सिंधु-सभ्यता से उत्तरकालीन सभ्यताओं में अंगीकृत हुए अतियुक्ति होगी। भौतिक सभ्यता के भी अनेक तत्त्व परवर्तीकाल में स्पष्टतः अनुसन्तत देखे जा सकते हैं।[1]

●

---

[1] डॉ० गोविन्द चन्द पाण्डे, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० 3

सहायक ग्रन्थ

Allchin, Bridget and Raymond	The Birth of Indian Civilization
Agrawal, D. P. & P. L.	भारतीय पुरैतिहासिक पुरातत्त्व
Agrawal, V. S.	Studies in Indian Art भारतीय कला
Albright, W. F.	The Archaeology of Palestine
Akurgal, E.	Art of Hittites
Abbott, Evelyn.	Periclese and the Golden Age of Athens
Abbott, G. F.	Thucydides, A study in Historical Realty
Adda, B. Bozeman.	Politics and Culture in International History
Buhler, Georg	Manu, Sacred Books of the East, Vol. xxv
Bertholer, A.	A History of Hebrew Civilization
Breasted, J. H.	The Battle of Kadesh Ancient Times Ancient Records of Egypt, 5 vols. A History of Egypt Conquest of Civilization The Dawn of Conscience Development of Religion and Thought in Egypt

Burgh, W. G.	The Legacy of Ancient World
Burn, A. R.	Periclese and Athens
	Persia and the Greeks
	Minoans, Philistines and Greeks
Burns, E. M.	Western Civilization, Vol. I
Braidwood, R. J.	The Near East and the Foundations for Civilization
Burkitt, M. C.	The Old Stone Age
Brodric, A. H.	Prehistoric Painting
Bury, J. B.	A History of Greece
	Ancient Greek Historians
Bray, Warwick & Trump, David	The Penguin Dictionary of Archaeology
Brown, Percy	Indian Archetecture
Baron, S. W.	A Social and Religious History of Jews, 3 Vols.
Blegen, C. W.	Troy
Boardman, John	Greek Art
Baikie, J.	Egyptian Antiquities in Nile Valley
	History of Egypt from the Earliest Times to the end of xviii Dynasty
Barnes, H. E.	The History of Western Civilization
Bouquet, A. C.	Sacred Books of the World
Boulger, D. C.	History of China, 4 Vols.
Brown, Brain	The Story of Confucius
	Wisdom of the Egyptians
Basham, A. L.	The Wonder that was India
Baron, S. W.	Social and Religious History of the Jews
Barton, G. A.	A History of the Hebrew People
Baynes, N. H.	Israel Among the Nations

Boas, F.	The Mind of Primitive Man
Child, V. G.	Dawn of European Civilization
	What Happend in History
	New Light on the Most Ancient East
	Man Makes Himself (Hindi)
Cameron, G. G.	History of Early Iran
Cottrell, Leonard,	Life Under the Pharoahs
Contenau, G.	Everyday Life in Babylonia and Assyria
Ceram, C. W.	The Secret of the Hittites
Chadwick, John	The Decipherment of Linear B.
Clagelt, Marshal	Greek Science in Antiquity
Caldwell, W. E.	The Ancient World
Cowley, A. E.	The Hittites
Cowan, A. R.	A Guide to World History
	Cambridge Ancient History
Chiera, Edward	They Wrote On Clay
Cheyne, T. K.	Jwesh Life after the Exile
	Cambridge History, Vol. I
Clark, G.	World Prehistory
'Dinakar' Ramadhari Singh	संस्कृति के चार अध्याय
Dixit, K. N.	The Indus Civilization
Durant, Will	The Story of Civilization, Vols. I, II
D'cruze, Edward	A Survey of World Civilization
Dawson, M.	The Ethical Religion of Zoroaster
Dickinson, G. L.	The Greek View of Life
Duglas, R. K.	Confucians and Taoism
Dhalla, M. N.	History of Zoroastrianism
De Burgh, W. G.	The Legacy of the Ancient World

Delaport, L. J.	Mesopotamia, The Babylonian and Assyrian Civilization
Davies, H. A.	An Outline History of the World
De Morgan, Jacques,	Prehistoric Man
Dani, A. H.	Prehistory and Protohistory of India
D. Terra, H. & Paterson T. T.	Studies on the Ice Age in India and Associated Human Culture
Darmesteter, James.	The Zend Avesta, Part I, II
Edward, I. E. S.	The Pyramids of Egypt
	Encyclopaedia Britannica
Emery, W. B.	Archaic Egypt
Ehrenberg, Victor	The Greek State
Erman, A.	Religious life in Ancient Egypt
	The Literature of the Ancient Egyptians
	Social Life in Ancient Egypt
Frye, R. E.	Chinese Art
Frye, R. N.	The Heritage of Persia
Finegan, J.	Light From the Ancient Past
Farrington, B.	Greek Science
Forsdyke, John	Greek before Homer
Freeman, Kathleen,	The Greek City-States
Farnell, L. R.	Greece and Babylone
Faure, Elie,	History of Art
Gardiner, A.	Egypt of the Pharaohas
Goodrich, L. C.	A Short History of the Chinese People
Graetz, H.	Popular History of the Jews
Glanville, S. R. K.	The Egyptians
	The Legacy of Egypt
	Daily Life in Ancient Egypt
Goldenweiser, A. A.	Early Civilization

Grote, G.	History of Greece
Gordon, D. H.	Prehistoric Background of Indian Culture (Hindi)
Gordon, C. H.	The Ancient Near East
Goerges, Roux,	Ancient Iraq
Garstang, J.	The Hittites Empire
Gurney O. R.	The Hittites
Ghirshman, R.	Iran
Goyal S. R.	प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ विश्व की प्राचीन सभ्यताएं
Grousset, R.	Chinese Art and Culture
Goetze, A.	Ancient Near Eastern Texts Relating to the Old Testament
Gardner, E. A.	A Hand Book of Greek Sculpture Ancient Athens Six Greek Sculptores
Glotz, G.	The Aegean Civilization
Glover, T. R.	Ancient World From Periclese to Philip
Garrison, F. H.	History of Medicine
Haurt, C. I.	Ancient Persian and Iranian Civilization
Hall, H. R.	The Ancient History of Near East The Aegean Archaeology Oldest Civilization of Greece
Homer	Iliad Odessey
Hronzey, B.	Ancient History of Western Asia, India and Crete
Hyme Albert,	An Outline of Ancient History
Harden, Donald,	The Phoenicians

Hatchinson, R. W.	Prehistoric Crete
Herodotus,	History, Tr. G. Rawilson
Hopkins, E. W.	Origin and Evolution of Religion
Harper, R. F.	The Code of Hammurabi
Hunter, G. R.	The Script of Harrappa and Mohenjodaro
Hirth, Friendrich	The Ancient History of China
James, Fleming	Personalities of the Old Testament
Jastrow, M.	The Religion of Babylonia and Assyria The Civilization of Babylonia and Assyria
Jackson, A. V. W.	Zoroaster the Prophet of Ancient Iran
Johns, C. H. W.	Ancient Babylonia
Jones, T. B.	A Short History of Ancient Civilization
King and Thompson	Sculptures and Inscriptions of Darius The Great
King, C. H.	A History of Civilization
King, L. W.	A History of Babylon A History of Sumer and Akkad Babylonian Religions
Ketelbey, C. D. M.	A History of Modern Times
Kitto, H. D. F.	The Greeks
Kramer, S. N.	History Begins at Sumer Sumerian Mythology Mythologies of Ancient World Sumerian, Their History, Culture & Character
Kosambi, D. D.	Culture and Civilization of Ancient India in Historical Background (Hindi)
Kent, C. F.	A History of the Hebrew Peoples
Kallen, H. M.	The Book of Job as Greek Tragedy
Kroebar, A. L.	Anthropology Today

Kinder, Hermann Heligeman, Werner.	The Penguin Atlas of World History, Vol. I
Lakhera, M. P.	Sraut Viniyoga of the Mantras of Rigveda Sanhita, an unpublished thesis, Sanskrit Deptt., Allahabad University
Lucas, Henry S.	A Short History of Civilization
Lloyd, Seton	The Art of the Ancient Near East
Langer, W. L.	An Encyclopedia of World History
Latourette, K. S.	The Chinese, their History and Culture
Layard, A. H.	Nineveh and its Remains, 2 vols.
Leakey, L. S. B.	Adams Ancestors
Luckenbill, D. D.	Ancient Records of Assyria and Babylone
Majumdar, R. C.	Hindu Colonies in Far East, Ancient Indian Colonization in South-East Asia
Majumdar, D. N.	प्रागितिहास
Misra, V. D.	Some Aspects of Indian Archaeology
Misra, Jaishanker	प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास
Maspero, G.	Art in Egypt Struggles of Nations ; Egypt, Syria and Assyria The Dawn of Civilization, Egypt and Chaldea The Passings of Empire
Mookerji, R. K.	Hindu Civilization, vol. I
Moret, A.	The Nile and Egyptian Civilization
Moscati, S.	The Face of Ancient Orient
Meek, T. J.	Hebrew Origins
Mitchell, H.	Sparta
Murray, G.	History of Ancient Greek Litrature

Myres, J. L.	The Dawn of History Who Were the Greeks ?
Murray, M. A.	Egyptian Sculpture The Splendour that was Egypt
Margolis, M. L. Alexander, M.	A History of Jwesh People
Mackey, E. J. H.	The Indus Civilization
Marshall, J.	Mohenjodaro and Indus Civilization
Mosso, A.	The Palaces of Crete and their Biulder
Mills, L. H.	The Zend Avesta, Part III
Nilsson, M. P.	A History of Greek Religion
Nesturkh, M. F.	मानव जाति
Noyes, C. E.	The Genius of Israel
Nehru, J. L.	Glimpses of World History Old Testament
Olmstead, A. T. E.	History of Palestine and Syria to the Macedonian Conquest History of Persian Empire A History of Assyria
Oppenheim, A. L.	Ancient Mesopotamia, Protrait of a Dead Civilization
Orlinsbey, H. M.	Ancient Israel
Oosterley, W. O. E. and Robinson H.	Hebrew Religion, Its Origin and Development
Piggot, S.	Prehistoric India
Pandey G. C.	Studies in the Origins of Buddhism बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास
Pandey, R. B.	प्राचीन भारत
Petric, W. M. F.	Social life in Ancient Egypt
Plato,	Republic

Pavry, J. D. C.	The Zoroastrian Doctrine of Future Life
Palmer, L. R.	Mycenaeans and Minoans
Petric, W. M. F.	Arts and Crafts of Ancient Egypt History of Egypt
Pliny	Natural History
Peake, H. J.	Early Steps in Human Progress
Roy, U. N.	विश्व सभ्यता का इतिहास गुप्त सम्राट् और उनका काल प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन
Roy, S. N.	पौराणिक धर्म एवं समाज
Rao, S. R.	Lothal and Indus Civilization
Rogozine, Z. A.	Chaldea
Raychaudhary, H. C.	Political History of Ancient India
Rapson, E. J.	Ancient India
Rawilson, G.	Five Great Monarchies of the Ancient Eastern World Phoenicia
Rogers, R. W.	History of Babylonia & Assyria A History of Ancient Persia from its Earliest Beginnings to the Death of Alexander
Rose, H. J.	A Handbook of Greek Litrature
Rostovtzeff M.	A History of the Ancient World, 2 vols.
Renard, G. F.	Life and Works in Prehistoric Times
Sankalia, H. D.	Prehistory and Protohistory of India & Pakistan Indian Archaeology Today
Saggs, H. W. F.	The Greatness that was Babylone
Swain, J. E.	A History of World Civilization
Shastri, K. N.	New Light on the Indus Civilization सिंधु सभ्यता का आदि केन्द्र हड़प्पा

Sayce, A. H.	The Hittites, the Story of a Forgotten Empire Religions of Ancient Egypt and Babylonia
Smith, G. F.	The Ancient Egyptians and the Origin of Civilization
Spengler, O.	Decline of the West
Sykes, P. M.	A History of Persia
Sondars, N K.	The Epic of Gilagamesh
Shorter, A. W.	Everyday life in Ancient Egypt
Smith, W. S.	Art and Archetecture of Ancient Egypt
Sharma, G. R.	Excavations at Kaushambi
Sharma, Bhola Nath	आदर्श नगर व्यवस्था (प्लेटो के रिप्बलिक का अनुवाद)
Starr, C. G.	The Origins of Greek Civilization
Smith, C. E.	A Short History of the Ancient World
Smith, Sidney	Early History of Assyria to 1000 B. C.
Smith, W. R.	The Prophets of Israel
Soviet, Scholars	Ancient Mesopotamia
Sayce, R. U.	Primitive Arts and Crafts
Smith, Elliot,	The Ancient Egyptians and their influence upon the Civilization of Europe
Toyanbee, A. J.	A Study of History, Vols. I, II (Hindi)
Traver, A. A.	History of Ancient Civilization
Thorndike, L.	Short History of Civilization
Thucydides,	The Peloponnesian War
Tripathi, R. P.	विश्व इतिहास
Turner, R.	The Great Cultural Traditions
Thapallyal, K. K.	सिंधु-सभ्यता
Upadhyaya, B. S.	The Ancient World

Upadhyay, B.	वैदिक साहित्य एवं संस्कृति
Uliman, B. L.	Ancient Writing and its Influence
Vancikle, C. E.	A Political and Cultural History of the Ancient World
Vats. M. S.	Excavation at Harappa
Vaux, Roland de	Ancient Israel, its life and Institutions
Verma, R. K.	भारतीय प्रागितिहास
Weech, W. N.	History of the World (ed.)
Wells, H. G.	A Short History of the World
Wheeler, R. E. M.	Early India & Pakistan The Indus Civilization
Wolley, C. L.	The Sumerians Ur of the Chaldea History Unearthed (Hindi)
Wissler, Clark	Man and Culture
	Zend Avesta in 3 Parts, Sacred Books of East
Zeller, E.	Outlines of the History of the Greek Philosophy
Zeuner, F. E.	Dating the Past The Pleistocene Period

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय
प्रो० बी० एन० पुरी
संग्रह
लखनऊ

State Museum Library
Lucknow
7153

7153

State Museum Library • Lucknow •

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय
पी० बी० एन० पुरी
संग्रह
लखनऊ

"डॉ० राम निहोर पाण्डेय की 'प्राचीन विश्व की सभ्यताएं' नामक पुस्तक हिन्दी में विश्व-इतिहास पर प्रामाणिक पाठ्य-पुस्तक लिखने की दिशा में एक श्लाघनीय प्रयास है। तथ्यों के विवेकपूर्ण संयोजन, सन्तुलित एवं सुसम्बद्ध प्रस्तुतीकरण तथा भाषा की सुबोधता की दृष्टि से यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।"

डॉ० बृज नाथ सिंह यादव,
प्रोफेसर
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद

"इसमें संदेह नहीं है कि अनुसंधान, अध्ययन एवं अध्यापन की दृष्टि से विश्व सभ्यता के इतिहास ने अधिकांश विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। इसका महत्त्व इसलिए भी बढ़ चुका है क्योंकि हाल ही में आई० ए० एस० की प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं के प्रश्नपत्रों में इसे सम्मिलित कर लिया गया है। ऐसी स्थिति में विषय के अनुकूल नवीन ग्रन्थों का प्रणयन वर्तमान परिस्थिति की एक सहज आवश्यकता है।........मुझे हर्ष है कि डॉ० राम निहोर पाण्डेय ने इस दायित्व के निर्वाह की दिशा में सफल प्रयास किया है। सुयोग्य अध्यापक के अतिरिक्त डॉ० पाण्डेय एक अनुभवी लेखक भी है। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना द्वारा इन्होंने एक ऐसे अभाव की पूर्ति की है, जो एक निष्ठावान् अध्यापक के कार्य-भार का अनन्य अंग है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आधुनिक साक्ष्यों से सुसम्पन्न तथा सुग्राह्य और सुगठित भाषा से विभूषित यह रचना न केवल छात्रों के लिए अपितु सामान्य पाठकों के लिए अतीव उपयोगी सिद्ध होगी।"

डॉ० सिद्धेश्वरी नारायण राय,
रीडर
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद

"डॉ० राम निहोर पाण्डेय की 'प्राचीन विश्व की सभ्यताएँ' पढ़ने को मिली। विद्वान् लेखक ने इस पुस्तक में प्रागैतिहासिक युग से ३२३ ई० पू० तक की प्राचीन विश्व की विभिन्न संस्कृतियों के विविध रूपों का निरूपण किया है। इस पुस्तक के प्रणयन में डॉ० पाण्डेय ने विषय के विश्लेषण में मौलिक चिन्तन का परिचय जगह-जगह दिया है। विषय वस्तु को बोधगम्य भाषा में व्यक्त करने में लेखक नितान्त सफल रहा है।.......मुझे पूर्ण विश्वास है कि पुस्तक न केवल विषय के विद्यार्थियों एवं अध्यापकों अपितु सामान्य पाठकों के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी।"

श्री विद्या धर मिश्र
रीडर
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद